प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास

[Political and Cultural History of Ancient India]

डी० पी० एस० मनराल

प्राचीन भारत का राजनीतिक
तथा
सांस्कृतिक इतिहास

[Political and Cultural History of Ancient India]

लेखक

डी० पी० एस० मनराल

पी० एच-डी०

निवर्तमान प्राध्यापक, इतिहास विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

रामनगर (नैनीताल)

1983

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड

रामनगर, नई दिल्ली-110055

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड
मुख्य कार्यालय : रामनगर, नई दिल्ली-110055
शोरूम : 4/16-बी. आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002

शाखाएँ :

अमीनाबाद पार्क, लखनऊ-226001
ब्लैकी हाउस,
103/5, वालचन्द हीराचन्द मार्ग,
जी०पी०ओ० के सामने, बम्बई-400001
285/जे, विपिन बिहारी गांगुली स्ट्रीट,
कलकत्ता-700012
के० पी० सी० सी० बिल्डिग,
रेस कोर्स रोड, बंगलौर-560009
152, अन्ना सलाए मद्रास-600002
सुल्तान बाजार, हैदराबाद-500001
खजांची रोड, पटना-800004
3, गांधी सागर ईस्ट,
नागपुर-440002
माई हीरां गेट, जालन्धर-144008
631-7 एम० जी० रोड, एर्नाकुलम
कोचीन-682018

मूल्य : 40.00

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०, रामनगर, नई दिल्ली-110055 द्वारा प्रकाशित तथा
राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिंटर्स (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-110055 द्वारा मुद्रित ।
न्यू आजाद बुक वाइंडिंग हाउस

भूमिका

'प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास' अतीत के गौरवपूर्ण क्रिया-कलापों, रोमांचकारी घटनाओं एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों से परिपूर्ण है। उसके महत्त्व को ध्यान में रखते हुए भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्राचीन भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने का प्रयास जनवरी, 1977 ई० से प्रारंभ किया गया। किंतु निरंतर नवीन सामग्री के उपलब्ध होते रहने के कारण पुस्तक को अनेक बार संशोधित करना पड़ा। प्राचीन भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास से संबंधित प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण पुस्तकें आंग्ल भाषा में ही उपलब्ध हैं। गत दशक से हिंदी भाषा के माध्यम से भी इतिहास-लेखन का कार्य चल रहा है। प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक प्रयास है। प्राचीन भारत का इतिहास राजनीतिक कम, सांस्कृतिक अधिक है; इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ उसके सांस्कृतिक पहलू पर भी यथासंभव प्रकाश डाला गया है। आशा है कि अपने इस रूप में यह पुस्तक पाठकों, विशेषतः विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी।

'प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास' नामक इस पुस्तक में मानव की उत्पत्ति और उसके विकास से लेकर तुर्कों की विजय (भारत में दास वंश की स्थापना) तक के इतिहास को क्रमबद्ध और आलोचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया हैं। इतिहास में पाठकों की अभिरुचि उत्पन्न करने तथा रोचकता बढ़ाने के उद्देश्य से लिखा गया 'प्राचीन भारतीय इतिहास का तिथिक्रम' नामक नूतन अध्याय इस पुस्तक की प्रमुख विशेषता हैं। इस अध्याय के माध्यम से इतिहास-प्रेमी पाठक के चक्षु प्राचीन भारत का क्रमबद्ध और संक्षिप्त इतिहास का अध्ययन एक ही अध्याय में कर लेते हैं। पुस्तक को विद्यार्थियों के लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाया गया है। पुस्तक की भाषा को सरल, सुबोध और प्रभावशाली बनाने पर बल दिया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में परीक्षोपयोगी प्रश्नों की सूची दी गई है। अंत में मैं उन इतिहासविदों के प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करना अपना पुनीत कर्त्तव्य

समझता हूँ जिनकी महत्त्वपूर्ण मौलिक कृतियों के गहन अध्ययन एवं मनन से मुझे इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा मिली। मैं उन विद्वानों का भी आभारी रहूँगा जो इस पुस्तक की त्रुटियों से अवगत कराएँगे। उनके उपयोगी सुझावों के आधार पर पुस्तक के नवीन संस्करण को और अधिक उपयोगी बनाने का यथासंभव प्रयास किया जायेगा।

लेखक

रामनगर (नैनीताल)

8-10-81

विषय-सूची

I

भारत की भौगोलिक स्थिति और उसका इतिहास पर प्रभाव

भारत एक विशाल देश है । 1947 ई० से पूर्व उसका क्षेत्रफल 18,00,000 वर्गमील था और विभाजन के पश्चात् उसका क्षेत्रफल 12,69,640 वर्गमील रह गया है । जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में चीन के बाद उसका दूसरा नम्बर है । रूस को छोड़कर भारत लगभग शेष यूरोप के बराबर है । भारत की विशालता के कारण उसे 'उपमहाद्वीप' की संज्ञा दी गई है । डॉ० आर० डी० बनर्जी ने भारत की विशालता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"इसकी विशालता, जलवायु की विभिन्नता, भौगोलिक विशेषताओं में अन्तर तथा विभिन्न प्रजातियाँ, जो इसमें निवास करती हैं, इसे एक महाद्वीप का स्वरूप प्रदान करती हैं ।"

भारत एक विशाल देश है । यह उत्तर में हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण में हिन्द महासागर तक, पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में अरब सागर तक विस्तृत है । हमारे देश का नाम भारत क्यों पड़ा, इस संदर्भ में पुराणों का कथन है कि राजा दुष्यन्त के महत्त्वाकाँक्षी पुत्र भरत ने संपूर्ण भारत को विजित कर चक्रवर्ती-राज्य की स्थापना की । उसके नाम के अनुरूप ही इस देश का नाम भारत पड़ा । आर्यों ने प्रारम्भ में सप्तसिंधु में निवास कर अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया । फारसवासी 'स' अक्षर का उच्चारण 'ह' की भाँति करते थे । अतः वे सिंधु को हिंदू पुकारते थे । हमारे देशवासियों को उन्होंने हिंदुस्तान की संज्ञा दी । यूनानी सिंधु नदी को 'इण्डस' कहते थे । इसी के अनुरूप यूरोपवासियों ने भारत को 'इण्डिया' कहा है । मुस्लिम इतिहासकारों ने अपने ग्रंथों में इस देश का नाम 'हिंद' अथवा 'हिंदुस्तान' प्रयुक्त किया है ।

भारत एक विशाल देश है जिसकी भौगोलिक स्थितियों में भारी विषमताएं हैं । इसके बावजूद उसमें अद्भुत राजनीतिक तथा सांस्कृतिक एकता समायी हुई

है। यही कारण है कि यह एक देश के रूप में संगठित है। विभिन्नता में एकता हमारी संस्कृति की प्रमुख विशेषता है।

प्राकृतिक दृष्टि से भारत को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. हिमालय का पर्वतीय प्रदेश।
2. गंगा और सिंधु नदी का मैदान (उत्तर भारत का मैदान)
3. दक्षिण भारत का पठार।
4. सूदूर दक्षिण के मैदान।

1. **हिमालय का पर्वतीय प्रदेश**—हिमालय पर्वत शृंखला अफगानिस्तान से लेकर असम तक फैली है। हिमालय की चोटियों की संख्या 114 है। इन पर्वत शिखरों (चोटियों) में एवरेस्ट, कंचनजंघा, धौलगिरि, नागा पर्वत, नंदादेवी आदि प्रमुख हैं। इन में एवरेस्ट की चोटी सर्वाधिक ऊँची (29,028 फीट) है। हिमालय के उत्तर और पश्चिम में अनेक दर्रे हैं, जहाँ से अनेक व्यापारी और आक्रांता भारत में प्रविष्ट हुए। उत्तरी दर्रे प्रायः हिमाच्छादित रहते हैं। पश्चिम में स्थित कराकोरम, हिंदुकुश, सफेदकोह और सुलेमान भारत को अफगानिस्तान से और किरथार पर्वत बिलोचिस्तान से पृथक करते हैं। सुलेमान में खैबर, टोची, कुर्रम और गोमल आदि मार्ग हैं। हिंदुकुश का उत्तर-पश्चिम भारत की प्राकृतिक सीमा माना जाता है। उत्तर-पूर्व की दुर्गम और घने वनों की पर्वत शृंखलाएं भारत को वर्मा से पृथक करती हैं। हिमालय के इस पर्वतीय प्रदेश में कश्मीर, शिमला, मसूरी, नैनीताल, सिक्किम, नेपाल और भूटान आदि प्रदेश बसे हैं। इस प्रदेश में बसा उत्तराखंड अपने प्राकृतिक सौंदर्य के लिए विश्व-विख्यात है और आज भी विश्व के अनेक पर्यटकों के लिए आकर्षण का केंद्र बना हुआ है।

2. **गंगा और सिंधु का मैदान**—गंगा और सिंधु का विस्तृत उपजाऊ मैदान विंध्याचल के उत्तर और हिमगिरि (हिमालय पर्वत) के दक्षिण में स्थित है। यह 1,500 मील लम्बा और 100 से 500 मील चौड़ा है। सी० मोरिसन ने इसकी विशालता का वर्णन करते हुए लिखा है—"यह मैदान इतना चौड़ा है कि इसमें फ्रांस, आस्ट्रेलिया, जर्मनी तथा इटली समा सकते हैं।" यह भारत का विस्तृत उपजाऊ मैदान है। हिमालय से गंगा, यमुना, गोमती, घाघरा, गंडक, ब्रह्मपुत्र, व्यास, सतलुज, सिंधु आदि नदियां इसमें बहती हैं। गेहूँ, जौ, चावल, गन्ना, सरसों, पटसन, तम्बाकू, बाजरा आदि इस मैदान की प्रमुख उपज हैं। अत्यधिक उपज़ाऊ होने के कारण आर्यों ने यहीं से अपनी संस्कृति का विकास किया। इसी मैदान में भारत के महत्त्वपूर्ण नगर बसे हैं। यह भारत के बड़े साम्राज्यों के उत्थान और पतन का केंद्र रहा है। विदेशियों ने भी इसे अपने आक्रमणों का निशाना बनाया।

3. **दक्षिण भारत का पठार**—समुद्र तट से 1000 फीट से लेकर 3000 फीट ऊँचा दक्षिण भारत का पठार कहीं ऊँचा और कहीं नीचा है। यह गंगा और सिंधु के मैदान के दक्षिण में फैला है। विंध्याचल पर्वत इसे उत्तरी भारत से

पृथक् करता है। यह प्रदेश विंध्याचल से लेकर आशा अंतरीप तक विस्तृत है। महानदी, कृष्णा, कावेरी और तुंगभद्रा इसकी प्रमुख नदियाँ हैं। यह प्रदेश पर्वतीय तथा सघन वनों से ढका होने के कारण आसानी से विजित नहीं किया जा सका। इसका इतिहास उत्तरी भारत से पृथक् रहा। फलतः आर्यावर्त (उत्तरापथ) और दक्षिणापथ नामक दो विचारधाराओं का जन्म हुआ।

4. सुदूर दक्षिण का मैदान—सुदूर दक्षिण के मैदान में पूर्वी और पश्चिमी तट के मैदान आते हैं। अपनी पृथक् भौगोलिक स्थिति के कारण प्राचीन काल में यह प्रदेश उत्तरी भारत से अलग रहा। दक्षिणी पठार के पूर्व और पश्चिम में लम्बे-लम्बे समुद्री तट हैं। ये मैदान बहुत उपजाऊ हैं तथा कृष्णा, गोदावरी और कावेरी नदियों के मुहानों से बने हैं।

भौगोलिक स्थितियों का भारतीय इतिहास पर प्रभाव

वातावरण और व्यक्तित्व से इतिहास का निर्माण होता है। भारतीय इतिहास को वहाँ की भौगोलिक स्थितियों ने व्यापक स्तर पर प्रभावित किया है। मानव के जीवन, स्वभाव और चरित्र-निर्माण में प्राकृतिक दशा का महत्त्वपूर्ण योग होता है। इस संदर्भ में रिचर्ड हैक्ल्यूट का कथन है कि भूगोल एवं काल-निर्णय-विद्या इतिहास के सूर्य एवं चन्द्र अथवा दाएं और बाएं नेत्र हैं। पनिक्कर ने लिखा है कि भूगोल प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास का आधार होता है। रूसो का कथन है कि ग्रीष्म जलवायु वाले देश में स्वेच्छाचारी शासकों का विकास होता है। प्रसिद्ध विचारक बर्कले का मत है कि किसी देश के मनुष्यों की क्रियाएं उस देश की प्राकृतिक परिस्थितियों पर ज्यादा निर्भर करती हैं। डा० विनोद चन्द्र सिन्हा ने लिखा है—"पठारों और पर्वतों का इतिहास अगर शांतिमय है तो मैदानों का इतिहास रक्तरंजित है। भूगोल ने इतिहास को बनाया और बिगाड़ा भी है।" एलेन चर्चिल के शब्दों में, "किसी देश अथवा वहाँ के लोगों की स्थिति का वहाँ के इतिहास में सदैव महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है।" प्रत्येक देश की भौगोलिक स्थितियों का उसके इतिहास पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। मानव की शारीरिक आकृति और मानसिक विकास तथा उसके रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेशभूषा, भोजन, उद्योग-धन्धे, सामाजिक एवं राजनीतिक दशा पर उस देश अथवा क्षेत्र की भौगोलिक स्थितियों का प्रभाव पड़ता है। भौगोलिक स्थितियों के फलस्वरूप ही इंग्लैंड यूरोप के आक्रमणों का शिकार नहीं हो पाया और नेपोलियन महान् के कोप से सदैव मुक्त रहा। वर्षा की अधिकता ने भारत को कृषिप्रधान देश बना दिया। हिमालय के उच्च पर्वत-शिखरों ने दीर्घकाल तक विदेशी आक्रमणों से भारत की रक्षा की। उत्तर-पश्चिम में स्थित दर्रों ने विदेशियों को भारत में प्रवेश हेतु प्रेरित किया। भौगोलिक स्थितियों ने राजपूत और मराठों की शक्ति के विकास में योग दिया। भारत की भौगोलिक स्थितियों ने वहाँ के इतिहास को बहुत प्रभावित किया है जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. हिमालय के पर्वतीय प्रदेश का इतिहास पर प्रभाव—हिमालय के पर्वतीय प्रदेश ने इतिहास को प्रभावित किया है। उसके उच्च शिखरों ने दीर्घकाल तक भारत

की रक्षा की है। यही कारण है कि इसे भारत का प्रहरी कहा गया है। गंगा, यमुना, सिंधु और उसकी सहायक नदियां हिमालय की गोद से निकलकर भारत के विस्तृत मैदानी भाग को उपजाऊ बनाती हैं। जलयुक्त मेघ घटाएं हिमालय के उच्च शिखरों से टकराकर इस प्रदेश में बरसती हैं। यही कारण है कि भारत कृषिप्रधान देश बन गया। हिमालय के सघन वन संपत्ति के उन्नत स्रोत हैं। भारतीय इतिहास पर हिमालय के प्रभाव की चर्चा करते हुए पनिक्कर महोदय ने लिखा है—"संसार के किसी भी देश की पर्वतमालाओं ने उस देश के जीवन को उतना प्रभावित नहीं किया है जितना कि हिमालय ने भारतीय जीवन को प्रभावित किया है। इसने भारतीय जनता के न केवल राजनीतिक जीवन को प्रभावित किया बल्कि धर्म, पौराणिक कथा, कला और साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ी।" हिमालय-पर्वत गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, सिंधु और पंजाब की पांचों नदियों का उद्गम स्रोत है। उत्तरी भारत की समृद्धि में इन नदियों का महत्त्वपूर्ण योग है। प्रोफेसर हुमायूं कबीर ने लिखा है—"भारत की भौगोलिक परिस्थितियों ने इस देश को एशिया से इस प्रकार पृथक कर दिया कि इसे विभाजित करने तथा इसे विस्तृत करने के सभी प्रयास विफल सिद्ध हुए हैं।" भारतीय इतिहास पर हिमालय के प्रभाव के सम्बन्ध में डॉ० हेमचन्द्रराय चौधरी का मत है—"इस महान् पर्वत-शृंखला ने भारत को एशिया से अलग-थलग कर दिया है और इसे ऐसा बना दिया जो अपने में ही एक संसार के समान है और इस प्रकार यहाँ एक भिन्न प्रकार की सभ्यता को पनपने में सहयोग मिला।" कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया के प्रथम खंड में उल्लिखित है—"भारत की लगभग समस्त उपज संपदा अथवा पैदावार उन सामुद्रिक मानसून पवनों का प्रताप है जो समुद्र से चलकर हिमालय पर्वत से आकर टकराती हैं।"[1]

पर्वतराज हिमालय की उच्च धवल और दुर्गम चोटियों ने जहाँ एक ओर प्राचीन काल में हमारी सुरक्षा का दायित्व निभाया, वहीं दूसरी ओर हमें एशिया के अन्य देशों की सभ्यता और संस्कृति के ज्ञान से अनभिज्ञ रखा। उन्हें दुर्गम और अजेय समझ कर हमने विदेशों के साथ राजनीतिक तथा कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किये जिसके फलस्वरूप हमारी सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया। जब विदेशियों ने भारत पर आक्रमण किये तो देशवासी उनके प्रचण्ड प्रवाह को नहीं रोक सके।

हिमालय के उत्तर-पश्चिम में खैबर, बोलन, गोमल, टोची आदि दर्रे हैं जो विदेशी व्यापारियों, धर्म-प्रचारकों और आक्रांताओं के लिए भारत-आगमन के प्रवेश-द्वार रहे हैं। ईरानियों और यूनानियों ने इन्हीं दर्रों से होते हुए भारत पर आक्रमण किया। 327 ई० पू० में सिकन्दर महान् ने खैबर दर्रे से प्रवेश कर पंजाब पर आक्रमण किया। इन्हीं दर्रों से शक, कुषाण, हूण, अरब और तुर्कों ने भारत पर आक्रमण किये।

1. "Nearly all the agricultural wealth of India owes its origin to the summer or oceanic monsoons which bear against the Himalayan mountain edge."

—*Cambridge History of India*, Vol .I, p. 5.

इन दर्रों से भारत के मध्य एशिया, चीन, पश्चिमी एशिया और यूरोप के देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए। इन्हीं मार्गों से अनेक धर्म-प्रचारक अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, मिश्र, तुर्किस्तान, चीन आदि देशों में प्रविष्ट हुए तथा अनेक विदेशी ज्ञान-पिपासु ज्ञान अर्जित करने हेतु भारतवर्ष की यात्रा पर आए।

हिमालय प्रचुर संपदा का भंडार है। वहाँ से प्राप्त जड़ी-बूटियों ने भारत में आयुर्वेद का महत्त्व बढ़ा दिया। हिमालय के मनोहर प्राकृतिक सौंदर्य ने साहित्यकारों और संन्यासियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। यह प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक तथा मानसिक चिंतन का स्थल रहा है। हमारे धर्म-ग्रन्थ वेदों की रचना हिमालय के सघन वनों में हुई।

2. **गंगा-सिंधु के मैदान का इतिहास पर प्रभाव**—गंगा-सिंधु के मैदान ने भारतीय इतिहास को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया है। अत्यधिक उपजाऊ भूखंड होने के कारण आर्यों ने इसे अपनी सभ्यता का केन्द्र (आर्यावर्त्त) बनाया। बड़े-बड़े राज्यों का अभ्युदय, उत्थान और पतन इसी मैदान में हुआ। मौर्य, गुप्त, तुर्क और मुगल साम्राज्यों, की स्थापना यहीं हुई। इसी मैदान में अनेक महत्त्वपूर्ण और निर्णायक समर (युद्ध) लड़े गये—कुरुक्षेत्र, तरावड़ी, पानीपत के तीनों युद्ध, खानवा का युद्ध, प्लासी, बक्सर आदि युद्ध। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है—"अतः उत्तर भारत के मैदान अपने आपको सामंताधिपति कहने वाले तथा पड़ोसी राजाओं को पराजित कर अपना सामंत बनाने वाले सम्राटों के आधीन विशाल साम्राज्य के केंद्र बने रहे।"

गंगा-सिंधु के मैदान के फलस्वरूप भारत को सोने की चिड़िया कहे जाने का गौरव प्रदान हुआ। इसकी समृद्धि से लालायित होकर विदेशी आक्रांताओं ने इसे अपने आक्रमणों का निशाना बनाया। इस संदर्भ में डॉ० आर० डी० बनर्जी का यह कथन उल्लेखनीय है—"सिंधु नदी, गंगा और ब्रह्मपुत्र के विशाल उपजाऊ मैदानों ने मानव-जाति के इतिहास के प्रारम्भ से ही भारत के बाहर रहने वाले भूखे और घुमक्कड़ कबीलों को आक्रमण करने के लिए अपनी ओर आकर्षित किया।"[1] राजस्थान की मरुभूमि ने देश को सुरक्षा प्रदान की। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का कथन है कि राजपूताना के मरुस्थलों ने भारत को महत्त्वपूर्ण सुरक्षा प्रदान की। मरुस्थल होने के कारण विदेशी इसे विजित नहीं कर पाये। विदेशियों द्वारा उत्तर के मैदानों को विजित कर लिये जाने पर राजपूत लोगों ने मरुस्थल में शरण ली और उसे शक्तिशाली राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। यहाँ राणा सांगा और राणा प्रताप सिंह जैसे दुर्धर्ष योद्धाओं ने राज्य किया। विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित होने के कारण दीर्घकाल तक वहाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ। राजपूतों ने वहाँ अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित किये और अभेद्य दुर्गों का निर्माण करवाया।

---

1. "The broad fertile plains and the basins of the Indus, Ganges and Brahmaputra have attracted hungry nomads from outside from the very dawn of the history of mankind."

—Dr. R. D. Bannerjee

3. **दक्षिण भारत के पठार का इतिहास पर प्रभाव**—दुर्गम मार्गों और सघन वनों के फलस्वरूप दक्षिण भारत का पठार उत्तरी भारत से पृथक् रहा। यह पठार दक्षिण में नीलगिरि तक विस्तृत है। पर्वत, पठार और नदियों की घाटियों के कारण वहाँ छोटे-छोटे राज्यों का आविर्भाव हुआ। उत्तरी भारत की भाँति दक्षिणी भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित नहीं हुए।

पठारीय प्रदेश होने के कारण भारत प्राचीन काल में एक राज्य के रूप में संगठित नहीं हो सका। यही कारण है कि आर्यावर्त्त (उत्तरी भारत) और दक्षिणापथ (दक्षिणी भारत) नामक दो विचारधाराओं का जन्म हुआ। संचार के साधनों की दुर्गमता के कारण दक्षिणापथ को विजित कर पाना नितांत कठिन था। अशोक महान्, समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और औरंगजेब ने दक्षिणी भारत को विजित करने के भरसक प्रयास किये, किन्तु उन्हें अपने प्रयासों में पूर्ण सफलता नहीं मिल पाई। समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राजाओं को पराजित करके उन्हें अपना करद राजा बनाया। राष्ट्रकूट नरेशों ने प्रतीहार और पाल साम्राज्य पर आक्रमण करके उत्तरी भारत की राजनीति में दखलन्दाजी की, प्रतीहारों और पालों को पराजित करने के उपरांत भी वे उत्तरी भारत को अधिकृत (शासनाधीन) नहीं कर पाये। मुगलों ने अकबर के समय से दक्षिणी भारत पर सामरिक अभियान जारी कर दिये थे, किन्तु औरंगजेब के समय तक वे सम्पूर्ण दक्षिणी भारत को विजित नहीं कर पाये। विदेशी आक्रांता भी दक्षिणी भारत को विजित नहीं कर पाये जिसके फल-स्वरूप वहाँ भारतीय संस्कृति सुरक्षित रही। वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए वीर शिवाजी ने मुगलों के विरुद्ध गुरिल्ला (छापामार) युद्ध नीति का अनुसरण किया। वहाँ की भौगोलिक स्थितियों के फलस्वरूप पूर्वी द्वीपसमूह, चीन, पश्चिमी पाकिस्तान, एशिया, अफ्रीका और यूरोप के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए तथा पूर्वी देशों में भारतीयों ने अनेक उपनिवेश स्थापित किये।

4. **सुदूर दक्षिण के मैदान का इतिहास पर प्रभाव**—दक्षिणी पठार के पूर्व और पश्चिम में लम्बे-लम्बे समुद्री तट हैं। भारत के दक्षिण में तीन ओर से समुद्र तथा उत्तर में हिमालय है। इस प्रकार की भौगोलिक स्थिति के कारण दीर्घकाल तक भारत विदेशी आक्रमणों से मुक्त रहा। कई शताब्दियों तक समुद्र तट ने भारत को सुरक्षा प्रदान की। अच्छे बन्दरगाहों के अभाव के फलस्वरूप भारतीयों ने सामुद्रिक व्यापार में अभिरुचि नहीं दिखाई।

पश्चिमी और पूर्वी समुद्रतटों पर बन्दरगाह होने के कारण भारत ने पूर्वी और पश्चिमी देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किये। इन बन्दरगाहों से दक्षिणी-पूर्वी एशिया तथा पश्चिमी राष्ट्रों के साथ भारत के व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। बाद में समुद्री मार्गों से अंग्रेजों ने भारत में प्रवेश किया और धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत को अपने आधीन कर लिया।

भौगोलिक स्थितियों के इतिहास पर कुछ अन्य प्रभाव

भारत की भौगोलिक स्थितियों ने इतिहास को बहुत प्रभावित किया है। भारत के प्राकृतिक भाग—हिमालय के पर्वतीय प्रदेश, गंगा और सिंधु नदी के मैदान दक्षिण भारत के पठार और सुदूर दक्षिण के मैदान ने इतिहास को कहाँ तक प्रभावित किया है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। भौगोलिक स्थितियों ने इतिहास पर कुछ अन्य प्रभाव डाले हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(अ) **प्राकृतिक विविधता**—भारत में प्राकृतिक विविधता व्याप्त है। प्राकृतिक विविधता ने यहाँ के जनजीवन पर प्रभाव डाला है। प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्ध होकर भारतीय प्रकृति के उपासक हो गये। प्रकृति ने भारतवासियों को भौतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रभावित किया है। इस संबंध में डॉ० मजूमदार ने लिखा है—"प्रकृति द्वारा प्रदत्त सौंदर्य ने भारतीय मानस को एक दार्शनिक तथा कवित्वपूर्ण प्रेरणा प्रदान की। इसी कारण धर्म, दर्शन, कला एवं साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति संभव हो सकी।"[1]

(आ) **राजनीतिक एकता का अभाव**—भारत की विशालता के कारण यहां प्राचीन काल में राजनीतिक एकता का अभाव रहा। उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत कभी एक राजनीतिक सूत्र में नहीं बंध पाये। आवागमन के साधनों के अभाव ने राजनीतिक एकता की भावना को स्थापित नहीं होने दिया। प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र का अपना पृथक इतिहास रहा।

(इ) **सांस्कृतिक एकता का अभाव**—भारत की भौगोलिक स्थितियों के फलस्वरूप यहाँ विभिन्न भाषाओं, रीति-रिवाजों और परंपराओं का जन्म हुआ जो भारत की सांस्कृतिक एकता के लिए बाधक सिद्ध हुए। भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उत्तर भारत में आर्य संस्कृति तथा दक्षिण में द्रविड़ संस्कृति का प्रसार हुआ। दोनों में सामंजस्य स्थापित करने में भौगोलिक स्थितियां बाधक सिद्ध हुईं।

(ई) **विदेशी और सामुद्रिक साम्राज्य विस्तार की ओर उदासीनता**—प्राचीन काल में विशाल भारत को एक राज्य के रूप में संगठित रखना एक कठिन कार्य था। क्षेत्रफल की विशालता के कारण यहाँ एक ही समय में कई राज्य अस्तित्व में आये। राज्य की विशालता के कारण भारतीय राजाओं ने विदेशी राज्यों को विजित करने में अभिरुचि नहीं दिखाई। महरौली लौह स्तम्भ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा सिंधु नदी को पार कर बल्ख विजय का उल्लेख करता है। चोल नरेश राजेन्द्र चोल ने समुद्र पार करके लंका, अंडमान, निकोबार, सुमात्रा और मलाया के कुछ प्रदेशों को विजित किया। परस्पर संघर्षरत रहने के कारण तथा

---

1. "The wild and sublime beauty of nature, in which India is particularly rich, gave a philosophic and poetic turn to the Indian mind and remarkable progress was made in religion, philosophy, art and literature." —*Dr. R.C. Majumdar*

बन्दरगाहों की कमी के कारण भारतीय नरेशों ने सामुद्रिक साम्राज्य के निर्माण में कोई रुचि नहीं दिखाई।

(उ) **विदेशी शक्तियां और सैनिक आविष्कार की अनभिज्ञता**—भारत की विशालता के कारण तथा यहाँ के राजाओं में पारस्परिक द्वेष होने के कारण भारतीय राजाओं ने विदेशी शक्तियों के उत्थान तथा उनकी युद्धकला और सामरिक शक्ति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि विदेशी आक्रमणकारियों के सम्मुख भारतीय राजा पराजित हो गये। डॉ० मजूमदार ने भी भारतीय राज्यों की पराजय के लिए विदेशी ज्ञान के प्रति उनकी उदासीन नीति को उत्तरदायी बताया है।

(ऊ) **राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति का बाहुल्य**—विशाल प्रदेश होने के कारण भारत में प्रजातंत्रात्मक शासन-पद्धति संभव नहीं थी। प्राचीन काल में जिन गणराज्यों का उल्लेख मिलता है, वे अल्पजीवी सिद्ध हुए। क्षेत्र की विशालता, यातायात के साधनों की दुर्लभता और भौगोलिक स्थितियों में भारी असमानताओं के कारण गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का संचालन कठिन था।

(ए) **प्राकृतिक सुरक्षा**—हिमालय पर्वत के उच्च शिखरों और विशाल समुद्र ने भारत को दीर्घकाल तक सुरक्षा प्रदान की। हिमालय और समुद्र ने भारतीयों में सुरक्षा की भावनाओं को जन्म दिया, किन्तु अरबों और तुर्कों के आक्रमणों तथा यूरोपीय व्यापारियों ने उनमें व्याप्त सुरक्षा की भावना का अंत कर दिया।

(ऐ) **आर्थिक जीवन पर प्रभाव**—हिमालय के कारण उत्तरी भारत समृद्ध है। वह प्रचुर संपत्ति का भंडार है। वहां से निकलने वाली नदियों से सिंचाई होती है। वहां के जंगलों से इमारती लकड़ी तथा जड़ी-बूटियां प्राप्त होती हैं। भारत के तीन ओर समुद्र होने के कारण विदेशी व्यापार को बल मिला।

(ओ) **सामाजिक तथा आर्थिक प्रभाव**—गंगा और सिंधु नदी का मदान अत्यधिक उपजाऊ होने के कारण शक्तिशाली राजवंशों का उत्थान और पतन यहीं हुआ। आर्यों ने यहीं निवास कर अपनी संस्कृति का प्रसार किया। यहीं नये धर्मों का आविर्भाव हुआ, ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्मों का आविर्भाव इसी मैदान में हुआ। तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशीला और ओदंतपुरी जैसे विख्यात विश्वविद्यालयों की स्थापना यहीं हुई। अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, बाण जैसे महाकवि, आर्यभट्ट, वराहमिहिर तथा ब्रह्मगुप्त जैसे गणितज्ञ और ज्योतिषाचार्य यहीं हुए।

समृद्ध भूभाग होने के कारण विदेशी आक्रांताओं ने भी गंगा और सिंधु नदी के मैदान को अपने आक्रमण का निशाना बनाया। इस्लाम धर्म का प्रचार-केन्द्र भी यही स्थल रहा है। देश के महत्त्वपूर्ण नगरों का निर्माण भी यहीं हुआ।

मूल्यांकन

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि भौगोलिक स्थितियों का इतिहास पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। मानव-सभ्यता और संस्कृति वहां की भौगोलिक

दशाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। भारत का इतिहास उसकी भौगोलिक स्थितियों से बहुत प्रभावित हुआ है। विशालता, विविधता और पृथकता के कारण संपूर्ण भारत में राजनीतिक तथा सांस्कृतिक एकता स्थापित नहीं हो पाई। आर्थिक संपन्नता ने यहाँ के निवासियों को अध्यात्म की ओर अग्रसर किया। यहां की विषम भौगोलिक परिस्थितियों ने उसे परिश्रमी बनाया और यहाँ की संपन्नता ने विदेशियों को अपनी ओर आकर्षित किया। निस्संदेह इतिहास और भूगोल का गहरा संबंध है।

यद्यपि भौगोलिक स्थितियों का प्रभाव मानव-सभ्यता और संस्कृति पर अवश्य पड़ता है तथापि यह कहना कि उसी पर देशवासियों की उन्नति और श्रेष्ठता निर्भर करती है, उचित प्रतीत नहीं होता। गत पांच हजार वर्षों से भारत की भौगोलिक परिस्थितियों में आमूलचूल परिवर्तन न होने पर भी समाज, धर्म, संस्कृति, साहित्य, दर्शन, ललित कला आदि के क्षेत्र में अत्यधिक विकास हुआ है। इस संबंध में बी० एन० लूनिया का यह कथन उल्लेखनीय है—"प्राकृतिक दशा और भौगोलिक परिस्थिति तथा वातावरण किसी राष्ट्र के इतिहास को अवश्य प्रभावित करते हैं, वहां के निवासियों के जीवन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। परन्तु उनके इतिहास को पूर्णरूप से नियंत्रित नहीं करते। उनकी सभ्यता और संस्कृति के विकास के मूल आधारभूत कारण नहीं हैं, अर्थात् सहायक साधन हैं।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत की भौगोलिक स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए इतिहास पर उसके प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।

   अथवा

   भारतीय इतिहास पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव की विवेचना कीजिए।

2. भारत के प्राकृतिक तत्त्वों ने भारत की सभ्यता एवं संस्कृति पर कैसा प्रभाव डाला है, विवेचना कीजिए।

2

भारतवर्ष की मौलिक एकता

किसी देश की मौलिक एकता के लिए निश्चित भौगोलिक सीमा, राजनीतिक एकता, एक धर्म, एक भाषा एवं एक संस्कृति का होना नितांत आवश्यक होता है। भारतवर्ष में भौगोलिक स्थितियों, भाषाओं, जातियों और धर्मों में विविधता और भिन्नता होने पर भी एक आधारभूत (मौलिक) एकता दृष्टिगोचर होती है जो भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता है।

भारत एक विशाल राष्ट्र है। क्षेत्रफल की दृष्टि से वह रूस को छोड़कर सम्पूर्ण यूरोप के बराबर हैं। उसकी विशालता के कारण ही उसे 'उपमहाद्वीप' की संज्ञा दी गई है। विशाल भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति में विविधता समाई हुई है। हिमालय में गगनचुम्बी धवल शिखर हैं तो गंगा-सिन्धु नदी का मैदान समतल है। कहीं वर्ष भर हिमाच्छादित रहता है तो कहीं उष्ण मैदान और कहीं जल-विहीन रेगिस्तान है। हिमालय की जलवायु अत्यन्त शीत है तो कोंकण और कारोमंडल क्षेत्र में भीषण गर्मी का आतंक व्याप्त है। असम स्थित चेरापूंजी में सालभर में संसार में सर्वाधिक वर्षा (400 इंच) होती है, तो राजस्थान में वर्ष-पर्यन्त चार अथवा पांच इंच वर्षा होती है। यदि कहीं मानवविहीन शुष्क मरुस्थल है, तो कहीं उर्वरक घने बसे मैदान हैं। इस भौगोलिक विविधता का प्रभाव वनस्पति, पशुपक्षियों और मानव समाज पर भी पड़ा। उसने समाज, धर्म और भाषा को भी प्रभावित किया है।

भारत में विभिन्न जातियां निवास करती हैं। वर्तमान भारतीय द्रविड़, आर्य, यूनानी, शक, सीथियन, हूण, मंगोल, मुस्लिम, कोल-भील, संथाल आदि जातियों के वंशज हैं। यहां वैदिक, बौद्ध, जैन, इस्लाम, सिख, ईसाई, पारसी आदि धर्मावलम्बी निवास करते हैं। भारत में संस्कृत, हिन्दी, सिन्धी, गुजराती, उर्दू, बंगाली, तमिल, तेलगू, पंजाबी, मराठी, आदि भाषाएं तथा 150 बोलियाँ प्रचलित हैं। इस प्रकार भारतवर्ष विभिन्न जातियों, धर्मों और भाषाओं का अजायबघर-सा प्रतीत होता है। भौगोलिक विविधता तथा राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विभिन्नताओं

के फलस्वरूप कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित दिया है कि भारतवर्ष में राजनीतिक चेतना का सर्वथा अभाव रहा है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने यहां तक लिख दिया कि भारत नाम का कोई राष्ट्र नहीं है। वह तो केवल एक भौगोलिक शब्दमात्र है। इस सम्बन्ध में जॉन स्टैची का कथन है—"भारत के संबन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह सीखनी है कि न कभी भारत था और न है। भारत जैसा कोई देश भी नहीं है जिसमें यूरोपीय आदर्शों के अनुसार किसी प्रकार की भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक एकता रही हो। भारतीय राष्ट्र अथवा भारतीय जनता जैसी कोई चीज नहीं है जिसके विषय में हम इतना सुनते हैं।" इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए सर जॉन सीले ने लिखा है—"यह विचार कि भारत एक राष्ट्र है, उस अशिष्ट और गलत धारणा पर आधारित है जिसका उन्मूलन राज्य-शास्त्र मुख्यतः करना चाहता है। भारत एक राजनीतिक नाम नहीं है बल्कि यूरोप और अफ्रीका की भाँति एक भौगोलिक शब्द है। वह किसी एक जाति अथवा एक भाषा बोलने वालों की भूमि नहीं है, वह तो अनेक जातियों और भाषाओं की भूमि है।"

पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन, कि भारत एक राष्ट्र न होकर भौगोलिक शब्द मात्र है, तर्क असंगत है। विशाल देश होने के कारण यहाँ भौगोलिक, भाषा, जाति, रीति-रिवाज सम्बन्धी विषमताएं अवश्य हैं, किन्तु उन विषमताओं में एक आधारभूत एकता निहित है। भारतवर्ष की मौलिक एकता की उपेक्षा करना भारतीय संस्कृति के ज्ञान से परे रहना है। भारतवर्ष में अनेक क्षेत्रों में विभिन्नता होने पर भी मौलिक एकता विद्यमान है। इस संदर्भ में डॉ० स्मिथ का यह कथन उल्लेखनीय है—"भारत में वंश, वर्ण, भाषा, वेश-भूषा तथा रीति-रिवाज संबन्धी अनगिनत विभिन्नताओं में भी एक अखण्ड सार्वभौम एकता है।"[1] प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने भारतवर्ष की मौलिक एकता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"भारतीय संस्कृति की कहानी एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मतों के पूर्ण संयोग और उन्नति की कहानी है। यह प्राचीनकाल में रही है और जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सदैव विद्यमान रहेगी। दूसरी संस्कृतियाँ नष्ट हो गई हैं, परंतु भारतीय संस्कृति तथा उसकी एकता अमर है और अमर रहेगी।" डॉ० राधा कुमुद मुखर्जी ने भारत में व्याप्त विभिन्नताओं का कारण उसकी विशालता बताया है। भारत में व्याप्त विभिन्नताओं में निहित एकता का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"उसके महाद्वीपीय विस्तार और विभिन्नता के कारण एक राष्ट्र के रूप में भारत की स्थिति सहज ही हमारे मन में ओझल हो जाती है। इस देश का समग्र

---

1. "There is a fundamental unity even in countless diversities of races, castes, languages, dresses, customs and traditions of India."

—Dr. V. Smith

रूप एक साथ इकाई के रूप में हमारे ध्यान में नहीं आता। उसके एक-एक खण्ड अथवा भाग को ही हम समझ पाते हैं। यह ठीक उसी तरह है जैसे एक पुरानी कहानी के अनुसार कुछ अन्धे लोग हाथी के एक-एक अंग को अलग-अलग टोहते हुए उसे ही पूरा शरीर समझ लेते हैं।........विभिन्नता होना इस बात का प्रमाण नहीं कि वहाँ एकता का अभाव है, विभिन्नता जो जीवन, शक्ति, सम्पन्नता और बलिष्ठता का लक्षण है।" इसी आशय से विचार व्यक्त करते हुए वी० एन० लूनिया ने लिखा है—"भारत की विभिन्नता और विविधता उसकी विशालता के कारण है। ये उसकी मौलिक एकता का विरोध नहीं करतीं, वास्तव में भारत की इस विविधता रूपी आवरण में उसकी अखण्ड मौलिक एकता छिपी है। बाहर से विषमता और अनेकता दिखाई पड़ती है, परन्तु उसमें सारभूत मौलिक एकता है।" भौगोलिक, राज॰ नीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भारतवर्ष में मौलिक एकता दृष्टिगोचर होती है।

1. **भौगोलिक एकता**—भारत वर्ष में व्याप्त भौगोलिक विविधता के बावजूद एक आधारभूत एकता समाई हुई है। भौगोलिक दृष्टि से उत्तर में हिमालय और दक्षिण में समुद्र इसे एक देश का स्वरूप प्रदान करते हैं। यह भौगोलिक एकता प्राचीनकाल से ही स्वीकृत रही है। भारतीय धर्मग्रन्थों में सम्पूर्ण देश को 'भारतवर्ष' की संज्ञा प्रदान की गई है। चाणक्यकृत अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण भारत की आर्थिक वस्तुओं का उल्लेख मिलता है। विष्णु पुराण से विदित होता है—"समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में स्थित भू-भाग का नाम भारतवर्ष है, जहाँ भरत के वंशज निवास करते हैं।" आदि काल से ही यहाँ के निवासियों ने भारत को एक राष्ट्र के रूप में स्वीकार किया है। भारतवर्ष की भौगोलिक एकता पर प्रकाश डालते हुए सर हरबर्ट रिजले ने लिखा है—"भारत के दर्शक को प्राकृतिक क्षेत्र में और सामाजिक रूप में भाषा, आचार और धर्म में जो विविधता दिखाई देती है, उसकी तह में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक एक आंतरिक एकता है।" डॉ० राधा कुमुद मुखर्जी का कथन है—"भारत के धर्म, संस्कृति और सभ्यता के संस्थापक स्वयं भारत की भौगोलिक एकता और अपनी मातृभूमि की विशालता से भली भांति परिचित थे और उन्होंने जन साधारण को इससे प्रभावित करने का पूर्ण प्रयास किया। उन्होंने इस सम्पूर्ण देश का नाम भारतवर्ष रखा। भारतवर्ष केवल भौगोलिक नाम ही नहीं है बल्कि इसका अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व है, जिसमें भारत की मौलिक एकता का मिश्रित रूप से ज्ञान दर्शाया गया है। जिन्होंने इसका नाम दिया, वे निश्चित रूप से भारत की एकता से परिचित थे।" भारतवर्ष की भौगोलिक एकता पर प्रकाश डालते हुए डॉ० स्मिथ ने लिखा है—"पर्वतों और समुद्रों से घिरा भारत निर्विवाद रूप से एक भौगोलिक इकाई है और इसलिये यह ठीक ही एक नाम से पुकारा जाता है"[1]

---

1. "India encircled as she is by seas and mountains, is indisputably a geographical unit and as such is rightly designated by one name." —*Dr. Vincent Smith*

2. राजनीतिक एकता—यद्यपि देश की विशालता और यातायात के साधनों के अभाव के कारण प्राचीन काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष एक राजनीतिक सूत्र में नहीं बँध पाया, तथापि वहाँ के निवासियों में राजनीतिक एकता का अभाव नहीं था। पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि भारत में राजनीतिक एकता ब्रिटिश शासन की देन है। वे प्राचीन काल में भारत में व्याप्त राजनीतिक एकता की भावना की उपेक्षा करते हैं। उनका उक्त मत उचित प्रतीत नहीं होता है, उनके मत का विरोध करते हुए प्रोफेसर पून्ताम्बेकर ने लिखा है—"भारत की एकता अंग्रेजों की विजय तथा उनके शासन का परिणाम नहीं है। यह भावना हिन्दुओं में सदैव विद्यमान थी और इसके लिए अपने इतिहास के सम्पूर्ण काल में उन्होंने प्रयत्न किया है।" इस सम्बन्ध में डा० मजूमदार का कथन है—"यह समझना भूल होगी कि यह (राजनीतिक एकता) पूर्णरूप से आधुनिक युग की देन है तथा पुरातन-काल में इसका अस्तित्व ही नहीं था। महाकाव्य और पुराणों में इस देश के लिए प्रयुक्त नाम भारत द्वारा इस देश की सार्वभौमिक एकता पर बल दिया गया है।"

प्राचीन काल में भारत में राजनीतिक एकता की भावना विद्यमान थी। ऐतरेय ब्राह्मण से विदित होता है कि सबसे बड़ा सम्राट आसमुद्रक्षितीश होता था जिस की सीमाएँ समुद्र तक विस्तृत थीं। चाणक्य ने हिमालय से लेकर समुद्र तक के प्रदेश को एक चक्रवर्ती राजा का क्षेत्र बताया है। राजनीतिक दृष्टि से प्राचीनकाल में हिमालय से लेकर समुद्रपर्यन्त चक्रवर्ती क्षेत्र समझा जाता था और चक्रवर्ती सम्राट बनने की आकांक्षा रखने वाले सम्राट के लिये उक्त भू-भाग को विजित करना आवश्यक था। प्राचीन काल में ययाति, मान्धाता, सगर, दिलीप, रघु, युधिष्ठिर आदि चक्रवर्ती सम्राटों का उल्लेख मिलता है। चक्रवर्ती सम्राट बनने की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन खिलजी, औरंगजेब आदि राजाओं ने दिग्विजय द्वारा भारत को राजनीतिक एकता प्रदान करने की कोशिश की। जब भारत अनेक हिन्दू-राज्यों में विभक्त रहा, तब भी कानून, राजकर, राजपद आदि सभी राज्यों में एक से रहे, क्योंकि उनका निर्धारण धर्मग्रन्थों और नीति-ग्रन्थों के आधार पर होता था। मुगल-राजाओं के राज्यकाल में एक जैसी शासन-व्यवस्था, एक से कानून और एक राज-भाषा थी। ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय जनता में अंग्रेजों के अत्याचारी शासन के विरुद्ध राजनीतिक चेतना का संचार हुआ जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलनों की बाढ़-सी आ गई। आन्दोलनों के राष्ट्रीय स्वरूप को देखकर अंग्रेजों को भारतबर्ष को स्वतन्त्रता प्रदान करने को विवश होना पड़ा। स्वतन्त्रता के पश्चात सम्पूर्ण देश के लिए एक संविधान और एक जैसी कानून-व्यवस्था अंगीकार की गई जिसने भारत की राजनीतिक एकता को अधिक सुदृढ़ कर दिया।

3. सांस्कृतिक एकता—प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में सांस्कृतिक एकता विद्यमान रही है। भारतीय संस्कृति विभिन्न सम्प्रदायों तथा जातियों के आचार विचार, विश्वास और आध्यात्मिक साधना का समन्वय है।

भौगोलिक और राजनीतिक एकता के अतिरिक्त भारत में सामाजिक एकता की भावना भी व्याप्त है। मनु के काल से प्रारम्भ वर्ण-व्यवस्था आज भी भारतीय समाज का मूलाधार है। भारतवासी वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा में विश्वास करते आये हैं। यद्यपि प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म था, किन्तु बाद में जन्म का आधार लेने के कारण उसका स्वरूप जटिल हो गया। सम्पूर्ण भारत में विवाह पद्धति और जन्म-मरण संस्कार एक समान हैं। आदि काल से ही मृत शरीर को जलाने की परम्परा चली आ रही है। भारत पर अनेक विदेशी आक्रमणकारियों ने आक्रमण किये। उनमें से अनेक लोग भारत में ही बस गये। जो विदेशी भारत में बस गये थे, वे अन्त में भारतीय समाज में विलीन हो गये। उन्होंने भारतीय धर्म और सामाजिक मान्यताओं को अंगीकार कर लिया।

सामाजिक एकता के साथ-साथ भारत में धार्मिक एकता भी विद्यमान रही है। हिन्दू-धर्म ने अखण्ड भारत का आदर्श प्रस्तुत करते हुए भारत की सात प्रमुख नदियों—गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी तथा सात नगरों—अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, काँची, उज्जैन एवं द्वारिका को धार्मिक दृष्टि से पवित्र घोषित किया। भारत के चार कोनों पर चार पवित्र धाम जैसे—उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में जगन्नाथपुरी और पश्चिम में द्वारिका स्थापित किए। जगद्गुरु शंकरचार्य ने इन चार धामों की सुव्यवस्था के लिए चार मठों की स्थापना की—उत्तर में ज्योतिर्मठ, पश्चिम में शारदा मठ, दक्षिण में शृंगेरी मठ, और पूर्व में गोवर्धन मठ। भारत के प्रत्येक भाग से हिन्दू इन स्थानों की तीर्थ-यात्रा के लिये हजारों की संख्या में प्रतिवर्ष जाते रहे जिससे एकता और अपनत्व की भावना बनी रही। सम्पूर्ण भारतवर्ष में हिन्दुओं के मन्दिर और तीर्थ हैं। उत्सवों, त्यौहारों और संस्कारों में भी सांस्कृतिक एकता समाई हुई है। कर्म, सत्य, अहिंसा, मोक्ष और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में सभी विश्वास करते हैं। चाहे हिन्दू भारत के किसी कोने का हो, वेदों, उपनिषदों, गीता, रामायण और महाभारत को धर्मग्रन्थ के रूप में सभी स्वीकार करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सरस्वती, पार्वती, लक्ष्मी आदि देवी-देवताओं की उपासना सर्वत्र समान रूप से की जाती है।

भारत में प्रान्तीय और स्थानीय भाषाओं का बाहुल्य होते हुए भी उन सब पर संस्कृत भाषा का प्रभाव रहा है। संस्कृत देवभाषा और राजभाषा के रूप में प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित थी। हमारे पुरातन धर्मग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में हुई है। गुप्तकाल में संस्कृत को राजभाषा के रूप में सम्मानिन किया गया। उस काल के विद्वानों ने धार्मिक, साहित्यिक और वैज्ञानिक ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में की। चाहे हिन्दू बंगाल का निवासी हो अथवा कश्मीर का, मन्दिर में पूजा करते समय अथवा उपनयन और विवाह के अवसर पर संस्कृत भाषा का ही प्रयोग प्रचलित था। अन्य भारतीय भाषाओं का उद्‌गम स्रोत भी संस्कृत ही रही है। सर मोनियर विलियम्स के शब्दों में, "यद्यपि भारत में पाँच सौ से अधिक बोलियाँ हैं, परन्तु धार्मिक

भाषा केवल एक है और धार्मिक साहित्य भी केवल एक है, जिसे हिन्दू-धर्म के सभी अनुयायी, चाहे किसी जाति-पाँति, बोली, सामाजिक स्थिति और मत की दृष्टि से वे कितने ही भिन्न हों, मानते हैं और श्रद्धा से पूजते हैं। वह भाषा संस्कृत है और वह साहित्य संस्कृत साहित्य है।"

सम्पूर्ण भारत में कला के क्षेत्र में भी एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन काल में निर्मित उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के मन्दिरों में एक कला शैली के दर्शन होते हैं। भारत की संगीत कला में भी एकरूपता है। इस संदर्भ में डा० ए०एल० बाशम का यह कथन उल्लेखनीय है—"यदि किसी भी व्यक्ति ने वीणा बजाते हुए किसी दक्षिणी भारतीय संगीतज्ञ को सुना है तो वह यह महसूस करेगा कि यह वही संगीत है जैसा कि भारत में 1,000 वर्ष पूर्व गाया जाता था। इस प्रकार विदित होता है कि भारतवर्ष में भौगोलिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में अनेक विभिन्नताओं के बावजूद एक आधारभूत एकता निहित है। भारतवर्ष की मौलिक एकता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए हरवर्ट रिजले ने लिखा है—"भारत में धर्म, रीति-रिवाज और भाषा तथा सामाजिक एवं शारीरिक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की एक विशेष एकरूपता कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में भारत का एक अलग चरित्र तथा व्यक्तित्व है जिसको पृथक नहीं किया जा सकता।"[1]

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत की मौलिक एकता पर प्रकाश डालिये।

अथवा

"अति प्राचीन काल से ही भारत भिन्नता में एकता का अनुभव करता रहा है।" इस कथन का विवेचन कीजिए।

अथवा

"विभिन्न क्षेत्रों जैसे प्राकृतिक, भाषा सम्बन्धी, सांस्कृतिक और धार्मिक आदि में अनेक भिन्नताएँ होते हुए भी, इस भिन्नता के पीछे एक आधारभूत एकता है।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

---

1. Beneath the manifold diversity of physical and social type, languages, custom and religion, which strikes the observer in India, there can still be discerned a certain underlying uniformity of life from the Himalaya as to Cape Comorin. There is, in fact, an Indian character, a general Indian personality which we cannot resolve into its component elements."

— *Sir Herbert Risely*

अथवा

"भारत विभिन्नता में एकता का प्रदर्शन करता है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

अथवा

"भारत में भिन्नता में मौलिक एकता है।" स्पष्ट कीजिए।

अथवा

"भारतवर्ष में प्रजाति, वर्ण, भाषा, वेषभूषा व रीति-रिवाज सम्बन्धी अनगिनत विभिन्नताओं में भी अखण्ड सारभूत एकता है।" डॉ० विन्सेंट स्मिथ के इस कथन की विवेचना कीजिए।

3

प्राचीन भारतीय इतिहास जानने के साधन

प्राचीन भारतीय इतिहास का क्रमबद्ध और प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करना एक जटिल समस्या है। इसका मूल कारण यह है कि उस काल में पृथक रूप से ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना नहीं की गई थी। प्राचीन काल में अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य विद्यमान होने के कारण भारत में राजनीतिक एकता का अभाव था। राजनीतिक एकता के अभाव के कारण सम्पूर्ण भारत का इतिहास एक रूप में प्राप्त न होकर छोटे-छोटे राज्यों के इतिहास के रूप में उपलब्ध होता है। प्राचीन काल में भारतीयों में ऐतिहासिक घटनाओं को पृथक रूप से लिपिवद्ध करने की परम्परा नहीं थी। उन्होंने प्रायः धार्मिक ग्रन्थों की ही रचना की और उसी में ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश कर दिया। तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों को विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा जलाकर राख कर दिये जाने के कारण अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं से परिपूर्ण ग्रंथ नष्ट हो गये। तुर्क-आक्रांताओं ने भी हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित ग्रंथों को क्रूरतापूर्वक विनष्ट कर दिया।

पाश्चात्य दृष्टिकोण—प्राचीन भारतीय इतिहास जानने के साधन अत्यन्त न्यून हैं। विदेशी विद्वानों ने इसका प्रमुख कारण इतिहास के प्रति भारतीयों का उदासीन दृष्टिकोण वताया है। उनका मत है कि प्राचीन काल में भारतीय पारलौकिक विषयों के चिन्तन में लीन रहने के कारण ऐतिहासिक घटनाओं को महत्त्व नहीं देते थे। इस सम्बन्ध में महमूद गजनवी के साथ भारत की यात्रा पर आने वाले अरब यात्री अल्बेरूनी ने लिखा है—"हिन्दू लोग घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम के प्रति उदासीन हैं। तिथि के अनुक्रम के सम्वन्ध में वे अत्यन्त लापरवाह हैं। जब-जब उनसे कोई ऐसी बात पूछी जाती है जिसका वे उत्तर नहीं दे पाते तब-तब वे कहानियाँ गढ़ने लगते हैं।" इस सन्दर्भ ने लावेल महोदय ने लिखा है—"हिन्दूकाल में हम उस समय तक इतिहास की घटनाओं का विस्तारपूर्वक तथा निश्चित रूप से वर्णन नहीं

कर सकते जब तक कि भारत अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क में नहीं आया था।" एलफिन्स्टन महोदय का कथन है—"सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व भारतीय इतिहास की किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना की तिथि निश्चित नहीं की जा सकती है।" डॉ॰ विंटनिज का मत है—"भारतीय पद्धति ने कभी भी इतिहास और पुराण तथा जनश्रुति में विभेद स्थापित नहीं किया। अतः भारतवर्ष में इतिहास-ग्रन्थ रचना कभी भी महाकाव्य रचना की एक शाखा से अधिक न हो सकी।" इतिहास लेखन के प्रति भारतीयों के उदासीन दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए भारतीय इतिहासविद् डॉ॰ रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—"इतिहास-लेखन के प्रति भारतीयों की विमुखता भारतीय संस्कृति का भारी दोष है। इसका कारण बताना आसान नहीं है। भारतीयों ने साहित्य की अनेक शाखाओं से सम्बन्ध स्थापित किया और उनमें से कई विषयों में विशिष्टता भी प्राप्त की। किन्तु फिर भी उन्होंने कभी गम्भीरतापूर्वक इतिहास-लेखन की ओर ध्यान नहीं दिया।" प्राचीन भारत में यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस, रोमन इतिहासकार लिबी और तुर्की इतिहासकार अल्बेरूनी जैसे इतिहास प्रेमी नहीं हुए।

पाश्चात्य दृष्टिकोण का खण्डन—पाश्चात्य विद्वानों का यह आरोप, कि भारतीय इतिहास-लेखन के प्रति पूर्णतः उदासीन थे; उचित प्रतीत नहीं होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और छांदोग्य उपनिषद में इतिहास को पाँचवां वेद कहा गया है। पुराणों में वेदों के ज्ञान को समझने के लिए इतिहास का अनुशीलन आवश्यक बताया गया है। सातवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्म ग्रंथों के अध्ययन हेतु भारत-भ्रमण पर आया हुआ ज्ञान-पिपासु ह्वेन्सांग लिखता है कि भारत के प्रत्येक प्रान्त में ऐसे राजकीय अधिकारी थे जो अच्छी-बुरी समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विवरण लिखते थे। राजतरंगिणी के लेखक कल्हण का कथन है—"वही गुणवान कवि प्रशंसा का पात्र है जो रागद्वेष से ऊपर उठकर एक मात्र सत्य निरूपण में ही अपनी भाषा का प्रयोग करता है।" डॉ॰ ए॰ एल॰ बाशम ने इस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"प्राचीन भारतीय राजाओं के दरबारों में राज्य-सम्बन्धी घटनाओं का लेखा सावधानी के साथ सुरक्षित रखा जाता था। परन्तु दुर्भाग्यवश वे अभिलेख संग्रहालय पूर्णतः नष्ट हो गये हैं।" विदेशी विद्वानों के इस मत का, कि प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रति अभिरुचि नहीं रखते, विरोध करते हुए डॉ॰ बाशम ने लिखा है—"संम्भवतः यह धारणा न्यायोचित नहीं है कि भारत को किसी प्रकार के इतिहास का ज्ञान नहीं था।" हमारे वेदों, उपनिषदों, पुराणों, बौद्ध, जैन तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों, साहित्यिक कृतियों एवं अभिलेखों में विस्तृत ऐतिहासिक विवरण दृष्टिगोचर होता है। वास्तविकता तो यह है कि भारतीयों ने ऐतिहासिक ज्ञान को विस्तृत ज्ञान का एक अंग मान लिया था और उसे धर्म, नैतिकता, राजनीति, अर्थव्यवस्था, साहित्यादि के साथ सम्मिलित कर लिया था। इस सम्वन्ध में डॉ॰ राधाकुमुद मुखर्जी का यह कथन उल्लेखनीय है—"प्रत्येक हिन्दू धर्म में सोता है, धर्म में जागता है, धर्म में खाता है, धर्म में ही स्नान करता है। यात्रा पर जाने के लिए धर्म का सहारा लेता है, मकान बनाते समय धर्म की प्रेरणा लेता है अर्थात् सम्पूर्ण कार्य ही धर्म को ध्यान में रखकर करता है।" धर्मग्रन्थों में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ कल्पित तथा अतिरंजित उल्लेखों का समावेश

मिलता है जो स्वाभाविक था। सम्पूर्ण वाद-विवाद के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भारतीय इतिहास पर प्राचीनकाल में कोई पृथक ग्रन्थ लिपिबद्ध नहीं किया गया बल्कि उस काल के धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों एवं अभिलेखों में इतिहास की अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी का मत है--"भारत का प्राचीनतम साहित्य सर्वथा धार्मिक है। विद्वानों ने फिर भी अत्यन्त धैर्य और अध्यवसाय से उस साहित्य-सागर से बिन्दु-बिन्दु इतिहास बटोरा है।"

भारत में पृथक रूप से इतिहास लिखने की परम्परा मुसलमानों के आगमन से प्रारम्भ होती है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आंग्ल विद्वानों ने भारतीय इतिहास की जानकारी प्राप्त करके उसे लिपिबद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने वेदों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करके भारतीय सभ्यता के गौरव की स्थापना की। सर विलियम जोन्स ने कोलबुक और विलसन जैसे विद्वानों की सहायता से 'भगवद्गीता', 'हितोपदेश', 'गीतगोविन्द' जैसे ग्रन्थों का आंग्ल भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया। 1862 ई० में एलेक्जेण्डर कनिंघम के नेतृत्व में भारतीय पुरातत्त्व विभाग की स्थापना की गई। सन् 1922 में सर जॉन मार्शल ने सिन्धु-सभ्यता की खोज करके भारत की पुरातन सभ्यता पर नया प्रकाश डाला। पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण भारतीय दृष्टिकोण से भिन्न होने के कारण भारतीय इतिहास में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। किन्तु अब इस ओर भारतीय विद्वान सजग और निरन्तर प्रयत्नशील हैं। भारतीय इतिहास जानने के साधनों को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—1. साहित्यिक स्रोत तथा 2. पुरातात्त्विक सामग्री।

1. साहित्यिक स्रोत

अध्ययन की सुविधा के लिए साहित्य स्रोतों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) भारतीय साहित्यि तथा (आ) विदेशी साहित्य।

(अ) **भारतीय साहित्य** – प्राचीन भारतीय साहित्यिक ग्रन्थों में इतिहास बीज रूप में सुरक्षित है। इन ग्रन्थों में ऐतिहासिक घटनाओं का पर्याप्त उल्लेख किया गया है। निम्नलिखित साहित्यिक ग्रन्थों में प्राचीन इतिहास का विवरण मिलता है—

1. **वेद** —वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वेद चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद। वेद प्रधानतया भारतीय धर्मग्रन्थों के रूप में अंगीकार किए जाते हैं। परन्तु उनमें तत्कालीन (वैदिक कालीन) ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख भी मिलता है। उनसे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा पर प्रकाश पड़ता है। वेदों में आर्यों-अनार्यों के मध्य संघर्ष तथा दस राजाओं के युद्ध का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद से आर्य-सभ्यता का ज्ञान प्राप्त होता है। वेदों के ऐतिहासिक महत्त्व को अंगीकार करते हुए डॉ० एस० एन० प्रधान ने लिखा है—"वैदिक साहित्य से प्राप्त प्रमाण अत्यन्त मूल्यवान और शक्ति-

शाली हैं। इनमें अधिकतर तत्कालीन विवरण हैं अथवा तत्कालीन प्रमाणों से ली गई परम्पराएं हैं।"[1]

2. ब्राह्मण—वैदिक सभ्यता के पश्चात् समाज में यज्ञों और कर्मकाण्डों का अत्यधिक प्रचलन हो गया था तथा उनकी प्रक्रिया में जटिलता भी आ गई थी। इस जटिल प्रक्रिया को समझाने के लिए एक नये साहित्य का आविर्भाव हुआ जो 'ब्राह्मण' के नाम से प्रसिद्ध है। ब्राह्मण साहित्य प्रधानतया वेदों पर आधारित हैं। ब्राह्मण-साहित्य में प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थों में ऐतरेय, पंचविश, शतपथ, तैत्तिरीय आदि प्रमुख हैं।

3. उपनिषद्—उपनिषद् शब्द के अर्थ के संदर्भ में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों ने उपनिषद् शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस रहस्य विद्या का ज्ञान गुरु के समीप बैठकर अर्जित किया जाता था उसे उपनिषद् कहते थे। अन्य विद्वानों का मत है कि उपनिषद् वह विद्या है जो मनुष्य को ब्रह्म के समीप बिठा देती है अथवा उसे आत्मज्ञान का बोध करा देती है। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद् से प्राचीन भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। उपनिषदों से राजा परीक्षित के बाद से लेकर बिंबिसार से पूर्व तक की ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है।

4. सूत्र-ग्रन्थ—सूत्र-ग्रन्थों से भी भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है जिनमें धर्म-सूत्र तथा गृह्य-सूत्र का नाम उल्लेखनीय है।

5. स्मृतियां—सूत्रों की भाँति स्मृतियां भी भारतीय इतिहास जानने के साधन हैं। स्मृतियों में तत्कालीन मानव के सम्पूर्ण जीवन के विविध क्रिया-कलापों का विवरण मिलता है। स्मृतियों में 'मनु-स्मृति', 'याज्ञवल्क्य-स्मृति', 'नारद-स्मृति' तथा 'बृहस्पति-स्मृति' प्रमुख हैं।

6. पुराण—पुराणों की संख्या अठारह है। पुराणों से प्राचीन भारत के इतिहास पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। वे (पुराण) ऋग्वेद के काल से लेकर पुराणों की रचना काल तक का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। डॉ० प्रधान ने पुराणों के ऐतिहासिक महत्त्व का उल्लेख करते हुए लिखा है—"पुराण हमें प्राचीन भारत का इतिहास बताने का दावा करते हैं। ऐसा करते हुए वे 'ऋग्वेद' काल से ही राजाओं की वंशावलियां बताना आरम्भ कर देते हैं। इसके साथ वे यह भी बतलाते हैं कि किन राजाओं ने प्राचीन काल में भारत के किस-किस भाग पर राज्य किया और कौन-कौन से राज्यों की स्थापना की। कहीं-कहीं राजाओं और ऋषियों के साहसिक और असाधारण कार्यों का वर्णन भी मिलता है। उनमें युद्धों के पूर्ण विवरण, प्रसिद्ध घटनाएं

---

1. "The evidences derived from the Vedic literature are very strong and carry authority. Many of them are either directly contemporary records or are traditions derived from contemporary evidences."

—*Dr. S. N. Pradhan*

तथा महत्त्वपूर्ण समकालीन घटनाएं भी लिखी गई हैं।"[1] ऐतिहासिक ज्ञान के सम्बन्ध में विष्णु-पुराण, मत्स्य-पुराण और वायु-पुराण उल्लेखनीय हैं।

7. **जैन साहित्य**—भारत के सांस्कृतिक इतिहास में जैन-धर्म का विशेष महत्त्व है। जैन धर्म-ग्रन्थों को जैन सूत्र के नाम से जाना जाता है। जैन धर्म-ग्रन्थों से प्राचीन भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। जैन-धर्म-ग्रन्थों से महावीर स्वामी का जीवन-चरित्र, गृहत्याग, तापस जीवन, धर्म-प्रचार, महावीर के सिद्धान्त तथा जैन-धर्म के प्रभाव और प्रसार का ज्ञान प्राप्त होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन-ग्रंथों में आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

8. **बौद्ध साहित्य**—भारत के सांस्कृतिक इतिहास में बौद्ध धर्म का विशिष्ट स्थान है। गौतम बुद्ध ने कर्मकांडों, यज्ञों और अंधविश्वासों से त्रस्त मानव समाज को एक सरल, सुबोध तथा व्यावहारिक धर्म प्रदान किया। अपने अनेक गुणों के कारण बौद्ध धर्म शीघ्र ही विश्व के अनेक देशों में फैल गया। बौद्ध धर्म ग्रन्थों से प्राचीन भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इनमें बौद्ध पिटक, सूत्तपिटक, अभिधम्म पिटक, महावस्तु, ललित-विस्तार, बुद्ध चरित, दिव्यावदान, लंकावतार, सद्धर्मपुंडरीक आदि उल्लेखनीय हैं। बौद्ध धर्म-ग्रथों से तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

बौद्ध साहित्य में जातकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएं हैं। जातकों से तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। जातकों की रचना का संभावित काल लगभग तीसरी शती ई०पू० माना जाता है। जातकों के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए जर्मन विद्वान विंटर्निज ने लिखा है—"जातक केवल इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं हैं कि उनका साहित्य और उनकी कला का प्रकाशन वैसा है बल्कि तीसरी सदी ई०पू० की सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से भी उनका वैसा ऊँचा स्थान है।"

9. **महाकाव्य**—प्राचीन महाकाव्यों में रामायण और महाभारत का नाम आता है। उन्हें गाथा-ग्रंथ भी कहा जाता है। ये ग्रंथ ऐतिहासिक सामग्री से परिपूर्ण हैं। इन महाकाव्यों से प्राचीन भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। रामायण में

---

1. "The Puranas profess to give us the ancient history of India. In so doing they begin from the earliest Rigvedic period describing genealogies of kings who established kingdoms and principalities and thus parcelled out and ruled ancient India. Occasionally, the feats and achievements of kings and Rishis are related, battles mentioned and described, noticeable incidents and happenings recorded and very valuable synchronisms noted down."

—*Dr. S. N. Pradhan*

इक्ष्वाकु वंश के राजाओं की उपलब्धियों का उल्लेख मिलता है। उसमें राम के महान कार्यों का विवरण उपलब्ध है। सर्वप्रथम राम ने ही आर्य सम्राट के रूप में राक्षसों का संहार कर दक्षिणी भारत को विजित किया था। महाभारत में आर्यों के काल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दशा तथा कलात्मक एवं वैज्ञानिक विकास का वर्णन मिलता है।

10. कौटिल्य का अर्थशास्त्र—कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य (321 ई० पू० से लेकर 297 ई० पू०) का प्रधानमंत्री था। वह महान् कूटनीतिज्ञ तथा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। उसके द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' राजनीति तथा शासन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। अर्थशास्त्र से तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

11. गार्गी संहिता—गार्गी संहिता की रचना प्रथम शताब्दी ई०पू० में हुई। इस ग्रंथ में भारत पर यवनों द्वारा किये गये आक्रमण का उल्लेख मिलता है।

12. कालिदास की कृतियां—महाकवि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (380-413 ई०) के दरबार में रहता था। कालिदास ने विक्रमोर्वशी, मेघदूत, रघुवंश, कुमार संभव, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ऋतु संहार तथा मालविकाग्निमित्र नामक ग्रंथों की रचना की है। इन ग्रंथों में ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश है। मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में पुष्यमित्र और यवनों के मध्य हुए संघर्ष का उल्लेख मिलता है।

13. विशाखदत्त की रचनाएँ—विशाखदत्त का काल 600-700 ई० के लगभग माना जाता है। उसने 'मुद्राराक्षस' तथा 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक कृतियों की रचना की। इन रचनाओं को ऐतिहासिक ग्रंथों के रूप में स्वीकार किया जाता है। मुद्राराक्षस नामक नाटक में चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा नंदवंश के विनाश की घटना का उल्लेख मिलता है। देवीचन्द्रगुप्तम् में रामगुप्त द्वारा शकाधिपति को अपनी पत्नी सौंपने, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा शक-नरेश का वध करने तथा ध्रुव स्वामिनी के साथ सम्पन्न विवाह का वर्णन मिलता है।

14. बाणभट्ट का हर्ष चरित्र—बाणभट्ट हर्ष वर्धन के राज-दरबार में रहता था। उसने 'हर्षचरित्र' नामक ग्रंथ की रचना की। हर्षचरित्र में प्रभाकर वर्धन की मृत्यु, राज्यवर्धन का राज्यारोहण, कन्नौज नरेश ग्रहवर्मा का वध, शशांक द्वारा वंचकता से राज्यवर्धन का वध, हर्षवर्धन का जीवन-चरित्र तथा तत्कालीन स्थितियों का उल्लेख मिलता है।

15. कल्हण कृत राजतरंगिणी—कश्मीर के लेखक कल्हण ने बारहवीं शताब्दी में राजतरंगिणी नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में कश्मीर का विस्तृत इतिहास दृष्टिगोचर होता है।

16. वाक्पति राज का गौडवहो—गौडवहो की रचना वाक्पति राज ने प्राकृत भाषा में की है। इस ग्रंथ में कन्नौज-नरेश यशोवर्मा की दिग्विजय का सुन्दर वर्णन किया गया है।

17. चन्दबरदाई कृत पृथ्वीराज-विजय—चन्दबरदाई पृथ्वीराज चौहान का दरबारी कवि था। उसने पृथ्वीराज-विजय नामक ग्रंथ के माध्यम से पृथ्वीराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व तथा तत्कालीन अन्य घटनाओं का वर्णन किया है।

18. अन्य ग्रंथ—उपरोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त पातंजलि का महाभाष्य, संध्याकरनंदी कृत रामचरित, आनंदभट्ट का वल्लालचरित, हेमचन्द्र का कुमारपालचरित, परिमलगुप्त का नवसाहसांकचरित, बिल्हणकृत विक्रमांकदेवचरित, जयानक का पृथ्वीराज विजय, सोमेश्वर की कीर्तिकौमुदी आदि ग्रंथों से भी प्राचीन भारत के इतिहास पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

(आ) **विदेशी साहित्य**—भारत पर विदेशी आक्रमण के समय तथा यहां की सांस्कृतिक गरिमा से प्रभावित होकर अनेक विदेशी लेखक और जिज्ञासु भारत-भ्रमण पर आये। उन्होंने अपने ग्रंथों में तत्कालीन भारतीय स्थिति का उल्लेख किया है।

1. यूनानी लेखक—सिकंदर के आक्रमण से पूर्व स्काइलैक्स, हिकेटिअस, हेरोडोटस तथा केसिअस नामक लेखकों ने अपने ग्रन्थों में भारत विषयक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया है। स्काइलैक्स एक नाविक था। उसने सामुद्रिक यात्रा कर नदी के मुहानों के बारे में अनेक खोजें कीं। हैरोडोटस यूनान का इतिहासकार था।

326 ई०पू० में यूनानी सम्राट सिकन्दर महान् ने भारत पर सैनिक अभियान किया। वह अपने साथ सैनिकों के अतिरिक्त लेखकों और विद्वानों को भी लाया जिनमें निआकर्स, एरिस्टोव्यूलस, ओनेसिक्रिटस के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों की कृतियों में भारत-विषयक वर्णन मिलता है। दुर्भाग्यवश उनकी मौलिक कृतियां काल के गर्भ में सभा गई हैं, किंतु उनकी पुस्तकों के लम्बे-लम्बे उद्धकण परवर्ती यूनानी लेखक स्ट्राबो, प्लिनी और एरियन की रचनाओं में मिलते हैं।

305 ई० पू० में सिकन्दर महान् के सेनापति तथा उत्तराधिकारी सिल्यूकस ने सिकन्दर महान् के विजय अभियान की परम्परा का अनुसरण करते हुए भारत पर आक्रमण कर दिया, परन्तु उसे भारत के तेजस्वी सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के हाथों पराजित होना पड़ा। बाद में दोनों पक्षों के मध्य सन्धि सम्पन्न हो जाने पर सिल्यूकस ने अपना यूनानी राजदूत मेगस्थनीज मौर्य दरबार में रखा। विद्वान् राजदूत मेगस्थनीज ने भारतीय विवरण से सम्बन्धित ज्ञान को लिपिबद्ध कर 'इण्डिका' नामक ग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ अब विलुप्त हो चुका है, किन्तु महत्त्वपूर्ण उद्धरण परवर्ती यूनानी लेखकों ने अपने ग्रंथों में उद्धृत किये हैं।

2. चीनी-लेखक—भारतवर्ष के ज्ञान की गरिमा से प्रभावित होकर ज्ञानपिपासु चीनी यात्री भारत भ्रमण पर आये जिनमें फाहियान (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्य काल में), ह्वेनसांग (सम्राट हर्षवर्धन के शासन काल में) तथा इत्सिग उल्लेखनीय हैं। इन यात्रियों का मूल उद्देश्य धार्मिक ग्रंथों का संग्रह तथा बौद्ध तीर्थ-स्थलों की यात्रा करना था। इन विद्वान् लेखकों ने अपने यात्रा-वृत्तांत में तत्कालीन भारत

की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थिति पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

3. **तिब्बती इतिहासकार तारानाथ**—तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ ने अपने ग्रंथ कंग्युर और तंग्युर में भारत-विषयक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध कराई है।

4. **तुर्क लेखक**—दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों से ग्यारहवीं शताब्दी के चतुर्थांश तक भारत निरंतर महमूद गजनवी के तीखे आक्रमणों से त्रस्त रहा। उसके आक्रमण के समय बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न तुर्की विद्वान अल्बेरुनी भारत आया। उसने 1030 ई० में रचित अपने ग्रंथ 'तहकीकए-हिन्द' (तारीख-उलहिन्द) में भारत के निवासियों के विषय में विस्तृत विवरण दिया है। अल्बेरुनी से पूर्व के तुर्की लेखक अल्-बिलादुरी (किताब फुतूह अल्-बुल्दान) सुलेमान (सिलसिलात्-उत्-तवारीख) और अल् मसऊदी (मुरूज-उल्-जहाब) के ग्रंथों में भी भारत का विशद वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इनके अतिरिक्त अनेक मुस्लिम लेखक भारत आये और उन्होंने अपने ग्रंथों में भारत-विषयक वर्णन प्रस्तुत किया है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास जानने के लिए विदेशी साहित्य महत्त्वपूर्ण साधन है। विदेशी विवरण के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"इनसे भारतीय तिथि के अशांत सागर में समसामयिकता स्थापित करने में सहायता मिलती है।"

2. पुरातात्त्विक सामग्री

प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्धित पुरातात्त्विक सामग्री को तीन भागों विभक्त किया जा सकता है—(1) अभिलेख, (2) सिक्के तथा (3) प्राचीन अवशेष।

(अ) **अभिलेख**—अभिलेखों से प्राचीन भारतीय इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। बिना अभिलेखों के अध्ययन के प्राचीन भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना नितांत कठिन है। अभिलेख चौथी-पांचवीं शताब्दी ई० पू० से लिखने प्रारम्भ किए गए थे। ये अभिलेख शिलाओं, प्रस्तर पट्टों, दरीगृहों की दीवारों और धातुपत्रों पर उत्कीर्ण हैं। अभिलेख संस्कृत, पाली, प्राकृत अथवा मिश्रित भाषाओं में लिखे गये हैं। इन अभिलेखों में अशोक के चौदह शिलालेख, सात स्तंभलेख, कलिंगराज खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख, गौतमीपुत्र शातकर्णी का नासिक अभिलेख, समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति, चन्द्रगुप्त द्वितीय का महरौली लोहस्तंभ लेख, राजपूतकालीन अभिलेख आदि उल्लेखनीय हैं।

अशोक महान् के अभिलेखों में उसके धर्म के सिद्धान्तों, उसकी शिक्षाओं, धर्मप्रचार आदि का पूरा विवरण मिलता है। हाथीगुम्फा अभिलेख कलिंग के प्रतापी राजा खारवेल के जीवन-चरित्र और उपलब्धियों पर प्रकाश डालता है। नासिक अभिलेख गौतमीपुत्र शातकर्णी के व्यक्तित्व और कृतित्व का उल्लेख करता

है। प्रयाग स्तंभलेख समुद्रगुप्त की दिग्विजय का परिचायक है। महरौल लौहस्तंभ लेख चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालता है। राजपूत कालीन (सन् 650-1200 ई०) इतिहास प्रधानतः अभिलेखों पर ही अंकित है। डॉ० पी० के० आचार्य का कथन है—"कलिंग के राजा खारवेल, रुद्रदामन, समुद्रगुप्त, कन्नौज नरेश हर्ष और चालुक्य राष्ट्रकूट, पाल तथा सेनवंशी राजाओं के शिलालेखों से विश्वसनीय तिथियों सहित पर्याप्त ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है। इन अभिलेखों से तत्कालीन राजाओं और दान-दाताओं की वंशावलियों, राजा के कार्यों और दान की स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है।" शिलालेखों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए प्रोफेसर रैप्सन ने लिखा है—"शिलालेखों से अपने देश और काल की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा के सम्बन्ध में विश्वसनीय प्रमाण मिलते हैं। एक ओर वे सैनिक गतिविधियों और दूसरी ओर संस्थाओं के स्थायित्व को प्रमाणित करते हैं, जिन पर सैनिक विजयों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।" डॉ० स्मिथ ने अभिलेखों को प्राचीन भारतीय इतिहास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय स्रोत कहा है।

विदेशी अभिलेखों में एशिया माइनर में स्थित बोगजकोई अभिलेख प्रसिद्ध है। उससे भारतीय इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन हेतु अभिलेखों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए डॉ० स्मिथ ने यह विचार व्यक्त किया है—"प्रारम्भिक हिंदू-इतिहास में घटनाओं की तिथि का जो ठीक-ठीक ज्ञान अभी तक प्राप्त हो सका है, वह प्रधानतः अभिलेखों के साक्ष्य पर आधारित है।"[1]

(आ) **सिक्के**—प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में मुद्राओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 206 ई० पू० से 300 ई० तक के भारतीय इतिहास का ज्ञान प्रधानतया मुद्राओं के अध्ययन से होता है। सिक्के सोना, चाँदी, ताँबा और मिश्रित धातुओं के प्राप्त हुए हैं। इन पर लेख अथवा चिन्ह खुदे हैं। कुछ सिक्कों पर तिथि भी अंकित है जिनसे तिथिक्रम निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है। सिक्कों पर कुछ राजाओं के नाम भी अंकित हैं। गुप्त-नरेश रामगुप्त (सन् 375- 380 ई०) का ज्ञान उसकी मुद्राओं से ही संभव हो पाया है। हिंदू धर्म के पुनरुद्धारक गुप्त शासकों का इतिहास बहुत कुछ सिक्कों पर आधारित है। हिंदू-शक और हिंदू-बाखत्री राजाओं के सम्बन्धों का ज्ञान एकमात्र सिक्कों के अध्ययन से ही होता है। सिक्कों पर अंकित विरुदों से राजा की धार्मिक धारणाओं का ज्ञान प्राप्त होता हैं तथा मूल्यवान धातु के सिक्के उस काल की संपन्नता के द्योतक हैं। सिक्कों पर अंकित चित्रों से तत्कालीन वेशभूषा पर प्रकाश पड़ता है। प्राचीन

---

1. "Exact knowledge of the dates of events in early Hindu History, so far as it has been attained, rests chiefly on the testimony of inscriptions." —*Dr. V. A. Smith*

भारतीय इतिहास जानने के साधनों में सिक्कों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए सी० जे० ब्राउन ने लिखा है—"इन सिक्कों ने इतिहास की बहुत सेवा की है क्योंकि उन्होंने उन राजाओं के नाम तथा उपाधियां सुरक्षित रखी हैं जिनका अन्यथा कोई चिन्ह शेष नहीं रहा है। इसके अतिरिक्त इनकी सहायता से राजवंशों की सूचियां दुबारा बनाना और राजाओं का शासन-काल निर्धारित करना भी संभव हो गया है। वे समय-समय पर विविध तिथियों के निर्धारण में सहायक सिद्ध होते हैं।"[1]

(इ) **प्राचीन अवशेष**—प्राचीन अवशेषों से भी भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। प्राचीन इमारतों तथा उनके भग्नावशेषों से तत्कालीन सभ्यता का ज्ञान होता है। मन्दिर, स्तूप और विहार राजा और प्रजा दोनों के समान रूप से धार्मिक विश्वासों के प्रतीक हैं तथा काल-विशेष की वास्तु एवं शिल्प-शैलियों पर भी प्रकाश डालते हैं। विदेशों में भारतीय भग्नावशेषों का मिलना इस तथ्य का द्योतक है कि भारतीयों ने विदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित किए। मूर्तियों तथा भित्तिचित्रों से भी उस काल की कला का ज्ञान होता है। प्राचीन भारतीय इतिहास जानने के संदर्भ में प्राचीन अवशेषों के महत्त्व का उल्लेख करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० मजूमदार ने लिखा है—"वस्तु अवशेष प्राचीन भारतीयों की कला-कुशलता के अमर साक्षी हैं और वे इतिहास के विभिन्न युगों के धन तथा वैभव की गवाही देते हैं। उनसे जन-संस्कृति को समझने की एक ऐसी अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है, जो केवल पुस्तकीय ज्ञान से संभव नहीं है। तक्षशिला की खुदाई ने हमारे सम्मुख प्राचीन भारत के नागरिक जीवन का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया है जो किसी पुस्तक के ज्ञान से नहीं जाना जा सकता, कभी-कभी पुरातात्त्विक खुदाइयां सभ्यता के अज्ञात युगों पर प्रकाश डालती हैं, जैसे सिंधुघाटी की सभ्यता।"

मूल्यांकन

अंत में, यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीत इतिहास जानने के साधन मध्यकालीन अथवा आधुनिक भारतीय इतिहास जानने के साधनों की अपेक्षा अत्यन्त अल्प हैं। फिर भी भारतीय साहित्य, विदेशी यात्रा-वृत्तांत, अभिलेख, सिक्के और प्राचीन अवशेषों के गहन अध्ययन से प्राचीन भारतीय इतिहास की रूप-रेखा खींची जा सकती है।

---

1 "These coins are of the greatest service as they have preserved not only the names and titles of the kings who otherwise have left no other traces but also by their aid it is possible to reconstruct the dynastic lists and to determine the chronology of ruling powers, also they help in dating events here and elsewhere in India."

—*C. J. Brown*

विदेशी लेखकों का यह कथन, कि प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रति उदासीन दृष्टिकोण रखते थे, पूर्णतः उचित प्रतीत नहीं होता है। हमारे साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रन्थों, अभिलेखों, मुद्राओं तथा अवशेषों से प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित जानकारी उपलब्ध होती है। किंतु पृथक् रूप से ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना का अभाव बहुत खटकता है। प्राचीन भारत का क्रमबद्ध इतिहास छठी शताब्दी ई० पू० से प्रारम्भ होता है। इससे पूर्व का इतिहास बहुत कुछ अनुमान पर भी आधारित है। प्रायः यह कहा जाता है कि प्राचीन भारत का इतिहास एक लम्बे समय तक राजनीतिक इतिहास कम और सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास अधिक रहा है। डॉ० ए० एल० बाशम के शब्दों में—"चाहे हमारा ज्ञान कितना ही दोषपूर्ण क्यों न हो, फिर भी हमारे पास यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि भारत में महान् साम्राज्यों का उत्थान एवं पतन हुआ और धर्म, कला, साहित्य एवं सामाजिक जीवन की भांति भारत के राजनीतिक संगठन की प्रणाली भी अपनी थी, जो उसकी शक्ति तथा दुर्बलता दोनों में ही स्पष्ट परिलक्षित होती रही।" डॉ० मजूमदार ने लिखा है—"प्रायः यह कहा जाता है कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का सर्वथा अभाव था, परन्तु यह बात पूरी तरह से ठीक नहीं है। नेपाल, गुजरात, कश्मीर और अन्यान्य स्थानों के स्थानीय इतिवृत्त और बहुसंख्यक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। यद्यपि यह सामग्री मात्रा में बहुत कम है, परन्तु वह इस विचार को मिथ्या सिद्ध करती हैं। फिर भी यह बात तो है ही कि भारतीयों ने अपने देश की सार्वजनिक घटनाओं को उचित रूप से अंकित करने के प्रति एक आश्चर्यजनक उदासीनता दिखाई है।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय इतिहास जानने के साधनों पर प्रकाश डालिए।

   अथवा

   प्राचीन भारत के इतिहास जानने के साधनों की विवेचना कीजिए।
2. "यह कहना निरर्थक है कि प्राचीन भारत के इतिहासकारों को किसी ऐतिहासिक रचना के अभाव का सामना करना पड़ता था।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
3. "क्या यह सच है कि महान् बौद्धिक तथा महान् साहित्यिक क्रियाशीलता के बावजूद भारत ने कोई हेरोडोटस अथवा थूपिडाइड्स—यहां तक कि कोई लिवी या टैसिटस भी नहीं उत्पन्न किया।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
4. भारत के प्रारम्भिक इतिहास के विभिन्न साधनों का वर्गीकरण और व्याख्या तथा उनके सापेक्ष महत्त्व का विवेचन कीजिए।
5. प्राचीन भारत के इतिहास जानने में विदेशियों के वृत्तांत कहां तक सहायक हैं?
6. प्राचीन भारत के इतिहास जानने के साहित्यिक साधनों का उल्लेख कीजिए।
7. प्राचीन भारत के इतिहास जानने के पुरातत्त्व सम्बन्धी कौन-कौन से साधन हैं?

4

प्राचीन भारतीय इतिहास का तिथिक्रम

छठी शताब्दी ई० पू० से पहले की भारतीय इतिहास की तिथियां प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं हैं। इन ऐतिहासिक तिथियों के सन्दर्भ में विद्वान एक मत नहीं हैं। विवादास्पद होने पर भी उन्हें इस अध्याय में संभावित रूप में प्रस्तुत किया गया है। सामान्य तथा प्राचीन भारतीय इतिहास की प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का तिथिक्रम इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है—

4,000,00 ई० पू०—पृथ्वी की रचना कब हुई, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। दयानंद सरस्वती ने पृथ्वी को 1 अरब 95 करोड़ वर्ष प्राचीन माना है। कुछ अन्य विद्वान् इसका रचना-काल 10 लाख वर्ष पूर्व बताते हैं। सभी मतों के विवेचनात्मक अध्ययन के उपरांत पृथ्वी का रचना काल 10 लाख वर्ष पूर्व अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। प्रारंभ में पृथ्वी एक लाल आग के गोले के समान थी, किन्तु बाद में पृथ्वी के रूप में परिवर्तित हो जाने के फलस्वरूप उसमें वनस्पतियां उगने लगीं और मानव तथा पशु विचरण करने लगे।

3500 ई० पू० से पहले का काल भारतीय इतिहास में प्रागैतिहासिक युग की संज्ञा से बोधित है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस युग को पूर्व पाषाण-युग, उत्तर पाषाण-युग, ताम्र-युग और लोह-युग नामक चार कालों में विभक्त किया गया है। विद्वानों ने पूर्व पाषाण-युग की अवधि 4,00,000 ई० पू० से 50,000 ई० पू० तक निर्धारित की है।

पूर्व पाषाण-युग मानव सभ्यता का प्रथम चरण था। इस काल में मानव असभ्य, बर्बर और जंगली था। वह पत्थर के हथियार निर्मित कर अपना जीवन-यापन करता था। वह गुफाओं में निवास करता था तथा खाल, पेड़ की छाल और पत्तियों से तन ढकता था। उत्तर पाषाण-युग में उसकी सभ्यता में विकास हुआ। वह गुफाएं निर्मित कर नदियों और झरनों के समीप सामूहिक रूप में रहने लगा। उसे अग्नि का ज्ञान भी हो गया था। ताम्रयुग में मानव को ताम्र धातु का ज्ञान हो गया था। वह पत्थर के स्थान पर तांबे के हथियार बनाने लगा। वह कृषि के

ज्ञान से अवगत हुआ और लज्जा से बचने के लिए वस्त्र धारण करने लगा। तांबे के ज्ञान के पश्चात् मानव को लौह धातु का ज्ञान प्राप्त हुआ। लौह युग में मानव हथियार तांबे के स्थान पर लोहे के बनने लगे। मानव सभ्यता का विकास हुआ। सिंधु-सभ्यता ताम्र प्रधान थी, जबकि आर्य सभ्यता में लोहे की प्रधानता थी।

3500 ई० पू०—3500 ई० पू० में सिंधु के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा नामक नगर में उच्च नगरीय सभ्यता विद्यमान थी। सिंधु घाटी की सभ्यता के काल के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस सभ्यता को 5000 ई० पू० पुरातन बताया है। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने इस सभ्यता का काल 3250 ई०पू० से 2750 ई० पू० तक निर्धारित किया है। डॉ० राजबलि पाण्डेय सिंधु-सभ्यता को 4000 ई० पू० की मानते हैं। व्हीलर महोदय का मत है कि सिंधु घाटी की सभ्यता 2500 ई० पू० से लेकर 1500 ई० पू० के मध्य विकसित हुई। अधिकांश विद्वानों ने सिंधु-सभ्यता का काल 3250 ई० पू० से 2200 ई० पू० के मध्य भिन्न-भिन्न समय बताया है। खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर सिंधुघाटी की सभ्यता का काल लगभग 3500 ई० पू० विदित होता है।

1922 ई० से पूर्व प्राचीन भारत का इतिहास ऋग्वेद में वर्णित सभ्यता (ऋग्वैदिक सभ्यता अथवा पूर्व वैदिक सभ्यता) से प्रारम्भ होता था। इससे पहले सिंधुघाटी की सभ्यता का विवरण अन्धकार में समाया हुआ था। 1922 ई० में भारतीय तुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष राखलदास बनर्जी के नेतृत्व में सिंधु के लरकाना जिले में खुदाई प्रारम्भ हुई। इस खुदाई में मोहनजोदड़ो के नाम से पुकारे जाने वाले एक भव्य नगर के अवशेष प्राप्त हुए। तत्पश्चात् मांटगोमरी जिले में हड़प्पा नामक स्थान पर सर जॉन मार्शल की अध्यक्षता में खुदाई हुई, जिसमें मोहनजोदड़ो नगर की सभ्यता के समान अवशेष प्राप्त हुए। अतः विद्वानों ने यह विचार व्यक्त किया है कि मोहनजोड़दो और हड़प्पा के अवशेष समकालीन एवं एक ही सभ्यता के अवशेष हैं तथा ये दोनों स्थान एक बड़े राज्य की दो राजधानियां थीं। उक्त दोनों स्थान सिंधु नदी के क्षेत्र में स्थित होने के कारण, इस खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर जो सभ्यता प्रकाश में आई, उसे सिंधुघाटी की सभ्यता का नाम दिया गया।

सिंधु-सभ्यता के निर्माता भारत के मूल निवासी द्रविड़ थे। अवशेषों के आधार पर उसे उच्च नगरीय सभ्यता की संज्ञा दी गई। 2200 ई० पू० में यह सभ्यता अपने विकास की पराकाष्ठा पर थी। सिंधु-सभ्यता के विनाश के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि अधिक शक्तिशाली होने के कारण आर्यों ने सैंधव सभ्यता का विनाश कर दिया। कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि बाढ़ भूकंप आने से इस सभ्यता का अन्त हुआ।

2500 ई० पू०—सिंधु घाटी की सभ्यता के पश्चात्त् भारत में आर्य-सभ्यता का ज्ञान होता है। आर्यों की सभ्यता ऋग्वेद में वर्णित है जो विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। ऋग्वेद में वर्णित सभ्यता ऋग्वैदिक सभ्यता अथवा पूर्व-वैदिक सभ्यता के

नाम से जानी जाती है। इस सभ्यता का काल अथवा इसकी तिथि विवाद से परे नहीं है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और जैकोबी ने ऋग्वेद का रचना काल 4000 ई० पू० बताया है। विंटर्निज महोदय का मत है कि ऋग्वेद की रचना 3000 ई० पू० में हुई थी। ओल्डनवर्ग ने ऋग्वेद का रचनाकाल 1500 ई० पू० से 1200 ई० पू० तक बताया है। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर का कथन है कि ऋग्वेद की रचना 1200 ई० पू० से 1000 ई० पू० के मध्य हुई थी। अनेक मतभेदों के होने के उपरांत यह कहना उचित प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की रचना लगभग 2500 ई० पू० हुई थी।

ऋग्वेद में जिस आर्य-सभ्यता का उल्लेख किया गया है, उसका मूल निवास-स्थान विवादास्पद है। आर्यों के मूल निवास प्रदेश के संबंध में चार मत प्रचलित हैं—(1) यूरोपीय सिद्धांत—इस सिद्धांत के अंतर्गत आर्यों का मूल निवास-स्थान यूरोप में बताया गया है। (2) मध्य-एशिया का सिद्धांत—इस सिद्धांत के अंतर्गत आर्यों का मूल प्रदेश मध्य एशिया में सिद्ध किया गया है। (3) आर्कटिक प्रदेश का सिद्धांत—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने आर्यों का मूल निवास-स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश को बताया है। (4) भारतीय सिद्धांत—अधिकांश भारतीय विद्वानों ने भारत को ही आर्यों का मूल निवास-स्थान माना है।

विद्वानों का मत है कि अधिक बलिष्ठ होने के कारण आर्यों ने सिंधु घाटी की सभ्यता का विनाश कर दिया। पराजित सैंधव निवासियों को उन्होंने अपना दास बना डाला, जिन्हें अनार्य, दस्यु, पिशाच् आदि की संज्ञा दी है। सैंधव निवासियों को पराजित करने के उपरांत आर्यों ने भारत में अपनी सभ्यता और संस्कृति का विकास किया। आर्यों के धर्म-ग्रंथ ऋग्वेद में उनकी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा का विस्तृत वर्णन मिलता है।

1200 ई० पू०—ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि धर्म ग्रन्थों की रचना हुई। धार्मिक ग्रंथ होने पर भी इन ग्रंथों में तत्कालीन राजनीतिक दशा तथा सांस्कृतिक प्रगति का उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थों में उल्लिखित सभ्यता ऋग्वैदिक (पूर्व वैदिक सभ्यता) से भिन्न और बाद की होने के कारण इसे उत्तर वैदिक सभ्यता का नाम दिया गया है। पूर्व वैदिक काल में आर्य सभ्यता सप्त सिंधु में केन्द्रित थी। जनसंख्या में निरंतर वृद्धि ने उन्हें नवीन प्रदेशों की खोज के लिए बाध्य किया। अतः आर्यों ने सप्त सिंधु से आगे बढ़कर भारत के अन्य प्रदेशों पर अधिकार जमा लिया। ऋग्वैदिक काल में जो स्थान सप्त-सिंधु को प्राप्त था, उत्तर वैदिक काल में वह स्थान मध्यदेश (गंगा नदी का मैदान) ने ले लिया। विद्वानों ने इस सभ्यता (उत्तर वैदिक सभ्यता) की अवधि 1200 ई० पू० से 600 ई० पू० तक निर्धारित की है।

599 ई० पू०—599 ई० पू० में जैन धर्म के अंतिम और चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महाबीर का जन्म हुआ था। महावीर का जन्म वैशाली के कुण्डग्राम में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय ज्ञात्रिक कुल के प्रधान थे तथा उनकी माता त्रिशला लिच्छवि राजा चेटक की बहिन थी। महावीर का बचपन का नाम वर्द्ध

मान था। अतुल साहस और पराक्रम का प्रदर्शन करने के कारण वे बाद में महावीर कहलाए। राजकुमार होने के कारण यद्यपि वर्द्धमान महावीर को सभी सुख और सुविधाएं उपलब्ध थीं, तथापि उनका मन इनमें नहीं लगता था। तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपने बड़े भाई नंदिवर्द्धन से आज्ञा प्राप्त कर सत्य और ज्ञान की खोज हेतु गृह त्याग किया तथा कठोर परिश्रम के साथ सत्य एवं ज्ञान की खोज में यत्र-तत्र भ्रमण करते रहे। तापस जीवन के तेरहवें वर्ष वैशाख मास की दशमी को जृम्भिक ग्राम के बाहर विशाल शालवृक्ष के नीचे वर्द्धमान महावीर को 'केवल्य' ज्ञान प्राप्त हुआ। 'कैवल्य ज्ञान' की प्राप्ति के पश्चात् महावीर स्वामी ने तीस वर्ष तक निरंतर विभिन्न प्रदेशों और राज्यों का भ्रमण कर अपने धर्म का प्रचार किया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य उनके पांच सिद्धांत थे। महावीर ने जिन सिद्धांतों का प्रचार किया वे जैन धर्म के मूल सिद्धाँत माने जाते हैं। उन्हें जैन धर्म का न केवल संस्थापक अपितु जैन मत का प्रवर्तक भी माना जाता है। महावीर स्वामी धर्म-प्रचारक के साथ-साथ समाज-सुधारक भी थे। 72 वर्ष की आयु में आधुनिक पटना जिले के पावापुरी में 527 ई० पू० में उनका देहावसान हो गया।

563 ई० पू०—ई० पू० 563 बौद्ध धर्म के संस्थापक और प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध की जन्म तिथि है। गौतम बुद्ध का जन्म कपिल वस्तु गणराज्य के प्रधान शाक्य जाति के शुद्धोदन नामक प्रसिद्ध धनसंपन्न राजा के गृह में हुआ था। गौतम बुद्ध का बचपन का नाम सिद्धार्थ था। एक दिन राजा शुद्धोदन की रानी माया देवी जब मायके जा रही थीं तो मार्ग में ही नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी नामक वन में सिद्धार्थ का जन्म हुआ। प्रसव-पीड़ा के कारण माया देवी का देहावसान हो गया। अतः नवजात शिशु सिद्धार्थ का पालन-पोषण उनकी विमाता प्रजापति देवी गौतमी ने किया।

सिद्धार्थ के जन्म के समय एक भविष्यवेत्ता ने उनके ग्रहों को देखकर यह भविष्यवाणी की थी—"ऐसे लक्षणों वाला यदि गृही हो तो चक्रवर्ती राजा होगा और यदि परिव्राट् हुआ तो बुद्ध होगा।" बाल्यकाल से ही राजकुमार सिद्धार्थ को पुस्तकीय ज्ञान के साथ-साथ सामरिक शिक्षा भी दी गयी थी। प्रखर बुद्धि का बालक सिद्धार्थ अल्पावधि में ही धनुर्विद्या, मल्लविद्या, घुड़सवारी आदि में प्रवीण हो गया। बाल्यकाल से ही सिद्धार्थ सहृदय, दयालु, चिंतनशील और कोमल स्वभाव के थे। वे बहुधा गृह से दूर बैठकर ध्यानमग्न अवस्था में चिंतन में लीन रहते थे। उनकी इस प्रवृत्ति से राजा शुद्धोदन चिंतित हो उठे। उन्होंने सिद्धार्थ को भौतिक सुखों की ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से तीन ऋतुओं के अनुरूप तीन प्रासाद बनबाए जिन्हें बैभव और ऐश्वर्य की सामग्री से पूर्ण रखा गया। सिद्धार्थ की सांसारिक जीवन में अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए मात्र सोलह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह रामग्राम के कोलिय गणराज्य की अत्यत सुन्दर एवं आकर्षक राजकुमारी यशोधरा के साथ संपन्न कर दिया गया। किंतु सिद्धार्थ पर उसका भी

कोई प्रभाव नहीं पड़ा। 29 वर्ष की अवस्था में उन्होंने एक रात्रि को पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल को राजमहल में छोड़कर सत्य की खोज में गृह त्याग कर दिया। राह में अपने राजसी वस्त्र तथा आभूषण एक भिखारी को देकर सिद्धार्थ ने स्वयं संन्यासी का रूप धारण कर लिया। उनके द्वारा गृह त्याग की घटना बौद्ध साहित्य में 'महाभिनिष्क्रमण' के नाम से प्रसिद्ध है।

गृह त्याग करने के उपरांत सिद्धार्थ अनेक विद्वानों और गृहत्यागी भिक्षुओं के संपर्क में आये। बोध गया के समीप उरवेला के सघन बन में जब छह माह तक तप करने के पश्चात् भी उन्हें सत्य के दर्शन नहीं हुए तो उन्होंने तप का परित्याग किया और समाधि लगा कर ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न किया। पैंतीस वर्ष की अवस्था में वैशाखी पूर्णिमा की रात्रि के समय एक बरगद के वृक्ष के नीचे उन्हें सत्य के दर्शन हुए। बौद्ध धर्म ग्रन्थों में यह घटना 'सम्बोध' (उचित ज्ञान की प्राप्ति) कहलाती है। इस समय से सिद्धार्थ 'बुद्ध' कहलाए। तत्पश्चात् महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया। उन्होंने चार आर्यसत्य, अष्टांगिक मार्ग तथा दस निषेधों पर जोर दिया। महात्मा बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म सरलता और समानता के गुणों के कारण शीघ्र ही न केवल भारत, वरन् विश्व के अनेक देशों में भी लोकप्रिय हो गया। 80 वर्ष की अवस्था में कुशीनगर में इस महान् धर्म-प्रवर्तक और समाज-सुधारक का निधन हो गया।

544 ई० पू०—544 ई० पू० में बिंबिसार ने मगध-राज्य की नींव डाली, वह हर्यंक कुल का था, जो नागवंश की उपशाखा थी। महावंश से विदित होता है कि वह मात्र पन्द्रह वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा।

जिस समय बिंबिसार मगध की राजगद्दी पर आसीन हुआ वह विपत्तियों और राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता का काल था। उसके समकालीन राजवंश साम्राज्य-विस्तार की होड़ में लगे हुए थे। ऐसी विषम परिस्थिति में उसने सूझबूझ और राजनीतिक दूरदर्शिता से काम लिया। उसने तत्कालीन प्रमुख राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए, उसने कोशल नरेश प्रसेनजित की बहिन कौशलदेवी, लिच्छवी नरेश चेटक की पुत्री चेल्लना, पंजाब के शक्तिशाली मद्र-राज्य की राजकुमारी तथा विदेह की राजकुमारी वासवी के साथ विवाह सम्पन्न किया। इस प्रकार तत्कालीन राजवंशों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर बिंबिसार ने उनके साथ मित्रता गांठ ली। वह महत्त्वाकाँक्षी और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का सम्राट था। उसने अपने साम्राज्य-विस्तार का क्रम निरंतर जारी रखा। उसने अंग-नरेश ब्रह्मदत्त को पराजित करके उसके राज्य को मगध-राज्य में मिला लिया। बिंबिसार ने सुदृढ़ शासनतंत्र की स्थापना की। वह मगध-साम्राज्य का निर्माता था। बौद्ध और जैन-ग्रन्थ उसे अपने-अपने धर्म का अनुयायी बताते हैं। बौद्धग्रन्थों से विदित होता है कि उसके पुत्र अजातशत्रु ने उसकी हत्या कर दी थी। किंतु जैन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने अपने पिता बिंबिसार को कारागार में बंद कर दिया जहां उसने आत्महत्या कर ली। बिंबिसार ने 52 वर्ष तक शासन किया। डॉ० रमेशचन्द्र

मजूमदार ने उसका राज्यकाल 544 ई० पू० से 492 ई० पू० तक निर्धारित किया है।

527 ई० पू०—527 ई० पू० में जैनधर्म के अन्तिम और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी की मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु आधुनिक पटना जिले में पावापुरी के मल्लराज सस्तिपाल के राजप्रासाद में हुई। उस समय महावीर स्वामी की आयु 72 वर्ष की थी।

महावीर स्वामी का जन्म 599 ई० पू० में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ कुंडग्राम के ज्ञात्रिक क्षत्रियों के गणेशराज्य के प्रधान थे। राजकुमार होने के कारण वर्द्धमान महावीर के लिए किसी वस्तु का अभाव नहीं था। किंतु वे सत्य और ज्ञान की खोज के प्रति आसक्त थे। अतः 30 वर्ष की अवस्था में उन्होंने गृहत्याग कर सत्य और ज्ञान की खोज में कई प्रदेशों का भ्रमण किया। बारह वर्ष तक निरन्तर कठोर तप करने के पश्चात् उन्हें 'कैवल्य ज्ञान' प्राप्त हुआ। तदुपरांत उन्होंने अपने उपदेशों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य) के प्रचारार्थ कई स्थानों का भ्रमण किया। 72 वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया।

492 ई० पू०—बिंबिसार को मौत के घाट उतार कर 492 ई० पू० में पितृहंता अजातशत्रु मगध की राजगद्दी पर बैठा। वह अपने पिता के समान साम्राज्यवादी नीति का पोषक था। अजातशत्रु के क्रिया-कलापों से खिन्न होकर कोशल नरेश प्रसेनजित अपनी बहिन कोशल देवी को दहेज में दिये गए काशी के भू-भाग को वापस लेना चाहता था। अतः प्रसेनजित और अजातशत्रु के मध्य संघर्ष छिड़ गया। संघर्ष के प्रथम दौर में प्रसेनजित पराजित हुआ, किंतु युद्ध के अन्तिम दौर में अशातशत्रु पराजित होकर बंदी बना लिया गया। अन्त में दोनों के मध्य संधि सम्पन्न हो गई। प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ सम्पन्न कर उसे काशी का उक्त भू-भाग दे दिया। अजातशत्रु तत्कालीन प्रमुख और शक्तिशाली लिच्छवि-राज्य को भी पराजित करना चाहता था। उसने लिच्छवियों के गणराज्य में फूट पैदा कर सोलह वर्ष के दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् उन्हें पराजित कर डाला।

अजातशत्रु धार्मिक सहिष्णु सम्राट था। बौद्ध और जैन धर्म ग्रन्थ उसे अपने-अपने धर्म का अनुयायी बताते हैं। उसके संरक्षण में राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीति सम्पन्न हुई है। डॉ० मजूमदार ने अजातशत्रु के शासनकाल की अवधि 492 ई० पू से 462 ई० पू० तक निर्धारित की है।

483 ई० पू०—बौद्ध धर्म का प्रसार करने के उपरांत 80 वर्ष की आयु में महात्मा बुद्ध का देहावासन हो गया। महात्मा बुद्ध का बचपन का नाम सिद्धार्थ था। उन्हें पुस्तकीय शिक्षा के साथ-साथ सामरिक शिक्षा भी प्रदान की गई थी।

बाल्यकाल से ही सिद्धार्थ चिन्तनशील थे। उनके पिता शुद्धोदन कपिलवस्तु के शाक्य गणराज्य के प्रधान थे। शुद्धोदन ने सिद्धार्थ को भौतिक सुखों की ओर

आकृष्ट करने के लिए भरसक यत्न किए, किन्तु विफल रहे। तीन ऋतुओं के अनुरूप बने राजप्रासादों का वैभव और यशोधरा का सौंदर्य भी उन्हें गृहस्थ जीवन की ओर प्रेरित न कर सका। एक दिन भ्रमण करते हुए राजकुमार सिद्धार्थ को क्रमशः एक वृद्ध, रोगी और मृतक के दर्शन हुए। वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु उन्हें मनुष्य के सबसे भयंकर शत्रु प्रतीत हुए। उनसे संसार को मुक्ति दिलाने के लिए 29 वर्ष की अवस्था में उन्होंने गृहत्याग कर दिया। छह वर्ष तक असफल तप करने के उपरांत उन्होंने समाधि लगाकर सत्य के दर्शन किए। यह घटना बौद्ध साहित्य में 'संबोध' के नाम से प्रसिद्ध है। बुद्धत्व की प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने सारनाथ में अपना प्रथम उपदेश दिया जो 'धर्मचक्र प्रवर्तन' के नाम से ज्ञात है। महात्मा बुद्ध ने चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग और दस निषेधों पर विशेष बल दिया। उन्होंने वैदिक धर्म के विकृत रूप से ग्रस्त जनसाधारण को एक सरल और व्यावहारिक धर्म प्रदान किया। 483 ई० पू० में 80 वर्ष की आयु में कुशीनगर (गोरखपुर जिले में आधुनिक कसिया) में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

46: ई० पू०—462 ई० पू० में अजातशत्रु की मृत्यु के उपरांत उसका उत्तराधिकारी उदयभद्र (उदायिन) राजगद्दी पर बैठा। वह योग्य सम्राट था। उसने गंगा और सोमनदी के संगम पर पाटलिपुत्र नगर की स्थापना की। वह जैन मतावलंबी था। 444 ई० पू० में जब उदयभद्र जैन साधु के उपदेश सुन रहा था तो अवंति नरेश पालक के एक गुप्तचर ने चाकू मार कर उसकी हत्या कर दी।

444 ई० पू०—उदयभद्र की मृत्यु के पश्चात् 414 ई० पू० तक उसके उत्तराधिकारी अनिरुद्ध, मुंड और नागदशक ने शासन किया। वे तीनों अयोग्य राजा सिद्ध हुए। इन तीनों राजाओं को पितृहंता कहा गया है। पितृहंताओं के शासन की असफलताओं से क्षुब्ध होकर जनसाधारण ने उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। 414 ई० पू० में प्रजा ने नागदशक को पदच्युत कर योग्य मंत्री शिशुनाग को मगध की राजगद्दी पर बिठाया।

414 ई० पू०—मगध की प्रजा ने नागदशक को अपदस्थ कर 414 ई० पू० में शिशुनाग को राजगद्दी पर आसीन करवाया। इससे पूर्व शिशुनाग बनारस का राज्यपाल रह चुका था। वह पराक्रमी और महत्त्वाकांक्षी था। उसने अवंति के राजाओं को परास्त करके उनके राज्य को मगध राज्य में विलीन कर दिया। शिशुनाग ने वत्स और कोशल के राजाओं का मान मर्दन कर उनके राज्यों को मगध-राज्य में मिला लिया। अपने बाहुबल का परिचय देते हुए शिशुनाग ने मगध-राज्य को विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। 396 ई० पू० में शिशुनाग का निधन हो गया।

396 ई० पू०—शिशुनाग की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र और उत्तराधिकारी कालाशोक राजगद्दी पर बैठा। वह अपने पिता के शासनकाल में गया और बनारस का राज्यपाल रहने के कारण पर्याप्त प्रशासकीय अनुभव प्राप्त कर चुका था। पुराणों के अनुसार काकवर्ण शिशुनाग का उत्तराधिकारी था। लंका की

अनुश्रुति में उसका उल्लेख कालाशोक के रूप में आया है। विद्वान दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं। उसने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। उसके काल में वैशाली में द्वितीय बौद्ध महासभा सम्पन्न हुई। 366 ई० पू के लगभग कालाशोक की महारानी के प्रेमी एक नाई ने, जिसने बाद में नंदवंश की स्थापना की, उसकी हत्याकर राजसत्ता पर अधिकार कर लिया।

366 ई० पू०—कालाशोक की मृत्यु के पश्चात् मगध-साम्राज्य की शक्ति नंदवंद के संस्थापक महापद्मनंद के हाथों में आ गई। महाबोधिवंश से विदित होता है कि कालाशोक की मृत्यु के बाद उसके 10 पुत्रों ने सम्मिलित रूप से 22 वर्ष तक शासन किया। विद्वानों ने यह संभावना व्यक्त की है कि महापद्मनंद इस अवधि में कालाशोक के अवयस्क पुत्रों का संरक्षक रहा। तत्पश्चात् उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी।

344 ई० पू०—कालाशोक की हत्या करने के उपरांत महापद्मनंद ने 22 वर्ष (366 ई० पू० से 344 ई० पू०) तक उसके पुत्रों के संरक्षक के रूप में कार्य किया। तत्पश्चात् लगभग 344 ई० पू० में उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर मगध-साम्राज्य पर अधिकार कर लिया।

कुछ विद्वानों का मत है कि नंदवंश के राजाओं ने कालाशोक की मृत्यु के बाद ही मगध-राज्य पर अधिकार कर लिया था। डॉ० मजूमदार का मत है कि नंदवंश के राजाओं ने 344 ई० पू० से लेकर 321 ई०पू० तक शासन किया। किंतु कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि पहले महापद्मनंद ने 22 वर्ष तक कालाशोक के पुत्रों के संरक्षक के रूप में शासन किया। तदुपरांत 344 ई० पू० में उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर मगध में नंदवंश की नींव डाली। वह वीर, साहसी, उत्साही और पराक्रमी था। उसने अनेक राजाओं को पराजित करके एकछत्र शासन की स्थापना की और 'एकराट' की उपाधि धारण की। उसके पास अपार संपत्ति और असंख्य सेना थी। उसे 'कलि का अंश,' 'सभी क्षत्रियों का नाश करने वाला' और 'दूसरे परशुराम का अवतार' कहा गया है।

326 ई० पू०—मकदूनिया के राजा फिलिप की हत्या के पश्चात् 336 ई० पू० में उसका महत्त्वाकांक्षी पुत्र सिकन्दर महान् मात्र बीस वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा। सिकन्दर के पिता ने उसके न केवल शारीरिक बल्कि बौद्धिक विकास की ओर भी ध्यान दिया। उस काल के सुविख्यात दार्शनिक अरस्तु को सिकन्दर का शिक्षक तथा संरक्षक नियुक्त किया गया था।

सिकन्दर एक महान् सेनानायक, रणकुशल योद्धा, महत्त्वाकांक्षी, अदम्य साहसी और उत्साही व्यक्ति था। संगठन स्थापित करने की उसमें असाधारण क्षमता थी। पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त एक छोटे से राज्य को उसने शीघ्र ही एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। तत्पश्चात् वह विश्व-विजय के स्वप्न देखने लगा। अपनी विश्व-विजय की आकांक्षा की पूर्ति हेतु उसने 334 ई० पू० में स्वदेश से सेना सहित प्रस्थान किया। अद्भुत सैन्य कुशलता के बल पर संपूर्ण

एशिया माइनर, भूमध्यसागर के प्रदेशों और फीनिसिया को रौंदता हुआ सिकन्दर नील नदी की घाटी में आ डटा। मिश्र पर अपनी विजय पताका फहराने के उपरांत सिकन्दर ईरान के निर्बल राज्य पर टूट पड़ा। तत्पश्चात् कैंस्पियन सागर के किनारे होता हुआ वह आगे बढ़ा। खुरासान, पार्थिया और हिंदुकुश को रौंदता हुआ वह भारत की सीमा पर आ डटा। 327 ई० पू० में वह हिंदकुश को पारकर काबुल में प्रविष्ट हुआ। इसके बाद सिकन्दर ने अस्पसिओई जाति पर विजय प्राप्त की। उसका दूसरा आक्रमण पर्वतीय राज्य नीसा पर हुआ। उसमें भी उसने विजय प्राप्त की। नीसा-विजय के उपरांत उसने अश्वक जाति को विजित किया। 326 ई० पू० में सिकन्दर ओहिन्द के समीप सिंधु पार कर गया। तक्षशिला के नृपति आम्भी ने अनेक उपहारों सहित दुर्धर्ष योद्धा सिकन्दर के सन्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। आम्भी का अनुकरण कर अभिसार, दोक्सारिस तथा पड़ोसी राजाओं ने भी सिकन्दर के सामने आत्मसमर्पण कर दिया।

तक्षशिला, अभिसार, दोक्सारिस आदि के शासकों द्वारा आत्मसमर्पण किए जाने की घटनाओं ने सिकन्दर के साहस में वृद्धि की। 326 ई० पू० में सिकन्दर ने पोरस पर आक्रमण कर दिया। घमासान युद्ध के पश्चात् सिकन्दर विजयी हुआ। किन्तु वह रणक्षेत्र में पराजित वीर पोरस के स्वाभिमान को विचलित न कर सका।

पोरस को पराजित करने के पश्चात् सिकन्दर ने अन्य छोटे-छोटे राज्यों पर विजय प्राप्त की। तदुपरांत उसने मगध के शक्तिशाली नंदराज्य पर आक्रमण करने की योजना बनाई। नंदराजा के शक्तिशाली होने के भय से तथा निरन्तर दीर्घकालीन युद्धों में थक जाने के कारण सिकन्दर के सैनिकों ने आगे बढ़ने से स्पष्ट इंकार कर दिया। सैनिकों को प्रलोभन ओर प्रोत्साहन दिये जाने पर भी जब सिकन्दर के सैनिक युद्ध के लिए तैयार नहीं हुए तो उसने स्वदेश लौटने का निश्चय किया। 325 ई० पू० में वह व्यास नदी से स्वदेश की ओर चल पड़ा। मार्ग में उसे अनेक युद्ध करने पड़े। सभी अवसरों पर विजयश्री ने इस वीर योद्धा का वरण किया। निरंतर युद्धरत रहने के कारण सिकन्दर का स्वास्थ्य खराब हो गया। जब वह बेबीलोन पहुँचा तो ज्वर से पीड़ित होकर मात्र 32 वर्ष की अल्पायु में ही उसका देहावसान हो गया। अतः उसकी विश्व-विजय की आकांक्षा पूर्ण न हो सकी। सिकन्दर महान् के आक्रमणों ने राजनीतिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भारतवर्ष को प्रभावित किया।

321 ई० पू०—महापद्मनंद की मृत्यु के पश्चात् उसके आठ पुत्रों ने शासन किया। धननंद उसका अन्तिम उत्तराधिकारी था। अन्तिम नंद नरेश धननंद को पराजित करके 321 ई० पू० में चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध में मौर्य वंश की नींव डाली, नंद शासकों के शासनकाल में मगध-साम्राज्य की चतुर्दिक उन्नति हुई। उनके राज्यकाल में पाटलिपुत्र देवी सरस्वती और लक्ष्मी का निवास-स्थान बन गया था। उनके पास विशाल और शक्तिशाली सेना थी जो संपूर्ण उत्तरी भारत पर

अपनी धाक जमा चुकी थी। उसकी सेना की असाधारण शक्ति और विशालता से विश्व-विजय की आकांक्षा रखने वाली सिकन्दर महान् की सेना भी भयातुर हो उठी थी। 321 ई० पू० में मगध में नंदवंश का राज्य समाप्त हुआ और मौर्यवंश की नींव पड़ी।

321 ई० पू० में मौर्यवंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य चाणक्य (कौटिल्य) की सहायता से मगध की राजगद्दी पर आसीन हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य का जन्म 345 ई० पू० में मोरियवंश के क्षत्रिय कुल में हुआ था, जो नेपाल की तराई में पिप्पलिवन के प्रजातन्त्र राज्य में शासन करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य का पिता इन्हीं मोरियों का प्रधान था।

चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य दोनों मगध में नंदवंश का अन्त करना चाहते थे। नंदवंश के विनाश हेतु चाणक्य को एक शूरवीर, साहसी और महत्त्वाकांक्षी नवयुवक की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति चन्द्रगुप्त मौर्य ने कर दी तथा चन्द्रगुप्त मौर्य को एक विद्वान, अनुभवी राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ की आवश्यकता थी। इन सभी गुणों का समावेश चाणक्य में था। दोनों ने मिलकर नंदवंश के विरुद्ध एक शक्तिशाली सैन्य संगठन की स्थापना की और उसे परास्त करके मगध में नंदवंश का अंत कर दिया तथा चन्द्रगुप्त मौर्य मगध की राजगद्दी आसीन पर हुआ।

चन्द्रगुप्त मौर्य एक महान् योद्धा, रणकुशल सेनानायक और कुशल राजनीतिज्ञ तो था ही, उसे चाणक्य जैसे अनुभवी कूटनीतिक मंत्री (प्रधान मंत्री) का सहयोग भी प्राप्त था। राजसिंहासन पर अधिकार करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य ने निरंतर मगध-साम्राज्य का विस्तार किया। 305 ई० पू० में सिकन्दर महान् के सेनापति और उत्तराधिकारी सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य पर आक्रमण कर दिया। किन्तु सिन्धु नदी के तट पर उसे शक्तिशाली नरेश चन्द्रगुप्त मौर्य से पराजित होना पड़ा। अन्त में दोनों पक्षों के मध्य सन्धि सम्पन्न हुई। इस सन्धि के परिणामस्वरूप सिल्यूकस ने अपनी सुन्दर कन्या एंथेना का विवाह चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ सम्पन्न कर उसे काबुल, कंदहार, बिलोचिस्तान तथा हेरात नामक चार प्रांत भेंट स्वरूप प्रदान किए। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस को पाँच सौ हाथी उपहार स्वरूप प्रदान किए। सिल्यूकस ने अपने एक दूत 'मेगस्थनीज' को मौर्य दरबार में रखा। उसने यूनानियों के भारत विषयक ज्ञान के लिए 'इण्डिका' नामक ग्रन्थ की रचना की। शासन को संगठित स्वरूप प्रदान कर तथा साम्राज्य का विस्तार करके 297 ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने पुत्र बिंदुसार के पक्ष में राज्य का परित्याग कर संन्यास धारण कर लिया।

305 ई० पू०—सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उसके सेनापतियों में संघर्ष छिड़ गया। अन्त में उसके सेनापतियों ने सिकन्दर महान् के साम्राज्य को परस्पर विभक्त कर लिया। उसके सेनापतियों में सिल्यूकस सर्वाधिक शक्तिशाली हो उठा।

305 ई० पू० में सिकन्दर महान् के सेनापति और उत्तराधिकारी सिल्यूकस ने उसका अनुकरण करते हुए भारत पर आक्रमण कर दिया। उस समय भारतवर्ष के राजनीतिक आकाश में एक तेजस्वी नक्षत्र उदित हो चुका था, जिसने अपने तेज से अन्य सभी नक्षत्रों को मलीन कर दिया, यह चन्द्रगुप्त मौर्य था। 305 ई० पू० में जब सिल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया तो उसे सिंधु नदी के तट पर भारत के तेजस्वी सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा पराजित होकर सन्धि करने को विवश होना पड़ा। इस सन्धि के परिणामस्वरूप सिल्यूकस ने हेरात, कंदहार, काबुल और बिलोचिस्तान के चार प्रांत चन्द्रगुप्त को भेंट किए। उसने अपनी कन्या का विवाह भी चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ सम्पन्न किया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने 500 हाथी सिल्यूकस को भेंट स्वरूप प्रदान किए। सिल्यूकस ने मेगस्थनीज नामक यूनानी राजदूत मौर्य दरबार में रखा। विद्वान राजदूत मेगस्थनीज ने यूनानियों के भारत सम्बन्धी जानकारी हेतु 'इण्डिका' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की दशा और प्रशासन का वर्णन किया गया। मेगस्थनीज की 'इण्डिका' अब प्राप्त तो नहीं किन्तु परवर्ती यवन लेखक स्ट्राबो, प्लिनी, एरियन आदि के विस्तृत लेखों में 'इण्डिका' से लम्बे उद्धरण उद्धृत किए गए हैं जिनसे मेगस्थनीजकृत इण्डिका का विवरण ज्ञात हो जाता है।

297 ई० पू०—मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य ने 297 ई० पू० में अपने पुत्र बिंदुसार को राजगद्दी सौंपकर संन्यास ग्रहण कर लिया। जैन अनुश्रुतियों से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन आचार्य भद्रबाहु के सम्पर्क में आकर अपने जीवन के अन्तिम दिनों में संन्यास ग्रहण कर लिया था। जैन-विधान के अनुरूप उसने अनशन करके अपने प्राण त्याग दिए।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने कूटनीति में दक्ष चाणक्य की मदद से मगध में नंदवंश का विनाश कर मौर्यवंश का शासन स्थापित किया। उसने साम्राज्य को संगठित कर निरन्तर उसका विस्तार किया। उसने सिल्यूकस को पराजित करके भारत को यूनानी आक्रमण की विभीषिका से बचाया। 297 ई० पू० में चन्द्रगुप्त द्वारा राजगद्दी का परित्याग करने के उपरांत उसका पुत्र बिंदुसार मगध की राजगद्दी पर आसीन हुआ। बिंदुसार ने 297 ई० पू० से 272 ई० पू० तक शासन किया। इतिहास में उसके काल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि उसने साम्राज्य-विस्तार तो नहीं किया, लेकिन उत्तराधिकार में प्राप्त पैतृक साम्राज्य का विघटन भी उसने नहीं होने दिया। उसने मौर्य-साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा। इतिहास में उसे सामरिक प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त मौर्य का पुत्र तथा मानव प्रेम, सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों के लिए विश्वविख्यात अशोक महान् का पिता होने का गौरव प्राप्त है।

272 ई० पू०—272 ई० पू० में बिंदुसार की मृत्यु हो गई। बिंदुसार के शासनकाल में किसी महत्त्वपूर्ण घटना का विवरण नहीं मिलता है। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त पैतृक साम्राज्य को स्थिर रखा।

272 ई० पू० में बिंदुसार की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मगध की राजगद्दी पर सिंहासनारूढ़ हुआ। इतिहास में अशोक को 'महान्' की उपाधि से विभूषित किया गया है। अशोक के राज्यारोहण के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि यद्यपि 272 ई० पू० में अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ तथापि उसका राज्यारोहण उसके पाँच वर्ष बाद ही सम्भव हो पाया था। अनुश्रुति से विदित होता है कि उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए अशोक को अपने 99 भाइयों को मौत के घाट उतार देना पड़ा। सिंहासनारूढ़ (272 ई० पू०) होने के तेरहवें वर्ष अशोक ने कलिंग-राज्य पर आक्रमण कर दिया, जिसमें भीषण रक्तपात हुआ। यद्यपि इस युद्ध में विजयश्री ने अशोक का वरण किया तथापि वहाँ पर हुई भीषण मारकाट और नरसंहार ने विजेता का मर्म स्पर्श कर लिया।

इस प्रकार अशोक का हृदय परिवर्तन हुआ। उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर भविष्य में कभी भी युद्ध न करने की प्रतिज्ञा की। उसने 'भेरीघोष' के स्थान पर 'धम्मघोष' करने का संकल्प लिया। बौद्धधर्म ग्रहण कर लेने के उपरांत उसने स्वदेश और विदेशों में उसके प्रचार के लिए दूत भेजे, शिलालेख खुदवाए तथा जन-कल्याणकारी कार्य किए। चालीस वर्ष तक शासन करने के उपरांत 232 ई० पू० में अशोक की मृत्यु हो गई।

272 ई० पू० का भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस वर्ष मगध के राजसिंहासन पर एक ऐसा राजा सिंहासनरूढ़ हुआ, जिसने सम्पूर्ण विश्व को सत्य, अहिंसा, मानव-प्रेम और जन कल्याणकारी भावनाओं का पाठ पढ़ाया। अशोक विश्व का पहला सम्राट था जिसका हृदय मानव समाज के अतिरिक्त प्राणिमात्र की सेवा हेतु द्रवित हो उठा। एच० जी० वैल्स के शब्दों में—"प्रत्येक युग और प्रत्येक राष्ट्र ऐसे राजा को जन्म नहीं दे सकता। अशोक की समता आज तक भी विश्व इतिहास में कोई अन्य सम्राट नहीं कर सकता है।"

232 ई० पू०—232 ई० पू० अशोक महान् की राज्यावधि की अन्तिम तिथि है। 232 ई० पू० में अशोक की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उसका पुत्र कुणाल मौर्य-साम्राज्य की गद्दी पर आसीन हुआ। उसके शासनकाल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है।

अशोक सत्य और अहिंसावादी नीति तथा जनकल्याणकारी भावनाओं के लिए विश्व के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अनुश्रुति है कि प्रारम्भ में अशोक बहुत क्रूर था और राजसिंहासन पर अधिकार करने के लिए उसने अपने 99 भाइयों का वध कर डाला, सिंहासनरूढ़ होने के तेरहवें वर्ष अशोक ने कलिंग राज्य पर चढ़ाई कर दी। भीषम युद्ध के पश्चात् अशोक विजयी हुआ। किन्तु कलिंगयुद्ध में हुए रक्तपात और नरसंहार ने उसका हृदय परिवर्तन कर दिया। उसने भविष्य में युद्ध न करने की शपथ ली। अशोक ने बौद्धधर्म ग्रहण कर 'भेरीघोष' के स्थान पर 'धम्मघोष' की योजना बनाई। उसने प्राणिमात्र की सेवा में अपना शेष जीवन

समर्पित कर दिया । 231 ई० पू० में अशोक का देहावसान हो गया । उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों की निर्बलता के कारण सुसंगठित, शक्तिशाली और सुविस्तृत मौर्य-साम्राज्य का पतन हो गया ।

184 ई० पू०—184 ई० पू० में अंतिम मौर्य शासक बृहद्रथ का वध कर उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मगध की राजगद्दी हथिया ली । अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकरियों की अयोग्यता और निर्बलता के कारण मौर्य-साम्राज्य जर्जरित हो गया और पुष्यमित्र शुंग के प्रहार से वह ढह गया । इस प्रकार 184 ई० पू० में मगध के राजवंश में परिवर्तन हुआ । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मगध में मौर्य वंश का अंत हो गया और मगध का राज्य ब्राह्मण-वंशी पुष्यमित्र शुंग के अधिकार में आ गया ।

पुष्यमित्र शुंग मौर्य नरेश बृहद्रथ का सेनापति था । पुष्यमित्र स्वयं बहुत महत्त्वाकांक्षी था । उसकी महत्त्वाकाँक्षा यहां तक बढ़ चुकी थी कि वह स्वयं स्वतंत्र शासक बनना चाहता था । अतः उसने सेना में राजा के विरुद्ध विद्रोह की भावनाएं उत्पन्न कर दीं । एक दिन उसने दुर्बल मौर्य नरेश बृहद्रथ को सेना के निरीक्षण हेतु बुलाया और इस अवसर पर सेना के सामने खुले आम राजा की हत्या कर दी तथा स्वयं मगध की राजगद्दी पर आसीन हो गया । पुष्यमित्र शुंग के शासन काल की तीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख मिलता है—यूनानी आक्रमण को विफल करना, विदर्भ के राजा को पराजित करना तथा अश्वमेघ यज्ञ संपादित करना, पुष्यमित्र को बौद्ध विरोधी बताया गया है । उसने ब्राह्मण धर्म को राजधर्म का स्वरूप प्रदान किया । 36 वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरांत 148 ई० पू० में उसका देहावसान हो गया ।

148 ई० पू०—ई० पू० 148 पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल की अंतिम तिथि है । 148 ई० पू० में पुष्यमित्र की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अग्निमित्र राजगद्दी पर बैठा । पुष्यमित्र शुंग एक महान् योद्धा था । अपनी योग्यता के बल पर वह सेनापति से सम्राट बन बैठा । 36 वर्ष के शासन में उसने अनेक कार्य संपन्न किए, उसका पुत्र अग्निमित्र अपने पिता की भांति वीर और महत्त्वाकांक्षी था । उसने अनेक विजय प्राप्त कर निरंतर अपने साम्राज्य का विस्तार किया ।

78 ई०—78 ई० महान कुषाण सम्राट् कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि है । यद्यपि उसके राज्यारोहण की तिथि के संबंध में विद्वानों में अनेक मतभेद हैं तथापि सबल तर्कों के आधार पर उसके राज्यारोहण की तिथि 78 ई० ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है । कनिष्क का शासन काल विजयों और कुशल प्रशासन दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण था । वह महत्त्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी नरेश था । उसने अपनी विजयों द्वारा पंजाब, कश्मीर, मथुरा, साकेत और बनारस तक के प्रदेश अधिकृत कर लिए । उसने उज्जैन और पाटलिपुत्र के राजाओं को भी परास्त किया । चीन के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए कनिष्क ने चीन पर आक्रमण करके उसे परास्त कर डाला तथा काशगर, खोतान और यारकंद नामक प्रदेश कुषाण-साम्राज्य में मिला लिए ।

कनिष्क एक महान् विजेता ही नहीं अपितु महान् निर्माता भी था। उसने बौद्धधर्म ग्रहण कर उसके प्रचारार्थ अनेक प्रयास किए। उसके काल में कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण वह भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वह महान् विजेता, कुशल प्रशासक, महान् धर्म तत्ववेत्ता, महान् निर्माता तथा साहित्य और कला का प्रेमी था।

106 ई०—106 ई० में सातवाहन-वंश का सर्वाधिक प्रतापी सम्राट गौतमी पुत्र शातकर्णी राजगद्दी पर आसीन हुआ। सातवाहन कौन थे, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। अभिलेखों तथा अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों से वे ब्राह्मण विदित होते हैं। सातवाहनों का मूल प्रदेश आंध्र था।

गौतमीपुत्र शातकर्णी सातवाहन-वंश का सर्वाधिक महान् सम्राट था। नासिक अभिलेख में उसकी विजयों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। नासिक अभिलेख से विदित होता है कि उसने शकों, यवनों, पल्लवों तथा क्षहरातों का नाश कर सातवाहन कुल के गौरव की पुनः स्थापना की नासिक अभिलेख में उसे क्षत्रियों का मान मर्दन करने वाला तथा वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना करने वाला कहा गया है। गौतमी पुत्र शातकर्णी ने राजराजा, विंध्यपति आदि उपाधियाँ धारण कीं। वह एक दानशील शासक था। वह न केवल एक महान् योद्धा था वरन् एक कुशल एवं लोकप्रिय शासक भी था। वह अत्यंत दयावान शासक था और अपराधी शत्रुओं के प्रति भी हिंसा करने में उसकी रुचि नहीं थी। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह अपाहिज हो गया था। 130 ई० में उसका देहावसान हो गया।

125 ई०—125 ई० में महान कुषाण-सम्राट कनिष्क की मृत्यु हो गई, तत्पश्चात् उसका उत्तराधिकारी वसिष्क राजगद्दी पर बैठा। कनिष्क राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही क्षेत्रों में सफल सिद्ध हुआ। अपनी सामरिक दक्षता, राजनीतिक सूझ-बूझ तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण वह भारत में प्रसिद्ध है। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए उसने स्वदेश और विदेशों में अनेक कार्य किए। उसने भारत के अनेक प्रदेशों को विजित कर एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली और शक्तिशाली चीनी-सम्राट् को पराजित करके उसके राज्य के कई प्रदेश छीन लिए।

130 ई०—चौबीस वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरांत 130 ई० में सातवाहन-वंश के पराक्रमी नरेश गौतमी पुत्र शातकर्णी का देहावसान हो गया। वह सातवाहन-वंश का सर्वाधिक प्रतापी नरेश था। उसने अनेक विजय प्राप्त कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। प्रजा के दुःख-सुख को वह अपना दुःख-सुख समझता था। वह ब्राह्मण धर्म का पोषक तथा वर्ण-व्यवस्था को पुनः स्थापित करने वाला था। वह धार्मिक सहिष्णु नरेश था। नासिक अभिलेख में उसे द्विज और अवर (हीन जातियों) कुटुम्बों का वर्द्धन करने वाला कहा गया है। अपने जीवन के अन्तिम चरण में वह अपाहिज हो गया था। 130 इ० में उसका देहान्त हो गया।

पुराणों से विदित होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी के पश्चात् उसका पुत्र वसिष्ठि पुलमावी सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने 130 ई० से 155 ई० तक शासन किया। वह अपने पिता की भाँति पराक्रमी सिद्ध नहीं हुआ। उसके राज्य का बहुत बड़ा भू-भाग शकों ने विजित कर लिया था। इसीलिए उसे आंध्र शासक कहा गया है। शकों के आक्रमणों के कारण उसका अधिकार-क्षेत्र आंध्र तक सीमित रह गया था। तत्पश्चात् कोई भी शासक इतना योग्य नहीं हुआ जो गौतमी पुत्र शातकर्णी द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य की रक्षा कर सकता। अतः सातवाहन-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हो गया।

275 ई०—275 ई० में गुप्तों के आदि पुरुष श्रीगुप्त ने अपने वंश की नींव डाली, श्रीगुप्त ने महाराजा की उपाधि धारण की थी जिससे विदित होता है कि वह स्वतन्त्र शासक न होकर किसी अन्य राजा का सामंत मात्र था। वह मगध के छोटे प्रदेशों का मांडलिक राजा था। श्रीगुप्त किस सम्राट के अधीनस्थ शासक था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। विद्वानों ने उसका राज्यकाल सन् 275 से 300 ई० तक निर्धारित किया है। इत्सिंग के यात्रा वृत्तांत से ज्ञात होता है कि महाराज चे-लि-कि-तो (श्रीगुप्त) ने चीनी यात्रियों के लिए मृग-शिखावन के समीप एक मन्दिर निर्मित करवाया था।

300 ई०—श्रीगुप्त की मृत्यु के पश्चात् 300 ई० में उसका पुत्र घटोत्कच राजा बना। वह भी अधीनस्थ शासक था। विद्वानों का मत है कि वह अपने पिता की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली था। घटोत्कच विषयक अन्य ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं हैं। ऐलन महोदय ने उसकी राज्यावधि सन् 300 से 320 ई० तक निर्धारित की है।

320 ई०—दीर्घकालीन अराजकता के पश्चात् 320 ई० में चन्द्रगुप्त प्रथम ने गुप्तवंश की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। यद्यपि गुप्तवंश की स्थापना 275 ई० में श्रीगुप्त ने कर डाली थी। किंतु वह स्वतन्त्र शासक न होकर किसी स्वतंत्र राजा का सामन्त मात्र था। 300 ई० में श्रीगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र घटोत्कच राजा बना। वह भी सामंत शासक था।

320 ई० में घटोत्कच की मृत्यु के पश्चात् चन्द्रगुप्त प्रथम गुप्तवंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ। उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित करते हुए 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। चन्द्रगुप्त गुप्तवंश का प्रथम प्रतापी और स्वतन्त्र शासक था। सर्वप्रथम उसने अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की और तत्पश्चात् शासन को संगठित किया। उसने कुषाणों को पराजित करके मगध को अधिकृत कर लिया। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि-राज्य की कन्या कुमारदेवी के साथ विवाह सम्पन्न किया। उसने मगध राजाओं को पराजित करके उत्तर प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया। 335 ई० में राजनीति में दक्ष एवं कुशल पुत्र समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर चन्द्रगुप्त ने पदत्याग कर दिया।

335 ई०—चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा पदत्याग करने के उपरांत 335 ई० में उसका यशस्वी पुत्र समुद्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा। यद्यपि समुद्रगुप्त के बड़े भाई भी थे, किंतु सामरिक दक्षता और राजनीतिक कुशलता के कारण ही चन्द्रगुप्त ने उसे ही राज्याधिकारी घोषित किया।

राजगद्दी पर बैठने के उपरांत सर्वप्रथम उसे उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उत्पन्न गृह-कलह का सामना करना पड़ा। उस पर विजय प्राप्त कर उसने साम्राज्य-विस्तार की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। समुद्रगुप्त की सामरिक दक्षता के कारण कुछ विद्वान उसकी तुलना महान् विजेता नेपोलियन से करते हैं। उसने (समुद्रगुप्त) अपने बाहुबल का परिचय देते हुए उत्तरी भारत को एकता के सूत्र में बाँध दिया और दक्षिणापथ के राजाओं को नतमस्तक कर अपना करद राजा बना लिया। दिग्विजय कर लेने के उपरांत समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ सम्पादित किया।

समुद्रगुप्त एक महान् योद्धा था। उसके महादंडनायक हरिषेण द्वारा लिखित प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की आर्यावर्त्त और दक्षिणापथ की विजयों का उल्लेख है। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की प्रशंसा करते हुए लिखा गया है कि अखिल विश्व-विजय के फलस्वरूप समुद्रगुप्त की कीर्ति सारे संसार में फैल गई और उसकी धूम स्वर्ग तक भी पहुँच गई थी। समुद्रगुप्त विद्वानों का आश्रयदाता था। संगीत में उसे विशेष रुचि थी। 375 ई० में उसका निधन हो गया।

375 ई०—चालीस वर्ष तक योग्यतापूर्वक शासन करने के बाद 375 ई० में समुद्रगुप्त का देहावसान हो गया। तत्पश्चात् उसका बड़ा पुत्र रामगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। समुद्रगुप्त प्रतापी सम्राट था। उसने उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त पैतृक राज्य का विस्तार किया। उत्तरी भारत को विजित कर उसने अपने राज्य में मिला लिया और दक्षिणी भारत के राजाओं का मानमर्दन कर उसने उन्हें अपना करद राजा बना लिया। समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त राजा बना। वह एक कायर नरेश सिद्ध हुआ। अपनी कायरता के कारण ही वह शकाधिपति को अपनी पत्नी ध्रुव-स्वामिनी को देने के लिए तैयार हो गया। उसकी कायरता से क्रुद्ध होकर उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसे मौत के घाट उतार दिया। रामगुप्त ने केवल पाँच वर्ष (सन् 375-380 ई०) तक शासन किया।

380 ई०—380 में ई० शकाधिपति तथा अपने बड़े भाई रामगुप्त, दोनों का वध कर चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्त राजगद्दी पर आसीन हुआ। विशाखदत्त कृत 'देवी-चन्द्रगुप्तम्' से विदित होता है कि रामगुप्त शकाधिपति से पराजित हुआ। उसके कोप से बचने के लिए उसने अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी देने का वचन दिया। छोटे भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस शर्मनाक घटना से मुक्ति पाने के उद्देश्य से स्वयं ध्रुवस्वामिनी के वेष में शकाधिपति के शिविर में जाकर उसका वध कर दिया। तत्पश्चात् उसने अपने कायर भाई रामगुप्त की हत्या कर राजगद्दी हथियाली तथा अपनी विधवा भाभी ध्रुवस्वामिनी से स्वयं विवाह कर लिया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय एक महान् योद्धा था। उसने अपने यश और गौरव के अनुरूप 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की, उसने गणराज्यों का विनाश कर दिया, शक-क्षत्रियों का अन्त कर दिया, पूर्वी प्रदेशों पर विजय प्राप्त की तथा दक्षिणापथ को पुर्नविजित किया। उसके समय में प्रजा सुखी थी जिसका उल्लेख उसके शासन-काल में भारत-यात्रा पर आये चीनी यात्री फाहियान के यात्रा-वृत्तांत में मिलता है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एक महान् विजेता, कुशल प्रशासक और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ होने के अतिरिक्त विद्यानुरागी भी था। हरिषेण का पुत्र वीरसेन उसका राजकवि और प्रशस्तिकार था। रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वषीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् जैसे ग्रन्थों का रचयिता महाकवि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा का मेधावी कवि था। दिल्ली से नौ मील दूर स्थित कुतुबमीनार के निकट महरौली नामक स्थान पर एक लौह स्तंभ विद्यमान है, जिस पर किसी 'चन्द्र' राजा की विजय एवं कीर्ति का उल्लेख किया गया है। अधिकांश विद्वान उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' का स्तंभ लेख मानते हैं। 413 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

405 ई०—भारतवर्ष के सांस्कृतिक महत्त्व से प्रभावित होकर प्राचीन काल में अनेक जिज्ञासुओं ने यहाँ की यात्रा की। 405 ई० में चीनी यात्री फाहियान भारत-यात्रा पर आया। उस समय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य शासन कर रहा था। फाहियान बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अध्ययन तथा बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्रा हेतु भारत भ्रमण पर आया। वह सन् 405 से 411 ई० तक भारत में रहा। इस काल में उसने बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा बौद्ध तीर्थ स्थलों की धार्मिक यात्रा की। भारत से अर्जित ज्ञान और अनुभवों को उसने लिपिबद्ध किया जिससे भारत की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उसने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की राजनीति, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति पर स्पष्ट प्रकाश डाला है।

411 ई०—बौद्ध धर्म के प्रभाव से प्रेरित होकर 399 ई० में चीनी यात्री फाहियान ने स्वदेश से भारत के लिए यात्रा प्रारम्भ की। मार्ग में अनेक कठिनाइयों को झेलता हुआ वह 405 ई० में भारत पहुँचा। वह 411 ई० तक भारत में रहा। उस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन था। यद्यपि बौद्ध धर्म ग्रंथों के अध्ययन में तल्लीन रहने तथा बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्रा में व्यस्त रहने के कारण उसने तत्कालीन भारतीय नरेश का नामोल्लेख नहीं किया है, तथापि उसके यात्रा वृत्तांत से तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। उसका यात्रा-वृत्तांत भारतीय इतिहास जानने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। 411 ई० में फाहियान श्रीलंका और जावा होते हुए चीन लौट गया। 414 ई० में वह चीन पहुँचा, उसने दो वर्ष बौद्ध धर्म के अनुयायी देश श्रीलंका में व्यतीत किए। चीन पहुँच कर उसने बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

413 ई०—380 ई० में रामगुप्त का वध कर चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्तवंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ। वह समुद्रगुप्त और दत्तदेवी का पुत्र था। वह अपने पिता की भांति पराक्रमी था। उसने गुप्त साम्राज्य का विस्तार किया। प्रारम्भ में उसको अनेक कठिनाइयों का दृढ़तापूर्वक सामना करना पड़ा। उसने सभी कठिनाइयों का दृढ़तापूर्वक सामना किया। अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए उसने तत्कालीन प्रमुख राजवंशों—वाकाटक, नागवंश तथा कदंबवंश के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किए। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित गणराज्यों को पराजित करके उन्हें अपने राज्य में विलीन कर लिया। तत्पश्चात् उसने शक, कुषाण, पूर्वी प्रदेशों में स्थित राज्यों तथा दक्षिणापथ की विजय की।

413 ई० में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम राजगद्दी पर बैठा। कुमारगुप्त ने 455 ई० तक शासन किया। उसके काल में प्रायः शांति विद्यमान रही। उसके शासनकाल के अन्तिम चरणों में पुष्यमित्रों और श्वेतहूणों ने आक्रमण कर दिया। कुमारगुप्त के पुत्र स्कंदगुप्त ने उन्हें पराजित कर डाला। 455 ई० में कुमारगुप्त की मृत्यु हो गई और तदुपरांत उसका पुत्र स्कंदगुप्त राजगद्दी पर बैठा।

455 ई०—455 ई० में कुमारगुप्त की मृत्यु हो गई। उसने सन् 413 से 455 ई० तक राज्य किया। उसका काल प्रायः शांतिपूर्ण रहा।

455 ई० कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद उसका पुत्र स्कंदगुप्त राजा बना। वह एक महान् योद्धा था। उसने पुष्यमित्रों और हूणों को पराजित किया। जिन हूणों ने संपूर्ण एशिया और यूरोप में आतंक फैला रखा था, उन्हें पराजित करना एक साहसिक कार्य था। सैकड़ों नरेश स्कन्दगुप्त की अधीनता स्वीकार करते थे। 467 ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसने अपने शासनकाल में सुदर्शन झील की मरम्मत करवाई। वह वैष्णव अनुयायी होते हुए भी धार्मिक सहिष्णु था।

467 ई०—बारह वर्ष के शासनकाल के उपरान्त हूण विजेता स्कंदगुप्त की मृत्यु हो गई। स्कंदगुप्त साहसी योद्धा था। युवराज के रूप में वह 'खुदा का कहर' कहे जाने वाले हूणों को पराजित करके वीरत्व का परिचय दे चुका था। स्कंदगुप्त द्वारा पराजित हूणों को आगामी 50 वर्षों तक भारत पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। वह अपने पैतृक राज्य की रक्षा करने में सफल रहा।

467 ई० में स्कंदगुप्त की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् पुरुगुप्त राजगद्दी पर बैठा। उसने केवल दो वर्ष तक राज्य किया। वह एक दुर्बल राजा था। उसके शासन काल में ही गुप्त-साम्राज्य का क्रमिक ह्रास प्रारम्भ हो गया था।

606 ई०—606 ई० में हर्षवर्धन थानेश्वर की राजगद्दी पर बैठा। इसी तिथि से हर्ष संवत् प्रारम्भ हुआ। कीलहर्न महोदय के अनुसार 606 ई० में हर्ष संवत् की स्थापना हुई थी। राज्यवर्धन की हत्या के पश्चात् उसका छोटा भाई हर्षवर्धन सिंहासनारूढ़ हुआ। उस समय उसकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी। बाणभट्टकृत

'हर्षचरित', चीनी यात्री ह्वेन्सांग के यात्रा वृत्तांत तथा नालंदा और बांसखेड़ा के अभिलेखों से हर्ष के सम्बन्ध में विस्तृत प्रकाश पड़ता है।

जिस समय हर्ष राजगद्दी पर बैठा, वह समय घोर विपत्तियों का था। उसके चतुर्दिक् संकट के बादल मँडरा रहे थे। 606 ई० में जब उसका बड़ा भाई बहिन राज्यश्री के पति का वध करने वाले मालवा नरेश देवगुप्त को दंडित करने गया तो गौड़ाधिपति शशांक ने वंचकता से राज्यवर्धन का वध करवा दिया और विधवा मौखरी रानी राज्यश्री को कारागार में बन्द कर दिया। राज्यवर्धन की मृत्यु के बाद हर्ष राजगद्दी पर बैठा। उसने सर्वप्रथम अपनी बहिन राज्यश्री के प्राणों की रक्षा का प्रयत्न किया जिसमें वह सफल रहा।

आंतरिक कलह पर विजय प्राप्त कर लेने के उपरांत हर्ष ने सामरिक अभियान की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उत्तरी भारत के एक बड़े भू-भाग को विजित करने में वह सफल रहा। उसने वल्लभी नरेश ध्रुवसेन को पराजित किया तथा गौड नरेश शशांक और चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के साथ उसके युद्ध हुए।

हर्ष न केवल एक महान् योद्धा था, बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उसकी अभिरुचि थी। इतिहास में वह अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण अधिक प्रसिद्ध है। उसके काल में कन्नौज का गौरव आकाश चूमने लगा था और वह उत्तर भारत का प्रमुख नगर बन गया। हर्ष ने महायान के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ कन्नौज में एक समारोह आयोजित किया जिसका प्रधान चीनी यात्री ह्वेन्सांग को मनोनीत किया गया। प्रति पाँचवें वर्ष प्रयाग में एक सभा आयोजित कर हर्ष अपना सर्वस्व दान कर देता था। बौद्ध धर्म का अनुयायी होते हुए भी वह धार्मिक सहिष्णु था। उसके काल में नालंदा विश्वविद्यालय भारतवर्ष की जगप्रसिद्ध शिक्षण संस्था थी, वह स्वयं विद्वान् था। 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का रचयिता बाणभट्ट उसके दरबार में रहता था। उसके अतिरिक्त मयूर, मातंक दिवाकर जैसे विद्वान् भी उस पर आश्रित थे। हर्ष के शासनकाल में भारत भ्रमण पर आए हुए चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने उसके अनेक गुणों और शासन की उपलब्धियों पर प्रकाश डाला है।

610 ई०—610 ई० में मंगलेश को मौत के घाट उतार कर पुलकेशी (पुलकेशिन्) द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। वह अपने वंश का सर्वाधिक योग्य सम्राट था। उसने पश्चिम-दक्षिणी मैसूर, गुजरात, मालवा और भड़ौच को विजित किया। उसने कदम्ब, गंग, मालाबार, कोंकण आदि के राजाओं को पराजित किया। दक्षिण-विजय के उपरांत पुलकेशी द्वितीय ने उत्तरी भारत के राजाओं को चुनौती दी। कहा जाता है कि सम्राट हर्ष को भी उससे पराजित होना पड़ा। महाकोशल और कलिंग के नरेशों ने उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। चोल, पाण्ड्य और केरल के नृपतियों ने भयातुर होकर उससे संधि की याचना की। उसका साम्राज्य अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक के बहुत बड़े प्रदेश में विस्तृत था। लोहनेर-अभिलेख में उसे

पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का अधिपति कहा गया है। पुलकेशी द्वितीय की गणना भारत के महत्तम सम्राटों में की जाती है।

629 ई०—बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अध्ययन तथा बौद्ध तीर्थ स्थलों के दर्शनार्थ चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने भारत की यात्रा की। मार्ग में अनेक बाधाओं को झेलता हुआ वह गोबी के रेगिस्तान को पार कर मध्य एशिया में काशगर, समरकंद, बल्ख होता हुआ तक्षशिला पहुँचा। उस समय वहां का राजा हर्ष था।

ह्वेनसांग ने 629 ई० में चीन से भारत की यात्रा प्रारम्भ की और 630 ई० में वह भारत में प्रविष्ट हुआ। वह 644 ई० तक भारत में रहा। इस अवधि में उसने बौद्धधर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्राएँ कीं।

विद्यानुरागी सम्राट हर्ष ने ह्वेन्सांग का अतिथि सत्कार किया और विशेष सम्मान देते हुए उसे कन्नौज में सम्पन्न धार्मिक सम्मेलन का अध्यक्ष नियुक्त किया तथा प्रयाग में सम्पन्न धार्मिक सभा में उसका प्रमुख अतिथि के रूप में आदर-सत्कार किया। 644 ई० में उसने कन्नौज नरेश हर्ष से भावभीनी विदाई ली और स्वदेश की ओर प्रस्थान किया। चीन पहुँच कर ह्वेन्सांग का भव्य स्वागत हुआ और चीनी सम्राट ने सिर झुकाकर उसका हार्दिक अभिनन्दन किया। ह्वेन्सांग भारत से बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ, स्मारक चिन्ह तथा बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की अनेक प्रतिलिपियां चीन ले गया। वाद में चीनी-सम्राट के अनुरोध पर उसने अपना यात्रा-वृत्तांत लिखा। उसके यात्रा-वृत्तांत से भारत की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। ह्वेन्सांग का यात्रा-वृत्तांत भारतीय इतिहास जानने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उसने हर्ष के अनेक गुणों की प्रशंसा की है।

644 ई०—चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने 629 ई० में भारत की यात्रा प्रारम्भ की। 644 ई० तक वह भारत में रहा। 644 ई० में सम्राट हर्ष से विदा लेकर स्वदेश रवाना हुआ।

भारतवर्ष की सांस्कृतिक महत्ता से प्रभावित होकर दूर देशों से अनेक ज्ञान-पिपासु विद्वान् यहां सदैव आते रहे हैं। चीन देश से अनेक विद्वान् भारत यात्रा पर आए। जिस राजा अथवा सम्राट के समय में जो चीनी यात्री आता था, उसके काल का वर्णन वह अवश्य करता था। हर्ष के समय में चीनी यात्री ह्वेन्सांग भारत आया। तत्कालीन भारत का जो वर्णन उसने किया है, उससे सातवीं शताब्दी के भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। 629 ई० में ह्वेन्सांग चीन को छोड़कर फरगना, समरकन्द, बुखारा तथा बल्ख होते हुए 630 ई० में भारत में प्रविष्ट हुआ। उसने भारतवर्ष के बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्रा की तथा तत्कालीन प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों में बौद्ध धर्म-ग्रंथों का अध्ययन किया। उसने भारत में जो कुछ देखा, पढ़ा और सुना उसे वह लिपिबद्ध करता गया। थानेश्वर से मथुरा होता हुआ ह्वेनसाँग हर्ष की राजधानी कन्नौज पहुँचा, जहाँ हर्ष ने उसका राजकीय सम्मान

किया। हर्ष ने कन्नौज में महायान के सिद्धांतों हेतु आयोजित समारोह का ह्वेनसांग को प्रधान मनोनीत किया।

ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिए ह्वेनसांग चौदह वर्ष तक निरन्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने की यात्रा करता रहा। 664 ई० में उसने हर्ष से विदा ली। जालंधर होते हुए वह गजनी पहुँचा और वहाँ से मध्य-एशिया में अपने पुराने मार्ग से काशगर तथा खोतान होता हुआ 645 में चीन पहुँचा। चीन पहुँचकर उसने बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का चीनी-भाषा में अनुवाद किया। उसका यात्रा-विवरण और भारत-विषयक वर्णन उसकी पुस्तक "सि-यू-की" में मिलता है। 664 ई० में ह्वेनसांग की मृत्यु हो गई।

647 ई०—दीर्घकाल तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरांत 647 ई० में उत्तरी भारत के शक्तिशाली सम्राट हर्ष की मृत्यु हो गई। हर्ष एक महान् सम्राट सिद्ध हुआ। वह 606 ई० में केवल 16 वर्ष की अवस्था में राजगद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठते ही उसे अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। उसके भगिनिपति ग्रहवर्मन का मालवा नरेश देवगुप्त ने वध कर बहिन राज्यश्री को कारागार में बन्द कर दिया था। हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन ने जब इसका बदला लेना चाहा तो गौड़ नरेश शशांक ने वंचकता से उसका वध करवा दिया। इस प्रकार सोलह वर्ष के किशोर हर्ष पर विपत्तियों के बादल टूट पड़े। किन्तु उसने बड़े साहस के साथ उनका सामना किया और उत्तरी भारत के एक बड़े भू-भाग को अधिकृत कर लिया।

सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण हर्ष भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसने कन्नौज के गौरव को बढ़ाया, कन्नौज में महायान के प्रचारार्थ एक समारोह आयोजित किया। प्रयाग में प्रति पाँचवें वर्ष सभा आयोजित कर वह अपना सर्वस्वदान कर देता था। नालंदा शिक्षण-संस्थान के विकास की ओर उसने विशेष ध्यान दिया। बाणभट्ट और मयूर जैसे विद्वान् उसके दरबार को सुशोभित करते थे। ह्वेनसांग ने हर्ष और उसके शासन की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। दीर्घकालीन शासन के उपरांत 647 ई० में हर्ष की मृत्यु हो गई। इसकी मृत्यु के साथ ही उत्तरी भारत में राजनीतिक अराजकता व्याप्त हो गई। संपूर्ण उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभक्त हो गया। उसे उत्तरी भारत का अन्तिम महान् हिन्दू सम्राट कहा जाता है।

712 ई०—712 ई० में मुहम्मद-बिन-कासिम के नेतृत्व में अरबों ने पहली बार सिंधु पर आक्रमण किया। उस समय वहाँ ब्राह्मण-वंशी दाहिर का राज्य था। 712 ई० में छह हजार घुड़सवारों, छह हजार ऊँट सवारों और तीन हजार भार-वाही ऊँटों की सेना लेकर मुहम्मद-बिन-कासिम सिंध पर टूट पड़ा। दाहिर के विरोधियों ने अरबों के इस सैनिक अभियान का स्वागत किया। अरब आक्रांता ने भीषण मार-काट और नरसंहार का परिचय देते हुए जनसाधरण को आतंकित कर

डाला । अनेक नगरों पर विजय पताका फहराता हुआ वह प्रतिशोध की भावना से दाहिर पर टूट पड़ा । दाहिर वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया । तत्पश्चात् उसकी स्त्री ने बड़ी बहादुरी के साथ शत्रु-सेना का मुकाबला किया और अंत में राजपूत प्रथा के अनुसार जौहर कर जल मरी । उसके बाद दाहिर के पुत्र जयसिंह ने आक्रांता के विरुद्ध समर जारी रखा । अरब उसकी सुदृढ़ मोर्चेबंदी को नहीं तोड़ सके ।

725 ई०—हर्ष की मृत्यु के पश्चात् दीर्घकाल तक उत्तरी भारत में अराजकता व्याप्त रही । हर्ष की मृत्यु के लगभग पिचहत्तर वर्ष पश्चात् यशोवर्मा नामक शक्तिशाली राजा का आविर्भाव हुआ । उसने कन्नौज को पुनः गौरवान्वित करने का प्रयास किया ।

यशोवर्मा, किस वंश का था, इस संबंध में मतभेद दिखाई देता है 'गौडवाहो' में उसे चन्द्रवंशी कहा गया है । जैन ग्रंथों से विदित होता है कि वह चन्द्रगुप्त मौर्य का वंशज था । कुछ अन्य विद्वान् उसे मौखरि-वंश का मानते हैं । यशोवर्मा 725 ई० में कन्नौज की राजगद्दी पर आसीन हुआ । वह एक साहसी और पराक्रमी नरेश था । वाक्पति कृत 'गौडवाहो' में उसकी दिग्विजय का उल्लेख मिलता है । यशोवर्मा अपने समकालीन कश्मीर के कार्कोटक वंशी नरेश ललितादित्य मुक्तापीड़ से पराजित हुआ ।

यशोवर्मा न केवल एक महान् शासक था वरन् वह निर्माता और शिक्षा प्रेमी था । उसने आधुनिक बिहार में एक नगर की स्थापना की । वाक्पति और भवभूति जैसे कवि उसके दरबार की शोभा बढ़ाते थे । वह शैव धर्म का अनुयायी था । 752 ई० में उसका देहावसान हो गया ।

750 ई०—750 ई० में पालवंश का संस्थापक गोपाल बंगाल की राजगद्दी पर बैठा । शशांक की मृत्यु के पश्चात् बंगाल में व्याप्त अराजकता को दूर करने के उद्देश्य से वहाँ की जनता ने गोपाल को अपना राजा चुना । धर्मपाल के खालिमपुर अभिलेखों और तारानाथ के कथन से इसकी पुष्टि होती है । पाल-अभिलेख गोपाल की विजयों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन प्रस्तुत करते हैं, जिन पर विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है । प्रामाणिक सामग्री के अभाव में गोपाल के संबंध में इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि गोपाल ने बंगाल की राजनीतिक अव्यवस्था का अंत कर पाल-राज्य की नींव डाली जो उसके प्रतापी महत्त्वाकांक्षी पुत्र धर्मपाल और पौत्र देवपाल के शासन-काल में एक साम्राज्य के रूप में उत्तरी भारत की प्रमुख शक्ति बन गया ।

752 ई०—हर्ष की मृत्यु के लगभग पिचहत्तर वर्ष पश्चात् कन्नौज में यशोवर्मा नामक शक्तिशाली और पराक्रमी नरेश का प्रभुत्व प्रकाश में आया । उसने 725 से

752 ई० तक शासन किया । अपने दीर्घकालीन शासनकाल में उसने दिग्विजय की, जिसका विवरण वाक्पति कृत 'गौडवाहो' नामक काव्य में मिलता है ।

यद्यपि यशोवर्मा को कश्मीर नरेश ललितादित्य मुक्तापीड़ से पराजित होना पड़ा था तथापि वह पराक्रमी और नीतिकुशल शासक था । उसने कन्नौज के खोए हुए यश को पुनःस्थापित करने का प्रयास किया । उसने चीन के साथ राजनीतिक संबंध स्थापित किए । वह नगर-निर्माता और विद्या-प्रेमी शासक था । वाक्पति और भवभूति जैसे कवि उसके दरबार में रहते थे । यशोवर्मा स्वयं विद्वान था । वह 'रामाभ्युदय' नामक नाटक का रचयिता माना जाता है । वह शैव धर्म का अनुयायी था तथा कालप्रियनाथ की उपासना किया करता था । उसके उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए । अतः यशोवर्मा की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया ।

770 ई०—पालवंश के संस्थापक गोपाल की मृत्यु के पश्चात् उसका पराक्रमी और महत्त्वाकांक्षी पुत्र धर्मपाल राजगद्दी पर बैठा । प्रतीहार-नरेश वत्सराज और राष्ट्रकूट नरेश ध्रुवपाल के समकालीन राजा थे । इनके साथ उत्तरी भारत में साम्राज्य-विस्तार हेतु धर्मपाल का संघर्ष हुआ ।

धर्मपाल एक महान विजेता, कुशल कूटनीतिज्ञ तथा सफल शासक था । उसने अपने पिता से बंगाल का एक छोटा-सा राज्य उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त किया था, परंतु अपने पराक्रम, वीरता और कूटनीतिज्ञता से अपने चरमोत्कर्ष के दिनों में वह उत्तर भारत का शक्तिशाली राजा बन नया । उसने 'परमभट्टारक', 'महा-राजाधिराज,' 'परमेश्वर' की उपाधियाँ धारण कीं । डॉ० मजूमदार ने धर्मपाल के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि धर्मपाल बंगाल का श्रेष्ठ सम्राट था जिसने उत्तरी भारत में अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित की । 810 में धर्मपाल का निधन हो गया ।

793 ई०—793 ई० में ध्रुव ने क्रम में तृतीय अपने सर्वाधिक योग्य पुत्र युवराज गोविन्द तृतीय को राष्ट्रकूट राज्य का उत्तराधिकारी मनोनीत किया । गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था । सर्वप्रथम उसे अपने अग्रज स्तंभ के विद्रोह का सामना करना पड़ा । तत्पश्चात् उसने गंगनरेश शिवमार, पल्लव नरेश दंदिवर्मन् और चालुक्य नरेश विजयादित्य को पराजित किया । उसने उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करके प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय और पालनरेश धर्मपाल को परास्त किया । संजन-अभिलेख से विदित होता है कि गोविन्द तृतीय ने गंगवाड़ी, केरल, चोल, पांड्य और कांची के राजाओं के शक्तिशाली संघ को बुरी तरह पराजित किया । 814 ई० में गोविन्द तृतीय का देहावसान हो गया ।

836 ई०—रामभट्ट की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र मिहिरभोज 836 ई० में प्रतीहार राजवंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ । दौलतपुर-अभिलेख में उसे 'प्रभास' तथा ग्वालियर चतुर्भुज अभिलेख में 'आदिवराह' की उपाधियों से विभूषित किया

गया है । अन्य कई अभिलेखों से भी भोज के शासनकाल पर प्रकाश पड़ता है । अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्यों से विदित होता है कि 836 ई० में भोज का राज्यारोहण हुआ था । सन् 836 से 846 ई० तक के प्रारम्भिक दस वर्ष भोज ने शासन को संगठित करने में लगाये । तत्पश्चात् उसका पाल और राष्ट्रकूट राजाओं के साथ संघर्ष हुआ । उसने अरब आक्रमणों से भारत की रक्षा की । भोज के शासन-काल में प्रतीहार-साम्राज्य अपनी चरम सीमा पर था । विद्वानों का मत है कि उसका साम्राज्य गुप्त-साम्राज्य और हर्ष-साम्राज्य से अधिक विस्तृत था । सन 885 ई० में भोज का देहावसान हो गया ।

850 ई०—810 ई० में पाल नरेश धर्मपाल की मृत्यु हो गई । तत्पश्चात् उसका यशस्वी पुत्र देवपाल राजगद्दी पर बैठा । देवपाल अपने पिता की भांति पराक्रमी और महत्त्वाकांक्षी था । उसने अपने पिता की तरह 'परमेश्वर', 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज' आदि सम्मान सूचक उपाधियाँ धारण कीं । उसे योग्य पिता का योग्य पुत्र कहा जाता है ।

देवपाल को अपने राज्यकाल में प्रतीहार और राष्ट्रकूटों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा । मुंगेर अभिलेख तथा बादल एवं भागलपुर अभिलेखों में उसकी विजयों का उल्लेख मिलता है । देवपाल अपने वंश का सबसे बड़ा विजेता था । उसने अपने राज्य की सीमाएं पूर्व में कामरूप, दक्षिण में कलिंग और पश्चिम में विन्ध्य तथा मालवा तक बढ़ा ली थीं । वह विद्याप्रेमी और बौद्ध मतावलंबी था । दीर्घकाल तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरांत 850 ई० में उसका देहावसान हो गया ।

855 ई०—नागभट्ट द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् 833 ई० में रामभद्र राजा बना । वह एक अयोग्य और दुर्बल शासक था । उसने केवल तीन वर्ष तक शासन किया । 836 ई० में रामभद्र की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मिहिरभोज राजगद्दी पर बैठा जो प्रतीहार वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ ।

प्रतीहार-नरेश भोज को अपने शासनकाल में अनेक आंतरिक एवं बाह्य संकटों का सामना करना पड़ा । अपने राज्य के प्रारम्भिक दस वर्ष उसने शासन को सुसंगठित करने में लगाये । तत्पश्चात् उसे अपने समकालीन पाल-नरेश देव पाल और राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष कृष्ण द्वितीय के साथ संघर्ष करना पड़ा । भोज ने अपने शासनकाल में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की । दीर्घकाल तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरांत 885 ई० में भोज का निधन हो गया ।

1010 ई०—1010 ई० में विद्याप्रेमी और लोकप्रिय सम्राट् भोज परमार राजगद्दी पर बैठा । उसे परमार वंश के शक्तिशाली तथा ख्याति प्राप्त सम्राट् के रूप में सम्मान प्राप्त है । भोज परमार कठिनाइयों से जूझने को ही वीरता मानता था । अभिलेखों तथा साहित्यिक साक्ष्यों से उसके सम्बन्ध में विस्तृत प्रकाश पड़ता है । उसने अनेक युद्ध कर शत्रुओं को नतमस्तक किया । वीर और योद्धा होने के

साथ-साथ वह स्वयं विद्वान और आश्रयदाता था। 1055 ई० में उसकी मृत्यु हो गई। भारतीय इतिहास में उसे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

1014 ई०—राजराज महान् के पश्चात् 1014 ई० में उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम राजगद्दी पर बैठा। वह अपने पिता से भी अधिक पराक्रमी और महत्त्वाकांक्षी था। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त चोल-साम्राज्य का निरन्तर विस्तार किया। उसने लंका, पांड्य और चेर राजाओं को पराजित किया। उसने कल्याणी के चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय, पूर्वी बंगाल के राजा गोविन्दचन्द्र, पाल नरेश महीपाल आदि राजाओं को पराजित किया। तिरुवालन्गाडु अनुदान से राजेन्द्र चोल की कुछ अन्य विजयों पर प्रकाश पड़ता है। वह कलाप्रिय और विद्यानुरागी सम्राट था।

1025 ई०—महमूद गजनवी ने 1025 ई० में सोमनाथ के प्रसिद्ध शिवमन्दिर पर आक्रमण किया जो भारत पर उसका सोलहवाँ आक्रमण था। सोमनाथ का मन्दिर गुजरात में समुद्रतट पर स्थित है। प्रसिद्ध मन्दिर होने के कारण उसमें अतुल रत्न और काफी मात्रा में सोना था। धनलोलुप महमूद गजनवी की लालचभरी निगाहें उस मन्दिर पर केन्द्रित थीं। अतः महमूद गजनवी ने उसे लूटने का निश्चय किया। उस समय गुजरात में चालुक्यवंशी भीम प्रथम (सन् 1024-1064 ई०) शासन कर रहा था।

महमूद द्वारा सोमनाथ के मन्दिर पर किए गए आक्रमण का वर्णन करते हुए मुसलमान लेखक अल् गर्दीजी ने लिखा है कि वहां (सोमनाथ का मन्दिर) तक पहुँचने का मार्ग अत्यन्त दुर्गम, कष्टसाध्य और आपत्तिमूलक था। इब्न् उत् अलहर का कथन है कि मुल्तान में अपनी सैनिक तैयारियाँ कर 1025 ई० में तीस हजार घोड़ों के साथ महमूद गजनवी वहाँ से चल पड़ा। महमूद के अन्हिलवाड़ पहुँचते ही वहाँ का राजा नगर छोड़कर अपनी सुरक्षा हेतु एक दुर्ग में युद्ध की तैयारी के लिए जा छिपा और महमूद सोमनाथ की ओर बढ़ गया। कई दिनों के घेरे के पश्चात् उसने गढ़ में प्रवेश किया और 50,000 ब्राह्मणों का तथा हिंदुओं का वध कर दिया। सोमनाथ के महंत के आपसी मतभेद, हिंदुओं में व्याप्त अंधविश्वास और महमूद के कुशल सैन्य-सचालन की नीति के कारण उसने मन्दिर को लूटने में सफलता प्राप्त की। महमूद ने छह फीट ऊँची शिव की स्वर्ण-प्रतिमा, जो रत्नों से भरी हुई थी, को तोड़कर मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। धारा का परमार नरेश महमूद को दंडित करने के लिए एक विशाल सेना सहित मार्ग में आ डटा। परन्तु इसकी सूचना महमूद को मिल जाने के कारण वह अपना मार्ग बदलकर गजनी पहुँच गया। महमूद गजनवी अतुल धन सम्पत्ति लूटकर स्वदेश ले गया।

1030 ई०—प्रसिद्ध अरब-यात्री अल्बेरुनी 1030 ई० में भारत भ्रमण पर आया। उसने अपने यात्रा-वृत्तांत में तत्कालीन भारत की दशा पर प्रकाश डाला है। अल्बेरुनी का वास्तविक नाम मुहम्मद-बिन-अहमद था। उसका जन्म 973 में रवीवा में हुआ था। 1017 ई० में जब महमूद ने रवीवा नामक प्रदेश को विजित किया तो

उसने अल्बेरुनी को पकड़ लिया। वह इतिहास, गणित और दर्शनशास्त्र का बड़ा विद्वान था। उसे यूनानी, अरबी, फारसी और संस्कृत भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त था। उसने अपनी पुस्तक 'तहकीकए-हिंद' में भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक दशा, न्याय प्रणाली तथा भारतीय विज्ञान और दर्शन का उल्लेख किया है।

1055 ई०—सिंधुराज की मृत्यु के पश्चात् 1010 ई० में उसका रणकुशल और विद्याप्रेमी पुत्र भोज परमार वंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ। भोज की गणना भारत के प्रमुख और लोकप्रिय सम्राटों में की जाती है। अनेक अभिलेखों से भोज के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। तत्कालीन प्रमुख राजवंश—कल्याणी के चालुक्य, कलचुरि वंश, चंदेल, चाहमान, गुजरात के चौलुक्य-वंश आदि के साथ भोज का संघर्ष हुआ। भोज परमार ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

भोज परमार सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए इतिहास में अधिक प्रसिद्ध है। विद्यानुराग, प्रकांड पांडित्य, विद्या और साहित्य के संवर्द्धन आदि के कारण भोज ने अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर धारानगरी बनाई। उदयपुर-प्रशस्ति में भोज को 'कविराज' की संज्ञा दी गई है। उसने विद्वानों और कवियों को आश्रय तथा संरक्षण प्रदान किया। उसके दरबार में धनपाल और उवट जैसे महान् विद्वान रहते थे। भोज परमार की बहुमुखी प्रतिभा पर प्रकाश डालते हुए डॉ० विशुद्धानंद पाठक ने लिखा है—"उसकी (भोज) बहुमुखी प्रतिभा और उसके अधीन मालवा की बहुश्रुति ध्यान में रखते हुए ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध भारतीय इतिहास में भोज का युग कहा जा सकता है।" डॉ० गांगुली ने भोज की गणना भारत के महत्तम शासकों में की है। पैंतालीस वर्ष सफलतापूर्वक शासन करने के उपरांत 1055 ई० में भोज का देहान्त हो गया।

1178 ई०—मुल्तान और उच्छ में निरन्तर दो वर्ष तक सैन्य-संगठन को मजबूत बनाकर मुहम्मद गोरी ने गुजरात पर आक्रमण करने का निश्चय किया। अपने निश्चयानुसार उसने 1178 ई० में गुजरात पर चढ़ाई कर दी। परन्तु वहाँ के राजा मूलराज द्वितीय के भाई, जो राज्य का सेनापति भी था, भीम ने उसके मंसूबों पर पानी फेर कर काशहृद के मैदान में तुर्कों को पराजित कर दिया। इस युद्ध में मुहम्मद गोरी की भारी पराजय हुई और वह भाग खड़ा हुआ।

1191 ई०—1191 ई० में दिल्ली-अजमेर के राजा पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गोरी के मध्य तराइन के मैदान में तीव्र संघर्ष हुआ। तराइन के मैदान में मुहम्मद गोरी को पराजित होकर घायलावस्था में रणक्षेत्र से भाग जाना पड़ा।

भारत में तुर्क-साम्राज्य का विस्तार तथा इस्लाम धर्म के प्रचार और प्रसार के उद्देश्य से 1191 ई० में मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज चौहान के राज्य के दुर्ग सरहिन्द पर अधिकार कर लिया। अतः उसका मुकाबला करने के लिए पृथ्वीराज चौहान

एक बड़े तथा शक्तिशाली सैन्य दल सहित चल पड़ा। फरिश्ता के अनुसार, पृथ्वीराज एक बड़ी और शक्तिशाली सेना को लेकर दिल्ली के गवर्नर गोविन्दराज के साथ-साथ तरबहिंदाह की ओर बढ़ रहा था। यह समाचार पाकर गोरी की सेना घबरा उठी और दिल्ली के समीप करनाल जिले में स्थित तराइन के क्षेत्र में वह चाहमान सेनाओं से लड़ने को विवश हो गई। राजपूत-सेना के तीव्र प्रहार के कारण तुर्क-सेना के पाँव उखड़ने लगे और वह तितर-बितर होकर भाग गई। गोरी ने फिर भी साहस नहीं खोया और गोविन्दराज पर भाले से ऐसा प्रहार किया कि उसके दो दाँत तोड़ डाले। गोविन्दराज ने मुहम्मद गोरी को अपने बरछे से बुरी तरह घायल कर युद्ध का मैदान छोड़ने को विवश किया। रणक्षेत्र में बुरी तरह घायल गोरी को उसका खिलजी सरदार घोड़े में बिठाकर भाग निकला। राजपूतों ने उसका पीछा न करके भारी भूल की। इसका परिणाम उन्हें 1192 ई० में गोरी द्वारा पराजित होकर भोगना पड़ा। तराइन के प्रथम युद्ध में गोरी की पराजय के सम्बन्ध में डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है—"इससे पूर्व मुसलमानों को विधर्मियों के हाथ से ऐसी पराजय का सामना नहीं करना पड़ा था।" इस प्रकार पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को पराजित करके सरहिंद पर पुनः अधिकार कर लिया।

1192 ई०—1191 में तराइन के मैदान में बुरी तरह घायल और पराजित होने के बावजूद मुहम्मद गोरी ने साहस नहीं खोया। पराजित गोरी ने एक वर्ष तक स्वदेश में सैनिक तैयारियां कीं और 1192 ई० में एक बड़ी सेना व अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर तराइन के मैदान में आ डटा। पृथ्वीराज चौहान एक बड़ी सेना लेकर उसका मुकाबला करने के लिए मैदान में पहुँच गया, गोरी ने छल से काम लिया। उसने एक रात्रि को अकस्मात राजपूत-सेना पर आक्रमण कर दिया। तुर्कों के तीव्र प्रहार को इस बार राजपूत-सेना नहीं सह सकी। अतः वह पराजित हो गई। पृथ्वीराज चौहान को मुहम्मद गोरी ने मौत के घाट उतार दिया। पृथ्वीराज की पराजय के कारण शक्तिशाली चाहमान-राज्य ढह गया।

तराइन का द्वितीय युद्ध भारत के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। इस युद्ध में विजयश्री प्राप्त कर लेने के उपरांत मुहम्मद गोरी का भारत में अपने साम्राज्य-विस्तार का संकल्प पूरा हो गया और शक्तिशाली चाहमान-राज्य धराशायी हो गया।

1194 ई०—1192 ई० में चाहमान-राज्य को ध्वस्त करने के पश्चात् 1194 ई० में मुहम्मद गोरी गहडवाल-राज्य पर टूट पड़ा। युद्ध में गहडवाल-नरेश जयचन्द्र पराजित हुआ।

कन्नौज-नरेश जयचन्द्र की पुत्री सुन्दरी संयोगिता का पृथ्वीराज चौहान द्वारा अपहरण कर लिए जाने से दोनों राजाओं के मध्य तीव्र वैमनस्य की भावना व्याप्त हो गई। 1192 ई० में तराइन के द्वितीय युद्ध में अपने प्रतिद्वंद्वी पृथ्वीराज की पराजय का समाचार पाकर जयचन्द्र अत्यधिक प्रसन्न हुआ। इस खुशी में उस ने

अपनी राजधानी कन्नौज में दीप मालाएं जलाईं अर्थात् दीपावली मनाई। जयचन्द्र को अपनी दस लाख पदातियों और सात सौ हाथियों की शक्तिशाली सेना पर बड़ा गर्व था। भारतीय साक्ष्यों से विदित होता है कि 1194 ई० में चन्दावर की लड़ाई से पूर्व उसने कई बार मुहम्मद गोरी की सेनाओं को पराजित किया था। 1192 ई० में तराइन की विजय ने गोरी के साहस में वृद्धि कर दी। अतः 1194 ई० में उसने अपने पचास हजार शस्त्र कवचधारी घुड़सवारों के साथ जयचन्द्र पर तीखा आक्रमण कर दिया। युद्ध के प्रथम दौर में तो तुर्क-आक्रांता अत्यन्त भयभीत हो उठे, किंतु हाथी पर सवार युद्ध का नेतृत्व करते हुए जयचन्द्र की आंख में कुतुबुद्दीन ऐबक का एक तेज तीर लग जाने कारण वह घायलावस्था में रणक्षेत्र में गिर पड़ा। अन्त में जयचन्द्र युद्ध में मारा.गया और उसकी सेना पराजित हो गई। तुर्कों ने स्त्रियों और बच्चों को छोड़कर अन्य सभी को मार डाला। वे काफी धन लूटकर ले गये। उन्होंने मन्दिरों को ध्वस्त कर उनके स्थान पर मस्जिदें निर्मित कीं, इस प्रकार हिन्दुओं के अन्तिम शक्तिशाली गढ़ (गहडवाल-राज्य) को भी गोरी की सेना ने धराशायी कर दिया।

1197 ई०—1197 ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक के नेतृत्व में तुर्की सेना ने गुजरात पर विजय प्राप्त की। 1195 ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने गुजरात पर आक्रमण किया, किंतु भीम ने उसे पराजित कर दिया। 1197 ई० में गजनी से एक शक्तिशाली सेना बुलाकर कुतुबुद्दीन ऐबक ने गुजरात पर पुनः आक्रमण कर दिया। काशहृद के मैदान में तुर्कों और गुजराती दोनों सेनाओं के मध्य घोर संग्राम हुआ। तुर्क विजयी हुए। इस युद्ध में 50,000 भारतीय सैनिक मारे गये और 20,000 कैद कर गुलाम बना लिए गए तथा अन्हिलवाड़ पर कुतुबुद्दीन का अधिकार हो गया। वहाँ अपना एक गवर्नर नियुक्त कर वह दिल्ली लौट गया।

1206 ई०—मुहम्मद गोरी ने भारत में अनेक विजयें प्राप्त कीं। 1192 ई० में पृथ्वीराज और 1194 ई० में जयचन्द्र को पराजित करने के उपरांत भारत में इस्लाम-राज्य की स्थापना का उसका स्वप्न साकार हो गया। तत्पश्चात् कुतुबुद्दीन ऐबक को भारत में तुर्क-राज्य की रक्षा और विस्तार का दायित्व सौंपकर वह वापस गजनी लौट गया। 1197 ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने गुजरात राज्य की राजधानी अन्हिलवाड़ पर अधिकार कर लिया। मुहम्मद गोरी अपुत्रक था। उसके दास कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारतीय अभियान में बड़ी वीरता का प्रदर्शन किया था। कुतुबुद्दीन ऐबक के साहस, शौर्य, स्वाभिभक्ति और दानशीलता के गुणों से गोरी बहुत प्रभावित था। अतः उसने कुतुबुद्दीन ऐबक को भारत में तुर्क राज्य का स्वतंत्र सुल्तान (राजा) घोषित कर दिया। 1206 ई० में वह लाहौर गया और उसका विधिवत् अभिषेक हो गया। सुल्तान का पद ग्रहण करते समय कुतुबुद्दीन ऐबक के सम्मुख भारत में अनेक कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं जिनका उसने बड़ी दृढ़ता से मुकाबला किया। कुछ विद्वानों ने उसे भारत में मुस्लिम साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक कहा है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. निम्नलिखित तिथियों से सम्बन्धित घटनाओं पर प्रकाश डालते हुए उनके ऐतिहासिक महत्त्व की विवेचना कीजिए—
599 ई० पू०, 563 ई० पू०, 483 ई० पू०, 326 ई० पू०, 321 ई० पू०, 272 ई० पू०, 184 ई० पू० ।
2. निम्नलिखित तिथियों को घटित ऐतिहासिक घटनाओं पर संक्षिप्त नोट लिखिए—
78 ई०, 320 ई०, 335 ई०, 375 ई०, 413 ई०, 606 ई०, 629 ई०, 644 ई०, 647 ई०, 1025 ई०, 1191 ई०, 1192 ई०, 1206 ई० ।

5

प्रागैतिहासिक युग

पृथ्वी का रचनाकाल विवादास्पद है। दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेद भाष्य भूमिका से विदित होता है कि पृथ्वी की रचना 1 अरब 95 करोड़ वर्ष पूर्व हुई। कुछ विद्वान् पृथ्वी का रचना काल 3 लाख वर्ष पूर्व मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इसका रचना काल 10 लाख वर्ष पूर्व बताते हैं। प्रारम्भ में पृथ्वी एक लाल आग के गोले के समान थी और 10 लाख वर्ष पूर्व पृथ्वी के रूप में परिवर्तित हो गई। शनैः-शनैः उस पर वनस्पतियाँ उगने लगीं और पशु तथा मानव जाति विचरण करने लगी। अपने प्रारम्भिक स्वरूप में मानव बर्बर, असभ्य और जंगली था।

इतिहासकारों का मत है कि प्रागैतिहासिक काल से तात्पर्य उस काल से है जिसके निवासी लेखन कला के ज्ञान से अनभिज्ञ थे अर्थात् जब किसी देश के निवासी उस काल के वर्णन को लिखना नहीं जानते, तब वह प्राग् इतिहास कहलाता है। सन् 1880 से पूर्व प्रागैतिहासिक कालीन घटनाएँ अंधकार में समाई हुई थीं। सर्वप्रथम भूगर्भवेत्ता राबर्ट ब्रूसफुट मद्रास के समीप और उत्तरी गुजरात की पाषाण-कालीन सभ्यता को प्रकाश में लाए। प्रारम्भ में मनुष्य को धातु का ज्ञान नहीं था। वह पत्थर के हथियारों से अपनी रक्षा और जीवन निर्वाह करता था। पाषाण प्रधान होने के कारण यह काल पाषाण युग कहलाता है।

1. पाषाण युग

पाषाण-युग से तात्पर्य उस ऐतिहासिक काल से है, जब मनुष्य अपने असभ्य और बर्बर स्वरूप में जंगल में निवास करता था। उस काल में वह अपने जीवन-यापन और सुरक्षा हेतु क्वार्टजाइट नामक कठोर पत्थर के हथियारों का प्रयोग करता था। पाषाण कालीन मानव सभ्यता को दो भागों में विभक्त किया जाता है—पूर्व पाषाण युग और उत्तर पाषाण युग।

(अ) पूर्व पाषाण युग—मानव सभ्यता के प्रथम चरण को पूर्व पाषाण युग के नाम से जाना जाता है। विद्वानों ने इस युग को 4,000,00 वर्ष पूर्व से 50,000 वर्ष पूर्व तक माना है। पूर्व पाषाण युग में मानव सभ्यता निम्न कोटि की थी। वह

जंगलों में निवास करता था तथा पाषाण निर्मित हथियारों से अपना निर्वाह करता था। मनुष्य अग्नि और कृषि से अनभिज्ञ था। वह गुफाओं में निवास करता था तथा खाल, पेड़ों की छाल और पत्तियों से तन ढकता था। उस युग में मनुष्य कन्दमूल और पशुओं के कच्चे मांस से भूख की ज्वाला मिटाते थे।

पूर्व पाषाण काल में मानव असभ्य था। वह मानसिक रूप से अविकसित था। मनुष्य प्रायः नग्न मुद्रा में रहता था। ठंड से बचने के उद्देश्य से वह पशु की खाल, पेड़ की छाल तथा पत्तियों से अपना तन ढकता था। भोजन की खोज में वह इधर-उधर घूमता था। उस काल में पत्थर और हड्डियों से भोंडे हथियार बनाये जाते थे। शनैः-शनैः जब मानव सभ्यता का विकास हुआ तो वे झील, तालाब और नदी के समीप छोटे-छोटे समूहों के रूप में रहने लगे। लोग सर्दी से बचने के लिए गुफाओं में रहने लगे और घास-फूस की झोपड़ियाँ भी बनाने लगे थे। उस काल में मनुष्य कुल्हाड़ी, तीर, भाले, बर्छी आदि हथियार बनाने लगे थे।

पूर्व पाषाण कालीन मनुष्य का सामाजिक जीवन अत्यन्त सरल और पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर था। मनुष्य की आवश्यकताएं मात्र पेट भरने तक सीमित थीं। वे कन्दमूल के अतिरिक्त मांस खाते थे। हिंसक पशुओं से अपनी रक्षा के लिए मनुष्य सामूहिक रूप में रहना सीख गये थे। भोजन की खोज में वे लोग टोलियाँ बनाकर जाते थे।

पूर्व पाषाण कालीन मानव असभ्य और बर्बर होने के कारण तत्कालीन धार्मिक जीवन शून्य था। अविकसित होने के कारण वे चिन्तन और मनन से दूर थे। मृतकों को खुला छोड़ दिया जाता था। खुदाई में समाधियों के अवशेष नहीं मिले हैं।

रावलपिंडी, कश्मीर, नर्मदा की घाटी, गुजरात, उड़ीसा, तमिलनाडू, बेल्लारी, धारवार, राजपूताना, मथुरा, रींवा आदि स्थानों में पूर्व पाषाण कालीन सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

(आ) उत्तर पाषाण युग—पाषाणकाल का उतरार्द्ध होने के कारण यह उत्तर पाषाणकाल कहलाता है। इस युग की अवधि 50,000 वर्ष से 25,000 वर्ष पूर्व तक मानी जाती है। इस काल में मानव सभ्यता अपेक्षाकृत विकसित थी। पूर्व पाषाण काल की अपेक्षा उत्तर पाषाण कालीन मानव सभ्यता विकसित थी। उसके हथियारों की बनावट में परिवर्तन आ चुका था। मनुष्य पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर न रहकर उससे संघर्ष करने लगा था। बंगाल, गुजरात, नागपुर, बिहार आदि स्थानों पर उत्तर पाषाण कालीन सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

उत्तर पाषाण कालीन मानव नदियों और झरनों के समीप गुफाओं में तथा झोपड़ियां निर्मित कर रहने लगा था। पूर्व पाषाण युग की अपेक्षा उत्तर पाषाण युग के मनुष्य के जीवन में अधिक स्थायित्व आ गया था। उनमें सामूहिक रूप से निवास करने की भावना उत्पन्न हो गई थी। वे अग्नि के ज्ञान से परिचित हो चुके थे।

बाँस की लकड़ी तथा पत्थरों को परस्पर रगड़ कर अग्नि पैदा की जाती थी। मनुष्य घर बनाना भी सीख गये थे।

पूर्व पाषाणकाल की भांति उत्तर पाषाण कालीन मानव कन्दमूल और पशुओं के मांस तक सीमित न था, बल्कि अन्न तथा दूध का उपयोग भी करने लगा था। गेहूँ, जौ, बाजरा तथा मक्के की खेती की जाती थी। उन्हें अग्नि का ज्ञान हो चुका था। वे मांस और अन्न को पकाकर खाते थे। खुदाई में पकाने के बर्तन मिले हैं। कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भी किया जाता था। कपास की खेती की जाती थी। कपास की रूई को कात कर वस्त्र बनाए जाते थे। उत्तर पाषाणकाल में भी हथियार हड्डियों और पत्थरों के बनाये जाते थे, किन्तु पूर्व पाषाणकाल की अपेक्षा वे अधिक नुकीले, सुडौल और चमकीले होते थे। कृषि के अतिरक्त पशुपालन पर भी जोर दिया जाता था। भैंस, गाय, बैल, कुत्ता आदि पालतू पशु थे। लोगों में धार्मिक भावना का जन्म हो चुका था। शवों को दफनाने की प्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी। वे भवन निर्माण-कला और चित्रकला में रुचि रखते थे। अवशेषों में मनुष्यों और पशुओं के अनेक चित्र मिलते हैं। चित्रों में रंगों का प्रयोग किया जाता था। कश्मीर, सिंध, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, असम, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, बेलारी आदि स्थानों में उत्तर पाषाण कालीन सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। हुसंगी ग्राम (कर्नाटक) की खुदाई में 50,000 वर्ष पुरातन तथा आंध्र में 35,000 वर्ष प्राचीन सभ्यता के अवशेष मिले हैं। पाषाणकालीन सभ्यता के सम्बन्ध में डॉ० एच० डी० संकालिया का कथन है—"पाषाण-कालीन संस्कृति के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस काल के लोग अग्नि का प्रयोग जानते थे, मिट्टी के बर्तन बनाते थे, अनाज की खेती करते थे और पशुओं को पालते थे। किन्तु ये सभी सिद्धांत ऊपरी खोजों पर ही आधारित हैं। उस समय तक निश्चित निर्णय कर पाना संभव नहीं है जब तक खुदाई के आधार पर अन्य प्रमाण उपलब्ध न हो जायं।"

2. धातु युग

पाषाण कालीन मानव धातुओं के ज्ञान से अनभिज्ञ था। धीरे-धीरे जब उसके मस्तिष्क का विकास हुआ तो उसे धातुओं का ज्ञान हो गया। पत्थर के स्थान पर वह धातुओं का प्रयोग करने लगा। धातु प्रधान होने के कारण यह काल धातु युग के नाम से जाना जाता है। पाषाण युग की भांति धातु युग को भी दो भागों में विभक्त किया जाता है—ताम्रयुग तथा लौह युग।

(अ) **ताम्रयुग**—मनुष्य को सर्वप्रथम स्वर्ण और तत्पश्चात् ताँबे का ज्ञान हुआ। ताँबे के साथ-साथ उसने काँस्यधातु का भी पता लगाया। उस काल के मनुष्यों को ताँबे का ज्ञान हो जाने के फलस्वरूप पत्थर और हड्डियों के हथियारों का परित्याग कर वे ताँबे के हथियार बनाने लगे। हथियारों के अतिरिक्त उनके ओजार भी ताँबे के बनने लगे, जिससे कृषि के क्षेत्र में विकास हुआ। पाषाणकालीन हथियारों की अपेक्षा ताँबे के हथियार और औजार अधिक सुडौल, नुकीले तथा प्रभावशाली थे। इस काल में मनुष्य सामूहिक रूप से रहने लगे थे। मानव सभ्यता का विकास

हो चुका था। लोगों ने गांवों और नगरों का बसाना प्रारम्भ कर दिया था। कृषि, पशुपालन तथा उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में विकास हुआ। सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। तांबे के अतिरिक्त काँसे की वस्तुएँ बनाई जाती थीं। भारत में सिंधुघाटी की सभ्यता ताम्रयुगीन मानी जाती है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में ताम्र और काँस्य दोनों धातुओं के बर्तन, हथियार और औजार मिले हैं।

(आ) **लौहयुग**—ताँबा और काँसे के पश्चात् मनुष्य को लोहे का ज्ञान प्राप्त हुआ। दक्षिणी भारत में पाषाण युग के पश्चात् लौहयुग प्रारम्भ हुआ था, जबकि उत्तरी भारत में लोहे का युग ताम्रयुग के बाद प्रारम्भ होता है। लोहे की प्रधानता के कारण यह युग लौहयुग के नाम से जाना जाता है। लोहे का ज्ञान हो जाने के फलस्वरूप हथियार और औजार ताँबा अथवा काँसे के स्थान पर लोहे के बनने लगे। लोहे के भाले, बर्छी, तलवार, कुल्हाड़ी आदि हथियार प्राप्त हुए हैं। इस काल में मानव सभ्यता काफी विकसित हो चुकी थी। विद्वानों ने आर्य सभ्यता को लौह युगीन माना है। वैदिककालीन सभ्यता लौहयुग की मानी जाती है। यह सभ्यता राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से काफी विकसित थी, जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायेगा।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि पृथ्वी पर मानव के आविर्भाव के पश्चात् धीरे-धीरे उसकी सभ्यता का विकास हुआ। उसका मस्तिष्क विकसित हुआ तथा उसने अनेक क्षेत्रों में ज्ञान अर्जित किया। प्रारम्भ में मनुष्य असभ्य और बर्बर था। वह पत्थर तथा हड्डियों के हथियार बनाता था और कन्दमूल एवं कच्चा मांस खाकर अपना जीवन निर्वाह करता था। शनैः-शनैः उसने झोपड़ियाँ बनाकर सामूहिक रूप से निवास करना सीखा। सामूहिक रूप में निवास करने के फलस्वरूप उसमें लज्जा की भावना का जन्म हुआ। अतः वह नग्न अवस्था को त्याग कर पेड़ की पत्तियों और छाल तथा पशुओं की खाल से अपना तन ढकने लगा। प्रारम्भ में वह कच्चा मांस, मछली, कन्दमूल, फल आदि से अपनी उदरपूर्ति करता था। इस प्रकार मानव पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर था। किन्तु बाद में उसने कृषि और पशुपालन के माध्यम से अन्न और दूध का उपभोग करना सीखा। अग्नि का ज्ञान हो जाने पर उसने मांस और अन्न को पका कर खाना सीखा। इस तरह वह प्रकृति के साथ-साथ निजी प्रयासों पर भी निर्भर रहने लगा। पाषाणकाल के पश्चात् उसे ताम्र, काँस्य तथा लौह नामक धातुओं का ज्ञान प्राप्त हुआ। धातु का
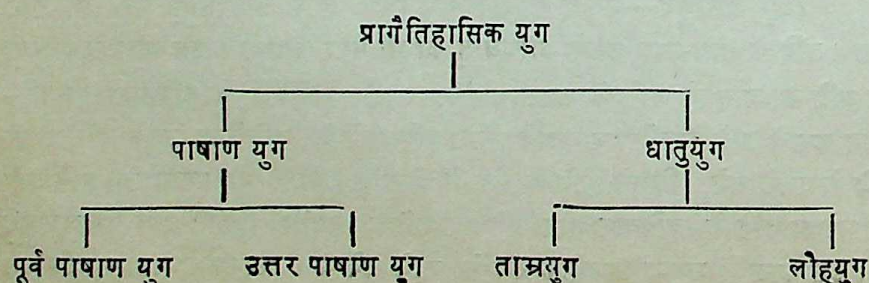
ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसके सामाजिक जीवन में आमूलचूल परिवर्तन हुए। उसमें धार्मिक भावनाओं का जन्म हुआ। फलतः मनुष्य अध्ययन-अध्यापन, पूजा-पाठ और अन्य धार्मिक कार्य संपादित करने लगा। इस प्रकार पाषाणकाल से धातुकाल तक का युग मानव सभ्यता के क्रमिक विकास का युग है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रागैतिहासिक काल पर प्रकाश डालिए।

   अथवा

   पाषाणकालीन मानव सभ्यता के विकास का वर्णन कीजिए।
2. पूर्वपाषाणकालीन अथवा उत्तर पाषाणकालीन सभ्यता पर प्रकाश डालिए।
3. ताम्रयुग और लौहयुग पर संक्षिप्त विवरण लिखिए।

6

सिंधु घाटी की सभ्यता

सिंधु घाटी की सभ्यता को प्रकाश में लाना पुरातात्त्विक विभाग की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। सन् 1922 से पूर्व भारतीय इतिहास ऋग्वैदिक काल से प्रारम्भ होता था जो आर्य सभ्यता थी। इस प्रकार 1922 ई० से पूर्व हम सिंधु घाटी की सभ्यता से अनभिज्ञ थे।

सन् 1922 में पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष राखलदास बनर्जी के नेतृत्व में सिंधु घाटी के लरकाना जिले और दयाराम साहनी के नेतृत्व में हड़प्पा में खुदाई प्रारम्भ हुई। इस खुदाई में लरकाना जिले में मोहनजोदड़ो के नाम से पुकारे जाने वाले एक भव्य नगर के अवशेष प्राप्त हुए। हड़प्पा की खुदाई में अनेक महत्त्वपूर्ण उपकरण और सामग्री प्राप्त हुई। राखलदास बनर्जी और दयाराम साहनी के इस प्रारम्भिक कार्य ने सर जॉन मार्शल तथा अन्य उच्चकोटि के विद्वानों को इस ओर प्रेरित किया। हड़प्पा की खुदाई में मोहनजोदड़ो नामक नगर के समान अवशेष प्राप्त हुए। अतः विद्वानों ने यह राय व्यक्त की है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेष समकालीन एवं एक ही सभ्यता के अवशेष हैं तथा ये दोनों नगर एक बड़े राज्य की दो राजधानियां थीं। इस खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर जो सभ्यता प्रकाश में आई, उसे सिंधुघाटी की सभ्यता का नाम दिया गया। यह द्रविड़ जाति की नगरीय सभ्यता थी।

सिंधु घाटी की सभ्यता का विस्तार—सिंधु घाटी की सभ्यता मोहनजोदड़ो से लेकर हड़प्पा तक ही विस्तृत न थी, बल्कि उसका प्रभाव क्षेत्र व्यापक था। नवीन खोजों के आधार पर इस सभ्यता का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत विदित होता है। सिंधु, बिलोचिस्तान, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, नर्मदा नदी की घाटी, काठियावाड़ में रंगपुर, लोथल, सोमनाथपुर तथा हालार जिले में सिंधु सभ्यता के पर्याप्त अवशेष प्राप्त हुए हैं। विद्वानों का मत है कि सिंधु घाटी, की सभ्यता मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा के आस-पास तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि इसका विस्तार क्षेत्र बहुत

बड़ा था। बाद में जो खुदाइयाँ हुई हैं, उनसे विदित होता है कि इस सभ्यता का विस्तार सिंधु के कई स्थानों जैसे चोहनदड़ो तथा अनूरी एवं जैकबाबाद के मध्य तक रहा है। इस सभ्यता के चिन्ह पश्चिमी भारत की नर्मदा घाटी, पश्चिम सिंधु तथा उत्तरी और दक्षिणी बिलोचिस्तान से भी प्राप्त हुए हैं। कुछ वस्तुओं, जैसे मोती, मूर्तियों आदि की प्राप्ति से विश्वास होता है कि यह सभ्यता पूर्व की ओर बिहार, उत्तर प्रदेश तथा उत्तर की ओर अम्बाला तक फैली हुई थी। विद्वानों ने यह भी संभावना व्यक्त की है कि सिंधु घाटी के निवासी जल और स्थल मार्गों से व्यापार करते थे। संभवतः सुमेरी-सभ्यता, नील नदी की सभ्यता तथा मेसोपोटेमिया की सभ्यता से सिंधु घाटी के लोग परिचित थे।

सिंधु सभ्यता के निवासी—सिंधुघाटी की सभ्यता के निवासियों के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान उन्हें आर्य, कुछ विद्वान सुमेरियन, कुछ विद्वान् पण जाति का तथा कुछ अन्य विद्वान् द्रविड़ जाति का बताते हैं। सिंधु-सभ्यता के अवशेषों के आधार पर सर्वाधिक ग्राह्य मत है कि सैंधव निवासी द्रविड़ जाति के थे।

सिंधु-सभ्यता का काल—सिंधु-सभ्यता के निवासियों की भाँति उसके काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस सभ्यता का काल 5000 ई० पू० पुरातन बताया है। सर जॉन मार्शल ने इस सभ्यता का काल 3250 ई० पू० से 2750 ई० पू० तक निर्धारित किया है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने भी सिंधु-सभ्यता का काल 3250 ई० पू० से 2750 ई० पू० बताया है। डॉ० राजबलि पाण्डेय के अनुसार सिंधु-सभ्यता 4000 ई० पू० प्राचीन थी। कुछ अन्य विद्वान इस सभ्यता का काल 3250 ई० पू० से 2200 ई० पू० तक मानते हैं। फ़ैब्री ने यह काल 2800 ई० पू० से 1500 ई० पू० के मध्य बताया है। अनेक उपलब्ध प्रमाणों की समीक्षा करते हुए ह्वीलर महोदय ने सिंधुघाटी की सभ्यता का काल 2500 ई० पू० से 1500 ई० पू० तक माना है। डॉ० रोमिला थापर ह्वीलर के मत से सहमत हैं। कुछ आधुनिक विद्वान् इस सभ्यता का काल 2300 ई० पू० से 1750 ई० पू० तक निर्धारित करते है अधिकांश विद्वानों ने सिंधु-सभ्यता का काल ई० पू० 3250 से 2200 ई० पू० के मध्य भिन्न-भिन्न समय बताया है। अवशेषों के आधार पर सिंधु-सभ्यता का काल लगभग 3500 ई० पू० विदित होता है।

सिंधु-सभ्यता की विशेषताएँ—सिंधुघाटी की सभ्यता की प्रमुख विशेषता यह है कि वह एक नगर-प्रधान सभ्यता थी। खुदाई में प्राप्त अवशेष उसे एक उच्च नगरीय सभ्यता का स्वरूप प्रदान करते हैं। यह भारत के लिए निश्चित रूप से गौरव की बात है कि 3500 ई० पू० में वहाँ उच्चकोटि की नगर-सभ्यता विद्यमान थी। यह मुख्यतः कांस्य, नगर तथा व्यापार प्रधान, लोकतांत्रिक शासन और उत्कृष्ट कला की सभ्यता थी। सिंधु घाटी की सभ्यता की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं—

1. सामाजिक दशा

सिंधु घाटी की खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर उस काल की सामाजिक दशा इस प्रकार विदित होती है—

(अ) **सामाजिक विभाजन**—सिंधु घाटी की सभ्यता के समाज में वर्ण-व्यवस्था प्रचलन में नहीं थी। भारतीय इतिहास में वर्ण-व्यवस्था के प्रतिपादक आर्य थे। सिंधु-सभ्यता के काल में समाज की इकाई परिवार था। यह सभ्यता मातृ-प्रधान थी जो द्रविड़ सभ्यता की प्रमुख विशेषता है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त अवशेषों से विदित होता है कि उस समय समाज चार वर्गों में विभक्त था। पहला वर्ग विद्वानों का था जिसमें पुजारी, वैद्य, ज्योतिषी आते थे। दूसरा वर्ग योद्धाओं का था जो समाज की रक्षा करते थे। तीसरे वर्ग में विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे करने वाले व्यवसायी लोग आते थे। चौथा वर्ग घरेलू नौकर और मजदूरों का था।

(आ) **भोजन**—खुदाई में प्राप्त गेहूँ और जौ के दानों से ज्ञात होता है कि सिंधुघाटी के निवासी गेहूँ और जौ की खेती करते थे। संभवतः धान की खेती भी की जाती थी। सिंधुघाटी के लोग खजूर, तरबूज, अनार, नारियल, नीबू तथा सब्जियों का प्रयोग करते थे। मांस, मछली, अंडे, दूध का प्रयोग किया जाता था। वे लोग मुर्गा, सूअर, गो-मांस, भेड़, बकरी और जल-जन्तुओं का मांस भक्षण करते थे।

(इ) **वेशभूषा**—सिंधु सभ्यता के निवासी चर्खों से रूई कातते थे। वे ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के वस्त्र पहनते थे। स्त्रियों और पुरुषों के वस्त्र में कोई विशेष अन्तर नहीं था। धोती की तरह एक कपड़े से शरीर का निचला भाग ढका जाता था और दूसरा वस्त्र उत्तरीय वस्त्र था, जो दुपट्टे की तरह बाएं कंधे और दाईं काँख के नीचे डालकर ओढ़ा जाता था। एक नरमूर्ति एक लम्बा शाल दाहिनी बाँह के नीचे से बाँये कंधे के ऊपर फेंककर ओढ़े हुए है। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों लम्बे बाल रखते थे। बालों को संवारने के लिए कंघी और दर्पण का प्रयोग किया जाता था। पुरुष दाढ़ी रखते थे और मूँछ मुड़वाते थे। स्त्रियाँ सिर पर वस्त्र (शिरोवस्त्र) रखती थीं।

(ई) **आभूषण**—सिंधु घाटी के लोग आभूषण प्रेमी थे। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे। हार, अंगूठियाँ, कड़े, कुंडल और बालियाँ स्त्री-पुरुष दोनों पहनते थे। स्त्रियाँ कंदौरे, कान के काँटे, चूड़ियाँ, कर्णफूल, पायजेब, करधनी आदि आभूषण पहनती थीं। धनी लोग सोने, चाँदी, हाथी के दाँत तथा मूल्यवान पत्थरों के आभूषण पहनते थे और निर्धन लोग तो ताँबे, हड्डी और पकी हुई मिट्टी के आभूषण धारण करते थे। खुदाई में प्राप्त आभूषणों की चमक और बनावट की प्रशंसा करते हुए सर जॉन मार्शल ने लिखा है—"सोने-चांदी के आभूषणों की चमक तथा बनावट को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि आज से 5000 वर्ष पूर्व के किसी

प्रागैतिहासिक घर से नहीं निकाले गये हैं, अपितु आधुनिक बाँड स्ट्रीट (लंदन) के किसी जौहरी की दुकान से आये हैं।"[1]

(उ) **शृंगार प्रसाधन**--खुदाई में शृंगार प्रसाधनों की सामग्री भी मिली है। शृंगार के प्रसाधनों से अपने सौंदर्य को निखारने में सिंधु सभ्यता का महिला समाज अपनी आधुनिक बहिनों से पीछे न था। दर्पण, कंघी, काजल, सुरमा और ओठों पर लिपस्टिक लगाने का प्रचलन था। उस समय काँसे के दर्पण बनाये जाते थे। मिट्टी और हाथी दाँत के शृंगारदान मिले हैं।

(ऊ) **बर्तन और अस्त्र-शस्त्र**—सिंधु घाटी के निवासी सोने, चाँदी, ताँबे और मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग करते थे। अधिकांश मिट्टी के बर्तन मिले हैं। मिट्टी के बर्तन चाक पर बनाये जाते थे और उन पर सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। बर्तनों में कटोरे, घड़े, कलश, थाली, गिलास, चम्मच, रकाबियाँ आदि बड़ी मात्रा में हैं। चाकू, कुल्हाड़ी, आरी, तकली, सुई, कांटे आदि उपकरण मिले हैं। बर्तनों पर सुन्दर, आकर्षक और चमकदार पालिश की जाती थी।

सिंधु सभ्यता के लोग ताँबे और काँसे के हथियार बनाते थे, किन्तु लोहे के ज्ञान से वे अनभिज्ञ थे। वे लोग गदा, फरसे, खंजर, बर्छे, धनुष-बाण, पत्थर फेंकने वाले यंत्र आदि अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करते थे।

(ए) **स्त्रियों की दशा**—सिंधु घाटी के निवासी मातृदेवी के उपासक थे। अतः समाज में स्त्रियों को सम्मान प्राप्त रहा होगा। शिशु-पालन तथा गृह कार्य सम्पन्न करना उनका प्रमुख कार्य था। स्त्रियों में पर्दा प्रथा नहीं थी। वे धार्मिक और सामाजिक उत्सवों में पुरुषों की भाँति बिना किसी संकोच के भाग ले सकती थीं।

(ऐ) **मनोरंजन के साधन**—वे अनेक मनोरंजन करते थे। द्यूत-क्रीड़ा से उन्हें विशेष प्रेम था। पाँसों का खेल, आखेट, संगीत और नृत्य उनके मनोरंजन के साधन थे। बच्चे मिट्टी और धातुओं के खिलौनों से अपना मनोरंजन करते थे।

2. धार्मिक दशा

सिंधु घाटी के प्रदेश से प्राप्त मिट्टी की मूर्तियों, मुद्राओं, तावीजों और अन्य भग्नावशेषों से उस काल की धार्मिक दशा पर प्रकाश पड़ता है। उस काल में शिव की पूजा, प्रकृति देवी की पूजा, पशु-पुजा, वृक्ष-पूजा, जल-पूजा, अग्नि, सूर्य और जननेन्द्रियों की पूजा की जाती थी। पशुबलि देव पूजा की एक अंग समझी जाती थी।

---

1. "These ornaments are so well finished that they might have come out of Bond Street (London) Jeweller's of today rather than from a pre-historic house of 5000 years ago."
—*Sir John Marshall*

(अ) **शिव की पूजा**—मोहनजोदड़ो में प्राप्त एक मुहर पर शिव की एक विशेष प्रकार की आकृति अंकित है। चौकी पर योगासन मुद्रा में बैठे शिव के तीन मुँह और तीन नेत्र हैं तथा उसके दोनों ओर पशु खड़े हैं। बायीं ओर गेंडा और भैंसा तथा दांयीं ओर बाघ एवं हाथी खड़ा हुआ है। सामने दो सींगों वाला हिरण खड़ा है। शिव के दो सींग भी दिखाये गये हैं जो उनके दो त्रिशूलों के प्रतीक हैं। मोहनजोदड़ो में चीनी मिट्टी की एक अन्य मुहर पर योगासान मुद्रा में शिव की मूर्ति प्राप्त हुई है। शिव के दोनों ओर दो नाग तथा दो अन्य नाग सामने चित्रित किए गए हैं।

(आ) **मातृदेवी की उपासना**—शिव-पूजा के अतिरिक्त सिंधु निवासी मातृ-देवी की उपासना करते थे। मातृदेवी की मिट्टी की अनेक मूर्तियाँ मिली है। मिट्टी के बर्तनों, मुहरों और तावीजों पर मातृदेवी की प्रतिमा अंकित हैं। मातृदेवी को प्रसन्न करने के उद्देश्य से नरबलि और पशुवलि की प्रथा प्रचलित थी।

(इ) **पशु, वृक्ष और जल-पूजा**—मिट्टी की मूर्तियों पर अंकित चित्रों से विदित होता है कि उस काल में पशु, वृक्ष और जल की पूजा प्रचलित थी। पशुओं में बैल, भैंसे तथा गेंडे की शक्ति के प्रतीक के रूप में पूजा की जाती थी। वृक्षों में पीपल, नीम, खजूर, बबूल, शीशम आदि की पूजा प्रचलित थी। पीपल का वृक्ष सर्वाधिक पवित्र समझा जाता था। विद्वानों का मत है कि धार्मिक उत्सवों के अवसर पर जल पूजा की जाती थी।

(ई) **लिंग और योनि पूजा**—सिंधु घाटी के निवासी लिंग योनि की पूजा करते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में अनेक छोटे-बड़े लिंग मिले हैं। ये शिवलिंग शिव के प्रतीक समझे जाते थे। लिंग की भाँति योनि पूजा का प्रचलन था जो संभवतः मातृदेवी के प्रतीक थे।

(उ) **मूर्ति पूजा**—खुदाई में अनेक देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ मिली हैं। इस आधार पर यह विदित होता है कि सिंधु घाटी के लोग मूर्तियों की उपासना करते थे। वहाँ मन्दिरों के अवशेष नहीं मिले हैं। अतः विद्वानों का मत है कि सिंधु निवासी साकार परमात्मा के उपासक थे।

शिव, मातृदेवी, पशु, वृक्ष, जल, लिंग तथा योनि की पूजा के अतिरिक्त सिंधु घाटी के लोग सूर्य, द्विमुख देवता तथा गणेश के प्रतीक स्वस्तिक चिन्ह की पूजा करते थे। अवशेषों में प्राप्त धूप, दीपक तथा अग्निकुण्डों से ज्ञात होता है कि उस समय देवपूजा के अवसर पर वर्तमान समय की भाँति धूप का प्रयोग किया जाता था और अग्नि पूजा भी की जाती थी। विशाल और सार्वजनिक स्नानागारों और कुंडों के अवशेषों को देखकर विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि लोग धार्मिक अवसरों पर स्नान करते थे।

(ऊ) **मृतक-संस्कार**—सिंधु घाटी के निवासी मृतक संस्कार तीन प्रकार से करते थे : (1) मृतकों को पूरी समाधि दी जाती थी। (2) पहले उनके मृतक शरीर को पशु-पक्षियों को खिलाया जाता था, तत्पश्चात् उसे दफना दिया जाता था। (3)

मृतकों को जलाकर उनकी भस्म को हाँडियों में रखकर गाड़ दिया जाता था। हड़प्पा में कब्रगाह मिले हैं।

3. आर्थिक दशा

(अ) **कृषि**—सिंधु सभ्यता के निवासी आर्थिक रूप से समृद्ध थे। कृषि उनका प्रमुख व्यवसाय था। वे गेहूँ, जौ, कपास, मटर, धान, तिल की खेती करते थे। खजूर, नारियल, नींबू, अनार, तरबूज आदि फलों का उपभोग किया जाता था। अन्न और फलों के अतिरिक्त वे लोग मुर्गा, सूअर, भेड़, बकरी आदि पशुओं का मांस खाते थे। मछलियों का भी उपभोग किया जाता था। आवश्यकता के पश्चात् बचे अन्न को भंडारों में रखा जाता था।

(आ) **पशु-पालन**—कृषि के अतिरिक्त पशु-पालन उनका प्रमुख व्यवसाय था। बैल, गाय, भैंस, बकरी, सूअर, कुत्ता, हाथी और ऊँट उनके पालतु पशु थे। किन्तु घोड़े का ज्ञान उन्हें नहीं था।

(इ) **उद्योग-धन्धे**—खुदाई में अनेक बर्तन तथा हथियार मिले हैं। उनसे ज्ञात होता है कि सिंधु घाटी के लोगों को कांसा, ताँबा और टिन का ज्ञान था, किन्तु वे लौहधातु के ज्ञान से अपरिचित थे। मिट्टी के अनेक बर्तन मिले हैं। बर्तन कुम्हार द्वारा चाक पर चढ़ाकर तैयार किये जाते थे और उन पर सुन्दर और आकर्षक चित्रकारी की जाती थी। रूई को कातकर कपड़ा निर्मित किया जाता था। सोना, चाँदी, हाथी दाँत तथा मिट्टी और हड्डियों के सुन्दर आभूषण बनाने की कला में सिंधु निवासी दक्ष थे। तोल के लिए बट्टे और माप के साधन ज्ञात थे। खुदाई में तराजू मिले हैं। प्राप्त अवशेषों के आधार पर विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि उस काल में 13.2 इंच लम्बा फीट प्रचलित था। कुम्हार, सुनार, राज, लुहार, संगतराश, बुनकर उस काल के प्रमुख शिल्पी थे।

(ई) **व्यापार**—सिंधु सभ्यता के काल में व्यापार उन्नत अवस्था में था। जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। खुदाई में प्राप्त मुहरों पर जहाजों और नौकाओं के चित्र मिले हैं जिससे उस काल के सामुद्रिक व्यापार का ज्ञान होता है। उस काल में भारत का पश्चिमी देशों के साथ व्यापार होता था। आंतरिक व्यापार में बैलगाड़ियों का प्रयोग किया जाता था। नाप के लिए सीप की पटरियों तथा तौल के लिए पत्थर के विभिन्न प्रकार के बाट बने थे।

4. राजनीतिक दशा

सिंधु घाटी की खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि वहाँ लोकतंत्रात्मक शासन-पद्धति प्रचलन में थी। राजसत्ता राजा के हाथों में केन्द्रित न होकर जन-प्रतिनिधियों के हाथों में निहित थी। पिगट तथा व्हीलर महोदय का मत है कि सुमेर और अक्कद की भाँति मोहनजोदड़ो और हड़प्पा पुरोहितों के शासनाधीन था। वे जनहित का पूरा ध्यान रखते थे। विद्वानों का कथन है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा विशाल सिंधु साम्राज्य की दो राजधानियाँ

थीं। यद्यपि इन दो नगरों में 350 मील का अन्तर था, तथापि वे जल मार्गों द्वारा एक-दूसरे से संबद्ध थे। मोहनजोदड़ो में प्राप्त योजनाबद्ध नगरों के अवशेषों तथा सुव्यवस्थित सड़कों के निर्माण से विदित होता है कि कोई ऐसी व्यवस्था अवश्य थी जिससे सम्पूर्ण कार्य संचालित होता था। व्यवस्थित नगरों के भग्नावशेषों को देख कर सहज ही यह भाव उत्पन्न होता है कि उस काल में आधुनिक नगरपालिका की भाँति कोई संस्था अवश्य होगी। सिन्धु घाटी के निवासी शांतिप्रिय थे। उनके द्वारा हथियारों का निर्माण केवल आत्मरक्षा के लिए किया गया था।

5. कला

सिंधु सभ्यता के अन्तर्गत कला के क्षेत्र में असाधारण प्रगति हुई। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी का मत है कि कला के क्षेत्र में, विशेकर ढालने वाली कला में, सैंधव सभ्यता ने आकाश चूम लिया था।

(अ) **भवन निर्माण कला**—सिंधु घाटी की सभ्यता नगर प्रधान थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में एक निश्चित योजना के अनुरूप भवनों का निर्माण हुआ था। इतने पुरातन काल में विश्व की अन्य सभ्यताएं इतनी अधिक विकसित नहीं थीं। खुदाई से विदित होता है कि नगर में चौड़ी सड़कें, गलियाँ और नालियाँ बनाई गई थीं। सबसे अधिक चौड़ी सड़क 33 फीट ज्ञात होती है। सड़कें पूर्व से पश्चिम की ओर तथा उत्तर से दक्षिण की ओर जाती थीं। वे प्रायः एक-दूसरे को समकोण पर काटती थीं। सड़क को गन्दगी से बचाने के लिए निश्चित दूरी पर गड्ढे बने थे अथवा मिट्टी के बड़े-बड़े बर्तन रखे गये थे। सड़कों के किनारे ऊँचे-ऊँचे चबूतरे बने हुए थे तथा छायादार वृक्ष लगे हुए थे। सड़क और गली से दोनों ओर गन्दे पानी की निकासी हेतु नालियाँ वनी हुई थीं। सिंधु घाटी की नगर व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए डॉ० मजूमदार ने लिखा है—"मोहनजोदड़ो के खंडहरों को जो कोई व्यक्ति देखता है वह इन प्राचीन नगरों के आयोजन की कारीगरी तथा सफाई के प्रबन्ध से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। जैसा कि आंग्ल लेखक मैके ने लिखा है कि उन अवशेषों को देखकर व्यक्ति यह महसूस करता है कि वे लंकाशायर के किसी आधुनिक नगर के अवशेष हैं।"[1]

मकान कच्ची और पक्की दोनों प्रकार के ईंटों से निर्मित किए जाते थे। खुदाई में छोटे तथा बड़े दोनों प्रकार के भवनों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। धनी लोग एक से अधिक मन्जिल के मकान बनाते थे। उन पर मनोहर चित्र बनाये जाते थे।

---

1. "A visitor to the ruins of Mohenjodaro is struck by the remarkable skill in town-planning and sanitation displayed by the ancients and as an English writer Mackay has observed, feels himself surrounded by ruins of some present-day working town in Lankashire." —*Dr. R. C. Majumdar*

मोहनजोदड़ो में 85 फीट चौड़ा और 97 फीट लम्बा भवन मिला है जिसका आँगन 32 फीट वर्ग का है। फर्श बनाने के लिए ईंटों, खड़िया मिट्टी, गारा और चूने का प्रयोग किया जाता था। मोहनजोदड़ो में एक अन्य भवन 230 फीट लम्बा तथा 78 फीट चौड़ा मिला है। इतिहासकारों का मत है कि सम्भवतः वह शासकीय भवन था। हड़प्पा की खुदाई में 415 फीट लम्बी और 105 मीटर चौड़ी गढ़ी मिली है। गढ़ी के अन्दर चबूतरे पर सुन्दर भवन निर्मित किए गए थे। मोहनजोदड़ो में एक 71 फीट लम्बे और 71 फीट चौड़े हॉल के अवशेष मिले हैं। विद्वानों का मत है कि उस काल में निर्मित बड़े-बड़े भवन सार्वजनिक थे।

मोहनजोदड़ो की खुदाई में एक विशाल सार्वजनिक स्नानागार के अवशेष मिले हैं। स्नानागार का भवन 180 फीट लम्बा और 108 फीट चौड़ा है। इसके अन्दर का जलाशय $39\frac{1}{4}$ फीट लम्बा, 23 फीट चौड़ा और 8 फीट गहरा है। यह पक्की ईंटों का बना है और इसके समीप एक कुआँ मिला है। संभवतः इसी कुएं से जलाशय में पानी भरा जाता था। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने इस जलाशय के निर्माता को महान् श्रेय का पात्र कहा है। डॉ० मजूमदार ने इसे सबसे चित्ताकर्षक स्नानागार कहा है। इस स्नानागार के चारों ओर बरामदे और इनके पीछे कमरे बने हुए थे। इसमें स्नान हेतु गर्म जल की व्यवस्था थी। विद्वानों का मत है कि धार्मिक उत्सवों के अवसरों पर लोग इस स्नानागार में स्नान करते थे। सिंधु सभ्यता में निर्मित भवन उस काल की स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने हैं यद्यपि अब उनके केवल अवशेष मात्र शेष हैं।

(आ) **मूर्तिकला**—मूर्तिकला में सिंधु घाटी के निवासी सिद्धहस्त थे। मुलायम पत्थर और चट्टानों को काटकर मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। सिंधु घाटी में देवताओं, मनुष्यों और पशुओं की जो अनेक मूर्तियाँ मिली हैं वे उस काल की मूर्ति कला के प्रमाण हैं। धातुओं को पिघलाकर मूर्तियाँ बनाई जाती थीं, मिट्टी की भी अनेक प्रतिमाएं मिली हैं। सर्वाधिक सुन्दर एक नर्तकी की मूर्ति है। वह अपनी कमर पर हाथ रखकर नाचने की मुद्रा में खड़ी है। इस मूर्ति में प्रयुक्त कला की प्रंशसा करते हुए इतिहास मर्मज्ञ डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है कि दाहिने पाँव पर खड़ी, बाईं टाँग को सामने अवलंबित किए इस नर्तकी मूर्ति ने जिस सक्रिय, सजीव, गतिशील मुद्रा को प्रदर्शित किया है, निस्संदेह वह अप्रतिम है। उसके जोड़ का माडल इतिहास कालीन कला के सुविस्तृत क्षेत्र में एक भी नहीं है।

(इ) **चित्रकला**—सिंधु घाटी के निवासी चित्रकला में अभिरुचि रखते थे। भवनों की दीवारों, बर्तनों, मुहरों और कपड़ों पर सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। बर्तनों पर चमकीला पॉलिश करके अनेक प्राकृतिक और पशु-पक्षियों के चित्र बनाये जाते थे। सर्वाधिक सुन्दर और मनोहर चित्र सांड और बैलों के बने हैं।

(ई) **लेखनकला**—सिंधु घाटी के लोग लेखन कला से अवगत थे। उस काल में दाहिनी ओर से बाईं ओर और बाईं से दाहिनी ओर को लिखने की शैली

प्रचलित थी। खुदाई में लेख अंकित 550 मुहरें प्राप्त हुई हैं। इस लिपि को अभी तक स्पष्ट रूप से नहीं पढ़ा जा सका है।

(उ) **संगीत और नृत्य कला**—सिंधु घाटी के निवासी संगीत और नृत्य में रुचि रखते थे। मुहरों पर वीणा, तबले, ढोल आदि के चित्र तथा नर्तकी की मूर्ति मिली हैं जो उस काल के संगीत और नृत्य कला के द्योतक हैं।

(ऊ) **अन्य कलाएँ**—सिंधु घाटी के लोग मिट्टी के बर्तन बनाने की कला, धातुकला, नक्काशी की कला, मुहर बनाने की कला तथा कताई, बुनाई की कला में भी दक्ष थे।

सिंधु घाटी की सभ्यता का विनाश—सिंधु सभ्यता के विनाश के लिए कौन-सी परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। कोई भी ऐसा अकाट्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है जो इस सभ्यता के विनाश का कारण प्रस्तुत कर सके। कुछ विद्वानों का मत है कि सिंधु नदी में बाढ़ आ जाने से यह सभ्यता काल के गर्भ में समा गई। कुछ विद्वानों ने इस सभ्यता के विनाश का कारण भूकम्प बताया है। अकाल अथवा महामारी भी इसके पतन का कारण बताई गई है। यह भी कहा जाता है कि मध्य एशिया की बर्बर जातियों ने आक्रमण करके सिंधु सभ्यता को नष्ट कर दिया। अधिकांश विद्वानों का मत है कि आर्य जाति के लोग युद्धप्रिय, बलिष्ठ और शक्तिशाली थे। उन्हें लोहे और घोड़े का ज्ञान होने के कारण वे सिंधु निवासियों से अधिक शक्तिशाली थे। उन्होंने ही सिंधु घाटी के निवासियों को पराजित कर उनकी सभ्यता को विनष्ट कर दिया। पराजित सिंधु निवासियों को उन्होंने अपना दास बना लिया। ऋग्वेद में दासों का उल्लेख मिलता है। विद्वानों ने ऋग्वेद में वर्णित दासों का समीकरण सिंधु घाटी के निवासियों (द्रविड़ जाति) के साथ स्थापित किया है।

सिंधु सभ्यता का हिन्दू धर्म पर प्रभाव

सिंधु घाटी की सभ्यता एक उच्च कोटि की विस्तृत सभ्यता थी। यह सभ्यता नगर-प्रधान थी। उसने हिन्दू धर्म को अनेक क्षेत्रों में प्रभावित किया। वर्तमान समय में भी हिन्दू धर्म पर उसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस सन्दर्भ में डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार का यह कथन उल्लेखनीय है—"सिंधु घाटी की प्राचीन सभ्यता तथा वर्तमान हिन्दूधर्म में एक आंगिक सम्बन्ध है।" हिन्दू धर्म पर सिंधु घाटी के धर्म के प्रभाव का उल्लेख करते हुए आंग्ल विद्वान् स्टुअर्ट पिगट ने लिखा है—"हड़प्पा निवासियों के धर्म और समकालीन हिन्दू धर्म की कड़ियां अत्यन्त रोचक हैं क्योंकि वे हिंदू धर्म की बहुत-सी विशिष्टताओं पर प्रकाश डालती हैं जिनकी उत्पत्ति आर्य परम्पराओं से नहीं हो सकती है। ये बातें हिन्दू धर्म में हड़प्पा की सभ्यता के पतन के पश्चात् आईं। पुराने विश्वास मुश्किल से मरते हैं। यह भी सम्भव है कि प्रारम्भिक हिन्दू

समाज को संस्कृत भाषी आक्रमणकारियों की अपेक्षा हड़प्पा की अधिक देन हो।"[1]

मुख्यतः सिंधु सभ्यता के निम्नलिखित प्रभाव हिन्दू धर्म पर दृष्टिगोचर होते हैं—

1. **पशु पूजा**—पशु पूजा की परम्परा सिंधु घाटी के निवासियों ने प्रारम्भ की थी। हिन्दू धर्म में भी पशु पूजा को महत्त्व दिया गया है। यह प्रभाव वर्तमान समय तक हिन्दू धर्म में व्याप्त है। मैके का कथन है कि सिंधु निवासी सर्प की पूजा करते थे। हिन्दू भी नागदेवता की पूजा करते हैं।

2. **वृक्ष पूजा**—सिंधु घाटी के लोग पीपल, नीम, खजूर, बबूल आदि वृक्षों की पूजा करते थे। पीपल के वृक्षों को वे अत्यधिक पवित्र मानते थे। हिन्दू धर्म में वर्तमान समय तक पीपल के वृक्ष की पूजा प्रचलित है।

3. **मूर्ति पूजा**—खुदाई में प्राप्त देवी-देवताओं की अनेक प्रतिमाओं से विदित होता है कि सिधु निवासी मूर्ति पूजा में विश्वास करते थे। हिन्दू धर्म के अनुयायी भी मूर्ति पूजा करते हैं। यदि यह कहा जाय कि मूर्ति पूजा हिन्दूधर्म का आधार बन चुका है, तो अतिशयोक्ति न होगी। मूर्ति पूजा की जिस परम्परा को सिंधु घाटी के लोगों ने प्रारम्भ किया, हिन्दू धर्म ने उसे ग्रहण कर उसके विकास में भारी योग दिया।

4. **शिव पूजा**—सिंधु घाटी के अवशेषों में अनेक छोटे-बड़े लिंग मिले हैं। वे लिंग पूजा में आस्था रखते थे। सिंधु घाटी के निवासियों की भाँति हिन्दू धर्म के अनुयायी लिंग पूजा में विश्वास करते हैं। सिंधु निवासी शिव की उपासना को विशेष महत्त्व देते थे। हिन्दू समाज में शिव की आराधना की अधिकता है।

5. **मातृदेवी, सूर्य और जल-पूजा**—सिंधु घाटी के लोग मातृदेवी, सूर्य और जल की पूजा करते थे। हिन्दू धर्म पर उसका यह प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सर जॉन मार्शल का कथन है कि किसी भी देश में मातृदेवी की पूजा ने इतनी गहरी जड़ नहीं पकड़ी जितनी कि भारत में। हिन्दू धर्म के अनुयायी सिंधु निवासियों की भाँति अग्नि की पूजा करते हैं।

6. **पशु बलि**—सिंधु सभ्यता के अन्तर्गत पशुबलि को देव पूजा का एक अंग माना जाता था। पशु-बलि की प्रथा हिन्दू धर्म में भी दृष्टिगोचर होती है।

---

1. The limbs between Harappa religion and contemporary Hinduism are of course of immense interest, provide, as they do, some explanation of those many features that can not be derived from the Aryan traditions, brought into India after or concurrently with the fall of Harappa civilization. The old faiths die hard. It is even possible that early Hindu society owes more to Harappa than it did to Sanskrit speaking invaders. —*Stuart Piggot*

मध्ययुग में तो यह धार्मिक प्रथा (पशुबलि) सर्वमान्य रही और आज भी सीमित अंशों में विद्यमान है। मानसिक रूप से अविकसित हिन्दू वर्तमान समय में भी देवताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से पशुओं की बलि चढ़ाते हैं। यदा-कदा नरबलि के समाचार भी मिलते हैं।

7. **भावनाओं पर विश्वास**—सिंधु घाटी के निवासी आत्मा की अमरता, परलोक और पुनर्जन्म की भावना पर विश्वास करते थे। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में इन सिद्धांतों का विशद विवेचन दृष्टिगोचर होता है। हिन्दू उक्त भावनाओं में अटूट विश्वास और श्रद्धा रखते हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सिंधु घाटी की सभ्यता विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में से एक है। विकास की दृष्टि से इस सभ्यता का स्थान सर्वप्रथम है। सर जॉन मार्शल ने सिंधु घाटी की सभ्यता को विश्व की अन्य सभ्यताओं का स्रोत बताते हुए लिखा है—"सिंधु घाटी की सभ्यता के बारे में जो नवीन खोजें हुई हैं, उनसे यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि भारत पहले सुमेर सभ्यता का और तदुपरांत पश्चिम एशिया की अन्य सभ्यताओं का स्रोत था।"[1] हाल महोदय का विचार है कि सुमेर जाति ने अपनी मभ्यता भारत से सीखी थी। सिंधु घाटी की सभ्यता नगर प्रधान (नगरीय) थी। यह भारत के लिए गौरव की बात है कि ई० पू० 3500 में, जब विश्व के कुछ देशों में सभ्यता अपने प्रारम्भिक चरणों में थी, यहाँ नगरीय सभ्यता विद्यमान थी। वह एक विस्तृत सभ्यता थी। प्रोफेसर गार्डन चाइल्ड ने उसे मिश्र की सभ्यता से भी अधिक विस्तृत बताया है।

सिंधु घाटी की सभ्यता जहाँ एक ओर विश्व की अनेक सभ्यताओं का स्रोत थी, वहीं दूसरी ओर उसने हिन्दू धर्म को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि सिंधु घाटी की सभ्यता के लोगों के विचार, धारणाएं और सिद्धांत अनेक अंशों में हिंदू धर्म के पूर्ववाही हैं। हिंदू धर्म और सिंधु घाटी की प्राचीन संस्कृति का अविच्छिन्न स्वाभाविक सम्बन्ध है। विद्वानों का कथन है कि सिंधु घाटी की सभ्यता का धर्म हिन्दू धर्म के पूर्व पुरुष के समान है, जिससे उसकी उत्पत्ति और विकास हुआ। सिंधु घाटी की सभ्यता के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए प्रोफेसर चाइल्ड ने लिखा है—"सिंधु-सभ्यता परिस्थितियों के अनुकूल बहुत अच्छी तरह ढले हुए मानव जीवन की द्योतक है और इस पर पहुँचने में उसे कई वर्ष लगे होंगे। यह भवन-निर्माण और उद्योग के साथ स्वच्छ वेशभूषा तथा धर्म में आधुनिक भारतीय संस्कृति का आधार है। मोहनजोदड़ो में ऐसी विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं जो ऐतिहासिक भारत में सदैव विद्यमान रही हैं।"

---

1. "The discoveries in the Indus Valley suggested the possibility of India proving ultimately to be the cradle of the Sumarian and later Civilization of Westesn Asia."

—*Sir John Marshall*

सिंधु घाटी की सभ्यता और आर्य सभ्यता की तुलना

भारतवर्ष में सिंधु घाटी की सभ्यता के पश्चात् आर्य सभ्यता (वैदिक सभ्यता) का विकास हुआ। विद्वानों का मत है कि अधिक बलिष्ठ होने के कारण आर्यों ने सिंधु-सभ्यता के निवासियों को पराजित करके उनकी सभ्यता का अन्त कर दिया। सिंधु घाटी की सभ्यता का काल लगभग 3500 ई० पू० से 2200 ई०पू० तक माना जाता है, जब कि ऋग्वैदिक सभ्यता का काल 2500 ई० पू० से 1000 ई० के मध्य निर्धारित किया गया है। ये दोनों सभ्यताएँ दो भिन्न जातियों की सभ्यताएँ थीं। सिंधु-सभ्यता आर्य सभ्यता से पुरातन है। दोनों सभ्यताओं के निवासी एक ही प्रकार का भोजन किया करते थे, एक जैसे हथियार बनाते थे और एक जैसे वस्त्र धारण करते थे। सूती और ऊनी दोनों प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। दोनों सभ्यताओं के निवासी आभूषण प्रेमी थे। स्त्री और पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे। सिंधु और आर्य दोनों सभ्यताओं के निवासियों का मुख्य व्यवसाय कृषि तथा पशुपालन था। गाय, बैल, कुत्ता, बकरी आदि दोनों के पालतू पशु थे। दोनों धार्मिक भावनाओं में विश्वास रखते थे, यद्यपि दोनों के धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाजों में भिन्नता थी। इस प्रकार विदित होता है कि सिंधु-सभ्यता और आर्य सभ्यता में पर्याप्त समानताएँ थीं। इन पर्याप्त समानताओं के बावजूद उनमें अनेक विषमताएँ व्याप्त थीं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. **सिंधु घाटी की सभ्यता आर्य सभ्यतासे अधिक प्राचीन थी**—सिंधु घाटी की सभ्यता और आर्य सभ्यता में विषमताओं का अध्ययन करने से पूर्व सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य बात यह है कि सिंधु सभ्यता और आर्य-सभ्यता के काल में अन्तर था। सिंधु घाटी की सभ्यता का काल लगभग 3500 ई० पू० से 2200 ई० पू० तक माना जाता है जब कि वैदिक सभ्यता की अवधि 2500 ई० पू० से 1000 ई० पू० तक निर्धारित की गई है।

2. **सिंधु-सभ्यता नगर-प्रधान सभ्यता थी, जबकि आर्य सभ्यता ग्राम-प्रधान थी**—सिंधु घाटी की खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर विदित होता है कि सिंधु-सभ्यता नगर-प्रधान सभ्यता थी। नगर के अनुरूप बने भवन, नालियाँ, चौड़ी सड़कें और नगर प्रशासन इसके सबल प्रमाण हैं। सिंधु घाटी के निवासी योजनाबद्ध पक्की ईंटों के मकान बनाते थे। उस काल में बने विशाल स्नानागार और कुएँ सिंधु घाटी की सभ्यता को विकसित सभ्यता का स्वरूप प्रदान करते हैं। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल और रोपड़ (अहमदाबाद और पंजाब) सिंधु-सभ्यता के प्रमुख नगर थे।

ऋग्वैदिक काल में आर्य गाँवों और आश्रमों में निवास करते थे। उनकी सभ्यता ग्राम-प्रधान थी। उन्हें नागरिक जीवन का ज्ञान नहीं था। आर्य गांवों में घास फूस के मकान बनाकर निवास करते थे। ऋग्वेद में नगरों का बहुत कम उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में अनेक गाँवों तथा उनके सरदारों का वर्णन मिलता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सिंधु-सभ्यता नगरों में केन्द्रित थी और आर्य सभ्यता ग्राम-प्रधान थी।

3. आर्यों को लोहे और घोड़े का ज्ञान था, परन्तु सिंधु निवासी लोहे और घोड़े के ज्ञान से अनभिज्ञ थे—सिंधु घाटी के निवासियों को लोहे और घोड़े का ज्ञान नहीं था। खुदाई में कोई भी अवशेष ऐसे नहीं मिले हैं जो यह प्रमाणित कर सकें कि उन्हें लोहे और घोड़े का ज्ञान था। वे पत्थर, ताँवे और पीतल के हथियार बनाते थे।

आर्य लोग लोहे और घोड़े के ज्ञान से परिचित थे। वे लोहे के तेज धार वाले हथियार बनाते थे। हथियारों के लिए वे पाषाण का प्रयोग नहीं करते थे। आर्य लोग घोड़े का प्रयोग रथ खींचने और युद्ध लड़ने में किया करते थे। लोहे और घोड़े का ज्ञान होने के कारण आर्य सिंधु घाटी के द्रविड़ों से अधिक बलिष्ठ थे।

4. सिंधु-सभ्यता व्यापार-प्रधान थी और आर्य सभ्यता कृषि-प्रधान थी—सिंधु सभ्यता व्यापार-प्रधान थी। वैदिक काल की अपेक्षा सिंधु घाटी की सभ्यता के काल में व्यापार उन्नत अवस्था में था। सिंधु निवासी व्यापार में नाप तौल के लिए 'बाट' का प्रयोग करते थे। खुदाई में अनेक बाट मिले हैं। उस काल में लघु और बड़े दोनों प्रकार के उद्योग थे।

आर्य सभ्यता कृषि-प्रधान थी। आर्य गाँवों में रहते थे। संभवतः उनके काल में व्यापार का माध्यम वस्तु-विनिमय था। कृषि और पशुपालन आर्यों के प्रमुख व्यवसाय थे।

5. पशुपालन—द्रविड़ और आर्य दोनों जाति के लोग गाय, बकरी, बैल, कुत्ता आदि पशु पालते थे। खुदाई में प्राप्त असंख्य मुहरों पर बनी आकृतियों से विदित होता है कि सिंधु घाटी के लोग बैल को विशेष महत्त्व देते थे। वे बैल की पूजा करते थे तथा गोमाँस खाते थे।

आर्यों के पालतू पशुओं में घोड़े का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वह सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पशु था। आर्य लोग गाय की पूजा करते थे। गोवध करने वाले को दंडित किया जाता था। गाय पुरस्कार के रूप में भी दी जाती थी। ऋग्वेद में बाघ का उल्लेख नहीं मिलता है और हाथी का उल्लेख भी नाममात्र को मिलता है। सिंधु निवासी बाघ और हाथी से परिचित थे।

6. सामाजिक स्तर—सिंधु निवासियों का सामाजिक जीवन सुखी और समृद्ध था। आर्यों का सामाजिक जीवन सरल और सादा था। सिंधु निवासी विलास-प्रिय और वैभव सम्पन्न जीवन व्यतीत करते थे। आर्यों का जीवन सरलता और पवित्रता पर आधारित था। सिंधु घाटी के निवासी भौतिकवादी थे। आर्य आध्यात्मिकता पर अधिक जोर देते थे।

7. अस्त्र-शस्त्र—सिंधु घाटी के निवासी शांतिप्रिय प्रवृत्ति के थे। वे युद्ध केवल आत्मरक्षा हेतु करते थे। इसके विपरीत आर्य युद्धप्रिय और खूंखार लड़ाके थे। वे रक्षात्मक तथा आक्रामक युद्ध में प्रवीण थे। द्रविड़ लोग ताम्र, कांस्य और पाषाण के हथिहार बनाते थे जिनका निर्माण स्तर निम्न कोटि का था। आर्य लोहे के तेज धार वाले हथियार बनाते थे। उनका निर्माण स्तर सिंधु निवासियों के निर्माण

स्तर की अपेक्षा उच्च कोटि का था। आर्य लोग युद्ध में शिरस्त्राण और कवच नामक शस्त्रों का प्रयोग करते थे। सिंधु निवासी इन हथियारों के ज्ञान से अनभिज्ञ थे। आर्य स्वभावतः युद्धप्रिय थे। ऋग्वेद में दस राजाओं के युद्धों का उल्लेख मिलता है।

8. **धर्म**—सिंधु घाटी के निवासी मूर्ति-पूजा करते थे। वे शिव, मातृशक्ति, वृक्ष, पशु, परम पुरुष और लिंग की पूजा करते थे। अग्नि, यज्ञ और हवन को महत्त्व नहीं दिया जाता था।

आर्य प्रकृति की शक्तियों की पूजा करते थे। वे अग्नि, सूर्य, उषा, पृथ्वी वरुण, इन्द्र, वायु, सोम आदि देवताओं की उपासना करते थे। आर्य मूर्ति पूजा नहीं करते थे। वे लिंग पूजा के विरोधी थे। अग्नि, यज्ञ और हवन को धार्मिक क्रियाओं में अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। आर्यों की अपेक्षा सिंधु घाटी के निवासी स्नान को अधिक महत्त्व देते थे। सिंधु घाटी की खुदाई में प्राप्त अनेक स्नानागार इसके प्रमाण हैं।

9. **कला**—द्रविड़ कलाप्रेमी थे, उस काल की मुहरों, सिक्कों, तावीजों, चित्रों और मिट्टी के बर्तनों पर की गई चित्रकारी से विदित होता है कि वे कलाप्रेमी थे। व्यवस्थित नगरों, बड़े-बड़े भवनों, नालियों और विशाल सड़कों के निर्माण से विदित होता है कि सिंधु निवासी भवन-निर्माण कला में दक्ष थे।

आर्य कलाप्रेमी थे। किन्तु उनकी कला द्रविड़ों की कला की भाँति उच्च कोटि की नहीं थी। वे सिंधु घाटी के निवासियों की भाँति मिट्टी के बर्तनों पर चमक लाने की कला से अनभिज्ञ थे।

10. **लेखन कला**—सिंधु घाटी के लोगों को लेखन कला का ज्ञान था। वे दायें से बायें और बायें से दायें लिखा करते थे। मुहरों से उस काल की लेखनकला पर प्रकाश पड़ता है। सिंधु सभ्यता की लिपि को अभी तक स्पष्ट रूप से नहीं पढ़ा जा सका है। आर्य लेखनकला की अपेक्षा मौखिक शिक्षा को महत्त्व देते थे। वेदों के मंत्रों को कंठस्थ किया जाता था। उन्हें लिपिबद्ध करना धर्मविरुद्ध समझा जाता था। द्रविड़ों की अपेक्षा आर्यों का बौद्धिक स्तर ऊँचा था।

11. **मनोरंजन के साधन**—द्रविड़ लोग आंतरिक खेलप्रेमी थे। वे जुआ, चौपड़, नृत्य आदि खेलों को अधिक महत्त्व देते थे। आर्य बाहर खेले जाने वाले खेलों को पसन्द करते थे। वे शिकार खेलने, रथदौड़, घुड़दौड़ आदि में रुचि रखते थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सिंधु घाटी की सभ्यता की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए तथा उसके महत्त्व का उल्लेख कीजिए।
2. मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त सामग्री के आधार पर सिंधु घाटी की सभ्यता की विवेचना कीजिए।

3. सिंधुघाटी की सभ्यता के विषय में आप क्या जानते हैं ? आर्यों की सभ्यता में उसके कौन से चिन्ह दिखलाई देते हैं ?
4. "सैंधव सभ्यता का धर्म आधुनिक हिन्दू धर्म का पूर्ववाही था।" विवेचना कीजिए।
5. सिंधु घाटी के निवासियों के धार्मिक और सामाजिक जीवन का वृत्तांत लिखिए।
6. सिंधु घाटी की सभ्यता पर प्रकाश डालिए। उसने हिन्दू धर्म को कहाँ तक प्रभावित किया।
7. सिंधु-सभ्यता एवं ऋग्वैदिक सभ्यता का तुलनात्मक वर्णन कीजिए।

7

वैदिक सभ्यता

सिंधु सभ्यता के पश्चात् भारतवर्ष में जिस सभ्यता का विकास हुआ, वह वैदिक सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में उसे आर्य सभ्यता का नाम दिया गया है। वैदिक सभ्यता आर्य जाति की सभ्यता है। विद्वानों का मत है कि इन्हीं आर्यों ने द्रविड़ों को पराजित करके सिंधु घाटी की सभ्यता का अन्त किया। ऋग्वेद में आर्य सभ्यता पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। आर्य शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। आर्य संस्कृत शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ श्रेष्ठ होता है। आर्य लोग हृष्ट-पुष्ट, गौर वर्ण, लम्बी नाक वाले तथा आकर्षक व्यक्तित्व के थे। वे वीर और साहसी थे। भारत, ईरान और यूरोप के विभिन्न देशों के निवासी इन्हीं आर्यों की संतान माने जाते हैं। अपनी सभ्यता के प्रारम्भिक चरण में आर्य घुमक्कड़ प्रवृत्ति के थे तथा वे कृषि और पशुपालन से अवगत थे। वे स्वभावतः युद्ध-प्रिय थे।

ऋग्वेद में जिस आर्य सभ्यता का वर्णन किया गया है, उसके मूल निवास स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आर्य कौन थे, उनका मूल स्थल कहाँ था, यह भारतीय इतिहास का एक विवादास्पद प्रश्न है।

आर्यों का मूल निवास स्थान

आर्यों के मूल निवास स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मतभेद दिखाई देते हैं। इतिहास, भाषा-विज्ञान, नस्ल, पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजों के आधार पर इतिहासकारों ने आर्यों के मूल निवास स्थान भिन्न-भिन्न प्रदेश बताए हैं। आर्यों के मूल निवास स्थान के सम्बन्ध में जो मत प्रचलित हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

1. **यूरोपीय सिद्धान्त**—भाषा-विज्ञान के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि आर्यों का निवास स्थान यूरोप था। यहीं से वे बाद में पूर्व और पश्चिम की ओर अग्रसर हुए। सर विलियम जोन्स ने यूनानी, जर्मनी, अंग्रेजी, लैटिन, संस्कृत तथा फारसी भाषाओं का एक सामान्य उद्‌गम बताया है।

आर्यों का आदि स्थान यूरोप को मानने वाले विद्वानों में उनके मूल स्थान विशेष के संदर्भ में मतभेद हैं। विभिन्न विद्वानों ने उनका मूल स्थान हंगरी, जर्मन प्रदेश, पश्चिमी बाल्टिक समुद्र-तट तथा रूस बताया है। डॉ० पी० गाइल्स का मत है कि आस्ट्रिया-हंगरी का मैदान आर्यों का मूल प्रदेश था। आर्य इस मैदान में पाये जाने वाले सभी प्रकार के पशुओं और वनस्पतियों से परिचित थे। बाद में यहीं से वे एशिया माइनर, मेसोपोटेमिया और ईरान होते हुए भारत में प्रविष्ट हुए। पेन्का महोदय ने आर्यों का मूल स्थान जर्मन प्रदेश बताया है। नेहरिंग दक्षिणी रूस के घास के मैदान को आर्यों का आदि स्थान मानते हैं। मच महोदय पश्चिमी बाल्टिक समुद्रतट को आर्यों का मूल निवास स्थान बताते हैं। हर्ट का मत है कि आर्यों का आदि स्थान यूरोप था और बाद में उन्होंने ईरान और भारत में प्रवेश किया।

आलोचना—पाश्चात्य विद्वानों ने आर्यों का मूल प्रदेश यूरोप बताया है। उनका कथन है कि जिन पशुओं और वनस्पतियों के ज्ञान से आर्य परिचित थे, वे यूरोप के शीतोष्ण कटिबंध में स्थित मैदान में पाये जाते हैं। एशिया की अपेक्षा यूरोप में आर्यों की जनसंख्या अधिक थी। इन विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के आधार पर आर्यों का आदि स्थान यूरोप में सिद्ध करने का प्रयास किया है।

किन्तु भारतीय विद्वान भाषा-विज्ञान के आधार पर यूरोप को आर्यों का मूल आदि स्थान मानने को तैयार नहीं हैं। वे आर्यों का मूल प्रदेश यूरोप को मानने वाले मत के विरोध में यह कहते हैं कि भाषा-विज्ञान का आधार भ्रममूलक है। अपने कथन की पुष्टि में वे कहते हैं कि कोई भी वस्तु अथवा पशु ऐसा विदित नहीं होता कि जो मूलतः यूरोपीय हो और जिसका पूर्वी तथा पश्चिमी आर्य सभ्यता में एक-सा नाम हो। उनका मत है कि किसी एक प्रदेश में दो परस्पर विरोधी जातियां निवास कर सकती हैं और उनमें भाषा सम्बन्धी साम्य हो सकता है। डॉ० संपूर्णानन्द का कथन है—"भाषा और सभ्यता के बाह्य आडम्बर के एक होने से वंश की एकता सिद्ध नहीं होती।" यूरोप में आर्य सभ्यता का कोई अवशेष नहीं मिलता है और भारतीय आर्यों के वेदों जैसा उनका कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं होता है। अतः मात्र भाषा-विज्ञान के आधार पर यूरोप को आर्यों का आदि स्थान सिद्ध करना नितांत असंगत है।"

2. मध्य एशिया का सिद्धान्त—भारतीय आर्यों का धार्मिक ग्रन्थ ऋग्वेद है और ईरानी आर्यों का धार्मिक ग्रन्थ जेन्द अवेस्ता है। इन दोनों ग्रंथों में भाषा की समानता है। अतः विद्वानों का मत है कि भारत और ईरान में आने वाले आर्यों का मूल निवास स्थान मध्य एशिया रहा होगा। अपने मत की पुष्टि में वे कहते हैं कि आर्यों को कृषि और पशुपालन का ज्ञान था। उनके पास विशाल चरागाह थे तथा वे घोड़े का प्रयोग करते थे। ये सभी चीजें मध्य एशिया में पाई जाती हैं। ऋग्वेद और जेन्द अवेस्ता में वर्णित उपकरण मध्य एशिया में प्राप्त होते हैं। सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए जिन वस्तुओं और जलवायु की आवश्यकता होती है वे मध्य एशिया में विद्यमान थीं। इस आधार पर विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि आर्यों का आदि निवास स्थान मध्य एशिया था और यहीं से वे ईरान, यूरोप

और भारत वर्ष में प्रविष्ट हुए। इस मत को मानने वाले विद्वानों में से मैक्समूलर का नाम प्रमुख है।

मध्य एशिया का कौन-सा स्थान आर्यों का आदि निवास था, इस सम्बन्ध में मतभेद हैं। एडवर्ड मेयर का मत है कि मध्य एशिया का पामीर प्रदेश आर्यों का मूल स्थान था। मोट्जे और हर्ज फेल्ड जैसे विद्वान् रूसी तुर्कीस्तान को आर्यों का आदि निवास मानते हैं। ब्रेंड स्टीन का मत है कि आर्यों का मूल निवास स्थान किरगीज स्टेप्स का मैदान था। जे० जी० रोड ने बैक्ट्रिया को आर्यों का आदि देश बताया है।

आलोचना—कुछ विद्वान् आर्यों का आदि निवास स्थान मध्य एशिया के सिद्धांत की आलोचना करते हैं। उनका कथन है कि आर्य लोग उपजाऊ, जल-बहुल और चरागाहों से युक्त प्रदेश में निवास करते थे, जिसका मध्य एशिया में अभाव था। मध्य एशिया के निवासियों पर आर्य सभ्यता का कोई भी चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता है। ऋग्वेद में मध्य एशिया के वर्णन का संकेत तक नहीं मिलता है। अतः मध्य एशिया को आर्यों का मूल प्रदेश मानना सत्य से परे जाना है।

3. **उत्तरी ध्रुव प्रदेश का सिद्धान्त**—वेदों के ज्ञाता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने यह मत प्रतिपादित किया है कि आर्यों का मूल निवास प्रदेश उत्तरी ध्रुव प्रदेश था। अपने मत की पुष्टि में वे वेदों और जेन्द अवेस्ता के उस विवरण को उद्धृत करते हैं जिसमें छः माह तक दिन और छः माह तक रात्रि का वर्णन है। उत्तरी ध्रुव प्रदेश में छः माह रात्रि और छः माह दिन रहता है। जेन्द अवस्ता से विदित होता है कि भीषण हिमपात होने के कारण आर्यों को अपना मूल निवास स्थान छोड़ना पड़ा। तिलक का कथन है कि भयंकर हिमपात के कारण आर्य उत्तरी ध्रुव प्रदेश को छोड़ कर ईरान, भारत तथा अन्य देशों में निवास हेतु प्रविष्ट हुए।

आलोचना—विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक द्वारा प्रतिपादित मत से (आर्यों का आदि देश उत्तरी ध्रुव प्रदेश था) सहमत नहीं। तिलक के मत की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि यदि उत्तरी ध्रुव प्रदेश आर्यों की मातृभूमि होती तो वे उसका वर्णन वेदों में अवश्य करते। आर्यों ने सप्तसिंधु को 'देवकृत योनि' कहा है और आर्य साहित्य में उत्तरी ध्रुव प्रदेश का उल्लेख नहीं मिलता है। अतः निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि उत्तरी ध्रुव प्रदेश आर्यों का मूल निवास स्थान नहीं था।

4. **भारतीय सिद्धान्त**—भारतीय, चीनी, तुर्क, मुगल, आदि विद्वानों ने आर्यों का मूल निवास स्थान भारत बताया है। विद्वानों का मत है कि भाषाओं में तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उन्हें विदेशी सिद्ध करना तर्क असंगत है। भारतीय विद्वानों का मत है कि आर्य भारतीय थे और यहीं से वे ईरान, 'मध्य एशिया और यूरोप को गये। पंडित गंगानाथ झा का कथन है कि आर्यों का मूल प्रदेश ब्रह्मर्षि देश था। डॉ० अविनाश चन्द्र दास तथा डॉ० सम्पूर्णानन्द का मत है कि आर्यों का आदि देश सप्तसिंधु था। डॉ० अविनाश चन्द्र दास ने लिखा है—"आर्यों का आदि देश सप्तसिंधु ही था जिसमें उत्तर की ओर कश्मीर की सुन्दर घाटी और

पश्चिम की ओर गांधार सम्मिलित था। इसकी दक्षिणी सीमा राजपूताना थी और पूर्वी सीमा में गंगानदी का मैदान सम्मिलित था। यह गांधार और काबुलिस्तान की दिशा में भूमि द्वारा जुड़ा हुआ था जहाँ से आर्यों की अनेक शाखाएं पश्चिम तथा यूरोप की ओर अग्रसर हुईं।"[1] डी० एस० त्रिवेदी का मत है कि आर्यों का मूल प्रदेश मुल्तान के समीप देविकानन्द प्रदेश था। कल्ल महोदय कश्मीर और हिमालय के प्रदेश को आर्यों का आदि निवास स्थान बताते हैं। राजबली पाण्डेय ने मध्य प्रदेश (उत्तर प्रदेश और बिहार) को आर्यों का आदि देश बताया है। उन्होंने लिखा है—"सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में एक भी संकेत नहीं मिलता है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि भारतीय आर्य कहीं बाहर से आये थे। भारतीय अनुश्रुति अथवा जनश्रुति में कहीं इस बात की गंध भी नहीं पाई जाती कि भारतीय आर्यों की पितृभूमि या धर्मभूमि इस देश से कहीं बाहर थी।"

उपरोक्त विवरण से विदित होता है कि आर्य मूलरूप से भारतीय थे। इस मत के समर्थक विद्वानों का कथन है कि आर्यो के धार्मिक ग्रन्थ ऋग्वेद में जिस भौगोलिक स्थिति का वर्णन किया गया है, वह भारतवर्ष की ही प्रतीत होती है। आर्यों ने अपने ग्रन्थों में बाहर से आने का वर्णन न करके केवल सप्त-सिंधु का गुणगान किया है। आर्य लोग गेहूँ और जौ की खेती करते थे, जो सप्तसिंधु की प्रमुख पैदावार थी।

निष्कर्ष—आर्यों के मूल निवास स्थान के सम्बन्ध में चार प्रमुख सिद्धान्तों के अध्ययन के उपरान्त यह विदित होता है कि इनमें से कोई भी मत इतना ठोस नहीं है कि उसे प्रामाणिक माना जा सके। कुछ विद्वानों ने उन्हें भारत से बाहर बताया है तो कुछ इतिहासकारों ने उन्हें भारत का मूल निवासी सिद्ध किया है। आर्यों के धार्मिक ग्रन्थ ऋग्वेद में भारत का वर्णन मिलता है। उसमें कहीं पर भी उनके विदेश से आने का संकेत नहीं मिलता है। भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त यूनानी, चीनी, तुर्की और मुसलमान इतिहासकार आर्यों को भारतीय बताते हैं। ऋग्वेद में आर्यों ने सप्तसिंधु को अपना देश मानते हुए उसका गुणगान किया है। अतः इस बात की अधिक संभावना है कि आर्यों का आदि देश सप्तसिंधु था। वी० एन० लूनिया के अनुसार, "यह सप्तसिंधु प्रदेश अफगानिस्तान से लेकर गंगा नदी के पश्चिमी क्षेत्र तक विस्तृत था।" ऋग्वेद में

---

1. The original cradle of the Aryans was, therefore, Saptasindhu which included the beautiful valley of Kashmir on the north and Gandhara on the west. Its southern boundary was the Rajputana and its eastern boundary covered the Gangetic touch. It was connected by land with Asia in the direction of Gandhara and Kabulistan, through which waves after waves of Aryan immigration advanced to the West and Europe." —*Dr. A. C. Dass*

सप्तसिंधु की सातों नदियों (सरस्वती, सिंधु, झेलम, चिनाव, रावी, व्यास और सतलज) का वर्णन मिलता है।

आर्य सभ्यता का विस्तार

आर्यों के मूल निवास के स्थान के सम्बन्ध में प्रचलित प्रमुख मतों का आलोचनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्यों का आदि देश सप्तसिंधु था। वे यहीं से भारत के अन्य भागों तथा ईरान, मध्य एशिया और यूरोप की ओर बढ़े। ऋग्वेद आर्यों का सर्वाधिक पुरातन ग्रन्थ है। ऋग्वेद से आर्यों की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा का ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रारम्भ में आर्य सप्तसिंधु तक सीमित रहे। किन्तु बाद में जनसंख्या की वृद्धि ने उन्हें नवीन उपजाऊ प्रदेशों की खोज के लिए प्रेरित किया। अतः भारत में निवास करने वाले द्रविड़ जाति के लोगों के साथ उनका संघर्ष स्वाभाविक था। आर्यों ने सिंधु घाटी में निवास करने वाले द्रविड़ों को पराजित करके अपना दास बना लिया। ऋग्वेद में उनके लिए अनार्य, दस्यु और पिशाच जैसी अपमानजनक संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है। द्रविड़ जाति को पराजित करने के उपरान्त आर्यों में, जो कबीलों अथवा जनों में विभक्त हो चुके थे, संघर्ष छिड़ गया। ऋग्वेद में दस राजाओं के युद्धों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में अनु, पुरु, भरत, यदु, तर्वषु आदि जनों का विवरण मिलता है। विश्वामित्र और वसिष्ठ के मध्य प्रतिद्वंद्विता होने के कारण भरतवंशी सुदास का विश्वामित्र के नेतृत्व में संघबद्ध दस राजाओं के साथ युद्ध हुआ। युद्ध में राजा सुदास विजयी हुआ।

जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि ने आर्यों को अन्य उपजाऊ प्रदेशों की खोज के लिए प्रेरित किया। विद्वानों का मत है कि उन्होंने कुरुक्षेत्र के समीप के प्रदेश पर अधिकार कर उसे 'ब्रह्मावर्त' का नाम दिया। ब्रह्मावर्त के पश्चात् उन्होंने पूर्वी राजस्थान, गंगा तया यमुना के दोआब और उसके समीपस्थ प्रदेशों को विजित किया जिसे उन्होंने ब्रह्मर्षि देश का नाम दिया है। ब्रह्मर्षि देश पर अधिकार करने के उपरांत आर्यों ने हिमालय तथा विंध्य पर्वत के मध्य स्थित भूभाग पर अधिकार किया जिसे उन्होंने मध्यदेश कहा है। तदुपरान्त उन्होंने बिहार और बंगाल के दक्षिण-पूर्वी भाग पर अधिकार किया। सम्पूर्ण उत्तरी भारत को विजित कर लेने के बाद उन्होंने उसे 'आर्यावर्त' की संज्ञा दी। उत्तरी भारत पर अधिकार कर लेने के पश्चात् आर्यों ने दक्षिण भारत की ओर कूच किया। दक्षिणी भारत में उन्होंने आर्य सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया। दक्षिणी भारत को उन्होंने दक्षिणापथ कहा है।

पूर्व वैदिक (ऋग्वैदिक) सभ्यता

सर्वप्रथम सप्तसिंधु में निवास करने के उपरान्त आर्यों ने भारत वर्ष के अन्य प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त किया। वेद, वेदांग, सूत्र, स्मतियों, दर्शन ग्रन्थ,

महाकाव्य और पुराणों से आर्यों की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य आर्यों का इतिहास जानने का प्रमुख साधन है। आर्यों का सर्वाधिक पुरातन ग्रन्थ ऋग्वेद है। इसमें 10 मण्डल तथा 1029 सूक्त हैं। ऋग्वेद में आर्यों के रहन-सहन, वेषभूषा, खान-पान, धार्मिक क्रिया-कलापों एवं राजनीतिक संगठन का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में वर्णित सभ्यता को 'ऋग्वैदिक सभ्यता' अथवा पूर्व-वैदिक सभ्यता की संज्ञा दी गई है।

पूर्व वैदिक सभ्यता की तिथि—वेद अपौरूषेय माने जाते हैं अर्थात् उन्हें ईश्वरकृत माना जाता है। ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ है। ऋग्वेद का रचनाकाल विवादास्पद है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और जैकोबी वेदों को 4000 ई० पू० प्राचीन मानते हैं। विंटरनिज महोदय का कथन है कि ऋग्वेद की रचना 3000 ई० पू० हुई थी। ओल्डनबर्ग ने ऋग्वेद का रचना काल 1500 ई० पू० से 1200 ई० पू० तक बताया है। मैक्समूलर का मत है कि ऋग्वेद की रचना 1200 ई० पू० से 1000 ई० पू० के मध्य हुई थी। वेदों के रचना काल के संदर्भ में विद्वानों में अनेक मतभेद होने पर भी उनका रचना काल 2500 ई० पू० से 1000 ई० पू० के मध्य प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में वर्णित सभ्यता को पूर्व वैदिक काल की सभ्यता कहते हैं। यह वह काल था, जबकि आर्य सप्तसिंधु में निवास करते थे। ऋग्वेद के अतिरिक्त तीन अन्य वेद हैं—यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। इन वेदों में उल्लिखित सभ्यता को उत्तर वैदिक काल की सभ्यता कहा जाता है। इस काल में आर्य सप्तसिंधु के अतिरिक्त भारत के अन्य भागों में प्रवेश कर चुके थे और पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उनकी सभ्यता में कुछ भिन्नता आ चुकी थी। ऋग्वेद से तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा पर जो प्रकाश पड़ता है उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. राजनीतिक दशा

(अ) **राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली**—पूर्व वैदिक काल में राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति प्रचलित थी। राजा का पद प्रायः पैतृक होता था, परन्तु कभी-कभी प्रजा द्वारा उसका निर्वाचन किया जाता था। राजा पर प्रजा का नियंत्रण होता था। राज्याभिषेक के समय राजा प्रजा का पालन करने की शपथ लेता था। वह यह शपथ लेता था—"यदि मैं जनता के हितों के विरुद्ध कार्य करूं तो मेरा और मेरे वंश का नाश हो जाय।" प्रजा के हितों के विरुद्ध कार्य करने वाले राजा को प्रजा पदच्युत कर सकती थी। ऋग्वेद में पुरु, तुर्वसु, यतु, अनु, भरत, क्रिवि, त्रिसु, आदि राजाओं का उल्लेख मिलता है। राजा कबीले का प्रधान होता था। राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली के अतिरिक्त कुछ गणराज्यों का उल्लेख भी मिलता है। गणराज्य का मुखिया जनता द्वारा चुना जाता था जिसे गणपति अथवा ज्येष्ठ कहते थे।

(आ) **प्रशासनिक इकाइयां**—परिवार प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। पिता अथवा वृद्ध पुरुष परिवार का प्रधान होता था जो परिवार के सदस्यों पर नियंत्रण रखता था। परिवार को कुल कहते थे और उसका प्रधान कुलप, कुलपति अथवा गृहपति कहलाता था। एक स्थान पर बस गये परिवारों के समूह को 'ग्राम' कहते थे। ग्राम का प्रधान अधिकारी 'ग्रामणी' के नाम से जाना जाता था। ग्रामों को मिलाकर 'विश' का निर्माण होता था जिसका प्रधान 'विशपति' होता था। 'विश' के ऊपर जन होता था। जन के प्रधान को 'गोप' अथवा 'राजा' कहते थे।

(इ) **राजा**—पूर्व वैदिक काल में राजा को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वह राज्य का सर्वोच्च अधिकारी माना जाता था। वह ठाठ-बाट के साथ रहता था। प्रजा की रक्षा करना, शत्रुओं से युद्ध करना, न्याय करना, अपराधियों को दंडित करना, धार्मिक कार्यों का सम्पादन, अपनी प्रजा को सुख और समृद्धि की ओर ले जाना राजा के मूल कर्त्तव्य समझे जाते थे। राजा जनता की आध्यात्मिक उन्नति हेतु प्रयत्नशील रहता था। प्रजा राजा पर अंकुश रखती थी। प्रजा द्वारा अनुमोदित होने पर ही वंशानुगत राज्याधिकार वैध माना जाता था। राजा प्रजा का रक्षक माना जाता था। उसमें और प्रजा में पिता-पुत्र-सा सम्बन्ध था। वह दुर्गों का विजेता समझा जाता था और युद्ध के अवसर पर सेना का नेतृत्व करता था। उसे कर लगाने का अधिकार प्राप्त था। जनता उसे भेंट भी देती थीं।

(ई) **राजकीय पदाधिकारी**—शासन के सुसंचालन और राजा की सहायता के लिए अनेक राजकीय पदाधिकारी होते थे जिनमें पुरोहित, सेनानी और ग्रामणी प्रमुख थे। राज्य में पुरोहित का पद वंशानुगत और सर्वोच्च (पदाधिकारियों में) होता था। वह राजनीतिक तथा धार्मिक दोनों कार्यों में भाग लेता था। वह राजा को युद्ध और शान्ति के समय आवश्यक सलाह देता था। डॉ॰ राधाकुमुद मुखर्जी ने पुरोहित को शिक्षक, पथ-प्रदर्शक, ऋषि यथा मित्र के रूप में राजा का मुख्य साथी कहा है। वैदिक कालीन पुरोहित के पद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कीथ महोदय ने लिखा है—"वैदिक पुरोहित उन ब्राह्मण राजनीतिज्ञों का अग्रगामी था जिन्होंने समय-समय पर भारत में विभिन्न अवसरों पर शासन-संचालन में आश्चर्यजनक कार्यकुशलता दिखाई। इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं है क्योंकि विश्वामित्र अथवा वसिष्ठ ने पूर्व वैदिक कालीन शासन-संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।"[1] पुरोहित ब्राह्मण वर्ग का होता था तथा राज्य में उसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। पुरोहित के बाद सेनानी का पद उच्च समझा जाता था।

---

1. "The Vedic purohita was the forerunner of the Brahaman statesmen who, from time to time in India, have shown conspicuous ability in the management of affairs and there is no reason to doubt that Vishvamitra or Vashistha was the most powerful element of the government of early Vedic Aryans."
— *A. B. Keith*

राजा के बाद वह सेना का सर्वोच्च अधिकारी माना जाता था। वह सेना को संगठित करता था तथा युद्ध और विजय की योजना बनाता था। वह राज्य की रक्षा के लिए उत्तरदायी होता था। राजा की अनुपस्थिति में सेनानी सेना का नेतृत्व करता था। 'ग्रामणी' ग्राम प्रशासन और सेना के प्रति उत्तरदायी होता था। वह ग्राम के सभी कार्यों का संचालन करता था। इसके अतिरिक्त पुरुष (दुर्गपति), स्पश (गुप्तचर), उपस्ति, दूत, इम्प आदि पदाधिकारी थे जिनकी नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी।

(उ) **सभा और समिति**—ऋग्वेद में 'सभा' और 'समिति' नामक दो संस्थाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनके कार्यक्षेत्र का उल्लेख उसमें नही किया गया है। डॉ० अल्तेकर का मत है कि समिति एक राजनीतिक सभा थी जिसके हाथ में राज्य की सारी शक्तियाँ केन्द्रित थीं। सभा को उन्होंने राजा की सभा बताया है। सभा और समिति राजा की निरंकुशता पर अंकुश रखते थे। डॉ० जायसवाल का मत है कि समिति एक राष्ट्रीय सभा थी जिसका मुख्य कार्य राजा को निर्वाचित करना था। राजा समिति की बैठकों में भाग लेता था। सभा को डॉ० जायसवाल ने समिति की एक स्थायी संस्था बताया है जो समिति की देखरेख में कार्य करती थी। लुडविग का कथन है कि समिति समस्त प्रजा की संस्था थी और सभा केवल बड़े-बूढ़ों की संस्था थी। डॉ० मजूमदार का मत है कि समिति जनता का राष्ट्रीय संगठन था। सभा के सदस्य विद्वान और वृद्ध पुरुष होते थे। समिति की अपेक्षा सभा का स्थान छोटा होता था। सभा और समिति के माध्यम से राजा पर नियंत्रण रखा जाता है। ऋग्वेद में राजा, सभा और समिति में पारस्परिक मेल-मिलाप के लिए बहुत प्रार्थनाएं की गई हैं।

(ऊ) **न्याय एवं दंड विधान**—राजा राज्य के न्याय-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। वह पुरोहित तथा सहायकों की मदद से दीवानी और फौजदारी मुकदमों का निर्णय करता था। ऋग्वेद में चोरी, डकैती, लूटमार, जुआखोरी आदि अपराधों का उल्लेख मिलता है। अपराधियों को शारीरिक तथा आर्थिक दंड दिया जाता था। हत्यारे को मृतक मनुष्य के जीवन का मूल्य उसके परिवार को देना पड़ता था। गम्भीर अपराधों के लिए 100 गायों का मूल्य देना पड़ता था। अग्नि-परीक्षा और जल-परीक्षा से अपराधी की जांच की जाती थी। छोटे-छोटे अपराधों का निर्णय ग्राम पंचायत कर लेती थी। ग्राम के न्यायाधीश को ग्राम्यवादिन कहा जाता था। ऋणी व्यक्ति को हीन दृष्टि से देखा जाता था। ऋण न चुकाने पर उसे दास बना लिया जाता था।

(ए) **सैन्य-संगठन**—पूर्व वैदिक काल में राजा की स्थाई सेना का उल्लेख नहीं मिलता है। युद्ध अधिकांशतः आत्मरक्षा, विजय और धन लूटने के लिए लड़ा जाता था। प्रारम्भ में आर्यों का अनार्यों के साथ युद्ध हुआ। तत्पश्चात् उनमें परस्पर संघर्ष छिड़ गया। ऋग्वेद में दस राजाओं के युद्ध का वर्णन मिलता है। इस युद्ध में राजा सुदास के विरुद्ध विश्वामित्र ने अन्य राजाओं का नेतृत्व किया था। साधारणतया पैदल सेना होती थी, किन्तु राजा और अन्य सैन्य अधिकारी रथों में बैठकर युद्ध किया करते थे। युद्ध में धनुष-बाण, भाला, फरसा, तलवार तथा विष-बाण का प्रयोग

किया जाता था। शरीर की रक्षा हेतु युद्ध क्षेत्र में कवच, ढाल, दस्ताने हाथ के और ताँबे की टोपी धारण की जाती थी। जन-धन की सुरक्षा हेतु आर्य पाषाण निर्मित 'दुर्ग' अथवा 'पुर' में शरण लेते थे। युद्ध से पूर्व आर्य अपने देवता की स्तुति करते थे तथा युद्ध के समय सैनिकों में उत्साह का संचार करने हेतु ढोल, दुंदुभि और नगाड़े बजाते थे।

2. सामाजिक दशा

(अ) **परिवार**—पूर्ववैदिक काल में सामाजिक जीवन का आधार परिवार था। प्रायः संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी। पिता अथवा वृद्ध परिवार का प्रधान होता था जिसे 'कुलप' अथवा 'गृहपति' कहा जाता था। परिवार का प्रधान परिवार के सदस्यों पर पूर्ण नियंत्रण रखता था। वह परिवार के सदस्यों के प्रति उदार और स्नेहपूर्ण व्यवहार करता था। पुत्र के जन्म पर विशेष खुशी मनाई जाती थी। कुलप अपने परिवार के सभी कार्यों के लिए उत्तरदायी होता था। वह अपनी पत्नी के साथ सभी धार्मिक कार्यों को संपादित करता था। पूर्व वैदिक काल में पिता आज्ञाओं के उल्लंघन करने पर कठोर दंड देने में भी नहीं हिचकिचाता था। ऋग्वेद से विदित होता है कि एक पिता ने अपव्यय के अपराध में अपने पुत्र को अन्धा करवा दिया था।

(आ) **वर्ण-व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था**—पूर्ववैदिक काल में जाति-प्रथा विद्यमान थी अथवा नहीं, इस सम्वन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कीथ का मत है कि ऋग्वैदिक कालीन समाज में जाति-प्रथा विद्यमान थी। किन्तु म्योर इस मत से सहमत नहीं है। अतः इस विवाद में न पड़कर इतना निश्चित ज्ञात होता है कि उस काल के समाज में वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से विदित होता है कि आदि पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रियों जांघों, से वैश्य और पाँवों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। प्रारम्भ में ऋग्वैदिक समाज आर्य और अनार्य दो वर्णों में विभक्त था। उत्तरार्द्ध में कार्य विभाजन के आधार पर तत्कालीन समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभक्त हो गया। वर्ण का आधार कर्म होने के कारण व्यवसाय अपनाने और परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता थी।

ऋग्वेद के एक सूक्त में कहा गया है—"मैं एक कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता अनाज पीसने वाली है।" इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में वर्ण का आधार कर्म था, जन्म नहीं। धार्मिक कार्यों और शिक्षा में अभिरुचि रखने वाले ब्राह्मण वर्ण के अंतर्गत आते थे। राज्य की रक्षा का दायित्व निभाने वाले तथा प्रशासकीय कार्य करने वाले क्षत्रिय कहलाते थे। व्यापार और कृषि कार्य करने वाले वैश्य कहे जाते थे। आर्यों द्वारा पराजित अनार्यों को शूद्र कहा जाता था जिनका कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना था।

वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त पूर्व वैदिक काल में आश्रम-व्यवस्था की स्थापना भी हो चुकी थी। संपूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक चार

आश्रमों में विभक्त हो चका था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन आश्रमों का पालन कर सकते थे परन्तु शूद्र इस अधिकार से वंचित थे।

(इ) **विवाह प्रथा**—पूर्व वैदिक काल में विवाह एक पवित्र बंधन माना जाता था। विवाह का प्रमुख उद्देश्य संतानोत्पत्ति था। प्रायः एक ही विवाह की प्रथा प्रचलित थी। राजवंश और धनी वर्ग के लोग बहु विवाह किया करते थे। बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं थी। वयस्क होने पर ही विवाह किया जाता था। कन्याओं को अपने पति का चुनाव करने की स्वतन्त्रता थी। ऋग्वेद से ज्ञात होता है—"स्वभावतः कोमल तथा रूपवती स्त्री अनेकों में से अपने प्रेमी पति का चुनाव करती थी।" विवाह के शुभ अवसर पर वर-वधू दोनों अग्नि के चारों ओर परिक्रमा करते थे।

(ई) **स्त्रियों की दशा**—पूर्व वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वे अपने पति के साथ धार्मिक उत्सवों में भाग ले सकती थीं! उनमें सती-प्रथा और पर्दा-प्रथा का प्रचलन नहीं था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में वर अपनी वधू के आगमन पर कहता है—"हे वधू! तुम्हारा पति के घर में शुभागमन हो और तुम हमारे घर के जन और पशुओं को वरदान दो।" ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है—"वधू! तुम सास, ससुर और देवर की महारानी बनो।" स्त्रियों को समाज और परिवार में विशेष सम्मान प्राप्त था। ऋग्वेद में उसे अर्धांगिनी, गृहिणी, गृहस्वामिनी, सहधर्मिणी आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया गया है। पुत्र की भाँति पुत्री का उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था। महिलाएँ शिक्षा प्राप्त करती थीं। अपाला, घोषा, लोपा मुद्रा, विश्ववारा, सिकता, निवावरी आदि उस काल की विदुषी स्त्रियाँ थीं जिन्होंने ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना की थी। इन कार्यों के अतिरिक्त महिलाएं ललित कलाओं में भी दक्ष थीं।

(उ) **भोजन, वस्त्र तथा आभूषण**—ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि आर्य गेहूँ, जौ, चावल, दूध, दही, मांस, आदि का प्रयोग करते थे। वे फल और तरकारियों के शौकीन थे। विशेष अवसरों पर सोमरस का पान और मदिरापान किया जाता था। ऋग्वेद में सुरापान की निन्दा की गई है। गाय का वध निषिद्ध था। गोवध करने वाले को दंडित किया जाता था।

आर्य सूती, ऊनी और कढ़े हुए वस्त्र धारण करते थे। स्त्री और पुरुष सामान्यतः एक ही प्रकार के वस्त्र पहनते थे। आर्यों के तीन वस्त्रों का उल्लेख मिलता है—अधोवस्त्र (नीवि), वास (परिधान) तथा अधिवास। अधोवस्त्र नीचे पहना जाता था और वास कमर के ऊपर डालने वाला (ओढ़ने वाला) वस्त्र होता था। मृगचर्म का प्रयोग भी किया जाता था।

पूर्व वैदिक कालीन स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण प्रेमी थे। सोने का हार, कुण्डल, अंगद, कंकण, गजरे, भुजबन्द, अंगूठी आदि आभूषण पहने जाते थे। आभूषण सोने तथा पत्थरों के बनाये जाते थे। स्त्री-पुरुष दोनों लम्बे बाल रखते थे। पुरुष मूँछ और दाढ़ी रखते थे। कुछ लोग दाढ़ी कटवाते थे।

(ऊ) **शिक्षा**—ऋग्वैदिक काल में शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। प्रारम्भिक शिक्षा बालक अपने घर में ही अर्जित कर लेता था। तत्पश्चात् शिक्षा प्राप्ति हेतु वह गुरु की शरण में जाता था। शिक्षा मौखिक रूप में प्रदान की जाती थी। वेदों की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों को वेदों के मन्त्र कंठस्थ करने पड़ते थे। उच्चारण पर विशेष बल दिया जाता था। शिक्षा के उद्देश्य बौद्धिक विकास और उच्चारण की शुद्धि था। क्षत्रियों को शस्त्र-विद्या भी सिखाई जाती थी। विद्यार्थी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरु के पास विद्याध्ययन करता था।

(ए) **नैतिक स्तर**—आर्यों का नैतिक स्तर उच्च कोटि का था। लोग सदाचारी जीवन व्यतीत करते थे। अपराधों की संख्या न्यून थी। लोगों का जीवन सुखी और समृद्ध था। अतिथि-सत्कार पर विशेष बल दिया जाता था। दान देना, सत्य बोलना, दीनों की सहायता करना और आचरण की शुद्धता जीवन के प्रमुख आधार थे।

(ऐ) **मनोरंजन के साधन**—मनोरंजन के साधन जीवन में सरसता का संचार करते हैं। आर्य द्यूत-क्रीड़ा, युद्ध, नृत्य, घुड़दौड़, रथ दौड़, आखेट, मल्ल युद्ध आदि द्वारा अपना मनोरंजन करते थे। स्त्री-पुरुष दोनों नृत्य करते थे तथा वीणा, बांसुरी, दुंदुभी, शंख, मृदंग आदि वाद्य संगीत उनके मनोरंजन के साधन थे। कीथ का मत है कि आर्यों को धार्मिक नाटकों का भी ज्ञान था।

3. आर्थिक दशा

ऋग्वेद में आर्यों की आर्थिक दशा इस प्रकार विदित होती है—

(अ) **कृषि**—आर्यों की सभ्यता ग्राम-प्रधान थी। ऋग्वेद में नगर शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है। लोगों का आर्थिक जीवन कृषि पर आधारित था। कृषि प्रधान व्यवसाय था और भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। गेहूँ, जौ, चना, तिल, उड़द आदि की खेती की जाती थी। अन्न बोने, काटने और माड़ने की कला से आर्य अवगत थे। नहरों और कुओं से सिंचाई की व्यवस्था थी। किन्तु अधिकतर कृषक वर्षा पर निर्भर रहते थे। कृषि के अतिरिक्त पशुओं के चरने के लिए जो भूमि (चरागाह) छोड़ी जाती थी उस पर समस्त ग्रामवासियों का अधिकार माना जाता था।

(आ) **पशुपालन**—कृषि के अतिरिक्त पशुपालन आर्यों का दूसरा प्रमुख व्यवसाय था। बैलों से हल तथा गाड़ी खींचने का काम लिया जाता था। घोड़े रथ खींचने और घुड़सवारी के काम आते थे। गाय को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। वह क्रय-विक्रय का माध्यम थी। गोवध करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। बैल, भेड़, बकरी, घोड़ा, कुत्ता, गधा, ऊँट आदि पालतू पशु थे।

(इ) **व्यापार तथा उद्योग**—कृषि और पशु पालन के अतिरिक्त ऋग्वैदिक कालीन लोग व्यापार में भी रुचि रखते थे। उस काल में आंतरिक तथा विदेशी दोनों प्रकार के व्यापारों का उल्लेख मिलता है। व्यापार का माध्यमवस्तु विनिमय

था। गाय द्वारा वस्तु का मूल्य आँका जाता था। बाद में निष्क नामक स्वर्ण मुद्रा का प्रचलन हो चुका था। ऋग्वेद में सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख मिलता है। बड़ी-बड़ी नावों में चढ़कर विदेशों के साथ व्यापार किया जाता था। डॉ० मजूमदार और आप्टे महोदय का मत है कि आर्य समुद्री यात्राएं करते थे और बेबीलोन तथा पश्चिमी एशिया के देशों के साथ व्यापार करते थे। वस्त्र और चमड़े की खालें प्रमुख व्यापारिक वस्तुएं थीं।

पूर्व वैदिक काल में वर्ण कर्म पर आधारित थे। अतः व्यवसाय-परिवर्तन की स्वतन्त्रता थी। आर्य लोग विभिन्न प्रकार के उद्योग-धंधों में लगे रहते थे। सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों की कताई-बुनाई की जाती थी। बढ़ई, लोहार, स्वर्णकार, चर्मकार, कुम्हार आदि व्यवसायी अपने-अपने कार्यों में लगे रहते थे। स्त्रियां कताई-बुनाई, रंगाई और कढ़ाई का कार्य करती थीं। बढ़ई सुन्दर रथ और गाड़ियां बनाता था। वह लकड़ी पर नक्काशी का कार्य भी करता था। लोहार धातु को पिघलाकर औजार और बर्तन बनाता था। स्वर्णकार का कार्य स्वर्ण आभूषण बनाना था। चर्मकार चमड़े की वस्तुएं बनाता था। जुलाहा कपड़े बुनता था। कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता था।

4. धार्मिक दशा

आर्यों का धर्म बहुदेववाद पर आधारित था। पूर्व वैदिक काल से आर्यों ने प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को देवता मानकर उनकी पूजा की है। ऋग्वेद में तैंतीस देवताओं का उल्लेख मिलता है। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए वे उनकी प्रार्थना करते थे तथा यज्ञ में आहुति देते थे। ऋग्वेद में वर्णित तैंतीस देवता तीन भागों में विभक्त थे : (1) पार्थिव (पृथ्वी के देवता), (2) आकाशस्थ (आकाश के देवता) और (3) स्वर्गस्थ (स्वर्ग के देवता)। पृथ्वी के देवताओं में अग्नि, सोम और पृथ्वी आते थे। आकाश के देवताओं में इन्द्र, वायु और मरुत की गणना होती थी। वरुण, द्यौस, सूर्य, सविता, मित्र आदि स्वर्ग के देवताओं में गिने जाते थे। पूर्व वैदिक काल में जिन देवताओं की पूजा की जाती थी, उनमें से प्रमुख देवताओं का वर्णन इस प्रकार है।

(अ) **द्यौ और पृथ्वी**—पूर्व वैदिक काल में द्यौ और पृथ्वी की देवता के रूप में उपासना होती थी। द्यौ आकाश का देवता माना जाता था जिसके अन्दर सूर्य, चन्द्रमा और तारे रहते थे। द्यौ के साथ पृथ्वी की पूजा की जाती थी। द्यौ को देवताओं का पिता और पृथ्वी को माता माना जाता था, इन्हीं के मिलन से सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना की गई।

(आ) **वरुण**—ऋग्वैदिक देवताओं में वरुण को उच्च स्थान प्राप्त था। ऋग्वद में अनेक स्थलों पर वरुण की स्तुति की गई है। उसे आकाश, पृथ्वी और सूर्य का निर्माता कहा गया है। वरुण को पृथ्वी और आकाश के मध्य सभी वस्तुओं में वास

करने वाला बताया गया है। उसे सृष्टि का पालक और संहारक कहा गया है। ऋग्वेद में एक मन्त्र वरुण को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—"हे वरुण ! मैं उत्सुक मन से तुम से अपने पापों के बारे में पूछता हूँ। मैं इसकी जानकारी के लिए ब्राह्मणों के भी पास गया हूँ। सभी ने कहा है कि वरुण तुम से रुष्ट हैं। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है—"हे वरुण ! हमको हमारे पूर्वजों के पापों से मुक्त करो। हमें निजी पापों से मुक्त करो।" प्रारम्भ में जो सम्मान वरुण को प्राप्त था, वह बाद में इन्द्र को प्राप्त हो गया।

(इ) **इन्द्र**—ऋग्वेद में वर्णित देवताओं में इन्द्र को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। उसे वर्षा, आंधी, तूफान और बिजली का देवता माना गया है। इन्द्र को पृथ्वी से दस गुना बड़ा बताया गया है। उसे आकाश, पृथ्वी, जल और पर्वतों का देवता कहा गया है। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए इन्द्र की स्तुति आवश्यक समझी जाती थी। ऋग्वेद में कहा गया है—"हे इन्द्र, तुम वज्रपाणि हो, तुमने वर्षा करके हम पर असीम कृपा की है। तुमने हमारी प्रार्थना को कभी भी अस्वीकार नहीं किया है।" ऋग्वेद में 250 सूक्तों (ऋचाओं) में इन्द्र की स्तुति की गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व वैदिक काल में इन्द्र सबसे अधिक प्रभावशाली देवता माना जाता था।

(ई) **सूर्य**—आर्य सूर्य की उपासना करते थे। सविता और मित्र के रूप में भी सूर्य की पूजा प्रचलित थी। सूर्य को सब पापों से मुक्ति देने वाला देवता माना जाता था।

(उ) **अग्नि**—पूर्व वैदिक काल में अग्नि की पूजा की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र के बाद अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान था। आर्यों का विश्वास था कि अग्नि में आहुति दी जाने वाली सामग्री अन्य देवताओं तक पहुँचती है। ऋग्वेद के लगभग 200 सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। उसे आहुतियों का देवता और धर्म का अध्यक्ष कहा गया है।

(ऊ) **ब्रह्मा, विष्णु और शिव**—पूर्व वैदिक काल में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना का उल्लेख मिलता है। विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में उल्लिखित विधाता को बाद में ब्रह्मा कहा जाने लगा था। विष्णु को संसार का संरक्षक बताया गया है और शिव को रुद्र कहा गया है।

(ए) **उषा और सरस्वती**—ऋग्वेद में देवताओं के अतिरिक्त देवियों की पूजा का भी उल्लेख मिलता है। देवियों में उषा का स्थान सर्वोपरि था। प्रातःकालीन सूर्य की सुन्दर लालिमा को आर्यों ने 'उषा' देवी के नाम से पुकारा है। ऋग्वेद में उषा का जैसा सजीव और सरस वर्णन मिलता है वैसा अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रारम्भ में सरस्वती की उपासना नदी के रूप में की जाती थी और बाद में उसे विद्या की देवी माना जाने लगा।

(ऐ) **एकेश्वरवाद**—यद्यपि प्रारम्भ में ऋग्वैदिक आर्यों ने अनेक देवताओं की कल्पना की थी, परन्तु बाद में वे एक ब्रह्म की सत्ता को मानते थे। ऋग्वेद के दसवें मंडल में बहुदेव वाद का खण्डन और एकेश्वरवाद का समर्थन करते हुए कहा

गया है—"सत्य एक है, ब्राह्मण उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।" (एकं सत् विप्राः बहुधा वदंति)। ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त में कहा गया है—"वह जिसने जीवन दिया है, जिसने सृष्टि की रचना की है, वह अनेक देवताओं के नाम से प्रसिद्ध होते हुए भी एक है।"

(ओ) **यज्ञ**—ऋग्वैदिक काल में यज्ञ होने लगे थे। यज्ञों के लिए पुरोहित की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उसे गृहपति स्वयं सम्पन्न कर लेता था। यज्ञों का स्वरूप अत्यन्त सरल था। दूध, घी, अन्न, मांस, सोमरस आदि यज्ञ में चढ़ाये जाते थे। गायत्री मंत्र का दिनभर में तीन बार पाठ किया जाता था। ऋग्वेद में ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ का उल्लेख मिलता है।

(औ) **विचार धारा**—वर्तमान भारतीय जनता की भाँति उस काल के लोगों में आत्मा तथा स्वर्ग-नरक की विचारधारा उत्पन्न हो चुकी थी। वे जीवन को महत्त्वपूर्ण समझकर उससे प्रेम करते थे। नैतिकता और सदाचार पर बल दिया जाता था। देवताओं की पूजा यज्ञादि के अवसर पर की जाती थी। मूर्ति पूजा और मन्दिरों में देवपूजा का प्रचलन नहीं था। मन्दिरों का निर्माण नहीं किया जाता था। पितृ पूजा पर बल दिया जाता था।

(अं) **मृतक संस्कार**—आर्य मृत मानव देह को चिता में जला देते थे। तत्पश्चात् मृतक की अस्थियों को धोया जाता था और उन्हें कलश में रखकर पृथ्वी में गाड़ दिया जाता था।

5. कला और विज्ञान

आर्यों ने कला और विज्ञान के क्षेत्र में रुचि दिखाई थी। वे काव्य-कला में प्रवीण थे। ऋग्वेद उनकी काव्य-कला का स्पष्ट प्रमाण है। आर्यों को लेखन कला का ज्ञान था अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। गृह निर्माण कला, धातुकला, कताई-बुनाई, रंगाई, काष्ठ कला, नृत्य, संगीत और वादन कला में वे निपुण थे।

पूर्व वैदिक काल में ज्योतिष विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति हुई। उन्हें दिन-रात के क्रम और नक्षत्र विद्या का ज्ञान प्राप्त था। जड़ी-बूटियों को कूटकर औषधियाँ बनाई जाती थीं। ऋग्वेद में जड़ी-बूटियों से अनेक रोगों के उपचार का उल्लेख मिलता है। अन्धेपन और लंगड़ेपन का उपचार भी सम्भव था। ऋग्वेद में विशपाल नामक व्यक्ति की टाँग युद्ध में कट जाने पर लोहे की टाँग लगाये जाने का उल्लेख मिलता है। च्यवन ऋषि के औषधियों द्वारा बुढ़ापे को समाप्त करके नवयुवकों जैसी शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त की थी।

इस प्रकार विदित होता है कि पूर्व वैदिक सभ्यता सिंधु सभ्यता के पश्चात् भारतवर्ष की पुरातन सभ्यता है। ऋग्वैदिक सभ्यता ने भारतीय संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया। आर्य सभ्यता के अनेक अंश भारतीय संस्कृति के अंग

बन गये। यह उच्चकोटि की सभ्यता थी जिसमें नैतिकता और सदाचार पर विशेष बल दिया गया था। ऋग्वैदिक सभ्यता के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए मूर्धन्य इतिहासकार डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—"हिंदू-सभ्यता के क्रमिक विकास का अध्ययन करने और समझने में स्रोत-ग्रन्थ के रूप में ऋग्वेद की श्रेष्ठता को स्वीकार करना न्यायपूर्ण है। अतएव इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि आज तीस करोड़ हिंदू इसे पवित्रों में पवित्रतम मान कर सम्मान प्रदान करते हैं।"[1]

उत्तर वैदिक सभ्यता

ऋग्वेद के पश्चात् अनेक धर्म-ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद आदि उल्लेखनीय हैं। धार्मिक ग्रन्थ होने पर भी इनमें तत्कालीन राजनीतिक तथा सांस्कृतिक झलक दृष्टिगोचर होती है। इन ग्रन्थों में वर्णित सभ्यता ऋग्वैदिक सभ्यता से भिन्न और बाद की है। अतः इसे उत्तर वैदिक सभ्यता कहा गया है। उत्तर वैदिक कालीन सभ्यता की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान इस सभ्यता की अवधि 1200 ई० पू० से 600 ई० पू० तक मानते हैं। कुछ विद्वान् इस अवधि को 200 ई० पू० तक निर्धारित करते हैं।

ऋग्वैदिक काल में आर्य सभ्यता का प्रमुख केन्द्र सप्तसिंधु था। किन्तु उत्तरवैदिक काल में यह स्थान मध्य देश (गंगा नदी का मैदान) ने ले लिया। जनसंख्या की वृद्धि ने उन्हें नवीन प्रदेशों की खोज हेतु प्रेरित किया। अतः वे सप्तसिंधु प्रदेश से दक्षिण-पूर्व की ओर अग्रसर हुए। शनैः-शनैः उन्होंने कुरुक्षेत्र के समीपस्थ प्रदेश पर अधिकार कर लिया। तदुपरांत उन्होंने राजस्थान और गंगा-यमुना का दोआब विजित कर लिया। आर्यों ने हिमालय और विंध्याचल के मध्य के समस्त क्षेत्र को विजित करके उसे मध्य देश का नाम दिया है। आर्यों ने सघन वनों और दुर्गम पर्वतों को पार करके दक्षिण भारत में प्रवेश किया। विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम ऋषियों ने दक्षिण भारत में प्रवेश करके आर्य-सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया जिसे सांस्कृतिक विजय की संज्ञा दी गई है। पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल के राज्य अधिक विस्तृत और शक्तिशाली थे। गांधार, कैकय, मुद्र, कुरु, पांचाल, कोशल, काशी, विदेह आदि उस समय के प्रमुख राज्य थे। इन राज्यों में कुरु और पांचाल राज्य विशेष महत्त्व रखते थे। वे वैदिक संस्कृति के

---

1. "The Rigveda is therebore justly regarded as a source-book of first rate importance for the study and appreciation of the gradual development of Hindu culture, and no wonder it is revered by three hundred million Hindus to day as the holiest of the holy." —*Dr. R. C. Majumdar*

प्रतिनिधि समझे जाते थे। कुरु राज्य के अन्तर्गत, कुरुक्षेत्र, दिल्ली और मेरठ के आसपास के क्षेत्र आते थे। परीक्षित और जनमेजय के राज्यकाल में कुरु-राज्य उन्नति के चरम शिखर पर था। बरेली, बदायूँ और फर्रुखाबाद के आसपास के प्रदेश पांचाल राज्य के अन्तर्गत थे। प्रवाहन, जैवालि, आरुणि और श्वेतकेतु पांचाल के प्रमुख राजा थे। विदेह का राजा जनक प्रसिद्ध दार्शनिक सम्राट था। काशी-सम्राट अजातशत्रु विद्वान था।

1. राजनीतिक दशा

(अ) **राजतंत्रात्मक शासन पद्धति**—उत्तर वैदिक काल में गांधार, कैकय, मद्र, कुरु, पांचाल, कोशल, काशी, विदेह आदि प्रमुख राज्य थे। इन राज्यों में राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति का प्रचलन था। राजपद प्रायः पैतृक हो चुका था। किन्तु कुछ राज्यों में राजा के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में निर्वाचित राजाओं का वर्णन मिलता है। कुछ राज्यों में प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली प्रचलित थी।

(आ) **राजा**—उत्तर वैदिक काल में अनेक बड़े-बड़े राज्य अस्तित्व में आए। इन राज्यों के राजा शक्तिशाली थे। उनके अधिकार क्षेत्र पूर्ववैदिक कालीन राजाओं की अपेक्षा व्यापक थे। राजा का पद प्रायः वंशानुगत होता था, किन्तु कभी-कभी राजा निर्वाचित भी किया जाता था। राज्याभिषेक के अवसर पर राजसूय यज्ञ संपादित किया जाता था। राजसूय यज्ञ के अतिरिक्त राजा वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ भी करते थे। साधारण नरेश राजा और बड़े राजा अधिराज, राजाधिराज, सम्राट, एकराट, सर्वराट आदि विरुद धारण करते थे। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा अपने उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यों के निर्वाह हेतु शपथ लेता था। ऐतरेय ब्राह्मण से विदित होता है कि राजा राज्याभिषेक के समय यह शपथ लेता था—"जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, इन दोनों के बीच जो मेरा यज्ञफल और दानादि पुण्य है, जो मेरा लोक में धर्म, आयु और प्रजाएं हैं वे सब नष्ट हो जाएं, यदि मैं तुमसे द्रोह करूँ।" शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि राजा से यह कह कर उसे सिंहासन सौंप दिया जाता है—"तुमको (राजा को) यह सौंपा जा रहा है, जिससे तुम कृषि की उन्नति, जनमंगल तथा समृद्धि में विकास करो।" जनहित के विरुद्ध आचरण करने वाले राजा को पदच्युत कर दिया जाता था। अथर्ववेद में अपदस्थ राजा को पुनः गद्दी पर बिठाये जाने का उल्लेख मिलता है। बड़े राज्यों के आविर्भाव के कारण राजाओं की शक्ति में वृद्धि हो गई थी। डॉ० मजूमदार का मत है कि उत्तर वैदिक काल में राजा के अधिकारों में निश्चित रूप से वृद्धि हुई थी। राजा प्रजा की सुख-समृद्धि का ध्यान रखता था। वह प्रजा की नैतिक और भौतिक उन्नति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता था। वह युद्ध के समय सेना का नेतृत्व करता था। राजा का कर्त्तव्य दुष्टों का विनाश कर धर्म की रक्षा करना था। उसे राज्य की भूमि पर अधिकार प्राप्त था। वह जिसे चाहे भूमि दे सकता था और जिससे चाहे भूमि छीन सकता

था। राज्य के बड़े अधिकारियों की नियुक्ति राजा स्वयं करता था। वह न्याय-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। राजा विद्वान और दार्शनिक होते थे। काशी नरेश अजातशत्रु और विदेह का सम्राट जनक इसके सबल प्रमाण हैं।

(इ) **सभा और समिति**—उत्तर वैदिक काल में राजा के अधिकारों में वृद्धि हो जाने पर भी उसकी स्थिति निरंकुश शासक की भाँति नहीं हो पायी थी। राजा को राज्य की प्रगति, कृषि की उन्नति, जनसाधारण के सुख और वैभव के लिए राजगद्दी सौंपी जाती थी। अपने कर्त्तव्यों से विमुख होने पर उसे पदच्युत कर दिया जाता था। अथर्ववेद में राजा को अपदस्थ किए जाने के कई उल्लेख मिलते हैं।

उत्तर वैदिक काल में सभा और समिति नामक दो संस्थाओं का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में सभा और समिति को दैवी संस्थाएं कहा गया है। विद्वानों का मत है कि उक्त दोनों राजनीतिक संस्थाएं थीं। सभा और समिति के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हैं। जिमर का मत है कि सभा केवल गाँव के लोगों की सभा थी, जबकि समिति में राजा और राज्य के सभी सदस्य सम्मिलित होते थे। डॉ० कीथ का विचार है कि समिति सारे कबीले की परिषद थी। जहाँ पर समिति के अधिवेशन होते थे उसे सभा कहते थे। लुडविग महोदय का मत है—"समिति राज्य की सारी प्रजा की संस्था थी और सभा केवल बूढ़ों की संस्था थी जिसमें केवल योग्य और महान् नागरिक और प्रमुख राज्याधिकारी ही बुलाए जाते थे।" डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल, डॉ० मजूमदार और डॉ० त्रिपाठी लुडविग के मत से सहमत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सभा और समिति राजा पर नियंत्रण रखते थे। किन्तु डॉ० त्रिपाठी ने यह संभावना व्यक्त की है कि राज्यों के विस्तार के फलस्वरूप राजाओं के अधिकारों में जो वृद्धि हुई उससे सभा और समिति का महत्त्व घट गया होगा।

सभा भद्र-पुरुषों की एक छोटी संस्था थी। यह राज संस्था थी और न्याय सम्बन्धी कार्यों से संबद्ध थी। राजा सभा में उपस्थित रहता था। छान्दोग्य उपनिषद से विदित होता है कि प्रजापति भी सभा के बिना अपना कार्य नहीं कर सकते थे। समिति राज्य की प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थी। इसके अधिवेशन की अध्यक्षता राजा स्वयं करता था। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि शत्रुओं को पराजित करने के लिए और राजगद्दी पर अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए राजा को समिति का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था। राजनीतिक विषयों के अतिरिक्त समिति राज्य के धार्मिक विषयों पर भी विचार-विमर्श करती थी।

(ई) **राज्य कर्मचारी**—पूर्व वैदिक काल में पुरोहित, सेनानी तथा ग्रामणी नामक तीन राज्याधिकारियों का उल्लेख मिलता है। किन्तु उत्तर वैदिक काल में बड़े-बड़े राज्यों का निर्माण होने के कारण राज्याधिकारियों की संख्या में वृद्धि स्वाभाविक थी। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में उत्तर वैदिक कालीन राज्याधिकारियों का उल्लेख इस प्रकार विदित होता है—पुरोहित, राजन्य, महिषी, वावाता

(प्रिय रानी), परिवृक्ती रानी, सूत, सेनानी, ग्रामणी, क्षत्री (राजप्रसादों का रक्षक), कोषाध्यक्ष, राजकर संग्रहकर्त्ता, अक्षावाप, शिकार का अधिकारी, संदेशवाहक, रथकार और रथपति। राज्याधिकारियों को 'वीर' अथवा 'रत्नी' कहा जाता था। राज्याधिकारियों में 'पुरोहित' का पद सर्वोच्च होता था। सेनानी सेना के प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी होता था।

उपरोक्त अधिकारियों के अतिरिक्त पालगल (राजकीय संदेश पहुँचाने वाला), गोविकर्त्ता (वनों का रक्षक) और उग्र अथवा जीव ग्राम (पुलिस अधिकारी) नामक कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है।

राज्य प्रान्तों में विभक्त था जिसका प्रधान स्थपति कहा जाता था। 100 गाँवों के अधिकारी को 'शतपति' कहा जाता था। ग्रामणी ग्राम के सभी कार्यों के प्रति उत्तरदायी होता था।

(उ) **न्याय और दंड विधान**—राजा न्याय विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। गम्भीर अपराधों की सुनवाई वह स्वयं करता था। राजा की सहायता के लिए अनेक अधिकारी होते थे जिन्हें अध्यक्ष कहा जाता था। गाँव के सभी मामले ग्राम-न्यायाधीश 'ग्रामवादिन' द्वारा निपटाये जाते थे। छोटे-छोटे दीवानी मामलों पर पंच निर्णय देते थे।

राजद्रोह भीषण अपराध माना जाता था। राजद्रोह के अपराध में ब्राह्मण तक को प्राणदंड दिया जा सकता था। राज्य की ओर से अपराधों के लिए दंड विधान की व्यवस्था थी।

(ऊ) **राजस्व**—राज्य की ओर से अनेक कर लगाये जाते थे। कर को 'बलि' कहा जाता था। वित्त विभाग की देख-रेख राजा स्वयं करता था। भूमि कर और व्यापार कर आय के प्रमुख स्रोत थे। पशु कर लिया जाता था, धनिकों से कर लेने का भी उल्लेख मिलता है।

(ए) **सेना**—राजा सेना का प्रधान होता था। वह युद्ध के समय स्वयं सेना का नेतृत्व करता था। राजा के बाद सेनानी सेना का प्रधान अधिकारी होता था।

2. सामाजिक दशा

(अ) **परिवार**—ऋग्वेद काल की भाँति उत्तर वैदिक काल में संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी। वृद्ध व्यक्ति अथवा पिता परिवार का प्रधान होता था। परिवार के सभी सदस्य उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। पारिवारिक जीवन प्रायः सुखी था। अथर्ववेद में पारिवारिक सुख और शांति के लिए प्रार्थनाएं की गई हैं। ऐतरेय ब्राह्मण से विदित होता है कि पुत्रों में फूट पड़ जाने की स्थिति में पिता के जीवन काल में ही संपत्ति का बँटवारा कर दिया जाता था।

(आ) **नगरों का आविर्भाव**—पूर्व वैदिक काल में आर्य-सभ्यता ग्रामों में केंद्रित थी। परन्तु उत्तर वैदिक काल में अनेक नगरों का आविर्भाव हो गया था। गंगा के दोआब में अनेक नगरों की स्थापना हो चुकी थी। काशी, कौशांबी और विदेह उस काल के प्रमुख नगर थे। नगर निवासी कच्ची और पक्की दोनों प्रकार की ईंटों के मकान बनाते थे।

(इ) **वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था**—संपूर्ण समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में विभक्त था। ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन, पूजा-पाठ आदि धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन करते थे। समाज में उन्हें विशेष सम्मान प्राप्त था। उन्हें देव तुल्य समझा जाता था। क्षत्रियों का कार्य शासन-संचालन और देश की रक्षा करना था। ब्राह्मणों के बाद समाज में क्षत्रियों का स्थान था। वैश्य व्यापार, कृषि और पशुपालन का कार्य करते थे। शूद्रों का कार्थ उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था। समाज में शूद्रों की दशा दयनीय थी। उन्हें अपवित्र समझा जाता था। उन्हें यज्ञ और धार्मिक कार्यों को करने का अधिकार नहीं था। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—"शूद्र दूसरे का सेवक है जिसका इच्छावश निष्कासन तथा वध किया जा सकता है।" वह संपत्ति के अधिकार से वंचित था।

यद्यपि उत्तर वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था में यह जटिलता और संकीर्णता नहीं आई थी, जो बाद में दृष्टिगोचर होती है। परन्तु पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उसमें कुछ जटिलता अवश्य आ गई थी। व्यवसाय में परिवर्तन यद्यपि असंभव नहीं था तथापि कठिन आवश्यक हो गया था। कार्यों के आधार पर अनेक जातियाँ और उपजातियाँ अस्तित्व में आ चुकी थीं।

वर्ण-व्यवस्था में जटिलता आने के बावजूद व्यवसाय परिवर्तन संभव था। क्षत्रिय ब्राह्मणों का कार्य अपना सकते थे। विदेह के राजा जनक, काशी नरेश अजातशत्रु, पांचाल नरेश प्रवाहण जैवलि अथा कैकय के राजा अश्वपति उच्चकोटि के विद्वान् थे। राजा देवापि ने अपने भाई शान्तनु के अश्वमेध यज्ञ में पुरोहित की भूमिका निभाई। कुछ विद्वानों का मत है कि उत्तर वैदिक काल में व्यवसाय परिवर्तन ब्राह्मणों और क्षत्रिय वर्ण के लोगों तक सीमित था।

संपूर्ण मानव जीवन चार आश्रमों में विभक्त था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्येक आश्रम की अवधि 25 वर्ष निश्चित की गई थी। ब्रह्मचर्य आश्रम के अंतर्गत विद्यार्थी को गुरु की शरण में शिक्षा अर्जित करनी पड़ती थी। गृहस्थ आश्रम के अंतर्गत मनुष्य विवाह कर संतान उत्पन करता था। गृहस्थाश्रम तीनों आश्रमों का मूलाधार था। गृहस्थ आश्रम के अंतर्गत व्यक्ति सुखों का भोग करता तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करता था। वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य गृह त्याग कर सघन वनों में तप और मानसिक विकास हेतु कार्य करता था। संन्यास आश्रम के अंतर्गत वह (मनुष्य) कंदमूल फल खाकर परमेश्वर के चिंतन में लीन रहता था।

(ई) **भोजन, वस्त्र और आभूषण**—ऋग्वैदिक कालीन भोजन, वस्त्र और आभूषणों में उत्तर वैदिक काल में किसी प्रकार का अंतर नहीं आया था। गेहूँ, जौ, दूध, दही, शहद आदि का प्रयोग किया जाता था। माँस भक्षण और सुरापान अच्छा नहीं समझा जाता था।

सूती, ऊनी, रेशमी और कढ़े हुए वस्त्र पहने जाते थे। विशेष अवसरों पर विविध रंगों के वस्त्र पहने जाते थे। शृंगारिक प्रसाधनों में लोगों की रुचि थी। सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था। सोने और चाँदी के आभूषणों के प्रति जनसाधारण का विशेष लगाव था।

(उ) **स्त्रियों की दशा**—पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों के सम्मान में कमी आ गई थी। उत्तर वैदिक काल में कन्या का जन्म दुःख का कारण माना जाता था। उन्हें पुरुष की अपेक्षा हेय समझा जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्र को स्वर्ग तुल्य और कन्या को विपत्ति कहा गया है। अथर्ववेद में कन्या का जन्म दुःख का कारण बताया गया है। मनु स्मृति में कहा गया है—"नारियों के लिए स्वतंत्रता उचित नहीं है। उनको बचपन में पिता के अधीन, विवाह के बाद पति के अधीन और विधवा होने के बाद पुत्र के अधीन रहना चाहिए।" मैत्रायणी में स्त्री को आपत्ति जोड़ने वाली कहा गया है। नारियां संपत्ति के अधिकार से वंचित थीं और उन्हें पिता की संपत्ति में भी अधिकार प्राप्त नहीं था। तैत्तिरीय संहिता में स्त्रियों को बुरे शूद्र से भी हीन कहा गया है। विधवा-विवाह की प्रथा थी। नारियों को उपनयन के संस्कार से वंचित कर दिया गया था।

उत्तर वैदिक काल में यद्यपि नारियों की स्थिति में गिरावट आ गई थी तथापि उनके लिए शिक्षा की उचित व्यवस्था थी। उन्हें संगीत, नृत्य, पाकशास्त्र तथ गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों की शिक्षा दी जाती थी। गार्गी, मैत्रेयी, वाचक्नवी आदि उस काल की विदुषी महिलाएं थीं। सम्राट् जनक की राज सभा में गार्गी और याज्ञवल्क्य के मध्य हुए वाद-विवाद का उल्लेख मिलता है। शिक्षित स्त्री-पुरुष का विवाह उपयुक्त समझा जाता था। स्त्रियाँ पुरुषों के साथ धार्मिक क्रियाओं में भाग लेती थीं। उन्हें अर्द्धांगिनी कहा गया है जो उनके सम्मान का सूचक है।

(ऊ) **विवाह-प्रथा**—विवाह का सामाजिक और धार्मिक महत्त्व था। प्रायः युवावस्था प्राप्त होने पर ही विवाह किया जाता था। अविवाहित व्यक्ति को यज्ञ करने का अधिकार नहीं था। विवाह का मूल उद्देश्य पुत्र प्राप्ति था। जनसाधारण में यह धारणा व्याप्त थी कि स्त्री ही पुरुष को पूर्ण बनाती है। सजातीय और अंतर्जातीय दोनों प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण च्यवन ऋषि ने क्षत्रिय राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या के साथ विवाह किया था। अंतर्जातीय विवाह अच्छे नहीं समझे जाते थे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न संतान संकर कहलाती थी। शूद्र स्त्री से उत्पन्न

संतान को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। विधवा पुनर्विवाह कर सकती थी। सामान्यतया एक पत्नी विवाह की प्रथा थी। परन्तु राजकुल से सम्बन्धित लोग और धन-सम्पन्न लोग एक से अधिक विवाह करते थे। सती प्रथा, बाल विवाह और पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था।

(ए) **शिक्षा**—उत्तर वैदिक काल में विद्यार्थी को गुरुगृह में रहकर अध्ययन करना पड़ता था। उपनयन संस्कार करने के बाद ही विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी समझा जाता था। विद्यार्थी को गुरु के पास रहकर शारीरिक श्रम करना पड़ता था। अध्ययन पूर्ण करने के उपरांत गुरु को दक्षिणा दी जाती थी। शिक्षा का उद्देश्य जीवन का सर्वांगीण विकास था। धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। वेद, उपनिषद, व्याकरण, पुराण, ब्रह्म विद्या, ज्योतिष, देवविद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प विद्या, इतिहास, नीतिशास्त्र, धनुर्विद्या आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा मौखिक रूप में दी जाती थी। वेदों को कण्ठस्थ करवाया जाता था। उन्हें लिपिबद्ध करना पाप समझा जाता था। इस काल में ज्योतिष विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। जड़ी-बूटियों से अनेक औषधियां बनाई जाती थीं। कैकय नरेश का यह कथन न केवल तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालता है बल्कि उस काल के शिक्षा प्रसार की ओर भी इंगित करता है—"मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कायर, न कोई अधम है, न कोई अविद्वान् अथवा मूर्ख और न ही कोई व्यभिचारी है।" डॉ० त्रिपाठी इस कथन को अत्युक्तिपूर्ण मानते हैं।

(ऐ) **मनोविनोद के साधन**—जीवन में सरसता का संचार करने के उद्धेश्य से उत्तरकालीन आर्य मनोरंजन के साधनों को विशेष महत्त्व देते थे। रथ दौड़, घुड़ दौड़, आखेट, द्यूत क्रीड़ा, नृत्य, संगीत आदि मनोरंजन के साधन थे। स्त्री और पुरुष दोनों संगीत प्रेमी थे। वीणा, शंख, मृदंग आदि वाद्य यन्त्र थे। संभवतः नाटक भी खेले जाते थे।

3. आर्थिक दशा

कृषि—उत्तर वैदिक काल में कृषि लोगों का प्रमुख व्यवसाय था। लोग अधिक अन्न उत्पन्न करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल में कृषि करने की पद्धति अधिक उन्नत थी। हल चलाने के लिए छह, आठ, बारह और चौबीस बैलों का प्रयोग किया जाता था। गेहूँ, जौ, चावल, मसूर, मूँग, उड़द, तिलहन, गन्ना आदि की खेती की जाती थी। कृषि प्रधानतया वर्षा पर निर्भर थी। वर्षा न होने पर कुओं, नदियों और तालाबों से सिंचाई की जाती थी। उपज में वृद्धि हेतु गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था। शतपथ ब्राह्मणों में खेती

करने की प्रक्रियाओं का उल्लेख मिलता है। कई प्रकार के फलों के वृक्ष लगाये जाते थे।

(आ) **पशु पालन**—कृषि के बाद पशु पालन उनका दूसरा व्यवसाय था। पशुओं की प्राप्ति हेतु प्रार्थनाएं की जाती थीं। गाय को विशेष महत्त्व दिया जाता था। उसका वध नहीं किया जाता था। गाय, भैंस, घोड़ा, बैल, बकरी, हाथी, ऊँट, भेड़, सूअर उस काल के प्रमुख पालतू पशु थे। पशुओं के मल-मूत्र की खाद (गोबर की खाद) को खेतों में डाला जाता था।

(इ) **व्यापार और उद्योग**—इस काल में आंतरिक तथा विदेशी व्यापार उन्नत अवस्था में था। स्थल और जल दोनों मार्गों से व्यापार किया जाता था। सामुद्रिक मार्ग में व्यापार के लिए सौ-सौ पतवारों वाली बड़ी नौकाओं का प्रयोग किया जाता था। यह भी सम्भव है कि उस काल में व्यापारियों ने अपना संघ बना लिया था, जिसका अध्यक्ष 'श्रेष्ठिन्' कहा जाता था। ब्याज पर रुपया उधार दिया जाता था। ऋण न चुकाना पाप समझा जाता था। तौल के लिए कृष्णाल, निष्क, शतमान और पाद नामक मुद्राएं प्रयुक्त की जाती थी। पर्वत निवासियों और आदिसिवायों के साथ खूब व्यापार होता था।

लोग कृषि और पशु पालन के अतिरिक्त कई अन्य व्यवसायों में लगे रहते थे। मछुआ, लोहार, स्वर्णकार, नाई, रंगसाज, कुम्भकार, जुलाहा, रस्सी बटने वाला, नाविक, रथकार, गड़रिए आदि उस काल के प्रमुख उद्योगी थे। स्त्रियाँ कपड़े बुनने और उन्हें रंगने का काम करती थीं। अनेक धातुओं के आभूषण, बर्तन, औजार और हथियार बनाए जाते थे। सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, लोहा, टीन, कांसा आदि उस काल की प्रमुख धातु थे। लोग भवन-निर्माण कला में निपुण थे। सड़कें चौड़ी बनी हुई थीं। बैलगाड़ियों से सामान ोढया जाता था।

4. धार्मिक दशा

(अ) **देवी-देवता**—इस काल में आर्यों के धार्मिक जीवन के क्षेत्र में कुछ परिवर्नन आ गये थे। पूर्व वैदिक काल में जिन देवताओं को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था, उत्तर वैदिक काल में उनका महत्त्व कुछ कम हो गया था और जिनका पूर्व महत्त्व कम था, उन्हें अत्यधिक सम्मान दिया जाने लगा था। इन्द्र, सूर्य, वरुण और पृथ्वी जो पूर्व वैदिक काल के प्रमुख देवता थे, उनका स्थान उत्तर वैदिक काल में रुद्र (शिव), विष्णु, प्रजापति (ब्रह्मा) ने ले लिया था। रुद्र को शिव और महादेव के नाम से पुकारा जाता था। उन्हें मंगलकारी देवता के रूप में सम्मान प्राप्त था। विष्णु को सभी देवताओं में श्रेष्ठ समझा जाता था और उन्हें वासुदेव के नाम से सम्बन्धित किया जाता था।

(आ) **यज्ञ और तप**—यज्ञों की प्रक्रिया ऋग्वैदिक काल से प्रारम्भ हुई थी। किन्तु पूर्व वैदिक काल में यज्ञों का जो सरल स्वरूप विद्यमान था, उत्तर वैदिक काल

में उसमें जटिलता आ गई थी और यज्ञों की संख्या में भी वृद्धि हो गयी थी। अश्वमेध, राजसूय और वाजपेय आदि यज्ञों का प्रचलन था। यज्ञ बिना पुरोहित के सम्पन्न नहीं हो सकते थे। ऋग्वेद काल में जिन बड़े यज्ञों के लिए सात पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी, उत्तर वैदिक काल में इस प्रकार के यज्ञों में सत्रह पुरोहितों की उपस्थिति अनिवार्य हो गई थी। यज्ञ में पशुबलि आवश्यक समझी जाती थी। कई यज्ञ महीनों और वर्षों तक चलते थे। यज्ञ अत्यन्त खर्चीले थे और उनकी प्रक्रिया में जटिलता आ गई थी। उस काल में पंच महायज्ञ प्रचलित थे—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, और अतिथियज्ञ।

उत्तर वैदिक काल में तप को विशेष महत्त्व दिया जाता था। आत्मा की शुद्धि और आत्मा के परमात्मा में विलय के लिए तप आवश्यक माना जाता था। अथर्ववेद में तप को अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करने का साधन बताया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण से विदित होता है कि तप और यज्ञों से ही देवताओं ने स्वर्ग को जीता, तैत्तिरीय ब्राह्मण में तप को ब्रह्म कहा गया है।

(इ) **अन्ध विश्वास और धार्मिक विचार धाराएँ**—इस काल के लोगों में अंधविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई थी। लोग जादू-टोना, तंत्र-मंत्र और प्रेत-आत्माओं में विश्वास करते थे। वे तंत्र-मंत्रों को रोगों के निदान और देवताओं को वश में करने का साधन मानते थे। अंधविश्वास कर्मकाण्ड के अंग बन गये थे। अतः कर्मकाण्डों की प्रक्रिया में जटिलता आना स्वाभाविक था। ऋग्वेद काल में धर्म का जो सरल स्वरूप था, उत्तर वैदिक काल में कर्मकाण्डों की जटिलता ने उसे आडम्बर पूर्ण, कर्मकाण्ड प्रधान और अव्यावहारिक बना दिया। धार्मिक क्रियाओं में ब्राह्मणों का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया था।

उत्तर वैदिक कालीन लोग पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष में विश्वास करते थे। उनका विश्वास था कि व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। मोक्ष का अर्थ आत्मा का परमात्मा में विलीन हो जाना माना जाता था। आध्यात्मिक उन्नति हेतु धार्मिक सम्मेलन आयोजित किए जाते थे। बृहदारण्यक उपनिषद से ज्ञात होता है कि विदेह के सम्राट जनक ने यज्ञ के अवसर पर विद्वानों का शास्त्रार्थ आयोजित किया। विजेता याज्ञवल्क्य ऋषि को दो हजार गायें, जिनके सींगों पर दस-दस स्वर्ण मुद्राएं लगी थीं, पुरस्कार स्वरूप प्रदान की गईं। उत्तर वैदिक काल में अनेक धर्मग्रन्थों की रचना हुई। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों का रचना काल यही माना जाता है। देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण को महत्त्व दिया जाता था। सदाचार के नियमों पर विशेष बल दिया जाता था।

पूर्व वैदिक सभ्यता और उत्तर वैदिक सभ्यता की तुलना

पूर्व वैदिक और उत्तर वैदिक दोनों आर्य जाति की सभ्यताएं हैं। इन सभ्यताओं के काल में अन्तर होने के कारण इनमें कुछ अन्तर दिखाई देता है। दोनों सभ्यताओं के अध्ययन के उपरान्त इनमें निम्नलिखित अन्तर दृष्टिगोचर होता है—

1. **साहित्यिक ग्रन्थ**— ऋग्वेद आर्यों का प्राचीनतम ग्रन्थ है। उसमें आर्यों के प्रारम्भिक इतिहास का उल्लेख मिलता है। मूलतः धार्मिक ग्रन्थ होने पर इसमें ऐतिहासिक घटनाओं का पर्याप्त समावेश हुआ है। ऋग्वेद में वर्णित सभ्यता ऋग्वैदिक सभ्यता अथवा पूर्व वैदिक सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है।

उत्तर वैदिक काल यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद आदि धर्म ग्रन्थों का रचना काल था। इन ग्रन्थों में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थों में वर्णित सभ्यता को 'उत्तर वैदिक सभ्यता' कहा जाता है, जो पूर्व वैदिक सभ्यता से कुछ भिन्न और बाद की है।

2. **सभ्यता का क्षेत्र**—पूर्व वैदिक काल में आर्य सभ्यता का प्रमुख केन्द्र सप्त सिंघु था और वह पूर्वी अफगानिस्तान से लेकर गंगा की घाटी के उत्तरी भाग तक के क्षेत्र में विस्तृत थी।

उत्तर वैदिक काल में आर्यों ने दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तक के प्रदेश अधिकृत कर लिए थे और दक्षिणी भारत में अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया। उत्तर वैदिक काल में आर्य सभ्यता का प्रमुख केन्द्र मध्यप्रदेश था। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में सप्त सिंधु का स्थान मध्य देश ने ले लिया था।

3. **राज्य**—पूर्व वैदिक काल में आर्य सभ्यता सप्त सिंधु तक सीमित होने के कारण आर्यों के राज्य छोटे-छोटे थे। किन्तु उत्तर वैदिक काल में जब आर्य सभ्यता का प्रसार हुआ तो छोटे राज्यों ने बड़े राज्यों का स्वरूप ग्रहण कर लिया। पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक कालीन राज्य अधिक विस्तृत और शक्तिशाली थे।

4. **शासन-पद्धति**—पूर्व वैदिक काल में राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली के अतिरिक्त गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का उल्लेख मिलता है। उत्तर वैदिक काल में राजतंत्रात्मक शासन की अधिकता थी।

5. **राजा**—ऋग्वैदिक काल में राजा का पद पैतृक था और कभी-कभी राजा निर्वाचित किया जाता था। राजा के अधिकार सीमित थे। उस पर पुरोहित, सेनानी और ग्रामणी नामक अधिकारियों के अतिरिक्त सभा तथा समिति नामक संस्थाएं नियंत्रण रखती थीं।

उत्तर वैदिक काल में राजा का पद पूर्णतः पैतृक हो गया था। राजा के अधिकारों में असाधारण बृद्धी की गई थी और सभा एवं समिति का प्रभाव घट गया था।

6. **राज्य कर्मचारी**—पूर्व वैदिक काल में पुरोहित, सेनानी और ग्रामीण राज्य के मुख्य अधिकारी थे। उत्तर वैदिक काल में राज्याधिकारियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो गयी थी। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में इनकी संख्या सोलह बताई गई है। राजनीति में ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ गया था।

7. जन जीवन—ऋग्वेद में ग्रामों का उल्लेख मिलता है। उस काल में आर्य गाँवों में निवास करते थे। उनकी सभ्यता ग्रामीण थी और संयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन था। उनके मकान घास-फूस और निम्नकोटि के थे।

उत्तर वैदिक काल में काशी, मथुरा, कौशांबी, विदेह आदि नगरों का आविर्भाव हो चुका था। आर्यों में ग्राम्य जीवन के स्थान पर नगर जीवन का विकास हुआ। संयुक्त परिवार प्रणाली दृढ़ और स्थायी हो गई थी। अनेक भवनों का निर्माण होने लगा था।

8. सामाजिक विभाजन—युद्धप्रिय आर्यों ने शांतिप्रिय अनार्यों को पराजित करके अपना दास बना डाला था। पूर्व वैदिक काल में समाज आर्य और अनार्य दो भागों में विभक्त था। समाज में चार वर्ण विद्यमान थे। वर्ण का आधार कर्म था तथा व्यवसाय परिवर्तन की प्रक्रिया सरल थीं।

उत्तर वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था समाज का आधार बन गई और उसमें कुछ जटिलता आ गई थी। व्यवसाय परिवर्तन यद्यपि असम्भव तो नहीं था किन्तु कठिन अवश्य हो गया था। अनेक जातियाँ भी अस्तित्व में आ चुकी थीं।

9. स्त्रियों की दशा—ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, महिलाएं स्वतंत्रतापूर्वक सभी कार्यों और समारोहों में भाग ले सकती थीं।

उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों के सम्मान में कमी आ गई थी। कन्या के जन्म पर दुःख व्यक्त किया जाता था और उन्हें 'विपत्ति' की संज्ञा दी गई थी। महिलाओं की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। उन्हें शूद्र से भी बुरा समझा जाता था।

10. भोजन और वस्त्र—पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर वैदिक कालीन भोजन और वस्त्रों में कुछ अन्तर आ गया था। ऋग्वैदिक काल में सादा भोजन और सरल वस्त्रों का प्रयोग होता था। मांस, मदिरा और सोमरस का प्रयोग किया जाता था।

उत्तर वैदिक काल में विभिन्न प्रकार के भोजन बनाये जाते थे। भोजन को स्वादिष्ट बनाया जाता था। मांस-भक्षण और मदिरापान बुरा समझा जाता था। कढ़े हुए विभिन्न रंगों के कपड़े पहने जाते थे।

11. मनोरंजन के साधन—ऋग्वेद काल में जुआ, नृत्य, संगीत, आखेट, रथदौड़, घुड़दौड़ आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। उत्तर वैदिक काल में उपरोक्त मनोरंजन के साधनों के अतिरिक्त नाटक और वाद्ययंत्रों से भी मनोरंजन किया जाता था।

12. कृषि, पशुपालन और उद्योग-धन्धे—पूर्व वैदिक काल में कृषि और पशुपालन प्रमुख व्यवसाय थे। उत्तर वैदिक काल में कृषि और पशुपालन के अतिरिक्त अनेक नवीन उद्योगों का विकास हुआ और व्यावसायिक संघों की स्थापना हुई।

13. धर्म—ऋग्वैदिक काल में धर्म का स्वरूप अत्यन्त सरल था। आर्य द्यौ, पृथ्वी, वरुण, इन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि देवताओं की पूजा करते थे। इन्द्र, सूर्य, वरुण

और पृथ्वी को प्रमुख देवताओं के रूप में सम्मान प्राप्त था। यज्ञ बलि रहित और कम खर्चीले होते थे।

उत्तर वैदिक काल में धार्मिक क्षेत्र में भारी परिवर्तन आ गया था। पूर्व वैदिक काल के प्रमुख देवताओं का महत्त्व उत्तर वैदिक काल में कम हो गया था। उनके स्थान पर शिव, विष्णु और प्रजापति (ब्रह्मा) को विशेष महत्त्व दिया जाता था। धर्म में आडम्बर और कर्मकांड की भावना आ गई थी। यज्ञों में बलि को आवश्यक माना जाता था और बड़े यज्ञों में सत्रह पुरोहितों की आवश्यकता होने लगी थी। यज्ञ जटिल और खर्चीले हो गये थे। समाज में ब्राह्मणों का महत्त्व बढ़ गया था। उत्तर वैदिक काल में पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा दार्शनिक और आध्यात्मिक ज्ञान में अत्यधिक वृद्धि हुई।

भारतीय संस्कृति में आर्यों की देन

भारतवर्ष के इतिहास में आर्य सभ्यता का विशेष महत्त्व है। उन्होंने दीर्घ-काल तक भारत में शासन किया। आर्यों के शासन काल में राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक और धार्मिक क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई। इन क्षेत्रों में उनकी उपलब्धियों ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया है। वैदिक काल में रचित वेदों को आज भी धर्म ग्रन्थों के रूप में महत्त्व दिया जाता है। आर्यों द्वारा प्रतिपादित विचारधाराओं ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया है। आर्यों के बाद यूनानी, शक, कुषाण और हूणों ने भारत में शासन किया, किन्तु वे भारतीय संस्कृति को व्यापक स्तर पर प्रभावित नहीं कर पाये। उनकी सभ्यताओं के चिन्ह मिट चुके हैं। परन्तु आर्य सभ्यता का प्रभाव अभी तक विद्यमान है। भारतीय संस्कृति को आर्यों की महत्त्वपूर्ण देन रही हैं। इतिहासकार जदुनाथ सरकार का मत है कि उच्च आध्यात्मिक भावना, साहित्य का व्यवस्थापन एवं विशद व्याख्या, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में संयत कल्पना, व्यवसायानुसार एवं वंशानुसार जातियों का विभाजन, अनार्य प्रथाओं के विपरीत नारी सम्मान तथा तपोवन पद्धति भारतीय संस्कृति को आर्यों की देन हैं। भारतीय संस्कृति को आर्यों की जो देन रही हैं उन्हें निम्नलिखित चार शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है— 1. राजनीतिक देन, 2. सामाजिक देन, 3. सांस्कृतिक देन तथा 4. धार्मिक देन।

1. राजनीतिक देन

राजनीतिक क्षेत्र में आर्यों ने जिन मान्यताओं का विकास किया वे वर्तमान राजनीतिक जीवन की अंग बन गयी हैं। यद्यपि वर्तमान समय में राज-तंत्रात्मक शासन पद्धति समाप्त हो चुकी है तथापि वैदिक काल में जिन लोककल्याण-कारी कार्यों को राजा सम्पन्न करता था, वे सभी कार्य वर्तमान समय में राज्य सरकारों द्वारा पूर्ण किए जाते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में आर्यों की देन इस प्रकार रही हैं:

(अ) **लोकतान्त्रिक भावना**—विश्व में लोकतान्त्रिक भावना को सर्वप्रथम जन्म देने का श्रेय आर्यों को दिया जाता है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर राजा को निर्वाचित किए जाने का उल्लेख मिलता है। यद्यपि बाद में राज्याधिकार पैतृक हो जाने तथा राज्यों का विस्तार हो जाने के कारण राजा के अधिकार क्षेत्र में असाधारण वृद्धि हो गई थी तथापि सभा और समिति नामक संस्थाओं के माध्यम से उसकी निरंकुशता पर अंकुश रखा जाता था । विद्वानों ने सभा और समिति को आधुनिक संसद बताया है। राज्याभिषेक के समय वह जनकल्याणकारी कार्य करने की शपथ लेता था। धर्मविरुद्ध आचरण करने पर जनता को उसे पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त था। ब्राह्मण ग्रन्थों से विदित होता है कि प्रजा राजा को निर्वासित कर सकती थी। वैदिक काल में राजतंत्रों के अतिरिक्त अनेक गणराज्यों का उल्लेख मिलता है।

(आ) **आदर्श युद्ध नीति**—आर्यों ने युद्ध काल के लिए जिन नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन किया वे न केवल भारत अपितु विश्व के लिए अनुकरणीय रहे हैं। युद्ध के समय स्त्रियों और बच्चों का वध न करना, जनसाधारण को पीड़ित न करना, कृषि को क्षति न पहुँचाना, निहत्थे और शरण में आये हुए शत्रु को क्षमा करना, पीठ दिखाने वाले शत्रु का पीछा न करना आदि उनकी युद्ध नीति के प्रमुख आदर्श थे। यह कहा जा सकता है कि आर्यों ने जिस आदर्श युद्ध संहिता का निर्माण किया, बाद के भारतीयों ने उस पर निष्ठापूर्वक अमल किया। राजपूत राजाओं ने उन आदर्शों को अतीत की धरोहर के रूप में अंगीकार किया यद्यपि उनकी इस नीति ने उन्हें संकट में डाल दिया था।

(इ) **ग्रामों में स्वायत्त-शासन की स्थापना**—वैदिक काल में गाँवों को पूर्ण स्वायत्तता प्रदान की गई थी। ग्राम का प्रधान अधिकारी 'ग्रामणी' कहलाता था। वह भूमि-कर वसूल करता था तथा गाँव के सभी कार्यों के प्रति उत्तरदायी होता था। राजा ग्राम सम्बन्धी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था। प्राचीन काल में अन्य राजवंशों के शासनकाल में भी गाँवों की स्वायत्तता में कोई कमी नहीं आई। मुगलकाल में गाँवों के महत्त्व में कोई कमी नहीं हुई। वर्तमान समय में गाँव पंचायती शासन के मुख्य आधार हैं।

2. सामाजिक देन

(अ) **पारिवारिक जीवन**—आर्य परिवार को समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई मानते थे। उन्होंने पितृ-प्रधान पारिवारिक जीवन को महत्त्व दिया। परिवार का वयोवृद्ध अथवा पिता परिवार का प्रधान होता था, जिसे 'कुलप' अथवा 'गृहपति' कहा जाता था। वह परिवार के सदस्यों पर नियन्त्रण रखता था। परिवार के सभी सदस्य उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। आर्यों ने संयुक्त परिवार प्रणाली को जन्म दिया। उनके द्वारा अपनाई गई पितृ-प्रधान और संयुक्त परिवार प्रथा प्राचीन काल से वर्तमान समय तक भारत में निर्विवाद रूप से चली आ रही है।

(आ) **वर्ण-व्यवस्था और वर्णाश्रम धर्म**—वैदिक काल में आर्य-समाज चार वर्णों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वैदिक काल में वर्ण का आधार कर्म था। उसे (वर्ण-व्यवस्था को) समाज में श्रम के बँटवारे और विभिन्न व्यवसायों में दक्षता प्राप्त करने के लिए प्रचलित किया गया था। शनैः-शनैः उसमें कट्टरता आने लगी। व्यवसाय के आधार पर बाद में अनेक जातियों का आविर्भाव हुआ। कालांतर में वर्ण का आधार कर्म न रह कर जन्म हो गया था और वह हिन्दू धर्म और संस्कृति का प्रधान अंग बन गई। वर्ण-व्यवस्था में जटिलता आ जाने के कारण और विभिन्न जातियों में भेदभाव के विरुद्ध छठी शताब्दी ई० पू० से आधुनिक काल तक समाज सुधारकों ने आवाज उठाई। स्वतन्त्र भारत की सरकार की नीति जाति-प्रथा के विरुद्ध है। इतने विरोधों के बावजूद वर्ण-व्यवस्था वर्तमान समय तक हमारे देश में विद्यमान है।

वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त आर्यों ने वर्णाश्रम धर्म पर विशेष बल दिया। सम्पूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक चार आश्रमों में विभक्त था। वर्णाश्रम का आधार जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति था। आर्यों की इस देन (वर्णाश्रम धर्म) का भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन भारत में दीर्घकाल तक वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत चारों आश्रमों का पालन किया जाता था। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम पर आज भी बल दिया जाता है।

(इ) **स्त्री-सम्मान**—पूर्व वैदिक काल में स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उन्हें पुरुषों की 'सहधर्मिणी' कहा जाता था। सामाजिक समारोहों और धार्मिक उत्सवों के अवसर पर वे पुरुषों के साथ भाग लेती थीं। यज्ञ, हवन और अन्य धार्मिक क्रियाओं में स्त्री की उपस्थिति अनिवार्य थी। स्त्रियों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। उन्हें पति-वरण करने की स्वतन्त्रता थी। वैदिक कालीन अनेक विदुषी महिलाओं का उल्लेख मिलता है। यहाँ तक कहा जाने लगा था कि जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं और जहां नारियों को पीड़ित किया जाता है वहाँ क्लेश होता है। किन्तु कालान्तर में नारियों के सम्मान में कमी आ गयी थी, राजपूत काल में उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। कन्यावध और स्त्री प्रथा नामक कुप्रथाएं प्रचलन में आ गई थीं। किन्तु अब नारियों के सम्मान में पुनः वृद्धि हो रही है। वर्तमान सरकार महिलाओं को विशेष सुविधाएं और सम्मान दिये जाने के लिए कृतसंकल्प है।

(ई) **भोजन-वस्त्र और आभूषण**—आर्य लोग पौष्टिक भोजन में रुचि, सुन्दर और रंगीन वस्त्र तथा मूल्यवान धातुओं के आभूषण के प्रति विशेष लगाव रखते थे। यह भावना प्राचीन काल से बिना किसी व्यवधान के चली आ रही है। वर्तमान समय में भी पौष्टिक भोजन, सुन्दर वस्त्र और आभूषणों में मानव विशेष रुचि रखता है।

(उ) **देशभक्ति की भावना**—आर्यों ने मातृभूमि के प्रति प्रेम की भावना को जन्म दिया। उन्होंने भारत को देवनिर्मित देश की संज्ञा दी है। अयोध्या के राजा

राम ने यह कहकर कि अपनी मातभूमि स्वर्ग से भी महान् होती है, देशभक्ति की भावना का आदर्श प्रस्तुत किया। इसी भावना के अनुरूप राजस्थान के रेगिस्तान की रक्षा हेतु राजपूतों ने अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया। देशप्रेम की भावना से प्रेरित होकर भारत माता के सच्चे सपूतों ने 1857 ई० में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह और बीसवीं शताब्दी में सम्पन्न हुए राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर यह सिद्ध कर दिया कि भारत में अधिक समय तक ब्रिटिश शासन का चलना असम्भव है। उन्होंने अंग्रेजों को भारत की स्वतन्त्रता के लिए सोचने को बाध्य कर दिया था। देश प्रेम की भावना का परिचय देते हुए हमारे वीर सैनिकों ने सन् 1965 और 1971 ई० में पाक-आक्रांताओं के मंसूबों पर पानी फेर दिया। यही भावना विश्व में राष्ट्रों के विकास में सहायक सिद्ध हो रही है।

3. सांस्कृतिक देन

सांस्कृतिक क्षेत्र में आर्यों की भारतीय संस्कृति को महत्त्वपूर्ण देन रही हैं। उन्होंने संस्कृत भाषा के विकास और साहित्यिक ग्रन्थों की रचना में विशेष अभिरुचि दिखाई। आर्यों ने वेद, पुराण, सूत्र, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद, गीता, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों की रचना की। ये ग्रन्थ आज भी पवित्र और प्रेरणा के स्रोत माने जाते हैं। वेदों को धर्मग्रन्थों के रूप में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। उपनिषद भारतीय दर्शन शास्त्र के मूल स्रोत माने जाते हैं। गीता हिन्दू जीवन का आधार है। आर्यों ने संस्कृत भाषा में ग्रन्थों की। रचना की इससे संस्कृत भाषा का न केवल प्रभाव बल्कि उसका विकास भी हुआ। विद्वान संस्कृत को सभी भाषाओं का मूल स्रोत मानते हैं। साहित्यिक क्षेत्र में आर्यों की महत्त्वपूर्ण देन का उल्लेख करते हुए आर० एस० चक्रवर्ती ने लिखा है—"आर्यों की प्रतिभा अथवा श्रेष्ठ बौद्धिक शक्ति इस बात में निहित नहीं है कि उन्होंने प्राचीन मिस्त्रियों, सुमेरियन तथा अन्य सभ्यताओं के निर्माता की तरह अपनी सभ्यता का स्मरण कराने के लिए ईंट और पत्थरों के भवन छोड़ दिए अपितु उनका योगदान इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने भावी पीढ़ियों के लिए वेद और महाकाव्य जैसे सर्वाधिक सौन्दर्य और महत्त्व का साहित्य छोड़ा है।"[1]

---

1. The genius of ancient Aryans of India of the Vedic and Epic Ages did not lie, we should admit, in leaving behind them structures in bricks and stones as did the ancient Egyptians and Sumerians and others to commemorate their civilization but in leaving to posterity literature of the greatest beauty and signficance such as the Vedas and the Epics." —*R. S. Chabravarti*

4. धार्मिक देन

आर्यों ने धार्मिक क्षेत्र में जिन मान्यताओं को जन्म दिया वे कालान्तर में हिन्दू धर्म के अंग बन गयी थीं। आर्य दुर्गा, पार्वती, लक्ष्मी, वरुण, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश आदि देवी देवताओं की पूजा करते थे। आधुनिक काल में भी इन देवताओं की पूजा श्रद्धाभाव के साथ होती है।

धार्मिक सहिष्णुता की भावना भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है, जो कि हमें आर्यों की देन है। वेदों में कहा गया है कि सारे देवता उसी एक शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। गीता में कहा गया है कि जो व्यक्ति मुझे किसी भी मार्ग से चलकर मिलने का प्रयत्न करता है, उसे मैं अवश्य मिलता हूँ। धार्मिक सहिष्णुता की भावना के फलस्वरूप भारत में रह रहे सभी विदेशी अन्त में भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन हो गये। उनका पृथक् अस्तित्व कहीं शेष न रहा।

आर्य आत्मा की अमरता, कर्म, पुनर्जन्म तथा मोक्ष में अटूट आस्था रखते थे। ये सभी सिद्धांत आज भी हिन्दू धर्म की धरोहर हैं। आर्यों में प्रचलित अंध-विश्वास अभी तक प्रचलित हैं।

वैदिक काल में ऋषि-मुनि तपोवनों में साधना करके ज्ञान अर्जित करते थे। अध्ययन के इच्छुक नवयुवकों को गुरु के साथ तपोवनों में रहना पड़ता था। लौकिक और पारलौकिक विषयों पर गहन चिन्तन और मनन किया जाता था। ये आश्रम बाद में विश्वविद्यालयों (ज्ञान के केन्द्र) के रूप में परिवर्तित हो गये थे। इन तपोवनों का भारतीय संस्कृति के प्रसार और विकास में भारी योग रहा है। इस सन्दर्भ में सर जदुनाथ सरकार का यह कथन उल्लेखनीय है—"इस आश्रम-प्रथा द्वारा शांतिमय उपवनों में हमारे दर्शनशास्त्र की उन्नति हुई तथा आचार शास्त्र, नीति-शास्त्र, एवं साहित्य की शाखाओं को जीवन मिला। यहीं पर हमारी सच्ची प्राचीन सभ्यता विद्यमान थी और इन सब बातों का श्रेय हमारे प्राचीन आर्यों को था।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में आर्यों के आगमन और प्रसार का वर्णन कीजिए।
2. आर्य कौन थे ? उनके मूल निवास प्रदेश से सम्बन्धित विभिन्न मतों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. ऋग्वैदिक सभ्यता की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
4. ऋग्वैदिक समाज और धर्म का वृत्तान्त संक्षेप में लिखिए।
5. उत्तर वैदिक कालीन आर्य सभ्यता का वर्णन कीजिए।
6. उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति पर एक टिप्पणी लिखिए।
7. ऋग्वैदिक और उत्तर वैदिक कालीन सभ्यताओं का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

8. उत्तर वैदिक युग में आर्यों की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दशाओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

9. भारतीय संस्कृति में आर्यों की देन का मूल्यांकन कीजिए।

अथवा

भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने में आर्यों के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

10. 'आर्य' शब्द से आप क्या समझते हैं? ऋग्वेद से उत्तर वैदिक युग तक आर्य संस्कृति के विकास का उल्लेख कीजिए।

8

महाकाव्य-काल

रामायण और महाभारत भारत के दो महाकाव्य माने जाते हैं। उनका रचना काल 'महाकाव्य काल' और उनमें वर्णित सभ्यता 'महाकाव्य कालीन सभ्यता' के नाम से प्रसिद्ध है। रामायण के रचयिता महर्षि बाल्मीकि थे और महाभारत की रचना का श्रेय वेदव्यास को दिया जाता है। संस्कृत साहित्य में रामायण को 'आदिकाव्य' और महाभारत को 'इतिहास-पुराण' की संज्ञा दी गई है। हरिदत्त वेदालंकार ने इन महाकाव्यों को धर्म के प्रधान मूल स्रोत, सामाजिक आधार के मेरुदण्ड और संस्कृति के प्राण कहा है। महाभारत संसार का सबसे बड़ा काव्य है। इन महाकाव्यों में ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। विद्वानों का मत है कि रामायण आर्यों के दक्षिण भारत में प्रवेश करने का इतिहास प्रस्तुत करता है और महाभारत में राजवंशों के पारस्परिक द्वेष तथा साम्राज्य प्राप्ति हेतु संघर्ष का उल्लेख मिलता है। रामायण और महाभारत से तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं और सभ्यता पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी का कथन है—"रामायण और महाभारत प्राचीन वीरों और वीरांगनाओं के पारस्परिक प्रणय और विद्रोह, जय और पराजय तथा प्राचीनतर प्रचलित अनुश्रुतियों की संहिताएं हैं। इनसे उस प्राचीनकाल की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है।"

महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) में राजा, राजनीति, युद्ध, साम्राज्य-विस्तार, विजय एवं दरबार में होने वालों षड्यन्त्रों का विवरण मिलता है। महाकाव्यों में उल्लिखित विवरण तथा उनके रचना-उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—"यह वीरता की काव्य रचना है। इसका सम्वंध देवताओं की स्तुति अथवा यज्ञों के विवरण से नहीं अपितु यह राजाओं, श्रेष्ठ पुरुषों अथवा युद्ध के विषयों का वर्णन करती है। इस काव्य रचना में उच्च दर्शनशास्त्र के गुण नहीं मिलते। इनका उद्देश्य व्यावहारिक

था अर्थात् उन लोगों से पारितोषिक प्राप्त करना था जिनके लिए यह गाई गई थी ।"

रामायण का रचना-काल—बाल्मीकि कृत रामायण में उल्लिखित भौगोलिक वर्णन से यह विदित होता है कि वह महाभारत काल से पूर्व की रचना है। रामायण के रचना-काल के संदर्भ में विद्वानों में मतभेद हैं। वेबर रामायण को महात्मा बुद्ध के आविर्भाव के बाद की रचना मानते हैं। किंतु ऐसा मानना तर्क असंगत है। रामायण में बुद्ध तथा उनके काल की घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता है। ए०डी० पुसलकर महोदय ने रामायण के नायक राम का काल 1350 ई० पू० माना है। पंडित भगवद्दत्त का मत है कि राम विक्रमी संवत् से कम से कम 5000 वर्ष पूर्व राज्य करते थे। डॉ० मैकडोनेल का कथन है कि रामायण का मूल 500 ई० पू० से पहले रचा जा चुका था और पिछले भाग की रचना 200 ई० पू० अथवा उससे बाद हुई। अधिकांश विद्वान् रामायण का रचना-काल 600 ई० पू० से 500 ई० पू० के मध्य मानते हैं।

रामायण की ऐतिहासिकता—रामायण में कुल चौबीस हजार श्लोक हैं। भारतीय रामायण को ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में महत्त्व देते हैं। रामायण के नायक राम को सर्वप्रथम दक्षिणी भारत में आर्य संस्कृति के प्रसार का श्रेय दिया जाता है। किंतु कुछ विद्वान् रामायण की ऐतिहासिकता को संदिग्ध मानते हैं। लासेन और वेबर का मत है कि रामायण अनार्य दक्षिण की आर्यों द्वारा विजय और वहां उनकी (आर्य) संस्कृति के प्रचार का आलंकारिक निरूपण मात्र है। मैकडोनेल और जैकोबी रामायण को भारतीय धर्म-विश्वास की काल्पनिक अभिसृष्टि मानते हैं। डॉ० स्मिथ ने रामायण की ऐतिहासिकता पर संदेह व्यक्त करते हुए लिखा है—"यह काव्य (रामायण) मुझे मूलतः कल्पना पर आधारित लगता है जो संभवतः कोशल के राज्य और उसकी राजधानी अयोध्या की धूमिल परंपराओं पर आधारित है।"[1]

किन्तु भारतीय विद्वान् रामायण की ऐतिहासिकता पर संदेह प्रकट करने वाले इतिहासकारों के मतों का विरोध करते हैं। रामायण में प्राप्त राजाओं की वंशावली, बाद के ग्रंथों में रामायण से उद्धृत वर्णन मिलना आदि ऐसे तथ्य हैं जो रामायण की ऐतिहासिकता प्रमाणित करते हैं। वर्तमान समय में रामायण को धर्मग्रंथ के रूप में महत्त्व दिया जाता है और उसके नायक राम की देवरूप में

---

1. "The poem (Ramayana) seems to me to be essentially a work of imagination probably founded on vague traditions of the Kingdom of Kosala and its capital Ayodhia."

—*Dr. V.A. Smith*

पूजा की जाती है। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी का यह कथन उल्लेखनीय है—"इसमें कोई संदेह नहीं कि इसकी कथावस्तु अनेक धर्म सम्बन्धी और काल्पनिक विश्वासों से ओत-प्रोत है, फिर भी राम की ऐतिहासिकता में संदेह करना अयुक्तियुक्त है।"

रामायण-काल

रामायण का ऐतिहासिक विवरण—बाल्मीकि कृत रामायण महाकाव्य के नायक राम हैं। पुसलकर महोदय राम को राजा मनु के वंश का 65 वां राजा मानते हैं। मनु प्राचीन भारत का प्रथम राजा था, जैसे कि महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्रों से भी विदित होता है। मनु का पुत्र इक्ष्वाकु था। उसी के नाम के अनुरूप इस वंश का नाम इक्ष्वाकु-वंश पड़ा। इस वंश में राम जैसे महान् और आदर्श राजा हुए।

राम अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र थे। राजा दशरथ की कौशल्या, सुमित्रा और कैकई नामक तीन रानियाँ थी। इन रानियों में कैकई का प्रभाव सर्वाधिक था। कौशल्या से राम पैदा हुए, सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म हुआ तथा कैकई ने भरत को जन्म दिया। वृद्धावस्था में प्रवेश करने के बाद राजा दशरथ ने बड़े पुत्र राम को राजगद्दी पर आसीन करने की योजना बनाई। राजदरबार के षड्यन्त्र के कारण रानी कैकई ने दशरथ के उक्त निर्णय का विरोध किया। उसने राम को चौदह वर्ष का वनवास और अपने पुत्र भरत को राजसिंहासन प्रदान करने के लिए राजा दशरथ को विवश कर दिया। राम और उसकी अर्धांगिनी सीता (विदेह के सम्राट जनक की पुत्री) तथा भाई लक्ष्मण वन को चले गये। पुत्र के वनगमन के शोक से पीड़ित होकर राजा दशरथ का देहान्त हो गया। भरत बड़े भाई के प्रति अगाध स्नेह और श्रद्धा रखते थे। अयोध्या पहुँचने पर उन्होंने राज्याधिकारी बनने से स्पष्ट इंकार कर दिया और अपने बड़े भाई राम को लौटा लाने के लिए वन को चल पड़े। राम द्वारा लौटने से इंकार किए जाने पर भरत ने राम के खड़ाऊँ सिंहासन पर रखकर राजकार्य संचालित किया। भरत अपने को राम का प्रतिनिधि मात्र मानते थे। वनों में अनेक कष्टों को झेलते हुए राम, लक्ष्मण और सीता दक्षिणी भारत में प्रविष्ट हुए। वनवास के तेरह वर्ष व्यतीत होने के पश्चात् चौहदवें वर्ष राम, लक्ष्मण और सीता दक्षिण में गोदावरी नदी के पास पंचवटी नामक स्थान पर ठहरे हुए थे। वहाँ विचरण करने वाले अनेक राक्षसों ने उनके लिए कई कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दीं। एक दिन राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में लंकाधिपति रावण सीता का अपहरण कर ले गया। अतः राम और लक्ष्मण ने रावण को दंडित करने की योजना बनाई। उन्होंने किष्किधा के वानर राजा सुग्रीव और राज्य के सेनापति वीर हनुमान की सहायता से लंका पर चढ़ाई कर दी। भीषण संग्राम के बाद राम विजयी हुए और रावण अपने अनेक योद्धाओं सहित मारा गया। लंका को विजित करने के उपरांत लक्ष्मण उस स्वर्णनिर्मित नगरी के सौंदर्य पर

मुग्ध हो गये और उन्होंने राम को वहीं राज्य करने की सलाह दी। परन्तु राम ने उनकी सलाह को, यह कहकर कि मातृभूमि स्वर्ग से भी महान् होती है, मानने से इन्कार कर दिया। चौदह वर्ष का वनवास पूर्ण करने के बाद राम-सीता और लक्ष्मण अयोध्या लौट आये। अयोध्या लौटने पर उनका भव्य स्वागत हुआ और बड़ी धूमधाम के साथ राजा राम का राजतिलक समारोह सम्पन्न हुआ। कहा जाता है कि एक धोबी द्वारा रावण की लंका में रहने के कारण सीता के चरित्र पर आक्षेप किया गया। राम ने मर्यादा का पालन करते हुए सीता को त्याग दिया। परित्यक्त अवस्था में गर्भवती सीता महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में रहने लगीं, जहाँ बाद में उसने लव और कुश नामक राम के दो पुत्रों को जन्म दिया। ऐसी सीता जो विदेह के दार्शनिक सम्राट् जनक की एकमात्र पुत्री थी और चौदह वर्ष पति के साथ वन में दुःख झेलने के बाद अयोध्या की रानी बन गई थी, पति द्वारा छोड़ दिये जाने पर वन में वाल्मीकि मुनि के आश्रम में निवास करने को विवश हुई। निश्चित ही यह एक अत्यन्त कारुणिक घटना है। इस घटना से कठोरतम व्यक्ति का हृदय भी क्षण भर के लिए अवश्य भाव-विह्वल हो उठता है। अयोध्या का चक्रवर्ती सम्राट बनने के पश्चात् राजा राम ने अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया। अश्वमेध में छोड़े गये घोड़े को लव और कुश ने पकड़ लिया। फलतः लव-कुश और राम की सेना के मध्य भीषण संग्राम हुआ। अंत में राम की सेना पराजित हुई। राम स्वयं युद्ध के विजेता लव और कुश से मिले तथा उन्हें अपने साथ अयोध्या ले गये। किन्तु तब तक सीता पृथ्वी माता में विलीन हो चुकी थी। राम के पश्चात् लव और कुश ने शक्तिशाली राजाओं के रूप में शासन किया।

राम द्वारा दक्षिण-भारत की विजय के फलस्वरूप वहाँ आर्य संस्कृति का प्रचार और प्रसार हुआ। राम-रावण युद्ध उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के दो राजाओं के मध्य का संघर्ष था जिसमें उत्तरी भारत के राजा राम ने दक्षिणी भारत के राजा रावण को पराजित करके मार डाला। लव-कुश के शासन के उपरांत अयोध्या राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया।

रामायण का महत्त्व—रामायण में वर्णित विवरण का संक्षिप्त ऐतिहासिक उल्लेख किए जाने के पश्चात् उसके महत्त्व पर प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है। मूल रामायण में पाँच कांड बताए जाते हैं और उसमें दो कांड बाद में जोड़े गये थे। रामायण का अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व है। वह भारत का पहला ऐतिहासिक काव्य है। उससे इक्ष्वाकु वंशी राजाओं के राज्य पर प्रकाश पड़ता है। रामायण से विदित होता है कि सर्वप्रथम राम ने ही दक्षिण के राजा रावण को पराजित करके वहां आर्य सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया। रामायण के नायक राम के चरित्र को एक महान् राजा और मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसमें राम जैसे आज्ञाकारी पुत्र, लक्ष्मण जैसे आदर्श भाई, सीता जैसी आदर्श पत्नी और भरत जैसे स्नेही एवं समर्पित भ्राता के चरित्र का उल्लेख मिलता है। रामायण में पुत्र, भाई और पत्नी के जिन आदर्शों का वर्णन किया गया है वे विश्व-

युद्ध के कगार पर पहुँचे संसार के करोड़ों परिवारों के लिए अनुकरणीय हैं। रामायण प्राचीन काल से ही अनेक लोगों के लिए प्रेरणादायक ग्रंथ रहा है। उसकी ऐतिहासिकता में संदेह व्यक्त करना प्राचीन भारतीय इतिहास की जान बूझकर अनदेखी करना है। हजारों वर्षों के बाद भी रामायण के नायक राम जनसाधारण में पूज्य और श्रद्धा के पात्र हैं।

रामायण न केवल ऐतिहासिक महत्त्व का ग्रंथ है वरन् उसका साहित्यिक, दार्शनिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व भी कम नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से उसे भारतीय संस्कृत साहित्य की सर्वोत्कृष्ट निधि माना जाता था। उसे भारतीय नीति और दर्शन का दर्पण कहा गया है। रामायण से तत्कालीन कई धर्मों और दर्शन-शास्त्र के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। इसमें भारतीय संस्कृति के विभिन्न अंगों का विस्तृत विवेचन है। रामायण के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है और उसे विश्व के अनेक देशों में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

महाभारत-काल

रामायण के पश्चात् भारतीय महाकाव्यों में महाभारत का नाम उल्लेखनीय है। यह अठारह पर्वों में विभक्त है और इसकी रचना का श्रेय वेदव्यास को दिया गया है।

महाभारत का रचना-काल—विद्वानों का मत है कि वेदव्यास कृत महाभारत रामायण के बाद की रचना है। महाभारत के रचना-काल के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं। पुसलकर का मत है कि महाभारत का युद्ध 1400 ई०पू० में हुआ। किन्तु भगवद्दत्त, लेखराम और प्रोफेसर रामदेव का कथन है कि 1978 ई० तक महाभारत के युद्ध को हुए लगभग 5079 वर्ष व्यतीत हो चुके थे। जे० राव के मतानुसार महाभारत का युद्ध 3139 ई०पू० हुआ था। कुछ विद्वान महाभारत का रचना काल 2000 ई०पू० से 1000 ई०पू० के मध्य बताते हैं। कतिपय विद्वान महाभारत के युद्ध की तिथि 1000 ई०पू० तर्कसंगत मानते हैं। मैकडौनेल ने महाभारत की रचना 500 ई०पू० में बतायी है। विंटर्निज महोदय इसका काल 400 ई० पू० निर्धारित करते हैं। आर० जी० भण्डारकर का मत है कि महाभारत की रचना ई०पू० 500 वर्ष तक अवश्य हो चुकी थी। कुछ अन्य विद्वान् उसका रचना-काल 300 ई०पू० से 100 ई० के मध्य बताते हैं। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी का कथन है कि महाभारत पतंजलि के महाभाष्य (दूसरी शताब्दी ई० पू०) तक पूर्ण हो चुका था।

महाभारत की ऐतिहासिकता—रामायण की भांति कुछ विद्वान् महाभारत की ऐतिहासिकता पर संदेह प्रकट करते हैं। महाभारत में कौरव-पाण्डवों के मध्य संघर्ष का वर्णन तथा यादवों के राजा कृष्ण के चरित्र का उल्लेख मिलता है। कृष्ण उस काल के एक वीर पुरुष और कुशल राजनीतिज्ञ थे। वर्तमान समय में

उन्हें विष्णु का अवतार माना जाता है और उनकी पूजा की जाती है। महाभारत की ऐतिहासिकता में संदेह व्यक्त करना भारतीय इतिहास के ज्ञान से परे रहना है। यह असत्य पर सत्य की विजय का वृत्तान्त है।

महाभारत का ऐतिहासिक विवरण—कहा जाता है कि राजा मनु की पुत्री इला का विवाह बुद्ध से हुआ था। उससे उत्पन्न संतान चन्द्रवंशी कहलाए। इस वंश में पुरु, दुष्यंत, भरत, कुरु, शांतनु, धृतराष्ट्र, परीक्षित और जनमेजय जैसे अनेक महान् राजा हुए। धृतराष्ट्र इस वंश का 93वाँ राजा था।

राजा शांतनु का विवाह गंगा से हुआ था जिससे देवव्रत (भीष्म) नामक पुत्र का जन्म हुआ। युवावस्था व्यतीत करने के बाद राजा शांतनु नाविक की एक सुन्दर पुत्री पर आसक्त हो गये। शांतनु ने उससे विवाह करने का निश्चय किया। किंतु नाविक ने यह शर्त निर्धारित कर दी थी कि विवाह तभी संभव हो सकता है जबकि उसकी पुत्री से उत्पन्न पुत्र ही राजगद्दी पर बैठेगा। शांतनु ने वह शर्त स्वीकार तो नहीं की परन्तु इच्छा पूर्ति न होने के कारण वे दुःखी रहने लगे। पिता की मनोकामना को पूर्ण करने के लिए युवा देवव्रत ने प्रतिज्ञा की कि वह राजगद्दी पर नहीं बैठेगा तथा जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करेगा। तभी से वे भीष्म कहलाए। देवव्रत द्वारा सिंहासन पर न बैठने का संकल्प लिए जाने के बाद शांतनु और नाविक की सुन्दर कन्या सत्यवती का विवाह सम्पन्न हो गया। सत्यवती से चित्रांगद और विचित्रवीर्य नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। चित्रांगद एक भीषण युद्ध में मारा गया। अतः शांतनु के बाद उसका पुत्र विचित्रवीर्य राजगद्दी पर बैठा। उसके दो पुत्र थे—धृतराष्ट्र और पाण्डु।

धृतराष्ट्र जन्मान्ध था। अत: विचित्रवीर्य के पश्चात् पाण्डु हस्तिनापुर राज्य की राजगद्दी पर बैठा। कुछ समय बाद पाण्डु की मृत्यु हो जाने के फलस्वरूप धृतराष्ट्र को राज्याधिकार प्राप्त हुआ। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे जो कौरव कहलाए और पाण्डु के पांच पुत्र पाण्डव कहलाए। धृतराष्ट्र का सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन और पाण्डु का सबसे बड़ा पुत्र युधिष्ठिर था। धृतराष्ट्र के पुत्र पाडवों के प्रति द्वेषभाव रखते थे। अतः उन्होंने धृतराष्ट्र द्वारा युधिष्ठिर को राज्याधिकार दिए जाने का विरोध किया। धूर्त दुर्योधन ने पाण्डुवों को राज्य से बाहर गंगा के किनारे वारणव्रत में शरण लेने को बाध्य किया। वहाँ उसने पाण्डवों से लाख निर्मित एक महल में रहने को कहा। दुर्योधन ने उस पर आग लगवा दी, किंतु पाडव अपने प्राण बचाने में सफल हो गये। तत्पश्चात् पाण्डव पांचाल देश में पहुँचे। पांचाल देश के राजा द्रुपद ने अपनी पुत्री द्रौपदी का स्वयंवर आयोजित किया। विवाह के लिए शर्त यह थी कि जो वीर नीचे पानी में मछली की छाया को देखकर उसकी आंख वेध देगा उसी के साथ द्रौपदी का विवाह कर दिया जायेगा।

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने निर्धारित शर्त पूर्ण करने के बाद द्रौपदी के साथ विवाह कर लिया।

पांचाल नरेश से सम्बन्ध स्थापित हो जाने के फलस्वरूप पाण्डवों का राजनीतिक क्षेत्र में महत्त्व बढ़ गया। उन्होंने दुर्योधन से अपने राज्य की वापसी की मांग की। काफी वाद-विवाद होने के पश्चात् दुर्योधन ने दिल्ली के समीप कुछ ऊसर भूमि पाण्डवों को दे दी। पाण्डवों ने निरंतर परिश्रम कर उसे विकसित किया और इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाया। उन्होंने राजनीतिक सूझबूझ और दूरदर्शिता का परिचय देते हुए एक आदर्श और सुसंगठित राज्य की नींव डाली। पाण्डवों की प्रगति और उनके राज्य की चतुर्दिक उन्नति को देखकर उनका प्रतिद्वंद्वी दुर्योधन द्वेषभाव से जल उठा। उसने युधिष्ठिर को जुए के लिए आमंत्रित किया। युधिष्ठिर ने उसके निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। द्यूत-क्रीड़ा का अन्तिम परिणाम दुर्योधन के पक्ष में रहा। युधिष्ठिर जुए में राज्य को तो हारा ही, पाण्डव-पत्नी द्रौपदी को भी हार गया। दुर्योधन के छोटे भाई दुःशासन ने भरी सभा में द्रौपदी को अपमानित करने की योजना बनाई। संकट की घड़ी में द्वारिका के यादव राजा श्री कृष्ण ने द्रौपदी की सहायता की। अंत में पाण्डवों को तेरह वर्ष का वनवास दे दिया गया।

तेरह वर्ष तक सघन वनों में निवास करने के उपरांत युधिष्ठिर ने दुर्योधन से पुनः राज्य की मांग की। यादवों के राजा श्रीकृष्ण ने मध्यस्थता की। श्रीकृष्ण द्वारा बहुत समझाने के उपरांत भी जब दुर्योधन सुई की नोक के बराबर भी भूमि देने को तैयार नहीं हुआ तो कौरव और पाण्डवों के मध्य संघर्ष छिड़ गया। कहा जाता है कि उत्तराखंड की युद्धप्रिय जातियों ने धन लेकर महाभारत के युद्ध में कौरव दल की ओर से भाग लिया था। अठारह दिन तक भीषण संग्राम हुआ। दोनों ओर से सैकड़ों योद्धा रणक्षेत्र में मारे गये। श्रीकृष्ण ने महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की सहायता की। अंत में पाण्डव विजयी हुए और धृतराष्ट्र के सभी पुत्र युद्ध में मारे गये।

युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ आयोजित किया जिसमें उसने काफी दान वितरित किया। उत्तराखंड वासियों ने भी इस यज्ञ में स्वर्णादि उपहार सहित भाग लिया था। युधिष्ठिर ने 32 वर्ष तक चक्रवर्ती सम्राट के रूप में राज्य किया। तत्पश्चात् महाभारत के महान् योद्धा अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को राजगद्दी सौंपकर पाण्डव हिमालय की ओर चले गये। कुछ समय बाद वे हिमालय की गोद में समा गये। परीक्षित के बाद उसके वंशजों ने दीर्घकाल तक हस्तिनापुर और कौशाम्बी में राज्य किया।

महाभारत का महत्त्व—वेदव्यासकृत महाभारत का अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व है। भाषा और शैली की दृष्टि से यह श्रेष्ठ रचना है। इसमें महान् राजाओं की उपलब्धियों का वर्णन है। इसे प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अमरकोष

कहा गया है। इसे 'पंचमवेद' की संज्ञा दी गई है। कृष्ण द्वारा रचित गीता, जिसे हिन्दुओं के पवित्र धार्मिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है, महाभारत का एक भाग है। प्रारम्भ में इसमें 24000 श्लोक थे, जिनकी संख्या बाद में बढ़कर एक लाख हो गई थी। महाभारत में कौरव-पाण्डव संघर्ष के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के सर्वांगीण विकास की गाथा है। इससे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दशा पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। महाभारत को दर्शनों का सार और स्मृतियों का विवेचन ग्रन्थ कहा गया है। युधिष्ठिर आज भी सत्य के प्रतीक माने जाते हैं और कृष्ण की देवता के रूप में पूजा होती है। भीष्म पिता के प्रति समर्पित हो जाने वाले पुत्र और दृढ़ प्रतिज्ञा करने वाले के रूप में प्रसिद्ध हैं। सावित्री आदर्श भारतीय महिला का प्रतीक है। इस प्रकार महाभारत महापुरुषों के चरित्र की खान है।

महाकाव्य कालीन सभ्यता और संस्कृति

रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्य माने जाते हैं। इन ग्रन्थों में वर्णित सभ्यता महाकाव्यकालीन सभ्यता कहलाती है। दोनों महाकाव्यों में उल्लिखित राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा एक-सी प्रतीत होती है।

1. राजनीतिक दशा

(अ) **शासनतन्त्र**—महाकाव्य-काल में अधिकांश राज्यों का शासनाधार राजतन्त्र शासन-प्रणाली थी। कुछ गणराज्यों का भी उल्लेख मिलता है। अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर आदि प्रमुख गणराज्य थे। यह सम्भावना व्यक्त की जाती है कि इन सभी गणराज्यों ने मिलकर एक संघ बना लिया था, जिसके प्रधान श्री कृष्ण थे। राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होने पर भी निरंकुश नहीं होता था। राजपद वंशानुगत था। महाकाव्यकाल में विशाल राज्यों की स्थापना की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। कुरु, पांचाल, कोशल, काशी और विदेह उस काल के प्रमुख राज्य थे। राजा साम्राज्यवादी भावना से परिपूर्ण थे और 'अधिराज' ,'महाराजाधिराज', 'सम्राट्' के विरुद धारण करते थे। चक्रवर्ती सम्राट् बनना और अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करवाना राजा के प्रमुख लक्ष्य थे। रामायण के नायक राम चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। महाभारत में युधिष्ठिर का उल्लेख चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में मिलता है और उसके द्वारा सम्पादित अश्वमेध और राजसूय यज्ञों का विवरण मिलता है। इक्ष्वाकु राजाओं के शासनकाल में प्रजा सुखी और समृद्ध थी। इक्ष्वाकु वंशी राजा दशरथ के राज्यकाल में अयोध्या एक बहुत बड़ा नगर था। महर्षि बाल्मीकि ने अयोध्या का उल्लेख धन-धान्य और सुख-समृद्ध नगर के रूप में किया है।

(आ) **राजा**—महाकाव्य काल में राजपद वंशानुगत था। ज्येष्ठ पुत्र के अयोग्य होने पर कनिष्ठ पुत्र को राजसिंहासन पर बिठाया जाता था। राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होने पर भी निरंकुश नहीं होता था। राज्याभिषेक के अवसर

पर वह मनमानी न करने तथा प्रजा-हित चिंतन में व्यस्त रहने की शपथ लेता था। वह यह शपथ ग्रहण करता था—"मैं मन, कर्म और वचन से धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करूँगा। जो धर्म और नीति में कहा गया है उसी को मैं निश्चित रूप से करूँगा और अपनी मनमानी कदापि न करूँगा।" रामायण में प्रजा को प्रसन्न रखना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य बताया गया है। महाभारत में धर्मानुसार आचरण करने वाले राजा को देवतुल्य कहा गया है। कर्त्तव्यों का निर्वाह नहीं करने वाले राजा को पदच्युत कर दिया जाता था और अत्याचारी राजा को जान से मार डाला जाता था। महाभारत के अनुशासन पर्व में कहा गया है कि कर्त्तव्य नहीं करने वाले तथा अत्याचारी राजा को पागल कुत्ते की तरह मरवा दिया जाना चाहिए। राजा वेण, नहुष, शुमुख और निमि को जनता के उत्पीड़न के अपराध में मार डाला गया था। इस प्रकार विदित होता है कि धर्म-विरुद्ध आचरण करने वाले राजा को मरवा दिया जाता था। राजा पर पुरोहित और मन्त्रिपरिषद के सदस्य अंकुश रखते थे। रामायण में राम और महाभारत में कृष्ण और युधिष्ठिर जैसे महान् राजाओं का उल्लेख मिलता है। राजा अश्वमेध और राजसूय यज्ञ सम्पन्न कर अपनी राजनीतिक महत्ता सिद्ध करता था।

(इ) **मन्त्रि-परिषद् और राज्याधिकारी**—शासन के सुसंचालन हेतु राजा की सहायता के लिए मन्त्रि-परिषद् होती थी। महाभारत के विवरण से विदित होता है कि मन्त्रि-परिषद् में चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत होता था। मन्त्रि-परिषद् में मन्त्रियों के अतिरिक्त अमात्य भी होते थे। मन्त्री और अमात्य सत्यप्रिय, प्रतिभासम्पन्न, विश्वसनीय और नीतिकुशल होते थे। रामायण में राम भरत को शासन संचालन हेतु तीन अथवा चार मन्त्रियों से परामर्श करने की सलाह देते हैं। महाभारत में मन्त्रियों की संख्या आठ बताई गई है।

मन्त्रियों और अमात्यों के अतिरिक्त शासन-संचालन हेतु अनेक अधिकारी नियुक्त किए जाते थे। रामायण और महाभारत में इन अधिकारियों की संख्या अठारह बताई गई है, जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं—मन्त्री, पुरोहित, युवराज, चमुपति (सेनापति), द्वारपाल (राजप्रासाद का रक्षक), दुर्गपाल (किलों का रक्षक), प्रदेष्टा (न्यायाधीश), दंडपाल (फौजदारी अथवा पुलिस का अफसर), धर्माध्यक्ष (न्याय का अधिकारी), नगराध्यक्ष, कारागाराधिकारी (जेलों का अधिकारी), अभिजातकुलीय सभ्य, कार्य निर्माणकृत आदि।

प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से राज्य अनेक छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त था। प्रत्येक इकाई राज्य के अधिकारी के अधीन थी। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी जिसका मुखिया 'ग्रामणी' कहलाता था। दस ग्रामों के समूह का अधिकारी 'दशग्रामी' बीस ग्रामों के समूह का अधिकारी 'विशपति', सौ ग्रामों का अधिकारी 'शतग्रामी', और हजार गांवों का अधिकारी 'अधिपति' कहलाता था। ये सभी अधिकारी राज्य में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने का दायित्व निभाते थे और राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे।

(ई) **सैन्य संगठन**—राजा सेना का प्रधान अधिकारी होता था। युद्ध के समय वही सेना का नेतृत्व करता था। सेना के संगठन को मजबूत बनाने के उद्देश्य से राजा एक प्रधान सेनापति तथा अन्य छोटे अधिकारियों की नियुक्ति करता था। सेना पदाति, अश्वारोही, गजारोही और रथारोही नामक चार भागों में विभक्त थी। युद्ध में ढाल, तलवार, गदा, फरसा, भाला, बर्छी, धनुष-बाण आदि अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। शरीर की रक्षा हेतु सैनिक कवच और शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे। युद्ध की शैलियों में व्यूह-रचना और द्वंद्व-युद्ध और गदायुद्ध प्रमुख थे। महाकाव्य-काल में राम, लक्ष्मण, अर्जुन, भीम, भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण, अभिमन्यु आदि महान् योद्धा थे। अर्जुन व्यूह-रचना को तोड़ने की कला में दक्ष था। भीम गदायुद्ध का योद्धा था। सैनिक वीरतापूर्वक युद्ध करते थे। राजा सैनिकों को प्रसन्न रखता था। रामायण से विदित होता है कि एक बार जब शत्रुघ्न सेना का नेतृत्व करने समर भूमि में जा रहा था तो उस समय राम ने उससे कहा था—"सेना को कभी नाराज नहीं करना और उसके भोजन का विशेष ध्यान रखना। मधुर शब्दों से प्रसन्न रखना क्योंकि सैनिक जब शत्रु से लड़ने के लिए युद्ध में जाते हैं तो उन्हें प्रसन्न करने वाले मित्र अथवा स्त्रियाँ उनके साथ नहीं होते।" युद्ध में नैतिकता पर ध्यान दिया जाता था। युद्ध के समय प्रजा को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाई जाती थी। निद्रा में खोए हुए शत्रु तथा शस्त्ररहित शत्रु पर आक्रमण नहीं किया जाता था। ऐसे शत्रु पर आक्रमण करना कायरता और धर्म-विरुद्ध माना जाता था। रणक्षेत्र में उत्सर्ग करने वाले सैनिक की विधवा को राज्य की ओर से पेंशन दी जाती थी। युद्धबन्दी को एक वर्ष तक विजेता के दास के रूप में रहना पड़ता था और विशेष शर्तों पर उसे मुक्त किया जाता था। सेना में गुप्तचर और नौ सेन का भी महत्त्व था।

(उ) **न्याय एवं दण्ड विधान**—राजा न्याय-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। वह अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था। राजा नित्यप्रति अभियोगों को सुनकर न्याय करता था। वह रीति-रिवाजों, परम्पराओं और धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय करता था। अपराधियों को कारावास की सजा और अर्थदण्ड दिया जाता था। चोरी करने वाले को सख्त सजा दी जाती थी।

(ऊ) **आय-व्यय के साधन**—राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि कर था। उपज का 1/6 भाग भू-कर के रूप में वसूल किया जाता था। इसके अतिरिक्त अपराधियों से अर्थदण्ड के रूप में प्राप्त धनराशि, कारखानों, वनों और व्यापार पर लगाये गये करों से आय प्राप्त होती थी। इन करों को 'बलि' तथा 'शुल्क' कहा जाता था।

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त आय को सार्वजनिक निर्माण के कार्यों और राज्य के अधिकारियों तथा कर्मचारियों को वेतन देने पर व्यय किया जाता था।

2. सामाजिक दशा

(अ) **परिवार**—महाकाव्य-काल में पिता परिवार का मुखिया होता था। परिवार के सभी सदस्य उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलन में थी।

(आ) **वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था**—इस काल (महाकाव्य-काल) में समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभक्त था। इन चारों वर्णों के अतिरिक्त समाज में अनेक जातियाँ विद्यमान थीं। ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन और धार्मिक कार्यों में व्यस्त रहते थे। राज्य में उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। क्षत्रिय प्रशासन की देखरेख तथा शेष अन्य वर्णों की रक्षा के दायित्व का निर्वाह करते थे। वैश्य कृषि, व्यापार और पशुपालन का व्यवसाय करते थे। शूद्रों का कार्य उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था तथा वे हीन समझे जाने वाले व्यवसाय अपनाते थे।

यद्यपि पूर्व वैदिक काल की अपेक्षा वर्ण-व्यवस्था में कुछ जटिलता अवश्य आ गई थी तथापि व्यवसाय परिवर्तन असम्भव नहीं था। रामायण में एक स्थान पर कहा गया है कि जन्म से नहीं बल्कि वीरता से कोई भी व्यक्ति क्षत्रिय हो सकता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि गुण और कर्म के आधार पर उन्होंने चार वर्णों का निर्माण किया है। वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र और नारद जन्म से क्षत्रिय होने पर भी कर्म के आधार पर ब्राह्मण बन गये थे। विद्वानों का मत है कि वर्ण-व्यवस्था में लचीलापन मात्र सैद्धान्तिक था। व्यवहार में उसमें अवश्य जटिलता आ गई थी। राज्य प्राप्त करने के पश्चात् भी कर्ण 'सूत-पुत्र' समझा जाता था। परशुराम, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य द्वारा शस्त्र-ग्रहण करने तथा असाधारण वीरता प्रदर्शित करने के उपरान्त भी वे ब्राह्मण कहलाए।

महाकाव्य-काल में चतुर्वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त चार आश्रमों की व्यवस्था प्रचलित थी। प्रत्येक व्यक्ति की औसत आयु सौ वर्ष मानी जाती थी। सम्पूर्ण मानव जीवन चार आश्रमों में विभक्त था जिसमें प्रत्येक आश्रम की अवधि पच्चीस वर्ष निर्धारित थी। चार आश्रम इस प्रकार थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रारम्भिक पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य जीवन का पालन करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत मनुष्य को त्याग का जीवन व्यतीत करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था और गुरु-गृह में रहकर शिक्षा अर्जित करनी पड़ती थी। 25 वर्ष पूर्ण करने के पश्चात् वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था। इस आश्रम के अन्तर्गत मनुष्य विवाह कर सन्तान उत्पन्न करता था तथा अनेक सामाजिक और धार्मिक कार्य सम्पन्न करता था। 50 वर्ष पूरे होने पर मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। इसके अन्तर्गत सांसारिक जीवन का परित्याग कर आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करता था। उसे वनों में कन्दमूल फल खाकर कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। 75 वर्ष पूर्ण हो जाने पर मनुष्य संन्यास धारण कर लेता था। इसके अन्तर्गत

वह आध्यात्मिक ज्ञान और मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही वर्णाश्रम धर्म का पालन कर सकते थे। शूद्र इस अधिकार से वंचित थे। लोग नैतिकता के उच्च आदर्शों में विश्वास रखते थे। वे सादा जीवन और उच्च विचार के सिद्धान्त का अनुसरण करते थे। धार्मिक और आध्यात्मिक कार्यों को विशेष महत्त्व दिया जाता था। लोग भाग्य की अपेक्षा कर्म में अधिक विश्वास करते थे।

(इ) **विवाह-प्रथा**—विवाह एक पावन, नैतिक और धार्मिक संस्कार माना जाता था। प्रायः यौवनावस्था में ही विवाह किया जाता था। रामायण में यह उल्लेख मिलता है कि विवाह के समय दशरथ के चारों पुत्र यौवनावस्था में पहुँच चुके थे। उसमें विवाह के बाद सीता के साथ राम का एकांत रमण का वर्णन मिलता है जो राम और सीता का विवाह यौवनावस्था में होने की ओर इंगित करता है। कुन्ती, द्रौपदी, देवयानी, शकुन्तला, सत्यवती, दमयंती आदि सभी का विवाह यौवनावस्था में हुआ था। स्त्रियों को पति चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। साधारणतया एक पत्नी विवाह प्रचलित था। किंतु राज-परिवार और धन-सम्पन्न लोगों में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। दशरथ, कृष्ण, पाण्डु और दुर्योधन ने एक से अधिक विवाह किए थे। महाकाव्य काल में गांधर्व, प्रजापत्य, पिशाच, राक्षस, ब्रह्म एवं दैव विवाह प्रचलित थे। विधवा-विवाह, अंतर्जातीय विवाह, अनुलोम और प्रतिलोम विवाह प्रचलित थे। सती-प्रथा बहुत कम प्रचलित थीं। राजा पाण्डु की एक पत्नी उसके साथ सती हुई थी।

(ई) **स्त्रियों की दशा**—इस काल में पुत्री का जन्म संकट का मूल समझा जाता था। महाभारत में पुत्री को साक्षात् 'आपत्ति' कहा गया है। राज-परिवार और धन-सम्पन्न लोग एक से अधिक विवाह करते थे। स्त्री को पाप की जड़ और उसके जीवन का उद्देश्य काम वासना की तृप्ति समझा जाता था।

यद्यपि महाकाव्य काल में स्त्रियों को वह सम्मान प्राप्त नहीं था जो उन्हें पूर्व वैदिक काल में था तथापि उन्हें पर्याप्त स्वतंत्रता थी। कन्याएं वयस्क होने पर ही अपने पति का चुनाव करती थीं। उन्हें पति चुनने की स्वतंत्रता थी। सावित्री ने अपने पति सत्यवान का स्वतंत्रतापूर्वक चुनाव किया था। स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। सीता और द्रौपदी का विवाह स्वयंवर द्वारा संपन्न हुआ था। महिलाओं को प्रायः घर पर ही शिक्षा दी जाती थी। उन्हें वेद, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, संगीत, नृत्य, गृहकार्य की शिक्षा दी जाती थी। अनुसूया और द्रौपदी उस काल की विदुषी महिलाएं थीं। महाभारत में कहा गया है कि स्त्रियों का सम्मान करने से देवता प्रसन्न होते हैं। स्त्रियों को हीरा और पानी के समान निर्मल बताया गया है। वह पुरुष की अर्धांगिनी मानी जाती थी और सामाजिक एवं धार्मिक क्रियाओं के अवसर पर पुरुष के साथ भाग लेती थी। बाल-विवाह और सती प्रथा बहुत कम प्रचलित थी। लज्जा स्त्रियों

का आभूषण समझा जाता था। कुछ राज्यों में पुत्री को पुत्र की तरह स्नेह दिया जाता था।

(उ) **भोजन, वस्त्र और आभूषण**—लोग गेहूँ, जौ, चावल, दाल, तिलहन आदि की खेती करते थे। दूध-दही का प्रयोग किया जाता था। लोग निरामिष भोजन को महत्त्व देते थे। क्षत्रिय सामिष भोजन करते थे। गोवध निषिद्ध था। फल और तरकारियों का प्रयोग किया जाता था। विविध प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनाये जाते थे।

साधारणतया लोग सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्र पहनते थे। वस्त्र रंगीन और कढ़े होते थे। पुरुष अधोवस्त्र और उत्तरीय नामक दो वस्त्रों का प्रयोग करते थे। स्त्रियाँ साड़ी के प्रकार का एक वस्त्र बांधती थीं और उत्तरीय से सिर ढकती थीं। विधवा स्त्री श्वेत-वस्त्र से सिर ढकती थी। स्त्रियाँ बाल रखती थीं। संन्यासी काषाय वस्त्र पहनते थे।

स्त्री और पुरुष दोनों आभूषण प्रेमी थे। सोने-चाँदी के विभिन्न आभूषण पहने जाते थे। चूड़ामणि, कुण्डल, मुक्ताहार, कंठसूत्र, मेखल, अंगद आदि प्रमुख आभूषण थे। निर्धन लोग पीतल, मूँगा और कौड़ी आदि के आभूषण का प्रयोग करते थे। चाण्डाल लोहे के आभूषण पहनते थे।

(ऊ) **शिक्षा**—महाकाव्य काल में शिक्षा को महत्त्व दिया जाता था। उपनयन संस्कार के बाद शिक्षा प्रारंभ की जाती थी। घर में भी शिक्षा अर्जित की जाती थी। विद्यार्थी गुरु के आश्रम में रहकर अध्ययन करते थे। वाल्मीकि, भारद्वाज, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, मार्कण्डेय आदि ऋषियों के आश्रम शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। विद्यार्थी अनुशासनबद्ध होकर गुरुगृह में निवास करता था। वह स्वाभिमान के साथ गुरु का कार्य करता था। धनी और निर्धन विद्यार्थी बिना किसी भेदभाव के एक साथ शिक्षा अर्जित करते थे। कृष्ण और सुदामा द्वारा एक साथ विद्याध्ययन का उल्लेख इसका उदाहरण है। विद्यार्थी को वेद, उपनिषद, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, इतिहास, पुराण, राजनीति, गणित, चिकित्साशास्त्र आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। क्षत्रियों को सामरिक शिक्षा भी दी जाती थी। स्त्रियों को उपरोक्त विषय के अतिरिक्त गृह कार्य, संगीत, नृत्य और विभिन्न कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य जीवन का सर्वांगीण विकास होता था। गुरु शिष्य में पिता-पुत्र-सा सम्बन्ध था।

(ए) **मनोरंजन के साधन**—द्यूत-क्रीड़ा, आखेट, नृत्य, संगीत, नाटक, रथ-दौड़, घुड़दौड़, मल्लयुद्ध, गदायुद्ध आदि लोगों के मनोरंजन के साधन थे। जुआ अधिक खेला जाता था। महाभारत में दुर्योधन और युधिष्ठिर के मध्य खेले गए जुए का उल्लेख मिलता है जिसमें युधिष्ठिर ने राज्य के अतिरिक्त द्रौपदी को भी जुए के दांव पर लगा दिया था और सब कुछ हार बैठा था। प्राकृतिक सौंदर्य से युक्त स्थलों और उद्यानों की सैर करके मनोरंजन किया जाता था।

3. आर्थिक दशा

(अ) **कृषि**—राज्य की अधिकांश जनता कृषि पर निर्भर थी। राज्य की ओर से कृषि को प्रोत्साहन दिया जाता था। रामायण में कोशल, वत्स, मत्स्य आदि राज्यों की उर्वर भूमि का उल्लेख किया है। राजा स्वयं हल चलाते थे। राजा जनक और राजा दुर्योधन द्वारा चलाए गए हल का उल्लेख मिलता है। कृषक को भूमि पर स्वामित्व प्राप्त था। गेहूँ, जौ, बाजरा, उड़द, चना आदि की खेती की जाती थी। सिंचाई की व्यवस्था करना राज्य का मुख्य कार्य माना जाता था। सामान्यतया कृषक वर्षा पर निर्भर रहते थे। राज्य की ओर से सिंचाई के लिए नहरों, तालाबों और कुओं की व्यवस्था की गई थी। उपज में वृद्धि करने के उद्देश्य से खेतों में खाद डाली जाती थी। भूमि कर उपज के हिसाब से लिया जाता था। उपज का प्रायः $\frac{1}{6}$ भाग भू-कर के रूप में वसूल किया जाता था।

(आ) **पशु-पालन**—कृषि के पश्चात् पशुपालन लोगों का प्रमुख व्यवसाय था। पशु-धन बड़ा धन माना जाता था। गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी, कुत्ता आदि पालतू पशु थे। गाय को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और उसका वध निषिद्ध था। पशु-विशेषज्ञों का उल्लेख मिलता है। सहदेव को पशु-विशेषज्ञ कहा गया है।

(इ) **व्यापार और उद्योग**—इस काल में व्यापार उन्नत अवस्था में था। आंतरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार का व्यापार होता था। व्यापार पर कर लगाया जाता था। उस काल में व्यापारियों के संघों को श्रेणियाँ कहा जाता था। नगरों का आविर्भाव हो चुका था। व्यापार के लिए राज्य में बड़ी-बड़ी सड़कों का निर्माण किया गया था। जल और स्थल मार्गों से व्यापार होता था। आंतरिक व्यापार के लिए घोड़ों और ऊँटों से सामान ढोया जाता था और विदेशी व्यापार के लिए जहाजो का प्रयोग होता था। व्यापार में नाप के पैमाने और तौलने के लिए बाट का प्रयोग किया जाता था। प्रधानतया वैश्य वर्ण के लोग ही व्यापार करते थे।

अनेक प्रकार के उद्योग-धंधों का विकास हो चुका था। स्वर्णकार, लोहार, बढ़ई, धोबी, जुलाहा, कुम्हार, रंगरेज, चर्मकार, रथकार, नट, अस्त्र-शस्त्र बनाने आले आदि उद्योगियों का उल्लेख मिलता है।

4. धार्मिक दशा

(अ) **देवी-देवता**—महाकाव्यकाल में वैदिक देवताओं का प्रभाव समाप्त हो चुका था। उनका स्थान ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने ले लिया था। ब्रह्मा को संसार का उत्पन्न करने वाला, विष्णु को पालनकर्त्ता और शिव को संहारक देवता माना जाता था। इन तीनों देवताओं की उपासना की जाती थी। उक्त देवताओं

के अतिरिक्त सूर्य, सोम, वायु, अग्नि, कार्तिकेय, यम, वरुण और इन्द्र आदि देवताओं तथा दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियों की पूजा की जाती थी।

(आ) **यज्ञ**—समाज में यज्ञों का प्रचलन था। राजा राजसूय और अश्वमेध यज्ञ संपादित करते थे। राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था जिसमें उसके प्रभाव को मानने वाले राजा उपाहारादि सहित सम्मिलित हुए थे। ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा यज्ञों की प्रक्रिया में कुछ जटिलता आ गई थी।

(इ) **विचारधाराएं**—लोगों का जीवन धर्ममय था। जनसाधारण सत्य, अहिंसा, कर्म, अवतारवाद, पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्तों पर विश्वास करता था। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा था कि मैं दुष्टों का विनाश और भक्तों की रक्षा हेतु पृथ्वी पर अनेक बार जन्म लेता हूँ। महाभारत में शातिपर्व में उन कार्यों को न करने को कहा गया है जिनसे समाज का अपकार होता है और जिनके करने में लज्जा का अनुभव होता है। ज्ञान, त्याग, संन्यास और तपस्या सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाने के साधन बताए गए हैं जिसमें सभी वर्ण के लोगों को धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है। उपवास किए जाते थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रामायण तथा महाभारत के ऐतिहासिक मूल्यांकन की विवेचना कीजिए।
2. रामायण और महाभारत दो प्राचीन महाकाव्यों की ऐतिहासिक महत्ता पर प्रकाश डालिए।
3. महाकाव्य कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन का वर्णन किजिए।

9

वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा

वर्ण-व्यवस्था हिन्दू समाज का अभिन्न अंग है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वैदिक सभ्यता के प्रारंभिक काल में समाज आर्य और अनार्य नामक दो वर्णों में विभक्त था। किंतु बाद में समाज चार वर्णों में विभाजित हो गया—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रारंभ में वर्ण का आधार कर्म था, परंतु बाद में उसमें कठोरता आ जाने के कारण वे जन्म के आधार पर निश्चित हो गये। कालांतर में समाज चार वर्णों के स्थान पर अनेक जातियों में विभक्त हो गया। इस प्रकार वैदिक कालीन वर्ण-व्यवस्था बाद में जाति-प्रथा में परिवर्तित हो गई।

वर्ण की व्युत्पत्ति 'वृण्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ होता है 'चुनना'। प्रारंभ में वर्ण का आधार व्यवसायों का चुनाव था। जाति का मूल 'जन्म' है। कालांतर में जब वर्णों को जन्म का आधार दे दिया गया तो जाति-प्रथा का जन्म हुआ। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जाति-प्रथा को वर्ण-व्यवस्था का पर्यायवाची मानना असंगत है। आंग्ल साहित्य में वर्ण-व्यवस्था के लिए कोई उपयुक्त शब्द न मिलने के कारण पाश्चात्य विद्वानों ने इसे जाति-प्रथा (Caste System) का नाम दिया। उनके अनुकरण पर भारतीय विद्वानों ने वर्ण-व्यवस्था को जाति-प्रथा कहा है।

वर्ण का शाब्दिक अर्थ रंग होता है। हिन्दू समाज शास्त्र के अनुसार वर्ण शब्द का अर्थ एक प्रकार का सामाजिक संगठन होता है। ऋग्वैदिक काल के प्रारंभिक चरण में समाज वर्ण (रंग) के आधार पर दो वर्णों में विभक्त था। गोरे वर्ण वाले लोग आर्य और श्याम वर्ण वाले अनार्य कहलाए। प्राचीन काल में आर्यों ने सभी कार्यों के सुसंचालन हेतु इसका निर्माण किया था। कालांतर में वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आ गई और वह हिन्दू समाज का मूलाधार बन गई।

हिन्दू समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में विभक्त है। यह सामाजिक विभाजन ऋग्वैदिक काल से वर्तमान समय तक निरंतर भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित तथ्य विदित हीं हैं। साधारणतया इसकी उत्पत्ति के विषय में चार सिद्धान्त प्रचलित हैं—

1. **दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत**—ऋग्वेद के प्रथम नौ मंडलों में चार वर्णों का उल्लेख नहीं मिलता है। उनसे केवल यह विदित होता है कि उस समय समाज आर्य और अनार्य नामक दो वर्गों में विभक्त था। किंतु ऋग्वेद के दसवें मंडल के पुरुष-सूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। पुरुष-सूक्त में यह वर्णन मिलता है कि 'परमब्रह्म के मुँह से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जाँघों से वैश्य और चरणों (पाँवों) से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है।' पुरुष-सूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्यत्र वैश्य और शूद्र शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि गुण और कर्म के आधार पर उन्होंने चार वर्णों का निर्माण किया है। अनेक हिन्दू धर्म-ग्रंथों में वर्ण व्यवस्था के दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत का वर्णन मिलता है।

2. **रंग भेद का सिद्धान्त**—वर्ण का शाब्दिक अर्थ रंग होता है। रैप्सन महोदय वर्ण-व्यवस्था के लिए रंग भेद को उत्तरदायी मानते हैं। सुडौल और गौर वर्ण के आर्यों ने कुरूप और श्याम वर्ण के अनार्यों को पराजित करके उन्हें अपना दास बना लिया था। प्रारम्भ में भारतीय समाज आर्य और अनार्य नामक दो वर्गों में विभक्त था। विजेता आर्य स्वयं को पराजित अनार्यों से श्रेष्ठ समझते थे । बाद में समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्व आर्य तथा शूद्र अनार्य कहलाए।

3. **वेषभूषा पर आधारित सिद्धांत**—कुछ विद्वान् वर्ण-व्यवस्था का आधार वेषभूषा मानते हैं। उनका कथन है कि समाज में प्रचलित चार वर्ण भिन्न-भिन्न रंगों के वस्त्र धारण करते थे। ब्राह्मण श्वेत वस्त्र, क्षत्रिय हरित (हरा) वस्त्र, वैश्य पीत वस्त्र और शूद्र वर्ण के लोग श्याम रंग के वस्त्र पहनते थे। उनके यज्ञोपवीत भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे। ब्राह्मण सूत का यज्ञोपवीत, क्षत्रिय सन का और वैश्य ऊन का यज्ञोपवीत धारण करते थे। शूद्र वर्ण के लोग यज्ञोपवीत नहीं पहनते थे।

4. **व्यवसाय पर आधारित सिद्धांत**—अधिकांश विद्वान् वर्ण-व्यवस्था को व्यवसाय पर आधारित मानते हैं। जो लोग अध्ययन-अध्यापन और धार्मिक क्रियाओं में रुचि रखते थे, वे ब्राह्मण कहलाते थे। युद्ध-प्रिय और प्रशासकीय कार्यों को करने वाले लोग क्षत्रिय कहे जाते थे। व्यापार में रुचि रखने वाले लोग वैश्य वर्ण के अन्तर्गत आते थे। शूद्रों का कर्त्तव्य उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था।

वर्ण-व्यवस्था का विकास

ऋग्वैदिक काल से प्रचलित वर्ण-व्यवस्था वर्तमान समय तक हिन्दू समाज का अभिन्न अंग है। वर्ण-व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। उस

काल में वर्ण का आधार कर्म था और व्यवसाय परिवर्तन की स्वतन्त्रता थी। विभिन्न वर्णों में खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध वर्जित नहीं थे।

उत्तर वैदिक काल में पूर्व वैदिक काल (ऋग्वैदिक काल) की अपेक्षा वर्ण-व्यवस्था में जटिलता आ गई थी। सम्पूर्ण समाज चार वर्णों में विभक्त था। उत्तर वैदिक काल में एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण के कार्य को नहीं करते थे। व्यवसाय परिवर्तन कठिन हो गया था। वर्ण-व्यवस्था में इतनी जटिलता नहीं आई थी जितनी बाद में दृष्टिगोचर होती है।

सूत्र-काल में वर्ण-व्यवस्था में जटिलता आ गई थी। प्रत्येक वर्ण के लोगों के अधिकार और कर्त्तव्य निर्धारित कर दिए गये थे। व्यवसाय परिवर्तन अत्यधिक कठिन था। वर्ण का आधार कर्म के स्थान पर जन्म ने लिया था।

महाकाव्यकाल में वर्ण-व्यवस्था समाज का मूलाधार थी। समाज में चार वर्णों को मान्यता प्रदान हो चुकी थी। महाकाव्यकाल में वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आ गई थी। महाकाव्यों में वर्ण-विरुद्ध कार्य करने वालों को निन्दनीय कहा गया फिर भी व्यवसाय-परिवर्तन असम्भव नहीं था। परशुराम, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य आदि ब्राह्मणों ने शस्त्र धारण कर क्षत्रियों के व्यवसाय को अपनाया था।

छठी शताब्दी ई० पू० तक वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आ गई थी और समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्थापित हो गई थी। समाज-सुधारक क्षत्रिय राजकुमार महावीर और गौतम बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था के कठोर स्वरूप की आलोचना करते हुए उसे समाज के लिए कलंक बताया। उन्होंने समाज में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ समझने वाली प्रवृत्ति का विरोध किया। बौद्ध ग्रन्थों में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ बताया गया है। जैन और बौद्ध धर्म के आन्दोलनों के फलस्वरूप समाज में नवीन चेतना का संचार हुआ। इन धार्मिक आन्दोलनों के फलस्वरूप क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के लोगों ने भी धर्मोपदेश देने प्रारम्भ कर दिए। चतुर्थ सदी ई० पू० में शूद्र वंशी नन्द राजाओं ने मगध में शासन किया।

महावीर और गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित व्यावहारिक एवं तार्किक धर्म के फलस्वरूप यद्यपि समाज में ब्राह्मणों का प्रभाव कम हो गया, किन्तु वर्ण-व्यवस्था का अन्त नहीं हुआ। मौर्यकालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था का कठोर स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है कि व्यक्ति को अपनी जाति से बाहर करने और व्यवसाय परिवर्तन की स्वतन्त्रता नहीं थी। वर्ण-व्यवस्था जटिल और अपरिवर्तनशील हो गई थी। फिर भी उस काल में व्यवसाय परिवर्तन और अन्तर्जातीय विवाहों का उल्लेख मिलता है।

प्रथम शताब्दी ई० पू० के पश्चात् वर्ण-व्यवस्था में अत्यधिक कट्टरता आ गई थी। मनुस्मृति में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है और ब्राह्मण का पार्थिव शरीर तक शूद्र के स्पर्श से दूषित बताया गया है। विष्णु स्मृति के अनुसार,

मृत द्विज को शूद्र से और मृत शूद्र को द्विज से वहन कराना निषिद्ध है। आप स्तंब में कहा गया है कि शूद्रान्न अच्छा नहीं है, किन्तु आपात काल में उसे ग्रहण किया जा सकता है। दक्षिणी भारत में एक व्यक्ति ब्राह्मण के आगे चल कर हीन जातियों को रास्ते से हटाता था। ब्राह्मणों को देखकर लोग सवारी से उतरने को बाध्य थे। ब्राह्मण और शूद्रों के मकान एक पंक्ति में नहीं बन सकते थे।

गुप्तकाल में वर्ण-व्यवस्था समाज का आधार बन गई थी। सभी वर्ण बड़ी सतर्कता के साथ अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते थे। प्रत्येक वर्ण का कार्य क्षेत्र निर्धारित था। समाज में ब्राह्मणों को सम्मान प्राप्त था। गुप्तकालीन समाज में छुआछूत की प्रथा विद्यमान थी। शूद्रों और चाण्डालों को हीन समझा जाता था। चीनी यात्री फाहियान का कथन है कि चाण्डाल लोग शहर में लकड़ी बजाते हुए चलते थे ताकि उनके आगमन की सूचना पाकर लोग हट जायें और उनकी छाया से अपवित्र न हो सकें।

मौर्य युग से गुप्तवंश के पतन तक के काल में अनेक यूनानी, पार्थियन, कुषाण, शक, हूण आदि विदेशी जातियों ने भारत में प्रवेश किया। शनैः-शनै वे सभी भारतीय समाज में आत्मसात कर लिए गए। इन विदेशी आक्रांताओं में जो लोग शासन और युद्ध में प्रवीण थे, वे क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत मान लिए गए और जो अध्ययन-अध्यापन तथा धार्मिक क्रियाओं में रुचि रखते थे वे ब्राह्मण कहलाए।

हर्ष के काल (606-647 ई०) तक वर्ण-व्यवस्था में और अधिक कठोरता आ गई थी। ह्वेन्सांग के विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय तक जाति-प्रथा की जड़ें मजबूत हो चुकी थीं और वह समाज का आधार बन गई थी। प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों और जातियां गोत्र में विभक्त हो गईं। जाति-प्रथा के बन्धन कठोर और अपरिवर्तनशील हो गये थे। समाज में ब्राह्मणों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। छुआछूत की प्रथा विद्यमान थी। निम्न एवं हीन व्यवसाय करने वाले लोग गाँवों और नगरों से बाहर रहते थे।

हर्ष की मृत्यु (647 ई०) से मुस्लिम-विजय (1206 ई०) तक का काल भारतीय इतिहास में राजपूत-काल के नाम से विख्यात है। राजपूत-काल में हिन्दू समाज का आधार चार वर्णों के स्थान पर अनेक जातियों और उपजातियों ने ले लिया था। प्रत्येक जाति अपने में एक पूर्ण समाज बन गई थी। उनमें खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध वर्जित थे। ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था और शूद्रों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। वे नगर अथवा गाँव से बाहर रहते थे। अल्बेरुनी ने लिखा है कि वर्ण-व्यवस्था अत्यधिक कठोर हो चुकी थी और कोई भी विदेशी उसमें नहीं लिया जा सकता था।

वर्ण-व्यवस्था में निरन्तर बढ़ती हुई कट्टरता और जड़ता को दूर करने के लिए मध्यकालीन और आधुनिक काल के अनेक समाज-सुधारकों ने कई प्रयास

किए, जिनमें कबीर, महाप्रभु चैतन्य, नानक, वासव, रामानुज, राजा राम मोहन-राय, दयानन्द सरस्वती, महात्मा गान्धी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

व्यापक विरोध के बावजूद यद्यपि वर्ण-व्यवस्था में कुछ शिथिलता अवश्य आई है, तथापि वह वर्तमान समय तक हिन्दू समाज के अभिन्न अंग के रूप में विद्यमान है।

प्रभाव और परिमाण

कहा जाता है कि वर्ण-व्यवस्था प्रकृति में सर्वत्र विद्यमान है और हिन्दू समाज ने इसे एक वैज्ञानिक रूप दे दिया है। मिश्र, ईरान और यूनान का समाज पुरोहित, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग में विभक्त था। वर्ण-व्यवस्था के कारण प्रारम्भ में भारतीय संस्कृति की अभूतपूर्व उन्नति हुई।

वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भिक स्वरूप व्यावहारिक था। वर्ण का आधार कर्म होने के कारण कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपना व्यवसाय परिवर्तन कर सकता था। वर्णों में परस्पर खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध निषिद्ध नहीं थे। वर्ण-व्यवस्था के इस व्यावहारिक स्वरूप से हिन्दू समाज लाभान्वित हुआ। वर्ण का आधार कर्म होने के कारण प्रत्येक वर्ण कार्यों की दृष्टि से विभाजित था। बालक अपना पैतृक व्यवसाय घर में ही सीख लेता था। योग्यतानुसार कार्य-चयन की स्वतन्त्रता के कारण कार्यकुशलता में वृद्धि स्वाभाविक थी। प्रत्येक वर्ण के कार्य निश्चित और निर्धारित होने के कारण लोग शान्तिपूर्वक अपने व्यवसायों में लगे रहते थे। अतः वर्ग-संघर्ष की भावना उत्पन्न नहीं हुई। वर्ण-व्यवस्था के फल-स्वरूप समाज में अधिकारों और कर्त्तव्यों का सुन्दर समन्वय स्थापित हो गया। प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति सजग था। विभिन्न वर्णों के लोग अपने कार्य को लोकहित और सामाजिक कल्याण की भावना से करते थे। ब्राह्मण शैक्षिक और धार्मिक कार्य सम्पादित कर सम्पूर्ण समाज की आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहता था। क्षत्रिय सम्पूर्ण समाज की रक्षा करता था और वैश्य समाज के लोगों के भरण-पोषण के साधनों में व्यस्त रहता था। वर्ण-व्यवस्था ने वैदिक सभ्यता और संस्कृति की रक्षा की। ऋग्वैदिक काल से प्रचलित वर्ण-व्यवस्था अपने परिवर्तित रूप में वर्तमान समय तक हिन्दू समाज में विद्यमान है।

किन्तु कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आ जाने के कारण उसके अनेक दुष्परिणाम भी हुए। जैसा कि प्रत्येक आदर्श अन्त में विकृत रूप में रह जाता है, उसी प्रकार बाद में अनेक बुराइयाँ आ जाने पर वर्ण-व्यवस्था दोषपूर्ण हो गई थी। विशेषाधिकार के कारण कुलीन अभिमानी और घमण्डी हो गये थे। समाज में एकता की भावना विलुप्त हो गई और जातियों में एक-दूसरे के प्रति कटुता के भाव घर कर गये। एक जाति के लोग दूसरी जाति के व्यवसायों से घृणा करने लगे। जातियों में पारस्परिक कटुता के फलस्वरूप सामाजिक एकता की भावना समाप्त हो गई।

युद्ध सीमित लोगों का व्यवसाय रह गया था जिसके परिणामस्वरूप देश को पराजय का मुँह देखना पड़ा और युगों तक पराधीनता का बोझ ढोने को बाध्य होना पड़ा। समाज का चतुर्थ भाग क्षत्रिय ही देश रक्षा में लगा रहता था। जब तुर्कों ने भारत पर आक्रमणों की झड़ी लगा दी तो क्षत्रियों ने ही उनका प्रतिरोध किया। निरन्तर आक्रमणों के कारण क्षत्रियों की संख्या घटती गई और भारतीय राज्य आसानी से तुर्कों के आधिपत्य में आ गये। ऐसी स्थिति में भी ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों ने देश रक्षा को मात्र क्षत्रियों का दायित्व समझकर अपने को उससे तटस्थ रखा और अकर्मण्य तथा निरपेक्ष होकर क्षत्रियों का संहार देखते रहे।

इस प्रकार विदित होता है कि ऋग्वैदिक काल में व्यवसायों से प्रारम्भ हुई वर्ण-व्यवस्था में राजपूत-काल तक अत्यन्त कठोरता और जटिलता आ गई थी। वर्ण का आधार कर्म के स्थान पर जन्म ने ले लिया था। प्रारम्भ में उसके व्यावहारिक स्वरूप के कारण भारतीय समाज को जहाँ एक ओर अनेक लाभ हुए वहीं दूसरी ओर कालान्तर में उसके जटिल स्वरूप के फलस्वरूप अनेक हानियाँ हुई। यहाँ तक कि देश की सुरक्षा खतरे में पड़ गई जिसका तुर्कों ने भरपूर लाभ उठाया। हिन्दू समाज में वर्ण-व्यवस्था की जड़ें अत्यधिक गहरी हैं। यही कारण है कि अपनी सभी मान्यताओं के मध्य वह वर्तमान समय तक भारत में विद्यमान है।

जाति-प्रथा

ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भ में समाज आर्य और अनार्य नामक दो वर्गों में विभक्त था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 'पुरुष सूक्त' में चार वर्णों का उल्लेख मिलता है जिनकी उत्पत्ति परम ब्रह्म से बताई गई है। इस प्रकार समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रारम्भ में वर्ण कर्म पर आधारित थे और व्यवसाय परिवर्तन की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। जैसा कि ऋग्वेद में उल्लिखित शिशु अंगिरस के इस कथन से विदित होता है कि 'मैं कवि हूँ। मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माँ अन्न पीसने वाली है।' कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आ गई थी। वर्ण का आधार जन्म हो गया था और व्यवसाय परिवर्तन निषिद्ध हो गये थे। वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आ जाने के कारण प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आ जाने के कारण एक वर्ण के अन्तर्गत अनेक जातियों का आविर्भाव हुआ। इन जातियों में परस्पर खान-पान, विवाह आदि निषिद्ध थे। भारत में जाति-प्रथा की नींव महाकाव्यकाल में पड़ गई थी।

जाति-प्रथा के तात्पर्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ० स्मिथ ने लिखा है—"जाति परिवार के उन समूहों को कहा जाता है जो विवाह और भोजन सम्बन्धी कुछ संस्कारों की पवित्रता का पालन करने के लिए बनाये गये

विशेष नियमों में बँधे हों।"[1] सर हर्बर्ट रिसले का कथन है "जाति एक ऐसे परिवार अथवा वंश-समूह का नाम है जिसका एक ही सामान्य नाम हो और जिसका सम्बन्ध किसी पौराणिक पुरुष अथवा समूह से हो, जो एक ही व्यवसाय करते हों तथा दूसरे योग्य व्यक्तियों द्वारा एक ही समझी जाती हो।"[2] शामशास्त्री का मत है कि आहार और विवाह सम्बन्धी सामाजिक पृथकत्व को जाति कहते हैं।

जाति-प्रथा की उत्पत्ति और विकास—जाति-प्रथा के उत्पत्ति-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति ऋग्वैदिक काल में हो गई थी, जबकि अन्य विद्वान् उत्तर वैदिक काल और महाकाव्य-काल को जाति-प्रथा का उत्पत्ति-काल बताते हैं। न्यूबर्ग, जेल्मर और कीथ का मत है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति ऋग्वैदिक-काल में हुई थी। किन्तु म्यूर, वेबर, जिम्नर आदि विद्वान् उपरोक्त मत के विरुद्ध हैं। यद्यपि जाति-प्रथा का उत्पत्ति काल विवादास्पद है तथापि यह मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि जाति-प्रथा का अस्तित्व सर्वप्रथम महाकाव्य-काल में प्रकाश में आया।

गहनतापूर्वक विचार करने के उपरान्त यह विदित होता है कि जाति-प्रथा का प्रारम्भिक स्वरूप वर्ण-व्यवस्था थी। जब आर्यों ने अनार्यों पर विजय प्राप्त की तो तत्कालीन समाज दो वर्णों में विभक्त हो गया। गौर वर्ण और सुडौल शरीर के लोग आर्य कहलाए तथा श्याम वर्ण के लोगों को अनार्य कहा गया। तदुपरान्त समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया। जैसा कि ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' से विदित होता है कि परमब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। पूर्व वैदिक काल में वर्ण का आधार कर्म था। व्यवसाय परिवर्तन सरल था। इच्छानुसार कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यवसाय को कर सकता था। धार्मिक कार्यों में रुचि रखने वाले और अध्ययन-अध्यापन करने वाले लोग ब्राह्मण, प्रशासनिक कार्यों और देश रक्षा करने वाले लोग क्षत्रिय और व्यापार करने वाले वैश्य कहलाए।

---

1. "A caste may be defined as a group of families internally united by peculiar rules for the observance of ceremonial purity, especially in the matter of diet and marriage."
   —*Dr. V. A. Smith*

2. "A caste is a collection of families or groups of families, bearing a common name which usually denotes or is associated with a mythical ancestor, human or divine, professing to follow same calling and regarded by those who are competent to give opinion as forming a single homogeneous community."
   —*Sir Herbert Risley*

शूद्रों का कार्य उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था। उत्तर वैदिक काल और महाकाव्य-काल में वर्ण-व्यवस्था में कठोरता अवश्य आ गई थी परन्तु व्यवसाय परिवर्तन असम्भव नहीं थे। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा कि गुण और कर्म के आधार पर उन्होंने चार वर्णों का निर्माण किया है। प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था श्रम के बँटवारे और कर्मों की विशिष्टता पर आधारित थी।

कालांतर में वर्ण व्यवस्था में कठोरता आ गई जिसके परिणामस्वरूप अनेक जातियों का आविर्भाव हुआ। प्रत्येक वर्ण कई जातियों और जातियाँ गोत्रों में विभक्त हो गईं। वसिष्ठ, कश्यप, भारद्वाज आदि वैदिक ऋषियों में से एक को अपनी जाति का मूल पुरुष अथवा गोत्र प्रवर्त्तक के रूप में माना जाने लगा। सहगोत्रियों में विवाह निषिद्ध हैं।

जाति-प्रथा की नींव महाकाव्य-काल में पड़ चुकी थी। बाद में उसमें कट्टरता आ गई। छठी शताब्दी ई० पू० में महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने इस कुप्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई। मौर्यकालीन समाज में जाति-प्रथा में कठोरता आ गई थी। मेगस्थनीज लिखता है कि कोई जाति अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकती और व्यवसाय परिवर्तन निषिद्ध था।

भारत पर सर्वप्रथम विदेशी आक्रमण ईरान द्वारा किया गया। तत्पश्चात् यूनानी, पार्थियन, शक, कुषाण, हूण और तुर्कों ने भारत पर आक्रमण किए तथा भारत में राज्य किया। अनेक विदेशी भारत में रहकर भारतीय समाज में आत्मसात् हो गये। गुप्तकाल और राजपूत काल में वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आ गई थी। राजपूत काल में जातियों में बाहुल्य था। विभिन्न जातियों में परस्पर खान-पान, विवाह आदि निषिद्ध थे। प्रत्येक जाति अपने को एक पूर्ण समाज समझती थी और दूसरी जाति के प्रति द्वेषभाव रखती थी। राजपूतों की पराजय के लिए जाति-प्रथा को दोषी ठहराया जाता था। ग्यारहवीं शताब्दी में भारत-यात्रा पर आने वाले अरब विद्वान् अल्बेरूनी का कथन हैं कि भारतीय समाज जाति-प्रथा के कठोर बंधनों से जकड़ा हुआ था।

जाति-प्रथा के गुण और दोष

ऋग्वैदिक काल से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था में कालांतर में कठोरता आ जाने के कारण वह जाति प्रथा में परिवर्तित हो गई। वर्तमान समय तक वह भारतीय समाज में विद्यमान है। अतः जाति-प्रथा, जिसने हिन्दू समाज को आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक प्रभावित किया है, के गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन आवश्यक है।

जाति-प्रथा के गुण

यद्यपि बाद में जाति-प्रथा में कट्टरता आ जाने के कारण उसमें अनेक दोष उत्पन्न हो गये थे तथापि वह अपने प्रारंभिक स्वरूप में समाज के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई। यदि वह गुण-विहीन होती तो आर्य उसे कदापि स्वीकार

नहीं करते। जाति-प्रथा की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए फ्रांसीसी इतिहासकार डुबोइस ने लिखा है—"भारत में केवल जाति-प्रथा के कारण कला और विज्ञान को पूर्णता प्राप्त हो गई थी जबकि दूसरी विदेशी जातियाँ सदाचार के बन्धनों में बंधी न होने के कारण शीघ्र ही असभ्य हो गईं। यद्यपि जाति-प्रथा त्रुटियों से रहित संस्था नहीं थी, तथापि इसके लाभ हानियों से अधिक हुए हैं। इसके द्वारा हिन्दुओं को समाज की ओर कर्त्तव्य-पालन और आज्ञा-पालन के दायरे में रखा गया। इसके बिना शीघ्र ही हिन्दू बिल्कुल असभ्य बन जाते।" इस संदर्भ में डॉ॰ स्मिथ का कथन है—"वह संस्था, जो सहस्रों वर्षों से चली आ रही है और प्रबल विरोध होने पर भी इस प्रायद्वीप में कमोरिन अंतरीप तक फैल गई, अवश्य ही गुण सम्पन्न रही होगी। अन्यथा इसका (जाति-प्रथा का) अस्तित्व बना न रहता और भारत की सीमा के अन्दर सर्वत्र इसका प्रचार न हुआ होता।"[1] मुख्यतः जाति प्रथा के निम्नलिखित गुण हैं—

1. **भारतीय संस्कृति की रक्षा**—जाति-प्रथा के कारण आर्य और अनार्य जातियों की संस्कृति सुरक्षित रही। दोनों ने समाज में अपने अस्तित्व को बनाये रखा। आर्य और अनार्यों के विवाह और भोजन संबंधी नियमों ने दोनों में सामंजस्य स्थापित नहीं होने दिया। डॉ॰ राधाकृष्णन् ने लिखा है—"आर्य जाति को बहुसंख्यक अनार्यों के अंधविश्वासों से सुरक्षित रखने का एकमात्र रास्ता यही था कि प्रचलित आर्य परंपराओं और संस्कृति तथा अनार्य असभ्यता के अंतर को दृढ़ता से अंकित किया जाए ताकि आर्य जाति सुरक्षित और अवांछित प्रभाव से मुक्त रह सके।"

भारत आदिकाल से ही विदेशी आक्रांताओं के आक्रमणों का बराबर शिकार होता रहा है। ईरानी, यूनानी, पार्थियन, शक, हूण, तुर्क आदि जातियों ने भारत पर आक्रमण किए। अनेक जातियों ने यहाँ शासन भी किया। उन्होंने भारत में अपने धर्म-प्रचार के लिए यथासंभव प्रयास किए। मुसलमानों ने प्रलोभन देकर और तलवार के बल पर हिन्दुओं पर धर्म परिवर्तन हेतु दबाव डाला। जाति-प्रथा के कारण भारतीय विदेशी आघातों को सहते रहे, परंतु उन्होंने धर्म-परिवर्तन नहीं किया। उन्होंने समाज में अपनी पृथक् सत्ता बनाए रखी। इस प्रकार संकट की घड़ी में हिन्दुओं ने स्वयं को जातीय दुर्ग की अभेद्य चारदीवारी में बंद कर दिया और अवसर मिलते ही स्वतंत्रतापूर्वक विचरण किया।

---

1. "An institution which has lasted for thousands of years, and has forced its passage down through the peninsula all the way of Cape Comorin in the face of the strongest opposition, must have merits to justify its existence and universal prevalence within the limits of India."

—*Dr. V.A. Smith*

जाति-प्रथा के कारण हिंदू-समाज में स्थिरता आई जिससे भारतीय संस्कृति की सुरक्षा संभव हो पाई। इस सम्बन्ध में आर० पी० मसानी का यह कथन उल्लेखनीय है—"यदि हिन्दू संस्कृति युगों के बीच स्थिर रह सकी है तथा परिवर्तित होते हुए वातावरण के विनाशकारी प्रभावों से युद्ध करने में सफल हुई है तो इसका कारण जाति-व्यवस्था ही है।" इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत को छोड़कर अन्य जिन देशों पर विदेशी आक्रमण हुए उनका सर्वाधिक प्रभाव उस देश की सभ्यता पर पड़ा। ईरान, यूनान, मिश्र, चीन, रोम आदि देशों की प्राचीन सभ्यताएँ विनष्ट हो चुकी हैं, किन्तु वैदिक संस्कृति भारत में आज तक विद्यमान है।

प्रत्येक जाति के अपने रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार तथा खान-पान होते हैं। जाति-प्रथा के कारण वे निरंतर चलती रहीं। इस प्रकार जाति-प्रथा ने विभिन्न जातियों की संस्कृति, जिन्हें समग्ररूप से भारतीय संस्कृति कहा जाता है, को सुरक्षा प्रदान की।

2. **श्रम-विभाजन और कार्य-कुशलता**—प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था, जो बाद में जाति-प्रथा में परिवर्तित हो गई, कर्म पर आधारित थी। प्रत्येक वर्ण का कार्यक्षेत्र निर्धारित था। जैसे ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन और धार्मिक कार्य करता था। क्षत्रिय प्रशासन और देश रक्षा का दायित्व निभाता था। वैश्य व्यापार करता था तथा शूद्र सेवा-कार्य करता था। बाद में वर्ण का आधार जन्म हो गया था। प्रत्येक जाति के कार्य निश्चित थे। जो बालक जिस परिवार में जन्म लेता था वह उस परिवार के वंशानुगत व्यवसाय को अपनाता था। जाति-प्रथा के परिणामस्वरूप समाज में श्रम का बँटवारा हो गया और प्रत्येक मनुष्य अपने पैतृक व्यवसाय में लग जाता था। जन्म से कार्य निश्चित होने के कारण बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई और पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही कार्य को करने के कारण कार्य-कुशलता में वृद्धि होना स्वाभाविक था।

3. **वर्ग-संघर्ष का अभाव**—प्रत्येक जाति के कार्य निश्चित और निर्धारित होने के कारण लोग शांतिपूर्वक अपने व्यवसायों में लग जाते थे। इससे समाज में प्रतिद्वन्द्विता, होड़ और संघर्ष नहीं पनपने पाए।

4. **सद्भावना का विकास**—जाति-प्रथा के फलस्वरूप एक लाभ यह हुआ कि समाज में एक जाति के लोग एक-दूसरे के प्रति सद्भाव रखते थे। वे अपनी जाति की उन्नति और विकास के लिए संगठन स्थापित करते थे। धनी वर्ग के लोग सजातीय निर्धनों को सहायता प्रदान करते थे। इस सब के फलस्वरूप लोगों में सद्भावना का विकास हुआ।

5. **रक्त, वंश और वर्ण की शुद्धता**—जाति-प्रथा के अंतर्गत एक जाति का दूसरी जाति के साथ वैवाहिक सम्बन्ध और खान-पान निषिद्ध थे। विदेशियों के साथ सम्बन्ध एवं सम्पर्क वर्जित था। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न जातियों में रक्त, वंश और वर्ण की शुद्धता बनी रही और हिन्दू विदेशियों में विलीन होने से बच गये।

6. **आदर्श गुणों का विकास**—जाति-प्रथा ने विभिन्न जातियों के लोगों में स्वार्थ-त्याग, समाज-सेवा और लोक-रक्षा की भावनाओं का विकास किया। प्रत्येक जाति के नियम और उपनियम निर्धारित थे। इनके उल्लंघनकर्त्ता को दंडित किया जाता था। जाति-प्रथा ने लोगों को श्रेष्ठ नैतिकता का पाठ पढ़ाया और उन्हें अनैतिक कार्यों को करने से रोका। मोनियर विलियम्स के शब्दों में—"इस प्रथा (जाति-प्रथा) ने आत्म-त्याग की भावना का प्रचार किया, व्यक्ति को अपनी जाति की रक्षा के लिए संस्थागत नियंत्रण में रखना सिखाया, व्यसनों को रोकने एवं आजीविका हीन होने से व्यक्तियों की रक्षा की।"

7. **निरंकुश शासनतंत्र पर रोक** – जाति-प्रथा के कारण प्राचीन भारत के राजा निरंकुश नहीं हो पाये। जाति-प्रथा के अंतर्गत समाज के कार्य और शक्तियाँ विभिन्न जातियों में विभक्त थीं। क्षत्रियों के पास सामरिक और प्रशासनिक शक्ति होने पर भी आध्यात्मिक शक्ति ब्राह्मणों के पास थी तथा अर्थ सम्बन्धी साधन अथवा शक्ति वैश्यों के पास थी। ऐसी स्थिति में राजा निरंकुश नहीं हो पाये। राजा की सलाह के लिए जिसे पुरोहित नियुक्त किया जाता था, वह ब्राह्मण होता था। एक जाति के अन्तर्गत सभी लोग समान समझे जाते थे। प्रारम्भ में जाति-प्रथा राजनीतिक संगठन की इकाई थी। इससे हिन्दू समाज में समानता और प्रजातान्त्रिक भावनाओं का विकास हुआ।

8. **अन्य गुण**—जाति-प्रथा के कारण विभिन्न जातियों के लोग स्वतः अपने कार्यों में लग जाते थे। क्षत्रियों द्वारा देश की रक्षा को अपना परम कर्त्तव्य समझा जाने से राज्य को सेना पर अधिक व्यय नहीं करना पड़ता था। अध्ययन-अध्यापन ब्राह्मणों का कार्य था। वे जनसाधारण को निःशुल्क शिक्षा की सुविधा प्रदान करते थे। अतः राज्य को शिक्षा का विशेष प्रबन्ध नहीं करना पड़ता था। हिन्दुओं द्वारा विदेशियों के समाज में विलीन न होने पर विदेशी स्वतः भारतीय समाज में आत्मसात् हो गये। प्रत्येक जाति के कार्य निश्चित होने के कारण समाज अशांति और विद्रोह के वातावरण से दूर रहा।

जाति-प्रथा के दोष

जाति-प्रथा के सभी गुणों का उल्लेख करने के उपरान्त उसके दोषों की विवेचना भी आवश्यक है। यद्यपि प्रारम्भ में जाति-प्रथा के व्यावहारिक स्वरूप के कारण समाज को अनेक लाभ हुए तथापि कालान्तर में उसमें जटिलता, अव्यावहारिकता, संकीर्णता आदि दोषों के आ जाने के कारण वह समाज के लिए अभिशाप बन गई। जाति-प्रथा के दोषों पर कुठाराघात करते हुए प्रोफेसर ए० आर० वाडिया ने लिखा है—"उपनिषदों का महान् अध्यात्मवाद और गीता की उच्च नैतिकता जाति के अत्याचार के कारण मात्र शब्दों तक ही सीमित रह गई। सम्पूर्ण संसार की एकता पर बल देते हुए भी भारत ने एक ऐसे सामाजिक ढाँचे का निर्माण किया जिसने

अनेक बच्चों को पृथक्-पृथक् बन्द कमरों में विभाजित करके एक-दूसरे को सदियों के लिए अलग कर दिया। इसने भारत को विदेशी विजय के लिए खुला छोड़ दिया जिससे न केवल वह दुर्बल और निर्धन हुआ बल्कि इससे ही भारत अस्पृश्यता का घर बन गया जिससे वह 'केन' के अभिशाप का कारण बना हुआ है।" स्पष्ट हो जाता है कि जाति-प्रथा के कारण समाज का अपकर्ष हुआ है। जाति-प्रथा के प्रमुख दोष इस प्रकार हैं—

1. **हिन्दू समाज का विभाजन**—जाति-प्रथा के कारण हिन्दू-समाज अनेक जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गया। वर्तमान हिन्दू समाज 3,000 से भी अधिक जातियों में विभक्त है जिनमें परस्पर खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध वर्जित हैं। यद्यपि वर्तमान समय में शिक्षा के प्रसार से इसमें कुछ शिथिलता आ रही है।

2. **अव्यावहारिकता और संकीर्णता**—जाति-प्रथा के अन्तर्गत जन्म से ही व्यक्ति का व्यवसाय निश्चित हो जाता था। अन्य कार्यों में अत्यधिक रुचि होने पर भी एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यवसाय को नहीं अपना सकता था। इसका कुप्रभाव व्यक्ति की दक्षता और कार्य-कुशलता पर पड़ा। व्यवसाय-परिवर्तन की स्वतन्त्रता न होने से समाज में संकीर्णता की भावना घर कर गई थी। राजपूत-काल में जाति-प्रथा में अत्यधिक कट्टरता आ गई थी। किसी भी विदेशी को भारतीय समाज में नहीं मिलाया जा सकता था। ग्यारहवीं शताब्दी में भारत-भ्रमण पर आने वाले अरब यात्री अल्बेरुनी ने लिखा है कि भारतीय विदेशियों को अपवित्र समझते हैं। वे विदेशियों से सम्बन्ध स्थापित करने का विरोध करते हैं। भारतीय विदेशियों को 'म्लेच्छ' अथवा 'पापात्मा' कहते हैं। अपने धर्म और समाज के बाहर रहने वालों का वे स्वागत नहीं करते। उसने लिखा है— "विदेशी जातियाँ हिन्दुओं की कट्टरता का शिकार होती हैं। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र कहते हैं। भारतीय विदेशियों के साथ खान-पान और वैवाहिक सम्बन्धों के विरुद्ध हैं। वे समझते हैं कि इससे वे भ्रष्ट हो जायेंगे।" इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण भारतीय विदेशी ज्ञान, विज्ञान और नवीनतम रणशैलियों से अनभिज्ञ रहे।

3. **सामाजिक बुराइयों का जन्म**—जाति-प्रथा ने अनेक सामाजिक बुराइयों को जन्म दिया। जाति-प्रथा की कठोरता के कारण समाज की एक जाति अपने को दूसरी जाति से श्रेष्ठ समझती थी। उनमें सहभोज और वैवाहिक सम्बन्ध निषिद्ध थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने को उच्च समझते थे। अपने को श्रेष्ठ समझने वाली जाति के लोग निम्न समझी जाने वाली जातियों पर अनेक अत्याचार करते थे।

यह प्रवृत्ति वर्तमान समय तक व्याप्त है। हिन्दू-समाज में व्याप्त असमानता की भावना ने निम्न जाति के लोगों को पहले मुस्लिम धर्म और बाद में ईसाई धर्म ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। जाति-प्रथा की कट्टरता ने हिन्दू-समाज में आछूत, ऊँच-नीच और भेद-भाव की भावनाओं को जन्म दिया। शूद्रों को हीन समझा जाता था। उन्हें स्पर्श करना पाप समझा जाता था। राजपूत अन्य जातियों

के साथ अपनी कन्याओं का पणिग्रहण करवाना अपमानजनक समझते थे। परस्पर ऊँच-नीच की भावना ने बाल-विवाह, कन्यावध, पर्दा-प्रथा आदि बुराइयों को जन्म दिया। जाति-प्रथा हिन्दू-समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हुई।

4. राष्ट्रीय एकता और देश की सुरक्षा में बाधक—जाति-प्रथा का अव्यावहारिक स्वरूप राष्ट्रीय एकता और देश की सुरक्षा में बाधक सिद्ध हुआ। जाति-प्रथा ने समाज को अनेक जातियों और उपजातियों में विभाजित कर दिया। सभी जातियाँ राष्ट्रीय हितों को भूलकर स्वयं की उन्नति के लिए प्रयत्नशील थीं। तुर्कों के आक्रमण के समय भारत राजनीतिक दृष्टि से अनेक छोटे-छोटे राजपूत-राज्यों में विभक्त था। उनमें न आन्तरिक दृढ़ता थी और न ही राजनीतिक एकता की भावना व्याप्त थी। परस्पर राग-द्वेष और वैमनस्य की भावना से वे परस्पर संघर्षरत रहते थे। जब तुर्कों ने भारत पर आक्रमण किए तो राजपूत-राजा आपसी मतभेद के कारण संघबद्ध होकर उनका सामना नहीं कर पाये। तुर्कों ने पृथक्-पृथक् रूप से उन्हें पराजित कर डाला। इस प्रकार जाति-प्रथा की कट्टरता ने देश की सुरक्षा खतरे में डाल दी और भारत को पहले मुसलमानों और बाद में अंग्रेजों की पराधीनता का जुआ ढोना पड़ा।

हिन्दू विदेशियों को म्लेच्छ, अपवित्र और पापात्मा कहते थे। हिन्दू-समाज के द्वार विदेशियों के लिए बन्द हो गये थे। अल्बेरुनी ने लिखा है कि हिन्दू-समाज में जाति-प्रथा इतनी अधिक कठोर हो गई थी कि उसमें कोई विदेशी नहीं लिया जा सकता था। समुद्र-यात्रा निषिद्ध थी और विदेशियों के साथ सम्पर्क धर्म-विरुद्ध माना जाता था। इन मान्यताओं के कारण हिन्दू-समाज तुर्कों के सम्पर्क में नहीं आया। फलतः वे बाह्य देशों की सभ्यता, ज्ञान और विज्ञान से वंचित रहे जिसका सीधा प्रभाव देशों की सुरक्षा पर पड़ा। अल्बेरुनी का कथन है कि यदि उनसे (भारतीयों अथवा हिन्दुओं से) खुरासान अथवा फारस के किसी विज्ञान अथवा विद्या की बात कही जाती है तो वे इस कथन को अज्ञानपूर्ण और मिथ्या समझते हैं। भारतीयों के इस दम्भ ने विदेशियों के साथ उनके सम्पर्क को समाप्त कर दिया, जिससे मध्य-एशिया में इस्लाम की नवोदित शक्ति तथा राजनीतिक परिवर्तनों का भारतीयों को ज्ञान नहीं हो पाया और देश की सुरक्षा भी वे नहीं कर पाये।

जाति-प्रथा में कठोरता आ जाने के फलस्वरूप युद्ध क्षत्रिय वर्ण के लोगों तक सीमित रह गया था। देश की सुरक्षा का दायित्व केवल क्षत्रियों पर निर्भर रह गया। जब विदेशियों ने भारत पर सांघातिक प्रहार किए तो क्षत्रिय वर्ण के लोग ही उनके प्रतिरोध के लिए सामने आये। अन्य वर्ण के लोग अकर्मण्य होकर क्षत्रियों का संहार देखते रहे और क्षत्रियों के निर्बल पड़ते ही भारत तुर्क आधिपत्य में आ गया। तुर्कों ने भारत को विजित कर यहाँ इस्लाम की विजय-पताका फहराई।

जाति-प्रथा का भविष्य

जाति-प्रथा के गुण-दोषों की सम्यक विवेचना के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने प्रारम्भिक व्यावहारिक स्वरूप में वह (जाति-प्रथा) समाज के लिए अत्यन्त

उपयोगी सिद्ध हुई। परन्तु कालान्तर में उसमें जटिलता आ जाने के कारण वह समाज के लिए अभिशाप बन गई। जाति-प्रथा के कारण जहाँ एक ओर पुरातन भारतीय संस्कृति की रक्षा हो सकी, रक्त, वंश और वर्ण में शुद्धता बनी रही, अनैतिक कार्यों पर नियंत्रण स्थापित हो सका, समाज में सद्भावना का विकास हुआ, समानता और प्रजातान्त्रिक भावनाओं का विकास हुआ, श्रम-विभाजन के कारण कार्यक्षमता और कार्यकुशलता में वृद्धि सम्भव हो सकी, वहीं दूसरी ओर उसके अव्यावहारिक स्वरूप के कारण हिन्दू-समाज का विभाजन हो गया, व्यवसाय अपरिवर्तनशील होने के कारण दक्षता और कार्य-कुशलता कम हो गई, समाज में अत्याचार, असमानता, अस्पृश्यता आदि बुराइयों का जन्म हुआ तथा राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा में बाधक सिद्ध हुई।

भारत में जाति-प्रथा का भविष्य अब उज्ज्वल नहीं है। सर्वप्रथम छठी शताब्दी ई० पू० में महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने इस कुप्रथा का घोर विरोध किया। भारतीय इतिहास के मध्य-काल में दक्षिण में वासव और उत्तर में रामानुज ने जाति-प्रथा का विरोध किया। भक्ति आन्दोलन के नेता कबीर, चैतन्य, नानक आदि समाज-सुधारकों ने इस कुप्रथा के विरुद्ध आवाजें उठाई। आधुनिक काल में राजा राम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती, महात्मा गान्धी, जयप्रकाश नारायण आदि ने जाति-प्रथा के अन्त और सामाजिक समानता की स्थापना की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज तथा धार्मिक आन्दोलनों ने जाति-प्रथा की बुराइयों को समाप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न किए। स्वतन्त्र-भारत की सरकार इस ओर विशेषरूप से प्रयत्नशील रही है। निम्न वर्ण के लोगों को सरकारी नौकरियों में आरक्षण दिया जा रहा है। यदि यह आरक्षण आर्थिक मापदण्ड पर आधारित होता तो अधिक उपयुक्त होता। छुआछूत मानने वालों को दण्डित करने का विधान है। एक जन-कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि समाज में व्याप्त छुआछूत की कुप्रथा को समूल नष्ट कर दिया जाय। जैसा कि भारतीय संविधान के निर्माता डॉ० भीमराव अम्बेडर का कथन है—"यदि हमारा समाज सहस्रों जातियों में विभक्त रहा और चुनावों में हमने जाति-पाँति की भावना से काम लिया तो फिर हमारे देश में कागजी विधान कितना ही अच्छा हो एक सच्चे जन-राज्य की स्थापना नहीं हो सकती।" जाति-प्रथा वर्तमान समय में भी हिन्दू समाज में अपनी शिथिल अवस्था में विद्यमान है। आशा है कि शिक्षा के प्रसार से निकट भविष्य में इसमें और अधिक शिथिलता आयेगी। अधिकांश शिक्षित जन-समुदाय जाति-प्रथा में विश्वास नहीं करता है। छुआछूत की कुप्रथा अब समाप्त होती नजर आ रही है और अन्तर्जातीय विवाह काफी मात्रा में होने लगे हैं। वर्तमान समय में भारत में जाति-प्रथा शिथिल अवस्था में विद्यमान है और वह समाप्ति की ओर अग्रसर है। उसकी पूर्ण समाप्ति के लिए शिक्षा का व्यापक स्तर पर प्रसार आवश्यक है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वर्ण-व्यवस्था से सम्बन्धित सभी सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए तथा उसके विकास का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. जाति-प्रथा के गुणों तथा अवगुणों का वर्णन कीजिए।
3. जाति-व्यवस्था के जन्म तथा विकास का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।
4. "जाति-पद्धति हिन्दुओं के कंठ के चारों ओर एक चक्की के पाट के समान है और उन्हें अति शीघ्रता के साथ राजनीतिक तथा सामाजिक पतन की ओर घसीट रही है।" इस कथन की समीक्षा करते हुए जाति-प्रथा के अवगुणों का वर्णन कीजिए और यह बताइए कि किन उपायों के साथ यह पद्धति भारत के लिए कल्याणकारी हो सकती है।

10

छठी शताब्दी ई० पू० की राजनीतिक दशा

महाकाव्य काल से छठी शताब्दी ई० पू० तक के भारतीय इतिहास का क्रमबद्ध, सुस्पष्ट और विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर पाना नितांत कठिन है। छठी शताब्दी ई० पू० में भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। बौद्धग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय, में षोडश (सोलह) महाजनपदों का उल्लेख मिलता है। 'जनपद' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने महाजनपदों का काल 1000 ई० पू० से 500 ई० तक बताया है। उनका कथन है—"लगभग एक सहस्र ईसवी पूर्व से पाँच सौ ईसवी तक के युग को भारतीय इतिहास में जनपद या महाजनपद युग कहा जाता है। सारे देश में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक जनपदों की श्रृंखला फैली हुई थी। एक प्रकार से जनपद राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गये थे।" डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी का मत हैं कि ये षोडश महाजनपद बुद्ध के काल से पूर्व विद्यमान थे। उन्होंने लिखा है—"चूंकि यह सूची (महाजनपदों की सूची) प्राचीनतम बौद्ध साहित्य में मिली है, इसे बुद्ध-पूर्व ही मानना होगा। इन जनपदों का काल इस प्रमाण से सातवीं शती ई० पू० अथवा छठी शती ई० पू० के आरम्भ में ठहरता है।" प्रारम्भ में षोडश महाजनपद छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त थे। कालांतर में साम्राज्य-विस्तार की भावना और पारस्परिक युद्धों के कारण इनके क्षेत्र और शक्ति में विस्तार हुआ। महात्मा बुद्ध के समय तक महाजनपद पूर्णतः विकसित हो चुके थे। अनेक गांवों और नगरों को मिलाकर महाजनपद बने थे। महाजनपदों की अधिकता के कारण विद्वानों ने इस काल को 'महाजनपद-युग' कहा है। अंगुत्तर निकाय में उल्लिखित षोडश महाजनपदों में से कुछ में राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति विद्यमान थी और कुछ राज्यों में गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली थी। राजतंत्रों में राजा शासन का संचालन करता था। गणराज्यों में शासन की बागडोर जनता के हाथों में होती थी। बौद्धग्रन्थ 'अंगुत्तर निकाय, में जिन षोडश महाजनपदों का उल्लेख किया गया है, वे इस प्रकार

हैं—काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेटि अथवा चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवंति, गंधार और कम्बोज।

षोडश महाजनपद

1. **काशी**—काशी-राज्य के अन्तर्गत वाराणसी के आसपास के क्षेत्र सम्मिलित थे। वाराणसी इस राज्य की राजधानी थी। ब्रह्मदत्त शासकों के राज्यकाल में काशी-राज्य की विशेष उन्नति हुई। यह एक शक्तिशाली और वैभवसंपन्न राज्य था। महावग्ग जातक में काशी को महान् समृद्धिशाली और प्रभूत-साधन-सम्पन्न राज्य कहा गया है। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन काशी के राजा थे। साम्राज्यवादी नीति के कारण काशी-राज्य और कोशल-राज्य में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता की भावना व्याप्त थी। अंत में काशी राज्य की शक्ति क्षीण पड़ गई और कोशल-नरेश ने उसे विजित कर अपने राज्य में मिला लिया।

2. **कोशल**—कोशल राज्य के अन्तर्गत आधुनिक अवध का क्षेत्र विद्यमान था। महाकाव्य-काल में उसकी राजधानी अयोध्या थी। छठी शताब्दी ई० पू० में कोशल-राज्य की राजधानी श्रावस्ती हो गई थी। यह राज्य पश्चिम में पांचाल-राज्य की सीमाओं से लेकर पूर्व में गण्डक नदी तक और उत्तर में नेपाल की सीमाओं से लेकर दक्षिण में साई नदी तक विस्तृत था। काशी और कोशल के राजाओं में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता थी। कोशल के शक्तिशाली राजा कंस ने काशी को विजित कर अपने राज्य में मिला लिया था। कोशल के सम्राटों को सूर्यवंशी कहा गया है। छठी शताब्दी ई० पू० में कोशल-राज्य की विशेष उन्नति हुई। मगध-सम्राट और कोशल नरेश प्रसेनजित के मध्य हुए संघर्ष का उल्लेख मिलता है। अंत में प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ संपन्न कर उससे मित्रता कर ली। प्रसेनजित की मृत्यु के बाद कोशल-राज्य की अवनति प्रारंभ हो गई। अन्त में उसे मगध राज्य में मिला लिया गया।

3. **अंग**—अंग-राज्य आधुनिक मुंगेर और भागलपुर जिले में स्थित था। इसकी राजधानी चंपानगरी अपने वैभव और समृद्धि के लिए प्रसिद्ध थी। मगध के राजाओं के साथ अंग राजाओं का पारस्परिक वैमनस्य था। मगध के शक्तिशाली हर्यंक-वंशी सम्राट बिंबिसार ने अंग नरेश ब्रह्मदत्त को पराजित करके अंग राज्य को मगध राज्य में विलीन कर लिया।

4. **मगध**—आधुनिक बिहार-राज्य के पटना और गया नामक जिले प्राचीन काल में मगध-राज्य के नाम से जाने जाते थे। षोडश महाजनपदों में मगध अत्यधिक शक्तिशाली राज्य था। छठी शताब्दी ई० पू० में मगध-राज्य का उत्कर्ष हुआ। सम्राट बिंबिसार (544 ई० पू०—492 ई० पू०) और अजातशत्रु के शासन-काल (492 ई० पू०—463 ई० पू०) में मगध राज्य की अत्यधिक उन्नति हुई। प्रारम्भ में इसकी राजधानी गिरिव्रज थी और बाद में राजगृह हो गई।

राजधानी परिवर्त्तन का श्रेय बिंबिसार को दिया जाता है। बिंबिसार से पूर्व बृहद्रथ और महाबली जरासंध मगध राज्य के शक्तिशाली राजा थे। जरासंध ने अठारह बार कृष्ण को पराजित किया था। मगध सम्राट बिंबिसार ने अंग राज्य को विजित कर मगध-राज्य में मिला लिया। उसके पुत्र अजातशत्रु ने वैशाली, मल्ल और काशी प्रदेश के अधिकांश भू-भाग को अधिकृत कर लिया।

5. **वज्जि**—यह राज्य आधुनिक बिहार के उत्तरी भाग में स्थित था। वज्जि, आठ जातियों का एक शक्तिशाली संगठन था, जिनमें वज्जि लिच्छवि, ज्ञात्रिक और विदेह जातियाँ प्रमुख थीं। प्रारंभ में पारस्परिक सहयोग के कारण वज्जि शक्तिशाली संघ था। इस राज्य की राजधानी वैशाली थी। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध के समय वज्जि राज्य (वज्जि-संघ) विद्यमान था। साम्राज्यवादी मगध नरेश अजातशत्रु वज्जि संघ को पराजित करना चाहता था। किंतु शक्तिशाली और संगठित वज्जि-संघ को पराजित करना आसान कार्य नहीं था। अतः उसने कूटनीति से काम लिया। उसने अपने महामात्य वर्षकार को वज्जियों में फूट उत्पन्न करने के निमित्त वैशाली भेजा। वर्षकार अपने कार्य में सफल रहा। वज्जिसंघ में फूट पड़ जाने पर अजातशत्रु ने उन पर आक्रमण कर दिया। उसने वज्जियों को पराजित करके उनके राज्य को मगध-राज्य में मिला लिया।

6. **मल्ल**—मल्ल-राज्य वज्जि संघ के उत्तर में स्थित था। यह राज्य उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के क्षेत्र में फैला हुआ था। मल्लों की दो शाखाओं का उल्लेख मिलता है। वज्जि संघ के समान मल्ल दो शाखाओं का एक संघ-राज्य था। इनमें से एक शाखा की राजधानी कुशीनारा (कुशीनगर) और मल्लों की दूसरी शाखा की राजधानी पावा थी। प्रारंभ में मल्लों में राजतंत्रात्मक शासन प्रचलित था परंतु बाद में उन्होंने गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली को अपनाया। कालांतर में मल्ल राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाते हुए मगध राज्य ने उस पर आक्रमण कर दिया और उसे पराजित कर मगध में मिला लिया।

7. **चेटि अथवा चेदि**—चेटि अथवा चेदि राज्य मध्य-प्रदेश के बुंदेलखंड और उसके आसपास के क्षेत्रों तक विस्तृत था। इस राज्य की राजधानी शुक्तिमती अथवा सोत्थिवती थी। जातक ग्रन्थों और महाभारत में चेदि-वंश के क्षत्रिय नरेश का उल्लेख मिलता है।

8. **वत्स**— यह राज्य गंगा के दक्षिण में स्थित था। आधुनिक इलाहाबाद और बाँदा के जिले प्राचीनकाल में वत्स राज्य का निर्माण करते थे। इसकी राजधानी कौशाम्बी व्यापारिक उन्नति और सांस्कृतिक समृद्धि के लिए प्रसिद्ध थी। महात्मा बुद्ध के समय उदयन वहाँ का राजा था। उसका काल राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। मगध-सम्राट अजातशत्रु और अवंति-नरेश चण्ड प्रद्योत के साथ उसका संघर्ष हुआ। बाद में उदयन ने इन राज्यों के साथ

वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य की रक्षा की। उदयन का उत्तराधिकारी बोधि था। तदुपरांत वत्स-राज्य का पतन हो गया।

9. **कुरु**—यह राज्य वर्तमान दिल्ली और मेरठ के समीपवर्ती प्रदेशों तक विस्तृत था। इन्द्रप्रस्थ कुरु-राज्य की राजधानी थी। प्रारम्भ में यहाँ राजतन्त्र था, किन्तु बाद में गणतन्त्र की स्थापना हो गई। आचार-विचार और श्रेष्ठ नैतिकता के लिए यह राज्य प्रसिद्ध था। जातक कथाओं से विदित होता है कि इन्द्रप्रस्थ नगर का क्षेत्र दो हजार मील के लगभग था।

10. **पांचाल**—पांचाल राज्य आधुनिक रुहेलखण्ड के बरेली, बदायूँ और फर्रुखाबाद के जिलों में विस्तृत था। प्रारम्भ में यह दो भागों में विभक्त था--(1) उत्तरी पांचाल और (2) दक्षिणी पांचाल। उत्तरी पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिणी पांचाल की राजधानी कांपिल्य थी। प्रारम्भ में वहाँ राजतन्त्र शासन था, किन्तु बाद में प्रजातान्त्रिक शासन की स्थापना हुई। ब्रह्मदत्त और संजय पांचाल-राज्य के प्रसिद्ध राजा थे। महाकाव्य-काल में द्रौपदी का पिता द्रुपद पांचाल-राज्य का राजा था।

11. **मत्स्य**—मत्स्य-राज्य यमुना नदी के पश्चिम में और कुरु-राज्य के दक्षिण में स्थित था। इसके अन्तर्गत राजस्थान के जयपुर, भरतपुर और अलवर के क्षेत्र आते थे। इसकी राजधानी विराट नगर थी। कालान्तर में मत्स्य राज्य मगध-राज्य में विलीन हो गया।

12. **शूरसेन**—यह राज्य मथुरा के आस-पास के क्षेत्रों में स्थित था। शूरसेन राज्य की राजधानी मथुरा थी। इस में यादव-कुल के शासकों ने राज्य किया। अवंति-पुत्र और कुविन्द नरेश इस राज्य के प्रमुख शासक थे। बाद में शूरसेन राज्य को विजित कर मगध-राज्य में विलीन कर लिया गया।

13. **अस्सक**—यह राज्य गोदावरी नदी के तट पर स्थित था। इसकी राजधानी पोतन थी। वायुपुराण से विदित होता है कि इस राज्य के राजा इक्ष्वाकुवंशी थे। साम्राज्य-विस्तार की नीति के कारण अस्सक और अवंति के राजाओं में परस्पर वैमनस्य था।

14. **अवंति**—यह राज्य मध्य मालवा में स्थित था। यह दो भागों में विभक्त था—उत्तरी अवंति और दक्षिणी अवंति। उत्तरी अवंति की राजधानी उज्जैन थी और दक्षिणी-अवंति की राजधानी माहिष्मती थी। चण्ड-प्रद्योत अवंति का प्रमुख राजा था। उसने अनेक राजाओं को पराजित कर अपने राज्य का विस्तार किया। मगध-सम्राट् अजातशत्रु भी उसके भय से आतंकित रहता था।

15. **गंधार**—गंधार-राज्य वर्तमान पाकिस्तान के पेशावर तथा रावलपिंडी जिलों में स्थित था। तक्षशिला इसकी राजधानी थी। सीमांत प्रदेश में स्थित होने के कारण यह व्यापार और संस्कृति का केन्द्र बन गया था। पुष्करसारिन इस राज्य का प्रसिद्ध राजा था जो बिंबिसार का समकालीन था।

16. **कम्बोज**--यह गंधार राज्य का पड़ोसी राज्य था। इसमें दक्षिणी-पश्चिमी कश्मीर तथा काफिरिस्तान के भाग सम्मिलित थे। राजपुर कम्बोज-राज्य की राजधानी थी। प्रारम्भ में यहाँ राजतन्त्रात्मक शासन था, परन्तु बाद में गण-तन्त्रात्मक शासन-प्रणाली स्थापित हो गई थी। चन्द्रवर्मन और सुदक्षिण यहाँ के प्रसिद्ध राजा थे।

प्रमुख राजतन्त्र

छठी शताब्दी ई० पू० में भारत में षोडश महाजनपद विद्यमान थे। इन महाजनपदों में साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा के कारण पारस्परिक द्वेष, वैमनस्य और घृणा की भावना व्याप्त थी। साम्राज्यवादी नीति के पोषक होने के कारण उनके शासक परस्पर संघर्षरत रहते थे। काशी और कोशल के राजा एक-दूसरे के प्रबल प्रतिद्वंद्वी थे। कोशल नरेश कंस ने काशी के राजा को पराजित कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। महासीलव जातक के अनुसार काशी के राजा महासीलव का राज्य कोशल-नरेश ने छीन लिया था। मगध-सम्राट बिंबिसार ने अंग-नरेश ब्रह्मदत्त को पराजित करके उसके राज्य को मगध-राज्य में मिला लिया। अस्सक (अश्मक) और अवंति के राजाओं में पारस्परिक द्वेष की भावना व्याप्त थी। वे परस्पर संघर्षरत रहते थे। ऐसा विदित होता है कि कालान्तर में बड़े राज्यों ने छोटे राज्यों को विजित कर अपने में मिला लिया। छठी शताब्दी ई० पू० के अन्त तक उत्तरी भारत में चार प्रमुख राजतन्त्र राज्यों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि षोडश महाजनपद चार प्रमुख राज्यों में परिवर्तित हो गये थे। इस संदर्भ में डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी का यह कथन उल्लेखनीय है—"पाँचवीं तथा छठी शताब्दी ईसा पूर्व में सोलह महाजनपद छिन्न-भिन्न होकर कतिपय राज्यों के रूप में बदल गये थे। अन्त में ये राज्य मगध-साम्राज्य के अंग बन गये।" इस प्रकार कोशल, वत्स, अवंति और मगध नामक चार राजतन्त्र-राज्यों का विस्तार हुआ।

1. **कोशल**—कोशल-राज्य के अन्तर्गत आधुनिक अवध का क्षेत्र आता था। प्रारम्भ में इस राज्य की राजधानी अयोध्या थी जो बाद में बदलकर श्रावस्ती हो गई थी। काशी और कोशल के राजा परस्पर लड़ते रहते थे। जातक ग्रन्थों से विदित होता है कि काशी-नरेश ब्रह्मदत्त ने कोशल के राजा दीघति का राज्य छीनकर उसका वध कर दिया और उसकी रानी को अपनी रानी बना लिया। किन्तु उसकी यह विजय स्थायी सिद्ध नहीं हुई। महासीलव जातक से ज्ञात होता है कि काशी के राजा महासीलव का राज्य कोशल-नरेश ने विजित कर लिया था। कंस के राज्य-काल में कोशल-राज्य की प्रगति हुई। कंस ने काशी-राज्य को पराजित कर उसे कोशल में मिला लिया। छठी शताब्दी ई० पू० के मध्य में महाकोशल कोशल-राज्य का राजा था। उसने मगध-नरेश बिंबिसार के साथ अपनी पुत्री कोशलदेवी का विवाह सम्पन्न कर काशी राज्य का एक गाँव, जिसकी वार्षिक आय एक लाख

रुपया थी, दहेज के रूप में दे दिया। महाकोशल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र प्रसेनजित राजगद्दी पर आसीन हुआ। पालि साहित्य से विदित होता है कि शाक्यों ने कोशल का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। संयुक्त निकाय में प्रसेनजित को पाँच राजाओं के एक गुट का नेता कहा गया है। बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु को पितृहंता कहा गया है। कहा जाता है कि अजातशत्रु ने अपने पिता बिंबिसार को कारागार में बन्द कर भूखों मरवा डाला। पतिशोक में कोशलदेवी का भी देहावसान हो गया। अजातशत्रु की पितृ घातक नीति से क्रुद्ध होकर प्रसेनजित ने कोशलदेवी को दहेज में दिये गये गाँव की वार्षिक आय अजातशत्रु को भेजनी बन्द कर दी। इसी बात पर प्रसेनजित और अजातशत्रु के मध्य संघर्ष छिड़ गया। युद्ध के प्रथम दौर में प्रसेनजित पराजित हुआ और उसे भागकर श्रावस्ती में शरण लेनी पड़ी, किन्तु युद्ध के अन्तिम दौर में प्रसेनजित की विजय हुई और मगध-नरेश अजातशत्रु अपने सैन्य-दल सहित बन्दी बनाया गया। अन्त में दोनों राजाओं में सन्धि हो गई। प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ सम्पन्न कर काशी का उक्त गांव अजातशत्रु को दे दिया।

प्रसेनजित के राज्य काल में कोशल-राज्य उन्नति की पराकाष्ठा पर था। उसने कपिलवस्तु के शाक्य, केसपुत्त के कालाम, पावा और कुशीनारा के मल्ल और रामग्राम के कोलिय गणराज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उसे पाँच राजाओं के गुट का नेता कहा गया है।

प्रसेनजित ने तक्षशिला के प्रसिद्ध शिक्षण संस्थान में शिक्षा अर्जित की। वह उदार और दानी-प्रवृत्ति का राजा था। उसने ब्राह्मणों और श्रमणों को दान वितरित किया और उनके निवास हेतु विहार बनवाए। वह बुद्ध के प्रति अगाध स्नेह भाव रखता था। प्रसेनजित को अपने शासनकाल के अन्तिम दिन घोर संकट की परिस्थितियों में व्यतीत करने पड़े। उसके शासनकाल में उसके पुत्र विडुडभ (विरुद्धक) ने विद्रोह कर दिया। प्रसेनजित को कोशल-राज्य की राजगद्दी को छोड़कर अजातशत्रु से सहायता की याचना करनी पड़ी। मगध की राजधारी राजगृह में प्रवेश करते ही प्रसेनजित की मृत्यु हो गई। विडुडभ द्वारा किए गए विद्रोह के कारण के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि कोशल-नरेश प्रसेनजित महात्मा बुद्ध के प्रति श्रद्धाभाव रखता था। अतः उसने शाक्यों से एक राजकुमारी विवाह में मांगी। प्रसेनजित के स्वाभिमान को ठेस पहुँचाने के उद्देश्य से उसे राजकुमारी के रूप में दासी कन्या भेज दी। उससे विडुडभ का जन्म हुआ। बाद में भेद खुल जाने पर प्रसेनजित ने दासी-कन्या वासभखत्तिया और विडुडभ को राज्यच्युत कर दिया। अपने इस अपमान का बदला लेने ने उद्देश्य से विडुडभ के प्रसेनजित के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

प्रसेनजित को पदच्युत कर उसका विद्रोही पुत्र विरुद्धक राजगद्दी पर बैठा। पिता के विरुद्ध विद्रोह करके अपने अपमान का बदला चुकाने के पश्चात् विडुडभ ने छल करने वाले शाक्यों को उन्मूलित कर देने का निश्चय किया। अचिरवती

नदी के तट पर उसकी शाक्यों से मुठभेड़ हुई। उसने शाक्यों को पराजित कर उनके नगर में भीषण रक्तपात और नरसंहार का परिचय दिया। उसके आक्रमण की विभीषिका से शाक्यों का देश उजड़ गया। विडुडभ और उसके उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में अन्य तथ्य अज्ञात हैं। कहा जाता है कि शाक्यों का मान-मर्दन करने के पश्चात् विडुडभ और उसकी सेना अचिरवती नदी की भीषण बाढ़ में बह गये। अन्त में मगध ने कोशल-राज्य को विजित कर लिया।

2. **वत्स**—वत्स-राज्य आधुनिक इलाहाबाद और बाँदा जिले में विस्तृत था। इस राज्य की राजधानी कौशाम्बी थी जो इलाहाबाद से 30 मील दूर स्थित थी। विदिशा और उज्जैन के मध्य में स्थित होने के कारण महात्मा बुद्ध के काल में इस राज्य ने व्यापार के क्षेत्र में आशातीत सफलता अर्जित की। महात्मा बुद्ध के काल में उदयन वत्स-राज्य का राजा था।

वत्स के राजा शतानीक परन्तप के पश्चात् उसका पुत्र उदयन राजगद्दी पर बैठा। पुराणों में उसे पौरव-वंशी बताया गया है। भास उसे भारतकुल कहता है। अनुश्रुतियों से उदयन के सम्बन्ध में काफी प्रकाश पड़ता है। सर्वाधिक अनुश्रुतियाँ उसके विवाह के सम्बन्ध में प्रचलित हैं। उदयन का समकालीन अवंति-नरेश चण्डप्रद्योत था। साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा के कारण दोनों राजाओं में प्रतिद्वन्द्विता थी। चण्डप्रद्योत उदयन को बंदी बनाने में सफल हो गया। बंदीगृह में उदयन और चण्डप्रद्योत की कन्या वासुलदत्ता अथवा वासवदत्ता का प्रेम हो गया। उदयन उसे भगा ले गया। कौशाम्बी पहुँचने पर उदयन ने वासुलदत्ता अथवा वासवदत्ता से विवाह कर लिया। भास कृत स्वप्न-वासवदत्ता से विदित होता है कि उदयन ने मगध-नरेश दर्शक की बहिन पद्मावती से विवाह किया। हर्ष रचित नाटक 'प्रियदर्शिका' में उदयन द्वारा अंग-नरेश दृढ़वर्मन की कन्या से किए गये विवाह का उल्लेख मिलता है। सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' में उदयन की दिग्विजय का वर्णन मिलता है। प्रियदर्शिका में उदयन की कलिंग-विजय का वर्णन मिलता है। उसने दृढ़वर्मन को पुनः राजगद्दी पर आसीन करवाया। उदयन ने सुंसमगिरि के भग्ग गण-राज्य को पराजित किया। बौद्ध-ग्रन्थों से विदित होता है कि वह शक्तिशाली राजा था और उसकी सशस्त्र सेनाएं राज्य की रक्षा के लिए सदैव तैयार रहती थीं। कहा जाता है कि बौद्ध भिक्षु पिंडोल के प्रभाव में आकर उसने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था।

उदयन न केवल एक महान् योद्धा अपितु एक कुशल राजनीतिज्ञ भी प्रतीत होता है। उसने तत्कालीन प्रमुख राज्य अवंति, मगध और अंग के राजकुलों के साथ वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापित कर वत्स-राज्य को उनके कोप से बचाया। वत्स-राज्य के पूर्व में मगध और पश्चिम में अवंति-राज्य स्थित था। दोनों राज्य वत्स-राज्य को अधिकृत करना चाहते थे। ऐसी स्थिति में उदयन के वैवाहिक सम्बन्ध वत्स-राज्य की रक्षा के लिए सहायक सिद्ध हुए। इस सम्बन्ध में डॉ० बी० सी० लॉ का यह कथन उल्लेखनीय है कि यदि उदयन ने तत्कालीन राजवंशों के साथ

वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किए होते तो मगध और अवंति की बढ़ती हुई शक्ति ने कौशाम्बी को नष्ट कर दिया होता। चूँकि उदयन भारतीय इतिहास का वीर नायक है, अतः भारतीय परंपरानुसार उसके सम्बन्ध में अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी के शब्दों में—"प्राचीन कहानियों में नायक के रूप में उदयन को श्री रामचन्द्र, नल तथा पाण्डवों का प्रतिद्वंद्वी कहा जा सकता है।" उन्होंने यह भी लिखा है—"यद्यपि लोककथाओं से ऐतिहासिक तत्त्व निकालना काफी कठिन-सा काम है, तो भी इतना तो स्पष्ट ही है कि उदयन एक महान् राजा था जिसने अनेक देशों को जीता और मगध, अंग तथा अवंति की राजकुमारी से विवाह किया। उदयन का सितारा बड़ी तेजी से बुलन्दी पर चढ़ा।"

उदयन के पश्चात् योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में वत्स-राज्य का पतन हो गया। उदयन का पुत्र बोधिकुमार था। वह राजनीति में अभिरुचि न रखकर शांतिपूर्वक मनन-चिंतन के मार्ग की ओर अग्रसर हुआ। वह मनन-चिंतन हेतु सुंसुमारगिरि चला गया। कथासरित्सागर से विदित होता है कि अवंति नरेश प्रद्योत के पुत्र पालक ने वत्स-राज्य को विजित कर अपने राज्य में मिला लिया।

3. **अवंति**—अवंति-राज्य मध्य मालवा में स्थित था जो उस काल में पश्चिमी भारत का प्रमुख राजतंत्र था। महात्मा बुद्ध के काल में चण्डप्रद्योत अवंति का राजा था। बौद्ध साहित्य में उसे अत्यन्त क्रूर, महत्त्वाकांक्षी एवं युद्ध-प्रिय शासक कहा गया है। महावग्ग जातक में उसे एक निर्दयी शासक कहा गया है। उसने वत्स-राज्य के राजा उदयन को बन्दी बनाया था। उसकी साम्राज्यवादी नीति के कारण मगध-सम्राट बिंबिसार ने उसके साथ सदैव मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे। बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु ने चण्डप्रद्योत के सम्भावित आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा हेतु राजधानी राजगृह के चतुर्दिक किलेबन्दी करा रखी थी। वह अपने काल का महान् नरेश सिद्ध हुआ। उसकी राजधानी उज्जैन थी। महाकच्चायन के प्रभाव में आकर उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। उसके राज्य अवंति ने बौद्ध धर्म के केन्द्र के रूप में प्रसिद्धि पाई। चण्डप्रद्योत के बाद उसके पुत्र पालक ने शासन किया। तत्पश्चात् पालक के भाई गोपाल का पुत्र अज्जक अथवा आर्यक गद्दी पर बैठा।

4. **मगध**—मगध-राज्य आधुनिक बिहार-राज्य के पटना और गया जिले में स्थित था। मगध का इतिहास बहुत पुरातन है। महाभारत और पुराणों से विदित होता है कि चेदिराज वसु के पुत्र बृहद्रथ ने गिरिव्रज को राजधानी बनाकर मगध पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। बृहद्रथ के पश्चात् उसका पुत्र महाबली जरासंध गद्दी पर बैठा। उसने अनेक राज्यों को पराजित करके सम्राट् का पद प्राप्त किया। मथुरा का राजा कंस जरासंध का जामाता था। जरासंध ने अपने जामाता के हत्यारे कृष्ण को अठारह बार पराजित किया। अन्त में युधिष्ठिर की दिग्विजय के समय कृष्ण और भीम ने मिलकर जरासंध का वध कर डाला। जरासंध के उत्तराधिकारी अयोग्य थे। 544 ई०पू० में हर्यंक वंशी बिंबिसार ने मगध

पर अधिकार कर लिया। वह शक्तिशाली, साम्राज्यवादी और नीति-कुशल राजा था। उसने मद्र, कोशल, वैशाली और विदेह के राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। उसने अवंति के शक्तिशाली राजा चण्डप्रद्योत के साथ मधुर सम्बन्ध बनाए रखे और अंग-नरेश ब्रह्मदत्त को पराजित करके उसके राज्य को मगध-राज्य में मिला लिया। प्रारम्भ में उसकी राजधानी गिरिव्रज थी और बाद में उसने राज-गृह को मगध-राज्य की राजधानी बनाया। उसका शासन-प्रबन्ध सुसंगठित था। वह धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था। बौद्ध और जैन धर्म उसे अपने-अपने धर्म का अनुयायी बताते हैं। बिंबिसार का अन्तिम जीवन दुःखपूर्ण रहा। उसके पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) ने उसे कारागार में बंद कर मगध की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया।

बिंबिसार को बन्दी बनाकर उसका पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) राजगद्दी पर आसीन हुआ। वह अपने पिता की भांति महत्त्वाकांक्षी, शक्तिशाली और साम्राज्य-वादी था। उसने पैतृक साम्राज्य का निरन्तर विस्तार किया। अजातशत्रु का कोशल-नरेश प्रसेनजित के साथ संघर्ष हुआ जिसमें अजातशत्रु पराजित हुआ। अंत में प्रसेनजित ने अजातशत्रु के साथ अपनी पुत्री का विवाह संपन्न कर उससे मित्रता स्थापित कर ली। अजातशत्रु ने वैशाली-राज्य में फूट उत्पन्न करके उसे विजित कर लिया। उसका अवन्ति-नरेश चण्डप्रद्योत के साथ तीव्र वैमनस्य था। चण्डप्रद्योत के आक्रमण की आशंका से उसने अपनी राजधानी राजगृह की किलेबंदी करवाई। वह धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था। बौद्ध और जैन ग्रन्थ उसे अपने-अपने धर्म का अनुयायी बताते हैं। अजातशत्रु ने 492 ई० पू० से लेकर 462 ई० पू० तक शासन किया। तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारी उदयभद्र, अनुरुद्ध, मुण्ड और नागदसक ने राज्य किया। नागदसक को राजगद्दी से उतार कर शिशुनाग ने मगध पर अधिकार कर लिया। भारतीय इतिहास में मगध का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अतः आगे एक अध्याय के रूप में मगध साम्राज्य के उत्कर्ष की विस्तृत विवेचना की जायेगी।

बौद्धकालीन गणराज्य अथवा अराजक गणराज्य

छठी शताब्दी ई०पू० के षोडश महाजनपदों का उल्लेख किया जा चुका है। इन सोलह महाजनपदों में से कुछ राज्यों में राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति थी और कुछ में गणतंत्र शासन प्रणाली थी। बौद्ध साहित्य में तत्कालीन अनेक गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। उस काल के चार प्रमुख राजतंत्र-राज्यों का वर्णन भी मिलता है जो इस प्रकार हैं—कोशल, वत्स, अवंति और मगध। ये राज्य साम्राज्यवादी थे। अतः गणराज्यों के अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न हो गया। कोशल-राज्य के राजा विडुडभ ने कपिलवस्तु के शाक्य गणराज्य पर आक्रमण कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। मगध के महत्त्वाकांक्षी नरेश अजातशत्रु ने वैशाली के लिच्छवियों (वज्जि संघ) को परास्त कर उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार राजतंत्रों की विस्तारवादी नीति गणतंत्र-राज्यों के लिए घातक सिद्ध हुई।

बौद्ध-काल में भारत में अनेक गणतंत्र विद्यमान थे। गणतन्त्रों की शासन-प्रणाली राजतंत्रों से भिन्न थी। गणतंत्र-राज्यों में शासन की बागडोर राजा के हाथ में न होकर गण अथवा संघ के हाथ में निहित थी। किन्तु इन गणतंत्रों का स्वरूप आधुनिक गणराज्यों से भिन्न था। प्राचीन गणराज्यों में राज्य की शक्ति जनता के हाथों में न होकर किसी कुल विशेष के प्रमुख व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होती थी। छठी शताब्दी ई० पू० में भारत में मुख्यत: निम्नलिखित गणराज्य विद्यमान थे—कपिलवस्तु का शाक्य गणराज्य, रामगाम का कोलिय गणराज्य, अलकप्प का बुली गणराज्य, पावा का मल्ल गणराज्य, केसपुत्त का कलाम गणराज्य, कुशीनारा का मल्ल गणराज्य, सुंसमगिरि का भग्ग गणराज्य, पिप्पलिवन का मोरिय गणराज्य, मिथिला का विदेह गणराज्य और वैशाली का लिच्छवि गणराज्य।

1. **कपिलवस्तु का शाक्य-गणराज्य**—शाक्य-गणराज्य नेपाल राज्य की सीमा पर हिमालय की तराई में स्थित था। इस राज्य की राजधानी कपिलवस्तु थी। शाक्य अपने को इक्ष्वाकु-वंशी क्षत्रिय मानते थे। महात्मा बुद्ध का जन्म इसी गणराज्य में हुआ था। अत: कपिलवस्तु के शाक्य-गणराज्य को बौद्ध-साहित्य में विशेष महत्त्व दिया गया है। शाक्य-गणराज्य राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से महान था। रीज डेविड्स के मतानुसार, शाक्य-गणराज्य में 80,000 कुटुम्ब थे जिनकी कुल जनसंख्या पाँच लाख थी। इस गणराज्य में 500 सदस्यों की एक परिषद् थी जो प्रशासनिक और न्याय सम्बन्धी कार्य करती थी। परिषद् का अध्यक्ष राजा कहलाता था। इस राज्य की राजधानी कपिलवस्तु थी। महात्मा बुद्ध के पिता शाक्य गणराज्य के प्रधान थे।

2. **रामगाम का कोलिय-गणराज्य**—यह गणराज्य पूर्व में शाक्य गणराज्य और दक्षिण में सरयू नदी तक विस्तृत था। शाक्य और कोलिय गणराज्यों के मध्य रोहिणी नदी बहती थी जिसके जल के उपयोग के लिए दोनों गणराज्यों में कलह व्याप्त था। कोलिय गणराज्य की राजधानी रामगाँव थी।

3. **अलकप्प का बुली-गणराज्य**—बुली गणराज्य आधुनिक शाहाबाद और मुजफ्फरपुर जिलों के मध्य स्थित था। संभवत: वेठद्वीप इस राज्य की राजधानी थी। इस राज्य की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है।

4. **पावा का मल्ल-गणराज्य**—यह गणराज्य गोरखपुर जिले के दक्षिणी भाग में स्थित था। पावा के मल्ल अपने को वसिष्ठ गोत्र के क्षत्रिय बताते हैं। पावा में वर्धमान महावीर का देहावसान हुआ था।

5. **केसपुत्त का कलाम-गणराज्य**—यह गणराज्य कोशल-राज्य के पश्चिम में स्थित था। महात्मा बुद्ध के गुरु अलार कलाम इसी गणराज्य के निवासी थे।

6. **कुशीनारा का मल्ल-गणराज्य**—मल्लों की दूसरी शाखा कुशीनारा में राज्य करती थी। गोरखपुर जिले में स्थित आधुनिक कसिया उस समय कुशीनारा के नाम से जाना जाता था। मल्ल लोग अपने वीरत्व, विद्यानुराग और कला-प्रियता

क लिए प्रसिद्ध थे। कुशीनारा में ही महात्मा बुद्ध को महानिर्वाण प्राप्त हुआ था। अनरुद्ध, आनन्द, उपालि आदि वहाँ के प्रसिद्ध राजा थे।

7. **सुंसमगिरि का भग्ग-गणराज्य**—यह राज्य पूर्वी उत्तर प्रदेश में स्थित था। डॉ० जायसवाल का कथन है कि भग्ग गणराज्य में मिर्जापुर और उसका समीपवर्ती क्षेत्र सम्मिलित था।

8. **पिप्पलिवन का मोरिय-गणराज्य**—मोरिय गणराज्य के निवासी शाक्यों की एक शाखा थी। महावंश टीका से विदित होता है कि कोशल नरेश विड्डभ के अत्याचारों से पीड़ित होकर शाक्य लोग हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में चले गये जहाँ उन्होंने पिप्पलिवन नामक नगर बसाया। यहाँ मोरों की अधिकता होने के कारण यह गणराज्य मोरिय गणराज्य और इस गणराज्य में निवास करने वाले लोग मोरिय अथवा मौर्यवंशी कहलाए। मौर्य-वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य इसी वंश में उत्पन्न हुआ था।

9. **मिथिला का विदेह-गणराज्य**—यह गणराज्य आधुनिक बिहार राज्य के भागलपुर तथा दरभंगा जिलों में स्थित था। इस राज्य की राजधानी मिथिला थी जिसकी पहचान आधुनिक जनकपुर से की जाती है। मिथिला व्यापारिक उन्नति और सांस्कृतिक प्रगति का प्रमुख केन्द्र था। जनक विदेह-गणराज्य का प्रमुख सम्राट था। बाद में यह गणतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया था।

10. **वैशाली का लिच्छवि-गणराज्य**—लिच्छवि-गणराज्य बिहार के उत्तरी भाग में स्थित था। लिच्छवि इक्ष्वाकु-वंशी क्षत्रिय थे। इसकी राजधानी वैशाली राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण थी। महावीर स्वामी के पिता सिद्धार्थ ने लिच्छवि राजकुमारी से विवाह किया था। प्राचीन धार्मिक और साहित्यिक ग्रन्थों में लिच्छवि-गणराज्य की राजधानी वैशाली के वैभव का विशद वर्णन मिलता है। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार यह नगर तीन भागों में विभक्त था। पहले भाग में सोने के बुर्ज वाले प्रासादों की प्रधानता थी। दूसरे भाग में चाँदी के बुर्ज थे और तीसरे भाग में ताँबे तथा पीतल के बुर्ज थे, जो क्रमशः उच्च, मध्यम और निम्न श्रेणी के भागों के थे। ललित विस्तार से वैशाली के वैभव और समृद्धि पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। लिच्छवि गणराज्य का शासन सुसंगठित और सुव्यवस्थित था। इस गणराज्य में 7,707 राजा थे।

इस प्रकार विदित होता है कि महाकाव्य-काल से बौद्ध-काल तक भारत वर्ष छोटे-छोटे राजतंत्रों और गणतंत्रों में विभक्त था। राजतंत्र राज्यों में कोशल, वत्स, अवंति और मगध उल्लेखनीय थे। गणतन्त्र राज्यों में कपिलवस्तु का शाक्य गणराज्य तथा वैशाली का लिच्छवि-गणराज्य शक्तिशाली और विस्तृत थे। कालांतर में राजतंत्र और गणतंत्र-राज्यों में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का जन्म एवं विकास हुआ। अतः बड़े राज्यों ने छोटे राज्यों का अस्तित्व समाप्त कर उन्हें अपने राज्य में मिला लिया।

गणराज्यों की शासन-प्रणाली

छठी शताब्दी ई० पू० के भारतीय गणराज्यों में प्रचलित निर्वाचन-पद्धति और मताधिकार की योग्यता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार तत्कालीन गणराज्यों की शासन-व्यवस्था के संचालन में गणराज्य के सभी वयस्क व्यक्ति भाग लेते थे। कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि गणराज्यों की शासन-व्यवस्था में केवल क्षत्रिय-कुल के लोग भाग लेते थे। किन्तु कतिपय इतिहासकार यह मत व्यक्त करते हैं कि गणराज्यों के शासन में संयुक्त परिवारों के केवल प्रधान व्यक्ति ही भाग लेते थे। डॉ० जायसवाल का कथन है कि तत्कालीन गणराज्य तीन श्रेणियों में विभक्त थे—पूर्ण गणतंत्र अथवा जनतंत्र (जिनमें सभी वयस्क नागरिक शासन में भाग लेते थे), कुलीनतन्त्र (जिनमें कुछ निश्चित कुल के लोग शासन में भाग लेते थे) और मिश्रित गणराज्य (जिनमें शासन-व्यवस्था दोनों का मिश्रित रूप थी)। डॉ० भण्डारकर का मत है कि बौद्ध-कालीन गणराज्य मुख्यतया क्षत्रिय कुलीनतंत्र और गणराज्यों में विभक्त थे।

छठी शताब्दी ई० पू० के गणराज्यों के शासन का उल्लेख उस काल के साहित्यिक-ग्रन्थों में मिलता है। तत्कालीन साहित्य में दो प्रकार के गणराज्यों का उल्लेख मिलता है—राजशब्दोपजीविनः तथा वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः। राजशब्दोपजीविनः गणराज्य उसे कहते थे जिनका अध्यक्ष राजा कहलाता था और उसके निर्वाचक भी स्वयं को राजा कहते थे। लिच्छवि, पांचाल, मल्ल आदि गणराज्य इसी कोटि में आते थे। ललित-विस्तार में लिच्छवि-गणराज्य के 7,707 राजाओं का उल्लेख मिलता है। वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः का तात्पर्य उन गणराज्यों से है, जिनमें नागरिक कृषि और सैन्य-निपुणता को अपने अस्तित्व का आधार मानते थे। राजशब्दोपजीविनः गणराज्यों के पास अपनी तथा अपने संघ की रक्षा हेतु एक नियमित और वैतनिक सेना होती थी, किन्तु वार्त्ताशब्दोपजीविनः गणराज्यों में उनके सभी नागरिक आवश्यकता पड़ने पर सैनिक-कार्य करते थे।

नागरिकता—महाभारत में उल्लिखित विवरण से विदित होता है कि गणराज्यों के सभी नागरिक समान समझे जाते थे। नागरिकों को स्वतन्त्रता और समानता का अधिकार प्राप्त था। प्रशासकीय पदों पर नियुक्तियाँ योग्यता और क्षमता के आधार पर की जाती थी। कुल-राज्यों में समानता का सिद्धांत मात्र कुलों तक सीमित था। यद्यपि नागरिक अधिकार सभी को प्राप्त थे तथापि प्रशासकीय पदों पर कुल-पुत्रों की ही नियुक्ति की जाती थी। गणराज्यों के नागरिक उत्तम चरित्र के थे। महाभारत में गणराज्यों के नागरिकों के अनेक गुणों का वर्णन किया गया है।

शासन का स्वरूप—गणराज्यों का शासन किसी विशेष व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित न होकर गण अथवा विभिन्न व्यक्तियों के हाथों में निहित था। गण अथवा परिषद् शासन का संचालन करती थी। उच्च वर्ण के लोग इस परिषद् के सदस्य होते थे।

राज्य का सर्वोच्च अधिकारी—गणराज्य का सर्वोच्च अधिकारी नायक, प्रधान अथवा राष्ट्रपति कहलाता था। राज्य में शांति और सुव्यवस्था की स्थापना करना उसका प्रमुख दायित्व था। गणराज्य का सर्वोच्च अधिकारी गण अथवा संघ की सभा द्वारा साधारणतया जीवन पर्यन्त (आजीवन) चुना जाता था। कभी-कभी यह पद वंशानुगत भी होता था। उसमें प्राचीन आदर्श भारतीय सम्राट के अनुरूप गुणों का समावेश आवश्यक था। वह निरंकुश नहीं होता था तथा गण-राज्य की सभा के अधिवेशनों की अध्यक्षता करता था।

मन्त्रि-परिषद्—शासन के सुचारु रूप से संचालन हेतु गणराज्य में एक मन्त्रि-परिषद् होती थी। मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या गणराज्य के विस्तार पर निर्भर करती थी। लिच्छवि-गणराज्य में मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या 9 बताई जाती है, जबकि मल्ल गणराज्य की मन्त्रि-परिषद् की सदस्य संख्या केवल 4 थी। ये सदस्य कुलीन वर्ग के होते थे। प्रशासन सम्बन्धी कार्य मंत्रि-परिषद् के सदस्यों में विभक्त था।

संथागार—प्रत्येक गणराज्य की व्यवस्थापिका सभा को संथागार कहा जाता था जो राज्य की सबसे बड़ी संस्था थी। संथागार मुख्य नगर में होता था। राज्य के उच्च वर्ग के लोगों को संथागार का सदस्य नियुक्त किया जाता था जिन्हें राजा की संज्ञा दी जाती थी। छोटे गणराज्यों में केवल केन्द्रीय संथागार होता था, परन्तु बड़े राज्यों में केन्द्रीय संथागार के अतिरिक्त प्रान्तीय संथागार भी होता था।

संथागार के अधिकार और उसकी कार्य-पद्धति—संथागार के अधिकार तथा उसकी कार्य-पद्धति व्यापक प्रतीत होती थी। वह गणराज्य की सबसे बड़ी प्रतिनिधि संस्था थी। उसे राज्य के सर्वोच्च तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार प्राप्त था। संथागार गणराज्य की राजनीति निर्धारित करता था और राज्य की विभिन्न समस्याओं पर यही संस्था विचार-विमर्श करती थी। संथागार द्वारा पारित अधिनियमों को ही राजा व्यावहारिक रूप देता था।

संथागार का अधिवेशन राजा, गणमुख्य अथवा विनयधार की अध्यक्षता में होता था। राज्य के नागरिक, आर्थिक, सामरिक, राजनीतिक आदि सभी पहलुओं पर विचार-विमर्श करने का अधिकार संथागार को ही प्राप्त था। बहुमत का निर्णय मान्य होता था। सदस्यों की उपस्थिति निश्चित संख्या से कम होने पर सभा स्थगित कर दी जाती थी। विडुडभ द्वारा शाक्यों की राजधानी का घेरा डाले जाने के बाद बहुमत के निर्णय के आधार पर ही शाक्यों ने आत्मसमर्पण किया। सभा-भवन में सदस्यों के बैठने की व्यवस्था आसनपन्नायक नामक अधिकारी करता था। विचार-विमर्श हेतु प्रस्तुत प्रस्ताव की विधिवत् घोषणा की जाती थी। प्रस्ताव के समर्थक सदस्य मौन रहते थे और प्रस्ताव के विरोधी सदस्य भाषण देकर अपना विरोधी मत व्यक्त करते थे। विवादग्रस्त विषय पर मतदान की व्यवस्था थी। मतदान के लिए भिन्न-भिन्न रंगों की शलाकाओं का प्रयोग किया जाता था। एक रंग की शलाका एक प्रकार के मत को व्यक्त करती थी। शलाकाओं की व्यवस्था करने

वाला अधिकारी 'शलाकाग्राहयक' कहलाता था। संथागार में सम्पन्न कार्यवाही लिपिकों द्वारा लिपिबद्ध की जाती थी।

भद्दसाल जातक में वैशाली के लिच्छवि-गणराज्य के एक विशेष प्रकार के पूर्णतया सुरक्षित सरोवर का उल्लेख मिलता है, जहाँ नव नियुक्त अधिकारी को स्नान करना पड़ता था। यह आधुनिक नवगठित मंत्रि-मंडल के सदस्यों के शपथ ग्रहण समारोह की भांति प्रतीत होता है।

न्याय-व्यवस्था—गणराज्य में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने के उद्देश्य से न्याय-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध था। अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्डित किया जाता था। अभियुक्त के लिए आर्थिक दण्ड और कारावास की सजा दोनों की व्यवस्था थी। पूर्णतया अपराधी सिद्ध हो जाने पर ही अभियुक्त को दण्डित किया जाता था। बुद्धघोष की टीका में वज्जिसंघ के आठ न्यायालयों का उल्लेख मिलता है। अपराधी अपने को दोषमुक्त करने के उद्देश्य से आठों न्यायालयों में जा सकता था। सभी न्यायालयों द्वारा दोषी ठहराए जाने पर ही अभियुक्त को सजा मिलती थी। विनिश्चय महामात्र, व्यावहारिक, सूत्रधार, अट्ठकुलक, पवेणि-पोत्थक, उपराजा और राजा न्याय-विभाग के प्रमुख अधिकारी थे।

स्थानीय स्वशासन—प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में रखते हुए गणराज्यों में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था को प्रोत्साहित किया गया था। बड़े नगरों में स्थानीय स्वशासन प्रणाली थी। प्रत्येक नगर में एक परिषद् होती थी जिसमें नागरिक-प्रतिनिधियों के अतिरिक्त वणिकों, उद्योग-व्यवसायियों, शिल्पियों, कृषकों आदि के प्रतिनिधि भी होते थे।

राजतंत्र-राज्यों की भाँति गणराज्यों में भी ग्राम-पंचायतों का विधान था। ग्राम पंचायतें कृषि, व्यापार, उद्योग आदि के विकास की ओर ध्यान रखती थीं। वे आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र थीं।

गणराज्यों के संघ—साधनों की कमी और बड़े राज्यों के आक्रमणों से बचने के उद्देश्य से कुछ छोटे गणराज्यों ने परस्पर मिलकर विशाल संघों का निर्माण किया। ऐसे संघ संघात कहलाते थे। संघात की सभा को 'संघात-गण' कहा जाता था जिसमें प्रत्येक गणराज्य के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। संघात का अध्यक्ष संघमुख्य कहलाता था। संघात में विभिन्न गणराज्यों के शासक अपने-अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करते थे। संघात का कार्य उसे राजनीतिक, आर्थिक, वैदेशिक और सामरिक दृष्टि से श्रेष्ठ बनाना था। अपने आन्तरिक मामलों में संघात के गणराज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र थे। पारस्परिक सहयोग और मिलजुल कर संयुक्त रूप से कार्य करने की यह उत्तम परम्परा थी।

गणराज्यों का पराभव—बौद्धकालीन गणराज्यों के अतिरिक्त भारतीय इतिहास में उसके बाद भी गणराज्यों के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है। मौर्यकाल और गुप्तकाल में भारत में अनेक गणतन्त्र राज्य विद्यमान थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने

भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित अनेक गणराज्यों को विजित कर उन्हें मौर्य साम्राज्य में मिला लिया। चाणक्य ने गणतन्त्रों के विनाश के लिए उनके मध्य द्वेष उत्पन्न करने की शिक्षा दी है। साम्राज्यवादी गुप्त-सम्राटों ने पश्चिमी भारत में विद्यमान गणराज्यों का उन्मूलन कर दिया। पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, संथागारों में दलबन्दी, राष्ट्रीय भावना का अभाव, साम्राज्यवादी नीति, निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता की भावना, विशाल राज्यों के आविर्भाव आदि के कारण गणराज्यों का पतन हो गया और उनका स्थान राजतंत्र राज्यों ने ले लिया।

उपसंहार

उपरोक्त विवरण से विदित होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० से पहले भारत में प्रजातांत्रिक भावनाओं का जन्म हो चुका था और छठी शताब्दी ई० पू० तक अनेक गणराज्य अस्तित्व में आ चुके थे। समानता, स्वतन्त्रता और जनहित-कारी कार्यों के लिए प्राचीन भारत में गणतन्त्रात्मक शासन-पद्धति लोकप्रिय थी। फलतः तत्कालीन अनेक राजतंत्र गणतन्त्र में परिवर्तित हो गये।

प्राचीन गणतन्त्रों की शासन-व्यवस्था उच्चकोटि की थी। राजकीय कार्यों और निर्णयों में बहुमत के महत्त्व को स्वीकार किया गया था। गणराज्य का प्रधान निरंकुश न होकर मन्त्रि-परिषद् की सलाह लेकर शासन संचालित करता था। गाँव को अपने मामले स्वयं तय करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई। छोटे-छोटे गणराज्यों ने अपनी सुरक्षा हेतु संगठन स्थापित कर संगठनात्मक शासन-प्रणाली का आदर्श प्रस्तुत किया। गणराज्यों में व्याप्त पारस्परिक वैमनस्य, राष्ट्रीयता का अभाव, शासकों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति आदि के फलस्वरूप गणराज्यों का पतन हो गया। गुप्त सम्राटों ने तत्कालीन गणराज्यों का उन्मूलन कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। गणतन्त्रों के पराभव के उपरान्त भारत में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का विकास हुआ। किन्तु भारतवर्ष में गणतन्त्रात्मक भावनाएँ पूर्णरूप से समाप्त नहीं हो पाईं। यही कारण है कि वर्तमान समय में भारतीय शासन का मूलाधार गण-तन्त्रात्मक शासन प्रणाली है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ई० पू० की छठी शताब्दी के भारत की राजनीतिक दशा का वर्णन कीजिए।
2. प्राचीन भारत में गणतन्त्रों की शासन-प्रणाली का वर्णन कीजिए।
3. भारत में छठी शताब्दी ई० पू० में गणतन्त्रों का संक्षिप्त परिचय दीजिए और उनकी शासन-व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

11

धार्मिक आन्दोलन

छठी शताब्दी ई० पू० न केवल भारतवर्ष अपितु विश्व के देशों के लिए धार्मिक आन्दोलन का युग सिद्ध हुआ। इस अवधि में विश्व के अनेक देशों में महान् समाज-सुधारकों का जन्म हुआ जिन्होंने समाज में व्याप्त पुरातन कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई और जनसाधारण को तार्किक दृष्टि से श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। छठी शताब्दी ई० पू० की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० राधाकृष्णन् ने लिखा है—"छठी शताब्दी ई० पू० कई देशों में आध्यात्मिक अशांति तथा बौद्धिक हलचल के लिए प्रसिद्ध है। इस युग में चीन में लाओज़ू तथा कन्फ्यूशियस, यूनान में पारमेनीदीस तथा एम्पीडोकल्स, ईरान में जरथुस्त्र और भारत में महावीर तथा बुद्ध हुए। इस काल में कई विख्यात गुरु हुए जिन्होंने परम्परागत धर्मों में अनेक सुधार किये तथा अनेक नवीन विचारों का विकास किया।"[1]

छठी शताब्दी ई० पू० चतुर्दिक धार्मिक हलचल का युग था। मानव पुरातन मतों और विश्वासों का परित्याग कर तार्किक और नैतिकता की दृष्टि से श्रेष्ठ धर्म की आवश्यकता महसूस कर रहा था। जिज्ञासा और तर्कशीलता के इस युग में विश्व के अनेक देशों में युग-प्रवर्तकों का आविर्भाव हुआ। यूनान में हिराक्लिट्स और पायथागोरस ने नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उन्होंने सामन्तों के

---

1. Sixth Century B.C. was remarkable for the spiritual unrest and intellectual ferment in many countries. In China we had Lao Tzu and Confucius, in Greece Parmenides and Empedocles, in Iran Zarathustra, in India Mahavira and the Buddha. In that period many remarkable teachers worked upon their inheritance and developed new points of view."

— Dr. Radha Krishnan

अत्याचार तथा समाज में व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन का आह्वान किया। फलतः यूनान में पुरातन मान्यताओं का ह्रास हुआ तथा देश में प्रजातांत्रिक भावनाओं का विकास हुआ। ईरान में जरथुस्त्र ने धार्मिक अन्धविश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाई और एकेश्वरवाद का प्रचार किया। चीन में कन्फ्यूशियस ने प्राचीन धार्मिक सिद्धांतों का विरोध किया और नवीन धार्मिक विचारों का प्रचार किया। इसी प्रकार भारतवर्ष की पवित्र भूमि में दो युग-पुरुषों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने कर्मकांड और रक्तिम यज्ञों पर आधारित वैदिक धर्म के विकृत रूप पर कठोर प्रहार किया। वैदिक धर्म के विरुद्ध नवीन व्यावहारिक धर्मों का प्रचार करने वाले ये थे दो अभिजातवर्गीय क्षत्रिय राजकुमार—महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध। इन्हें भारतवर्ष की धार्मिक क्रांति का अग्रदूत कहा जाता है।

महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित धर्म जैन धर्म और गौतम बुद्ध द्वारा प्रचारित धर्म बौद्ध धर्म कहा जाता है। स्पष्ट हो जाता है कि छठी शताब्दी ई० पू० विश्व के अनेक देशों के लिए विपुल धार्मिक क्रांति का युग था जिसने जनसाधारण के धार्मिक विश्वासों में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"छठी शती ई० पू० मानव इतिहास में एक विशिष्ट युग था। इस काल में अनेक देशों में असाधारण बौद्धिक और चिन्तन के आंदोलन चले। फारस में जरथुस्त्र और चीन में कन्फ्यूशियस अपने उपदेशों का प्रचार कर रहे थे। भारत में भी अनेक असामान्य चिन्तक सत्य की अनवरत खोज में संलग्न थे।" डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने छठी शती ई० पू० को भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मंजिल कहा है।

धार्मिक आंदोलन के कारण

प्रारम्भ में वैदिक धर्म का स्वरूप व्यावहारिक तथा अत्यन्त सरल था। किन्तु कालान्तर में उसमें अत्यधिक जटिलता आ गई थी। छठी शताब्दी ई० पू० तक उसका स्वरूप विकृत हो चुका था। समाज में कठोर वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी। ब्राह्मणों के प्रभाव में असाधारण वृद्धि हो चुकी थी और कर्मकांड की जटिलता तथा रक्तिम यज्ञों ने वैदिक धर्म की जड़ें खोखली कर दी थीं। जनसाधारण धर्म के उक्त स्वरूप से क्षुब्ध था और वह नवीन धर्म की आवश्यकता महसूस कर रहा था। ऐसी स्थिति में महावीर और गौतम बुद्ध ने नवीन धर्मों का प्रतिपादन कर वैदिक धर्म से त्रस्त मानव समाज को अपनी ओर आकृष्ट किया।

छठी शताब्दी ई० पू० भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस काल में भारत भूमि में जैन धर्म और बौद्ध धर्म नामक दो नवीन धर्मों का आविर्भाव हुआ। यह काल धार्मिक क्रांति अथवा धार्मिक आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है। अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष की धार्मिक क्रांति न आकस्मिक थी और न इसके लिए कोई एक कारण उत्तरदायी था, बल्कि दीर्घकाल से अनेक कारण इसके आगमन का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। छठी शताब्दी ई० पू० में भारत में हुई

धार्मिक क्रांति के लिए मुख्यत: निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे—सामाजिक कारण, धार्मिक कारण तथा आर्थिक कारण।

1. सामाजिक कारण

छठी शताब्दी ई० पू० की दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्था ने जनसाधारण के हृदय में तीव्र आक्रोश और घृणा की भावना उत्पन्न कर दी थी। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में मुख्यत: निम्नलिखित बुराइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

(अ) **कठोर वर्ण-व्यवस्था**—वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति तथा उसके विकास पर विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है। ऋग्वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म था। किन्तु छठी शताब्दी ई० पू० तक उसमें जटिलता आ चुकी थी। अब वर्ण का आधार कर्म न होकर जन्म हो गया था। व्यवसाय-परिवर्तन संभव न था। वर्ण-व्यवस्था की प्रधानता के कारण समाज में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। शूद्रों की दशा दयनीय थी। वर्ण-व्यवस्था की कठोरता के कारण छठी शती ई० पू० में अनेक जातियों का प्रादुर्भाव हुआ। निम्न वर्ण के लोगों को उच्च वर्ण की भाँति अधिकार प्राप्त नहीं थे। नीच प्रवृत्ति के ब्राह्मण को भी समाज में उच्च दृष्टि से देखा जाता था। समाज में शूद्रों की दशा शोचनीय थी। उन्हें धर्मशास्त्रों का अध्ययन, धार्मिक कार्यों, यज्ञ, तप, संन्यासी जीवन व्यतीत करने से सर्वथा वंचित रखा गया था। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने वर्णव्यवस्था के अव्यावहारिक स्वरूप के प्रति तीव्र असंतोष व्यक्त किया। उन्होंने वर्ण का आधार कर्म का समर्थन किया और जन्म के आधार पर वर्ण के निर्धारण का विरोध किया। उन्होंने जातियों में व्याप्त भेदभाव की नीति पर कुठाराघात किया।

(आ) **सामाजिक विषमताएँ**—सामाजिक विषमताएँ छठी शताब्दी ई० पू० के धार्मिक आन्दोलन के लिए सहायक सिद्ध हुईं। समाज में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे। उन्हें भू-कर नहीं देना पड़ता था और गम्भीर अपराध करने पर भी मौत की सजा नहीं दी जाती थी। वे अध्ययन-अध्यापन एवं धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करते थे। क्षत्रिय राजनीति का संचालन तथा देशरक्षा का कार्य करते थे। क्षत्रियों को अपनी महत्त्वपूर्ण स्थिति का ज्ञान होने पर उन्होंने ब्राह्मणों की सर्वोपरि प्रतिष्ठा को चुनौती दी। वे अपने को ब्राह्मणों से किसी प्रकार कम नहीं समझते थे। शतपथ ब्राह्मण में क्षत्रियों को ब्राह्मण से श्रेष्ठ कहा गया है। क्षत्रियों के बाद समाज में वैश्यों का स्थान था। शूद्र अन्य वर्णों के लोगों की सेवा करते थे। उन्हें हीन समझा जाता था। समाज में व्याप्त अनेक विषमताओं के विरुद्ध महावीर और गौतम बुद्ध ने आवाज उठाई। समाज में व्याप्त भेदभाव, छुआछूत और ऊँच-नीच की भावना से जनसाधारण में तीव्र असन्तोष व्याप्त था।

(इ) **ब्राह्मणों का नैतिक पतन**—ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन और धार्मिक कार्य सम्पन्न करते थे। जनसाधारण उनसे उच्च नैतिकता की अपेक्षा करता था।

समाज में उनकी महत्त्वपूर्ण स्थिति को ध्यान में रखते हुए ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्रदान कर उन्हें सम्मानित किया गया था। किन्तु छठी शताब्दी ई० पू० में ब्राह्मणों का घोर नैतिक पतन हो गया था। वे विद्वत्ता और आध्यात्मिकता से विमुख होकर सांसारिक तथा भौतिक जीवन की ओर उन्मुख हो गए। यही कारण है कि बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य में उन्हें 'अपेता', 'पथभ्रष्ट और 'धिक्' जाति कहा गया है। एक ओर ब्राह्मणों की समाज में सर्वोपरिता तथा दूसरी ओर उनका घोर नैतिक पतन जनसाधारण के लिए असह्य हो गया। फलतः ब्राह्मण और ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध जनसाधारण में असन्तोष फैल गया। यही जन-असंतोष बाद में आंदोलन के रूप में परिवर्तित हो गया।

(ई) **स्त्रियों की स्थिति में अवनति**—पूर्व वैदिककालीन समाज में स्त्रियों को जो सम्मान प्राप्त था, कालांतर उसमें कमी आ गई। उस काल में समाज में स्त्रियों की स्थिति दयनीय थी। उन्हें अधिकार विहीन कर दिया गया था। समाज में स्त्रियों की हीन दशा की ओर चिंतकों का ध्यान जाना स्वाभाविक था। उन्होंने ऐसी व्यवस्था का, जिसमें स्त्रियाँ अधिकार रहित थीं, विरोध किया।

2. धार्मिक कारण

छठी शताब्दी ई० पू० तक ब्राह्मण धर्म में अत्यधिक जटिलता आ गई थी। इस अवधि तक वैदिक धर्म का अत्यन्त सरल स्वरूप समाप्त हो चुका था। कर्मकांड की जटिलता और यज्ञों की अधिकता ने धर्म के स्वरूप को विकृत कर दिया था। यज्ञ न केवल खर्चीले हो गये थे बल्कि उनमें बलि भी आवश्यक हो गई थी। संस्कृत में धर्म-ग्रन्थों की रचना तथा मन्त्रों का उच्चारण संस्कृत भाषा में होने के कारण जनसाधारण उसे नहीं समझ सकता था। यज्ञों में अत्यधिक व्यय होने के कारण जनसाधारण उसका भार वहन करने में असमर्थ था। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से यज्ञों में बलि की प्रथा आरम्भ हो गई थी। पुजारी और पुरोहितों ने समाज में आडम्बर और पाखण्ड का प्रचार कर दिया था। वैदिक धर्म के उक्त स्वरूप से जनसाधारण त्रस्त था और वह एक नूतन व्यावहारिक धर्म की आवश्यकता महसूस कर रहा था। छठी शताब्दी ई० पू० की धार्मिक क्रांति के लिए मुख्यतया निम्नलिखित धार्मिक कारण उत्तरदायी थे—

(अ) **कर्मकांड की जटिलता**—छठी शताब्दी ई० पू० में ब्राह्मण धर्म मुख्यतः कर्मकांड पर आधारित था। कर्मकांडों की जटिलता के कारण धार्मिक क्रियाएँ कठिन और खर्चीली हो गयी थीं। कर्मकांड सम्बन्धी क्रियाओं को सम्पादित करने के लिए पुरोहित वर्ग की आवश्यकता अनिवार्य हो गई थी। कर्मकांड के जटिल स्वरूप के विरुद्ध महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने आवाज उठाई।

(आ) **यज्ञों की अधिकता**—पूर्व वैदिक काल में यज्ञों की प्रक्रिया अत्यन्त सरल थी। कोई भी व्यक्ति बिना पुरोहित के यज्ञों का संपादन कर सकता था। यज्ञों में हिंसा और जटिलता का कोई स्थान नहीं था। छठी शताब्दी ई० पू० तक

यज्ञों का सम्पादन कठिन हो गया। बिना पुरोहित के यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकते थे। यज्ञों में हिंसा अनिवार्य थी। यज्ञों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई और एक पुरोहित के स्थान पर 17 पुरोहितों की उपस्थिति अनिवार्य हो गई। यज्ञ अत्यन्त खर्चीले हो गये थे। कई यज्ञ महीनों और वर्षों तक चलते थे। इन यज्ञों को सम्पन्न करवाना जनसाधारण के सामर्थ्य से बाहर की बात थी। अतः वह इस ओर उदासीन हो गया और मोक्ष प्राप्ति हेतु अन्य सरल मार्ग की खोज में लग गया। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने यज्ञों का विरोध किया।

(इ) **तन्त्र-मन्त्रों का बाहुल्य**—छठी शताब्दी ई० पू० तक वैदिक धर्म अपने मौलिक स्वरूप को खो चुका था। लोग नैतिकता और सदाचार के सिद्धांतों से हटकर तन्त्र, मन्त्र, जादू-टोना, भूत-प्रेत आदि अंधविश्वासों में आस्था रखने लगे थे। अथर्ववेद में अनेक प्रकार के भूत-प्रेत तथा उनसे रक्षा के लिए मन्त्रों का उल्लेख मिलता है। मंत्रों को दैवी शक्ति माना जाता था। लोगों का विश्वास था कि मंत्रों से रोगों का निवारण, युद्ध में विजयश्री, शत्रु का संहार, समृद्धि आदि सभी कुछ सम्भव है। अंधविश्वास की बुराइयों ने समाज को जकड़ लिया था। सुधारवादी अंधविश्वासों के विरुद्ध थे। उन्होंने अंधविश्वासों का विरोध कर जनसाधारण को उससे मुक्त कराने के लिए भरसक यत्न किए।

(ई) **वेदवाद और बलि का प्रकोप**—वेद प्राचीनतम धार्मिक ग्रन्थ हैं। उन्हें अपौरुषेय कहा गया है। वेदों से ही ब्राह्मण धर्म की समस्त मान्यताएँ प्रतिपादित हुई थीं। वेदों को अनादि और पूर्ण कहा गया है। चिंतकों और समाज-सुधारकों ने वेदों की सर्वोपरिता का विरोध किया। उन्होंने वेदों के ज्ञान को सीमित और दोषयुक्त बताया।

छठी शताब्दी ई० पू० में यज्ञों में बलि चढ़ाना आवश्यक था। पूर्व वैदिक काल में दूध और फलों से बलि का उद्देश्य पूर्ण हो जाता था। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध के काल में यज्ञों में पशुओं की बलि अनिवार्य थी। नर बलि का उल्लेख भी मिलता है। तत्कालीन समाज-सुधारकों ने धर्म में हिंसा के समावेश का विरोध किया और हिंसा के सिद्धांत के पालन पर अधिक जोर दिया।

(उ) **बहुदेववाद**—ब्राह्मण-धर्म में अनेक देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है। छठी शताब्दी ई० पू० तक मनुष्य के सभी कार्य देव-इच्छा पर निर्भर थे। मानव पूर्णतया देवताओं की अनुकम्पा पर आश्रित था। इस भावना के फलस्वरूप आत्म-विश्वास और पुरुषार्थ में ह्रास हो गया। प्रगतिशील विचारकों ने बहुदेववाद का विरोध करते हुए कर्म की प्रधानता पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि मनुष्य का भाग्य उसके कर्म पर निर्भर करता है अर्थात् मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माण कर सकता है।

(ऊ) **भाषा की जटिलता**—वैदिक ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में की गई थी। संस्कृत जनसाधारण की भाषा नहीं थी। छठी शताब्दी ई० पू० में संस्कृत

केवल विद्वानों की भाषा थी। अत: संस्कृत भाषा में रचित धर्म-ग्रंथों का अध्ययन और उनसे ज्ञान अर्जित कर पाना जनसाधारण के लिए संभव न था। जनसाधारण ऐसे धर्म-ग्रंथों की आवश्यकता महसूस कर रहा था जो जनभाषा में लिखे गये हों। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने जनभाषा में ही अपने धर्म के सिद्धांतों का प्रचार किया और जनभाषा में ही जैन धर्म ग्रन्थों और बौद्ध धर्म ग्रन्थों की रचना की। फलत: जनसाधारण उनकी ओर आकृष्ट हुआ।

(ए) **तप और ज्ञान पर अत्यधिक जोर**—छठी शताब्दी ई० पू० में वैदिक धर्म का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसमें तप और ज्ञान पर अत्यधिक जोर दिया गया है। धार्मिक आचार्यों ने ब्रह्मज्ञान और मोक्ष प्राप्ति हेतु शारीरिक यातनाओं, इन्द्रियनिग्रह, वासनाओं का दमन और सांसारिक त्याग एवं तपस्या पर विशेष बल दिया। यह मार्ग अत्यधिक कठिन था। जनसाधारण के लिए यह संभव नहीं था कि वह मोक्ष प्राप्ति हेतु सघन वन में तप करे और वासनाओं का दमन करे। तप और ज्ञान का मार्ग इतना गूढ़ था कि जनसाधारण उसे नहीं समझ सकता था। तप और ज्ञान के मार्ग ने धार्मिक दुरूहता तथा बौद्धिक परिभ्रांति उत्पन्न कर दी थी। अत: जनसाधारण इसके निराकरण हेतु अन्य सरल मार्गों की खोज में लग गया।

(ऐ) **बौद्धिक विकास का युग**—छठी शताब्दी ई० पू० बौद्धिक हलचल का युग था। जनसाधारण के बौद्धिक विकास के कारण वह तर्क की दृष्टि से श्रेष्ठ धर्म को ही अपनाना चाहता था। वह धर्म के प्रत्येक सिद्धांत को तर्क की कसौटी पर कसता था और खरा उतरने पर ही उसे स्वीकार करता था। ऐसी स्थिति में समाज में व्याप्त अंधविश्वास दूर भागने लगे। महावीर स्वामी वैशाली गणराज्य और गौतम बुद्ध शाक्य गणराज्य से सम्बन्धित थे जहां विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उन्होंने निर्भय और स्वतन्त्र होकर तार्किक दृष्टि से श्रेष्ठ धर्म को स्वीकार करने का उपदेश दिया।

3. आर्थिक कारण

पूर्व वैदिक काल में वर्ण का आधार कर्म था। किन्तु बाद में वर्ण का आधार जन्म हो गया था। यद्यपि प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था लाभदायक सिद्ध हुई, परन्तु बाद में उसके व्यावहारिक स्वरूप में परिवर्तन हो जाने के कारण उसमें अनेक दोष आ गये। छठी शताब्दी ई० पू० में वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आ गई थी। व्यवसाय परिवर्तन निषिद्ध हो गये थे। व्यवसाय-विशेष में रुचि होने पर भी लोग अपने वर्ण के विरुद्ध व्यवसाय को अपना नहीं सकते थे। वर्ण के विरुद्ध कार्य करने वाले को अपमान सहना पड़ता था। वर्ण-व्यवस्था के इस अव्यावहारिक स्वरूप के कारण जनसाधारण को आजीविका की खोज में भटकना पड़ा। यज्ञों तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करने में जनसाधारण को काफी धन व्यय करना पड़ता था। सामान्य मनुष्य के आर्थिक साधन सीमित थे। अत: उसके लिए यह सम्भव न था

कि वह धर्म की जटिल और व्यय प्रधान क्रियाओं को सम्पन्न करा सके। जनता में आर्थिक असन्तोष की लहर दौड़ गई। विचारकों ने तत्कालीन आर्थिक असन्तोष की इस स्थिति को चर्चा का विषय बनाया।

धार्मिक आंदोलन का विस्तार

छठी शताब्दी ई० पू० की सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थिति के विरुद्ध जनसाधारण में तीव्र असन्तोष की भावना व्याप्त थी। जनसाधारण पुरातन सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं का विरोध करने लगा। उसने नवीन सुधारों की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इसके परिणामस्वरूप देश में धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध के बाद मक्खलिपुत्त गौशाल, अजित केश कम्बलिन, निगंठनात्तपुत्त अकुद्धकच्चायन आदि विचारकों ने अपने-अपने सिद्धांतों का प्रचार किया। वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार किया गया। रक्तिम यज्ञों का विरोध किया गया तथा ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया गया। उच्च नैतिक, संयमित जीवन और अहिंसा के सिद्धांत को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया। इन धार्मिक आन्दोलनों में जैन धर्म और बौद्ध धर्म क्रांतिकारी सिद्ध हुए जिन्होंने जनसाधारण को अत्यन्त सरल, व्यावहारिक और लोकप्रिय धर्म प्रदान किए।

इस प्रकार विदित होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० भारत के लिए धार्मिक आन्दोलन का युग सिद्ध हुआ जिसका नेतृत्व क्षत्रिय राजकुमार महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने किया। इनके अतिरिक्त इस काल में अनेक सुधारकों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने पुरातन धार्मिक अंधविश्वासों पर तीव्र प्रहार कर नवीन धर्मों का प्रचार किया। इस काल में जैन धर्म और बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ जो अपने अनेक गुणों के कारण न केवल भारत वर्ष वरन् विश्व के अनेक देशों में फैल गए। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म सुधार आन्दोलन थे। जैसा कि स्वयं बुद्ध ने कहा था—"मैं किसी नवीन धर्म की स्थापना नहीं कर रहा हूँ अपितु जिस धर्म का मैं प्रचार कर रहा हूँ, वे बहुत पुराने हैं।" जैन धर्म और बौद्ध धर्म कोई नवीन धर्म नहीं थे बल्कि वे प्राचीन वैदिक धर्म के अंग थे। उन्होंने वैदिक धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर किया। इस सम्बन्ध में डॉ० राधाकृष्णन् का यह कथन उल्लेखनीय है—"महात्मा बुद्ध ने यह कभी अनुभव नहीं किया कि वे किसी नवीन धर्म की स्थापना कर रहे थे। वे हिन्दू धर्म में पैदा हुए और मरे। उन्होंने केवल आर्य सभ्यता के प्राचीन आदर्शों पर अधिक बल देकर उनका वर्णन किया।"

जैन धर्म

जैन साहित्य और ब्राह्मण साहित्य से विदित होता है कि जैन धर्म की नींव महावीर के काल से बहुत पूर्व पड़ चुकी थी। कुछ विद्वानों का कथन है कि जैन धर्म की नींव सिंधु-सभ्यता के काल में पड़ चुकी थी। कुछ अन्य विद्वान् इसका उदयकाल पूर्ववैदिक काल बताते है। ऋग्वेद में वर्णित केशीसूक्त का सम्बन्ध जैन धर्म से जोड़ा

जाता है। महावीर स्वामी से पूर्व जैन धर्म के तेईस तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। जिनका विवरण इस प्रकार है—ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन नाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ। महावीर जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे। ऋग्वेद, गोपथ ब्राह्मण, विष्णुपुराण और भागवत पुराण में जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि महावीर से पूर्व जैन धर्म के तेईस तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है तथापि पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता संदिग्ध है।

पार्श्वनाथ—जैन अनुश्रुति से विदित होता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे। उन्हें राजा कहा गया है। कहा जाता है कि उन्होंने अपने पुत्र भरत, जिसके नाम के अनुरूप इस देश का नाम भारत पड़ा, के पक्ष में राजसिंहासन का परित्याग कर संन्यास धारण कर लिया। पार्श्वनाथ जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर[1] थे। उनका जन्म महावीर से लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व नागवंशीकाशी-नरेश अश्वसेन के गृह में हुआ था। उनकी माता का नाम वामा था। कल्पसूत्र में पार्श्वनाथ को इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय राजा अश्वसेन का पुत्र कहा गया है। राज-परिवार में जन्म लेने के कारण उनका प्रारम्भिक जीवन वैभवसम्पन्न रहा। युवावस्था में उनका विवाह कुशस्थल के राजा नरवर्मन् की कन्या प्रभावती के साथ सम्पन्न हुआ था। तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने राजकीय समृद्धि और वैभव का परित्याग कर संन्यास धारण कर लिया था। 83 दिनों तक निरन्तर तप करने के उपरान्त समवेत पर्वत में उन्हें 'कैवल्य' ज्ञान प्राप्त हुआ। कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् पार्श्वनाथ ने सत्तर वर्ष की अवस्था तक विभिन्न प्रदेशों में अपने धर्म का प्रचार किया। उनके चार प्रमुख सिद्धांत थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह। उन्होंने वेदवाद, बहुदेववाद, यज्ञवाद तथा वर्ण-व्यवस्था का घोर विरोध किया। उन्होंने सामाजिक समानता की भावना का विकास किया। उन्होंने शूद्रों और स्त्रियों को भी मोक्ष का अधिकारी बताया। लगभग सौ वर्ष की आयु में बिहार के एक पर्वत पर उनका देहावसान हो गया। यह पर्वत पारसनाथ पर्वत के नाम से विख्यात है।

महावीर
(599 ई० पू०—527 ई०पू०)

महावीर को जैन धर्म का चौबीसवां तीर्थंकर माना जाता है। जैन धर्म का प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा तेईसवां तीर्थंकर पार्श्वनाथको माना जाता है। अन्य तीर्थंकरों का मात्र नामोल्लेख मिलता है।

---

1. तीर्थंकर का अर्थ है ऐसे उपाय बताने वाला जो मानव को संसार सागर से पार कर दें।

महावीर जैन धर्म के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर थे। उनका आविर्भाव जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के लगभग ढाई सौ वर्ष पश्चात् हुआ था। महावीर की जन्म तिथि विवादास्पद होने पर भी 599 ई० पू० प्रामाणिक प्रतीत होती है।

महावीर का जन्म 599 ई० पू० में वैशाली के समीप कुंडग्राम में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय ज्ञात्रिक-कुल के प्रधान थे तथा उनकी माता त्रिशला प्रसिद्ध लिच्छवि-नरेश चेटक की बहिन थी। मगध-सम्राट् बिंबिसार ने राजा चेटक की कन्या चेल्लना से विवाह किया था जिससे उसके (बिंबिसार के) पुत्र अजातशत्रु का जन्म हुआ। इस प्रकार विदित होता है कि महावीर मगध और वैशाली नामक तत्कालीन प्रमुख राजकुलों से सम्बद्ध थे। कल्पसूत्र से विदित होता है कि पुत्र-जन्म के शुभ अवसर पर सिद्धार्थ ने अत्यधिक खुशी मनाई। इस अवसर पर उसने कर माफ कर दिए, लोगों की राज्य द्वारा अधिकृत सम्पत्ति उन्हें लौटा दी, आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में कमी कर दी और कैदियों को मुक्त कर दिया। बड़े हर्षोल्लास के साथ महावीर का जन्म दिवस मनाया गया।

महावीर का बचपन का नाम वर्द्धमान था। कहा जाता है कि उनके जन्म से सुवर्ण आदि में भारी वृद्धि के कारण उनका नाम वर्द्धमान रखा गया था। किन्तु बाद में अतुल साहस और पराक्रम का प्रदर्शन करने के कारण वे महावीर कहलाए। अभिजात वर्गीय वर्द्धमान की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया गया था। उन्हें सब प्रकार की राजोचित विद्याओं की शिक्षा प्रदान की गई थी। राजकुमार वर्द्धमान वैभव, ऐश्वर्य और सुख-समृद्धि से पूर्ण थे। युवावस्था में उनका विवाह यशोदा नामक राजकुमारी के साथ सम्पन्न हुआ था जिससे प्रियदर्शना नामक कन्या का जन्म हुआ। किन्तु महावीर का जन्म सांसारिक जीवन में नहीं लग पाया।

गृहत्याग और 'कैवल्य' ज्ञान की प्राप्ति—महावीर भौतिक सुखों से दूर हटकर सत्य की खोज करना चाहते थे। अत: माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने 30 वर्ष की आयु में गृहत्याग करने का निश्चय किया। वे दिन-रात चिंतन और मनन में तल्लीन रहते थे। 30 वर्ष की अवस्था में अपने बड़े भाई नंदिवर्द्धन से आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने सत्य और ज्ञान की खोज हेतु गृहत्याग कर दिया और केश मुण्डित करके वे भिक्षु बन गये। गृहत्याग करते समय महावीर के साथ असंख्य लोग चले थे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि गृहत्याग की घटना के अवसर पर महावीर को अनेक लोगों ने विदाई दी जिन्हें उन्होंने शान्दवन में पहुँचने पर वापस लौटा दिया।

आचारांग सूत्र से ज्ञात होता है कि गृहत्याग करने के उपरान्त महावीर ने कुम्मार नामक ग्राम में एक वर्ष तक कठोर तप किया। तदुपरांत उन्होंने अपने मूल्यवान वस्त्रों और आभूषणों को बालुका नदी को समर्पित कर दिया। वस्त्रों का

परित्याग कर महावीर ने नग्नमुद्रा में तप किया और निरन्तर अपने धर्म-प्रचार के कार्य में व्यस्त रहे। निर्लिप्त, मौन और शांत रहकर महावीर ने बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की। तप-अवधि के दौरान मानव रूप में पिशाच प्रवृत्ति के लोगों ने महावीर पर लाठी प्रहार किया, ईंट, पत्थर तथा गन्दी वस्तुएं फेंककर उनके तप में व्यवधान उत्पन्न करने की कुचेष्टा की। तप की अवधि में अनेक कीड़े-मकोड़े उनके कोमल शरीर पर रेंगने लगे। इन सभी मुसीबतों के बावजूद वे अपने तप मार्ग से तनिक भी विचलित नहीं हुए। तापस जीवन के तेरहवें वर्ष वैशाख माह दशम दिवस को जृम्भिक ग्राम के निकट ऋजुपालिका नदी के तट पर विशाल शाल-वृक्ष के नीचे उन्हें 'कैवल्य' ज्ञान प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् वे अर्हत (पूज्य), जिन (विजेता) और निर्ग्रन्थ (सांसारिक बन्धनों को तोड़ने वाला) कहलाए।

धर्म-प्रचार—42 वर्ष की आयु में कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् महावीर ने अपने धर्म के सिद्धांतों का प्रचार किया। उन्होंने अपने जीवन के शेष 30 वर्ष धर्म-प्रचार में व्यतीत किए। नग्न रहने के कारण यद्यपि वे जनसाधारण के अत्यधिक निकट नहीं आ पाये तथापि तत्कालीन राजवंशों ने महावीर को सम्मान और श्रद्धा-भाव से देखा। प्रारम्भ में वह अकेले भ्रमण करते थे किन्तु बाद में वे आजीविका संप्रदाय के प्रवर्त्तक गोसाल के साथ रहने लगे। छह वर्ष तक साथ रहने के बाद महावीर और गोसाल में मतभेद उत्पन्न हो गये और वे एक-दूसरे के आलोचक बन गये थे।

राजपुत्र तथा अन्य राजवंशों से सम्बद्ध होने के कारण महावीर को धर्म-प्रचार में विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। उनकी माता राजा चेटक की बहिन थी। मगध, सिंधु, सौवीर, कौशाम्बी और चम्पा के राजकुलों से भी उनका सम्बन्ध था। लिच्छवि-नरेश चेटक, अवंति-राज चण्डप्रद्योत, मगध-सम्राट् बिंबिसार और अजातशत्रु तथा चम्पानरेश दधिवाहन महावीर के प्रति श्रद्धाभाव रखते थे। जैन साहित्य में बिंबिसार और अजातशत्रु को जैन मतावलम्बी कहा गया है। मल्लराज महावीर के प्रति सहानुभूति रखता था। उसी के राजप्रासाद में (527 ई० पू० में) महावीर का देहावसान हुआ था। वे वर्षा ऋतु को छोड़कर शेष समय में अपने धर्म का प्रचार करते थे। महावीर ने तत्कालीन अनेक राज्यों का भ्रमण कर स्वधर्म का प्रचार किया। धर्म-प्रचार के काल में महावीर ने लगभग 12 वर्ष लिच्छवि गणराज्य में व्यतीत किए। उनके प्रमुख शिष्य आनन्द, कामदेश, चुलानिपिया, सुरदेव, चुल्लसयग, महासयग, कुण्डकोलिय, नन्दिनीपिया, साल्हीपिया, संद्धालपुत्त आदि ने जैन धर्म के प्रचार कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया। महावीर ने मगध, कोशल, अंग, मिथिला, काशी आदि राज्यों में घूमकर अपने धर्म का प्रचार किया। फलतः अनेक राजा, समृद्ध लोग, जनसाधारण उनके अनुयायी बन गये। जैन-धर्म के प्रचार हेतु महावीर ने पावापुरी में जैन-संघ की स्थापना की। वे स्वयं इस संघ के अध्यक्ष थे।

महावीर के सिद्धांत—महावीर जैन धर्म का चौबीसवां और अन्तिम तीर्थंकर माना जाता है। उन्होंने जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चार सिद्धांतों

अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह को अपनाकर उसमें अपना ब्रह्मचर्य नामक एक अन्य सिद्धांत जोड़ दिया। यह एक सरल और व्यावहारिक धार्मिक मार्ग था जिसका अनुसरण कर जनसाधारण मोक्ष की प्राप्ति कर सकता था।

वर्द्धमान महावीर ने जिन सिद्धांतों का प्रचार किया वे ही जैन धर्म के मूल सिद्धांत माने जाते हैं। उन्हें जैन धर्म का न केवल संस्थापक बल्कि जैन मत का प्रवर्तक भी माना जाता है। जैन धर्म वेदों की अपौरुषेयता को स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म ने ब्राह्मण धर्म में प्रचलित अंधविश्वासों का विरोध किया और यज्ञों के अनुष्ठान को महत्त्वहीन बताया। जैन धर्म ने अहिंसा, निवृत्ति की प्रधानता, व्यक्ति की स्वतन्त्रता, अनीश्वरवादिता और सृष्टि की नित्यता, द्वैतवादी तत्त्व-ज्ञान, आत्मवादिता, कर्म और पुनर्जन्म, निर्वाण, त्रिरत्न, व्रत, उपवास और तपस्या, नैतिक सदाचारमय जीवन आदि पर विशेष बल दिया। महावीर का विश्वास था कि तप और संयम से आत्मा को शक्ति मिलती है और निकृष्ट प्रवृत्तियाँ दबी रहती हैं। महावीर के प्रमुख सिद्धांतों का विवरण इस प्रकार है—

1. **निवृत्ति मार्ग की प्रधानता**—जैन धर्म में निवृत्ति मार्ग की प्रधानता है। उसमें संपूर्ण जीवन को दुःख का सागर बताया गया है। जैन मुनियों के अनुसार सभी सुख दुःखमूलक और व्याधिस्वरूप हैं। संपूर्ण जीवन वासनाओं, तृष्णाओं और कामनाओं से पूर्ण है। मनुष्यों का हित इसी में निहित है कि वे वासना, तृष्णा और कामनाओं के कुचक्र में न पड़कर सांसारिक सुखों का त्याग करें और भिक्षु बन कर इन्द्रिय निग्रह करें तथा तप द्वारा कैवल्य ज्ञान को प्राप्त करें। जैन धर्म में जीवन को दुःखमय बताया गया है। तृष्णाओं को दुःख का मूल कहा गया है। संपत्ति के साथ-साथ कामनाएं भी बढ़ती जाती हैं जो विष के समान हैं। जीवन क्षण भंगुर है। इस प्रकार जैन धर्म जीवन के प्रति उदासीन दृष्टिकोण रखता है।

2. **कर्म और पुनर्जन्म**—जैन धर्म ईश्वर में विश्वास न कर कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास करता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। 'जिस प्रकार जले हुए बीज से अंकुर नहीं फूटता, उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के जल जाने से सांसारिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है।' कर्म ही मृत्यु का कारण है। बुरे कर्मों के फलस्वरूप ही मनुष्य का संसार में बार-बार आगमन होता है। एक जन्म के कर्मों का फल दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है। मोक्ष प्राप्ति हेतु मनुष्य को अच्छे कर्म करने चाहिए। आत्मा को कर्मों के बन्धन से मुक्त रखना चाहिए। इस हेतु महावीर ने तीन साधन बताए हैं जिन्हें जैनधर्म में त्रिरत्न कहा गया है—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा, और सम्यक् चरित्र।

3. **त्रिरत्न**—कर्म के बन्धनों से मुक्ति और कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति हेतु महावीर ने तीन साधन बताए हैं जिन्हें जैन साहित्य में त्रिरत्न की संज्ञा दी गई है। ये त्रिरत्न इस प्रकार हैं—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् आचरण अथवा चरित्र।

4. **सम्यक् ज्ञान**—यह ज्ञान जैन साहित्य के अध्ययन और जैन मुनियों के उपदेशों को सुनने से अर्जित किया जा सकता है। इससे सत्य और असत्य के मध्य अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

5. **सम्यक् श्रद्धा**—यह ज्ञान जैन तीर्थंकरों और जैन साहित्य में आस्था रखने के फलस्वरूप प्राप्त होता है।

6. **सम्यक् आचरण अथवा चरित्र**—जैन तीर्थंकरों के उपदेशों और जैन धर्म ग्रंथों के अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस पर आचरण करना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत इन्द्रिय और कर्मों पर पूर्ण नियन्त्रण रखकर वासनाओं से मुक्त जीवन व्यतीत करना है।

7. **अनीश्वरवादिता**—महावीर ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे। उनका मत था कि ऐसी कोई शक्ति विद्यमान नहीं है, जिससे सृष्टि का संचालन होता है। जैन धर्म के अनुसार सृष्टि अनादि, अनन्त और गतिशील है। उसका कोई कर्ता, धर्ता और हर्ता नहीं है। महावीर का मत था कि यदि मनुष्य अपने अन्दर छिपी हुई सभी शक्तियों का पूर्ण विकास कर ले तो वह स्वयं परमात्मा बन सकता है।

8. **आत्मवादिता**—महावीर आत्मा के अस्तित्व और उसकी अमरता में विश्वास करते थे। उनके अनुसार आत्मा अनादि और अनन्त है। उनका कथन था कि जीवन मानव और पशु-पक्षियों में ही नहीं बल्कि पेड़-पौधों और जल में भी विद्यमान है। वे विश्व के कण-कण में जीवन विद्यमान मानते थे। उनके अनुसार केवल दो ही तत्त्व हैं—प्रकृति और आत्मा।

9. **निर्वाण**—निर्वाण अथवा मोक्ष प्राप्त करना जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य है। महावीर के अनुसार जबतक मनुष्य अपनी तृणाओं का नाश नहीं करता तब तक मोक्ष प्राप्त करना दुर्लभ है। जैन धर्म के अनुसार मोक्ष प्राप्ति हेतु यह नितांत आवश्यक है कि मनुष्य अपने पूर्व जन्म के फलों का नाश करे और इस जन्म में ऐसे बुरे कर्म न करे कि उसे अगले जन्म में उनका फल भोगना पड़े। तप, व्रत और अनशन द्वारा शरीर को कठोर यातनाएं देने से नवीन कर्मों का निर्माण नहीं होता और पूर्व जन्म के कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। कर्मों के विनाश स्वरूप मानव आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। इसी स्थिति को मोक्ष कहते हैं।

10. **तप और व्रत**—महावीर का मत था कि शरीर को जितनी अधिक यातनाएं दी जायेंगी उतना ही उसका विकास होगा। उन्होंने तप और व्रत पर विशेष जोर दिया। उन्होंने तप और व्रत के अतिरिक्त नग्नता और आमरण अनशन पर भी बल दिया। मोक्ष प्राप्ति हेतु इन पर आचरण करना आवश्यक था। जैन धर्म में दो प्रकार के तपों का विधान है—**बाह्य तप**—इसके अन्तर्गत व्रत, उपवास, भिक्षाचर्या, रसों का परित्याग और शरीर को यातना देना सम्मिलित है। **आभ्यन्तर तप**—इस प्रकार की तपस्या में प्रायश्चित्त, विनय, सेवा, स्वाध्याय और शरीर त्याग सम्मिलित है।

11. **अहिंसा**—अहिंसा जैन धर्म का सर्वप्रमुख सिद्धांत है। महावीर के अनुसार जड़ और चेतन दोनों प्रकार की वस्तुओं में जीव विद्यमान है। उन्हें किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना हिंसा है। मन, वचन और कर्म से प्राणिमात्र के प्रति श्रद्धाभाव रखना चाहिए। छोटे से छोटे जीव के प्रति हिंसा नहीं करनी चाहिए।

12. **पंच महाव्रत**—महावीर ने अपने अनुयाइयों को पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया था—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य, इनमें से प्रथम चार सिद्धांत पार्श्वनाथ के थे। महावीर ने उसमें अपना ब्रह्मचर्य नामक पाँचवाँ सिद्धांत जोड़ दिया था। जैन अनुयाइयों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय (बिना आज्ञा के किसी वस्तु को न तो ले और न लेने की कामना करे), अपरिग्रह (धन-सम्पत्ति का संग्रह न करना। इसके अन्तर्गत वस्त्रादि परित्याज्य हैं) और ब्रह्मचर्य।

13. **अनेकात्मवाद**—जैन धर्म एकात्मवाद में आस्था न रखकर अनेकात्मवाद में विश्वास करता है। जैन धर्म सभी जीवों में भिन्न-भिन्न आत्मा मानता है। उसके अनुसार 'यदि सभी जीवों में केवल एक ही आत्मा होती, तो वे एक-दूसरे से पृथक् रूप में न पहचाने जा सकते और न उनकी भिन्न-भिन्न गतिविधियां होतीं।' दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जैन धर्म विभिन्न जीवों में भिन्न-भिन्न आत्मा मानता है। उसके अनुसार यदि विभिन्न जीवों में एक ही आत्मा होती तो उनका स्वरूप तथा उनकी गतिविधियां एक-सी होतीं। वह जड़ वस्तुओं में भी आत्मा निहित मानता है।

14. **अठारह पाप**—जैन धर्म में अठारह पाप बताए गए हैं जो मनुष्य को पतन की ओर अग्रसर करते हैं। आवश्यक सूत्र में इन अठारह पापों का उल्लेख इस प्रकार विदित होता है—(1) हिंसा, (2) झूठ, (3) क्रोध, (4) लोभ, (5) चोरी, (6) मैथुन, (7) मान, (8) माया, (9) परिग्रह, (10) राग, (11) द्वेष, (12) कलह, (13) दोषारोपण, (14) चुगली, (15) निंदा, (16) असंयम, (17) कपट-छल और (18) मिथ्या-दर्शन।

15. **नैतिकता और सदाचार पर बल**—महावीर ने नैतिकता और सदाचार पर आधारित जीवन पर जोर दिया। जैन धर्म में पशु-हिंसा, मांस और मदिरा का प्रयोग वासनाओं, तृष्णाओं आदि का विरोध किया गया है। जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लिखित है कि जो सदाचार के गुणों से युक्त है, जो श्रेष्ठ संयम का पालन करता है, जिसने समस्त अपराधों को रोक दिया है और जिसने कर्म का नाश कर दिया है, वह विपुल, उत्तम और ध्रुवगामी है तथा मोक्ष को प्राप्त करता है।

16. **वेदवाद और ब्राह्मणवाद का विरोध**—छठी शताब्दी ई० पू० तक समाज ब्राह्मणवाद का शिकार हो चुका था। महावीर ने वेदवाद और ब्राह्मणवाद की तीव्र भर्त्सना की। उन्होंने वेदों की प्रामाणिकता और अपौरुषेयता को अंगीकार

नहीं किया। ब्राह्मण धर्म में व्याप्त हिंसक यज्ञों तथा कर्मकांडों और अंधविश्वासों का महावीर ने घोर विरोध किया।

17. **समाज में व्याप्त कुप्रथाओं का विरोध**—जैन धर्म वर्ण-व्यवस्था और सामाजिक विषमताओं का विरोधी है। महावीर ने जन्म के आधार पर आधारित वर्ण-व्यवस्था की कटु आलोचना की। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के व्यावहारिक स्वरूप (कर्म के आधार पर वर्ण के निर्धारण) को महत्त्व दिया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है। सभी वर्ण के लोगों के लिए बिना किसी भेदभाव के जैन धर्म के द्वार खुले हुए थे।

छठी शताब्दी ई० पू० तक नारियों के सम्मान में कमी आ गई थी। महावीर ने समाज में नारियों की समानता और स्वतन्त्रता पर जोर दिया। उन्होंने जैन-संघों के द्वार स्त्रियों के लिए भी खोल दिए तथा नारियों को पुरुषों की भाँति निर्वाण प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया।

देहावसान—महावीर की जन्म तिथि और मृत्यु तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान् उनकी जन्म-तिथि 540 ई० पू० तथा मृत्यु-तिथि 468 ई० पू० निर्धारित करते हैं। किन्तु अन्य विद्वान् महावीर की जन्म तिथि 599 ई० पू० तथा मृत्यु तिथि 527 ई० पू० बताते हैं। दूसरा मत अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

जैन धर्म का प्रसार—कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् महावीर ने अपना शेष जीवन धर्म-प्रचार में व्यतीत किया था। तत्कालीन अनेक राजवंश महावीर से सम्बन्धित होने के कारण उनसे सहानुभूति रखते थे। अंग, अवंति, मगध, मल्ल, लिच्छवि आदि राज्यों के राजा महावीर से सहानुभूति रखते थे। जैन धर्म के प्रचार हेतु महावीर ने जैन संघ की स्थापना की। भिक्षु-भिक्षुणियाँ इस संघ के सदस्य होते थे। संघ में प्रवेश करने वाली भिक्षुणी को श्रमणी कहा जाता था।

महावीर के प्रभाव में आकर ग्यारह विद्वान् ब्राह्मण उनके शिष्य बन गये थे। उनके इन ग्यारह शिष्यों को गणधर की संज्ञा दी गई थी। महावीर ने जैन धर्म के प्रचार के लिए जिस संघ की स्थापना की उसे उपरोक्त ग्यारह गणधरों के अधीन विभक्त किया गया था। महावीर के जीवन-काल में ही दस गणधरों का देहावसान हो गया था। उनकी मृत्यु के उपरांत उनके (महावीर) ग्यारहवें शिष्य (गणधर) सुधर्मन ने जैनधर्म का प्रचार किया। उसके बाद जम्बू, सम्भूत विजय, भद्रबाहु आदि जैन आचार्यों ने धर्म-प्रचार का कार्य किया। केवल वर्षा ऋतु को छोड़कर शेष वर्ष के आठ माह में जैन धर्म-प्रचारक यत्र-तत्र धर्म-प्रचार के कार्य में व्यस्त रहते थे।

महावीर की मृत्यु के बाद भी जैन धर्म को राज्याश्रय मिलता रहा। प्रारम्भ में बिंबिसार, अजातशत्रु, मल्लराज, लिच्छवि-नरेश, वत्सराज, अवंतिराज आदि राजाओं ने जैन धर्म ग्रहण कर उसके प्रसार में योग दिया। अजातशत्रु का उत्तरा-

धिकारी उदयभद्र (उदयन) जैन मतावलंबी था। हाथीगुम्फा अभिलेख से विदित होता है कि मगध के नन्द राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। यूनानी लेखकों ने सिकंदर के भारत अभियान के समय सिधुनदी के तट पर निवास करने वाले जैन धर्म के अनुयायियों का उल्लेख किया है। जैन अनुश्रुतियों से विदित होता है कि जैन आचार्य भद्रबाहु के प्रभाव में आकर मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य ने राज्य का परित्याग कर संन्यास धारण कर लिया था। बाद में जैन विधान के अनुसार उसने अनशन द्वारा शरीर त्याग कर दिया। चौथी शताब्दी ई० पू० में जैन संघ के दो प्रसिद्ध विद्वान् भद्रबाहु और स्थूलभद्र के मध्य जैन धर्म के सिद्धांतों को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गये। परिणामतः जैन धर्म दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो भागों में विभक्त हो गया। भद्रबाहु के अनुयायी दिगम्बर कहलाए। दिगम्बर संप्रदाय के अनुयायी महावीर के मूल उद्देश्यों का पालन करते थे और वस्त्र धारण नहीं करते थे। स्थूलभद्र के अनुयायी श्वेताम्बर कहलाए। वे सफेद वस्त्र धारण करते थे। कुषाण-काल में उज्जैन और मथुरा जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। कलिंगराज खारवेल जैन धर्म का अनुयाई था। दक्षिणापथ के गंग, कदंब, राष्ट्रकूट और चालुक्य राजाओं ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था। गुजरात के चालुक्य नरेश सिद्धराज और कुमारपाल जैन धर्म के अनुयायी थे। मध्यकालीन भारत में जैन धर्म के अनुयायी पर्याप्त संख्या में हैं।

जैन धर्म के विस्तार में बाधक कारण

बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म न तो भारतवर्ष में लोकप्रियता अर्जित कर सका और न ही विदेशों में तीव्रता से फैल पाया। भारत तथा विदेशों में जैन धर्म के शीघ्र न फैलने के लिए प्रधानतया निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे।

1. **कठोर सिद्धांत**—जैन धर्म के सिद्धान्त अत्यधिक कठोर हैं। सिद्धांतों की कठोरता के कारण जैन धर्म लोकप्रियता अर्जित नहीं कर पाया। महावीर के अनुसार शरीर को अधिकाधिक यातनाएँ देनी चाहिएं। मोक्ष प्राप्ति हेतु आमरण अनशन, कठोर तप, नग्नता और अहिंसा पर अत्यधिक बल आदि का विधान था। जनसाधारण के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह मोक्ष प्राप्ति हेतु उक्त प्रकार के कठोर मार्ग का अनुसरण कर सके। जैन धर्म के कठोर सिद्धांतों के कारण जनसाधारण उसकी ओर आर्कषित नहीं हुआ।

2. **अहिंसा पर आवश्यकता से अधिक बल**—जैन धर्म में अहिंसा के सिद्धांत पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है। वह जड़-चेतन सभी वस्तुओं में आत्मा का समावेश मानता है। जैन अनुयायी के लिए यह परम आवश्यक था कि वह मनसा, वाचा और कर्मणा किसी भी जीव को दुःख नहीं पहुँचाएं। जैन धर्म के अनुयायी नंगे पाँव यात्रा करते हैं और मुँह में एक पट्टी बांधे रहते हैं ताकि उनके द्वारा किसी जीव की हिंसा नहीं होने पाये। जनसाधारण के लिए यह सम्भव न था कि वह व्यावहारिक जीवन में अहिंसा के सिद्धांत का इतनी अधिक कठोरतापूर्वक

पालन कर सके। अहिंसा पर अत्यधिक बल देने के परिणामस्वरूप जैन धर्म के प्रसार की गति बौद्ध धर्म की अपेक्षा धीमी पड़ गई।

3. **स्वदेश और विदेशों में प्रचार साधनों का अभाव**—जैन धर्म के अनुयायियों ने उसे स्वदेश और विदेशों में फैलाने के निमित्त कोई विशेष उपाय नहीं किए। महावीर ने गौतम बुद्ध की भाँति भिक्षुओं को विभिन्न स्थानों में जाकर धर्म-प्रचार करने का उपदेश नहीं दिया। जैन संघ ने अपने धर्म के प्रचार हेतु संगठित प्रयास नहीं किए। विदेशों में धर्म-प्रचार के प्रति जैन आचार्यों ने कोई रुचि नहीं दिखाई। जैन मुनियों ने बौद्ध भिक्षुओं की भाँति विभिन्न साधनों द्वारा स्वदेश और विदेशों में धर्म-प्रचार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

4. **ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म की लोकप्रियता**—यद्यपि छठी शताब्दी ई०पू० तक ब्राह्मण धर्म विकृत अवस्था को प्राप्त हो चुका था तथापि बाद में अनेक विद्वानों ने उसमें व्याप्त कमियों को दूर कर उसे लोकप्रिय स्वरूप प्रदान कर दिया। कुमारिल भट्ट और जगद्गुरु शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म का विरोध कर ब्राह्मण धर्म की श्रेष्ठता स्थापित कर दी थी। अतः जनजाधारण ने कठोर सिद्धांतों से युक्त जैन धर्म के स्थान पर ब्राह्मण धर्म पर आचरण करना अधिक उपयुक्त समझा।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म एक ही काल में उदित हुए थे। दोनों धर्मों का उद्देश्य वैदिक धर्म के विकृत स्वरूप से त्रस्त मानव समाज के लिए एक सरल और व्यावहारिक धर्म का स्वरूप प्रदान करना था। जहां जैन धर्म में कठोर सिद्धांतों पर आचरण करने को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है, वहीं बौद्ध धर्म में यह कहा गया है कि मध्य मार्ग से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अतः जनसाधारण ने मोक्ष प्राप्ति हेतु जैन धर्म के कठोर मार्ग की अपेक्षा बौद्ध धर्म के मध्य मार्ग को अधिक पसंद किया। जैन धर्म का संगठन बौद्ध धर्म की तरह जनतान्त्रिक नहीं था। उसकी शक्ति थोड़े से गणधरों के हाथों में केन्द्रित होने के कारण उसमें अनेक दोष उत्पन्न हो गये थे। जैन भिक्षु-भिक्षुणियाँ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों की भाँति जनसाधारण की उदारता एवं दानशीलता पर निर्भर न रहकर धनी वर्ग पर आधारित थे। जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म के सिद्धांत अधिक सरल, प्रायोगिक और व्यावहारिक थे। अतः जनसाधारण जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म की प्रतिद्वंद्विता के कारण जैन धर्म अधिक लोकप्रिय तथा देशव्यापी न हो सका।

5. **अधिक राजकीय संरक्षण का अभाव**—जैन धर्म बौद्ध धर्म की भाँति अधिक राजाओं का संरक्षण प्राप्त नहीं कर पाया। यद्यपि महावीर के समकालीन अनेक राजाओं ने जैन धर्म को अंगीकार कर लिया था और बाद के कुछ राजाओं ने भी उसे संरक्षण प्रदान किया तथापि उसके संरक्षक अशोक, मिनेण्डर, कनिष्क, हर्ष, धर्मपाल और देवपाल जैसे महान् और शक्तिशाली सम्राट् नहीं थे जो उसके प्रचार और प्रसार हेतु यथासंभव प्रयास कर पाते। जैन धर्म में नागार्जुन, अश्वघोष,

बुद्धघोष और तारानाथ सरीखे विद्वानों तथा प्रचारकों का भी अभाव व्याप्त रहा।

6. **जैन धर्म में अनेक कुरीतियों का समावेश**—जैन धर्म के आविर्भाव का प्रमुख कारण वैदिक धर्म में दुरूहता आ जाना था। कालांतर में जैनधर्म में वे सभी बुराइयाँ आ गईं जो वैदिक धर्म में व्याप्त थीं। जैन धर्म में जाति-प्रथा, देवी-देवता, भक्ति, उत्सव, संस्कार, त्योहार आदि सभी बुराइयों का समावेश हो गया था। सैद्धांतिक रूप से जाति-प्रथा का घोर विरोधी होने के बावजूद व्यावहारिक रूप से वह कभी भी जाति-प्रथा का पूर्ण रूप से परित्याग नहीं कर पाया। शूद्रों को जैन संघ में प्रवेश नहीं मिल पाया। वह प्रायः द्विजातियों का ही धर्म बना रहा। प्रारम्भ में जैन विद्वानों ने प्राकृत और अर्द्धमागधी में धार्मिक उपदेश दिये और धर्म-ग्रन्थों की रचना की, परन्तु बाद में संस्कृत भाषा को अपना लिया था। संस्कृत जनसाधारण की भाषा न होने के कारण जनता ने जैन धर्म की ओर उदासीन दृष्टिकोण का परिचय दिया। बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म कला को धर्म-प्रचार का माध्यम नहीं बना पाया। विद्वानों का कथन है कि जैन-कला जीवन और धर्म को जोड़ने वाली सशक्त कड़ी न बन सकी, जबकि बौद्ध-कला इस क्षेत्र में पर्याप्त सफल रही। जैन अनुयायी जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं निर्मित कर अत्यधिक खर्चीले मंदिरों का निर्माण करने लगे थे। इसलिए भी जनता का ध्यान उनकी ओर से हट गया।

7. **तुर्क-आक्रमण**—ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में तुर्कों ने भारत पर आक्रमणों की झड़ी लगा दी थी। आक्रमणों के समय तुर्कों ने हिन्दूधर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म के देवालयों और मठों को ध्वस्त कर दिया, मूर्तियां खण्डित कर दीं और धर्म-ग्रन्थों से सज्जित पुस्तकालयों को अग्नि की लपटों में स्वाहा कर दिया था। तुर्कों के आक्रमणों से जैन धर्म की शक्ति पर तीव्र आघात लगा और वह क्षीण पड़ने लगी।

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान

छठी शताब्दी ई० पू० भारतवर्ष में धार्मिक आन्दोलन का युग सिद्ध हुआ। राजकुमार महावीर और सिद्धार्थ ने गृह त्याग कर अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए नवीन धर्मों का प्रतिपादन किया जो जैन धर्म और बौद्ध धर्म के रूप में अस्तित्व में आये। जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों वैदिक धर्म की जटिलता और उसमें व्याप्त अन्धविश्वासों के विरुद्ध थे। यद्यपि जैन धर्म बौद्ध धर्म की भाँति लोकप्रिय नहीं हो पाया तथापि भारतीय संस्कृति के विकास में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति में जैन धर्म की मुख्यतः निम्नलिखित देनें रही हैं।

1. **सामाजिक देन**—छठी शताब्दी ई० पू० तक समाज में अनेक बुराइयाँ आ गई थीं। इस अवधि में वर्ण का आधार कर्म न होकर जन्म ने ले लिया था। समाज में भेदभाव और छुआछूत की भावना विद्यमान थी। ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ

समझा जाता था और शूद्र को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। स्त्रियों की दशा हीन थी। यज्ञ, अंधविश्वास और कर्मकाण्डों की जटिलता तथा अव्यावहारिकता ने वैदिक धर्म को विकृत कर दिया था। जैन धर्म के संस्थापक महावीर स्वामी ने उक्त कुप्रथाओं का विरोध किया। उन्होंने छुआछूत और भेदभाव की कुप्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई। जैन धर्म मनुष्यों की समानता में विश्वास करता था। वह प्रत्येक जाति में उत्पन्न मनुष्य को समान समझता था। महावीर ने वर्ण का आधार जन्म का विरोध किया और उसके व्यावहारिक आधार कर्म का प्रबल समर्थन किया। वे वर्ण का आधार कर्म मानते थे। उन्होंने ब्राह्मणों के प्रभुत्व का विरोध किया। जैन धर्म ने सामाजिक समानता पर विशेष बल दिया। जैन धर्म के प्रचार के फलस्वरूप भारतवर्ष में सामाजिक एकता की भावना स्थापित हुई। सभी वर्णों के पारस्परिक सहयोग में वृद्धि हुई। महावीर ने सभी वर्णों के लोगों के लिए अपने धर्म के द्वार खोल दिये।

छठी शताब्दी ई० पू० में स्त्रियों के सामाजिक सम्मान में कमी आ गई थी। महावीर स्वामी ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार और स्वतन्त्रता दिए जाने पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि स्त्रियों को पुरुषों की भाँति निर्वाण प्राप्त करने का अधिकार है। उन्हें पुरुषों की भाँति जैन संघ में प्रवेश करने का अधिकार प्रदान किया गया। जैन धर्म ने कठोर नैतिक नियमों पर आचरण करते हुए आदर्श और सदाचारमय जीवन पर चलने की प्रेरणा दी। जैन धर्म के अनुयायियों में समाज-सेवा की भावना व्याप्त थी। उन्होंने जनकल्याण हेतु औषधालयों, पाठशालाओं, धर्मशालाओं आदि सामाजिक संस्थाओं का निर्माण किया। इन संस्थाओं से जन-साधारण को निःशुल्क औषधि और शिक्षा प्राप्त होती थी। उनकी लोककल्याण-कारी भावनाओं के फलस्वरूप जनसाधारण के हृदय में समाज सेवा की भावना जाग्रत हुई।

2. **धार्मिक देन**—जैन धर्म वैदिक धर्म की अपेक्षा अत्यन्त सरल और व्याव-हारिक धर्म था। उसने वैदिक धर्म में व्याप्त कर्मकांड की जटिलता, हिंसा, छुआछूत, अंधविश्वास आदि सामाजिक बुराइयों का विरोध किया। जैन धर्म के प्रचारकों ने अपने धर्म को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से संस्कृत के स्थान पर जनभाषा (पहले प्राकृत और बाद में अर्द्धमागधी) में धर्म प्रचार किया ताकि लोग सरलतापूर्वक उनके धार्मिक सिद्धांतों को समझ सकें। विद्वानों का मत है कि जैन धर्म के फलस्वरूप भारतीय दार्शनिक चिंतन गौरवान्वित हुआ। उसके सिद्धांत आत्मवाद, अनेका-त्मवाद, कर्म, पुनर्जन्म आदि ने दार्शनिकों को प्रभावित किया है। सृष्टि, आत्मा, जीव, अजीव आदि के सम्बन्ध में जैनधर्म ने जो विचार व्यक्त किए उनका दार्शनिक क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व है।

3. **अहिंसा का सिद्धांत**—वैदिक धर्म में हिंसक प्रवृत्तियों का बाहुल्य था। पशुबलि यज्ञों का आवश्यक अंग बन चुकी थी। अतः यज्ञों में पशुबलि आवश्यक समझी जाती थी। महावीर स्वामी ने हिंसा का विरोध करते हुए अहिंसा के सिद्धांत

पर विशेष बल दिया। पशुओं की हत्या को पाप की संज्ञा दी गई। जैनधर्म के अहिंसा के सिद्धांत को हिन्दू धर्म ने अंगीकार कर लिया। वर्तमान समय में भी हिन्दू धर्म में अहिंसा के सिद्धांत को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

4. **साहित्यिक देन**—जैन धर्म को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से महावीर स्वामी तथा अन्य जैन भिक्षुओं ने जनभाषा में अपने धर्म के सिद्धांतों का प्रचार किया। प्रारम्भ में उन्होंने प्राकृत तथा अर्द्धमागधी में जैन धर्म-ग्रन्थों की रचना की। जैनधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ बारह अंग, बारह उपांग, चौदह पूर्व, दस प्रकीर्ण, छः छेदसूत्र और चार मूल सूत्र आदि प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। इससे प्राकृत भाषा के कोष में वृद्धि हुई। कुछ धार्मिक ग्रन्थ अपभ्रंश में भी लिखे गये हैं। चौथी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में जैन धर्म दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो भागों में विभक्त हो गया। दिगम्बर मत के ग्रन्थ संस्कृत भाषा और श्वेताम्बर मत के ग्रन्थ अर्द्ध-मागधी में लिखे गये हैं।

गुप्त सम्राट् वैदिक धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने संस्कृत को राजभाषा का सम्मान प्रदान किया। फलतः गुप्तकाल में संस्कृत भाषा का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। गुप्तकालीन जैन विद्वानों ने संस्कृत भाषा में अपने धर्म-ग्रंथों की रचना की। उस काल में व्याकरण, काव्य, कोष, छन्दशास्त्र, कथाएँ आदि विषयों पर उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना की गई।

जैन लेखकों ने काव्य रचना प्राकृत और संस्कृत भाषाओं तक ही सीमित न रखकर तमिल, तेलगू, कन्नड़, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी ग्रन्थों की रचना की। जैन विद्वानों ने तामिल-व्याकरण और प्राचीन तामिल कोश की रचना की। तामिल साहित्य की प्रसिद्ध कविता 'जीवक चिंतामणि' जैन विद्वानों की महत्त्वपूर्ण कृति है। ग्यारहवीं शताब्दी में गुजरात के जैन विद्वान हेमचन्द्र सूरी ने संस्कृत और प्राकृत भाषा में अनेक धर्म-ग्रन्थों की रचना की। उसे जैन साहित्यकारों और इतिहासविदों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इस प्रकार विदित होता है कि जैनधर्म के आचार्यों और विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं के कोश को समृद्ध बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

5. **कला को देन**—कला के क्षेत्र में जैनधर्म की भारतीय संस्कृति को महत्त्वपूर्ण देन रही है। जैन धर्म के अनुयायियों ने अपने तीर्थंकरों और आचार्यों की मधुर स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने और धर्म प्राचार के उद्देश्य से प्रेरित होकर अत्यन्त सुन्दर स्तूपों, मन्दिरों, मूर्तियों और गुफाओं का निर्माण करवाया। जैन स्तूप में प्रस्तर रेलिंग, प्रवेश द्वार, उत्कीर्ण स्तंभ एवं प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। जैन कलाकारों ने धर्मस्तंभों के निर्माण की ओर रुचि दिखाई। चित्तौड़ दुर्ग का स्तंभ स्थापत्य का सर्वोत्कृष्ट नमूना है।

जैन कलाविदों ने पत्थरों को काट कर सुन्दर और आकर्षक मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण किया है। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में खजुराहो में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण किया गया जिनमें आदिनाथ, शांतिनाथ और पार्श्वनाथ

के मन्दिर कला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में राजस्थान के आबू पर्वत पर अनेक जैन मन्दिर निर्मित किये गये जो कला की दृष्टि से सुन्दरतम हैं।

जैन कलाकारों द्वारा निर्मित जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। गिरनार (सौराष्ट्र), राणापुर (जोधपुर), पार्श्वनाथ (बिहार), खजुराहो (मध्य प्रदेश), आबूपर्वत (राजस्थान) आदि स्थानों पर जैन मन्दिर निर्मित हैं। इन मन्दिरों में अनेक कलापूर्ण मूर्तियां विद्यमान हैं। इन मूर्तियों में मैसूर में श्रवणबेलगोला के समीप से प्राप्त गोमतेश्वर की प्रतिमा उल्लेखनीय है। यह प्रतिमा ग्रेनाइट चट्टान को काटकर बनाई गई है। पहाड़ी पर स्थित यह प्रतिमा 70 फीट ऊँची है। मध्य प्रदेश में बड़वानी के समीप महावीर स्वामी की 84 फीट ऊँची प्रतिमा आश्चर्य चकित कर देती है।

प्राचीन जैन गुफाएं वास्तुकला के स्मारक हैं। उड़ीसा प्रदेश के उदयगिरि तथा खंडगिरि में निर्मित जैन गुफाएं 150 ई॰ पू॰ निर्मित मानी जाती हैं। इन गुफाओं में 'रानीगुफा' और 'गणेशगुफा' वास्तुकला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इसी प्रकार एलोरा की इन्द्रगुफा उल्लेखनीय है।

जैन कलाकारों ने चित्रकला का भी प्रदर्शन किया है। हस्तलिखित ग्रन्थों पर सुन्दर और आकर्षक चित्रकारी की गई है। चित्रकला में सुनहले और चमकीले रंगों का प्रयोग किया गया है।

बौद्ध धर्म

छठी शताब्दी ई॰ पू॰ भारतवर्ष में धार्मिक उथल-पुथल और बौद्धिक हलचल का युग था। तत्कालीन समाज को नवीन धार्मिक आन्दोलनों ने व्यापक स्तर पर प्रभावित कर डाला। इन नूतन धार्मिक अन्दोलनों का मूल उद्देश्य तर्कहीन पुरातन धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताओं एवं परम्पराओं का परित्याग कर तार्किक और व्यावहारिक दृष्टि से श्रेष्ठ धार्मिक मान्यताओं एवं सामाजिक परम्पराओं की स्थापना करना था। छठी शताब्दी ई॰ पू॰ तक वैदिक धर्म की मान्यताएं विकृत रूप ले चुकी थीं। उस काल में वैदिक धर्म से जनसाधारण त्रस्त था। जनसाधारण को धार्मिक ढोंग, पाखण्ड और अन्धविश्वास से उबारने के उद्देश्य से भारत के दो अभिजात कुलीय क्षत्रिय राजकुमारों ने गृहत्याग किया। उन्होंने सत्य एवं ज्ञान के दर्शन कर समाज को नवीन गति और दिशा प्रदान की। ये क्षत्रिय राजकुमार थे—महावीर (जिनका उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है) और गौतम बुद्ध। गौतम बुद्ध को बौद्धधर्म का प्रवर्तक और संस्थापक कहा जाता है।

गौतम बुद्ध
(563 ई॰ पू॰-483 ई॰ पू॰)

गौतम बुद्ध की जन्म तिथि—बौद्ध धर्म के प्रवर्तक और संस्थापक गौतम-बुद्ध की जन्म तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। डॉ॰ मजूमदार और

डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी के मतानुसार महात्मा बुद्ध का जन्म 5·6 ई० पू० में हुआ था। सी० वी० जोशी और राधाकुमुद मुकर्जी बुद्ध की जन्म तिथि 623 ई० पू० निर्धारित करते हैं। सिंहली परंपरा के अनुसार उनकी मृत्यु 544 ई० पू० में हुई थी। बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि गौतम बुद्ध 80 वर्ष जीवित रहे थे। इस आधार पर उनकी मृत्यु तिथि (544 ई० पू० + 80 वर्ष) 624 ई० पू० ज्ञात होती है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने बुद्ध की जन्म तिथि 563 ई० पू० बताई है। सिद्धार्थ की जन्म तिथि के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद के कारण उनकी जन्मतिथि निर्धारित करना एक विवादास्पद प्रश्न है। किन्तु पुरातात्त्विक-सामग्री के आधार पर डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने बुद्ध की जन्म तिथि 563 ई० पू० बताई है। अधिकांश विद्वान बुद्ध की जन्म तिथि 563 ई० पू० को ही अधिक प्रामाणिक मानते हैं।

प्रारम्भिक जीवन—गौतम बुद्ध का वचपन का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का जन्म नेपाल की तराई में स्थित शाक्य गणराज्य के प्रधान क्षत्रिय राजा शुद्धोदन के गृह में हुआ था। कपिलवस्तु शाक्य गणराज्य की राजधानी थी। सिद्धार्थ की माता कोलिय गणराज्य की राजकुमारी थी। एक दिन जब मायादेवी अपने मायके देवदह जा रही थीं, तो मार्ग में ही कपिलवस्तु से चौदह मील दूर नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी नामक वन में उसकी कोख से सिद्धार्थ का जन्म हुआ। किन्तु प्रसव-पीड़ा के कारण केवल सात दिन पश्चात् कपिलवस्तु में सिद्धार्थ की माता मायादेवी का देहावसान हो गया। अतः सात दिवसीय इस नवजात शिशु का पालन-पोषण सिद्धार्थ की विमाता प्रजापति गौतमी ने किया।

वौद्ध धर्म ग्रंथों में महात्मा बुद्ध के जन्म, बाल्यकाल और जीवन से संबंधित अनेक आश्चर्यजनक घटनाओं का उल्लेख मिलता है। उनमें यह उल्लेख मिलता है कि बालक सिद्धार्थ के जन्म के कुछ समय बाद असित नामक एक वृद्ध ऋषि ने उन्हें देखकर यह भविष्यवाणी की कि यह बालक एक नवीन धर्म स्थापित करेगा और लाखों मनुष्यों को मुक्ति दिलाएगा। परंतु वे यह सोचकर रोने लगे कि उस समय तक वे स्वयं जीवित नहीं रह पायेंगे। सिद्धार्थ के जन्म के समय कालदेवल नामक तपस्वी तथा कौंडिन्य नामक ब्राह्मण ने यह भविष्यवाणी की थी—"ऐसे लक्षणों वाला यदि गृही हो, तो चक्रवर्ती सम्राट होगा और यदि प्रव्रजित हुआ, तो बुद्ध होगा।"

बाल्यकाल से ही राजकुमार सिद्धार्थ को पुस्तकीय शिक्षा के साथ-साथ सामरिक शिक्षा भी दी जाने लगी। प्रखर बुद्धि का मेधावी बालक सिद्धार्थ अल्प अवधि में ही धनुर्विद्या, मल्लविद्या और घुड़सवारी में प्रवीण हो गया। वचपन से ही सिद्धार्थ सहृदय, संवेदनशील, दयालु, चिंतनशील और कोमल स्वभाव के थे। वे वहुधा गृह से दूर वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यानमग्न अवस्था में चिंतन करते थे। अपने युवा पुत्र को सांसारिक विषयों से विरक्त और उसकी चिंतन प्रवृत्ति को देखकर शुद्धोदन ने मात्र सोलह वर्ष की अल्पायु में सिद्धार्थ का विवाह कोलिय-गणराज्य की अत्यन्त सुन्दर राजकुमारी यशोधरा (गोपा) से संपन्न कर दिया। शुद्धोदन ने सिद्धार्थ

के लिए तीन ऋतुओं के अनुरूप पृथक्-पृथक् प्रासाद निर्मित करवाए ताकि उन्हें (सिद्धार्थ को) किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न हो। सिद्धार्थ को गृहस्थ जीवन की ओर प्रेरित करने के लिए शुद्धोदन ने नवविवाहित दंपती के भवन को भोग-विलास और आनन्द की सर्वोत्कृष्ट सामग्री एवं साधनों से परिपूर्ण कर दिया। परन्तु यशोधरा का मोहक सौंदर्य और राजप्रासाद का वैभव सिद्धार्थ के चिंतनशील और वैराग्यमयी प्रवृत्ति पर कोई प्रभाव न डाल सके।

29 वर्ष की आयु में जब एक दिन राजकुमार सिद्धार्थ नगर भ्रमण हेतु निकले थे, तो उन्हें क्रमशः एक रोगी, एक वृद्ध, एक शव और एक साधु के दर्शन हुए। रथवान से पूछने पर उन्हें विदित हुआ कि रोग, वृद्धावस्था, दुःख और मृत्यु सभी जीवों के सामान्य अनुभव हैं तथा केवल साधु जीवन से ही उनसे छुटकारा पाया जा सकता है। इस घटना के बाद सिद्धार्थ और अधिक चिंतनशील हो गए। वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु उन्हें मनुष्य के सबसे भयंकर शत्रु प्रतीत हुए। अतः उन्होंने यह निश्चय किया कि उन्हें मानव को इन अनिवार्य दुःखों से निवृत्ति दिलाने का कोई मार्ग ढूँढना चाहिए।

गृहत्याग—अपने निश्चयानुसार सिद्धार्थ ने सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाने के लिए गृहत्याग कर संन्यस्त जीवन धारण करने का संकल्प किया। इसी समय उन्हें एक पुत्र प्राप्त हुआ जिस पर अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए सिद्धार्थ ने कहा—'राहु जातो बंधनं जातं' अर्थात् राहु उत्पन्न हुआ, बंधन उत्पन्न हुआ। इसीलिए नवजात शिशु का नाम राहुल रक्खा गया। 29 वर्ष की अवस्था में निद्रामग्न पत्नी यशोधरा और नवजात पुत्र राहुल को प्रासाद में अन्तिम बार निहार कर वे प्रव्रजित हो गए। उन्होंने अपने घोड़े कंथक पर सवार होकर सारथी छन्दक के साथ गृहत्याग किया। उनके द्वारा गृहत्याग किए जाने की इस घटना को बौद्ध साहित्य में 'महाभिनिष्क्रमण' का नाम दिया गया है। अपने पैतृक राज्य की सीमा से बाहर अनोमा नदी को पार कर सिद्धार्थ ने अपने सारथी को घोड़े सहित वापस भिजवा दिया। तत्पश्चात् अपनी तलवार से राजसी बाल काट डाले और अपने राजसी वस्त्र एवं आभूषण एक भिखारी को देकर संन्यासी का रूप धारण कर लिया।

राज्याधिकारी युवा सिद्धार्थ द्वारा परिवारजनों को छोड़कर गृहत्याग करने की घटना उनके माता-पिता के लिए अत्यन्त दुःखपूर्ण स्थिति थी। इस स्थिति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण स्वयं सिद्धार्थ ने अपने इस कथन में किया है—"हे भिक्षुओ! यद्यपि मैं उस समय पूर्ण युवक था, मेरे माता-पिता संन्यास लेने की आज्ञा नहीं दे रहे थे तथापि मैंने उन्हें रोते-कलपते छोड़ कर कषाय वस्त्र धारण करके, बाल और दाढ़ी-मूंछ मुंड़वा कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।"

तापस जीवन और बुद्धत्व की प्राप्ति—गृहत्याग करने के उपरांत सिद्धार्थ अनेक विद्वानों और गृहत्यागी भिक्षुओं के निकट संपर्क में आये। मगध की राजधानी पहुँचकर उन्होंने तत्कालीन विद्वान् आलार कालाम से दर्शन सिद्धांतों का

अध्ययन किया। आलार कालाम के धार्मिक सिद्धांतों से जब वे संतुष्ट नहीं हुए तो सिद्धार्थ ने रामपुत्त नामक आचार्य से, जो 'नैव संज्ञा नासंज्ञायतन' नामक योग की शिक्षा देते थे, भेंट की। किन्तु जब सिद्धार्थ की ज्ञान पिपासा उनके उपदेशों से शान्त नहीं हुई, तो वे आधुनिक बोध गया के समीप निरंजना नदी के तट पर उरुवेला के सघन वन में अपने पाँच सहयोगियों के साथ तप हेतु प्रविष्ट हुए। निरन्तर छः वर्ष तक तप करने के कारण सिद्धार्थ का शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया था। स्वयं सिद्धार्थ के शब्दों में—"जब मैं अपने पेट पर हाथ रखता था तो अंतड़ियां हाथ पर आ जाती थीं और जब मैं अपनी पीठ पर हाथ रखता था, तो रीढ़ की हड्डी हाथ पर आ जाती थी। जब मैं अपने बदन पर हाथ फेरता था तो मेरे सारे रोएं गिरने लगते थे।" इस जीर्णावस्था में उन्हें एक बार मूर्च्छा भी आ गई थी। कहा जाता है कि जब महात्मा बुद्ध उरुवेला के सघन वन में ध्यानमग्न थे, तो उरुवेला की नर्तकियाँ उधर से नृत्य करती हुई और यह गाती हुई निकलीं कि 'वीणा के तारों को अधिक ढीला न करो, नहीं तो वे न बजेंगे। वीणा के तारों को अधिक न खींचो, नहीं तो वे टूट जायेंगे।" तत्पश्चात् सिद्धार्थ ने महसूस किया कि शरीर को यातना देना अच्छा नहीं है। उन्होंने तप छोड़कर पीपल के वृक्ष की पूजा हेतु सुजाता नामक स्त्री द्वारा लाया गया भोजन ग्रहण कर लिया। उनके द्वारा भोजन ग्रहण करने के कारण पाँचों ब्राह्मण तपस्वी सिद्धार्थ को तपभ्रष्ट और भोगवादी समझ कर सारनाथ चले गये।

सिद्धार्थ ने ज्ञान की खोज हेतु उरुवेला में पीपल के वृक्ष के नीचे आसन लगाया। वैशाख पूर्णिमा की रात्रि के समय सहसा उन्हें सत्य के दर्शन हुए। बौद्ध साहित्य में यह घटना 'सम्बोधि' (उचित ज्ञान की प्राप्ति) के नाम से जानी जाती है। इस प्रकार 35 वर्ष की आयु में सिद्धार्थ को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई और वे बुद्ध कहलाए। बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने निश्चय किया कि वे इस ज्ञान को अपने तक ही सीमित रखेंगे। किन्तु बाद में उन्होंने यह निर्णय लिया कि वे अपने ज्ञान के आलोक से जनसाधारण को आलोकित करेंगे तथा मानव को दुःखों से छुटकारा दिलाने का प्रयास करेंगे।

धर्मचक्र-प्रवर्तन—बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने सर्वप्रथम आषाढ़ पूर्णिमा के दिन अपने ज्ञान का उपदेश सारनाथ में अपने उन पांच साथियों को दिया जो उरुवेला के तपोवन में बुद्ध को तपोभ्रष्ट मानकर सारनाथ चले गये थे। बुद्ध के उपदेश से प्रभावित होकर ये पाँचों साथी बुद्ध के अनुयायी बन गए। बुद्ध द्वारा सारनाथ में पहली बार उपदेश देने की इस घटना को बौद्ध साहित्य में 'धर्मचक्र प्रवर्त्तन' कहा जाता है। तत्पश्चात् बुद्ध ने वाराणसी जाकर, धर्मोपदेश दिया।

बौद्ध धर्म का स्वरूप—बुद्ध ने अपने धर्म के स्वरूप को अत्यन्त सरलता प्रदान की। उन्होंने अपने धर्म का प्रचार जनसाधारण की भाषा पाली में किया। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"उसने (बुद्ध ने) अपना संदेश जनता से उसकी नित्य की बोली में कहा और अपने उपदेशों की शालीनता, करुणा, आचारजन्य गौरव तथा गहरी संवेदना से उसने अपने श्रोताओं के चित्त हर लिए। राजा और रंक सबने उसे

अपना अनुराग दिया और अल्पकाल में ही उसके अनुयायियों का एक शक्तिमान संघ संगठित हो गया।" सभी वर्णों के लोग बिना किसी भेदभाव के बौद्ध धर्म को ग्रहण कर सकते थे। अपनी सरलता और सहिष्णुता के कारण बौद्ध धर्म शीघ्र ही विश्व के अनेक देशों में फैल गया। ई० जे० थामस का कथन है—"यद्यपि भारत से बौद्ध धर्म का लोप हो चुका है, पूर्व में और सुदूर पूर्व में फिर भी उसकी शक्ति असाधारण है। आज भी वह अनेक रूप से असंख्य प्राणियों को शान्ति प्रदान करता है।"

धर्म-प्रचार—बौद्ध साहित्य में महात्मा बुद्ध द्वारा संपन्न धर्म-यात्राओं का रोचक वर्णन मिलता है। बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् महात्मा बुद्ध ने सर्वप्रथम सारनाथ में धर्मोपदेश दिया। तदुपरांत बुद्ध ने वाराणसी जाकर अपने धर्म का प्रचार किया। वाराणसी में बुद्ध के धार्मिक उपदेशों से प्रभावित होकर यश नामक धन सम्पन्न व्यक्ति सपरिवार उनका शिष्य बन गया। वहाँ उनके शिष्यों की संख्या साठ पहुँच जाने पर बुद्ध ने धर्म-प्रचार हेतु एक संघ निर्मित किया। उन्होंने अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया—"भिक्षुओ, बहुजन-हितार्थ, बहुजन-सुखार्थ, लोक पर अनुकंपा करने के लिए, लोगों के हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो, एक साथ दो मत जाओ। हे भिक्षुओ ! आदि में कल्याण कर, मध्य में कल्याण कर, अन्त में कल्याण कर, इस धर्म का उपदेश करो।"

वाराणसी में अपने धर्म का प्रचार कर महात्मा बुद्ध ब्राह्मण साधुओं के केन्द्र उरुवेला पहुँचे। वहाँ कश्यप नामक प्रसिद्ध विद्वान् अपने अनेक शिष्यों सहित बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। तत्पश्चात् बुद्ध मगध की राजधानी राजगृह पहुँचे जहाँ मगध-नरेश बिंबिसार ने उनका हार्दिक अभिनन्दन किया। बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक लोग उनके शिष्य बन गए जिनमें सारिपुत्त और मोग्गलान के नाम उल्लेखनीय हैं।

अनेक स्थानों पर बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए महात्मा बुद्ध अपनी जन्म भूमि कपिलवस्तु पहुँचे। वहाँ उनके पिता शुद्धोदन, विमाता प्रजापति गौतमी, पत्नी यशोधरा, भाई नन्द, पुत्र राहुल तथा अन्य लोग उनके अनुयायी बन गए। कपिलवस्तु से राजगृह जाते हुए अनुपिय नामक स्थान पर बुद्ध ने शाक्य राजा भद्रिय को उसके सहयोगियों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। इनमें अनुरुद्ध, आनन्द, उपालि, देवदत्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

महात्मा बुद्ध ने वर्षा ऋतु के अतिरिक्त अन्य समय में अपनी धर्म-यात्रा जारी रखी। उन्होंने अंग, वैशाली, काशी, मल्ल, कोशल, कोलिय, कौशांबी आदि राज्यों में धर्म-प्रचार किया। कौशांबी नरेश उदयन की रानी सामावती और कोशल नरेश प्रसेनजित ने सपरिवार बौद्धधर्म अंगीकार कर लिया।

प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध ने संघ में स्त्रियों को प्रवेश नहीं दिया। शुद्धोदन की मृत्यु में शोकाकुल विमाता महाप्रजापति गौतमी ने जब बुद्ध से संघ में प्रवेश करने की आज्ञा मांगी तो उन्होंने उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। किन्तु बाद में शिष्य आनन्द के काफी अनुरोध के बाद बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी को भिक्षुणी

होने की आज्ञा दे दी । तत्पश्चात् बुद्ध की पत्नी यशोधरा ने भी बौद्ध संघ में प्रवेश किया । स्त्रियों के लिए अलग संघ की व्यवस्था की गई ।

बुद्ध की महापरिनिर्वाण-तिथि—35 वर्ष की अवस्था में ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने मृत्यु पर्यन्त अपने धार्मिक उपदेशों का प्रचार किया । निरन्तर यात्राओं के कारण उनका शरीर शिथिल पड़ गया था । बुद्ध को अपनी मृत्यु का आभास हो चुका था । उन्होंने अपनी मृत्यु से तीन माह पूर्व कहा था कि आज से तीन माह के बाद तथागत परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे । बुद्ध को मृत्यु के समीप जाते हुए देखकर जब उनके शिष्यों में उदासीनता छाई हुई थी तो उस अवसर पर बुद्ध ने उन्हें यह उपदेश दिया कि भिक्षुओ ! चिन्ता मत करो । संसार में जो आया है उसका अन्त स्वाभाविक है । तुम्हें कुछ नवीन नहीं करना है । जो सिद्धांत मैंने तुम्हें बताए हैं, वही तुम्हारे आचार्य होंगे । तुम बिना रुके अपने मोक्ष के लिए प्रयत्न करते जाओ ।

बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् अपने जीवन के शेष 45 वर्षों में बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार कर मानव जाति को दुःखों से उबारने का प्रयास किया । अस्सी वर्ष की अवस्था में कुशीनगर (गोरखपुर जिले में आधुनिक कसिया) में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया । यह घटना बौद्ध साहित्य में महापरिनिर्वाण कहलाती है ।

बुद्ध की मृत्यु के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि पावा के चुण्ड नामक लुहार ने उन्हें तथा उनके शिष्यों को भोजन के लिए आमंत्रित किया । चुण्ड ने उन्हें भोजन में सूअर का मांस भी दिया जिसके सेवन से बुद्ध को अतिसार रोग हो गया । कुशी-नगर पहुँचकर सालवृक्ष के नीचे उन्होंने अपना बिछौना बिछाया और वहीं पर वैशाख पूर्णिमा के दिन उनका देहावसान हो गया । उनकी अस्थियों और राख को तत्कालीन विभिन्न गणराज्यों और उनके शिष्यों ने परस्पर बाँटकर उन पर बुद्ध की स्मृति में स्तूप निर्मित करवाए ।

बुद्ध की जन्मतिथि की भाँति उनकी निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं । 563 ई० पू० को उनकी जन्मतिथि मानने वाले विद्वान् उनकी निर्वाण तिथि 483 ई० पू० मानते हैं । उनकी जन्मतिथि को 623 ई० पू० बताने वाले विद्वान् उनकी मृत्यु तिथि 543 ई० पू० मानते हैं । बुद्ध की निर्वाण तिथि 483 ई० पू० को अधिक प्रामाणिक माना जाता है ।

महात्मा बुद्ध के सिद्धांत

महात्मा बुद्ध ने अत्यन्त सरल और व्यावहारिक धर्म का स्वरूप प्रस्तुत किया, उनके उपदेश सर्वथा सरल और प्रायोगिक थे । उनके अनुसार संसार में सब कुछ अनित्य और क्षणभंगुर है । उनका कथन था—"सभी भौतिक वस्तुएँ नाशवान हैं । अपने परिश्रम से अपने निर्वाण का मार्ग प्रशस्त करो ।" उन्होंने कहा था—"मनुष्य को चाहिए कि वह क्रोध पर प्रेम से, बुराई पर भलाई से, लोभ पर उदारता से और झूठ पर सच्चाई से विजय प्राप्त करें ।" उनके अनुसार इहलोक और परलोक में धर्म ही मनुष्य को श्रेष्ठ बनाता है । वही निर्वाण का साधन है । उन्होंने मोक्ष

प्राप्ति का साधन मध्यम मार्ग बतलाया अर्थात् न अत्यधिक तपस्या और न अधिक भोग-विलास में लिप्त रहना। इस मध्य मार्ग से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा बुद्ध का विश्वास था। मोक्ष प्राप्ति हेतु महात्मा बुद्ध ने चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग और दस निषेधों पर विशेष बल दिया।

1. **चार आर्य सत्य**—बुद्ध के सिद्धांत चार आर्य सत्यों पर आधारित हैं जिन्हें 'चत्वारि आर्य सत्यानि' कहा जाता है। चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं—दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निरोध है और दुःख के निरोध का मार्ग है।

(अ) **दुःख**—बुद्ध के अनुसार सारा संसार दुःखमय है। जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, रुदन, अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि दुःख हैं। संसार में कोई भी प्राणी दुःखों से मुक्त नहीं है।

(आ) **दुःख का कारण**—महात्मा बुद्ध ने सारे दुःखों का कारण तृष्णा बताया है। मानव जीवन पर्यन्त तृष्णा से घिरा रहता है। इनमें काम तृष्णा, भाव तृष्णा और विभव तृष्णा प्रमुख हैं। रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श, मानसिक वितर्क और विचारों से मानव सांसारिक आसक्ति की ओर अग्रसर होता है। इसी आसक्ति से तृष्णा का जन्म होता है। तृष्णा के कारण मानव में गर्व, मोह, ममता, राग-द्वेष, कलह आदि बुराइयाँ आ जाती हैं। तृष्णाओं का अन्त किए बिना दुःखों से मुक्ति पाना असंभव है।

(इ) **दुःख-निरोध**—तृष्णाओं की समाप्ति के पश्चात् दुःख स्वतः समाप्त हो जाते हैं। तृष्णा अथवा वासना का नाश कर देने से जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है। तृष्णा का अन्त करने को दुःख-निरोध कहते हैं।

(ई) **दुःख-निरोध का मार्ग**—बुद्ध ने तृष्णा के नाश हेतु अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण आवश्यक बताया है। यह मध्यम मार्ग कहलाता है, अर्थात् न अत्यधिक काया क्लेश और तपस्या तथा न अधिक भोग-विलास में लिप्त रहना।

2. **अष्टांगिक मार्ग**—अष्टांगिक मार्ग मनुष्य को न अधिक कठोर और न अधिक भोग-विलास के जीवन पर चलने की प्रेरणा देता है। इसे मध्यम मार्ग कहा गया है। यह दोनों अतियों के मध्य का मार्ग है।

बुद्ध के अनुसार समस्त मानव दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। तृष्णा का नाश अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने से ही संभव है। अष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत आठ सत्य हैं—सम्यक् दृष्टि (इससे मनुष्य सत्य-असत्य, सदाचार-दुराचार और पाप-पुण्य में भेद समझ लेता है), सम्यक् संकल्प (हिंसा और कामना से रहित संकल्प), सम्यक् वाक् (विनम्रता, मधुरता और सत्य से पूर्ण वाणी), सम्यक् कर्म (सत्कर्म), सम्यक् आजीव (जीवन यापन की विशुद्ध प्रणाली), सम्यक् व्यायाम (धर्म और ज्ञान के साथ प्रयत्न), सम्यक् स्मृति (धर्म के प्रति सावधान एवं जागरूक रहना) और सम्यक् समाधि (चित्त की एकाग्रता)।

3. **दस निषेध**—महात्मा बुद्ध का कथन था कि भिक्षुओं को निर्वाण हेतु प्रयत्न करना चाहिए। उन्होंने मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्रता पर विशेष बल दिया। इस हेतु बुद्ध ने दस निषेध निर्धारित किए—पर द्रव्य का लोभ न करना, हिंसा न करना, मद्यपान न करना, मिथ्या भाषण न करना, व्यभिचार न करना, संगीत और नृत्य में भाग न लेना, अंजन, फूल और सुवासित पुष्पों का प्रयोग न करना, अकाल भोजन न करना, सुखप्रद शय्या का उपयोग न करना और द्रव्य ग्रहण न करना। इन दस निषेधों में से प्रथम पाँच निषेध बौद्ध धर्म के गृहस्थ उपासकों के लिए तथा भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए उपरोक्त दसों निषधों का पालन करना अनिवार्य था।

4. **कर्मवाद**—बौद्धधर्म में कर्म को प्रधानता दी गई है। बुद्ध के अनुसार दुःख-सुख, बन्धन, मुक्ति आदि का कारण कर्म है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसे अपने कर्मों के अनुसार फल भोगना पड़ता है और सत्कर्म करने से ही निर्वाण की प्राप्ति संभव है। निर्वाण प्राप्त कर लेने से आवागमन के चक्कर से मुक्ति मिल जाती है।

5. **अनीश्वरवाद**—बौद्ध धर्म कर्म प्रधान होने के कारण वह ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। महात्मा बुद्ध आत्मा-परमात्मा के झगड़ों में कभी नहीं पड़े। कर्मवादी होने के कारण उन्होंने मानव की उन्नति और कल्याण हेतु ईश्वर विषयक प्रश्नों को महत्वहीन कहा है।

6. **अनात्मवाद**—महात्मा बुद्ध आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। उनके अनुसार संपूर्ण जगत नश्वर है। वे मानव और प्राणियों को आत्मा रहित मानते थे। वे मनुष्य के व्यक्तित्व और शरीर को कई संस्कारों का योग मानते थे। वे आत्मवाद और अनात्मवाद के विवाद में कभी नहीं पड़े।

7. **क्षणिकवाद**—बुद्ध के अनुसार कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। विश्व में सब कुछ क्षणिक है। प्रत्येक वस्तु में क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है।

8. **प्रयोजनवाद**—बुद्ध का उद्देश्य व्यर्थ के दार्शनिक वाद-विवाद में न पड़कर मानव समाज के कल्याण हेतु प्रयत्न करना था। मानव की उन्नति और मोक्ष प्राप्ति हेतु उन्होंने कर्म को प्रधानता दी है। अतः वे ईश्वर और आत्मा से संबंधित वाद-विवाद से सदैव परे रहे।

9. **पुनर्जन्म**—मानव का जन्म उसके कर्मों के फलों पर निर्भर रहता है। कर्म के आधार पर ही वह अच्छा अथवा बुरा जन्म पाता है। जिस प्रकार जल-प्रवाह में बिना किसी व्यवधान के एक के बाद दूसरी लहर आती है, उसी प्रकार एक जन्म की समाप्ति के बाद दूसरा जन्म होता है। निर्वाण प्राप्ति से पूर्व यह क्रम बना रहता है।

10. **अहिंसा**—महात्मा बुद्ध ने अहिंसा के सिद्धांत को महत्त्व दिया है। किंतु उनका अहिंसा का सिद्धांत जैन धर्म की भाँति अव्यावहारिक न होकर व्यावहारिकता पर आधारित है। बुद्ध ने प्राणि मात्र के प्रति अहिंसा, दया और प्रेम का उपदेश

दिया है। अहिंसा-प्रेमी होने पर भी उन्होंने कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में बौद्ध भिक्षुओं को सामिष भोजन करने की आज्ञा दी थी। मृत्यु से पूर्व बुद्ध ने लोहार के घर में सामिष भोजन ग्रहण किया था।

11. **निर्वाण**—बौद्धधर्म का प्रधान उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण का तात्पर्य है परम ज्ञान की प्राप्ति और आवागमन के चक्कर से मुक्ति प्राप्त करना। अन्य धर्मों के अनुसार निर्वाण मृत्यु के बाद प्राप्त होता है, किंतु बौद्ध धर्म के अनुसार अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने पर निर्वाण इसी जीवन में संभव है। महात्मा बुद्ध ने 80 वर्ष की आयु में कुशीनगर में निर्वाण प्राप्त किया था।

12. **विचार-स्वातंत्र्य**—महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि वे सत्य और असत्य को स्वयं पहचानें। उन्होंने अपने उपदेश को यों ही स्वीकार करने को नहीं कहा, बल्कि उसे तर्क की कसौटी पर खरा उतरने पर ही स्वीकार करने को कहा।

वैदिक धर्म में व्याप्त बुराइयों का विरोध—वैदिक धर्म में अनेक बुराइयाँ आ जाने पर ही बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ था। महात्मा बुद्ध ने वैदिक धर्म में व्याप्त कर्मकांड की जटिलता, अंधविश्वास और हिंसक यज्ञों की प्रधानता तथा जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का घोर विरोध किया। उन्होंने समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व और स्त्रियों की स्वतंत्रता पर लगे प्रतिबंधों का विरोध किया। उन्होंने स्वयं एक सरल, तार्किक और व्यावहारिक धर्म का प्रतिपादन किया जिस पर बिना किसी भेदभाव के सभी जाति के लोग आचरण कर सकते थे।

महात्मा बुद्ध का मूल्यांकन

संपूर्ण अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समस्त सुख और वैभव का परित्याग कर राजकुमार सिद्धार्थ का हृदय प्राणिमात्र की सेवा के लिए द्रवित हो उठा। 29 वर्ष की आयु में उन्होंने गृह त्याग किया और 35 वर्ष की अवस्था में उन्हें सत्य के दर्शन हुए। बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने चारों ओर भ्रमण कर अपने धर्म का प्रचार किया। उनके उपदेशों से प्रभावित वैदिक धर्म के कट्टर अनुयायी भी बुद्ध के शिष्य बन गए थे। महात्मा बुद्ध के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए विल ड्यूरेंट ने लिखा है—"महात्मा बुद्ध निर्णय का धनी, अधिकारपूर्ण, स्वाभिमानी, किंतु व्यवहार और भाषण में सुशील, विनम्र, सौम्य तथा अत्यन्त दयाशील था। उसने ज्ञान-प्राप्ति का दावा किया था। उसने कभी यह नहीं कहा कि कोई देवता उसके अन्दर से बोल रहा है। वाद-विवाद में वह सदैव शांत रहने वाला और दूसरों की भावनाओं को ठेस न पहुँचाने वाला व्यक्ति था। संभवतः मानव जाति के अन्य शिक्षकों में ये विशेषताएं इतनी मात्रा में न रही होंगी।"[1]

---

1. "Buddha was a man of strong will, authoritative and proud but of gentle manner and speech, and of infinite benevolence. He claimed enlightenment but not inspiration; he never pretended that a God was speaking through him. In controversy, he was more patient and considerate than any other of the great teachers of mankind."
—*Will Durant*

महात्मा बुद्ध एक महान् व्यक्ति थे। उन्होंने समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का भरसक यत्न किया। उन्होंने वैदिक धर्म में प्रचलित दोषों पर कुठाराघात किया। उन्होंने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक बौद्ध धर्म का प्रचार किया। बुद्ध के शिष्यों ने उन्हें इस प्रकार श्रद्धांजलि अर्पित की है—"उसने डंडे और तलवार को एक ओर रख दिया। रूखापन तो उसके पास कभी फटक तक न पाया था। लांछन और कलंक तथा दूसरों पर कीचड़ उछालने के स्थान पर उसने जीवमात्र को अपनी कृपा का पात्र बनाया। उसने अपने आपको आक्षेप और निंदा से कोसों दूर रखा। वह बिछुड़े हुओं को मिलाने वाला और मिले हुओं को पुष्टि प्रदान करने वाला व्यक्ति था। इसके अतिरिक्त वह शांति-स्थापक, शांति-प्रिय, शांति के लिए उत्तेजित और शांति-भाषक था।" ओल्डनबर्ग के शब्दों में—"जब बुद्ध अत्यधिक प्रसिद्ध हो गये और उनका नाम देश के बड़े-बड़े व्यक्तियों में गिना जाने लगा तब वह बुद्ध, जिसके सम्मुख बड़े-बड़े सम्राट नतमस्तक होते थे, एक भिक्षा-पात्र लेकर भ्रमण करने को निकल पड़ा। वह छोटी और तंग गलियों में जाता और बिना याचना के नत दृष्टि से किसी द्वार के समीप खड़ा रहता और तब तक खड़ा रहता जब तक मुट्ठी-भर भोजन उसके भिक्षा-पात्र में न डाल दिया जाता।" महात्मा बुद्ध का कथन था—"जो व्यक्ति निंदा का बदला निंदा में नहीं लेता, समझो कि उसने दोहरी विजय प्राप्त कर ली है। वह निंदा, जिसका उत्तर नहीं दिया जाता, उस भोजन के समान है, जिसे अतिथि ने ग्रहण करने से इन्कार कर दिया है और वह भोजन उसी के पास रहेगा जिसने वह दिया है।" बुद्ध तर्क के धनी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने उपदेशों को तर्क की कसौटी पर खरा उतरने के बाद ही ग्रहण करने की शिक्षा दी। वे कर्म पर विश्वास करते थे।

महात्मा बुद्ध ने नवीन धर्म का प्रतिपादन किया अथवा पुरातन वैदिक धर्म में व्याप्त श्रेष्ठ नैतिकता और सद्गुणों पर ही जोर दिया, इस सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म के मूल सिद्धांतों में विभेद होने के कारण वह वैदिक धर्म से भिन्न है। वैदिक धर्म ईश्वर के अस्तित्व और ब्रह्म की सत्ता में विश्वास करता है तथा मनुष्य के भाग्य को ईश्वर की अनुकंपा पर निर्भर मानता है। किन्तु बौद्ध धर्म न तो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करता है और न ही ब्रह्म की सत्ता में आस्था रखता है। वह मनुष्य का भाग्य दैव इच्छा पर निर्भर न मानकर कर्म पर आधारित मानता है। डॉ० ए० एल० बाशम ने बौद्ध धर्म को वैदिक धर्म से भिन्न बताते हुए लिखा है—"बुद्ध के जीवन-काल में उसकी स्थिति कुछ भी रही हो, परन्तु 200 वर्ष के पश्चात् बौद्धधर्म एक पृथक् धर्म था।"[1]

किंतु अधिकांश विद्वान् बौद्ध धर्म को वैदिक धर्म से भिन्न न मानकर उसे वैदिक धर्म का एक अंग मानते हैं। इस संदर्भ में डॉ० राधाकृष्णन् का यह कथन

---

1. "Whatever its position in the Buddha's lifetime, 200 years later Buddhism was a distinct religion." —*Dr. A. L. Basham*

उल्लेखनीय है—"महात्मा बुद्ध ने यह कभी महसूस नहीं किया कि वे किसी नए धर्म की स्थापना कर रहे हैं। वे हिंदू धर्म में उत्पन्न हुए तथा मरे। उन्होंने केवल आर्य-सभ्यता के प्राचीन आदर्शों पर अधिक बल देकर उनका वर्णन किया।" डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है—"जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों की पृष्ठभूमि आर्य-संस्कृति की है। वे दोनों ही उपनिषदों के तत्त्वज्ञान से स्फूर्ति प्राप्त करते हैं, चाहे वह थोड़ी हो या अधिक। तीनों में थोड़ा-सा निराशावादी विश्वास पाया जाता है कि यह संसार दुःखपूर्ण है जिसका वैदिक काल में आशाजनक दृष्टिकोण में कोई चिन्ह नहीं पाया जाता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी उपनिषदों और गीता में पाया जाता है तथा तीनों धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।"[1] कर्न महोदय का मत है कि बुद्ध ने जिन नैतिक और सद्गुणों का प्रचार किया वे सर्वथा नवीन न होकर पहले से ही समाज में विद्यमान थे। उनका कथन है कि बुद्ध ने निरन्तर प्राचीन ऋषियों की नैतिकता और सद्गुणों को दोहराया। डॉ० राधाकृष्णन् ने बुद्ध को नवीन धर्म का संस्थापक न मानकर हिंदूधर्म में सुधार करने वाला तथा आधुनिक हिंदूधर्म का निर्माता कहा है।

बुद्ध एक तर्कपूर्ण और अंधविश्वासों से मुक्त धर्म के प्रवर्तक तथा महान् समाज-सुधारक थे। उन्होंने एक अत्यन्त सरल, सुबोध और व्यावहारिक धर्म का स्वरूप जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"उनकी (बुद्ध की) सबसे क्रांतिकारी घोषणा यह थी कि उनके संदेश सबके लिए थे। नर और नारी, युवा और वृद्ध, श्रीमान और कंगाल सभी समान रूप से उन पर आचरण कर सकते हैं।" उन्होंने मोक्ष प्राप्ति का साधन मध्यम मार्ग बतलाया। अपनी सरलता, सुबोधता, सहिष्णुता और व्यावहारिकता के कारण बौद्धधर्म न केवल भारतवर्ष वरन् विश्व के अनेक देशों में फैल गया।

बौद्धधर्म का उत्थान और पतन

छठी शताब्दी ई० पू० तक वैदिक धर्म में अनेक बुराइयाँ आ जाने के कारण जनसाधारण एक नवीन सरल, तार्किक और व्यावहारिक धर्म की आवश्यकता महसूस कर रहा था। राजकुमार सिद्धार्थ ने गृह त्याग करने के उपरांत छह वर्ष तक असीम यातनाएं झेलते हुए सत्य और ज्ञान के दर्शन किए। तत्पश्चात् उन्होंने अपना संपूर्ण

1. "Both Jainism and Buddhism possess a common background of Aryan culture and are inspired by the ascetic ideals and philosophy of the Upanishadas, though in varying degrees. All three share a kind of pessimism, a conviction that human life is full of misery, no trace of which is found in the optimistic attitude of the Vedic Aryans. The doctrine of transmigration unknown to the early Brahamanas, suddenly emerges in the Upanishadas and forms an essential element in these three systems,"

—*Dr. R. C. Majumdar*

जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार में समर्पित कर दिया। उनके महान् व्यक्तित्व के प्रभाव स्वरूप तथा उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म का स्वरूप व्यावहारिक होने के कारण वह (बौद्धधर्म) शीघ्र ही न केवल भारतवर्ष, बल्कि विश्व के अनेक देशों में भी द्रुतगति से फैल गया। श्रीलंका, मध्य एशिया, कोरिया, चीन, जापान, मलाया, ईरान, ईराक, मिस्र, जावा, सुमात्रा, बोर्नियों, बर्मा आदि देश बौद्धधर्म के प्रसार केन्द्र रहे हैं। इस प्रकार गंगा नदी की घाटी के धर्म ने विश्व धर्म का स्वरूप धारण कर लिया। वर्तमान समय में विश्व के धार्मिक अनुयाइयों की संख्या में बौद्ध धर्म को दूसरा स्थान प्राप्त है। बौद्ध धर्म के उत्थान के लिए मुख्यतया निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे—

1. **वैदिक धर्म का विकृत रूप**—पूर्व वैदिककालीन सरल और व्यावहारिक धर्म में छठी शताब्दी ई० पू० तक जटिलता आ गई थी। उसमें रक्तिम और खर्चीले यज्ञों, वर्ण-व्यवस्था की कठोरता, कर्मकाण्ड की जटिलता, धार्मिक अंधविश्वासों तथा पाखंड आदि सामाजिक बुराइयों ने स्थान ग्रहण कर लिया था। धार्मिक क्रियाओं का संपादन दुरूह और व्ययसाध्य हो गया था। यज्ञों की संख्या में असाधारण वृद्धि हो चुकी थी और वे दीर्घकालीन तथा हिंसक हो गये थे। जनसाधारण वैदिक धर्म के इस विकृत स्वरूप से त्रस्त हो चुका था। ऐसी स्थिति में वह एक सरल, तार्किक और व्यावहारिक धर्म की आवश्यकता महसूस कर रहा था। महात्मा बुद्ध ने वैदिक धर्म में व्याप्त बुराइयों का विरोध करते हुए ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को चुनौती दी। उन्होंने सरलता, सत्य और अहिंसा पर जोर दिया। उन्होंने जन साधारण को बिना यज्ञ सम्पन्न किए मोक्ष प्राप्ति का अत्यन्त सरल मार्ग बतलाया। अतः जनसाधारण बौद्धधर्म की ओर आकृष्ट हुआ।

2. **गौतम बुद्ध का महान् व्यक्तित्व**—बौद्धधर्म के प्रचार और प्रसार में महात्मा बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व सहायक सिद्ध हुआ। उन्होंने अपने व्यक्तित्व के आकर्षण, निष्कंलकता, पवित्रता, सरलता, निस्स्वार्थ भावना और असाधारण प्रतिभा से जनसाधारण तथा अनेक सम्राटों को प्रभावित किया। राजकुमार होने पर भी उन्होंने लोक-कल्याण हेतु संन्यास धारण कर लिया था। उनके त्यागपूर्ण जीवन से लोग अत्यधिक प्रभावित हुए। बुद्ध के चरित्र में उच्च मानवीय गुणों का समावेश था। अपने विरोधियों के प्रति भी वे विनम्र थे। दया, स्नेह और करुणा की वे साक्षात मूर्ति थे। घृणा और द्वेष की भावानाएं उनसे कोसों दूर थीं। उनका व्यक्तित्व चिंतक, सुधारक, उपदेशक, जनसेवक और आदर्शवादी नीति-प्रचारक के विभिन्न गुणों का सम्मिश्रण था। उनके व्यक्तित्व में चुम्बकीय आकर्षण था। उन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति उनके प्रभाव में आने से नहीं बच सकता था। बुद्ध ने तर्क प्रस्तुत कर बड़ी शालीनता से अंधविश्वासों का विरोध किया। उन्होंने जनभाषा पाली में अपने धर्म के सरल सिद्धान्तों का प्रचार किया। उनके महान् व्यक्तित्व और सिद्धान्तों की सरलता ने बौद्धधर्म के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। महात्मा बुद्ध के महान् व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए एन० एन० घोष ने लिखा

है—"महात्मा बुद्ध का अत्यधिक आकर्षक व्यक्तित्व उनके लिए एक हृदय-स्पर्शी वस्तु की भाँति काम करता था जो उनके संपर्क में आये, जिस तरह से उन्होंने कट्टर विद्वान् ब्राह्मणों के तर्कों में दोष निकाले और जो गहन मानव भावना उनके प्रवचनों ने प्रेरित की; उन्होंने पुरोहित, राजाओं तथा जनसाधारण को एक समान धर्म के बारे में आश्वस्त कर दिया।"[1] डॉ० केनेथ ने बौद्धधर्म की उन्नति का श्रेय महात्मा बुद्ध के महान् व्यक्तित्व को देते हुए लिखा है—"जब पूर्ण शुद्ध हृदय और सामान्य दयाभाव एक ही व्यक्ति में निहित हो जाते हैं, तब वह व्यक्ति श्रद्धा का पात्र और आराध्य बन जाता है। बौद्धधर्म के प्रचार की सफलता का यही एक मुख्य कारण था।"

3. **सरल और व्यावहारिक धर्म**—वैदिक धर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म अधिक सरल और व्यावहारिक था। महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म सरलता, व्यावहारिकता और सदाचार पर आधारित था। उन्होंने चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग और दस निषेधों पर बल दिया। बुद्ध ने कर्मवाद, अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, क्षणिकवाद, पुनर्जन्म, अहिंसा, निर्वाण, विचार स्वातंत्र्य और प्रयोजनवाद के सिद्धांत का प्रचार किया। उन्होंने वैदिक धर्म की जटिलता का विरोध करते हुए मोक्ष प्राप्ति का साधन मध्यम मार्ग बतलाया। उनका धर्म दार्शनिक जटिलता से मुक्त था। उनके अनुसार संपूर्ण मानव जीवन दुःखमय है। दुःखों का मूल वासनाओं में निहित है। वासनाओं के उन्मूलन से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है। वैदिक धर्म की अपेक्षा अधिक सरल, सुबोध और व्यावहारिक होने के कारण जन साधारण ने असीम उत्साह के साथ बौद्ध धर्म को ग्रहण किया। मोनियर विलियम्स ने महात्मा बुद्ध और उनकी शिक्षाओं के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुएलिखा है—"महात्मा बुद्ध के निजी चरित्र का प्रभाव तथा उनकी शिक्षाओं की प्रेरकता दोनों मिलकर ऐसी प्रबल हो जाती थीं कि उनका मुकाबला नहीं किया जा सकता था। यथाशीघ्र ही बौद्ध सिद्धांतों ने अफगानिस्तान से लेकर लंका तक सारे देश के धर्मों पर अपना व्यापक प्रभाव दिखाया। उन शिक्षाओं का प्रभाव प्रत्येक घर में, किसानों की झोपड़ियों और राजाओं के महलों में दृष्टि-गोचर हुआ।"[2]

---

1. "The magnetic personality of Buddha worked as a touchstone for all who came into his contact. The impecc able knowledge with which he met the argument of the learned orthodox, Brahmans and the deep human feeling which inspired his discourse convinced priests, princes and poor peoples alike."
—*N. N. Ghosh*

2. "The influence of personal character of Buddha combined with extraordinary persuasiveness of his teaching was irresistible. Very soon the Buddhistic doctrine leavened the religions of the whole Indian peninsula from Afghanistan to Ceylon. They found way in every home. They became domesticated in the cottage of peasants and palaces of kings."
—*M. William*

4. **स्वतंत्रता, समानता और नैतिकता पर आधारित धर्म**--स्वतंत्रता, समानता और नैतिकता के सिद्धांतों पर आधारित होने के कारण बौद्धधर्म की विशेष उन्नति हुई। महात्मा बुद्ध ने बिना किसी भेदभाव के अपने धर्म का प्रचार किया। वे वर्ण-व्यवस्था के विरोधी थे। उन्होंने समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व का विरोध किया। सामाजिक समानता का प्रबल समर्थक होने के कारण समाज का निम्न वर्ण शूद्र बौद्धधर्म की ओर विशेष आकृष्ट हुआ। इस संदर्भ में एन० एन० घोष का यह कथन उल्लेखनीय है—"जाति-पाँति के भेदभावों को नष्ट करके इस धर्म (बौद्धधर्म) ने शूद्रों के स्तर को ऊंचा उठा दिया और उन्होंने बौद्धधर्म अंगीकार करके अपनी सामाजिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली।"[1] बौद्धधर्म के द्वार सभी वर्णों के लिए समान रूप से खुले थे। बुद्ध ने क्रांतिकारी घोषणा की कि नर और नारी, युवा, वृद्ध, श्रीमान और कंगाल सभी लोग समान रूप से बौद्धधर्म को अपना सकते हैं।

5. **बौद्धधर्म का प्रचार कार्य**—बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् महात्मा बुद्ध ने सर्वप्रथम सारनाथ में ज्ञानोपदेश दिया। तत्पश्चात् उन्होंने बौद्धधर्म का प्रचार किया। वर्षा ऋतु को छोड़कर वे वर्ष के शेष आठ महीनों में बौद्धधर्म के प्रचार हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमते रहते थे। महात्मा बुद्ध से प्रभावित होकर तत्कालीन मगध नरेश बिंबिसार और अजातशत्रु तथा कोशल नरेश प्रसेनजित उनके शिष्य बन गये। बुद्ध ने जिन-जिन स्थानों पर जाकर धर्मोपदेश दिया वहाँ के लोग बहुत बड़ी संख्या में उनके शिष्य बन गये थे। बौद्धधर्म के प्रचार हेतु बुद्ध ने बौद्धसंघ की स्थापना की जहां भिक्षु-भिक्षुणियाँ निवास कर धर्म-प्रचार का कार्य करते थे। तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशीला, ओदंतपुरी आदि बौद्ध विहार शिक्षा के केन्द्र बन गये थे। इन केन्द्रों में बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन किया जाता था।

महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को धर्म-प्रचार हेतु देश के कोने-कोने में भेजा। बौद्धधर्म प्रचारकों ने असीम कष्ट सहन करते हुए स्वदेश और विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उन्होंने अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, मिश्र, सीरिया, यूनान, मध्य एशिया, चीन, जापान, कोरिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बर्मा आदि देशों में बौद्धधर्म का प्रचार किया। प्रसिद्ध बौद्ध विहारों में जो विदेशी विद्यार्थी और ज्ञान-पिपासु बौद्धधर्म-ग्रन्थों के अध्ययन हेतु आये उन्होंने स्वदेश लौटने के पश्चात् वहाँ भी बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया। चीनी यात्री फाह्यान और ह्वेन्सांग ने भारत में रहकर बौद्ध तीर्थों का भ्रमण किया और बौद्धधर्म ग्रन्थों का अध्ययन कर बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का चीन में प्रचार किया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि बौद्धधर्म शीघ्रता से स्वदेश और विदेशों में फैल गया।

---

1. "By abolishing caste distinctions it raised the status of lower orders who in accepting Budduism obtained their social and spiritual freedom."
—*N. N. Ghosh*

महात्मा बुद्ध ने धर्म प्रचार की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने स्वयं अनेक स्थलों की यात्रा की थी। वर्षा ऋतु को छोड़कर शेष समय में बौद्धधर्म का प्रचार किया गया। धर्म-प्रचार हेतु महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया था—"भिक्षुओ, स्थान-स्थान पर जाओ, सबका हित करो। सबका कल्याण करो। संसार के लिए दयाभाव रखकर मनुष्यों और देवताओं के सुख, लाभ तथा कल्याण की चेष्टा करो और एक स्थान पर दो भिक्षु मत जाओ।"

6. **बौद्ध धर्म ग्रन्थों और प्रचार माध्यमों में जनभाषा पाली का प्रयोग**—बौद्ध धर्म ग्रन्थों ने उसके (बौद्धधर्म के) प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। बौद्ध साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जाता है जिन्हें त्रिपिटक की संज्ञा दी गई है—विनय पिटक, सुत्त पिटक तथा अभिधम्म पिटक।

महात्मा बुद्ध से पूर्व जिन धर्म ग्रन्थों की रचना हुई थी, उनमें संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है। धर्मोपदेश भी संस्कृत भाषा में दिए जाते थे। उस काल में संस्कृत जनसाधारण की भाषा न होकर ब्राह्मणों और विद्वानों की भाषा थी। संस्कृत भाषा की गूढ़ता के कारण जनसाधारण धार्मिक ज्ञान को नहीं समझ पाता था। प्रारम्भ में बौद्ध धर्म ग्रन्थों की रचना जनसाधारण की भाषा पाली में की गई तथा महात्मा बुद्ध ने जनभाषा पाली और रोचक शैली में अपने धर्म का प्रचार किया। अतः जनसाधारण का बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था।

7. **बौद्ध सभाएँ**—समय-समय पर होने वाली बौद्ध सभाओं ने भी बौद्ध धर्म के विकास में योग दिया। बौद्ध साहित्य में मगध-नरेश अजातशत्रु को बौद्ध मतावलंबी कहा गया है। अजातशत्रु ने अपनी राजधानी राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया। यह सभा महाकश्यप की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई, जिसमें 500 से अधिक भिक्षुओं ने भाग लिया। इस सभा में बौद्धधर्म के सिद्धांत स्वीकृत किए गए और बुद्ध के उपदेशों को सुत्तपिटक, विनय पिटक, अभिधम्म पिटक नामक तीन ग्रन्थों में संग्रहीत किया गया।

बौद्ध धर्म की द्वितीय संगीति मगध-नरेश कालाशोक की संरक्षकता में वैशाली के समीप बातुकाराम संघाराम में श्वेत-स्थविर की अध्यक्षता में संपन्न हुई। यह सभा लगभग 373 ई० पू० में हुई थी। इस अधिवेशन में बौद्धसंघ के नियमों को कुछ शिथिल करने पर विचार किया गया।

तृतीय बौद्ध सभा अशोक महान् के शासनकाल में तिस्स की अध्यक्षता में मगध-राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुई। इस अधिवेशन में बौद्धों ने पारस्परिक द्वेषभाव का परित्याग कर आचरण और चरित्र की शुद्धता पर बल दिया। इसी सभा में बौद्ध प्रचारकों ने धर्म-प्रचार हेतु विदेशों में जाने का निश्चय किया।

चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन सम्राट् कनिष्क ने कश्मीर के कुण्डल वन में किया था। यह संगीति वसुमित्र की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। अश्वघोष को उसका उपाध्यक्ष मनोनीत किया गया। चौथी बौद्धसभा का प्रमुख उद्देश्य महायान और

हीनयान संप्रदायों में व्याप्त विभेद को दूर करना था। इस सभा में महायान संप्रदाय को मान्यता प्रदान की गई तथा त्रिपिटक ग्रंथों पर प्रामाणिक टीकाएं लिखी गईं। सम्राट कनिष्क के बाद कन्नौज नरेश हर्ष तथा पाल शासकों ने बौद्धधर्म को राज्याश्रय प्रदान कर उसके प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

8. **राजकीय संरक्षण**—बौद्धधर्म के द्रुतगति से फैलने का एक प्रमुख कारण अनेक राजाओं द्वारा उसे राजकीय संरक्षण अथवा राज्याश्रय दिया जाना था। समाज के धनी वर्ग ने भी उसके प्रचार और प्रसार हेतु अनेक प्रयत्न किए। बौद्धकालीन अनेक गणराज्यों ने बौद्धधर्म के प्रचार में तीव्र अभिरुचि व्यक्त की, जिनमें शाक्य, लिच्छवि, मल्ल, कोलिय, मोरिय आदि प्रमुख थे। सम्राट् बिंबिसार, अजातशत्रु, अशोक, कनिष्क, मिलिन्द, हर्ष तथा पाल राजाओं ने बौद्धधर्म को अंगीकार कर उसके प्रचार और प्रसार में संपूर्ण शक्ति लगा दी, बौद्ध अनुयायी मगधनरेश अजातशत्रु ने अपनी राजधानी राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीति आयोजित की। सम्राट् अशोक ने अपना संपूर्ण जीवन बौद्धधर्म के प्रचार में समर्पित कर दिया। बौद्धधर्म के प्रचार हेतु अशोक ने अभिलेखों पर लेख खुदवाए, धर्म महामात्र नियुक्त किए, धर्म-यात्राएं आयोजित कीं, विहारों और मठों की स्थापना करवाई तथा जनभाषा पाली में धर्म ग्रंथों की रचना को प्रोत्साहन दिया। उसके हृदय में बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु असीम उत्साह था। उसने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्धधर्म के प्रचार के लिए श्रीलंका भेजा तथा स्वयं राज्य का भ्रमण किया। उसने बौद्ध भिक्षुओं को धर्म प्रचार हेतु विदेशों में भेजा, बौद्धधर्म के विविध संप्रदायों में सामंजस्य और विभिन्न दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से अशोक ने अपने राज्याभिषेक के 17वें वर्ष अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन किया। अशोक के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही बौद्धधर्म, जो गंगा के मैदान का धर्म था, विश्व धर्म के रूप में परिणत हो गया। सम्राट कनिष्क द्वारा बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने के उपरांत उसने बौद्ध स्तूपों का निर्माण करवाया तथा बौद्धधर्म के प्रचार हेतु उसने मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, जापान आदि देशों में बौद्ध भिक्षुओं को भेजा। उसने बौद्ध अनुयायियों के लिए अनेक मंदिर, मठ और स्तूप निर्मित करवाए। बौद्ध धर्म के परस्पर विरोधी सिद्धांतों में सामंजस्य स्थापित करने के उद्देश्य से कनिष्क ने वसुमित्र की अध्यक्षता में कश्मीर के कुण्डल वन में चतुर्थ बौद्ध संगीति आयोजित की। राजा मिलिन्द बौद्धधर्म का अनुयायी था। बौद्ध मतावलंबी सम्राट हर्ष ने महायान संप्रदाय के सिद्धांतों के प्रचार हेतु राजधानी कन्नौज में एक सभा आयोजित की, जिसमें अनेक राजाओं, धर्माचार्यों, भिक्षुओं, विद्वानों और धर्मानुयायियों ने भाग लिया। चीनी यात्री बौद्ध भिक्षु ह्वेन्सांग को सभा मंडप का सभापति मनोनीत किया गया। इस सभा में अपने अकाट्य तर्क प्रस्तुत करके ह्वेन्सांग ने महायान-संप्रदाय की श्रेष्ठता स्थापित कर दी। बंगाल के पाल शासक बौद्धधर्म के अनुयायी थे। सम्राट हर्ष और पाल राजाओं ने नालंदा बौद्ध विहार के विकास के लिए अनेक गाँवों से प्राप्त राजस्व उसे दान स्वरूप प्रदान कर दिया।

9. प्रबल प्रतिद्वंद्वी का अभाव—दीर्घकाल तक प्रबल प्रतिद्वंद्वी के अभाव के कारण बौद्धधर्म का तीव्र गति से प्रसार हुआ। प्रबल प्रतिद्वंद्वी के अभाव के कारण यह धर्म भारत तथा विश्व के अनेक देशों में फैल गया।

10. अन्य कारण—बौद्धधर्म के प्रसार में महायान संप्रदाय और बौद्ध विश्व-विद्यालयों ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया। महायान संप्रदाय के विद्वान् अनुयायियों ने मौलिक ग्रन्थों की रचना कर बुद्धिजीवियों को बौद्धधर्म की ओर आकृष्ट किया। महायानियों द्वारा बुद्ध तथा बोधिसत्वों की पूजा और भक्ति से जनसाधारण अत्यधिक प्रभावित हुआ। अनेक स्थानों पर बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाएं पूजा हेतु प्रतिष्ठित की गईं। इससे बौद्धधर्म के प्रचार कार्य में सहायता मिली।

तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशीला, औदंतपुरी आदि बौद्ध विहार कालान्तर में बौद्ध विश्व विद्यालयों में परिवर्तित हो गये थे। इन विश्व विद्यालयों में भारत के कोने-कोने से तथा अन्य देशों के सैकड़ों मेधावी विद्यार्थी विद्याध्ययन हेतु प्रवेश पाते थे। शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् उन्होंने स्वदेश और विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

बौद्धधर्म के पतन के कारण

छठी शताब्दी ई० पू० में महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित सरल और व्यावहारिक बौद्धधर्म अपने अनेक गुणों के कारण न केवल भारतवर्ष बल्कि विश्व के अनेक देशों में फैल गया। जो धर्म अशोक, कनिष्क, हर्ष आदि सम्राटों का आश्रय प्राप्त करके विश्वधर्म के रूप में परिणत हो गया था, कालांतर में उसका पतन हो गया। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि भारतवर्ष में लगभग विलुप्त हो चुका था। यों तो उत्थान और पतन प्रकृति का शाश्वत नियम है, फिर भी बौद्धधर्म के पतन के लिए निम्नलिखित कारण प्रमुख रूप से उत्तरदायी थे।

1. बौद्धधर्म के मौलिक स्वरुप में परिवर्तन—महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित बौद्धधर्म सरलता, समानता, व्यावहारिकता और स्वतंत्रता के सिद्धांतों पर आधारित था। इन्हीं विशेषताओं के कारण उसका विकास तीव्र गति से हुआ। कालांतर में उसकी उक्त विशेषताओं का स्थान अंधविश्वास, अवतारवाद, मूर्ति पूजा, कर्मकाण्ड और तंत्र मंत्र ने ले लिया, जिनका बुद्ध ने विरोध किया था। बौद्धधर्म हीनयान और महायान नामक दो संप्रदायों में विभक्त हो जाने के फलस्वरुप बौद्धों की एकता को आघात पहुँचा। हीनयान संप्रदाय वाले बुद्ध के सिद्धांत पर आचरण करते थे, परन्तु महायान संप्रदाय के अनुयायी महात्मा बुद्ध की प्रतिमाएं निर्मित करके उनकी उपासना करने लगे थे। उसने हिंदूधर्म के अनेक सिद्धांतों को अपना लिया। फलतः हिंदूधर्म और बौद्धधर्म में बहुत कम अंतर रह गया। बाद में बौद्धधर्म में कर्मकांड, अंधविश्वास, तंत्रमंत्र, बहुदेववाद, मूर्तिपूजा आदि बुराइयां आ गई थीं। संयम और अनुशासन पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाने लगा था जिस पर आचरण करना जन-साधारण के लिए संभव नहीं था। डॉ० एन० एन० घोष का मत है कि बौद्धधर्म के पतन का प्रमुख कारण यह था कि उसमें वे सब बुराइयां आ गई थीं, जिनका

महात्मा बुद्ध ने विरोध किया था। बाद में हिन्दू धर्म ने महात्मा बुद्ध को ईश्वर के अवतार के रूप में अंगीकार कर लिया था। हिन्दूधर्म ने सत्य, अहिंसा और सदाचार पर बल दिया। इस प्रकार **बौद्धधर्म** और हिंदूधर्म में कोई विशेष अंतर नहीं रह गया था। अतः लोगों ने पुरातन वैदिक धर्म को ही अपनाना अधिक उपयुक्त समझा। बौद्धधर्म के चौदह उपशाखाओं में विभक्त हो जाने तथा बौद्धधर्म के वज्रयानी संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा अनैतिक और भ्रष्ट क्रियाओं का प्रतिपादन किए जाने के कारण जनसाधारण का विश्वास बौद्धधर्म में से उठ गया।

महात्मा बुद्ध ने जनभाषा पाली में बौद्धधर्म के सिद्धांतों का प्रचार किया, जिसके फलस्वरूप उनके धर्म ने यथाशीघ्र लोकप्रियता अर्जित कर ली थी। किंतु बाद में बौद्ध अनुयायियों ने संस्कृत भाषा को अपना लिया था। महायान संप्रदाय ने अपने ग्रंथों की रचना संस्कृत भाषा में की। जनभाषा के कारण जो आकर्षण जनसाधारण में बौद्धधर्म के प्रति था, संस्कृत को अपनाने से वह समाप्त हो गया।

2. **बौद्ध भिक्षुओं में चारित्रिक दोष**—महात्मा बुद्ध विलासप्रिय जीवन के विरुद्ध थे। महात्मा बुद्ध के देहावासन के उपरांत शनैः-शनैः बौद्ध भिक्षुओं में अनेक चारित्रिक दोष आ गये थे। बौद्ध मठ चरित्रहीनता के गढ़ बन गये थे, संघों में निवास करने वाले भिक्षु-भिक्षुणियाँ विलासप्रिय जीवन व्यतीत करने लगे थे। वे अपना समय धर्मप्रचार के कार्य में व्यतीत न कर पारस्परिक विवाद और आंतरिक कलह में व्यतीत करते थे। भिक्षा मांगकर भोजन करने की परम्परा प्रायः समाप्त हो चुकी थी। भिक्षु-भिक्षुणियाँ सुख, वैभव और विलास का जीवन व्यतीत करते थे। महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए जिन सिद्धातों का पालन करना अनिवार्य बताया था, उन पर चलना विलासप्रिय भिक्षुओं के लिए संभव नहीं था। वे साधारण मनुष्य की भाँति जीवन व्यतीत करने लगे थे। उनमें त्याग और जनकल्याण की भावना विलुप्त हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में वे जनसाधारण को प्रभावित नहीं कर पाये।

3. **बौद्ध प्रचार केन्द्रों का पतन**—शिष्य आनन्द के काफी आग्रह के उपरांत महात्मा बुद्ध ने महिलाओं को बौद्ध भिक्षुणी बनने की अनुमति दी थी। उन्हें कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था तथा उन्हें भिक्षुओं के साथ संघ में रहने की मनाही थी। बुद्ध की मृत्यु के बाद भिक्षु-भिक्षुणियों के नियमों में शिथिलता आ गई। वे एक साथ संघ में निवास करने लगे। फलतः संघ में भ्रष्टाचार पनपने लगा। प्रारम्भ में बौद्धधर्म के जो केंद्र धर्म-प्रचार के प्रबल माध्यम थे, कालांतर में वे भोग-विलास, सुख, वैभव, भ्रष्टाचार और षड्यन्त्रों के गढ़ बन गये। अतः जनसाधारण का बौद्ध भिक्षुओं और उनके धर्म के प्रति विश्वास समाप्त हो गया।

4. **योग्य तथा प्रभावशाली बौद्ध भिक्षुओं का अभाव**—पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् कोई भी बौद्ध भिक्षु इतना योग्य और प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुआ जो अपने धर्मोपदेशों से जनसाधारण को प्रभावित कर पाता। योग्य तथा अनुभवी संगठनकर्त्ताओं के अभाव में उसका पतन स्वाभाविक था।

5. ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान—अंतिम मौर्य-सम्राट बृहद्रथ की हत्या करने के बाद उसका महत्त्वाकांक्षी सेनापति पुष्यमित्र शुंग मगध की राजगद्दी पर आसीन हुआ, उसने ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के लिए यथासंभव प्रयास किए। उसने अश्वमेध यज्ञ संपादित किए और संस्कृत को राजभाषा का स्थान प्रदान किया। शुंग-काल में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ।

चौथी और पाँचवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में गुप्तवंश के महान सम्राटों ने शासन किया। उन्होंने ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने ब्राह्मण धर्म को राजधर्म और संस्कृत को राजभाषा घोषित किया। गुप्त सम्राटों ने अश्वमेध यज्ञ तथा वैदिक धार्मिक क्रियाओं को पुनः आरम्भ किया। चन्द्रगुप्त प्रथम (320 ई०-335 ई०) से लेकर स्कंदगुप्त (455 ई०-467 ई०) तक सभी गुप्त सम्राट वैष्णव मतावलम्बी थे। गुप्तों के समकालीन नाग और वाकाटक शासक भी वैदिक धर्म के अनुयायी थे। इस प्रकार वैदिक धर्म का जो प्रभाव विलुप्त हो चुका था, वह गुप्त, नाग और वाकाटक राजाओं के राज्यकाल में पुनः स्थापित हो गया। युद्धकर्मा राजपूत राजाओं के काल (650-1200 ई०) में वैदिक धर्म को विशेष प्रोत्साहन मिला। राजपूत-काल में बौद्धधर्म अवनति की स्थिति में था क्योंकि बौद्धधर्म की अहिंसावादी नीति रणप्रिय राजपूतों की प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल थी।

6. कुमारिल भट्ट और जगदगुरु शंकराचार्य का आविर्भाव—आठवीं और नवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे मेधावी विद्वानों का आविर्भाव हुआ। ये दोनों तीव्र बुद्धि के प्रकांड विद्वान थे। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ने बौद्धधर्म का विरोध किया तथा वेदों और उपनिषदों के ज्ञान का प्रचार किया। उन्होंने अनेक तर्क प्रस्तुत कर ब्राह्मण धर्म की श्रेष्ठता स्थापित कर दी तथा बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया। उन्होंने बौद्ध मत का खंडन किया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि जनसाधारण बौद्धधर्म से विमुख होकर ब्राह्मण धर्म की ओर आकृष्ट हुआ।

7. सबल राजकीय संरक्षण का अभाव—अजातशत्रु, कालाशोक, अशोक महान, मिलिन्द, कनिष्क और हर्ष के पश्चात केवल पाल राजाओं ने ही बौद्धधर्म का अनुसरण किया। उनके काल में बौद्धधर्म का विकास हुआ। प्राचीन सम्राटों के सतत प्रयासों से बौद्धधर्म विश्वधर्म के रूप में परिणत हो गया था। किंतु अन्य प्रमुख भारतीय सम्राटों ने वैदिक धर्म को राजधर्म घोषित किया। पुष्यमित्र, अग्निमित्र नाग और वाकाटक शासक, शक्तिशाली गुप्त नरेश तथा राजपूत राजा वैदिक धर्म के अनुयायी थे। सबल राजकीय संरक्षण के अभाव में बौद्ध धर्म का पतन स्वाभाविक था। राज्याश्रय के अभाव में बौद्ध शिक्षा केन्द्रों को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता मिलनी बंद हो गई। ऐसी स्थिति में धर्म प्रचारकों का उत्साह ठंडा पड़ गया और बौद्ध प्रचार केन्द्रों के विकास की गति अवरुद्ध हो गई।

8. आत्मसात् की शक्ति—आत्मसात् की शक्ति हिंदूधर्म की प्रमुख विशेषता है। ईरानी, यूनानी, शक, सीथियन, हूण तुर्क आदि विदेशियों को हिंदू धर्म ने

बिना किसी भेदभाव के अपने में मिला लिया। हिंदूधर्म के अनुयायियों ने महात्मा बुद्ध को अपने आराध्य देव विष्णु का अवतार अंगीकार कर लिया जिससे ब्राह्मण धर्म की लोकप्रियता में वृद्धि हो गई।

9. **बाह्य आक्रमण**—चौथी शताब्दी ई०पू० से ही भारत पर विदेशी आक्रमण होने लगे थे। ईरानी, यूनानी, शक, हूण, तुर्क आदि विदेशी आक्रांताओं ने भारत पर निरंतर सामरिक अभियान किए। पांचवीं-छठी शताब्दी में 'खुदा का कहर' कहे जाने वाले हूणों ने भारत पर आक्रमण कर दिया, उन्होंने जिन प्रदेशों पर आक्रमण किए उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। हूणों ने बौद्ध विहारों, स्तूपों और मंदिरों को विनष्ट कर दिया, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में तुर्कों ने बौद्ध विहारों, मंदिरों, चैत्यों, स्तूपों तथा शिक्षा केन्द्रों को ध्वस्त कर दिया। नालंदा, विक्रमशीला और औदंतपुरी के जगप्रसिद्ध विश्वविद्यालयों को तुर्कों ने अग्नि की लपटों में स्वाहा कर दिया। तुर्कों ने बौद्ध भिक्षुकों का वध कर डाला। विनाश और नरसंहार के इस नग्न नृत्य से भयभीत हो कर अनेक बौद्ध भिक्षुक प्राण रक्षा हेतु तिब्बत और नेपाल की ओर भाग गये तथा अनेक बौद्ध अनुयाइयों ने ब्राह्मण धर्म अंगीकार कर लिया।

विदेशी आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने के लिए युद्ध आवश्यक था जो बौद्ध धर्म के अहिंसावादी सिद्धांत से सम्भव न था। अतएव भारत की रक्षा हेतु संकल्प लेने वाले वीरों ने बौद्ध धर्म के स्थान पर वैदिक धर्म को अपनाना अधिक उपयुक्त समझा, क्योंकि बौद्धधर्म हिंसा के विरुद्ध था और अहिंसा से देश की रक्षा सम्भव न थी और न है।

भारतीय संस्कृति को बौद्धधर्म की देन

महावीर और गौतम बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व भारतीय समाज पर वैदिक धर्म का प्रभाव व्याप्त था, छठी शताब्दी ई० पू० तक वैदिक धर्म विकृत हो चुका था। उसमें रक्तिम यज्ञों और कठोर वर्ण-व्यवस्था का प्रचलन हो चुका था। धार्मिक अंधविश्वास और पाखंड ने समाज की जड़ें खोखली कर दी थीं। तत्कालीन समाज में व्याप्त अनेक बुराइयों ने जनसाधारण को त्रस्त कर दिया था। ऐसी स्थिति में जनसाधारण एक सरल, सुबोध, व्यावहारिक, तार्किक और जनहितकारी धर्म की कमी महसूस करने लगा। गौतम बुद्ध ने एक जनहितकारी धर्म की स्थापना कर जनसाधारण की इस कमी को पूर्ण कर दिया। उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म भारतीय इतिहास में 'बौद्धधर्म' के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्धधर्म ने वैदिकधर्म में व्याप्त अंधविश्वासों एवं सामाजिक बुराइयों पर कुठाराघात करते हुए एक सरल, सुबोध और लोकप्रिय धर्म की स्थापना की। बौद्धधर्म के उदय के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति के कोष में अभिवृद्धि हुई। भारतीय संस्कृति को बौद्धधर्म की देन मुख्यतया इस प्रकार रही है—

1. **सरल, सुबोध और लोकप्रिय धर्म की स्थापना**—भारतीय संस्कृति को बौद्धधर्म की सबसे प्रमुख देन यह रही है कि उसने एक सरल, सुबोध, विशुद्ध आचरणवादी लोकप्रिय धर्म की स्थापना की। यह कम व्यय पर आधारित रुचिकर धर्म था। बौद्धधर्म ने वैदिकधर्म की जटिलता, दुर्बोधता, कर्मकांड, यज्ञ, बलि आदि कुप्रथाओं का

विरोध करते हुए एक सरल, सुबोध और नैतिकता पर आधारित धर्म की स्थापना की। सरलता और सुबोधता के गुणों के कारण ही बौद्धधर्म ने लोकप्रियता अर्जित की। बौद्धधर्म का उद्देश्य समाज के किसी वर्ग-विशेष के लोगों के दुःखों का निवारण न होकर सम्पूर्ण समाज को दुःखों से छुटकारा दिलाना था। बुद्ध ने अपने धर्म को बलपूर्वक किसी के ऊपर नहीं थोपा, बल्कि बुद्ध ने स्वयं यह घोषणा की कि यदि जनसाधारण को उनके उपदेश तर्कसंगत प्रतीत होते हैं तो उन्हें स्वीकार करें, अन्यथा उनका अनुकरण न करें। यह एक उदार और विशुद्ध मानवतावादी धर्म था जिसको बिना किसी भेदभाव के कोई भी व्यक्ति स्वीकार कर सकता था। सरल और सुबोध धर्म होने के कारण साधारण से साधारण व्यक्ति भी उसे समझ सकता था।

2. **समानता और जनतंत्रवादी भावना पर आधारित धर्म**—बौद्धधर्म ने सामाजिक समानता और जनतंत्रवादी भावना को प्रोत्साहन दिया। बुद्ध ने समाज में व्याप्त कठोर वर्ण-व्यवस्था, जातिप्रथा, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि बुराइयों का विरोध किया। महात्मा बुद्ध ने क्रांतिकारी घोषणा करते हुए कहा कि उनके उपदेशों पर नर और नारी, युवा और वृद्ध, श्रीमान और कंगाल सभी लोग समान रूप से आचरण कर सकते हैं। बुद्ध वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म मानते थे। उन्होंने महिलाओं को भी निर्वाण प्राप्ति का अधिकारी बताया।

बौद्ध संघों की व्यवस्था पूर्णतया जनतंत्रवादी थी। सभी लोगों को समान और स्वतंत्र रूप से आध्यात्मिक उन्नति करने तथा निर्वाण प्राप्ति का अधिकार प्रदान किया गया। फलतः समाज में समानता, स्वतंत्रता, उदारता, सहनशीलता आदि मानवीय भावनाओं का विकास हुआ।

3. **शुद्धाचरण तथा नैतिकता पर आधारित धर्म**—बौद्धधर्म ने सदाचार, संयमित जीवन, नैतिकता, जनसेवा, स्वार्थ त्याग, मन-वचन-कर्म की शुद्धि आदि उच्चादर्शों पर बल दिया। इन उच्च आदर्शों के फलस्वरूप समाज में नैतिकता और पवित्रता को बल मिला। दुःखों से छुटकारा पाने और निर्वाण प्राप्ति हेतु बुद्ध ने चार आर्य सत्य और अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करते हुए दस प्रकार के निषेधों पर जोर दिया। बौद्ध धर्म ने सत्य भाषण, आत्म-संयम, अहिंसा, गुरु के प्रति सम्मान और उसकी आज्ञा पालन, प्राणी मात्र के प्रति दया भाव, दान, निंदात्याग, सत्कार्य, इंद्रियदमन आदि पर विशेष बल दिया। बौद्धधर्म के महायान मतावलंबियों ने बोधिसत्व के रूप में जनसेवा का श्रेष्ठ आदर्श जनसाधारण के सामने प्रस्तुत किया। इन सब के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में सदाचार और नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा उठ गया जिसका उल्लेख विदेशी ज्ञान पिपासु मेगस्थनीज, फाहियान और ह्वेन्सांग के यात्रा-वृत्तांत में मिलता है।

4. **बौद्धिक स्वतंत्रता**—वैदिक धर्म के अंतर्गत व्यक्तिगत बौद्धिक स्वतंत्रता समाप्त हो चुकी थी। वेदों को अपौरुषेय की संज्ञा दी गई और उन्हें ईश्वरीय वाक्य के रूप में अंगीकार कर लिया गया अर्थात् जो वेदों में लिखा गया है वही सत्य है और उसका कोई विरोध नहीं कर सकता था। कर्मकांड, यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं

को संपादित करने का अधिकार ब्राह्मणों तक ही सीमित था। फलतः व्यक्तिगत बौद्धिक स्वतंत्रता नष्ट हो गई। बुद्ध ने वैदिक धर्म की इन बुराइयों का विरोध किया। उन्होंने स्वतंत्र विचारों को प्रोत्साहित करते हुए धर्म में व्यक्तित्व को प्रधानता दी। बुद्ध ने स्वयं तर्क, बुद्धि और विवेक पर बल दिया। वे अपने शिष्यों को उपदेश दिया करते थे कि वे उनके आदेशों एवं उपदेशों को गुरु-वचन मानकर ग्रहण न करें बल्कि उन्हें बुद्धि, तर्क और विवेक की कसौटी पर कसें। यदि वे इस पर खरे उतरते हैं तो उन्हें ग्रहण करें, अन्यथा नहीं। महात्मा बुद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों से यह कहा करते थे कि 'आत्मदीपो भव' अर्थात् अपनी आत्मा को स्वयं अपना पथ-प्रदर्शक बनाओ। इस बौद्धिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप समाज में व्याप्त अंधविश्वास समाप्त हो गये और लोग स्वतंत्रतापूर्वक समस्त समस्याओं पर चिंतन एवं मनन करने लगे। इस प्रकार विदित होता है कि वैदिक धर्म ने जिस व्यक्तिगत बौद्धिक स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया था, बौद्धधर्म ने उसकी पुनः स्थापना कर डाली।

5. **बौद्ध संघों की स्थापना**—धर्म-प्रचार हेतु संघों की स्थापना बौद्धधर्म की विशिष्ट देन है। बौद्धधर्म के आविर्भाव से पूर्व वैदिक धर्म के उपदेशक, संन्यासी एवं ऋषि-मुनि तपोवनों में रह कर धर्मोपदेश देते थे तथा वहीं बौद्धिक चिंतन और मनन करते थे। सर्वप्रथम महात्मा बुद्ध ने धर्म प्रचार हेतु अनुशासनबद्ध होकर संघ व्यवस्था की परम्परा को जन्म दिया। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को सामूहिक जीवन व्यतीत करते हुए धर्म प्रचार करने का उपदेश दिया। बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों को पवित्र जीवन और उच्च आदर्शों के साथ संघ में रहकर अपने धर्म का प्रचार करना होता था। कालांतर में ये संघ शिक्षा केंद्रों के रूप में परिवर्तित हो गए। बौद्धसंघ हेतु निर्मित विहार और मठ ज्ञान-विज्ञान के केन्द्र थे। इसी का अनुकरण करते हुए हिंदूधर्म ने अपने मठ और अखाड़े स्थापित किए।

6. **शिक्षा और साहित्य**—शिक्षा और साहित्य के विकास में बौद्धधर्म का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रारंभ में धर्म प्रचार हेतु स्थापित बौद्धसंघ बाद में प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों के रूप में परिवर्तित हो गये। नालंदा, विक्रमशीला, तक्षशिला और औदंतपुरी के बौद्ध-विहार प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बन गये, जहाँ देश-विदेशों के विद्यार्थी विद्याध्ययन करने आते थे। नागार्जुन, वसुमित्र, दिनांग, धर्मकीर्ति जैसे विद्वानों ने विद्या और ज्ञान की प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन शिक्षा केन्द्रों में धर्म और दर्शन की जो प्रगति हुई वह भारतीय सभ्यता और संस्कृति की अभिन्न अंग बन गई; बौद्ध विद्वानों ने बहुत बड़ी संख्या में साहित्यिक ग्रंथों का सृजन किया। 'बुद्धचरित', 'सारिपुत्रप्रकरण', 'ललितविस्तार', 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'मिलिंदपन्हो', 'महावस्तु', 'मंजुश्रीमूलकल्प', 'दिव्यावदान', आदि प्रमुख बौद्धधर्म ग्रंथों की रचना की गई। ये ग्रंथ न केवल साहित्यिक हैं वरन् इनमें उल्लिखित विवरण से प्राचीन भारतीय इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है।

7. **लोक साहित्य का विकास**—लोक साहित्य के सृजन और विकास में बौद्धधर्म का प्रमुख स्थान रहा है। बुद्ध ने क्लिष्ट भाषा संस्कृत का परित्याग कर जनसाधारण की बोलचाल की भाषा 'पाली' में अपने धर्म का प्रचार किया। बुद्ध के देहावसान के उपरान्त बौद्ध उपदेशकों और संघ वासियों ने पाली भाषा में ही धर्म-प्रचार किया तथा धर्म ग्रंथों की रचना की। बौद्ध धर्म के आविर्भाव के फलस्वरूप पाली भाषा का अभूतपूर्व विकास हुआ।

8. **मूर्ति पूजा का प्रसार**—विद्वानों का यह कथन, कि भारत में मूर्तिपूजा का प्रारंभ बौद्धधर्म के आविर्भाव के फलस्वरूप हुआ, उचित प्रतीत नहीं होता है। भारत में मूर्तिपूजा का प्रारंभ सिंधुघाटी की सभ्यता के काल में ही हो चुका था। बौद्धधर्म के अनुयायी बुद्ध तथा बोधिसत्वों की अनेक प्रतिमाएं निर्मित कर व्यापक स्तर पर मूर्ति पूजा करते थे। इस आधार पर ही कहना उपयुक्त होगा कि बौद्धधर्म के अनुयायियों ने मूर्तिपूजा का व्यापक प्रचार किया, न कि उसका प्रारम्भ। बौद्धों का अनुकरण कर हिंदूधर्म के अनुयायी अपने देवी-देवताओं की मूर्तियाँ निर्मित कर उनकी व्यक्तिगत और सामूहिक पूजा करने लगे, मूल वैदिक धर्म में मूर्तिपूजा की परंपरा न थी।

9. **ब्राह्मण धर्म पर प्रभाव**—विद्वानों का मत है कि कालांतर में बौद्धधर्म ने हिंदूधर्म को प्रभावित किया। ब्राह्मण धर्म ने अहिंसा का सिद्धांत बौद्धधर्म से ग्रहण किया। बौद्धधर्म यज्ञों, हवनों और पशुबलि का घोर विरोधी था। बौद्धधर्म का अनुकरण कर ब्राह्मण धर्म में रक्तिम यज्ञों और पशुवलि की प्रधानता कम होने लगी। वौद्धधर्म के प्रभावस्वरुप भागवत धर्म ने 'अहिंसा परमोधर्मः' के सिद्धांत और महायान बौद्ध संप्रदाय के भक्तिमार्ग को अपना लिया। ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म के अनेक सिद्धातों को अपनाकर वैदिक धर्म के स्वरूप को विकसित किया।

10. **राजनीतिक प्रभाव**—बौद्धधर्म ने अहिंसा के सिद्धांत का प्रचार कर भारतीय राजाओं और राजकुमारों के हृदय में रक्तपात और युद्ध के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी। बौद्धधर्म के प्रभावस्वरूप अशोक जैसा क्रूर सम्राट अहिंसा का प्रेमी बन गया। कलिंग के भीषण संग्राम के उपरांत अशोक ने भविष्य में युद्ध न करने की प्रतिज्ञा की। उसने युद्धघोष के स्थान पर धम्मघोष का संकल्प लिया। अशोक ने अपने राज्य की संपूर्ण शक्ति बौद्धधर्म के प्रचार और प्रसार में लगा दी।

बौद्धधर्म ने भारत में राष्ट्रीय भावनाओं का विकास किया जिससे राजनीतिक एकता का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस संदर्भ में हैवेल का यह कथन उल्लेखनीय है—"बौद्धधर्म ने आर्यावर्त्त के जातीय बंधनों को तोड़कर तथा उसके आध्यात्मिक वातावरण में व्याप्त अंधविश्वासों को दूरकर संपूर्ण आर्य जाति को एकरूपता प्रदान करने में योगदान दिया और मौर्य वंश के विशाल साम्राज्य की नींव रक्खी।"

11. **सामाजिक प्रभाव**—वर्ण-व्यवस्था, ऊँच-नीच, जातिप्रथा और छुआछूत का विरोध कर बौद्धधर्म ने भारत की सामाजिक तथा साँस्कृतिक एकता को दृढ़

कर दिया। जनसाधारण की भाषा में धर्म प्रचार करने के फलस्वरूप यह एकता और भी दृढ़ हो गई। बौद्धधर्म के प्रभावस्वरूप समाज में एकता और समानता की भावना उत्पन्न हुई। समाज में शूद्रों, नौकरों और स्त्रियों की दशा में उन्नति हुई। अहिंसा के सिद्धांत के कारण पशुओं के प्रति भी दया भावना उत्पन्न हुई। सम्राट अशोक ने पशुओं की चिकित्सा हेतु अस्पताल खुलवाए।

12. **कला का विकास**—कला के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति को बौद्धधर्म की महत्वपूर्ण देन रही है। बौद्धधर्म के प्रभाव के फलस्वरूप वास्तुकला, शिल्पकला और चित्रकला के क्षेत्र में अत्यधिक विकास हुआ। बौद्ध विहारों, मंदिरों, स्तूपों, स्तम्भों, स्मारकों आदि के निर्माण और कलापूर्ण अलंकरण से स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्रकला की नवीनतम शैलियों का विकास हुआ। बौद्ध अनुयायी महात्मा बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ निर्मित कर उनकी आराधना करते थे। उनके द्वारा निर्मित मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर और सजीव हैं। मथुरा कला शैली और गांधार कला शैली के अन्तर्गत बनी हुई बौद्ध प्रतिमाएं कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की हैं। स्थापत्य-कला के क्षेत्र में बौद्धकला को संसार में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। बौद्ध कलाकारों ने बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध प्रमुख घटनाओं को स्तूपों के तोरण द्वारों पर अंकित किया है जिनमें सांची, भरहुत और अमरावती के स्तूप उल्लेखनीय हैं। अजंता और बाघ की गुफाओं में महात्मा बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं को चित्रित किया गया है। बौद्ध कला का सौंदर्य और सौष्ठव असाधारण है। विद्वानों ने उसे विश्व की श्रेष्ठ कला की संज्ञा दी है। प्रोफेसर कोहन ने बौद्धकला कृतियों की समता पश्चिम की श्रेष्ठ कला-कृतियों से स्थापित करते हुए लिखा है—"यह स्पष्ट है कि बौद्धकला का अनुभव हम सभी के लिए एक गम्भीर अनुभव होना चाहिए। चित्रकला, स्थापत्य कला, वास्तु कला और कारीगरी सभी क्षेत्रों में बौद्धधर्म ने ऐसी कलाकृतियाँ निर्मित की हैं जो पाश्चात्य कला की उच्चतम कृतियों के समक्ष रक्खी जा सकती हैं।"[1] बौद्ध-कला ने अपना प्रभाव भारत तक ही सीमित न रक्खा बल्कि उसने अनेक देशों की कला को भी प्रभावित किया। जब बौद्धधर्म चीन, जापान, लंका, बर्मा, तिब्बत, नेपाल आदि देशों में फैला तो वहां की कला ने बौद्धकला का स्वरूप धारण कर लिया। मिस्टर क्रिस्टमस हम्फ्री के शब्दों में, "ईसा की छठी शताब्दी तक भारत की सर्वोत्तम कला बौद्धकला है और जब से चीन तथा जापान में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ तब से लेकर इस देश की किसी भी युग की सर्वश्रेष्ठ कला बौद्ध है, तथा लंका, बर्मा, और

1. "It is clear that the experience of Buddhist art must have a profound experience for us. In all fields—in painting, sculpture, architecture and handicraft—Buddhism has produced works of art that can be placed by the side of the highest creations of Western Art".

स्याम की समस्त महती कला बौद्ध है, बोरबोदूर का स्तूप भी बौद्ध है और तिब्बत तथा नेपाल की धार्मिक कला भी उसी प्रकार बौद्धकला है।"[1]

13. **विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार**—विदेशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति को प्रचारित और प्रसारित करने का श्रेय बौद्धधर्म को है। भारत बुद्ध की जन्म भूमि होने के कारण अनेक विदेशी भारत की पवित्र धार्मिक यात्रा करने लगे। सम्राट अशोक और कनिष्क द्वारा बौद्धधर्म अंगीकार कर लेने के उपरांत उसका प्रचार विदेशों में होने लगा। भारतीय बौद्ध भिक्षुओं, आचार्यों, संतों और विद्वानों ने अदम्य उत्साह के साथ मध्य एशिया, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलाया, कोरिया, खोतान, नेपाल, कम्बोडिया, बर्मा, लंका आदि देशों में अपने धर्म का प्रचार किया। कालांतर में इन देशों के साथ भारत का घनिष्ठ संपर्क स्थापित हो जाने के कारण उनमें परस्पर व्यापारिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ। बौद्धधर्म के सिद्धांतों से प्रभावित होकर अनेक विदेशी ज्ञान पिपासु बौद्धधर्म ग्रंथों के अध्ययन हेतु भारत आये। भारत में उन्होंने बौद्धधर्म ग्रंथों का गहन अध्ययन किया और अनेक ग्रंथों की नकल उतार कर स्वदेश ले गये। अनेक विदेशी विद्वानों ने स्वदेश पहुँचने पर अपना यात्रा वृत्तांत लिखा। इससे विदेशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ। यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि विदेशों में बौद्धधर्म भारतीय संस्कृति का अग्रगामी दूत था। डॉ० हरिदत्त वेदालंकार का कथन है—"बृहत्तर भारत के निर्माण में उन्होंने (बौद्धों ने) सबसे अधिक सहायता दी।"

मूल्यांकन

अंत में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति को बौद्धधर्म की महत्त्वपूर्ण देन रही है। उसने वैदिकधर्म से त्रस्त मानव समाज को एक सरल, सुबोध, जनकल्याणकारी, सहिष्णु और समानता पर आधारित धर्म का स्वरूप प्रदान किया। बौद्धधर्म की मूर्ति पूजा की प्रथा और अहिंसा के सिद्धांत ने हिंदू धर्म को प्रभावित किया। बौद्धधर्म के प्रभाव के फलस्वरूप भागवत धर्म में अहिंसा के सिद्धान्त को विशेष महत्व दिया गया। बौद्धधर्म के प्रचार साधनों के फलस्वरूप विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ जिसने बृहत्तर भारत के निर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि बौद्धधर्म के अत्यधिक प्रचार और प्रसार के फलस्वरूप अनेक दुष्परिणाम भी हुए। अशोक द्वारा धम्मघोष पर अत्यधिक बल देने के कारण उसके काल में सेना का संगठन शिथिल पड़ गया और वह निष्क्रिय हो गई। उसने राजकोष का सारा धन बौद्धधर्म के प्रचार में व्यय कर दिया। अहिंसा

1. "The finest Indian art up to the sixth century A. D., and the finest of Chinese and Japanese art at any period since the introduction of Buddhism, is Buddhist art; that all great in Ceylon, Burma and Siam in Buddhist art, that the stupa of Borbodur is Buddhist art, and the religious art of Tibet and Nepal is equally Buddhist." —*Humphrey*

के सिद्धान्त के कारण राष्ट्र की शक्ति दुर्बल पड़ गई। मौर्य वंश का पतन और शुंगवंश की स्थापना इस दुर्बलता के परिणाम थे। तुर्क आक्रांताओं के सम्मुख भी बौद्ध मतावलंबियों का व्यवहार लज्जापूर्ण रहा। जब मुहम्मद विन कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया तो बौद्धों ने उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। बौद्धधर्म ने लोगों में वैराग्य उत्पन्न कर दिया। युवा पीढ़ी के लोगों में अकर्मण्यता, आलस्य और उत्तरदायित्वहीनता की भावना फैलने लगी और वे अल्पायु में ही संन्यास ग्रहण करने लगे। अत: एक विकासशील और समृद्धिशाली समाज तथा राष्ट्र का निर्माण न हो सका।

बौद्धधर्म के लाभों एवं हानियों का सम्यक विवेचन करने के पश्चात् यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जिस शांति तथा लोक सेवा का उपदेश बौद्धधर्म ने दिया था, उसी की पुकार आज विश्व के कोने-कोने में गूंज रही है, और यह सर्वमान्य तथ्य है कि अहिंसा के सिद्धान्त का अनुसरण करने में ही विश्व का कल्याण निहित है। स्वतंत्र भारतीय सरकार ने अशोक के धर्मचक्र को राष्ट्रीय चिन्ह के रूप में मान्यता प्रदान की है। स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति के विकास में बौद्धधर्म का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

बौद्धधर्म की वैदिकधर्म और जैनधर्म से तुलना

वैदिकधर्म भारत का सर्वाधिक पुरातन धर्म है। जैनधर्म और बौद्धधर्म का आविर्भाव वैदिक धर्म के पश्चात हुआ। पहले कहा जा चुका है कि वैदिक कालीन सरल और व्यावहारिक धर्म छठी शताब्दी ई० पू० तक अत्यंत जटिल और विकृत हो चुका था। जनसाधारण वैदिक धर्म से त्रस्त था और वह एक सरल नवीन धर्म की आवश्यकता महसूस कर रहा था। ऐसी स्थिति में जैनधर्म और बौद्धधर्म का उदय हुआ। इस प्रकार विदित होता है कि वैदिक धर्म की जटिलता के विरुद्ध जैन धर्म और बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ।

बौद्धधर्म और वदिकधर्म की तुलना

बौद्धधर्म की अपेक्षा वैदिकधर्म (ब्राह्मणधर्म अथवा हिंदूधर्म) अधिक पुरातन है। वैदिकधर्म और बौद्धधर्म में मूल अन्तर क्या है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि वैदिकधर्म और बौद्धधर्म में कोई अंतर नहीं है। उनका कथन है कि बौद्धधर्म वैदिकधर्म की मात्र सुधारवादी शाखा है। बौद्धधर्म में जिन सिद्धान्तों पर बल दिया गया है वे मूलत: वैदिकधर्म के ही सिद्धान्त हैं तथा उन सभी का उल्लेख वेदों और उपनिषदों में मिलता है। पाश्चात्य विद्वान मैक्समूलर का मत है कि बौद्धधर्म ने वैदिकधर्म के विरोध की अपेक्षा उसके गुणों को विकसित कर उन्हें चरम सीमा पर पहुंचा दिया। उनका कथन है—"वैदिकधर्म के अध्ययन के उपरांत बौद्धधर्म ब्राह्मणधर्म से पृथक नहीं लगेगा। बल्कि भारतीय मन का राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक और धार्मिक रूपों में स्वाभाविक विकास

दिखाई देगा।"[1] दर्शनशास्त्र के जगप्रसिद्ध विद्वान डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है—"महात्मा बुद्ध ने यह कभी महसूस नहीं किया कि वे किसी नए धर्म की स्थापना कर रहे थे। वे हिन्दूधर्म में उत्पन्न हुए तथा मरे। उन्होंने केवल आर्य सभ्यता के प्राचीन आदर्शों पर अधिक बल देकर उनका वर्णन किया।" डॉ० राधाकृष्णन ने बुद्ध को आधुनिक हिंदूधर्म का निर्माता कहा है। डॉ० मजूमदार का मत है कि जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों की पृष्ठभूमि आर्य संस्कृति की है। बार्थ महोदय का कथन है—"बौद्धधर्म हिन्दूधर्म का सुन्दर प्रतिबिम्ब था और सामाजिक दृष्टि से इसका आगमन स्वाभाविक था।"

इस प्रकार अनेक विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि बौद्धधर्म एक नवीन धर्म न होकर वैदिकधर्म की एक विकसित शाखा थी। बौद्धधर्म में जिन सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है वे मूलतः वैदिकधर्म के सिद्धान्त हैं। मोक्ष, स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म और अमरता आदि से सम्बद्ध विचारधाराएँ ऋग्वेद में वर्णित हैं। सत्य, अहिंसा, इंद्रिय-दमन, सदाचारपूर्ण आचरण और सत्कर्म का उल्लेख उपनिषदों एवं ब्राह्मण ग्रथों में किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषदों और छांदोग्य उपनिषद में कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है, उपनिषदों में मोक्ष, निर्वाण, तप और काया क्लेश के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है। वेदना और दुःख सम्बन्धी विचार बौद्धधर्म ने सांख्य दर्शन से ग्रहण किये हैं। भागवत पुराण और महाभारत के शांति पर्व में बलि और यज्ञ प्रथा का विरोध किया गया है। स्पष्ट हो जाता है कि वैदिकधर्म और बौद्धधर्म दोनों स्वर्ग और नरक, कर्म एवं पुनर्जन्म, सदाचारपूर्ण जीवन, मोक्ष, सत्य, अहिंसा, सत्कर्म आदि सिद्धान्तों में विश्वास रखते हैं। दोनों धर्मों के सिद्धान्त दार्शनिक तत्वों पर आधारित हैं। विद्वानों का मत है कि ब्राह्मणधर्म के सिद्धान्तों और बौद्धधर्म के सिद्धान्तों में पर्याप्त समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं। वैदिकधर्म और बौद्धधर्म में पर्याप्त समानताएँ होने पर भी अनेक सैद्धान्तिक मतभेद हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. **ईश्वर और आत्मा**—वैदिकधर्म (ब्राह्मणधर्म) ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखता है। वह ईश्वर को सृष्टि के रचयिता और हर्ता के रूप में अंगीकार करता है। वह ईश्वर की शक्ति को सर्वोपरि मानता है। उसके अनुसार, ईश्वर अनादि, अनंत और अमर है। किन्तु बौद्धधर्म ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता है। बौद्धधर्म के अनुसार संसार में व्याप्त विभिन्नताएँ यह सिद्ध करती हैं कि संसार में ईश्वर नाम की कोई शक्ति नहीं है। यही कारण है कि बौद्धधर्म अनीश्वरवादी कहलाया।

---

1. "To my mind, having approached Brahamanism after a study of the ancient religion of India, the religion of the Veda, Buddhism has always seemed to be, not a new religion, but a natural development of the Indian mind in its various manifestations, religious, philosophical, social and political.

—Max Mueller

ब्राह्मणधर्म आत्मा के अस्तित्व और उसके विकास में आस्था रखता है। ब्राह्मणधर्म की मान्यता है कि प्रत्येक प्राणी में आत्मा निहित होती है। आत्मा के आधार पर ही व्यक्ति अथवा प्राणी जीवित रहता है। आत्मा अमर, नित्य और सत्य है। आत्मा द्वारा शरीर को छोड़ दिये जाने की स्थिति में मृत्यु हो जाती है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता है। माया के पर्दे के कारण मनुष्य आत्मा को नहीं पहचान पाता है। मोक्ष प्राप्ति के फलस्वरूप आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। बौद्धधर्म आत्मा में विश्वास नहीं रखता। जब महात्मा बुद्ध से आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे गए तो वे सदैव मौन रहे। आत्मा में विश्वास न रखने के कारण बौद्धधर्म को अनात्मवादी कहा गया है।

2. **वेदों की अपौरुषेयता**—ब्राह्मण धर्म वेदों को अपौरुषेय मानता है। वह वेदों के मंत्रों को ईश्वरीय वाक्य मानता है तथा उनकी पवित्रता में अटूट श्रद्धा और विश्वास रखता है। वैदिक धर्म वेदों में वर्णित ज्ञान को सत्य मानता है। बौद्धधर्म वेदों की अपौरुषेयता को प्रामाणिक नहीं मानता है। वह वेदों को ब्रह्म वाक्य नहीं मानता है और न ही उसे ज्ञान की चरम सीमा मानता है। बौद्धधर्म तर्कशील धर्म है। वह तर्क और बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरने वाले तथ्य में ही विश्वास रखता है। उसके अनुसार इसके अतिरिक्त सब कुछ असत्य है।

3. **मोक्ष**—वैदिकधर्म और बौद्धधर्म के अनुसार जीवन का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। किंतु मोक्ष के अर्थ के संदर्भ में दोनों में मतभेद है। ब्राह्मण धर्म के अनुसार मोक्ष का तात्पर्य आत्मा की सांसारिक बंधनों और जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति तथा उसका परम ब्रह्म में विलीन हो जाना है, अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाने की स्थिति में आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। वह सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाती है। ब्राह्मण धर्म के अनुसार मोक्ष मृत्यु के बाद ही संभव है।

बौद्धधर्म में मोक्ष को निर्वाण की संज्ञा दी गई है। उसमें निर्वाण का अभिप्राय है सांसारिक अस्तित्व से मुक्ति, वासनाओं का अंत, पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति और आवागमन के चक्कर से मुक्ति प्राप्त करना। बौद्धधर्म के अनुसार निर्वाण मृत्यु से पूर्व भी प्राप्त किया जा सकता है।

4. **मोक्ष प्राप्ति का मार्ग**—ब्राह्मण धर्म में जिसे मोक्ष कहा गया है, बौद्धधर्म में उसे निर्वाण की संज्ञा दी गई है। मोक्ष के अर्थ की भाँति वैदिकधर्म और बौद्धधर्म में मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में भी अंतर दिखाई देता है। ब्राह्मण धर्म के अनुसार ज्ञान, तप और भक्ति मार्ग मोक्ष-प्राप्ति के साधन हैं। बौद्धधर्म ने मोक्ष प्राप्ति का साधन मध्यम मार्ग बतलाया है। उसके अनुसार सत्कार्य, सदाचार और नैतिकता पूर्ण जीवन से निर्वाण सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। महात्मा बुद्ध के अनुसार अष्टांगिक मार्ग का पालन करने से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। ब्राह्मण धर्म में शूद्र को मोक्ष प्राप्ति के अधिकार से वंचित रखा गया है, परंतु बौद्धधर्म में कहा गया है कि संपूर्ण मानव जाति मोक्ष प्राप्ति की अधिकारी है।

5. अहिंसा—ब्राह्मणधर्म में अहिंसा के सिद्धांत पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है। यद्यपि ब्राह्मण धर्म अहिंसा में विश्वास रखता है तथापि उसमें हिंसा और यज्ञों हेतु पशुबलि का निषेध नहीं किया गया है। बौद्धधर्म मूलतः अहिंसा-मूलक धर्म है। उसमें अहिंसा के सिद्धांत पर जोर दिया गया है। वह हिंसा का विरोधी है और प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा का उपदेश देता है।

6. वर्ण-व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था—ब्राह्मण धर्म में समाज में चतुर्वर्ण व्यवस्था और जाति-प्रथा को महत्त्व दिया गया है। यद्यपि प्रारंभ में वर्ण-व्यवस्था का आधार कर्म था, परंतु बाद में वर्ण का आधार जन्म हो गया था। कालांतर में चार वर्ण अनेक जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गये। इन जातियों में ऊँच-नीच और भेदभाव की भावना व्याप्त थी तथा खान-पान वर्जित थे। ब्राह्मणों को श्रेष्ठ और शूद्रों को हीन समझा जाता था। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म में वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा की प्रधानता रही है। किंतु बौद्धधर्म वर्ण-व्यवस्था और जाति प्रथा के विरुद्ध है। वह वर्ण का आधार कर्म मानता है। वह सामाजिक समानता में विश्वास रखता है। बुद्ध ने समाज में पुरोहितों की सर्वोपरिता का घोर विरोध किया।

ब्राह्मण धर्म में आश्रम व्यवस्था का अधिक महत्त्व है। ब्राह्मण धर्म के अनुसार संपूर्ण मानव जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमों में विभक्त है। बौद्धधर्म आश्रम-व्यवस्था में विश्वास नहीं रखता है।

7. धार्मिक क्रिया-कलाप—ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म अधिक व्यावहारिक और क्रियाशील है। ब्राह्मण धर्म में कर्मकांड, अंधविश्वास, व्ययसाध्य और हिंसक यज्ञ, आराधना, धार्मिक संस्कार और समारोह आदि धार्मिक क्रियाओं पर बल दिया गया है। उसमें अनेक धार्मिक अंधविश्वास व्याप्त हैं। ब्राह्मण धर्म के अनुसार वेद मंत्रों के उच्चारण द्वारा मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। देवता को प्रसन्न करने के लिए अग्नि में दूध-घी आदि सामग्री का हवन आवश्यक है। बिना पुरोहित के यज्ञ संपन्न नहीं हो सकते हैं। यज्ञों द्वारा इहलोक और परलोक की सभी वस्तुएं प्राप्त की जा सकती हैं। किंतु बौद्धधर्म उपरोक्त धार्मिक क्रियाओं और अंधविश्वासों के विरुद्ध है। यह यज्ञ और कर्मकांड का विरोधी है। बौद्धधर्म सत्कर्म, शुद्ध आचरण, श्रेष्ठ नैतिकता और आदर्श जीवन पर बल देता है।

8. धर्म-प्रचार—ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म ने धर्म-प्रचार के कार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्राह्मण धर्म के अनुयाइयों ने संस्कृत भाषा में धर्म ग्रंथों की रचना की और संस्कृत भाषा में ही धर्म प्रचार किया। संस्कृत जनसाधारण की भाषा न होने के कारण ब्राह्मण धर्म बौद्धधर्म की भाँति लोकप्रियता अर्जित नहीं कर पाया। बौद्धों ने जनसाधरण की भाषा पाली में अपने धर्म ग्रंथों की रचना की और उसी को धर्म प्रचार का माध्यम बनाया। फलतः बौद्धधर्म लोकप्रिय हो गया।

ब्राह्मण धर्म के अनुयाइयों ने स्वदेश और विदेशों में धर्म प्रचार हेतु कोई विशेष प्रयास नहीं किए। बौद्धधर्म प्रचारकों ने अनेक कष्ट सहते हुए असीम श्रद्धा

और उत्साह के साथ स्वदेश और विदेशों में अपने धर्म का प्रचार किया। बौद्धधर्म प्रचारक धर्म रहा। ब्राह्मण धर्म के भिक्षुओं और आचार्यों ने धर्म प्रचार हेतु किसी नियमित संघ की व्यवस्था की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत बौद्धधर्म के अनुयाइयों ने धर्म प्रचार हेतु संघों की स्थापना की, बौद्ध विहार और मठों ने धर्म प्रचार के कार्य में उल्लेखनीय योगदान दिया।

9. **मानव जीवन का उद्देश्य**—ब्राह्मण धर्म के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करना है, परंतु बौद्धधर्म के अनुसार संपूर्ण मानव जीवन दुःखपूर्ण है। बौद्धधर्म में मनुष्य के जीवन का उद्देश्य केवल निर्वाण प्राप्ति बतलाया गया है।

बौद्धधर्म और जैन धर्म की तुलना

वैदिक धर्म में व्याप्त अंधविश्वास, कर्मकांड और रक्तिम यज्ञों की अधिकता के कारण वह छठी शताब्दी ई० पू० तक अव्यावहारिक हो चुका था। जन-साधारण वैदिक धर्म की जटिल प्रक्रिया से त्रस्त था। वह एक नवीन सरल, पवित्र, सदाचार पर आधारित, तार्किक और व्यावहारिक धर्म की आवश्यकता महसूस कर रहा था। छठी शताब्दी ई० पू० में जैन धर्म और बौद्धधर्म ने वैदिक धर्म का विरोध करते हुए जनसाधारण को एक सरल, सरस, सदाचार पर आधारित और व्यावहारिक धर्म प्रदान किया। दोनों धर्मों का प्रादुर्भाव वैदिक धर्म के विरुद्ध हुआ था, और दोनों का उद्देश्य समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करना था। अतः दोनों धर्मों में पर्याप्त समानता का होना स्वाभाविक है।

समानताएं

बौद्धधर्म और जैनधर्म में व्याप्त समानताएं इस प्रकार हैं —

1. **उदयकाल, उद्देश्य और सिद्धांतों में समानता**—बौद्धधर्म और जैनधर्म के उदयकाल, उद्देश्य और सिद्धांतों में पर्याप्त समाता है। दोनों धर्मों का प्रादुर्भाव छठी शताब्दी ई० में हुआ। बौद्धधर्म और जैनधर्म दोनों का प्रमुख उद्देश्य वैदिक धर्म के विकृत स्वरूप से त्रस्त मानव समाज को एक सरल, सदाचार पर आधारित, तार्किक और व्यावहारिक धर्म प्रदान करना था। दोनों का उदय वैदिक धर्म के विरुद्ध हुआ था। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के सिद्धांतों को दोनों धर्म महत्त्व देते हैं। दोनों धर्म त्रिरत्न में आस्था रखते हैं।

2. **वैदिक धर्म की शाखाएं**—विद्वानों का मत है कि जैनधर्म के प्रवर्तक स्वामी और बौद्धधर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध ने नवीन धर्मों को जन्म न देकर पुरातन वैदिक धर्म के सिद्धांतों को अपनाया तथा उनका प्रचार किया। यही कारण है कि कतिपय विद्वान जैनधर्म और बौद्धधर्म को वैदिक धर्म की दो शाखाएं मात्र मानते हैं। मोक्ष अथवा निर्वाण, विश्व की क्षणभंगुरता, कर्म और पुनर्जन्म, क्षमा, अहिंसा सत्कर्म और वासनाओं का दमन करना आदि सभी वैदिक धर्म के सिद्धांत हैं, जैसा कि पिछले पृष्ठों में विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है। जैनधर्म और बौद्धधर्म ने उक्त

सिद्धांतों को केवल व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया। इन सिद्धांतों को समस्त भारतीय धर्मों की सामान्य संपत्ति कहा गया है।

जैन धर्म और बौद्धधर्म दोनों ईश्वर के प्रति उदासीन हैं। दोनों धर्मों में संन्यास को प्रधानता दी गई है! डॉ० मजूमदार का मत है—"जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों की पृष्ठभूमि आर्य संस्कृति की है। वे दोनों ही उपनिषदों के तत्त्वज्ञान से स्फूर्ति प्राप्त करते हैं। चाहे वह थोड़ी हो अथवा अधिक तीनों में थोड़ा-सा निराशावादी विश्वास पाया जाता है कि यह संसार दुःखों से भरा है जिसका वैदिककाल के आशाजनक दृष्टिकोण में कोई चिन्ह नहीं पाया जाता है। पुनर्जन्म का सिद्धांत भी उपनिषदों और गीता में पाया जाता है और तीनों धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।"

3. वेदों की प्रामाणिक, कर्मकांड, यज्ञादि जटिल धार्मिक क्रियाओं का विरोध—जैन धर्म और बौद्धधर्म दोनों वेदों की प्रामाणिकता के विरुद्ध है। वे वेदों की अपौरुषेयता को अंगीकार नहीं करते। उन्होंने वेदों की सार्वभौमिकता का विरोध किया है। दोनों धर्मों ने समान रूप से वैदिक कर्मकांड की जटिलता, जाति प्रथा की कठोरता और समाज में ब्राह्मणों की सर्वोपरिता का विरोध किया। जैनधर्म और बौद्धधर्म हिंसक यज्ञ, हवन, अनुष्ठान, पशुबलि आदि धार्मिक क्रियाओं का विरोध करते हैं।

4. बहुदेववाद के विरोधी—जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों बहुदेववाद के विरोधी हैं। उनका मत है कि मोक्ष अथवा निर्वाण प्राप्ति का साधन यज्ञ, हवन, पूजा, अनुष्ठान आदि क्रियाएं न होकर सत्कर्म और शुद्ध आचरण है। दोनों धर्मों ने आचरण की शुद्धता और कर्म की प्रधानता पर जोर दिया है।

5. सामाजिक समानता के प्रबल समर्थक—छठी शताब्दी ई०पू० तक वर्ण व्यवस्था की बेड़ियों ने समाज को जकड़ लिया था। यद्यपि प्रारम्भ में वैदिकधर्म में वर्ण का आधार कर्म था तथापि बाद में उसका (कर्म का) स्थान जन्म ने ले लिया था। जैनधर्म और बौद्धधर्म ने जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया। वे कर्म के आधार पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे। जैनधर्म और बौद्धधर्म ने जाति-पांति, भेदभाव, ऊँच-नीच और छुआछूत का विरोध किया, तथा स्त्री-पुरुष दोनों की समानता पर जोर दिया। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने घोषणा की कि उनके धर्म के द्वार सभी वर्ण के लोगों के लिए समान रूप से खुले हैं।

6. तार्किक और मानवतावादी धर्म—जैनधर्म और बौद्ध धर्म तर्क पर आधारित और विशुद्ध मानवतावादी धर्म हैं। दोनों का मूल उद्देश्य मानव जाति का कल्याण करना है।

7. धर्म प्रचार—जैनधर्म और बौद्धधर्म के आचार्यों ने स्वधर्म के प्रचार और प्रसार पर विशेष बल दिया। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने विभिन्न स्थानों की यात्रा कर अपने धर्मोपदेशों का प्रचार किया। उन्होंने विशिष्ट वर्ग की भाषा संस्कृत का परित्याग कर जनभाषा में धर्मग्रंथों की रचना को प्रोत्साहन दिया तथा उसी भाषा में धर्मोपदेश दिए। प्रारम्भ में जैन धर्माचार्यों ने अपने ग्रंथ प्राकृत भाषा

और बौद्धों ने पाली भाषा में लिखे। यही कारण है कि जनसाधारण ने असीम उत्साह के साथ जैनधर्म और बौद्धधर्म को ग्रहण किया। भिक्षु-भिक्षुणियों के संघों ने धर्म-प्रचार में सक्रिय योग्यदान दिया।

8. **अन्य समानताएं**—बौद्धधर्म और जैनधर्म दोनों में आशावादिता का अभाव है। दोनों का लक्ष्य सांसारिक दुःखों से छुटकारा दिलाना है, और दोनों आचरण की शुद्धता पर बल देते हैं। दोनों ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में अस्पष्ट हैं। दोनों धर्मों में संन्यास जीवन की प्रधानता होते हुए भी गृहस्थ धर्म की आवश्यकता को स्वीकार किया गया है। जैन और बौद्ध दोनों धर्मों पर अनार्य विचारधारा का प्रभाव है। कालांतर में दोनों धर्मों के अनुयाई मूर्तिपूजा में विश्वास करने लगे। जैन धर्मानुयाई महावीर स्वामी और अन्य तीर्थंकरों तथा बौद्ध अनुयाई महात्मा बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमाएं निर्मित कर उनकी उपासना करने लगे। यह स्पष्टतः अनार्य विचारधारा का प्रभाव है। दोनों धर्म अनुयाई मूर्ति पूजा द्वारा निर्वाण-प्राप्ति में विश्वास रखने लगे।

असमानताएँ

उपरोक्त विवरण से विदित होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० में वैदिक धर्म के विरुद्ध उदित जैनधर्म और बौद्धधर्म में पर्याप्त समानताएँ थीं, पर्याप्त समानताओं के बावजूद उनमें अनेक असमानताएँ अथवा विषमताएं दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है—

1. **आत्मा और ईश्वर**—जैनधर्म आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है। उसके अनुसार आत्मा मनुष्य, पशु, पक्षी, मिट्टी आदि में विद्यमान रहती है। अविद्या के कारण मानव उसके ज्ञान से अनभिज्ञ रहता है। बौद्धधर्म आत्मा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श को निरर्थक मानता है। महात्मा बुद्ध से आत्मा के विषय में अनेक बार पूछे जाने पर वे सदैव मौन रहे। जैनधर्म ईश्वर के अस्तित्व को तो अंगीकार करता है, किन्तु उसे सृष्टिकर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता। बौद्धधर्म ने सृष्टि के सृजन और ईश्वर सम्बन्धी चर्चाओं को विवादास्पद मानकर छोड़ दिया।

2. **निर्वाण के सम्बन्ध में मतभेद**—बौद्धधर्म और जैनधर्म दोनों जीवन का मुख्य उद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति बताते हैं। परन्तु निर्वाण के अर्थ के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद हैं। हिन्दू-धर्म में जिसे मोक्ष की संज्ञा दी गई है, उसे बौद्धधर्म में निर्वाण और जैनधर्म में कैवल्य कहा गया है। बौद्धधर्म के अनुसार वासनाओं का अंत और व्यक्तित्व का पूर्णरूप से नाश होना निर्वाण है। जैनधर्म के अनुसार मानव शरीर और दुःखों से मुक्ति की स्थिति को कैवल्य कहते हैं। बौद्धधर्म के अनुसार निर्वाण मृत्यु से पूर्व इसी लोक में प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु जैनधर्म का विश्वास है कि कैवल्य मृत्यु के उपरान्त ही सम्भव है।

3. **निर्वाण प्राप्ति के साधन में अन्तर**—जैनधर्म और बौद्धधर्म में निर्वाण प्राप्ति के साधन के सम्बन्ध में भी अन्तर है। जैनधर्म कैवल्य प्राप्ति हेतु कठोर तापस

जीवन, व्रत, अनशन, प्राणत्याग आदि कठिन कार्यों का उल्लेख करता है, जबकि महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति का साधन मध्यम मार्ग बतलाया है। मध्यम मार्ग से तात्पर्य है न अधिक कठोर जीवन व्यतीत करना और न ही अधिक भोग-विलास में लिप्त रहना। उन्होंने निर्वाण प्राप्ति हेतु अष्टांगिक मार्ग के अनुसरण पर बल दिया।

4. अहिंसा का सिद्धान्त—दोनों धर्म अहिंसा के सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। किन्तु जैनधर्म बौद्धधर्म की अपेक्षा अहिंसा पर अधिक बल देता है। जैनधर्म पेड़-पौधों और अन्य वनस्पतियों में भी प्राण मानता है। वह छोटे से छोटे जीव की हिंसा का विरोध करता है। जैनधर्म के अनुसार हिंसा का विचार करना भी घातक है। उसके अनुयाई मुँह में कपड़ा बांधकर चलते है। वे पानी का कम से कम प्रयोग करते हैं। उनका मत है कि अधिक पानी पीने से अधिक कीटाणु मरते हैं।

बौद्धधर्म अहिंसा के सिद्धान्त में आस्था रखता है। परन्तु वह जैनधर्म की भाँति उस पर आवश्यकता से अधिक बल नहीं देता। बौद्धधर्म ने अहिंसा के व्यावहारिक स्वरूप को ही अपनाया है। विशेष परिस्थितियों में बौद्धधर्म के अन्तर्गत माँस का प्रयोग करने की अनुमति प्रदान की गई है। महात्मा बुद्ध को अतिसार रोग सड़े हुए माँस का प्रयोग करने के फलस्वरूप ही हुआ था।

5. राजकीय-संरक्षण—जैनधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म अधिक सरल और व्यावहारिक होने के कारण उसे अशोक, मिलिंद, कनिष्क, हर्ष, धर्मपाल और देवपाल जैसे महान् सम्राटों ने राज्याश्रय प्रदान किया। उन्होंने बौद्धधर्म के प्रचार और प्रसार में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। सम्राट अशोक ने न केवल स्वदेश बल्कि विदेशों में भी अपने दूत भेजकर बौद्धधर्म का प्रचार किया। राजकीय संरक्षण प्राप्त होने के कारण बौद्धधर्म जैनधर्म की अपेक्षा द्रुतगति से फैल गया तथा उसके अनुयाई जैनधर्म की अपेक्षा अधिक थे।

6. भाषा, साहित्य और संप्रदाय—महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से जनभाषा में धर्मोपदेश दिए। उन्होंने अपने शिष्यों को लोकभाषा में ही धर्म-प्रचार की आज्ञा दी। प्रारम्भ में जैनधर्म और बौद्ध-धर्म ग्रन्थों की रचना जनभाषा में ही की गई। इसका मूल उद्देश्य यह था कि जन-साधारण उन्हें आसानी से पढ़कर उनका पालन कर सके। जैनधर्म-ग्रन्थों की रचना प्राकृत भाषा में हुई, जबकि बौद्धों ने पाली भाषा को अपनाया। जैनधर्म के ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—अंग, उपांग और मूल। बौद्धों के धार्मिक ग्रंथों को त्रिपिटक कहा जाता है—सूत्त पिटक, विनय पिटक तथा अभिधम्म पिटक। दोनों धर्मों के दो-दो सम्प्रदाय हैं। जैनधर्म के सम्प्रदाय श्वेताम्बर और दिगम्बर तथा बौद्ध सम्प्रदायों को हीनयान और महायान कहा जाता है।

7. धर्म-प्रचार—जैनधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म के प्रचार साधन अधिक प्रभाव-शाली सिद्ध हुए। बौद्धधर्म के प्रचार में भिक्षु-भिक्षुणियों, व्यापारियों, धनवानों, सम्राटों, धर्मयात्रियों, दार्शनिकों आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जैनधर्म का प्रसार

धनसम्पन्न, वैश्य, उद्योगपति और व्यापारियों तक ही सीमित रहा। प्रभावशाली प्रचार साधनों के माध्यम से बौद्धधर्म जैनधर्म की अपेक्षा स्वदेश और विदेशों में तीव्र गति से फैल गया।

8. **अन्य विषमताएँ**—जैनधर्म ने हिंदूधर्म से कभी भी पृथकता का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया। इसके विपरीत बौद्धधर्म ने पृथकता की नीति का अनुसरण किया। बौद्धों का दृष्टिकोण क्रान्तिकारी था, और जैनधर्म का दृष्टिकोण सहिष्णुतापूर्ण था। तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराइयों पर जो कुठाराघात बुद्ध ने किया महावीर वैसा प्रबल विरोध नहीं कर पाए। दोनों धर्मों के त्रिरत्नों में भी अन्तर है। जैनधर्म के त्रिरत्न हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण। बौद्धधर्म के त्रिरत्न इस प्रकार हैं—बुद्ध, धर्म और संघ। बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म भारत में अधिक स्थायी सिद्ध हुआ। उसके अनेक अनुयाई आज भी विद्यमान हैं। बौद्धधर्म का जिस द्रुतगति से प्रसार हुआ उतनी ही शीघ्रता से उसका ह्रास भी हो गया। बौद्धधर्म में सर्वानुकूलता की मात्रा जैनधर्म की अपेक्षा अधिक है। डॉ० स्मिथ का मत है कि जैनधर्म में गृहस्थों को अधिक महत्त्व दिया गया है और बौद्धधर्म भिक्षुओं को महत्त्व देता है।

हीनयान और महायान सम्प्रदाय

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के बाद सरस, सरल और लोक कल्याणकारी बौद्धधर्म की मान्यताओं के सम्बन्ध में बौद्ध धर्मानुयाइयों में गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गये जिसके परिणामस्वरूप बौद्धधर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। सम्राट कनिष्क के शासनकाल तक बौद्ध अनुयाइयों में मतभेद इतने अधिक बढ़ गये थे कि वे दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गये जिसमें से एक हीनयान तथा दूसरा महायान कहलाया। कनिष्क द्वारा कुण्डल वन में आयोजित चतुर्थ बौद्ध संगीति में महायान सम्प्रदाय को मान्यता प्रदान की गई।

हीनयान सम्प्रदाय और महायान सम्प्रदाय बौद्धधर्म का विभाजित स्वरूप था, फिर भी दोनों के सिद्धान्तों में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। हीनयान सम्प्रदाय के अनुयाई महात्मा बुद्ध के मूल सिद्धान्तों में आस्था रखते थे और महायान बौद्धधर्म का परिवर्तित रूप था। हीनयान सम्प्रदाय के अनुयाई अपने निर्वाण के अतिरिक्त दूसरों के कल्याण हेतु प्रयत्नशील रहते थे, जबकि महायानी स्वयं की कोई परवाह न कर परहित में ही जीवन समर्पित कर देते थे। महायान सम्प्रदाय के उदयकाल, उसके आविर्भाव के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों तथा हीनयान और महायान में व्याप्त विषमताओं के उल्लेख से पूर्व संक्षेप में दोनों सम्प्रदायों का अध्ययन आवश्यक है।

हीनयान संप्रदाय—हीनयान सम्प्रदाय के अनुयाई महात्मा बुद्ध के मूल सिद्धान्तों में आस्था रखते थे। वे महात्मा बुद्ध को परमेश्वर का अवतार न मानकर महापुरुष मात्र मानते थे। वे महात्मा बुद्ध की उपासना नहीं करते थे, बल्कि उनके

प्रति श्रद्धाभाव रखते थे। हीनयानी मानव की व्यक्तिगत साधना को ही उसकी निर्वाण-प्राप्ति का साधन मानते थे। हीनयान धर्मानुयाइयों के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य अर्हत पद की प्राप्ति था।

महायान संप्रदाय—महात्मा बुद्ध की मृत्यु के बाद उनसे सम्बद्ध स्थान तीर्थ-स्थल बन गये थे। भक्तिवाद के प्रभाव के परिणामस्वरूप बुद्ध को ईश्वर का अवतार माना जाने लगा। कालान्तर में बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियाँ निर्मित कर उनकी उपासना प्रारम्भ हो गई। निर्वाण प्राप्ति हेतु व्यक्तिगत साधन के स्थान पर भक्ति भावना को महत्त्व दिया जाने लगा। बौद्ध धर्म का यह परिवर्तित स्वरूप महायान सम्प्रदाय कहलाया। एच० जी० रॉलिसन का मत है, महायान हीनयान से उतना ही भिन्न है जितना कि मध्यकालीन ईसाई धर्म प्रथम शताब्दी ई० के ईसाइयों के सरल सिद्धान्तों से भिन्न है।

महायान का उदय काल—महायान धर्म का आविर्भाव कब हुआ, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यद्यपि महायान धर्म को मान्यता कनिष्क द्वारा आयोजित चतुर्थ बौद्ध संगीति में प्राप्त हुई, तथापि उसका उदय कनिष्क के काल से पूर्व ही हो चुका था। प्रोफेसर एन. एन. घोष का मत है कि महायान के बीज हीनयान सम्प्रदाय में ही निहित थे। प्रोफेसर नलिनाक्षदत्त का कथन है कि पाली निकायों में महायान-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। मौर्य-काल से ही बोधिसत्वों में विश्वास की भावना दृढ़ हो चुकी थी। पहली और दूसरी शताब्दी ई० पू० में निर्मित भारहुत और साँची के स्तूपों में व्यक्तियों को बुद्ध की उपासना करते हुए अंकित किया गया है। महायान के उदय काल के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ० नलिनाक्षदत्त ने लिखा है—"महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति ई० पू० पहली सदी के लगभग आन्ध्र-प्रदेश में हुई जो महासंघिकों का केन्द्र-स्थल था। कनिष्क के समय में वह एक मान्य बौद्धधर्म स्वीकार किया गया और तदुपरान्त वह पहली और दूसरी शताब्दी में सम्पूर्ण उत्तरी भारत में फैल गया तथा नागार्जुन, आर्यदेव, असंग और वसुबन्धु के संरक्षण में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया।"[1] डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी के अनुसार महायान का उदय कनिष्क के काल से बहुत पहले हो चुका था।

महायान संप्रदाय के उदय के कारण—महायान सम्प्रदाय के उदय के लिए अनेक परिस्थितियाँ उत्तरदाई थीं। बौद्ध अनुयाइयों में महात्मा बुद्ध के प्रति असीम श्रद्धा और भक्तिभाव के कारण वे उन्हें ईश्वर का प्रतिरूप मानने लगे और उनकी

---

1. "Mahayan Buddhism originated about the first century B. C. in the Andhra country where the Mahasanghikas had their centre. It became a recognised form of Buddhism at the time of Kanishka, and then it spread all over northern India in the first or second century A. D., to blossom into its full glory under the care of Nagarjuna, Aryadeva, Asanga and Vasubandhu."

—*Dr. Nalinaksha Dutt*

प्रतिमाएँ निर्मित कर उनकी उपासना करने लगे। विंटर्निज महोदय का मत है कि भगवद्गीता के भक्तिभाव ने बौद्धधर्म को प्रभावित किया जिसके परिणामस्वरूप महायान सम्प्रदाय का उदय हुआ। रॉलिसन महोदय का कथन है कि बौद्धधर्म विदेशी आक्रांताओं का धर्म हो जाने पर उसका मूलरूप पूर्णतः विलुप्त हो गया। भारत में यूनानियों के बस जाने के फलस्वरूप वे एक-दूसरे के सम्पर्क में आए। भारतीय और यूनानी संस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क के फलस्वरूप गांधार कला का जन्म हुआ। गांधार-कला शैली के अन्तर्गत महात्मा बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ निर्मित हुईं। इस प्रकार विदित होता है कि महायान धर्म के प्रसार में गांधार-कला का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। डॉ० स्मिथ का विचार है कि बौद्धधर्म विदेशों में फैल जाने के कारण वह अन्य देशों के धर्मों के सम्पर्क में आया। बौद्धधर्म का विदेशों में प्रवेश करने के कारण उसमें विदेशी धर्मों के तत्त्व आ मिले। फलतः उसका मूलस्वरूप परिवर्तित हो गया। तत्कालीन भारत के अन्य धर्मों—वैष्णव, शैव, जैन और आजीवक ने बौद्धधर्म को प्रभावित किया। अन्य धर्मों के प्रभावस्वरूप बौद्ध अनुयाइयों ने अपने धर्म में सुधार और उसके विकास की आवश्यकता को महसूस किया। बौद्धधर्म के अनात्मवादी, अनीश्वरवादी और नीति मार्गी सिद्धांत जनसाधारण को अधिक आकर्षित नहीं कर पा रहे थे। ऐसी स्थिति में बौद्धधर्म को जनप्रिय बनाने के उद्देश्य से अनेक बौद्ध आचार्यों ने उसमें परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर दिया। फलतः महायान संप्रदाय का उदय हुआ।

महायान संप्रदाय के आविर्भाव और उसके विकास में सर्वाधिक योगदान विदर्भ के ब्राह्मण नागार्जुन का रहा। उसने बौद्धधर्म को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से उसमें अनेक सुधार कर नवीन सिद्धांतों का समावेश किया। उसने महायान संप्रदाय को एक ठोस दर्शन और निश्चित विचारधारा प्रदान की। उसका प्रमुख उद्देश्य बौद्धधर्म को हिंदू धर्म के सन्निकट लाना था। अपने इस उद्देश्य में नागार्जुन पर्याप्त सफल रहा। महायान संप्रदाय के उदय काल तथा उसके उदय के लिए उत्तरदाई कारण पर अपने विचार व्यक्त करते हुए उसने लिखा है—"यद्यपि प्रमाण सर्वथा प्रस्तुत नहीं, तथापि इस बात को मान लेने के लिए विशिष्ट कारण है कि महायान का उदय वास्तव में कनिष्क के काल से काफी पहले हो चुका था। इसका प्रारंभ बौद्धधर्म में भक्ति के समावेश के साथ माना जाना चाहिए। बौद्धधर्म का साधारण जनता में प्रचार कुछ हद तक इसका कारण हो सकता है, क्योंकि उसे हीनयान के आदर्शवाद से ऊपर उदार जनधर्म की आवश्यकता थी और हीनयान में उसकी भक्ति को प्रज्वलित करने की सामर्थ्य न थी।"

हीनयान और महायान सम्प्रदाय में अन्तर

हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों का स्रोत महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित बौद्ध धर्म था। बुद्ध की मृत्यु के बाद बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उसके आचार्यों में मतभेद उत्पन्न हो गये। प्रथम शताब्दी तक ये मतभेद उभर कर सामने आ गए जिसके फलस्वरूप ये बौद्ध धर्म हीनयान और महायान नामक दो

सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। सम्राट कनिष्क द्वारा आयोजित चतुर्थ बौद्ध संगीति में महायान सम्प्रदाय को मान्यता प्रदान की गई। दोनों सम्प्रदायों का मूल बौद्ध धर्म होने पर भी उनमें जो अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. हीनयान बौद्ध धर्म का प्राचीन रूप है, जबकि महायान बौद्ध धर्म का नवीन और परिवर्तित स्वरूप है।

2. हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदाय अपने धर्म का मूलाधार महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं को मानते हैं। हीनयान सम्प्रदाय का दृष्टिकोण अपरिवर्तनशील है। वह नीरस तथा दार्शनिक है। महायान सम्प्रदाय के अनुयायी बुद्ध के उपदेशों को अन्त नहीं मानते हैं। महायान ने बुद्ध के उपदेशों को विकसित स्वरूप प्रदान किया।

3. हीनयान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निर्वाण-प्राप्ति हेतु सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। वह जीवन की सरलता, श्रेष्ठता और पवित्रता को महत्त्व देता है। महायान स्वयं की निर्वाण-प्राप्ति के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व के कल्याण को महत्व देता है। उसके अनुसार बुद्ध और बोधिसत्वों के प्रति असीम भक्तिभाव से निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। वह हीनयान की भांति केवल निजी हित की बात न सोचकर सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की भावना को महत्व देता है।

4. हीनयान महात्मा बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा के विरुद्ध है। हीनयानी बुद्ध को केवल अपना गुरु मानते थे और कुछ प्रतीक चिन्हों के रूप में उनका स्मरण किया जाता था। किन्तु महायान सम्प्रदाय के अन्तर्गत महात्मा बुद्ध तथा बोधिसत्वों की अनेक प्रतिमाएं निर्मित कर उनकी उपासना की जाने लगी। वे बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानते थे। इस सम्बन्ध में रालिसन महोदय का यह कथन उल्लेखनीय है कि बुद्ध अब तक एक दिवंगत गुरु के रूप में नहीं रह गये थे, बल्कि एक जीवित रक्षक देवता बन गये जिन्होंने राम अथवा कृष्ण की भांति मानवता की मुक्ति के लिए अवतार धारण किया था। स्पष्ट हो जाता है कि महायान सम्प्रदाय ने अवतार सिद्धान्त को ग्रहण कर लिया था।

5. हीनयान शुष्क और सिद्धान्त परक धर्म था। उसके ज्ञान और वैराग्य नामक सिद्धान्त जन साधारण की मनोवृत्ति के प्रतिकूल थे। वह प्रधानतया विद्वानों और संन्यासियों का धर्म था। महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्त जन साधारण की प्रवृत्तियों के अनुकूल थे। भक्ति और सर्वभूतानुकंपा उसके प्रमुख सिद्धान्त थे।

6. हीनयान के अनुसार निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य निष्क्रिय हो जाता है। महायान के अनुसार बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य जन कल्याण में लग जाता है और तब तक प्रयत्नशील रहता है जब तक कि सम्पूर्ण विश्व निर्वाण प्राप्त न कर ले।

7. हीनयान सम्प्रदाय के सिद्धान्त महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग और दस निषेधों तक ही सीमित हैं। महायान सम्प्रदाय में महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों के अतिरिक्त बोधिसत्वों के सिद्धान्तों का समावेश हुआ है।

8. हीनयान बुद्ध को गुरु और पथ-प्रदर्शक मात्र मानते थे। वे कमल चिन्ह अथवा पद चिन्ह को बुद्ध का प्रतीक मानते थे। महायानी बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानते थे। उनका विश्वास था कि वे भक्ति द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थ सद्धर्म पुण्डरीक में वह स्वयं कहते हैं—"मैं सम्पूर्ण सृष्टि का जन्मदाता हूँ, भिषक हूँ और समस्त प्राणियों का संरक्षक हूँ।" महायान सम्प्रदाय के अनुयायी बुद्ध की प्रतिमाएं निर्मित कर उनकी उपासना करते थे।

9. निर्वाण के सम्बन्ध में हीनयान और महायान सम्प्रदायों में मतभेद हैं। हीनयान के अनुसार निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य की सभी इच्छाओं का अन्त हो जाता है। महायान इच्छाओं की पूर्ति की अवस्था को निर्वाण की स्थिति मानता है।

10. हीनयान को बौद्ध धर्म का दक्षिणी सम्प्रदाय और महायान को उत्तरी सम्प्रदाय कहा जाता है। हीनयान सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थ जनभाषा में लिपिबद्ध हैं। हीनयान से अपने को पृथक् करने के उद्देश्य से महायानियों ने अपने धर्म-ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में की।

11. हीनयान की अपेक्षा महायान धर्म अधिक परिवर्तनशील, व्यापक, व्यावहारिक, उदार और लोक कल्याणकारी था। यही कारण है कि वह (महायान) मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया आदि देशों में द्रुतगति से फैल गया। इस प्रकार महायान ने विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया।

12. हीनयान के अनुसार सम्पूर्ण विश्व दुःख का सागर है। महायान इस तथ्य को अंगीकार करते हुए भी आशावादी है और प्रत्येक जीव के निर्वाण प्राप्ति की बात कहता है।

बौद्धकालीन सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा

जैन ग्रन्थों और बौद्ध ग्रन्थों से छठी शताब्दी ई० पू० की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। बौद्ध ग्रन्थ तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दशा के ज्ञान से भरे पड़े हैं। बौद्ध साहित्य में उस काल का विस्तृत उल्लेख मिलने तथा महात्मा बुद्ध द्वारा समाज में नवीन चेतना का संचार करने के कारण छठी शताब्दी ई० पू० की सभ्यता और संस्कृति बौद्ध कालीन सभ्यता और संस्कृति के नाम से जानी जाती है। बौद्ध कालीन राजनीतिक दशा का उल्लेख पहले किया जा चुका है। संक्षेप में उस काल की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा इस प्रकार विदित होती है—

1. सामाजिक दशा

(अ) **वर्ण-व्यवस्था**—यद्यपि महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का घोर विरोध किया था तथापि वह समाज का मूलाधार

बनी रही । तत्कालीन समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में विभक्त था। समाज में अनेक जातियां अस्तित्व में आ चुकी थीं । महावीर और गौतम बुद्ध ने समाज में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति का विरोध किया । जैन धर्म और बौद्ध धर्म के आविर्भाव के फलस्वरूप समाज में ब्राह्मणों का प्रभाव कम हो गया और क्षत्रियों का महत्व बढ़ गया । जैन साहित्य और बौद्ध साहित्य में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ कहा गया है । किन्तु पश्चिमी भारत में ब्राह्मणों की सर्वोपरिता पूर्ववत् बनी रही । वहां वैदिक धर्म, कर्मकाण्ड और यज्ञों का प्रभाव व्याप्त था । महावीर और गौतम बुद्ध के उपदेशों के फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था में कुछ शिथिलता अवश्य आई, शूद्रों की स्थिति में सुधार हुआ और समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व में कमी आई । किन्तु जातक कथाओं से विदित होता है कि वर्ण-व्यवस्था का मूलरूप अपरिवर्तित ही रहा । तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थों से विदित होता है कि व्यवसाय परिवर्तन की स्वतन्त्रता थी । जातक ग्रन्थों में ब्राह्मणों और क्षत्रियों द्वारा सम्पन्न अनेक व्यवसायों का उल्लेख किया गया है ।

(आ) **सामाजिक असमानता**—बौद्ध कालीन समाज में ऊँच-नीच, छुआछूत और भेदभाव की भावना व्याप्त थी । शूद्रों और चाण्डालों को हेय दृष्टि से देखा जाता था और उनका स्पर्श वर्जित था । श्वेतकेतु जातक में उल्लिखित विवरण से ज्ञात होता है कि एक ब्राह्मण किसी चाण्डाल के स्पर्श-भय से भयभीत होकर भाग रहा है । मातंग जातक में यह उल्लेख मिलता है कि एक चाण्डाल द्वारा नदी में फेंकी गई दातून स्नान करते समय ब्राह्मण की चोटी पर उलझ जाने के कारण उसका (चाण्डाल का) निवास गृह नदी तट से हटाकर नदी के बहाव की ओर कर दिया गया । चित्त-संभूत जातक में कहा गया है कि लोगों ने दो चाण्डाल बन्धुओं को इसलिए पीटा कि वे मन्दिर जाने वाली दो महिलाओं के मार्ग में खड़े थे । अस्पृश्य और चाण्डाल लोग शहरों और गांवों से बाहर निवास करते थे । वे शिकार करके तथा अन्य घृणित व्यवसायों से जीवन-यापन करते थे ।

सम्पूर्ण समाज चार वर्णों में विभक्त था । चार वर्ण अनेक जातियों में विभाजित थे । एक जाति के लोग अपने को दूसरी जाति के लोगों से श्रेष्ठ समझते थे । रक्त की शुद्धता पर विशेष जोर दिया जाता था ।

(इ) **आश्रम-व्यवस्था**—महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने न केवल वर्ण-व्यवस्था बल्कि आश्रम-व्यवस्था का भी विरोध किया । उन्होंने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमों के स्थान पर उच्च नैतिकता, जीवन की पवित्रता, आचरण की शुद्धता, सत्य, अहिंसा और संयम पर अधिक बल दिया । जैन धर्म और बौद्ध धर्म के प्रभाव स्वरूप ब्राह्मण धर्म पर आधारित चार आश्रमों का महत्व कम हो गया और उसका स्थान उच्च नैतिकता, पवित्रता, सत्य और अहिंसा ने ले लिया ।

(ई) **स्त्रियों की दशा**—ऋग्वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों को जो सम्मान प्राप्त था उसमें क्रमिक ह्रास प्रारम्भ हो गया था । [illegible] ई० पू० में स्त्रियों

की दशा में गिरावट जारी रही। स्वयं बुद्ध ने प्रारम्भ में बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश को निषिद्ध कर दिया था। बाद में अपने प्रिय शिष्य आनन्द के अनुरोध पर यद्यपि उन्होंने संघ में महिलाओं को प्रवेश करने की आज्ञा तो प्रदान कर दी, किन्तु संघ में प्रविष्ट महिलाओं पर आठ कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए। उन्होंने स्वयं आनन्द से कहा था—"जहां स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन का परित्याग कर गृह विहीन जीवन में प्रवेश करने लगी हैं, वहाँ धर्म चिरस्थाई नहीं रह सकेगा।" स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों द्वारा बौद्ध संघ में प्रविष्ट होने पर महात्मा बुद्ध ने धर्म के स्थायित्व पर चिन्ता व्यक्त की थी। बौद्ध संघ में सौ वर्ष की भिक्षुणी को एक दिन के भिक्षु से निम्न समझा जाता था। भिक्षुणियों को भिक्षु की प्रार्थना करनी पड़ती थी। भिक्षुणियाँ स्वेच्छापूर्वक भिक्षु के पास नहीं जा सकती थीं। इस प्रकार विदित होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० में महिलाओं की स्थिति में पहले की अपेक्षा अधिक गिरावट आ गई थी। स्त्री पुरुष पर आश्रित मानी जाती थी।

स्त्रियों की स्थिति में कमी आ जाने के बावजूद उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा हेतु विशेष व्यवस्था थी। वे गृह कार्यों के अतिरिक्त नृत्य और संगीत की शिक्षा अर्जित करती थीं। खेमा, सुभद्रा, जातक, अभरा, जयन्ती, सुमा, अनोरमा आदि उस काल की विदुषी महिलाएं थीं। बौद्ध भिक्षुणियों ने 'थेरीगाथा' नामक बौद्ध गीत संग्रह की रचना की थी।

स्त्रियों को उत्सवों और समारोहों में भाग लेने की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। यद्यपि साधारणतया माता-पिता ही लड़कियों का विवाह तय करते थे, किन्तु लड़कियों को वर चुनने की स्वतन्त्रता भी थी। पर्दा-प्रथा का प्रचलन नहीं था। तत्कालीन समाज में गणिकाओं और वेश्याओं का उल्लेख मिलता है। वैशाली की आम्रपाली इस काल की प्रसिद्ध गणिका थी। सच्चरित्र और विदुषी महिलाओं को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

(उ) **परिवार**—परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई थी। संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी। परिवार का वयोवृद्ध कुटुम्ब का स्वामी होता था। परिवार के सभी सदस्य श्रद्धापूर्वक उसकी आज्ञा का पालन करते थे। माता-पिता को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। पुत्र-जन्म के अवसर पर विशेष उत्सव मनाया जाता था। परिवार सुख, शान्ति और समृद्धि का गढ़ था।

(ऊ) **भोजन**—जैन धर्म और बौद्ध धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप समाज में हिंसक प्रवृत्तियां कम हो गई थीं। अहिंसा के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया जाता था। समाज में मांसाहार अच्छा नहीं समझा जाता था। निम्न वर्ग के लोग मांस का प्रयोग करते थे। गेहूं, जौ, चावल, दाल, फल, सब्जी, दूध, दही, घी, तेल आदि का उपयोग किया जाता था। धार्मिक उत्सवों और समारोहों के अवसर पर मद्यपान का प्रचलन था। धनी लोग सोने के बर्तनों में भोजन करते थे।

(ए) **वस्त्र और आभूषण**—लोग सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करते थे। साधारणतया तीन वस्त्र पहने जाते थे। लोग कुर्ता पहनते थे। एक अन्य वस्त्र कन्धे पर लपेटा जाता था तथा दूसरे वस्त्र से शरीर के नीचे का भाग ढका जाता था। सिर पर वस्त्र अथवा पगड़ी धारण की जाती थी। निर्धन लोग लकड़ी के खड़ाऊं और धनी लोग चमड़े के जूते पहनते थे।

स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण प्रेमी थे। पुरुष दाढ़ी रखते थे और कान में बालियां पहनते थे। सम्पन्न परिवारों की महिलाएं नाना प्रकार के आभूषण धारण करती थीं, जिनमें हार, चूड़ियां, कन्दौरे, घुंघरू, पायजेब आदि प्रमुख थे।

(ऐ) **मनोरंजन के साधन**—मनोविनोद के लिए लोग अनेक धार्मिक उत्सवों और समारोहों का आयोजन करते थे। नृत्य, संगीत और नाटकों से मनोरंजन किया जाता था। पशु-युद्ध, पांसे का खेल, जादूगरों का खेल, विहार यात्रा, घुड़दौड़, मल्ल-युद्ध, छुतक्रीड़ा, आखेट आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे।

(ओ) **विवाह**—बौद्धकाल में बाल-विवाह की कुप्रथा प्रचलित नहीं थी। साधारणतया विवाह वयस्क अवस्था में होते थे। विवाह प्रमुखतया माता-पिता द्वारा तय किए जाते थे। समाज में स्वयंवर की प्रथा भी प्रचलित थी। जातक कथाओं में कन्या द्वारा स्वयं वर चुनने के उल्लेख मिलते हैं। गान्धर्व विवाह और अंतर्जातीय विवाह होते थे। साधारणतया एक पत्नी प्रथा प्रचलित थी, किंतु धन संपन्न और राजकुल से सम्बद्ध लोग एक से अधिक विवाह करते थे। सहगोत्रीय-विवाह और निकट सम्बन्धी के साथ संपन्न विवाह हेय दृष्टि से देखे जाते थे।

(औ) **शिक्षा**—महात्मा बुद्ध और उनके अनुयाइयों ने धर्म-प्रचार हेतु जिन विहारों की स्थापना की थी कालांतर में वे प्रसिद्ध शिक्षा केंद्रों के रूप में परिवर्तित हो गये। बौद्ध विहारों में विविध विषयों का अध्ययन और अध्यापन किया जाता था। बौद्ध आचार्यों ने शिक्षकों के दायित्व के रूप में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास था। वाराणसी और तक्षशिला उस समय शिक्षा के प्रसिद्ध केंद्र थे। चिकित्साशास्त्र, शल्यशात्र, धनुर्विद्या, राजनीति, आखेट, पशु चिकित्सा आदि विषओं की शिक्षा दी जाती थी। शिष्य को अनुशासन-बद्ध होकर गुरु की शरण में शिक्षा अर्जित करनी पड़ती थी। शूद्र और चाण्डाल लोगों को शिक्षा से वंचित रखा जाता था।

(अं) **साहित्य**—इस काल में अनेक जैन तथा बौद्ध ग्रंथों की रचना हुई। बौद्ध ग्रंथ पाली भाषा में लिखे गये। उस काल में रचित बौद्धग्रंथों में धर्मपिटक विनयपिटक, अभिधम्म पिटक, महाबग्ग आदि उल्लेखनीय हैं। ब्राह्मण धर्म के आचार्यों ने भी संस्कृत भाषा में अनेक धर्म ग्रंथों की रचना की।

2. धार्मिक दशा

(अ) **जैनधर्म और बौद्धधर्म**—छठी शताब्दी ई०पू० तक वैदिक धर्म का स्वरूप अत्यंत विकृत हो चुका था। उसके अव्यावहारिक स्वरूप के फलस्वरूप ही जैनधर्म

और बौद्धधर्म उदित हुए। वैदिक धर्म में हिंसात्मक यज्ञों को महत्त्व दिया जाता था, यज्ञ व्ययसाध्य हो गये थे। समाज में ब्राह्मणों को सर्वोपरि समझा जाता था। लोग अंध विश्वासों से ग्रस्त थे। महावीर और गौतम बुद्ध ने वैदिक धर्म की बुराइयों पर कुठाराघात करते हुए नवीन धर्मों का प्रचार किया जो जैनधर्म और बौद्ध धर्म के नाम से विदित हैं। दोनों धर्म सत्य, अहिंसा, संयम, नैतिकता, पवित्रता और शुद्धाचरण पर बल देते हैं।

(आ) **धार्मिक संप्रदाय**— महात्मा बुद्ध के आविर्भाव से लेकर नंद वंश के अंत तक भारत वर्ष में अनेक धार्मिक संप्रदाय प्रचलित थे। पाली ग्रंथ ब्रह्मजाल में इन संप्रदायों की संख्या 62 तथा जैन सूत्रकृतांग में 363 बताई गई है। 'अंगुत्तर निकाय' में तत्कालीन समाज में प्रचलित धार्मिक संप्रदायों की संख्या केवल 10 बताई गई है जो अधिक प्रामाणिक प्रतीत होती है, बौद्धकाल में जैन धर्म और बौद्धधर्म के अतिरिक्त प्रचलित प्रमुख धर्मों का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है।

(इ) **वैष्णव धर्म**—जैनधर्म और बौद्धधर्म के उदय के बावजूद समाज पर वैष्णव धर्म का प्रभाव था। वैष्णव धर्म के अनुयाई विष्णु (वासुदेव) को अपना आराध्य देव मानते थे। वे विष्णु को परमब्रह्म और सृष्टि का पालनकर्ता मानते थे। वैष्णव धर्मानुयाई गरुड़ को विष्णु का वाहन और लक्ष्मी को उनकी अर्धांगिनी के रूप में अंगीकार करते थे। उनका विश्वास था कि विष्णु की आराधना और उपासना से ही मोक्ष संभव है। कृष्ण को भगवान विष्णु का अवतार तथा भगवद्-गीता को भागवत धर्म का श्रेष्ठ धार्मिक ग्रंथ माना जाने लगा था।

(ई) **शैवधर्म**—शैवधर्म का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीन काल में भारत में शिव की उपासना विविध रूपों में की जाती थी। सिंधु सभ्यता के अंतर्गत 'पशुपति देव' के रूप में शिव की उपासना प्रचलित थी। ऋग्वैदिक काल में शिव की पूजा रुद्रदेवता के रूप में की जाती थी। अथर्ववेद में रुद्र को सबसे बड़ा देवता कहा गया है और उपनिषदों में उसे ब्रह्म का स्वरूप प्रदान किया गया है। कालांतर में शिव महादेव कहलाए। उन्हें सृष्टि का निर्माता और संहारक कहा जाने लगा। शैव धर्म के अनुयाई शिव को अपना उपास्यदेव मानते थे। वे शिव की भक्ति से ही मोक्ष सम्भव मानते थे। शिव के साथ-साथ उनकी पत्नी पार्वती की पूजा भी प्रचलित थी।

(उ) **अन्य संप्रदाय**—जैनधर्म, बौद्धधर्म, वैष्णवधर्म और शैवधर्म के अतिरिक्त छठी शताब्दी ई० पू० में आजीविक, निर्ग्रन्थ, मुण्डसाबक, जटिलिक, परिव्राजक, मागन्धिक, तेदान्दिक, अविरुद्धक, गोमतक, देवधम्मिक, कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, आदि धार्मिक संप्रदाय प्रचलित थे। इस काल में पूरण कस्सप, मुक्खलिपुत्त गोसाल, अजितकेस-कम्बलि, पकुध्ध, कच्चायन, निगण्ठ नाटपुत्त आदि धर्म प्रचारकों ने अपने धार्मिक संप्रदायों का प्रचार किया।

(ऊ) **देवी-देवता**—इस काल में अनेक देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्मानुयाई अनेक देवताओं की पूजा करते थे। जैनग्रंथ औपपातिक सूत्र और बौद्धग्रंथ चुल्लनिद्देस में अनेक देवताओं का उल्लेख मिलता है। सूर्य

चन्द्रमा, ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, मित्र, स्कंध, गरुड़ आदि की पूजा प्रचलित थी। पुत्र प्राप्ति हेतु और प्राकृतिक प्रकोपों से बचने के लिए यज्ञों का आयोजन किया जाता था। भूतों और पिशाचों की पूजा भी की जाती थी। उन्हें संतुष्ट करने के लिए बलि दी जाती थी। देवताओं के अतिरिक्त देवियों की पूजा प्रचलित थी। देवियों में दुर्गा और लक्ष्मी का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

(ए) **यज्ञ**—जैनधर्म और बौद्धधर्म के प्रबल विरोध के बावजूद समाज में यज्ञों का प्रचलन था। बौद्ध साहित्य में तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक प्रकार के यज्ञों का उल्लेख मिलता है जिनमें ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्य-यज्ञ प्रमुख हैं। यज्ञों में होम किया जाता था और कुछ यज्ञों में पशुबलि भी दी जाती थी। यज्ञ ऋग्वैदिक व्यावहारिक स्वरूप का परित्याग कर हिंसक और व्ययसाध्य हो गये थे।

(ऐ) **अंधविश्वास**—जातक ग्रंथों से विदित होता है कि लोग शकुनों में विश्वास करते थे। चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, एकादशी आदि दिवस शुभ और पवित्र माने जाते थे। शुभ दिवसों को ही मंगल कार्य संपन्न किए जाते थे। पवित्रता, सत्संग, दान और शुद्धाचरण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। लोग ज्योतिष विद्या, मंत्रविद्या, भूतविद्या और जादू टोने में विश्वास करते थे।

3. आर्थिक दशा

(अ) **कृषि**—छठी शताब्दी ई० पू० में भारत की अधिकांश जनता ग्रामों में निवास करती थी। भारत प्राचीन काल से ही एक कृषि प्रधान देश रहा है। बौद्धकाल में लोग प्रायः कृषि पर ही निर्भर थे। चावल, गेहूँ, जौ, तिल और गन्ने की खेती की जाती थी। खेतों का आकार छोटा होता था। कृषक को भू-स्वामित्व प्राप्त था। लावारिस जमीन पर राजा का अधिकार होता था। नहर और कुओं से सिंचाई की जाती थी। कृषि उपज का $\frac{1}{10}$ भाग राजकर के रूप में वसूल किया जाता था। कृषि उपज की वसूली हेतु ग्राम भोजक नामक अधिकारी नियुक्त था।

(आ) **पशुपालन**—कृषि के अतिरिक्त पशुपालन लोगों का दूसरा प्रमुख व्यवसाय था। गाय, बैल, घोड़ा, भैंड़, बकरी, कुत्ता आदि पालतू पशु थे। गाय को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। चरागाहों और वनों की अधिकता थी।

(इ) **उद्योग**—कृषि और पशुपालन के अतिरिक्त लोग विभिन्न प्रकार के उद्योग-धंधों में लगे रहते थे। जातक कथाओं में उस काल में प्रचलित अठारह प्रकार के उद्योगों का उल्लेख मिलता है। डेविड्स महोदय के अनुसार बढ़ई, लुहार, प्रस्तरकार, बुनकर, चर्मकार, कुम्भकार, हाथीदाँत के कारीगर, रंगरेज, जौहरी, मछुए, कसाई, बहेलिया, बावर्ची, नाई, माली, नाविक, टोकरी बनाने वाले और चित्रकार उस काल के प्रमुख शिल्पी थे। वस्त्र उद्योग समृद्ध अवस्था पर था। गांधार ऊनी वस्त्रों के व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध था। वाराणसी रेशमी वस्त्रों और शिविदेश सूती वस्त्रों के प्रमुख केन्द्र थे। सोना, चाँदी, मोती, हीरे, हाथी दाँत आदि के आभूषण बनाये जाते

थे। व्यवसाय वंश परंपरागत हो गए थे। चर्मकार, कसाई, शिकारी, मछुए आदि को हीन समझा जाता था।

(ई) **व्यापार**—बौद्धकाल में व्यापार उन्नत अवस्था पर था। आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार होते थे। व्यापार के लिए जल मार्गों और स्थल मार्गों का प्रयोग किया जाता था। बड़े-बड़े नगरों को राज मार्गों के द्वारा मिलाया गया था। व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा हेतु विशेष व्यवस्था थी जिससे व्यापारी स्वतंत्रता और निर्भीकतापूर्वक व्यापार कर सकें। माल ढोने के लिए रथ, ऊँट, घोड़े और बैलगाड़ियों का प्रयोग किया जाता था। वाराणसी प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। फारस की खाड़ी और लाल समुद्र के जल मार्ग से अरब तथा पाश्चात्य देशों के साथ व्यापार होता था। सिंहल द्वीप, ब्रह्मा, सुमात्रा, मलाया, आदि प्रायद्वीपों के साथ जलमार्ग से व्यापार होता था। भारतीय नावों और जहाजों के निर्माण की कला से अवगत थे। सुधारक जातक में 700 व्यापारियों के एक जहाज पर यात्रा करने का उल्लेख मिलता है। भृगुकच्छ, सूरपरक, ताम्रलिप्ति आदि उस काल के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। रेशम, मलमल, ऊनी वस्त्र, कवच, सुवासित द्रव्य, जड़ी-बूटियां, औषधियाँ, हाथी दाँत का सामान, स्वर्ण, रजत के आभूषण आदि निर्यात किए जाते थे।

(उ) **मुद्रा**—इस काल में कार्षापण नामक तांबे का सिक्का क्रय-विक्रय का माध्यम था। कार्षापण चाँदी का भी होता था। कार्षापण के अतिरिक्त निक्ख (निस्क); सुवण्ण (सुवर्ण) नामक सिक्के भी प्रचलन में थे। सिक्कों पर पशुओं के चित्र तथा मुहर अंकित होती थी। ऋण-पत्र, उधार-पत्र, और हुण्डियां भी क्रय-विक्रय का माध्यम थीं।

(अ) **व्यावसायिक संघ**—इस काल में प्रायः सभी प्रमुख व्यवसायियों ने अपने संघ बना लिए थे। एक जैसा व्यवसाय करने वालों का एक संघ होता था जिसे श्रेणी कहा जाता था। जातकों में 18 संघों का उल्लेख मिलता है। श्रेणी का अध्यक्ष 'प्रमुख', 'ज्येष्ठक' अथवा 'श्रेष्ठिन्' कहलाता था। प्रत्येक श्रेणी के अपने नियम और उपनियम होते थे। वह अपने संघ की समस्त समस्याओं का समाधान करती थी। व्यापारियों को 'सेट्टी' अथवा 'श्रेणी' कहा जाता था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. जैनधर्म और बौद्धधर्म के उदय के क्या कारण थे ?
2. छठी शताब्दी ई० पू० में धार्मिक क्रांति के क्या कारण थे ? उसका क्या परिणाम हुआ ?
3. उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन कीजिए जिन्होंने छठी शताब्दी ई० पू० को भारतीय इतिहास का एक विशिष्ट युग बना दिया।
4. महावीर स्वामी के प्रारंभिक जीवन एवं उनकी शिक्षाओं का उल्लेख कीजिए।
5. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म की देन का मूल्यांकन कीजिए।
6. जैनधर्म के प्रमुख सिद्धांत क्या थे ? भारतीय संस्कृति को इस धर्म का क्या योगदान रहा ?

7. बुद्ध के जीवन-चरित्र एवं उपदेशों का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।
8. भारतीय संस्कृति में बौद्धधर्म की देन क्या है ? विवेचना कीजिए।
9. भारत में बौद्धधर्म की तीव्र उन्नति एवं अवनति के कारणों का उल्लेख कीजिए।
10 भारत में बौद्धधर्म के पतन के कारणों की विवेचना कीजिए।
11. बौद्धधर्म और जैनधर्म की समानताओं एवं असमानताओं का उल्लेख कीजिए।
12. वैदिकधर्म, जैनधर्म तथा बौद्धधर्म के मुख्य सिद्धांतों की तुलना कीजिए। क्या जैनधर्म एवं बौद्धधर्म को वैदिकधर्म का संशोधित संप्रदाय कहा जा सकता है ?
13. हीनयान और महायान संप्रदायों में व्याप्त विषमताओं का उल्लेख कीजिए।
14. बौद्धकालीन सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दशा पर प्रकाश डालिए।

12

मगध साम्राज्य का उत्कर्ष

मगध का इतिहास बहुत प्राचीन है। मगध का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है, । वैदिक साहित्य में मगध वासियों की उपेक्षा करते हुए उन्हें वेश्याओं का मित्र कहा गया है । बृहद्रथ से पूर्व का मगध का इतिहास अंधकार में समाया हुआ है। डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी के शब्दों में—"मगध का प्राचीन राजवंशी इतिहास अंधकारपूर्ण है। कहीं-कहीं योद्धा और राजनीतिज्ञ दिखाई देते हैं जिनमें से कुछ तो संभवतः बिल्कुल ही काल्पनिक थे और कुछ वास्तविक नेता प्रतीत होते हैं। मगध का प्रामाणिक इतिहास हर्यंक वंशी बिंबिसार से प्रारम्भ होता है।"

प्राचीन भारत के इतिहास में मगध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँ के शासक साम्राज्यवादी नीति के पोषक थे। उन्होंने विशाल साम्राज्य की स्थापना कर राज्य को एक सूत्र में बाँधने का आदर्श प्रस्तुत किया। चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व के मगध-साम्राज्य का इतिहास इस प्रकार विदित होता है।

बृहद्रथ—महाभारत और पुराणों से विदित होता है कि चेदिराज वसु के पुत्र बृहद्रथ ने गिरिव्रज को राजधानी बनाकर मगध पर अपना अधिकार स्थापित किया। रामायण में वसु को ही गिरिव्रज का संस्थापक कहा गया है। बृहद्रथ का पुत्र जरासंध महाबली सिद्ध हुआ।

जरासंध—बृहद्रथ की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जरासंध राजगद्दी पर बैठा। उसने काशी, कोशल, चेदि, मालवा, विदेह, अंग, वंग, कलिंग, पांड्य, सौवीर, मद्र, कश्मीर और गांधार आदि के राजाओं को पराजित करके सम्राट का पद प्राप्त किया। हरिवंश पुराण में जरासंध को महाबाहु, महाबली और देवेन्द्र के समान महातेज वाला कहा गया है।

मथुरापुरी का राजा कंस जरासंध का जामाता था। कृष्ण द्वारा कंस के वध से क्रुद्ध होकर जरासंघ महाबली ने अठारह बार मथुरा पर आक्रमण किए और यादवों की शक्ति को उखाड़ फेंका। जरासंध अतुल पराक्रमी और महाबली था। उसकी असीमित शक्ति के बारे में कृष्ण ने कहा था कि उसके (जरासंध) पक्ष में बहुत से राजा हैं और उनकी सेना इतनी अधिक शक्तिशाली है कि सौ वर्ष में भी उसे पराजित नहीं किया जा सकता।

जरासंघ ने अपने जामाता के हत्यारे कृष्ण के विरुद्ध सामरिक अभियान जारी रखे। उसने कृष्ण को आतंकित कर मथुरा छोड़ देने को बाध्य किया। जरासंध के आक्रमणों से त्रस्त होकर कृष्ण को मथुरा छोड़कर अपने सजातीय (यादवों) लोगों के साथ पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित द्वारावती में शरण लेनी पड़ी। पाण्डव राजा युधिष्ठिर की दिग्विजय के समय भीम और कृष्ण ने मिलकर जरासंध का वध किया। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके वंशजों ने दीर्घकाल तक मगध में राज्य किया। किन्तु जरासंध के शासन काल की अपेक्षा मगध-राज्य बहुत छोटा रह गया था। पुराणों से विदित होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० में बृहद्रथ के वंश का अन्त हो गया। छठी शताब्दी ई० पू० में मगध का पुनः उत्कर्ष हुआ। हर्यकवंशी बिंबिसार ने मगध पर अधिकार कर उसे अपने पराक्रम और बाहुबल से एक विशाल साम्राज्य का स्वरूप प्रदान कर दिया।

बिंबिसार
(544 ई० पू०—492 ई० पू०)

छठी शताब्दी ई० पू० में उत्तरी भारत में कोशल, वत्स, अवंति और मगध नामक चार शक्तिशाली राज्य विद्यमान थे। इन राज्यों में साम्राज्य-विस्तार के लिए परस्पर प्रतिद्वन्द्विता की भावना व्याप्त थी। अतः उनमें प्रायः संघर्ष होता रहता था। छठी शताब्दी ई० पू० के मध्य में मगध पर शक्तिशाली राजा बिंबिसार ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उसे महात्मा बुद्ध का सखा और अनुयायी कहा गया है।

बिंबिसार का वंश—बिंबिसार के वंश के सम्बन्ध में मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं। पुराणों में उसे शिशुनाग का वंशज कहा गया है। महावंश से विदित होता है कि बिंबिसार के वंश की समाप्ति के पश्चात् शिशुनाग मगध की राजगद्दी पर आसीन हुआ। स्पष्ट है कि शिशुनाग वंश ने बिंबिसार के वंश के अन्त के पश्चात् शासन किया। अतः बिंबिसार को शिशुनाग का वंशज कहना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अश्वघोषकृत 'बुद्धचरित्र' में बिंबिसार को हर्यंक कुल का कहा गया है। अधिकांश विद्वान् उसे हर्यंक कुल का ही मानते हैं।

राज्यारोहण—बिंबिसार एक साधारण सामंत भट्टिय का पुत्र था। उसके पिता का नाम भाति अथवा भातिय मिलता है। डा० रायचौधरी का मत है कि भाति अथवा भातिय उसका उपनाम था। महावंश में उल्लिखित विवरण से ज्ञात

होता है कि बिंबिसार के पिता ने उसे पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में मगध की राजगद्दी पर बिठाया।

बिंबिसार एक कुशल, दूरदर्शी और शक्तिशाली नरेश था। विशाल और शक्तिशाली सेना का स्वामी होने के कारण उसने 'सेनिय' अथवा श्रेणिक (महती सेना का स्वामी) नामक विरुद धारण किया। वह महत्त्वाकांक्षी सम्राट था। उसमें चक्रवर्ती सम्राट बनने की तीव्र अभिलाषा थी। उसने नीति एवं शक्ति से निरन्तर मगध-राज्य का विस्तार किया। मगध जैसे छोटे राज्य को एक विशाल साम्राज्य का स्वरूप प्रदान करना उसकी असाधारण योग्यता का ही परिणाम था।

राज्यावधि—बिंबिसार ने कितने वर्ष तक शासन किया, इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। पुराणों के अनुसार उसने लगभग 28 वर्ष तक राज्य किया। महावंश उसके 52 वर्ष के राज्यकाल का उल्लेख करता है। डा० राधा कुमुद मुकर्जी बिंबिसार का शासन-काल 603 ई० पू० से 551 ई० पूर्व तक निर्धारित करते हैं। डा० स्मिथ का मत है कि उसने 582 ई० पू० से 554 ई० पू० तक शासन किया। मूर्धन्य इतिहासकार डा० रमेश चन्द्र मजूमदार ने बिंबिसार की राज्यावधि 544 ई० पू० से 492 ई० पू० तक निर्धारित की है। चूंकि बिंबिसार महात्मा बुद्ध (563 ई० पू० से 483 ई० पू०) का सखा और भक्त था, अतएव उसकी शासनावधि 544 ई० पू० से 492 ई० पू० तक अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

बिंबिसार मात्र 15 वर्ष की अल्पायु में मगध की राजगद्दी पर बैठा। जिस समय वह राजगद्दी पर आसीन हुआ, वह घोर विपत्तियों और राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता का काल था। उसके समकालीन राजवंश साम्राज्य-विस्तार की होड़ में लगे हुए थे। ऐसी स्थिति में उसने सूझ-बूझ और राजनीतिक दूरदर्शिता से काम लिया। उसने तत्कालीन प्रमुख राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए, जो राजनीति से प्रेरित थे।

राजनीति से प्रेरित वैवाहिक सम्बन्ध—प्राचीन काल में राज्य-विस्तार के लिए तत्कालीन शक्तिशाली राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना राजनीति का एक प्रमुख अंग माना जाता था। बिंबिसार के काल में कोशल, वत्स और अवंति तीन महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली राज्य विद्यमान थे। उनसे मैत्री सम्बन्ध स्थापित किए बिना मगध-साम्रज्य का विस्तार नितान्त कठिन था। तत्कालीन राज्यों की शक्तिशाली स्थिति को ध्यान में रखते हुए बिंबिसार ने अपने साम्राज्य के विस्तार हेतु उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने आवश्यक समझे। उसने कोशल नरेश महाकोशल की पुत्री और प्रसेनजित् की बहिन कोशल देवी से विवाह सम्पन्न किया। इस विवाह में उसे काशी का गाँव दहेज के रूप में प्राप्त हुआ, जिसकी वार्षिक आमदनी एक लाख रुपये थी। इस वैवाहिक सम्बन्ध के फलस्वरूप काशी प्रदेश के कुछ भू-भाग पर बिंबिसार का अधिकार स्थापित हो गया।

बिंबिसार का दूसरा विवाह लिच्छवि नरेश चेटक की पुत्री चेल्लना के साथ हुआ। उसका तीसरा विवाह पंजाब के शक्तिशाली मद्र-राज्य की राजकुमारी क्षेमा

से हुआ। विदेह की राजकुमारी वासवी के साथ उसने चौथा विवाह सम्पन्न किया। इन वैवाहिक सम्बन्धों के माध्यम से बिंबिसार ने तत्कालीन प्रमुख राजवंशों से सहानुभूति अर्जित कर मगध-राज्य के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया। बिंबिसार के वैवाहिक सम्बन्धों के राजनीतिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"इन विवाहों से न केवल बिंबिसार का समसामयिक राजकुलों पर प्रभाव विदित होता है वरन् यह भी सत्य है कि इन्हीं की पृष्ठभूमि पर मगध के प्रसार की अट्टालिका खड़ी हुई। उदाहरणत: केवल कोशल देवी के विवाह-दहेज में ही काशी की एक लाख की वार्षिक आय मगध को प्राप्त हुई।"

अवंतिराज चण्डप्रद्योत महासेन से मैत्री—बिंबिसार के राज्य काल में अवंति (उज्जैन) का राज्य अत्यधिक शक्तिशाली था। बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि वहाँ का राजा चण्डप्रद्योत अत्यधिक शक्तिशाली और उग्र स्वभाव का था। वह सम्पूर्ण उत्तरी भारत को विजित करना चाहता था। नीतिकुशल बिंबिसार ने शक्तिशाली चण्डप्रद्योत के विरुद्ध सामरिक अभियान का जोखिम नहीं उठाया। जब उसके मित्र तक्षशिला के राजा पुष्करसारी ने चण्डप्रद्योत के विरुद्ध संघर्ष में बिंबिसार से सहायता माँगी तो उसने सहायता देने से इन्कार कर दिया। बिंबिसार ने मगध-राज्य की सुरक्षा को दृष्टिगत रखते हुए चण्डप्रद्योत महासेन के साथ मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए। बौद्ध ग्रन्थ विनय पिटक से विदित होता है कि एक बार जब अवंति नरेश चण्डप्रद्योत पाण्डु रोग से पीड़ित हुआ तो उस अवसर पर बिंबिसार ने उसके उपचार हेतु अपने प्रसिद्ध राजवैद्य जीवक को उज्जैन भेजा।

अंग राज्य पर विजय—जातकों के विवरण से ज्ञात होता है कि साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा से अंग और मगध दोनों राज्यों के राजाओं के मध्य सदैव संघर्ष होता रहता था। बिंबिसार के पिता ने अंग को विजित करने के उद्देश्य से उस पर आक्रमण कर दिया, किन्तु वह अंग नरेश ब्रह्मदत्त द्वारा पराजित हुआ और मार डाला गया। अंग पर विजय प्राप्त कर बिंबिसार ने अपने पिता के स्वप्न को साकार कर दिखाया।

साम्राज्यवादी नरेश बिंबिसार मगध के पूर्व में स्थित अंग-राज्य को अधिकृत करना चाहता था। मगध और अंग दोनों राज्यों के मध्य में चंपा नदी बहती थी। चंपा नदी के तट पर स्थित चम्पा नगरी अंग-राज्य की राजधानी थी। महात्मा बुद्ध के काल में चम्पा नगरी धन और वैभव से पूर्ण थी। बिंबिसार ने अंग-राज्य को विजित करने के उद्देश्य से उस पर आक्रमण कर दिया। उसने अंग-नरेश ब्रह्मदत्त को पराजित करके उसके राज्य को मगध-साम्राज्य में सम्मिलित कर दिया। बौद्ध धर्म ग्रन्थों से विदित होता है कि जिस अंग-राज्य को बिंबिसार का पिता विजित नहीं कर सका, उसे बिंबिसार ने विजित कर पूर्ण रूप से मगध में मिला लिया। बिंबिसार ने अपने पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) को चम्पा नगरी का शासक नियुक्त किया। तिब्बती स्रोतों से भी अंग-राज्य पर बिंबिसार की विजय की पुष्टि होती है।

साम्राज्य-विस्तार—बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि बिंबिसार का अंग-मगध राज्य 300 योजन तक विस्तृत था। महावंश से ज्ञात होता है कि उसके राज्यान्तर्गत अस्सी हजार गांव थे। प्रारम्भ में उसके राज्य की राजधानी गिरिव्रज अथवा पुरातन राजगृह थी। बाद में उसने नवीन राजगृह नगर को बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने बिंबिसार की राजधानी पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"उसकी राजधानी गिरिव्रज थी जो पांच दीवारों से सुरक्षित थी। इसकी बड़ी-बड़ी दीवारें आज तक खड़ी हैं और प्राचीनतम भारतीय पाषाण स्थापत्य का निर्देशन प्रस्तुत करती हैं। बाद में राजधानी राजगृह पहुँचाई गई जिसकी योजना महागोविन्द नामक स्थपति ने बनाई थी।"

शासन-प्रबन्ध—बिंबिसार नीति-कुशल और शक्तिशाली शासक था। किन्तु शक्तिशाली होते हुए भी वह निरंकुश नहीं था। राज्य-कार्य में वह अमात्यों और गांवों के मुखियों की सलाह लेता था। राजसभा अथवा मन्त्रि-परिषद से मन्त्रणा ली जाती थी। शासन-प्रबन्ध में महामात्रों का प्रमुख प्रभाव था। उन पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी। उपयोगी सलाह देने वाले अधिकारी को पुरस्कृत तथा गलत सलाह देने वाले को दंडित किया जाता था। बिंबिसार के शासन-प्रबन्ध के मुख्य अधिकारी इस प्रकार थे—सर्वार्थक महामात्र, सेनापति (सेनानायक महामात्र), न्यायाधीश (व्यावहारिक महामात्र) और गांव का मुखिया (ग्राम भोजक)। गांवों और नगरों के अधिकारियों को शासन में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ग्राम सभाएं गांव का प्रबन्ध करती थीं। दंड-विधान कठोर था। अपराधी को कारावास की सजा दी जाती थी। गम्भीर अपराध करने वाले अभियुक्त को अंग-भंग का दंड दिया जाता था। बिंबिसार के कुशल शासन-प्रबन्ध पर प्रकाश डालते हुए डा० रोमिला थापर ने लिखा है—"भारतीय राजाओं में सर्वप्रथम बिम्बिसार ने ही कुशल प्रशासन की आवश्यकता पर बल दिया। अपने मन्त्रियों का चयन वह बड़ी सतर्कता से करता था और उनके परामर्श की भी कभी उपेक्षा न करने के लिए प्रसिद्ध था। अधिकारियों को उनके कार्य के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में बांटा गया था। इस प्रकार एक शासन-पद्धति के प्रारम्भिक रूपों ने जड़ पकड़ी।"

धार्मिक सहिष्णुता—बिंबिसार प्रजावत्सल शासक था। वह उसके इहलोक और परलोक दोनों के सुख के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानता था। बौद्ध साहित्य में उसे 'धर्मराज' कहा गया है। वह महात्मा बुद्ध का सखा और भक्त था। बौद्ध धर्मानुयायी होने पर भी उसमें धार्मिक सहिष्णुता की भावना व्याप्त थी। जैन धर्म-ग्रन्थ उसे महावीर स्वामी का अनुयायी बताते हैं। इस प्रकार बौद्ध और जैन धर्म-ग्रन्थ उसे अपने-अपने धर्म का अनुयायी सिद्ध करते हैं। बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि उसने वेणुवन बौद्ध संघ को दान में दिया था और अपने राजवैद्य जीवक को बुद्ध की चिकित्सा हेतु भेजा था। जैन ग्रन्थ 'उत्तराध्ययन सूत्र' से ज्ञात होता है कि बिंबिसार स्वयं महावीर स्वामी के पास गया था और उनका अनुयायी हो गया।

ब्राह्मण धर्म के अनुयायी उसे अपने धर्म का अनुयायी बताते हैं। उसने चम्पा नगर की सम्पूर्ण आय वहां के प्रसिद्ध ब्राह्मण सोमदण्ड को दान में दे दी थी।

देहावसान—बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु ने उसकी हत्या कर दी। संकिच्चा जातक में यह उल्लेख मिलता है कि महात्मा बुद्ध के विरोधी देवदत्त के बहकावे में आकर अजातशत्रु ने अपने पिता को मरवा डाला। जैन साहित्य से विदित होता है कि अजातशत्रु ने बिंबिसार को कारागार में बन्द कर दिया जहां उसने आत्महत्या कर ली। उसकी निधन की तिथि 492 ई० पू० मानी जाती है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि बिंबिसार एक महान् सम्राट् सिद्ध हुआ। वह एक ओर पराक्रमी, साहसी और दुर्धर्ष योद्धा था, तो दूसरी ओर आदर्श एवं सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली का संचालक भी था। उसके शासन-काल में मगध-साम्राज्य का उत्कर्ष हुआ। वह साम्राज्यवादी नीति का पोषक था। बिंबिसार के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए भगवती प्रसाद पांथरी ने लिखा है—"निस्संदेह प्रवीर और नीतिकुशल बिंबिसार ने एक ओर मैत्री द्वारा काशी को और दूसरी ओर भुजबल द्वारा अंग को मगध-राज्य में मिलाकर मगध को साम्राज्य-निर्माण के पथ पर अग्रसारित कर दिया था। तब से मगध निरन्तर अपनी सीमाओं को बढ़ाता ही चला गया और परिणामतः मौर्य (चन्द्रगुप्त-अशोक) के समय में पहुँचकर मगध राज्य ने अन्ततः भारतीय साम्राज्य का रूप ग्रहण कर लिया था।"

अजातशत्रु
(492 ई० पू०—462 ई० पू०)

बिंबिसार को मौत के घाट उतार कर 492 ई० में पितृहंता कुणिक (अजातशत्रु) मगध की राजगद्दी पर बैठा। वह अपने पिता की भाँति महत्त्वाकांक्षी, शक्तिशाली और साम्राज्यवादी नीति का पोषक था। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त पैतृक साम्राज्य का विस्तार किया। उसके काल में हर्यंक-वंश का मगध-राज्य अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर था। अपने पिता के राज्य-काल में वह चम्पा का शासक नियुक्त किया गया था।

बिंबिसार की मृत्यु के सम्बन्ध में बौद्ध तथा जैन ग्रंथों में विभेद दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार उसके पुत्र अजातशत्रु ने उसकी हत्या कर दी। जैन ग्रंथों से विदित होता है कि अजातशत्रु ने अपने पिता बिंबिसार को कारागार में बन्द कर दिया जहाँ उसने आत्महत्या कर ली। यह भी अनुश्रुति है कि बुद्ध के चचेरे भाई और प्रबल प्रतिद्वंद्वी देवदत्त के भड़कावे में आकर अजातशत्रु ने पहले अपने पिता को बंदी बना लिया और फिर भूखों मार डाला। सामन्नफलसुत्त में उल्लिखित है कि अजातशत्रु ने महात्मा बुद्ध के सम्मुख अपने इस घृणित पाप पर खेद प्रकट किया और क्षमा याचना की। अजातशत्रु विस्तारवादी नीति का पोषक था। इसलिए उसे तत्कालीन राजवंशों के साथ युद्ध लडने पड़े।

कोशल नरेश प्रसेनजित से युद्ध—बिंबिसार की हत्या के शोक से पीड़ित होकर कुछ दिनों बाद उसकी रानी कोशल देवी की मृत्यु हो गई। बहनोई और बहिन की मृत्यु से खिन्न होकर प्रसेनजित ने उसके लिए उत्तरदाई अजातशत्रु से काशी का वह भूभाग वापस ले लिया जो उसकी बहिन को दहेज स्वरूप मिला था। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का अजात शत्रु अपने साम्राज्य के इस विघटन को नहीं सह सका। फलतः दोनों के मध्य संघर्ष छिड़ गया। युद्ध के प्रथम दौर में अजातशत्रु विजयी हुआ। किंतु निर्णायक दौर में विजयश्री ने प्रसेनजित का वरण किया। उसने अजातशत्रु को पराजित करके बंदी बना लिया। किंतु सम्बन्धी (भांजा) होने के कारण उसके साम्राज्य को क्षति नहीं पहुँचाई। अन्त में दोनों के मध्य संधि सम्पन्न हो गई। प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ सम्पन्न कर काशी का वह गाँव पुनः दहेज में दे दिया। इस प्रकार दोनों राजघरानों में अल्पकालीन संघर्ष के उपरान्त पुनः मित्रता स्थापित हो गई।

वैशाली-राज्य पर विजय—कोशल नरेश प्रसेनजित से मैत्री हो जाने के पश्चात् अजातशत्रु लिच्छवि वंश के वैशाली गणराज को विजित कर मगध साम्राज्य में विलीन करना चाहता था। अतः दोनों राज्यों के मध्य दीर्घकालीन संघर्ष छिड़ गया। इस संघर्ष की अवधि 16 वर्ष बताई गई है। अजातशत्रु लिच्छवियों के प्रति द्वेषभाव रखता था। उसका कथन था कि मैं इन वज्जियों को जड़ से उखाड़ कर नष्ट कर दूंगा, चाहे वे कितने ही सशक्त और बलवान हों। मैं उन पर विपत्ति ढाऊंगा और उन्हें मिट्टी में मिला दूंगा। भारतीय साहित्यिक ग्रन्थों में अजातशत्रु और लिच्छवियों के मध्य कटुता और द्वेष के कारणों का उल्लेख मिलता है।

जैन गाथाओं से विदित होता है कि बिंबिसार ने हल्ल और विहल्ल (चेल्लना से उत्पन्न) नामक दो राजकुमारों को सेचनाक नामक विशिष्ट हाथी और जवाहरात की 18 लड़ियों की माला उपहार में दी थी। अजातशत्रु के राजा बन जाने पर उसकी रानी पद्मावती ने इन राजकुमारों से उक्त उपहार वापस लौटाने के लिए अजातशत्रु को उकसाया। अजातशत्रु ने हल्ल और विहल्ल को पिता से प्राप्त उपहारों को लौटाने को कहा। इस विवाद से उत्पन्न स्थिति से बचने के उद्देश्य से हल्ल और विहल्ल भाग कर अपने नाना वैशाली नरेश चेटक की शरण में चले गये। अजातशत्रु ने चेटक से हल्ल और विहल्ल को वापस करने को कहा। चेटक द्वारा स्पष्ट इंकार किए जाने पर दोनों राज्यों के मध्य युद्ध भड़क उठा।

बुद्धघोष ने अजातशत्रु और लिच्छवियों के मध्य युद्ध का कारण गंगा के निकट स्थित हीरों की खान को बताया है। इस खान पर एक संधि द्वारा मगध और वैशाली दोनों को स्वामित्व प्राप्त था। किंतु संधि का उल्लंघन कर दो वर्षों से वज्जि-संघ वाले ही इन हीरों का उपयोग कर रहे थे। अजातशत्रु के लिए यह स्थिति सह्य नहीं थी। उसने संधि के उल्लंघनकर्त्ता वज्जीसंघ पर आक्रमण कर दिया। अजातशत्रु और लिच्छवियों के मध्य संघर्ष का तत्कालीन कारण चाहे जो भी रहा हो, उसका मूल कारण अजातशत्रु की साम्राज्य विस्तार की लिप्सा थी।

शक्तिशाली लिच्छवियों के वज्जिसंघ को पराजित करना कोई आसान कार्य नहीं था। अतः अजातशत्रु ने अपने महामात्य वर्षकार को वज्जिसंघ को पराजित करने के परामर्श हेतु महात्मा बुद्ध के पास भेजा। वर्षकार ने महात्मा बुद्ध से जब इस संदर्भ में निवेदन किया तो बुद्ध ने उत्तर देते हुए कहा—"जबतक वज्जिसंघ के लोग एक साथ मिलकर सभाएं करते रहेंगे वज्जियों की वृद्धि होगी हानि नहीं।" वर्षकार ने अजातशत्रु को महात्मा बुद्ध के भावों से अवगत कराते हुए कहा कि वज्जिसंघ में फूट उत्पन्न किए बिना उन्हें पराजित करना अत्यधिक कठिन है। अजातशत्रु ने वर्षकार को वज्जिसंघ में परस्पर द्वेष उत्पन्न करने के उद्देश्य से वैशाली भेजा। बर्षकार अपने उद्देश्य में सफल रहा। उसने वज्जियों में परस्पर मनोमालिन्य की भावना उत्पन्न कर दी और अजातशत्रु को उनपर आक्रमण करने के लिए संदेश भेजा। अजातशत्रु ने तुरन्त वैशाली पर चढ़ाई कर दी। इस युद्ध में अजातशत्रु ने 'महाशिला कण्टक' और 'रथमूसल' नामक दो नए हथियारों का प्रयोग किया। महाशिला कण्टक द्वारा शत्रुओं पर बड़े-बड़े शिलाखण्ड बरसाये जाते थे तथा रथमूसल रथ के समान चक्कर काटता हुआ शत्रुओं को काट गिराता था। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने रथ मूसलों की समता वर्तमान युग के टेंकों से की है।

लिच्छवियों ने अजातशत्रु के विरुद्ध जिस सैनिक संघ का निर्माण किया था उसमें काशी-कोशल के राजतंत्र के अतिरिक्त 36 गणराज्य सम्मिलित थे। किंतु पारस्परिक मतभेदों के कारण संघबद्ध होकर वे मगध की सेना का सामना नहीं कर पाये। ऐसी स्थिति में अजातशत्रु ने सरलतापूर्वक वैशाली पर अधिकार कर लिया। वैशाली को विजित करने के उपरांत अजातशत्रु ने वैशाली, मल्ल तथा काशी प्रदेश के अधिकांश भू-भाग को अधिकृत कर लिया।

अजातशत्रु और अवंति नरेश चण्डप्रद्योत के मध्य प्रतिद्वंद्विता—अजातशत्रु की निरंतर बढ़ती हुई शक्ति से अवंति नरेश चण्डप्रद्योत उससे ईर्ष्या करता था। किंतु वह अजातशत्रु को पराजित करने का साहस नहीं जुटा पाया। शक्तिशाली अवंती-राज्य भी अजातशत्रु की महत्त्वाकांक्षा का शिकार होने से बचा रहा। इस प्रकार मगध और अवंती दोनों स्वतंत्र राज्यों के रूप में विद्यमान रहे और उनमें परस्पर प्रतिद्वंद्विता बनी रही।

धर्म—अजातशत्रु के धर्म के सम्बन्ध में भी मतभेद दिखाई देते हैं। जैनधर्म और बौद्धधर्म ग्रंथ उसे अपने-अपने धर्म का अनुयाई बताते हैं। जैन ग्रंथों से विदित होता है कि कुणिक जैनधर्म का अनुयाई था। वह प्रायः वैशाली और चंपा में महावीर स्वामी से मिलने जाया करता था। बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि अजातशत्रु बौद्ध अनुयाई था। उसने राजगृह में बुद्ध की राख पर एक स्तूप निर्मित करवाया। तत्पश्चात् उसने अपनी राजधानी राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीत आयोजित की जिसमें बौद्धधर्म के सिद्धांत स्वीकृत किए गए। इस संगीत में 500 भिक्षुओं ने भाग लिया। कहा जाता है कि प्रारंभ में अजातशत्रु महावीर स्वामी का भक्त था, परन्तु बाद में

बौद्धधर्म का अनुयाई बन गया। उसने राजगृह में अठारह बौद्ध महाविहारों की मरम्मत करवाई।

अजातशत्रु धार्मिक सहिष्णु सम्राट था। उसकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ० स्मिथ ने लिखा है—"अन्य कई भारतीय राजाओं की तरह संभवत: अजातशत्रु ने भी अपना संरक्षण केवल एक धार्मिक संप्रदाय को प्रदान नहीं किया बल्कि समय-समय पर देवदत्त की आधीनता में प्राथमिक बौद्धों, गौतम के सुधार के बाद बौद्धधर्म के मानने वालों तथा जैनधर्म के अनुयाइयों को प्रदान किया।"

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी
(462 ई० पू०—414 ई० पू०)

उदयभद्र (462 ई० पू०—444 ई० पू०)—462 ई० पू० में अजातशत्रु की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उदयभद्र (उदायीभद्र, उदयन) राजा बना। बौद्ध साहित्य में उसे पितृहंता कहा गया है, परन्तु जैन ग्रंथ उसे पिता का सेवक तथा पिता की मृत्यु पर शोकाकुल प्रस्तुत करते हैं। अजातशत्रु के समय वह चंपा का उपराजा रह चुका था। उदयभद्र योग्य सम्राट था। अजातशत्रु ने मल्ल, काशी, अंग और वैशाली को विजित कर मगध-राज्य में मिला लिया था जिसके फलस्वरूप वह काफी विस्तृत हो गया था। अत: विशाल साम्राज्य पर नियंत्रण और शासन के सुसंचालन हेतु उसने पाटलिपुत्र को अपनी नई राजधानी बनाया। उदयभद्र योग्य तथा साहसी सम्राट था। उसने कई बार अवंति नरेश पालक को पराजित किया था। वह जैन मतावलंबी था। उसने कुसुमपुर में जैन अनुयाइयों के लिए एक चैत्यगृह बनवाया। 444 ई० पू० में जब उदयभद्र जैन साधु के उपदेश सुन रहा था तो अवंति नरेश पालक के एक गुप्तचर ने चाकू मार कर उसकी हत्या कर दी।

अनरुद्ध, मुण्ड और नागदसक—(444 ई० पू०—414 ई० पू०) उदयभद्र की मृत्यु के पश्चात् अनरुद्ध, मुण्ड तथा नागदसक राजा हुए। इन राजाओं ने 444 ई० पू० से 414 ई० पू० तक शासन किया। इन सभी राजाओं को पितृघातक (पितृहंता) कहा गया है। उनके कुशासन से जनसाधारण में भारी आक्रोश व्याप्त था। प्रजा ने अंतिम राजा नागदसक को राजगद्दी से उतारकर उसके योग्य अमात्य शिशुनाग को, जो काशी का उपशासक था, मगध के सिंहासन पर आसीन करवाया।

शिशुनाग वंश
(414 ई० पू०—344 ई० पू०)

शिशुनाग (414 ई० पू०—396 ई० पू०)—बिंबिसार के वंश के पतन के पश्चात् शिशुनाग मगध की राजगद्दी पर बैठा। महावंश टीका से विदित होता है कि शिशुनाग वैशाली के एक लिच्छवि राजा और नगरशोभिनी का पुत्र था।

पितृहंता नागदसक को पदच्युत कर प्रजा ने उसके राज्यपाल शिशुनाग को मगध की राजगद्दी पर बिठाया। इससे पूर्व नागदसक के शासनकाल में शिशुनाग

बनारस का राज्यपाल रह चुका था। वह पराक्रमी और महत्त्वाकांक्षी था। उसने अवंति के राजाओं को पराजित करके उनके राज्य को मगध-राज्य में विलीन कर लिया। शिशुनाग ने वत्स और कोशल के राजाओं का मान-मर्दनकर उनके राज्यों को भी मगध में मिला लिया। अपने बाहुबल का परिचय देते हुए शिशुनाग ने मगध-राज्य को एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया।

पुराणों का कथन है कि शिशुनाग ने अपने पुत्र को वाराणसी में नियुक्त किया और स्वयं गिरिव्रज चला गया। इसका अर्थ विद्वानों ने यह लगाया है कि शिशुनाग ने अपने पुत्र को काशी का उपशासक (राज्यपाल) नियुक्त किया और पाटलिपुत्र के स्थान पर गिरिव्रज को राजधानी बनाया। उसे वैशाली से अत्यधिक प्रेम था इसलिए उसने वैशाली को अपनी नई राजधानी बनाया। अठारह वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरांत 396 ई० पू० में उसका देहावसान हो गया।

कालाशोक (3;6 ई० पू०—366 ई०पू०)—शिशुनाग की मृत्यु के बाद उसका पुत्र और उत्तराधिकारी कालाशोक राजगद्दी पर बैठा। वह अपने पिता के शासन काल में गया और बनारस का राज्यपाल रह चुका था। पुराणों में शिशुपाल के पुत्र को काकवर्ण कहा गया है। बौद्ध साहित्य में शिशुनाग के उत्तराधिकारी का उल्लेख कालाशोक के नाम से मिलता है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि पुराणों का काकवर्ण और बौद्ध साहित्य का कालाशोक एक ही व्यक्ति था।

कालाशोक ने गिरिव्रज को छोड़कर पाटलिपुत्र को राजधानी बनाया। उसकी संरक्षकता में वैशाली के समीप बातुकाराम संघाराम में श्वेत-स्थविर की अध्यक्षता में बौद्धधर्म की द्वितीय संगीति सम्पन्न हुई थी। बाणभट्टकृत हर्षचरित से विदित होता है कि काकवर्ण आश्चर्य की वस्तुओं में कुतूहल रखने वाला था। 366 ई० पू० के लगभग कालाशोक की रानी के प्रेमी नाई ने, जिसने बाद में नंद वंश की नींव डाली, उसकी हत्या कर राजसत्ता पर अधिकार कर लिया। यूनानी लेखक कर्टियस ने इस घटना का वर्णन करते हुए लिखा है—"नंदवंश का संस्थापक एक नाई था जो कि कालाशोक की महारानी का प्रेमी था। महारानी के प्रभाव के कारण वह राजा कालाशोक का विश्वासपात्र बन गया। एक बार वंचकता से उसने राजा कालाशोक की हत्या कर डाली और उसके पश्चात् राजकुमारों का संरक्षक बनने का बहाना करके सारी शक्ति स्वयं हथिया ली। तत्पश्चात् उसने राजकुमारों की हत्या करवा दी और मगध के सिंहासन पर अधिकार कर लिया।" हर्षचरित में कहा गया है कि काकवर्ण की हत्या कटार मार कर की गई थी।

कालाशोक के उत्तराधिकारी (366 ई० पू०—344 ई० पू०)—कालाशोक की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य की शक्ति नंदवंश के संस्थापक महापद्मनंद के हाथों में आ गई। महाबोधि वंश से ज्ञात होता है कि कालाशोक के दस पुत्रों ने सम्मिलित रूप से 22 वर्ष तक शासन किया। विद्वानों ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि कालाशोक के पुत्रों के शासन काल (366 ई० पू०—344 ई० पू०) में महापद्म नन्द

कालाशोक के अवयस्क पुत्रों का संरक्षक रहा। तत्पश्चात् अवसर पाते ही उसने 344 ई० पू० में अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी।

नंद वंश
(344 ई० पू०—321 ई० पू०)

366 ई० पू० में कालाशोक की हत्या करने के उपरांत महापद् नंद नेउसके पुत्रों के संरक्षक के रूप में कार्यभार सम्भाला। 344 ई० पू० में कालाशोक के पुत्रों का वध कर उसने मगध-राज्य पर अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली।

महापद्मनंद—महापद्मनंद नंदवंश का संस्थापक था। उसे नीच कुल से संबंधित बताया गया है। जैन ग्रंथ 'परिशिष्ट पर्वन' में उसे नाई का पुत्र कहा गया है। 'आवश्यक सूत्र' से विदित होता है कि वह नापित दास (नाई का दास) था। पुराणों में यह उल्लेख मिलता है कि महापद्मनंद का जन्म महानंदि की शूद्र पत्नी की कोख से हुआ था। वह महाबली था। अपरिमित निधि वाला होने के कारण वह महापद्मनंद के नाम से विख्यात हुआ। महाबोधिवंश में उसका नाम उग्रसेन दिया गया है।

पुराणों का कथन है कि प्रथम नंद राजा क्षत्रियों का नाश करने वाला होगा और तदुपरांत शूद्र और अधार्मिक राजा राज्य करेंगे। पुराणों में उसे शूद्र और धार्मिक राजा कहा गया है। जैन अनुश्रुति में उसे 'गणिका कुक्षिजन्मा' बताया गया है। कर्टियस ने लिखा है कि नंदवंश का संस्थापक, जो एक नाई का पुत्र था, रूपवान था। आकर्षक व्यक्तित्व होने के कारण वह रानी का प्रेमी हो गया। बाद में उसने राजा का भी विश्वास प्राप्त कर लिया था। अंत में उसने धोखे से राजा का वध कर गद्दी हथिया ली।

कतिपय विद्वानों का मत है कि नंदवंश के राजाओं ने कालाशोक की मृत्यु के बाद ही मगध पर अधिकार कर लिया था। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार महापद्मनंद ने 345 ई० पू० से 334 ई० पू० तक शासन किया। डॉ० मजूमदार के मतानुसार नंद वंश के राजाओं ने 364 ई० पू० से लेकर 324 ई० पू० तक राज्य किया किंतु कुछ इतिहासकारों का मत है कि पहले महापद्मनंद ने 22 वर्ष (366 ई० पू०—344 ई० पू०) तक कालाशोक के पुत्रों के संरक्षक के रूप में कार्यभार संभाला। तदुपरांत 344 ई० पू० में उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी। इस प्रकार मगध में नंदवंश की नींव पड़ी। महापद्मनंद साहसी, उत्साही और पराक्रमी था। उसने अनेक राजाओं को पराजित करके एकछत्र शासन की स्थापना की तथा 'एकराट' की उपाधि धारण की। उसके पास अपार धन संपत्ति और असंख्य सेना थी। उसे 'कलि का अंश', 'सभी क्षत्रियों का नाश करने वाला' तथा 'दूसरे परशुराम का अवतार' कहा गया है।

महापद्मनंद महाबली था। उसने तत्कालीन अनेक राज्यों को विजित कर उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। पुराणों में यह वर्णन मिलता है कि उसने इक्ष्वाकु, पांचाल, काशी, हैहेय, कलिंग, अश्मक, कुरु, मिथिला, शूरसेन आदि राज्यों के शासकों

को पराजित करके उनके राज्य अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिए। कथासरित-सागर के विवरण से ज्ञात होता है कि उसने कोशल-राज्य को मगध में मिला लिया था। यवन लेखकों के विवरण से पश्चिम में कुरु और पांचाल पर नंदों का आधिपत्य विदित होता है।

महापद्मनंद के उत्तराधिकारी

पुराणों में नंद राजाओं की संख्या 9 बताई गई है। महापद्मनंद की मृत्यु के पश्चात् उसके आठ पुत्रों ने शासन किया। बौद्ध साहित्य में 9 नंद राजाओं का विवरण इस प्रकार है—उग्रसेन, पण्डुक, पण्डुगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविषाणक, दशसिद्धक, कैवर्त और धननंद। बौद्ध ग्रंथों से विदित होता है कि महापद्म के आठ पुत्रों ने 334 ई० पू० से 322 ई० पू० तक राज्य किया। उसके पुत्रों में धननंद सर्वाधिक योग्य और शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ।

धननंद—पुराणों में महापद्मनंद के आठवें पुत्र का नाम धननंद मिलता है। धन जमा करने का शौक होने के कारण उसे धननंद कहा गया था। सिकंदर के भारत अभियान के समय मगध की राजगद्दी पर धननंद का अधिकार था। उसके पास विशाल और शक्तिशाली सेना थी जो सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपनी धाक जमा चुकी थी। उसकी सेना की असाधारण शक्ति और विशालता से विश्वविजय के आदर्श से प्रेरित सिकन्दर की सेना भी भयातुर हो उठी। सिकन्दर द्वारा प्रोत्साहन और प्रलोभन दिए जाने पर भी उनके हृदय से नंद सेना का भय और आतंक नहीं दूर हो पाया। परिणामतः सिकंदर को स्वदेश वापस लौटने को बाध्य होना पड़ा। यूनानी लेखक कर्टियस ने धननंद की विशाल और शक्तिशाली सेना का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि उसकी सेना में 20,000 अश्व, 200,000 पदाति, 2,000 चार अश्व वाले रथ, 3,000 हाथी थे। प्लूटार्क के अनुसार, धननंद की सेना में 80,000 अश्व, 8,000 रथ और 6,000 हाथी थे।

321 ई० पू० में अंतिम नंद सम्राट् धननंद की सेना को पराजित कर के चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य ने मिलकर नंद वंश का अंत कर दिया। धननंद युद्ध में मारा गया और मगध पर चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य का अधिकार स्थापित हो गया। चाणक्य ने राजसिंहासन पर चन्द्रगुप्त मौर्य को बिठा कर स्वयं उसके प्रधान-मंत्री के रूप में कार्यभार ग्रहण किया। इस प्रकार मगध के नंदवंश का अंत हो गया और नवीन राजवंश मौर्य वंश की नींव पड़ी।

नंद शासक शक्तिशाली थे। उन्होंने देश को एक राजनीतिक सूत्र में बांधने का भरसक यत्न किया। प्रोफेसर नीलकंठ शास्त्री ने नंद राजाओं के शासनकाल को सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू कहा है। सामाजिक दृष्टि से यह निम्न वर्ग (शूद्र वर्ण) के उत्कर्ष का प्रतीक है और सम्पूर्ण उत्तरी भारत को एकछत्र के नीचे संगठित करने के फलस्वरूप इसका विशेष राजनीतिक महत्त्व है।

प्रोफेसर शास्त्री ने नंदों द्वारा संगठित सेना के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उन्होंने एक ऐसी सेना तैयार की थी जिसका उपयोग परवर्ती मगध राजाओं ने विदेशी आक्रमणकारियों को रोकने तथा भारतीय सीमा में अपने राज्य का विस्तार करने में किया। नंद राजाओं के काल में देश की चतुर्दिक उन्नति हुई। मगध-राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र देवी सरस्वती और लक्ष्मी का निवास-स्थल बन गया था। किन्तु अधार्मिक और अलोकप्रिय सम्राट होने तथा जनसाधारण पर करों का अत्यधिक बोझ पड़ने के कारण वे जन-हृदय को नहीं जीत पाये। जनसाधारण में नंदों के प्रति व्याप्त विद्वेष की भावना ने चाणक्य और चन्द्रगुप्त को उनके शासन के विरुद्ध विद्रोह के लिए प्रेरित किया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मगध-साम्राज्य के विकास का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
2. मगध-राज्य के उत्कर्ष में बिंबिसार और अजातशत्रु के प्रयासों का उल्लेख कीजिए।
3. मगध-साम्राज्य का इतिहास बिंबिसार से लेकर बिंदुसार तक संक्षेप में लिखिए।
4. छठी शताब्दी ई० पू० से चौथी शताब्दी ई० पू० तक मगध के उत्कर्ष का वर्णन कीजिए।

13

भारत पर ईरानी और यूनानी आक्रमण तथा उनका प्रभाव

प्राचीन काल में भारत को ईरानी और यूनानी आक्रमणों का आघात सहना पड़ा। इन विदेशी आक्रमणों का न केवल राजनीतिक महत्त्व है बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होंने भारत को प्रभावित किया। आक्रमणकारियों के साथ अनेक विदेशी भारत में प्रविष्ट हुए। उनमें से अनेक लोग यहीं बस गये थे। कालान्तर में वे भारतीयों के निकट सम्पर्क में आए, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय तथा विदेशियों (ईरानी और यूनानियों) में सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ।

प्राचीन काल में भारतीय और ईरानी एक-दूसरे के सम्पर्क में आए। फलतः उनमें व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। भारत के पुरातन धार्मिक ग्रन्थ वेद और ईरानी ग्रन्थ जेन्द अवेस्ता तथा शिलालेख आदि से इन सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। उक्त ग्रन्थों से अनेक भारतीय तथा ईरानी देवताओं में सामंजस्य स्थापित होता है। दोनों देशों के सामाजिक विभाजन में भी समानता थी। प्राचीन काल में भारत और ईरान के मध्य अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान कड़ी का काम करते थे। भारतीय और ईरानी इन्हीं देशों से होते हुए एक-दूसरे के देशों में जाते थे।

भारत पर ईरानी आक्रमण

छठी शताब्दी ई० पू० में भारतवर्ष में मगध-राज्य को छोड़कर अन्यत्र राजनीतिक एकता का अभाव था। छठी शताब्दी ई० पू० में ईरान में हखमनी राजकुल के राजा राज्य कर रहे थे। वे महत्त्वाकांक्षी थे और भारत के अनेक प्रदेशों को विजित कर अपने राज्य में मिलाने के लिए प्रयत्नशील थे। भारत पर ईरानी आक्रमण के समय जहाँ एक ओर मगध-साम्राज्य का बिंबिसार के नेतृत्व में उत्कर्ष

हो रहा था, वहीं दूसरी ओर उत्तर-पश्चिमी भारत में राजनीतिक अव्यवस्था और अस्थिरता व्याप्त थी। अनेक छोटे-छोटे राज्य परस्पर संघर्ष करते रहते थे। इस राजनीतिक विश्रृंखलता का लाभ ईरानी शासकों ने उठाया। उन्होंने भारत पर आक्रमण करने की योजना बनाई। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि भारत पर किए गए विदेशी आक्रमणों में ईरान द्वारा किया गया आक्रमण सर्वप्रथम विदेशी आक्रमण था।

कुरुष प्रथम का आक्रमण—कुरुष प्रथम ईरान में हखमनी साम्राज्य का संस्थापक था। उसने 558 ई० पू० से 530 ई० पू० तक ईरान में राज्य किया। उसने साम्राज्य-विस्तार की योजना क्रियान्वित की। यूनानी लेखक जैनोफन के वृत्तान्त से विदित होता है कि उसने सिन्धु नदी के पश्चिम में सम्पूर्ण काबुल घाटी को अधिकृत कर लिया। निर्याकस का कथन है कि वह सिन्धु नदी के तट पर पराजित हुआ और अपने पाँच साथियों के साथ जान बचाकर भाग निकला। डा० त्रिपाठी का मत है कि उसका साम्राज्य पश्चिम में भूमध्य सागर तक और बख्शी तथा गदर (गांधार) तक विस्तृत था। उसने बैक्ट्रिया, मीडिया, बेबीलोन तथा अस्सीरिया आदि प्रदेशों को भी विजित किया था।

पहली बार मात खाने के उपरान्त भी कुरुष प्रथम ने साहस नहीं खोया। दूसरी बार उसने कापिश नगर पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर डाला तथा अश्वकों और पक्थों से कर वसूल करके उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। यद्यपि वह्लीक और गांधार पर कुरुष ने अधिकार कर लिया था, तथापि वह भारतीय भू-भाग में प्रवेश करने में असफल रहा।

कम्बुज प्रथम, कुरुष द्वितीय और कम्बुज द्वितीय (530 ई० पू०—522 ई० पू०)

530 ई० पू० में कुरुष प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी कम्बुज प्रथम, कम्बुज द्वितीय और कुरुष द्वितीय ने 522 ई० पू० तक शासन किया। वे पश्चिम में इतने उलझे रहे कि उन्हें पूर्व की ओर सोचने का अवसर तक नहीं मिला।

दारा प्रथम (522 ई० पू०-486 ई० पू०)—कम्बुज द्वितीय के बाद 522 ई० पू० में दारा प्रथम ईरान की राजगद्दी पर बैठा। उसने भारत पर आक्रमण करके सिन्धु नदी के तटीय भू-भाग को विजित कर लिया। इस तथ्य की पुष्टि पार्सिपोलिस अभिलेख से भी होती है जिसमें हिन्दुओं (सिंधु निवासी) को फारस की प्रजा कहा गया है। हेरोडोटस के अनुसार यह भाग ईरानी साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त था और यहाँ से प्राप्त आय ईरानी साम्राज्य की कुल आय के तिहाई भाग के बराबर थी। यह विवरण इस बात का द्योतक है कि ईरानी सम्राट दारा प्रथम विजित भारतीय भू-भाग के निवासियों से अत्यधिक कर वसूलता था। हेरोडोटस के विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि दारा प्रथम ने स्काइलैक्स नामक एक व्यक्ति को सिंधु नदी से फारस तक के सामुद्रिक मार्ग को खोज निकालने हेतु भेजा। स्काइलैक्स अपने कार्य में सफल रहा। उसके द्वारा खोजे गए जल मार्ग के फलस्वरूप सिंधु पर दारा प्रथम

का अधिकार स्थापित हो गया। हेरोडोटस द्वारा प्रस्तुत विवरण से ज्ञात होता है कि दारा द्वारा विजित इस प्रदेश में दक्षिणी पंजाब का भू-भाग भी सम्मिलित था।

क्षयार्ष (486 ई० पू०-465 ई० पू०)—दारा प्रथम के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी क्षयार्ष अथवा जरक्सीज राजा बना। हेरोडोटस का कथन है कि क्षयार्ष द्वारा यूनान के विरुद्ध सामरिक अभियान में सूती वस्त्र पहने और बेंत के धनुष तथा लौह फलक के बाण धारण किए हुए भारतीय योद्धाओं ने भाग लिया था। इस आधार पर यह विदित होता है कि भारत का भू-भाग क्षयार्ष के अधीन था। पार्सिपोलिस अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने भारतीय देवताओं के मन्दिरों को नष्ट कर दिया और यह आज्ञा प्रसारित की कि कोई भी व्यक्ति देवताओं की पूजा नहीं कर सकता।

क्षयार्ष के उत्तराधिकारी—क्षयार्ष के उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। वे अकर्मण्य और विलासी थे। उन्होंने साम्राज्य-विस्तार की ओर कोई अभिरुचि नहीं दिखाई। क्षयार्ष के पश्चात् अर्तजरक्सीज प्रथम एवं द्वितीय ने शासन किया। वे भारतीय प्रदेशों पर आधिपत्य स्थापित करने में सफल हो पाये अथवा नहीं, यह अज्ञात है। दारयवहु (दारा) तृतीय (336 ई० पू०-330 ई० पू०) क्षयार्ष का अन्तिम उत्तराधिकारी था।

भारतीय प्रदेशों पर ईरान का प्रभाव कब तक बना रहा, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। एरियन का कथन है कि ईरान ने 331 ई० पू० में सिकन्दर के विरुद्ध संघर्ष में भारतीय सैनिकों का प्रयोग किया। किन्तु डा० मजूमदार का मत है कि सिकन्दर के अभियान के समय उत्तरी-पश्चिमी भारत पर ईरान का प्रभाव शिथिल पड़ चुका था। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार का मत है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय कम्बोज, गंधार और सिन्ध पर दारयवहु तृतीय (डेरियस तृतीय, दारा तृतीय) का अधिकार नहीं था। ये प्रदेश ईरानी प्रभाव से मुक्त थे। जिन भारतीय सैनिकों ने ईरान की ओर से सिकन्दर के विरुद्ध सामरिक अभियान में भाग लिया वे मात्र भाड़े के सैनिक थे।

भारत पर ईरानी आक्रमण का प्रभाव

भारत की राजनीतिक विश्रृंखलता का लाभ उठाते हुए ईरानी सम्राटों ने उसके कुछ भू-भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और भारी मात्रा में कर वसूल किया। कुछ भारतीय प्रदेशों पर ईरान का अधिकार स्थापित हो जाने के फलस्वरूप स्थल और जल मार्गों के माध्यम से दोनों देशों के निवासी एक-दूसरे के सम्पर्क में आये और उनमें व्यापारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में आदना-प्रदना हुआ। मुख्यत: निम्नलिखित क्षेत्रों में ईरान ने भारत को प्रभावित किया।

व्यापार पर प्रभाव—भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग पर ईरान का अधिकार हो जाने के फलस्वरूप भारत पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आया और भारत तथा

पश्चिमी देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए। भारतीय व्यापार में वृद्धि हुई। स्काइलैक्स द्वारा सिन्धु नदी से फारस तक के सामुद्रिक मार्ग को खोज लेने के फलस्वरूप भारत और ईरान के मध्य समुद्री व्यापार होने लगा था।

राजनीतिक प्रभाव—विद्वानों ने यह भी सम्भावना व्यक्त की है कि ईरान के संगठित राज्य को देखकर भारतीयों को भी एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने की प्रेरणा मिली। मेगस्थनीज के यात्रा-वृत्तान्त से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा अपनाई गई दैनिक प्रथाएं ईरान की प्रथाओं से मिलती थीं। वह (चन्द्र-गुप्त मौर्य) ईरानी सम्राट की भाँति अपने केश धोने के उत्सव मनाता था। उन्हीं की भाँति जन-साधारण से अलग रहता था और स्त्रियों को अंग-रक्षिका नियुक्त करता था। अनेक ईरानी महिलाएं अस्त्र-शस्त्रों से सज्ज होकर चन्द्रगुप्त मौर्य की अंगरक्षक सेना में सम्मिलित थीं। मौर्यों ने ईरानियों को अपने शासन में नियुक्त किया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने ईरानी सामन्त तुषस्प को काठियावाड़ का शासक नियुक्त किया। डी० बी० स्पनूर का मत है कि मौर्यकालीन प्रासाद दारा के प्रासादों को आदर्श मानकर ईरानी राजाओं के कलाकारों द्वारा वनाए गए थे।

सांस्कृतिक प्रभाव—सांस्कृतिक क्षेत्र में ईरान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह है कि वहाँ के लेखकों द्वारा भारत में खरोष्ठी लिपि का प्रचार किया गया जो दायीं ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। खरोष्ठी लिपि ईरान की ऐरामेइक लिपि से अपनाई गई थी।

कतिपय विद्वानों का मत है कि ईरानी सम्राट के अनुरूप ही अशोक ने अपनी शिक्षाओं को चट्टानों पर उत्कीर्ण करवाया। उसके अभिलेखों की प्रस्तावना भी ईरानी सम्राटों द्वारा प्रयुक्त प्रस्तावना से मिलती है। अपने मत की पुष्टि में वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि ईरानी प्रभाव के फलस्वरूप ही अशोक ने उत्तर-पश्चिमी भारत में खरोष्ठी भाषा में शिलाओं पर लेख अंकित करवाए।

कुछ विद्वानों ने यह विचार व्यक्त किया है कि मौर्य कला ईरानी कला से प्रभावित थी। डी० बी० स्पनूर का कथन है कि मौर्य कालीन प्रासाद ईरानी सम्राट् दारा के प्रासादों को आदर्श मानकर ईरानी कलाकारों द्वारा निर्मित किए गए थे। एच० जी० रालिन्सन का मत है कि अशोक कालीन कला पूर्ण रूप से ईरानी स्थापत्य कला से प्रभावित थी। उनके मतानुसार अशोक के स्तम्भों पर घण्टानुमा आकृतियां विशेष रूप से ईरानी कला के चिन्ह हैं किन्तु ई० बी० हैवल ने इस मत पर विरोध प्रकट करते हुए लिखा है कि अशोक के स्तम्भ-शीर्षो पर घण्टानुमा आकृतियाँ वास्तव में उल्टा हुआ कमल का फूल है जो आत्मा के विकास का प्रतीक है और भारतीय कला का विशेष लक्षण है। उनका कथन है कि भारतीय कला और ईरानी कला में एकरूपता दृष्टिगोचर होने का कारण ईरानी सम्राटों का उत्तर-पश्चिमी भारत पर अधिकार का द्योतक न होकर ईरानी आर्यों एवं भारतीय आर्यों के पूर्वजों का एक साथ निवास करने का प्रतीक है।

पाटलिपुत्र के समीप कुमरहार में एक पचास फीट ऊँचे पत्थर का स्तंभ मिला है। डॉ० स्मिथ का कथन है कि इस स्तंभ की कला ईरानी कला से मिलती है। उनका मत है कि अशोक के स्तंभों पर जो चार सिंहों की आकृतियाँ बनाई गई हैं वे ईरानी कलाकारों द्वारा निर्मित हैं। मौर्य दरबार में कई ईरानी कलाकार कार्य करते थे। भारतीय कला पर ईरानी प्रभाव का उल्लेख करते हुए फर्गुसन महोदय ने लिखा है—" उस काल में भारत में भवन-निर्माण के कार्य में लकड़ी का प्रयोग होता था। यह लकड़ी अधिक समय तक नहीं चल पाती थी। इस बात की पूर्ण संभावना हो सकती है कि भारतीयों ने ईरान की नकल करके पत्थर का प्रयोग प्रारंभ कर दिया। इस बात की पुष्टि भारत तथा ईरान की शिल्प विद्या की समानता से होती है। अशोक ने चट्टानों पर शिलालेख खुदवाने का कार्य डेरियस प्रथम से ग्रहण किया था।"

ईरानी संपर्क का प्रभाव भारतीय सिक्कों पर भी दिखाई देता है। ईरान के चाँदी के सिक्कों को यहाँ भी प्रचलित किया गया। कुछ विद्वानों का कथन है कि पत्थर पर चमकदार पालिश करने की कला भारतीयों ने ईरानियों से ही सीखी थी।

उपसंहार

भारत और ईरान के परस्पर संपर्क में आने से दोनों देशों में अनेक क्षेत्रों में आदान-प्रदान हुआ। दोनों देशों की सभ्यता और संस्कृति ने परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित किया। ईरान की सभ्यता और संस्कृति ने भारत को विशेषरूप से प्रभावित किया। अनेक ईरानी भारत में आए और उनमें से कई लोग भारत में ही बस गये थे। कुछ समय पश्चात् उन्होंने हिंदू धर्म और समाज को ग्रहण कर लिया। अतः कई नई जातियों का आविर्भाव हुआ। ईरानियों ने मौर्यकाल को बहुत प्रभावित किया। एफ० सी० डाबर का मत है कि मौर्यकाल में खरोष्ठी लिपि, ईरानी शब्द, क्षत्रप का निरंतर प्रयोग, अशोक तथा ईरानी अभिलेखों में समानता एवं ईरानी कला और मौर्यकला में एकरूपता आदि से मौर्यकला पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। डॉ० स्मिथ ने भारत पर ईरानी प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है—" भारत पर प्रबल ईरानी प्रभाव के अधिक समय तक रहने का प्रमाण खरोष्ठी लिपि के प्रचलन से मिलता है। खरोष्ठी लिपि ऐरामेइक की ही एक भाग थी और सीमांत प्रदेशों में प्रचलित थी। ईरानी उपाधि 'सैट्रैप' का दीर्घकाल तक प्रयोग और अशोक के शिलालेखों की आकृति तथा भवन-निर्माण कला का जो कुछ विवरण संयोगवश प्राप्त हुए हैं, वे यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि प्रथम मौर्य सम्राट् (चन्द्रगुप्त मौर्य) के समय में राजदरबार पर ईरानी प्रभाव था। अर्थशास्त्र का यह सिद्धांत कि जिस कमरे में सम्राट वैद्यों और ऋषियों के साथ परामर्श करे वहाँ पवित्र अग्नि जलानी चाहिए, इस बात का सबल प्रमाण है कि ईरानी प्रथाओं को मौर्य दरबार में भी मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। यह भी कहा जाता है कि सम्राट के बाल धोने के अवसर पर एक शानदार उत्सव मनाया जाता था। उस अवसर पर दरबारी राजा को बहुमूल्य उपहार भेंट करते थे। इस उत्सव से सम्राट के जन्मदिन पर

बाल धोने की ईरानी प्रथा की याद ताजा हो जाती है जिसका वर्णन हेरोडोटस ने किया है।"

भारत पर यूनानी आक्रमण

ईरानी आक्रमण के पश्चात् भारत पर दूसरा बाह्य आक्रमण यूनानियों द्वारा किया गया। ग्रीस के एक छोटे राज्य के नवयुवक शासक सिकन्दर ने अपने विश्व-विजय के स्वप्न को साकार करने के उद्देश्य से यूनान में निरंतर अपनी शक्ति में वृद्धि की और साम्राज्य का विस्तार किया। संपूर्ण यूनान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरांत सिकन्दर ने भारत पर भी आक्रमण कर दिया। सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत के पश्चिमोत्तर भाग की वही दशा थी जो ईरानी आक्रमणों के समय थी। सिकन्दर के आक्रमणों की विवेचना से पूर्व तत्कालीन भारत की राजनीतिक स्थिति पर संक्षिप्त प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतवर्ष की राजनीतिक दशा

सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतवर्ष राजनीतिक दृष्टि से जर्जरित हो चुका था। संपूर्ण भारतवर्ष अनेक छोटे-छोटे राजतंत्रों और गणतंत्रों में विभक्त था। भारत के पश्चिमोत्तर भाग की राजनीतिक दशा अत्यंत क्षीण अवस्था में थी। उत्तर-पश्चिम और पंजाब के पश्चिमी भाग में अश्यायन, अश्कायन, पुष्करावती, उरशा, अभिसार, अहाट, कठ, सोभूति, भगल आदि राज्य थे। यहीं तक्षशिला में बड़े पोरस और छोटे पोरस के राज्य विद्यमान थे। झेलम और चिनाब नदी के संगम के दक्षिण में शिवि, अग्रश्रेणी, क्षुद्रक, मालव, अम्बष्ठ, शूद्र, मूषिक, शम्भु, पहल आदि विभिन्न जातियों के पृथक्-पृथक् गणराज्य थे। इन राज्यों में पारस्परिक द्वेष होने के कारण वे संगठित होकर किसी शक्तिशाली विदेशी आक्रमण का प्रतिरोध करने में सर्वथा असमर्थ थे। भारतीय राज्यों में व्याप्त पारस्परिक वैमनस्य की भावना ने सिकन्दर के भारत अभियान को सरल बना दिया। यदि तत्कालीन भारतीय नरेश सामूहिक रूप से सिकन्दर का सामना करते तो भारतवर्ष को यूनानी आक्रमण के प्रचंड प्रवाह से बचाया जा सकता था। सीमांत का एक राजा शशिगुप्त देहद्रोह कर सिकन्दर से जा मिला। अनेक भारतीय राजाओं ने बिना मुकाबला किए सिकन्दर के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। उन्होंने सिकन्दर को उपाहारादि भेंट कर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। व्यास नदी के पास योधेय गणराज्य था। वहाँ के निवासी सम्पन्न और रणकुशल योद्धा थे। उत्तर-पूर्वी भारत में मगध का शक्तिशाली साम्राज्य था। वहाँ का सम्राट् नंद वंशी धननंद अलोकप्रिय होते हुए भी शक्तिशाली था। उसकी शक्तिशाली सेना का नाम सुनकर ही सिकंदर की सेना भयातुर हो उठी थी। सिकंदर के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक दशा इस प्रकार विदित होती है —

अस्पस प्रदेश—इस प्रदेश में अस्पसिओई जाति के लोग निवास करते थे। यह राज्य काबुल नदी के उत्तर में स्थित था। व्याकरणाचार्य पाणिनि ने उसे अश्वा-

सन जाति लिखा है। अण्डक तथा अरीगेयम इनके प्रसिद्ध नगर थे। पर्वतीय प्रदेश में निवास होने के कारण इस जाति के लोग वीर और निडर थे। उन्होंने बड़ी दृढ़ता और साहस के साथ डटकर सिकंदर का मुकाबला किया। एरियन ने उन्हें भारत के सर्वाधिक प्रबल योद्धा की संज्ञा दी है। सिकंदर ने इस राज्य को पराजित किया।

नीसा—नीसा एक पर्वतीय राज्य था जिसका शासन 300 अभिजात कुलीनों द्वारा संचालित होता था। सिकंदर के आक्रमण के समय अकूफिस वहाँ का प्रधान था। यह राज्य मीरोस पर्वतीय की तलहटी में काबुल और सिंधु नदी के मध्य स्थित था। डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने उसे गणतंत्रात्मक राज्य बताया है। सिकंदर के आक्रमण की विभीषिका से बचने के लिए नीसा राज्य ने उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया।

अश्वकायन—इस राज्य में अश्वक जाति के लोग निवास करते थे। इसके अंतर्गत स्वात और बुनेर के कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। यह राज्य पूर्व में सिंधु नदी तक विस्तृत था। उसकी राजधानी मस्सग अजेय और अभेद्य दुर्ग के रूप में प्रसिद्ध थी। अश्वकायन राज्य के पास 20,000 घुड़सवार, 30,000 पदाति और 30 गज थे। यूनानियों ने वहाँ के राजा का नाम अस्सकेनस बताया है। अश्वकायन राज्य के राजा को भी सिकंदर के द्वारा पराजित होना पड़ा।

पुष्करावती—यह राज्य प्राचीन गांधार राज्य का पश्चिमी भाग था। यह काबुल से सिंधु नदी की ओर आने वाले मार्ग पर बसा हुआ था। इसकी राजधानी पेशावर से 17 मील उत्तर-पूर्व में स्थित थी। वहाँ के राजा अस्टक ने वीरतापूर्वक सिकन्दर का सामना किया और अंत में वीरगति प्राप्त की।

तक्षशिला—तक्षशिला-राज्य गांधार-राज्य का पूर्वी भाग था जो रावलपिंडी जिले में स्थित था। स्ट्राबो ने लिखा है कि सिंघु और झेलम नदी के मध्य में तक्षशिला का प्रसिद्ध नगर था। तक्षशिला प्राचीन काल में विद्या के प्रमुख केंद्र के रूप में ख्याति अर्जित कर चुका था। सिकंदर के आक्रमण के समय वहाँ का राजा आम्भी था। जब सिकंदर काबुल की घाटी में ही था तो आम्भी ने अपने दूत और उपहारादि सहित सिकन्दर की आधीनता स्वीकार कर ली। कहा जाता है कि तक्षशिला नरेश आम्भी ने सिकंदर को भारत में प्रवेश करने का निमंत्रण दिया तथा शक्तिशाली सम्राट् पोरस पर आक्रमण करने के लिए भी प्रोत्साहित किया।

उरशा-राज्य—इस राज्य का नाम अरसेकस भी मिलता है। संस्कृत में इसे उरशा कहा गया है। यह राज्य पाकिस्तान के हजारा जिले में स्थित था। इसकी सीमा अभिसार राज्य को छूती थी। यहाँ के राजा ने सिकन्दर के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया।

अभिसार—यह राज्य झेलम और चिनाब नदियों के बीच के प्रदेश में स्थित था। वर्तमान पूँछ और हजारा जिले के कुछ भाग इसमें सम्मिलित थे। डॉ० राय चौधरी ने इसे प्राचीन कम्बोज राज्य की एक शाखा बताया है। यहाँ के राजा ने पोरस के साथ मिलकर सिकन्दर का प्रतिरोध किया।

बड़े पोरस का राज्य—डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने पोरस के राज्य को झेलम और चिनाब नदी के मध्य स्थित बताया है। यह राज्य झेलम, गुजरात और शाहपुर तक फैला हुआ था। स्ट्राबो ने पोरस के राज्य के नगरों की संख्या 300 बताई है। डियोडोरस के अनुसार पोरस की सेना में 50,000 पैदल, 3,000 घुड़सवार, 1,000 हाथी और 130 गज थे। उसने वीरतापूर्वक सिकन्दर का सामना किया और नौ घाव लग जाने पर भी रणक्षेत्र में समर जारी रखा।

ग्लाउसाई—पाणिनि के व्याकरण में इस राज्य का नाम ग्लुचकायन मिलता है। डॉ० जायसवाल का मत है कि ग्लौगनिकाई संस्कृत शब्द ग्लुचकायन का ग्रीक रूपान्तर है। यह गणराज्य चिनाब नदी के पश्चिम में स्थित था और उसकी सीमाएँ पोरस के राज्य को छूती थीं। ग्लाउसाई अथवा ग्लुचकायन गणराज्य में 37 नगर थे जिनमें से प्रत्येक की आबादी 5,000 से 10,000 के बीच थी। सिकन्दर ने इस राज्य को पराजित करके अपने मित्र पोरस के राज्य में मिला लिया।

मद्र—मद्र राज्य गंदरीस नाम से भी जाना जाता था। यह राज्य चिनाब और रावी नदी के मध्य स्थित था। संस्कृत साहित्य में इसका उल्लेख मद्र देश के रूप में मिलता है। यहाँ बड़े पोरस का भतीजा छोटा पोरस (कनिष्ठ पोरस) राज्य करता था। सिकंदर के आक्रमण से भयभीत होकर वह अपने राज्य से भाग कर मगध के नंद सम्राट् की शरण में चला गया। सिकन्दर ने उसके राज्य को बिना किसी प्रतिरोध के विजित कर बड़े पोरस को सौंप दिया।

अद्रैस्तै—यह राज्य अद्रैस्तै, अद्रेष्ट तथा अदृष्ट के नाम से उल्लिखित है। यह राज्य व्यास और रावी के मध्य स्थित था। इस गणराज्य की राजधानी पिंप्रमा थी। 326 ई० पू० में सिकंदर ने पिंप्रमा पर अधिकार कर लिया।

कठ-गणराज्य—डॉ० रायचौधरी के मतानुसार यह राज्य गुरदासपुर जिले में फतेहगढ़ के पास स्थित था। डॉ० जायसवाल कठ गणराज्य को रावी नदी के पूर्व में स्थित बताते हैं। कठ लोग अपनी वीरता और कट्टरता के लिए प्रसिद्ध थे। एरियन ने लिखा है कि वे (कठ) युद्ध कला में अपनी निपुणता और अत्यधिक उत्साह के लिए प्रसिद्ध थे। डॉ० जायसवाल का मत है कि सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व कठों ने कुछ अन्य गणराज्यों की सहायता से पोरस और अभिसार के राजा को पराजित किया था। कठ लोगों ने वीरतापूर्वक सिकन्दर का सामना किया। इस युद्ध में सिकन्दर को पोरस की सहायता लेनी पड़ी। भीषण संग्राम के पश्चात् कठ लोग पराजित हुए और उनके राज्य को सिकन्दर ने अपने मित्र पोरस को दे दिया। कठ लोग सबसे सुन्दर व्यक्ति को अपना राजा चुनते थे। संगल नगर कठ-गणराज्य की राजधानी थी।

सोभूति-राज्य—यह राज्य झेलम नदी के पूर्व में स्थित था। इस राज्य में एक नमक का पहाड़ था। स्ट्राबो ने लिखा है कि सोफाईटिज (सोभूति) राज्य में एक नमक का पहाड़ था जो सम्पूर्ण भारत के लिए नमक की पूर्ति करने में सक्षम था। इस आधार पर डॉ० स्मिथ ने सोभूति-राज्य को सिन्धु नदी और झेलम नदी

के बीच में फैले हुए नमक के पहाड़ी प्रदेश में स्थित माना है। डॉ० जायसवाल का मत है कि सोभूति-राज्य कठ राज्य की सीमा पर स्थित था। सिकन्दर ने सोभूति राज्य को भी पराजित किया। यहां के निवासियों ने बिना सिकन्दर का सामना किए उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। सोभूति-राज्य के निवासी सुन्दरता के उपासक थे और कुरूप बालकों को मार डालते थे।

योधेय गणराज्य—योधेय गणराज्य व्यास नदी के पार स्थित था। यूनानी लेखकों ने वहाँ की शासन-पद्धति, सम्पन्नता और वीरता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। चाणक्य का कथन है कि वे कृषि और शस्त्रों से अपना जीवन-यापन करते थे। डॉ० जायसवाल के अनुसार योधेय गणराज्य पूर्व में सहारनपुर से लेकर पश्चिम में भावलपुर तक फैला हुआ था। यह राज्य उत्तर-पश्चिम में लुधियाना से लेकर दक्षिण-पूर्व में दिल्ली तक विस्तृत था। उनका मत है कि योधेय गणराज्य की सीमाएं मगध-राज्य की सीमाओं को छूती थीं। डॉ० अल्तेकर के अनुसार योधेय गणराज्य की वीरता और अथाह साधनों की कहानियों को सुनकर सिकन्दर के सैनिकों का दिल टूट गया और उन्होंने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार यह गणराज्य सिकन्दर के आक्रमण का शिकार नहीं हो पाया।

मगध-साम्राज्य—सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तर-पूर्वी भारत में मगध-साम्राज्य का उत्थान हो चुका था। मगध में उस समय नन्द सम्राट धननन्द शासन कर रहा था। वह अलोकप्रिय होते हुए भी शक्तिशाली था। वह किसी भी शक्तिशाली आक्रमण का डटकर मुकाबला करने में सक्षम था। उसके पास एक विशाल और शक्तिशाली सेना थी। कर्टियस ने उसकी सेना का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि धननन्द की सेना में 2,00,000 पैदल सैनिक, 3,000 गज और 2,000 रथ थे। जब सिकन्दर महान् ने मगध-राज्य पर आक्रमण करने की योजना बनाई तो उसके सैनिकों ने मगध की शक्तिशाली सेना के साथ युद्ध लड़ने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। कहा जाता है कि मगध-साम्राज्य की विशाल सेना के बारे में सुनकर सिकन्दर के सैनिकों में भय और आतंक का वातावरण छा गया था। वे शक्तिशाली मगध-राज्य की सेना और असीम साधनों से परिचित हो चुके थे। अतः यूनानी शक्तिशाली मगध-राज्य के विरुद्ध युद्ध करके पराजय और मृत्यु का खतरा मोल लेना नहीं चाहते थे। यह भी कहा जाता है कि व्यास नदी के तट पर भगल नामक व्यक्ति ने सिकन्दर के सैनिकों को मगध-सम्राट नन्द के विशाल और शक्तिशाली सैन्य बल से अवगत कराया था।

क्षुद्रक, मालव और शिवि गणराज्य—सिकन्दर को स्वदेश लौटते समय जिन राज्यों के साथ युद्ध करने पड़े, उनमें क्षुद्रक और मालव प्रमुख थे। शिवि गणराज्य की स्थिति झंग जिले के शोरकोट क्षेत्र में बताई गई है। कर्टियस और डियोडोरस के विवरण से ज्ञात होता है कि क्षुद्रक शिवि गणराज्य के समीप ही रहते थे। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी के मतानुसार क्षुद्रक लायलपुर और झंग जिलों (पाकिस्तान) के कुछ प्रदेशों में रहते थे। मालव रावी नदी के दक्षिणी तट के निचले भाग में निवास

करते थे। सिकन्दर के आक्रमण के विरुद्ध मालव और क्षुद्रक संघबद्ध हो गये। एरियन ने उन्हें लड़ाकू जाति का बताया है। सिकन्दर के विरुद्ध संघर्ष में इन गण-राज्यों के लोगों ने निडरता और साहस के साथ उसका सामना किया। इस युद्ध में सिकन्दर को चोटग्रस्त होना पड़ा था। यद्यपि यूनानी लेखक इस संघर्ष में सिकन्दर की विजय का उल्लेख करते हैं, तथापि पतंजलि के मतानुसार क्षुद्रकों की विजय हुई थी और सिकन्दर को पराजय का सामना करना पड़ा था।

अन्य राज्य—उपरोक्त राज्यों के अतिरिक्त सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत में अगलिस्सि, अम्बष्ठ, मुचिकर्ण, पातानप्रथ आदि अनेक राज्य विद्यमान थे। अगलिस्सि गणराज्य शिवि गणराज्य के पूर्व में स्थित था। वहाँ के लोगों ने वीरतापूर्वक यूनानियों का सामना किया। अम्बष्ठ गणराज्य के लोग बहुत वीर थे। उनकी सेना में 60,000 पैदल सिपाही, 6,000 घुड़सवार और 500 रथ थे। डॉ० रायचौधरी के मतानुसार मुचिकर्ण गणराज्य में सिन्धु का काफी भू-भाग शामिल था और उसकी राजधानी अलोर (सक्खर जिला) थी। डॉ० जायसवाल के अनुसार, पातानप्रस्थ राज्य में सिन्धु के हैदराबाद का प्रदेश सम्मिलित था। वे कुल-वृद्धों की सभा की सहायता से शासन संचालित करते थे।

सिकन्दर का विजय अभियान

सिकन्दर मकदूनिया के राजा फिलिप का पुत्र था। उसका जन्म 356 ई० पू० में हुआ था। मकदूनिया एक छोटा-सा राज्य था। फिलिप की हत्या के पश्चात् 336 ई० पू० में उसका महत्त्वाकांक्षी पुत्र सिकन्दर केवल 20 वर्ष की अवस्था में सिंहासनारूढ़ हुआ। 20 वर्षीय सिकन्दर को यूनान के सभी राज्यों ने ईरान के विरुद्ध सामरिक अभियान में अपना महा सेनापति स्वीकार किया। तत्पश्चात् दो वर्ष बाद ही उसने अपना विजय-अभियान प्रारम्भ कर दिया। फिलिप ने सिकन्दर के न केवल शारीरिक विकास की ओर ध्यान दिया, वरन् उसके बौद्धिक विकास के लिए भी प्रयत्न किए। उस काल के सुविख्यात दार्शनिक अरस्तू को उसका गुरु नियुक्त किया गया। अरस्तू की असाधारण योग्यता का प्रभाव सिकन्दर पर भी पड़ा। वह एक महान् सेनानायक, रणकुशल योद्धा, महत्त्वाकांक्षी, अदम्य साहसी और उत्साही युवक था। संगठन स्थापित करने की उसमें असाधारण क्षमता थी। उत्तराधिकार में पिता से एक सुव्यवस्थित और सुसंगठित राज्य प्राप्त होने के कारण साम्राज्य-विस्तार में उसे अधिक बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ा।

यूनान-विजय—सिंहासन पर बैठते ही 20 वर्षीय नवयुवक सिकन्दर को राज्यान्तर्गत कई विद्रोहों का सामना करना पड़ा। आन्तरिक विद्रोहों का सफलता-पूर्वक दमन करने के पश्चात् उसने साम्राज्य-विस्तार की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया और अल्प समय में ही सम्पूर्ण यूनान को अधिकृत कर उसने अपने पिता के स्वप्न को साकार कर दिया। 22 वर्षीय युवक के लिए इससे बड़ी उपलब्धि और क्या हो सकती है? प्रोफेसर भगवती प्रसाद पांथरी ने सिकन्दर की असाधारण सामरिक प्रतिभा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"अलक्षेन्द्र ने अपने ग्यारह-बारह

वर्ष के शासनकाल के भीतर जिस चमत्कारिता एवं तेजस्विता से महान् ईरानी साम्राज्य को ध्वस्त कर भारत के उत्तरीय-अंचल तक अपनी विजय-पताका फहराई, वह अद्वितीय थी।"

विश्व-विजय की आकांक्षा और सामरिक अभियान—सम्पूर्ण यूनान का हस्तगत कर लेने और उसे एक सुविस्तृत, संगठित तथा शक्तिशाली राज्य का स्वरूप प्रदान करने के उपरान्त सिकन्दर के हृदय में विश्व-विजय की महत्त्वाकांक्षा जाग उठी। अपनी इस आकांक्षा को पूर्ण करने के उद्देश्य से उसने एक शक्तिशाली सेना सहित स्वदेश से प्रस्थान किया। अपनी अद्‌भुत सैन्य कुशलता के वल पर सम्पूर्ण एशिया माइनर, भूमध्य सागर के प्रदेशों और फीनिसिया को रौंदता हुआ सिकन्दर नील नदी की घाटी में आ डटा। सिकन्दर ने मिश्र पर विजय-पताका फहराते हुए उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। अपने नाम तथा विजय की स्मृति को ताजा करने के निमित्त उसने यहाँ 'सिकन्दरिया' नामक नगर बसाया जो आज भी विद्यमान है और इसी नाम से पुकारा जाता है।

मिश्र को अधिकृत कर लेने के उपरान्त सिकन्दर 331 ई० पू० में ईरान के निर्बल राज्य पर टूट पड़ा। उसने ईरान के राजा दारयवहु को पराजित करके वल्ख भागने को मजबूर किया। यूनानियों ने ईरान की राजधानी पर्सीपोलिस को जलाकर राख कर दिया और नगर निवासियों को कत्ल कर दिया। ईरान को विजित कर लेने के पश्चात् उसने अफगानिस्तान को जीता। सिकन्दर कैस्पियन सागर के किनारे-किनारे आगे बढ़ा। खुरासान, पार्थिया और हिन्दकुश को रौंदता हुआ वह भारतवर्ष की सीमा पर आ डटा और भारत पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगा।

सिकन्दर का भारतीय अभियान का उद्देश्य—सिकन्दर के भारत पर आक्रमण करने के कई उद्देश्य बताए जाते हैं। भारत का कुछ भू-भाग ईरानी साम्राज्य का भाग माना जाता था। चूँकि सिकन्दर सम्पूर्ण ईरानी साम्राज्य को विजित कर चुका था, अतः वह भारत के ईरानी भाग को भी विजित करना चाहता था। भारत की अगाध धन-सम्पदा ने भी उसे अपनी ओर आकृष्ट किया। सिकन्दर के भारतीय अभियान के चाहे जो भी उद्देश्य रहे हों, परन्तु भारत पर आक्रमण करने का मूल उद्देश्य अपनी विश्व-विजय के स्वप्न को साकार करना था।

सिकन्दर का भारतीय अभियान

327 ई० पू० में सिकन्दर ने हिन्दकुश को पार कर काबुल में प्रवेश किया। यहां से अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर वह भारत के प्रवेश-द्वार खैबर दर्रे की ओर बढ़ा। इस दर्रे की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध न होने के कारण बिना किसी प्रतिरोध के यूनानी सेना पेशावर के मैदान में आ डटी। यहीं से उसने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ किए।

अस्पसिओई जाति पर विजय—सिकन्दर ने सर्वप्रथम अस्पसिओई जाति पर विजय प्राप्त की। पहाड़ में निवास करने के कारण इस राज्य के लोग वीर

और निडर थे। उन्होंने बड़े साहस के साथ डटकर सिकन्दर का सामना किया किन्तु उन्हें पराजित होना पड़ा। यूनानियों ने 40,000 पुरुष बन्दी बनाए और 2,30,000 बैल उनसे छीन लिए। इनमें से अनेक बैलों को कृषि हेतु मकदूनिया भेज दिया गया। एरियन ने लिखा है कि पर्वतीय प्रदेश के निवासी होने के कारण अस्पसिओई जाति के लोग भारत के सर्वाधिक प्रबल योद्धा थे और उन्होंने सिकन्दर के साथ भयंकर संग्राम किया।

नीसा की विजय—अस्पसिओई जाति पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त सिकन्दर नीसा नामक पर्वतीय राज्य पर टूट पड़ा। इस राज्य का शासन 300 अभिजात कुलीनों द्वारा संचालित होता था और अकूफिस उसका प्रधान था। सिकन्दर के आगमन पर नीसा के लोगों ने उसके सामने आत्म-समर्पण कर दिया और उसे 300 घुड़सवार भेंट स्वरूप प्रदान किए।

अश्वक जाति पर विजय—नीसा की विजय के पश्चात् सिकन्दर ने अश्वक जाति के लोगों पर आक्रमण कर दिया। अश्वक जाति ने एक शक्तिशाली सेना सहित सिकन्दर का सामना किया किन्तु उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा। अश्वक लोगों का दुर्ग मस्सग अजेय और अभेद्य समझा जाता था। किन्तु दुर्ग के स्वामी अस्सकेनस को बाण लग जाने पर दुर्गपाल की पत्नी ने सिकन्दर के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। सिकन्दर ने दुर्ग के योद्धाओं को वहां से बाहर जाने पर प्राणदान देने का वचन दिया। किन्तु जब वे योद्धा दुर्ग से बाहर निकलकर कुछ ही दूर पहुँचे थे कि सिकन्दर अपनी सेना सहित उन पर टूट पड़ा। उसने बड़ी संख्या में लोगों का वध कर भीषण रक्तपात मचाया। सिकन्दर द्वारा अपने वचन का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन और भीषण नरसंहार से क्रुद्ध होकर अश्वक जाति की महिलाएं भी युद्ध में कूद पड़ीं। स्त्रियों ने शस्त्रों से सज्ज होकर सिकन्दर की सेना का सामना किया। अन्त में सिकन्दर की शक्तिशाली सेना के सम्मुख उन्हें पराजित होना पड़ा। प्लुटार्क ने सिकन्दर के इस छलपूर्ण कार्य की भर्त्सना करते हुए लिखा है कि यह घटना उसके सामरिक यश पर एक काला धब्बा है। मस्सग के पतन के पश्चात् सिकन्दर ने ओरा, बजिरा, ओरनस, पिउकेलौतिस, एम्बोलिमा और दिरता के महत्त्वपूर्ण दुर्गों पर अधिकार कर लिया।

तक्षशिला और अभिसार के राजाओं का आत्म-समर्पण—निरन्तर विजयों ने सिकन्दर के हृदय में नवीन उत्साह का संचार किया। अपने सैनिकों को कुछ विश्राम देकर 326 ई० पू० में सिकन्दर ओहिन्द के समीप सिन्धु पार कर गया। तक्षशिला-नृपति आम्भी ने चाँदी, भेड़ों और सुन्दर एवं सुडौल वृषभों की बड़ी संख्या की भेंट के साथ सिकन्दर का स्वागत किया। आम्भी ने सिकन्दर को 5,000 सैनिक भी दिए। इसी प्रकार अभिसार के राजा और दोक्सारिस तथा अन्य पड़ोसी राजाओं ने सिकन्दर जैसे दुर्धर्ष योद्धा के सम्मुख युद्ध को व्यर्थ समझकर उसके सामने आत्म-समर्पण कर दिया।

सिकन्दर और पोरस—तक्षशिला, अभिसार आदि के शासकों के आत्म-समर्पण की घटनाओं ने सिकन्दर के साहस में और अधिक वृद्धि कर दी। अतः 326 ई० पू० में वह पोरस को पराजित करने के उद्देश्य से झेलम नदी के तट पर आ पहुँचा। पोरस ऋग्वेद में वर्णित प्रसिद्ध जन 'पुरु' का वंशज था। उसका राज्य झेलम तथा चिनाब नदी के मध्य स्थित था। पोरस सिकन्दर के सैनिकों की वीरता और अनेक भारतीय नरेशों द्वारा सिकन्दर के सम्मुख किए गए आत्म-समर्पण की घटनाओं से अवगत था। इसके बावजूद वीर पोरस ने यूनानी आक्रांता के आक्रमण का डटकर मुकाबला करने का संकल्प किया।

पोरस के विरुद्ध सैनिक अभियान के लिए सिकन्दर सैन्यदल सहित झेलम नदी के तट पर जा पहुँचा। वहाँ नदी के पार वीर पोरस उससे लोहा लेने के लिए विशाल सेना सहित आ डटा। सिकन्दर ने तक्षशिला से पोरस को आत्म-समर्पण करने को कहला भेजा। किन्तु पोरस जैसे वीर और निर्भीक राजा के लिए सिकन्दर के सम्मुख आत्म-समर्पण करना अपमानजनक था। एक रात्रि को वर्षा के समय सिकन्दर की सेना की एक टुकड़ी ने सहसा पोरस की सेना पर आक्रमण कर दिया। सिकन्दर की शेष सेना ने भी नदी पार कर पोरस की सेना पर तीव्र प्रहार कर दिया। प्रारम्भिक मुकाबले में पोरस का पुत्र 4,000 भारतीय सैनिकों सहित युद्ध में मारा गया। तत्पश्चात् पोरस 50,000 पदाति, 3,000 घुड़सवार, 1,000 रथ और 130 गज-सेना को लेकर आगे बढ़ा। पोरस की शक्तिशाली सेना को देखकर यूनानी घबड़ा उठे। इस सन्दर्भ में कर्टियस का यह कथन उल्लेखनीय है कि भीमकाय हाथियों की पंक्ति के अलावा पोरस पर दृष्टि पड़ते ही सिकन्दर के सैनिक कुछ समय के लिए घबड़ा उठे। पोरस ने सामने बीच में अपने हाथियों की दीवार खड़ी कर दी जिसके पीछे उसके पदाति सैनिक जा डटे। घुड़सवार सेना के आगे रथ खड़े किए गए। कर्री के मैदान में पोरस (पुरु) की सेना को इस प्रकार व्यूहबद्ध तथा पोरस के विशाल व्यक्तित्व और अतुल दल एवं बहुल बल को देखकर सिकन्दर स्तब्ध रह गया और सहसा उसके मुंह से यह निकल पड़ा—"आखिर आज वह खतरा मेरे सामने आ ही गया जो मेरे साहस को ललकार रहा था। आज का समर एक साथ बनैले जन्तुओं और असाधारण पोरस के विरुद्ध है।" इसके बाद सिकन्दर की घुड़सवार सेना ने भारतीय सेना पर तीखा प्रहार किया, परन्तु भारतीय सेना टस से मस नहीं हुई। दोनों सेनाओं के मध्य दिन की आठवीं घड़ी तक भीषण संग्राम हुआ और अन्त में पोरस की सेना को पराजित होना पड़ा।

कर्री का युद्ध और पोरस की पराजय के कारण—रणक्षेत्र में अद्वितीय साहस और रणकौशल का परिचय देते हुए भी पोरस की सेना सिकन्दर द्वारा पराजित हो गई। प्लुटार्क ने लिखा है कि अद्भुत शौर्य से लड़ते हुए भारतीयों ने दिन की आठवीं घड़ी तक सिकन्दर की सेना को इंच भर आगे नहीं बढ़ने दिया। पोरस की शक्ति विशेषकर उसके रथों में निहित थी। वर्षा के कारण रथ कीचड़ में फँस गए और उसमें बैठे योद्धा और धनुर्धर अपना रणकौशल नहीं दिखा पाये।

उस काल में भारतीय धनुर्धारी धनुष को जमीन पर टेककर और पैर से दबाकर बाण छोड़ते थे। किन्तु कीचड़ हो जाने के कारण वे धनुष को जमीन पर टिकाकर बाण नहीं छोड़ पाये। यवनों ने भारतीय सेना पर सांघातिक आक्रमण किया। कीचड़ के कारण रथों का उपयोग प्रभावहीन हो गया था। अन्त में पोरस अपनी गज सेना पर निर्भर रह गया था। सिकन्दर के सैनिकों ने हाथियों के पैरों और सूंड़ों पर कुल्हाड़े चलाने प्रारम्भ कर दिए। यूनानियों के सांघातिक प्रहार से भयातुर होकर हाथी बिगड़ गए और अपनी ही सेना को कुचलने लगे। हाथियों के बिगड़ जाने के कारण पोरस की सेना में भगदड़ मच गई। पोरस के दो पुत्र तथा बड़े सेनानायक युद्ध में मारे गये। एरियन का कथन है कि पोरस के 20,000 पैदल और 3,000 घुड़सवार मारे गये तथा रथ चकनाचूर हो गए। जीवित हाथियों को यूनानियों ने छीन लिया। पोरस हाथी पर चढ़कर पराक्रमपूर्वक अन्त तक लड़ता रहा। नौ घाव लग जाने पर भी वह युद्धक्षेत्र से विचलित नहीं हुआ और निरन्तर यूनानी सेना पर बाण-वर्षा करता रहा। यश के साथ मरना उसे स्वीकार था, किन्तु उसे खोकर जीना नहीं। अन्त में पोरस के कन्धे पर गम्भीर घाव लग जाने के कारण वह घायल हो गया। घायल पोरस को पकड़कर यूनानी सैनिक सिकन्दर के पास ले गये। सिकन्दर द्वारा यह पूछे जाने पर कि उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाय, उसने दर्प के साथ उत्तर दिया—"सिकन्दर मेरे साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।"

पोरस जैसे वीर और शक्तिशाली सम्राट को पराजित करना कोई आसान कार्य नहीं था। अतः सिकंदर ने छल से काम लिया। उसने अपने अधिकांश सैनिकों को नाचरंग कार्यक्रम आयोजित करने का आदेश दिया ताकि पोरस को यह आभास हो जाय कि अभी सिकंदर के आक्रमण का कोई खतरा नहीं है। उसने अपने अन्य सैनिकों को नदी पार करवा कर अकस्मात् पोरस की सेना पर धावा बोल दिया। यूनानी आक्रमण की तीव्रता को भारतीय नहीं सह पाये। अंत में पोरस पराजित हुआ। इस प्रकार सिकंदर की छल नीति भी पोरस की पराजय के लिए महत्त्वपूर्ण कारण सिद्ध हुई। अपनी अनेक समस्याओं के कारण तथा पोरस की निर्भीकता से प्रभावित होकर सिकंदर ने उसे उसका राज्य वापस लौटा दिया। सिकंदर महान् सेनानायक के अतिरिक्त एक महान् कूटनीतिज्ञ भी था। शेष भारत की विजय के लिए पोरस जैसे शक्तिशाली राजा से मैत्री कर लेना उसकी कूटनीतिज्ञता का द्योतक है। सिकंदर के जीवित रहने तक पोरस बराबर उसे सहायता प्रदान करके उसका सच्चा मित्र बना रहा।

डॉ० सेठ का मत—डॉ० हरिश्चन्द्र सेठ का मत है कि सिकंदर और पोरस के मध्य हुए झेलम के युद्ध में पोरस विजयी हुआ तथा सिकंदर को पराजय का मुँह देखना पड़ा। अपने मत की पुष्टि में डॉ० सेठ का कथन है कि कोई भी यूनानी इतिहासकार सिकंदर का समकालीन नहीं था। उन्होंने सिकंदर को महान् और

पराक्रमी योद्धा तथा दयालु सम्राट् सिद्ध करने के उद्देश्य से सिकंदर के बारे में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया है। डॉ० सेठ ने लिखा है कि सिकंदर क्रूर, अत्याचारी और रक्तपिपासु था। उसने सैकड़ों गाँव तथा नगर जलाये और लाखों स्त्री-पुरुष मौत के घाट उतार दिये थे। उससे दया और गुण-ग्राहकता की आशा नहीं की जा सकती थी। अत: यह कहना, कि उसने पोरस की निर्भीकता से प्रभावित होकर उसे क्षमा कर दिया, एक मनगढ़न्त कथन है। डॉ० सेठ का कथन है कि भारतीय सैनिकों ने झेलम के मैदान में यूनानी सैनिकों को धूल चटा दी थी और सिकंदर के अहंकार को चकनाचूर कर दिया था।

यद्यपि डॉ० सेठ ने अपने कथन की पुष्टि में अनेक महत्त्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत किए हैं, तथापि उनके कथन की पुष्टि किसी अन्य ठोस ऐतिहासिक प्रमाण से नहीं होती है। सिकंदर क्रूर, रक्तपिपासु और नरसंहारक अवश्य था, किंतु यह संभव है कि शेष भारत को विजित करने के उद्देश्य से उसने पराजित पोरस को मौत के घाट न उतार कर अपना मित्र बना लिया हो।

चट्टोपाध्याय और डॉ० बुद्ध प्रकाश का मत—चट्टोपाध्याय का मत है कि पोरस और सिकंदर के मध्य जो संघर्ष हुआ, वह अनिर्णीत समाप्त हुआ। डॉ० बुद्ध प्रकाश भी इसी मत को मानते हैं कि सिकंदर और पोरस के बीच हुआ युद्ध हार-जीत का फैसला हुए बिना ही समाप्त हो गया था। उनका कथन है—"जिस समय पोरस ने युद्धक्षेत्र से हटकर अपनी फौजों को इकठ्टा किया और हाथियों का एक तीव्र आक्रमण शत्रु दल पर किया तो सिकंदर ने शक्ति की अपेक्षा बुद्धि से काम लेना उचित समझा और वह संधि के लिए तैयार हो गया। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने पोरस को संधि के लिए तैयार कर लिया ताकि उसे मगध पर आक्रमण के लिए तैयार किया जाये। दोनों प्रतिद्वंद्वियों ने सम्मानपूर्ण संधि कर ली और युद्ध बिना किसी निर्णय के समाप्त हो गया।" इस मत की पुष्टि में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। अतः इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

पोरस के विरुद्ध अपनी विजय के स्मरण में निकाइया नगर और अपने स्वामिभक्त घोड़े बुकेफाला के नाम पर, जिसे पोरस के पुत्र ने समर में मार डाला था, सिकंदर ने कर्री के मैदान में बुकेफ़ाला नामक नगर का निर्माण करवाया।

ग्लाउसाई पर विजय—शक्तिशाली पोरस को पराजित करके सिकंदर ने उसे उसका राज्य वापस देकर अपना मित्र बना लिया। तत्पश्चात् शेष भारत की विजय हेतु सिकंदर ने अपना विजय अभियान जारी रखा। उसने ग्लाउगनिकाई (ग्लुचुकायन) जाति को विजित कर 37 नगर छीन लिए। इन नगरों को सिकंदर ने अपने मित्र पोरस के राज्य में मिला दिया।

कनिष्ठ पोरस की पराजय—अभिसार के राजा द्वारा पुनः आत्मसमर्पण के उपरांत सिकंदर ने चिनाब नदी को पार कर पोरस के भतीजे कनिष्ठ पोरस के राज्य पर आक्रमण कर दिया। सिकंदर के आक्रमण से भयभीत होकर कनिष्ठ पोरस

अपना राज्य छोड़कर भाग गया और उसने मगध के शक्तिशाली राजा धननंद के राज्य में शरण ली। चिनाब और रावी के मध्य स्थित कनिष्ठ पोरस के राज्य को जीत कर सिकंदर ने अपने मित्र पोरस को सौंप दिया।

पिंप्रमा पर अधिकार—326 ई० पू० के वर्षान्त में सिकंदर की सेनाओं ने रावी नदी पार कर अद्रैस्तै के दुर्ग पिंप्रमा पर अधिकार कर लिया।

कठ जाति पर विजय—रावी नदी को पार कर सिकंदर की सेनाएं अनेक लोकतांत्रिक राज्यों की जातियों पर टूट पड़ीं। उनमें से अनेक जातियों ने आत्म-समर्पण कर दिया। किंतु अपनी वीरता और कट्टरता के लिए प्रसिद्ध कठ जाति ने डटकर उसका मुकाबला किया। दोनों पक्षों के मध्य भीषण संग्राम हुआ। अंत में सिकंदर विजयी हुआ और कठ जाति के लगभग 17,000 योद्धा खेत रहे तथा 70,000 बंदी बनाये गये। सिकंदर ने कठों के महत्त्वपूर्ण नगर संगल पर अधिकार कर लिया। कठों के साथ संघर्ष में पोरस ने सिकंदर को सैन्य की सहायता दी थी। कठ प्रदेश को विजित कर लेने के उपरांत सिकंदर ने उसे भी पोरस को सौंप दिया। तत्पश्चात् सिकंदर ने सौभूति राज्य को अधीन कर लिया। रावी नदी के पूर्व में स्थित सभी राज्यों को विजित करके 326 ई० पू० में सिकंदर पंजाब की अंतिम नदी व्यास के पश्चिमी तट पर पहुँच गया।

सिकन्दर की सेना द्वारा आगे बढ़ने से इन्कार

व्यास नदी के पश्चिमी तट पर पहुँचने के पश्चात जब सिकंदर ने मगध आदि राज्यों को विजित करने की योजना बनाई तो उसके सनिकों ने आगे बढ़ने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। सिकंदर के सैनिकों ने आगे बढ़ने से क्यों इन्कार किया, इस संबंध में विद्वानों का मत है कि पोरस की सेना द्वारा असाधारण मुकाबला, योधेय गणराज्य की शक्तिशाली सेना तथा मगध-राज्य की अत्यधिक शक्ति और अनेक साधनों का ज्ञान आदि ऐसी घटनाएं थीं जिनसे सिकंदर के सैनिकों में भय की भावना घर कर गई।

प्लुटार्क ने सिकंदर की सेना द्वारा आगे बढ़ने से इन्कार किए जाने का कारण पोरस के सैनिकों की वीरता बताई है। उसका कथन है—"पोरस के साथ यूनानी सैनिकों का जो युद्ध हुआ उससे उनका दिल टूट गया और उनके हृदय में भारत में और आगे बढ़ने की अभिलाषा सर्वथा समाप्त हो गई। वे जानते थे कि केवल 20,000 पदाति और 2,000 घुड़सवार सेना वाले उस पोरस को जीतने में उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था और इसलिए जब उसने गंगा पार करने का दृढ़ निश्चय किया तो उन्होंने उसकी बात मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। एरियन ने लिखा है—"एशिया में उस समय जितनी जातियाँ बसती थीं, भारतीय उनमें युद्ध की कला में सबसे अग्रगण्य थे।" विद्वानों का मत है कि यही कारण है कि सिकंदर की सेना ने शक्तिशाली मगध-राज्य के विरुद्ध सामरिक अभियान में भाग लेना मना कर दिया। डॉ० अल्तेकर ने सिकंदर की सेना द्वारा युद्ध करने से

इन्कार करने का कारण योधेय राज्य का अत्यधिक शक्तिशाली होना बताया है। उनका कथन है—"योधेय गणराज्य की वीरता और अथाह साधनों की कहानियों को सुनकर ही सिकंदर के सैनिकों का दिल टूट गया और उन्होंने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया।"[1] कहा जाता है कि व्यास नदी के तट पर भगल नामक व्यक्ति ने सिकन्दर को मगध-सम्राट धननंद की विशाल और शक्तिशाली सेना से अवगत कराया। डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने सिकन्दर के सैनिकों द्वारा आगे बढ़ने से इन्कार करने का कारण **नन्द सम्राट** की शक्तिशाली सेना के भय को बताया है। उन्होंने लिखा है—"इसके अतिरिक्त यूनानी सैनिक गंगा और पूर्व के राजा धननन्द से डरे हुए थे जो सिकन्दर का मुकाबला करने के लिए 80,000 घुड़सवार, 2,00,000 पदाति, 8,000 रथ और 6,000 लड़ाकू हाथियों वाली विशाल सेना सहित प्रतीक्षा कर रहा था।" व्यास नदी के पूर्व में नन्दवंश का शक्तिशाली और विशाल मगध-राज्य स्थित था। सिकन्दर उसे भी विजित करना चाहता था। किन्तु मगध के शक्तिशाली नन्दवंश को पराजित करना कोई आसान कार्य नहीं था। जब सिकन्दर ने मगध-राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय किया तो उसके सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। अतः उसकी विश्व-विजय की अभिलाषा अधर में लटक गई।

सिकन्दर के सैनिकों द्वारा युद्ध करने से इन्कार किए जाने के अनेक कारण थे। उसके सैनिक निरंतर सामरिक अभियान से थक और ऊब चुके थे। उन्हें अपने परिवार तथा संबंधियों से विदा लिए काफी समय हो चुका था। अतः वे उनसे मिलने के लिए आतुर हो उठे। उन्हें अपनी युद्ध-यात्रा का अंत नहीं दिखाई दिया। उनके अनेक साथी युद्ध में मारे जा चुके थे। भारत की जलवायु उनके प्रतिकूल होने के कारण वे रोगग्रस्त होते जा रहे थे। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि जिन छोटे-छोटे भारतीय राज्यों के साथ सिकन्दर का युद्ध हुआ उनमें वीरता के लिए प्रसिद्ध भारतीयों ने ग्रीक सेना के छक्के छुड़ा दिए थे। पोरस और कठ जाति के साथ हुए तीव्र संघर्ष में यूनानी सैनिकों के दाँत खट्टे हो गये थे। अतः मगध जैसे विशाल और शक्तिशाली राज्य का नाम सुनकर सिकन्दर की सेना का आतंकित होना स्वाभाविक था। उन्होंने मगध-राज्य की शक्ति के बारे में अनेक बातें सुन रखी थीं। अतः सिकन्दर द्वारा मगध-राज्य पर आक्रमण करने की योजना से वे भयातुर हो गये और उन्होंने विद्रोह कर मगध पर आक्रमण करने से साफ इन्कार कर दिया। सिकन्दर ने अपने सैनिकों को प्रलोभन दिया और प्रोत्साहित किया परन्तु जब सैनिकों ने उसकी एक न सुनी तो सिकन्दर ने वीरतापूर्वक कहा — "फेंक दो मुझे गरजती नदियों

---

1. The Yaudheyas had an unsurpassed reputation for bravery and no wonder for they were the devotees of Kartikeya, the genealissimo of gods. It was this reputation of their bravery and the report about the rich resources of their state that made Alexander's soldiers lose their heart and refuse to advance further." —*Dr. Altekar*

के खतरे में, छोड़ दो मुझे क्रुद्ध गजों की दया पर और उन क्रूर कर्मा जातियों के प्रतिहिंसक औदार्य पर जिनके नाम तुम्हें आतांक से भर रहे हैं । मैं ढूंढ लूंगा ऐसे वीरों को जो मेरा अनुसरण करेंगे ।" उसके इस वीरता पूर्वक कथन से भी जब उसके सैनिक टस से मस नहीं हुए तो निराश होकर सिकन्दर ने कहा — "निस्संदेह मैं अब तक बहरे कानों को ही खटखटाता रहा हूँ । मैं ऐसे कायरों को उत्साहित करता रहा हूँ जिनके हृदय त्रास से भर गये हैं ।" विवश होकर सिकन्दर ने स्वदेश लौटने का निश्चय किया और 325 ई० पू० में व्यास नदी के तट से वह स्वदेश की ओर रवाना हुआ ।

सिकन्दर का स्वदेश-प्रस्थान

नवम्बर 326 ई० पू० में अपने सैनिकों की इच्छानुसार सिकन्दर ने झेलम नदी के मार्ग से वापस स्वदेश की ओर प्रस्थान किया । मार्ग में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और स्वाधीनताप्रिय जातियों के साथ उसका तीव्र संघर्ष हुआ । सभी अवसरों पर विजयश्री ने वीर योद्धा सिकन्दर का ही वरण किया ।

मालव और क्षुद्रकों से युद्ध—स्वदेश लौटते समय जब सिकन्दर झेलम और चिनाब नदी के संगम पर पहुँचा तो मालव और क्षुद्रक गणराज्यों ने, जो कर्टियस के अनुसार परस्पर शत्रु थे, संघबद्ध होकर उसका सामना किया । वे 90,000 पैदल, 10,000 घुड़सवार और 900 रथों की सेना लेकर सिकन्दर के मुकाबले के लिए आ डटे । उनकी शक्तिशाली और विशाल सेना को देखकर सिकन्दर के सैनिक आतंकित हो उठे और अपने स्वामी की आलोचना करने लगे । इस पर सिकन्दर ने उनसे कहा था—"मुझे भारत से गौरव के साथ लौट जाने दो, भगोड़े की भाँति भागने को मजबूर मत करो ।" मालव और क्षुद्रक जाति ने बड़ी वीरता के साथ सिकन्दर का प्रतिरोध किया । उनके एक दुर्ग की दीवार पर चढ़ते हुए सिकन्दर घायल हो गया । किन्तु अन्त में सिकन्दर की विजय हुई और क्रुद्ध यूनानी सैनिकों ने स्त्री-पुरुषों और बच्चों को मौत के घाट उतार दिया । यूनानी लेखकों के अनुसार, इस युद्ध में सिकन्दर की विजय हुई । परन्तु पतंजलि ने लिखा है कि क्षुद्रकों ने अकेले ही सिकन्दर को पराजित कर डाला । डॉ० जायसवाल ने लिखा है कि यद्यपि यूनानी इतिहासकारों ने सिकन्दर की विजयों को बढ़ा-चढ़ा कर लिखा है और उनके मतानुसार मालव तथा क्षुद्रक हार गये, तथापि पतंजलि के अनुसार क्षुद्रकों की जीत हुई । जब सिकन्दर क्षुद्रकों को पराजित करने में सफल न हो सका तो उसने संधि करना ही उचित समझा । सिकन्दर ने उनके नेताओं के सम्मान के लिए जो सोने की कुर्सियां रखीं तथा शानदार भोज की व्यवस्था की, उससे भी यही अनुमान लगाया जा सकता है ।

शिवि और अर्जुनायन जातियों पर विजय—शिवि गणराज्य के लोगों ने सिकन्दर के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया । किन्तु अर्जुनायन जाति के लोगों ने दढ़तापूर्वक सिकन्दर के आक्रमण का सामना किया । सिन्धु और पंजाब की नदियों

के क्षेत्र में सिकन्दर को ब्राह्मणों के प्रतिरोध का भी सामना करना पड़ा। सिकन्दर ने ब्राह्मणों को पराजित करके उनका वध करवा दिया।

सितम्बर 325 ई० पू० में सिकन्दर सिन्धु के डेल्टा पर पहुँचा। वहाँ से बलोचिस्तान के मार्ग से बेबीलोन पहुँचा। मार्ग में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। निरन्तर युद्धरत रहने के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया। सिकन्दर असंयमी था। वह ज्वर में भी शराब पीता था जिससे उसके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। बेबीलोन पहुँचने पर सिकन्दर जानलेवा ज्वर से पीड़ित हो उठा और मात्र 32 वर्ष की अल्पायु में 323 ई० पू० में इस दुर्धर्ष योद्धा की मृत्यु हो गई। इस प्रकार उसकी विश्व-विजय की महत्त्वाकांक्षा पूर्ण न हो सकी।

सिकन्दर महान् भारत में लगभग 19 महीने रहा। इस अवधि मे उसने निरन्तर भारतीय राज्यों पर विजय प्राप्त की। अहर्निश युद्धरत रहने के कारण वह इन भारतीय राज्यों को संगठित कर अपने साम्राज्य का अंग नहीं बना सका। सिकन्दर ने अपने द्वारा विजित प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व कायम रखने के उद्देश्य से उन्हें क्षत्रपियों (प्रान्तों) में विभक्त किया। इन प्रदेशों का शासन उसने अपने क्षत्रपों को सौंप दिया। पोरस के साथ मित्रता हो जाने के उपरान्त उसने जिन भारतीय राज्यों को विजित किया उन्हें प्रायः पोरस के राज्य में मिला लिया था। ऐसा जान पड़ता है कि सिकन्दर भारत को विजित कर पोरस को अपना शक्तिशाली मित्र राजा बनाना चाहता था।

सिकन्दर अपुत्र था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सम्पूर्ण साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। उसके राज्य को अधिकृत करने के उद्देश्य से उसके सेनापतियों में परस्पर संघर्ष छिड़ गया। अन्त में सिकन्दर के सेनापतियों ने उसके राज्य को आपस में बाँट लिया। सिकन्दर के एक सेनापति सेल्युकस ने अपने स्वामी की महत्त्वाकांक्षा का अनुसरण कर भारत पर आक्रमण कर दिया, किन्तु उसे मुँह की खानी पड़ी।

सिकन्दर का मूल्यांकन—सिकन्दर एक महान् योद्धा और महत्त्वाकांक्षी सम्राट् था। उत्तराधिकार के रूप में मकदूनिया के एक छोटे से राज्य को बीस वर्षीय युवक सिकन्दर ने एक विशाल साम्राज्य का स्वरूप प्रदान किया। तत्पश्चात् उसने विश्व विजय करने का निश्चय किया। यद्यपि यूनानी सैनिकों के असहयोग और विद्रोह के कारण सिकन्दर विश्व-विजय की आकांक्षा को पूर्ण न कर सका, तथापि स्वदेश से बाहर उसने जिस वीरता, रणकौशल और अदम्य साहस के साथ विदेशी राज्यों को नत मस्तक किया, वह उसकी असाधारण सैन्य प्रतिभा का परिचायक है। मगध-राज्य की विशाल और शक्तिशाली सेना का ज्ञान होने पर भी सिकन्दर द्वारा उसके विरुद्ध सामरिक अभियान की योजना बनाना और अपने विद्रोही सैनिकों को मगध पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करना निस्संदेह उसकी वीरता का एक सबल प्रमाण है। वह थोड़े समय में अत्यधिक विजयों की आकांक्षा रखता था। एक बार उसने स्वयं अपने सेनापतियों को सम्बोधित करते हुए कहा था—"मैं वर्षों की गिनती नहीं, विजयों की गिनती करता हूँ। मैं उस

मूल से उत्पन्न हुआ हूँ जो दीर्घकाल तक जीवित रहने की अपेक्षा तीव्रता से जीना अच्छा मानता है।"

सिकन्दर एक बर्बर विजेता था। वह क्रूर और नरसंहारक था। क्रूर होने के साथ-साथ वह सभ्यता और संस्कृति के प्रति भी प्रेम रखता था। उस पर अपने असाधारण प्रतिभा सम्पन्न गुरु अरस्तू की शिक्षा का प्रभाव था। चाहे भारतवर्ष में सिकन्दर को 'नरसंहारकों का अग्रज' ही क्यों न माना जाय, किन्तु अपनी वीरता और असाधारण सैनिक प्रतिभा के लिए वह विश्व इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। प्रोफेसर भगवती प्रसाद पांथरी ने सिकन्दर की विजयों और उसकी असाधारण सामरिक प्रतिभा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"उम्र की दृष्टि से अलक्षेन्द्र अल्प आयु में ही चल बसा था। लेकिन इस अल्पकाल में उसने जितनी दिग्विजय की थी और छोटे से मकदूनिया की सीमाओं को जिस तेजी से एशिया, अफ्रीका और भारत के उत्तरी अंचल तक फैला दिया था, वह एक साधारण विजेता डेढ़ सौ वर्षों तक जीवित रहकर भी नहीं कर सकता था।"

सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप भारतीय और यूनानी परस्पर एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आये तथा दोनों ने एक-दूसरे से अनेक क्षेत्रों में ज्ञान अर्जित किया। ज्योतिष, मुद्रा की आकृति और मूर्ति कला के क्षेत्र में यूनानी संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। सिकन्दर के साथ जो यूनानी भारत में आए उनमें से अनेक भारत में ही बस गए थे। कालान्तर में वे भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन हो गये।

सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर प्रभाव

सिकन्दर महान् के आक्रमण ने भारत को कहाँ तक प्रभावित किया, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ इतिहासकारों का मत है कि सिकन्दर आंधी की तरह भारत में आया और तूफान की तरह चला गया तथा शक्तिशाली भारतीय राज्यों से उसका सामना नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी का यह कथन उल्लेखनीय है—"निस्संदेह वह अभियान गौरवपूर्ण था, परन्तु उसे महान् सैनिक सफलता नहीं माना जा सकता···वास्तव में यूरोप और एशिया की सैनिक प्रतिभा का न्यायपूर्ण मुकाबला कभी नहीं हुआ जैसा कि कुछ विद्वान मानते हैं।"[1] डॉ० स्मिथ, एच० जी० रॉलिन्सन आदि विद्वान् भी सिकन्दर के भारत अभियान को प्रभावहीन मानते हैं। किन्तु ई० आर० बेवान, डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार, डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, डॉ० नीलकण्ठ शास्त्री और डा० हेमचन्द्र रायचौधरी जैसे

---

1. "The adventure was no doubt creditable, but can not be regarded as a brilliant military achievement . . . .there was really never a fair test between European and Asiatic military spill, as held by some scholars. "

—*Dr. R. K. Mookerjee*

प्रतिष्ठित विद्वानों का मत है कि सिकन्दर के आक्रमण ने राजनीतिक, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत को प्रभावित किय। । अतः दोनों मतों की संक्षिप्त विवेचना आवश्यक है ।

सिकन्दर का भारत अभियान प्रभावहीन था—कुछ इतिहासकारों का मत है कि भारतवर्ष के तत्कालीन बड़े राज्यों से सिकन्दर का मुकाबला न होने के कारण उसके आक्रमण का भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । किसी भी हिन्दू, जैन अथवा बौद्ध धर्मग्रन्थों में उसके आक्रमण का कोई उल्लेख न मिलना इस बात का द्योतक है कि सिकन्दर के आक्रमण को भारतीयों ने कोई महत्त्व नहीं दिया । डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी जैसे विद्वान् सिकन्दर के द्वारा भारत पर किए गए आक्रमण को प्रभावहीन मानते हैं । इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है—"सिकन्दर का आक्रमण राजनीतिक दृष्टि से भी सफल न था । उससे पंजाब स्थायी रूप से यूनानी राज्य में सम्मिलित नहीं हो पाया । उसके आक्रमण ने साहित्य, जन-जीवन तथा शासन पर भी कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाला ।"[1] डा० मुकर्जी के अनुसार, भारतीय इतिहास में सिकन्दर का स्थान महमूद गजनवी, तैमूरलंग और नादिरशाह के समान है, जिन्होंने अपने आक्रमणों से भारत में लूटमार, असम्मान, कत्लेआम और तबाही की । उन्होंने सिकन्दर को 'मानव संहारकों का अग्रज' कहा है ।

डा० स्मिथ ने सिकन्दर के आक्रमण को प्रभावहीन बताते हुए लिखा है—"यद्यपि सिकन्दर के आक्रमण की योजना बड़ी सावधानी से बनाई गयी थी और इससे स्थायी विजय की आशा की जा सकती थी, तथापि वास्तव में वह एक आक्रमण मात्र बनकर रह गयी । यह आक्रमण बहुत बड़े पैमाने पर सफल तो हुआ, किन्तु भारत पर रक्तपातपूर्ण युद्धों की स्मृति के अतिरिक्त अन्य कोई भी चिन्ह छोड़ने में समर्थ न हुआ । युद्ध के घाव जल्दी भर गये । ज्योंही बैलों और किसानों ने धैर्य के साथ पुनः परिश्रम करना प्रारम्भ किया, उजड़े हुए खेत लहलहाने लगे और मृतकों के स्थान पर फिर जनता दिखाई देने लगी । भारत का यूनानीकरण नहीं हुआ, वह अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता रहा और मकदूनिया के तूफानी आक्रमण को भूल गया । भारत का कोई भी हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन लेखक सिकन्दर के आक्रमण और उपलब्धियों का लेशमात्र भी संकेत नहीं करता ।" एच० जी० रॉलिन्सन ने लिखा है कि सिकन्दर पंजाब को विजित कर शीघ्र वापस लौट गया । उसके आक्रमण का भारत पर कोई तात्कालिक प्रभाव नहीं पड़ा ।

---

1. "Nor was Alexander's campaign a political success, for it did not result in any permanent Macedonian occupation of the Punjab. It left no permanent mark on the literature, life and government of the people."

—*Dr. R. K. Mookerjee*

सिकन्दर का आक्रमण भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तक ही सीमित रहा। जिन प्रान्तों को उसने विजित किया वे गांधार प्रदेश और सिन्धु नदी की घाटी तक के सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत थे। भारत का मध्य और पूर्वी क्षेत्र सिकन्दर के आक्रमण से अछूता रहा। गांधार और सिन्धु के जिस प्रदेश को सिकन्दर ने यूनानी-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था, वह शीघ्र ही स्वतन्त्र हो गया। सिकन्दर 19 महीने भारत में संघर्षरत रहा। अतः ऐसी स्थिति में भारतीयों पर यूनानियों का सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक प्रभाव पड़ना कठिन था। सामरिक दृष्टि से सिकन्दर भारतीयों को प्रभावित न कर सका। सिकन्दर ने अपने आक्रमण के समय भारत में भीषण रक्तपात और नरसंहार का परिचय दिया। उसने आत्मसमर्पण करने वाले सैनिकों, स्त्रियों और बच्चों को भी नहीं बख्शा। अतः भारतीय समाज उसके क्रूर स्वभाव और रक्तपात की नीति के कारण उसके निकट सम्पर्क में नहीं आया और उसके आक्रमण से प्रभावित नहीं हुआ। अनेक भारतीय इतिहासकारों का मत है कि भारतीय समाज कला, धर्म, दर्शन आदि पर यूनानी आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

सिकन्दर का भारत अभियान प्रभावपूर्ण था—कुछ इतिहासकारों का मत है कि सिकन्दर के आक्रमण से भारत अवश्य प्रभावित हुआ था। डा० रमाशंकर त्रिपाठी, डा० रमेशचन्द्र मजूमदार, डा० नीलकण्ठ शास्त्री तथा डा० हेमचन्द्र राय-चौधरी जैसे प्रतिष्ठित विद्वानों के मत हैं कि सिकन्दर के आक्रमण ने कुछ क्षेत्रों में भारत को अवश्य प्रभावित किया। मुख्यतः राजनीतिक, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

राजनीतिक प्रभाव—सिकन्दर ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश, पश्चिमी पंजाब और सिन्धु प्रदेश के अनेक छोटे-छोटे राज्यों को पराजित करके उन्हें अपने द्वारा विजित प्रदेशों में विलीन कर लिया। इससे इन राज्यों में राजनीतिक एकता की भावना जाग्रत हुई। भारत के उत्तर-पश्चिम के राज्यों को विजित कर उसने चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए राजनीतिक एकता के कार्य को सरल बना दिया। इस सन्दर्भ में डा० हेमचन्द्र रायचौधरी का यह कथन उल्लेखनीय है—"यदि पूर्वी भारत में उग्रसेन महापद्मनन्द (नन्द सम्राट) मगध के सिंहासन पर चन्द्रगुप्त मौर्य का अग्रज रहा, तो पश्चिमोत्तर भारत में सिकन्दर स्वयं उसका अग्रदूत था।" उसके कार्यों से राजनीतिक एकता को बल मिला। विजित सीमान्त प्रदेशों में सिकन्दर ने यूनानी सत्ता स्थापित की और क्षत्रपीय शासन-व्यवस्था प्रारम्भ की। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—"सिकन्दर के आक्रमण से भारतवर्ष के राजनीतिक एकीकरण को प्रोत्साहन मिला। एकीकरण के मार्ग में बाधक पोरस, अभिसार, तक्षशिला आदि बड़े राज्यों में विलीन हो गए। ये परिस्थितियाँ एक महान् भारतीय साम्राज्य के उदय के लिए अत्यन्त अनुकूल थीं। चन्द्रगुप्त ने शीघ्र ही एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना कर डाली।" ई० आर० बेवान ने सिकन्दर के आक्रमण को प्रभावशाली बताते हुए लिखा है—"भारत पर यूरोपीय आक्रमण एक महत्त्वपूर्ण घटना थी और

उसके बहुत अधिक स्थायी प्रभाव हुए। अन्य विदेशी आक्रमणों की भाँति इसने भी आन्तरिक बाधाओं को समाप्त कर दिया जिनके कारण एकीकरण के मार्ग में रुकावट पड़ रही थी। उन स्वतन्त्र जातियों का अस्तित्व समाप्त हो गया जिन्होंने दूसरी राजनीतिक प्रणालियों से अलग ही जीवन व्यतीत किया था। छोटे छोटे राज्य पोरस आदि राजाओं के बड़े-बड़े राज्यों में मिला दिए गए। इसमें सन्देह नहीं है कि बाद में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के लिए इन राज्यों को विजित कर अपने विशाल साम्राज्य में विलीन करना बहुत आसान हो गया।"

सिकन्दर के आक्रमण और युद्धों ने उत्तर-पश्चिमी भारत की राजनीतिक और सैनिक दुर्बलताओं को स्पष्ट कर दिया। फलस्वरूप सैन्य संगठन को बल मिला। सिकन्दर के आक्रमणों के परिणामस्वरूप जिन सीमान्त प्रदेशों पर यूनानी राज्य स्थापित हुआ, सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उन्हें चन्द्रगुप्त मौर्य ने अधिकृत कर लिया। सिकन्दर के आक्रमण ने छोटे-छोटे राज्यों की दुर्बलताओं को स्पष्ट कर दिया और इसी कारण चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने मिलकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की योजना बनाई। इस प्रकार पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यूनानियों के संगठित राज्य से अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय एकता और सैनिक जागरूकता को प्रोत्साहन मिला। सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप यूनानी उपनिवेशों और साम्राज्य से यवन अधिकारी तथा सामंत भारत आते रहे और उन्होंने मगध-साम्राज्य के ऊँचे-ऊँचे पदों पर कार्य किया। मौर्य-साम्राज्य की शक्ति क्षीण पड़ते ही साहसी यूनानी अधिकारियों ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में अपने स्वतंत्र यूनानी-राज्य स्थापित कर लिए। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार का कथन है—"जिन यात्राओं और अभियानों की सिकन्दर ने योजना बनाई उससे उसके समकालीन व्यक्तियों का दृष्टिकोण विकसित हुआ और संचार के नये सधन बने तथा वाणिज्य, व्यापार और समुद्री यात्रा के नये मार्ग खुल गये। जिन उपनिवेशों की सीमान्त प्रदेश में विदेशियों ने स्थापना की उन्हें मौर्यों ने पूर्णतः विनष्ट नहीं किया। मगध के महान सम्राट के यवन कर्मचारी उसी प्रकार सेवा में लगे रहे जिस प्रकार वे इकइटना और पार्सीपोलिस के महान सम्राट की सेवा करते थे। मगध साम्राज्य के पतन के पश्चात् साहसी यवन योद्धाओं ने उत्तर-पश्चिम में अपने राज्य स्थापित कर लिए।"

व्यापारिक प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप भारत और पश्चिमी देशों के मध्य सामुद्रिक तथा स्थलीय मार्ग खुल गये। डॉ० स्मिथ ने सिकन्दर के भारत अभियान को प्रभावहीन बताया है, परन्तु उनका कथन है कि इसका एक प्रभाव अवश्य पड़ा कि इसके द्वारा एक समुद्री और तीन स्थलीय मार्ग यातायात के लिए खुल गये। डॉ० मजूमदार ने लिखा है कि सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप वाणिज्य, व्यापार और समुद्री यात्रा के नये मार्ग खुल गये। इन मार्गों से अनेक यूनानी भारत में आने-जाने लगे। इससे भारत और यूनान के मध्य व्यापारिक क्षेत्र में वृद्धि हुई। भारत के कुछ राज्यों में ऐसे सिक्के प्रचलित किए गए जो यूनानी सिक्कों की नकल करके तैयार किए गए थे।

सांस्कृतिक प्रभाव—सिकन्दर ने आक्रमणों के समय विजय स्तम्भ के रूप में अनेक यूनानी उपनिवेश बसाये थे। सिकन्दर द्वारा स्थापित नगर दीर्घकाल तक यूनानी सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र बने रहे। यूनानी ज्योतिष विद्या, नक्षत्र विद्या और कला ने भारतीय ज्योतिष विद्या, नक्षत्र विद्या और कला को प्रभावित किया। मूर्तिकला के क्षेत्र में यूनानियों का प्रभाव विशेष उल्लेखनीय है। गांधार शैली पर यूनानी शिल्पकला का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि विदेशी विद्वानों ने इसे 'ग्रीको-बुद्धिस्ट' 'इण्डोग्रीक' तथा 'इण्डोबैक्ट्रियन' शैली कहा है। अनेक यूनानी बौद्ध और भागवत धर्म से प्रभावित हुए।

भारतीय इतिहास के तिथिक्रम में सहायक—सिकन्दर के आक्रमण से भारतीय इतिहास के तिथिक्रम को निश्चित करने में भी सहायता मिलती है। मौर्यकाल से पूर्व भारतीय इतिहास की अनेक तिथियाँ अनुमान पर ही आधारित हैं। यूरोपीय इतिहास में सिकन्दर के भारत अभियान की तिथि निश्चित है। सिकन्दर के भारतीय अभियान की तिथि से उसके समकालीन भारतीय राजाओं के शासन काल की तिथियाँ निर्धारित करने में सहायता मिलती है।

मूल्यांकन—सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर तत्कालीन कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जैसा कि स्मिथ महोदय के इस कथन से विदित होता है—"तूफान के सामने भारतीयों ने अपना सिर झुका दिया और उसके गुजर जाने पर वे पुनः विचारमग्न हो गये।" किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसने भारत को राजनीतिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में अवश्य प्रभावित किया। सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप भारतीय और यूनानी परस्पर एक-दूसरे के संपर्क में आये और इस संपर्क के परिणाम-स्वरूप ज्योतिष, धर्म-दर्शन और कला के क्षेत्र में आदान-प्रदान हुआ। पोल मेस्सन ओरसल ने लिखा है—"सिकन्दर के भारतीय अभियान के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ा कर भी कहा गया है और कम भी किया गया है। इसका भारत के भाग्य पर यद्यपि कोई निर्णायक प्रभाव नहीं पड़ा तथा उसके परिणाम भी अल्प सिद्ध हुए, तथापि यूनानियों के आठ वर्षीय आधिपत्य ने शताब्दियों तक एक ऐसे युग का आरंभ किया जिसमें भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा के पास न केवल यूनानी सभ्यता बल्कि यूनानी शासन का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता था। मध्य सागर की सभ्यता और पंजाब तथा मध्य एशिया की सभ्यता में सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया।"

सिकन्दर के पश्चात् यूनानी आक्रमण

327 ई० पू० में यूनान का युवा सम्राट सिकन्दर महान् अपनी विश्व विजय की महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के उद्देश्य से भारत पर टूट पड़ा। उसने 19 माह की अवधि में अनेक भारतीय नरेशों को पराजित करके भीषण रक्तपात और नरसंहार का परिचय दिया। सिकन्दर के भारत अभियान का वर्णन पहले किया जा चुका है।

सिल्यूकस का आक्रमण—सिकन्दर अपुत्रक था। अत: उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार हेतु उसके सेनापतियों में परस्पर संघर्ष छिड़ गया। अंत में सिकन्दर के सेनापतियों ने उसके साम्राज्य को आपस में विभक्त कर लिया। सिकन्दर महान् के शक्तिशाली सेनापति सिल्यूकस ने उसके एशियाई-राज्य को अधिकृत कर लिया। सीरिया से अफगानिस्तान तक अपने साम्राज्य को दृढ़ रूप में संगठित कर वह पंजाब पर अधिकार के लिए आगे बढ़ा। सिल्यूकस अपने स्वामी सिकन्दर की भाँति महत्त्वाकांक्षी था। वह सिकन्दर के पद-चिन्हों पर चलते हुए भारतवर्ष को विजित करना चाहता था। अपने साम्राज्य के विस्तार हेतु उसने 305 ई० पू० में भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र पर धावा बोल दिया किन्तु सिन्धु नदी के तट पर वह भारत के शक्तिशाली सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा पराजित हुआ। अंत में दोनों के मध्य एक संधि सम्पन्न हुई। इस संधि के परिणामस्वरूप सिल्यूकस ने हेरात, कंदहार, काबुल की घाटी और बिलोचिस्तान के चार प्रांत चन्द्रगुप्त मौर्य को भेंट स्वरूप प्रदान किए। सिल्यूकस ने मेगस्थनीज नामक यूनानी राजदूत मौर्य दरबार में रखा। चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस को 500 हाथी उपहार में दिए। इस प्रकार सिल्यूकस की भारत-विजय की महत्त्वाकांक्षा को चन्द्रगुप्त मौर्य की सामरिक प्रतिभा ने धूल-धूसरित कर दिया।

पार्थिया और बैक्ट्रिया में स्वतंत्र राज्यों की स्थापना—शक्तिशाली मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य से सिल्यूकस मात खा चुका था। तत्पश्चात् एक शताब्दी तक यूनानियों को भारत पर आक्रमण करने का साहस नहीं हो पाया। अशोक महान् की मृत्यु के पश्चात् उसके अयोग्य उत्तराधिकारी विशाल साम्राज्य की रक्षा का दायित्व नहीं निभा पाये। शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता के अभाव में मौर्य साम्राज्य की दुर्बलता ने उत्तर-पश्चिमी सीमांत क्षेत्र के यूनानी राज्यों को भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया।

सिल्यूकस की मृत्यु के पश्चात् उसके यूनानी-साम्राज्य के पार्थिया और बैक्ट्रिया नामक दो प्रदेश स्वतंत्र हो गये। पार्थिया और बैक्ट्रिया सीरियाई साम्राज्य के दो प्रांत थे। 250 ई० पू० में दोनों प्रांतों ने सीरिया के सम्राट एंटियोकस द्वितीय के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। पार्थिया में इस जन-विद्रोह का नेतृत्व आर्सेकीज नामक सामंत ने किया। बैक्ट्रिया में डियोडोटस ने विद्रोह का नेतृत्व किया। डियोडोटस एक प्रांतीय सूबेदार था और वह स्वतंत्र शासक बनना चाहता था।

एंटियोकस द्वितीय (261 ई० पू० — 246 ई० पू०) तथा उसके उत्तराधिकारी सिल्यूकस द्वितीय (246 ई० पू०—226 ई० पू०) और सिल्यूकस तृतीय (226 ई० पू० —223 ई० पू०) पार्थिया एवं बैक्ट्रिया के जन-विद्रोहों का दमन करने में विफल रहे। सिल्यूकस तृतीय के पश्चात् एंटियोकस तृतीय (223 ई० पू० — 187 ई० पू०) सिंहासनासीन हुआ। उसने भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर आक्रमण कर दिया, किन्तु विफल रहा। एंटियोकस तृतीय ने भी पार्थिया और बैक्ट्रिया के विद्रोहों को दबाने का

असफल प्रयत्न किया। अंत में पार्थिया और बैक्ट्रिया ने अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी।

डियोडोटस प्रथम और डियोडोटस द्वितीय—डियोडोटस प्रथम ने बैक्ट्रिया में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। बैक्ट्रिया में ऑक्सस नदी तथा हिन्दूकुश के मध्य का भाग सम्मिलित था। डियोडोटस प्रथम की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र डियोडोटस द्वितीय बैक्ट्रिया का राजा बना। डियोडोटस द्वितीय ने पार्थिया के राजा के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर सीरिया के राजा के विरुद्ध अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। डियोडोटस द्वितीय ने लगभग 245 ई० पू० से 230 ई० पू० तक शासन किया।

युथिडेमस—230 ई० पू० के लगभग डियोडोटस द्वितीय की हत्या कर युथिडेमस नामक यूनानी नेता ने बैक्ट्रिया की राजगद्दी हथिया ली। सीरिया के राजा एंटियोकस ने 212 ई० पू० में बैक्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया। दोनों राज्यों के मध्य दीर्घकालीन संघर्ष हुआ। दो वर्ष तक संघर्षरत रहने के उपरान्त एंटियोकस तृतीय और युथिडेमस के मध्य एक संधि सम्पन्न हुई जिसके परिणामस्वरूप एन्टियोकस तृतीय ने अपनी पुत्री का विवाह युथिडेमस के पुत्र डिमेट्रियस के साथ सम्पन्न किया। युथिडेमस के राज्यकाल में बैक्ट्रिया की बहुत उन्नति हुई। यह भी कहा जाता है कि उसने दक्षिणी अफगानिस्तान, ईरान के समीपवर्ती प्रदेश तथा पश्चिमोत्तर भारत के कुछ प्रदेशों को अधिकृत कर लिया था।

डिमेट्रियस—युथिडेमस की मृत्यु के पश्चात् 190 ई० पू० में उसका प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी पुत्र डिमेट्रियस राजगद्दी पर बैठा। वह साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का शासक था। उसने सिकन्दर के अधूरे विजय अभियान को पूर्ण करने की योजना बनाई। 183 ई० पू० में उसने हिन्दूकुश को पार कर पंजाब के बड़े भू-भाग को विजित कर लिया। उसकी एक सेना शाकल, मथुरा, पांचाल, साकेत और पाटलिपुत्र को विजित करने के लिए पूर्व की ओर बढ़ी और दूसरी सेना अवंति, माध्यमिका (चित्तौड़) और विदिशा को विजित कर मथुरा पहुँची। पतंजलि और गार्गी संहिता का लेखक यवन आक्रमण का उल्लेख करते हैं। पतंजलि के महाकाव्य से विदित होता है कि 'यवनों ने साकेत को घेरा और माध्यमिका को भी घेर डाला।' गार्गी संहिता में यवनों द्वारा साकेत, पांचाल, मथुरा और पाटलिपुत्र पर किए गए आक्रमणों का उल्लेख मिलता है। किन्तु यवनों में व्याप्त पारस्परिक द्वेष के कारण पुष्यमित्र शुंग की शक्तिशाली सेना के सम्मुख डिमेट्रियस को विशेष सफलता नहीं मिल पाई। पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने सिन्धु नदी के तट पर यवनों को पराजित करके उनके भारत प्रसार को अवरुद्ध कर दिया। भारत के सीमान्त प्रदेश, पश्चिमी पंजाब और सिन्ध में डिमेट्रियस ने अपना अधिकार जमा लिया। इन प्रदेशों में उसने कई यूनानी उपनिवेश और नगर बसाये। उसके सफल विजय अभियान के कारण कुछ लेखकों ने उसे 'भारतीयों का राजा' कहा है। उसने दुभाषिये सिक्के चलाए। भारतीय साहित्य में डिमेट्रियस के भारत अभियान का उल्लेख मिलता है। उसके मिनेण्डर और

अपोलोडोटस नामक सेनापति अनेक भारतीय प्रदेशों पर विजय पताका फहराते हुए क्रमशः पाटलिपुत्र और विदिशा जा धमके। इन प्रदेशों के स्वामी पुष्यमित्र ने यवनों के इस आक्रमण को रोकने में सफलता प्राप्त की। शुंगों द्वारा यवन आक्रमण को विफल कर देने के उपरान्त भी डिमेट्रियस ने भारत के सीमान्त क्षेत्र के पूर्वी भाग पर अपना राज्य स्थापित कर साकल (आधुनिक सियालकोट) को अपनी राजधानी बनाया। तत्पश्चात् मिनेण्डर ने भारतीय अभियान जारी रखा।

युक्रेटाइडीज—जिस समय डिमेट्रियस भारत-अभियान में व्यस्त था, उस समय युक्रेटाइडीज नामक व्यक्ति ने बैक्ट्रिया की राजगद्दी पर अधिकार कर अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया। उसने 171 ई० पू० के लगभग बैक्ट्रिया पर अधिकार किया। डिमेट्रियस को बैक्ट्रिया राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए युक्रेटाइडीज के साथ दीर्घकालीन संघर्ष करना पड़ा। किन्तु वह अपने उद्देश्य में विफल रहा। फलतः डिमेट्रियस का राज्य सिन्ध और पंजाब तक ही सीमित रह गया।

बैक्ट्रिया को अधिकृत कर युक्रेटाइडीज हिन्दूकुश को पार कर अफगानिस्तान और पश्चिमी पंजाब पर टूट पड़ा। उसने वहाँ से डिमेट्रियस तथा उसके उत्तराधिकारियों को मार भगाया। उसने लगभग 165 ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया। जस्टिन ने लिखा है कि उसने भारत को जीता और वह हजारों नगरों का स्वामी बन गया। इस प्रकार पश्चिमोत्तर भारत में दो यूनानी-राज्य स्थापित हो गये। डिमेट्रियस के वंशज पूर्वी पंजाब, सिन्ध और आस-पास के प्रदेशों में शासन कर रहे थे और साकल (सियालकोट) उसकी राजधानी थी। काबुल की घाटी, गांधार और पश्चिमी पंजाब पर युक्रेटाइडीज का अधिकार था। उसके राज्य की राजधानी तक्षशिला थी। विद्वानों का मत है कि युक्रेटाइडीज भारतीय अभियान के पश्चात् जब स्वदेश लौट रहा था तो उसके पुत्र और सहशासक हेलीओक्लीज ने 155 ई० पू० में उसका वध कर दिया। युक्रेटाइडीज के एंटिआल्किडस तथा हर्मियस नामक दो अन्य उत्तराधिकारियों का उल्लेख मिलता है जो साधारण राजा प्रतीत होते हैं।

मिनेण्डर—मिनेण्डर युथिडेमस का वंशज था। वह अत्यन्त प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। उसने भारत में निरन्तर विजय अभियान किए। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"मिनेण्डर इण्डोग्रीक इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण नृपति था।' भारत के सीमान्त प्रदेश के पूर्वी भाग के यूनानी राज्य में मिनेण्डर शक्तिशाली यूनानी राजा सिद्ध हुआ। स्ट्राबो ने लिखा है कि उसने सिकन्दर से भी अधिक जातियों पर विजय प्राप्त की। काबुल से मथुरा और बुन्देलखण्ड तक उसके सिक्के पाये गये हैं। मिनेण्डर ने मथुरा, साकेत आदि प्रदेशों को विजित कर पाटलिपुत्र को घेर लिया। उसने 160 ई० पू०—140 ई० पू० तक शासन किया। बौद्ध सन्त नागसेन से धार्मिक चर्चा होने पर मिनेण्डर अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। यद्यपि पुष्यमित्र ने इस यूनानी आक्रान्ता को पीछे ढकेल दिया, तथापि वह मथुरा तक अपना राज्य स्थापित करने में सफल हो गया। बौद्ध अनुयायी

के अनुरूप उसने अनेक बौद्ध विहार तथा स्तूप निर्मित करवाए। कहा जाता है कि वह पुष्यमित्र के अत्याचारों से त्रस्त होकर आने वाले बौद्ध अनुयाइयों का आश्रय-दाता बन गया। मिनेण्डर न्यायप्रिय शासक था। वह न्याय के लिए प्रसिद्ध था, वह अत्यन्त लोकप्रिय शासक था। प्लुटार्क ने लिखा है कि उसकी मृत्यु के बाद उसकी भस्म के वितरण के सम्बन्ध में प्रजा में झगड़े उठ खड़े हुए। वह इतना जनप्रिय था कि लोग उसकी भस्म पर अलग-अलग स्तूप बनाना चाहते थे। एस० चट्टोपाध्याय ने मिनेण्डर के उत्थान को इण्डो-बैक्ट्रिया इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना कहा है।[1]

एक महान् और न्यायप्रिय शासक के रूप में मिनेण्डर भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी ख्याति अर्जित कर चुका था। रैप्सन महोदय ने मिनेण्डर के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"मिनेण्डर ने केवल एक महान् विजेता के रूप में ही नहीं बल्कि उपनिषदों में वर्णित कुरुवंशी जनमेजय और विदेह के शासक जनक की भाँति एक दार्शनिक के रूप में भी ख्याति अर्जित की।" बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्दपन्हों में मिनेण्डर का उल्लेख मिलिन्द के रूप में मिलता है। उसे बौद्ध धर्म का अनुयायी कहा गया है तथा यह भी कहा गया है कि बौद्ध भिक्षु नागसेन के साथ मिनेण्डर का धार्मिक वाद-विवाद हुआ। उसे वाद-विवाद में बेजोड़ कहा गया है। उसे श्रेष्ठ ज्ञानी, दार्शनिक, बुद्धिमान और शक्तिशाली कहा गया है। प्रोफेसर ए० के० नारायण ने मिनेण्डर को भारतीय-यूनानी सम्राटों में सबसे महान् बताते हुए लिखा है—"मिनेण्डर की अन्य भारतीय यूनानी सम्राटों की तुलना में महत्ता तथा लोकप्रियता केवल उसके सिक्कों से ही प्रमाणित नहीं होती बल्कि परम्परा में उसके नाम के जीवित रहने से प्रमाणित होती है। निश्चित रूप से वह भारतीय यूनानी सम्राटों में सबसे महान् था।" कहा जाता है कि बौद्ध विरोधी पुष्यमित्र शुंग के भय से अनेक बौद्ध अनुयायी प्राण रक्षा हेतु मिनेण्डर की शरण में चले गये थे।

कहा जाता है कि मिनेण्डर ने अपने जीवनकाल में ही अपने पुत्र को राज्य सौंप दिया व स्वयं भिक्षु बन गया। अनुश्रुति से विदित होता है कि उसने अर्हत पद तक प्राप्त कर लिया था। मिनेण्डर की राजधानी साकल वैभव सम्पन्न नगरी थी। वह सुन्दर भवनों, उद्यानों और सरोवरों से सुशोभित थी। सिक्कों में उसके स्ट्रेटो प्रथम, स्ट्रेटो द्वितीय तथा अन्य उत्तराधिकारियों का उल्लेख मिलता है। किन्तु उनके विषय में अन्य ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं हैं। लगभग 50 ई० पू० में उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों को शकों ने पराजित करके उनके अधिकार-क्षेत्र को विजित कर लिया।

---

1. "The rise of Menander was unique event in the annals of the Indo-Bactrians." —*S. Chattopadhyaya*

भारतीय संस्कृति पर यूनानी प्रभाव

सिकन्दर के आक्रमण (327 ई० पू०) से लेकर मिनेन्डर के उत्तराधिकारियों के शासनकाल (50 ई० पू०) तक भारत पर निरन्तर यूनानी आक्रमण हुए। अनेक यूनानी भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेशों में बस गए थे। इस प्रकार दीर्घकाल तक भारत यूनानियों के सम्पर्क में आया। परिणामतः दोनों के मध्य सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ।

यूनानियों ने भारतीय संस्कृति को कहाँ तक प्रभावित किया, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। कुछ विद्वानों का मत है कि यूनानियों ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया जबकि कुछ इतिहासकार यूनानी प्रभाव की उपेक्षा करते हैं। किन्तु इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ज्योतिष विद्या, व्यापार, मुद्रा की आकृति और कला (मूर्तिकला) के क्षेत्र में यूनानियों ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया है।

भारत पर सर्वप्रथम ग्रीक (यूनानी) आक्रमण सिकन्दर महान् द्वारा किया गया। सिकन्दर लगभग 19 महीने भारत में युद्धरत रहा। उसके आक्रमण को भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र में लगभग महत्त्वहीन बताते हुए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"सिकन्दर के आक्रमण के समय ग्रीक पहले-पहले भारत के सम्पर्क में आये और विजेता का मन्तव्य चाहे जो भी रहा हो, अपने 19 महीनों के युद्धों द्वारा सर्वथा आक्रान्त काल में उसका ग्रीक सभ्यता का प्रचारक हो सकना सम्भव न था। इसी कारण हिन्दू समाज को विशेष प्रभावित न कर सका। बल्कि उसकी मृत्यु के शीघ्र बाद भारतीय विप्लव ने ग्रीक विजयों के सारे चिन्ह तक नष्ट कर दिये।" यद्यपि सिकन्दर आँधी की तरह भारत में आया और तूफान की तरह चला गया, किन्तु फिर भी उसके भारत-अभियान के फलस्वरूप अनेक यूनानी भारत में बस गये। कालान्तर में भारतीय तथा यूनानी एक-दूसरे के सम्पर्क में आये और उनमें सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ।

सिकन्दर महान् के आकस्मिक निधन के उपरान्त उसके सेनापति सिल्यूकस ने, जो सिकन्दर के एशियाई-राज्य का स्वामी था, भारत पर आक्रमण कर दिया। किन्तु वह अपने सामरिक अभियान में असफल रहा। उसे सिन्धु नदी के तट पर भारतीय नरेश चन्द्रगुप्त मौर्य से पराजित होना पड़ा। अन्त में दोनों राज्यों के मध्य एक सन्धि सम्पन्न हुई। सिल्यूकस ने मेगस्थनीज नामक ग्रीक राजदूत मौर्य दरबार में रखा। विद्वान् राजदूत मेगस्थनीज ने यूनानियों के भारत विषयक ज्ञान के लिए 'इण्डिका' नामक ग्रन्थ की रचना की। चन्द्रगुप्त मौर्य और सिल्यूकस के मध्य मैत्री हो जाने के फलस्वरूप यूनानी और भारतीय एक-दूसरे के और अधिक निकट सम्पर्क में आए। चन्द्रगुप्त मौर्य के उत्तराधिकारी बिन्दुसार ने भी यूनानी-राज्यों के साथ अपने सम्बन्ध बनाए रखे। अशोक महान् ने अपने धार्मिक उपदेशकों को यूनानी राज्यों में भेजकर पारस्परिक सम्बन्धों को और अधिक मधुर बना दिया था। उसने सीरिया, मिश्र, मकदूनिया, एपिरस तथा अन्य कई यूनानी राज्यों और

प्रदेशों में बौद्ध धर्म-प्रचारकों को भेजा। अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता के कारण मौर्य-साम्राज्य पतन के कगार पर पहुँच गया था जिससे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र के यूनानी-राज्यों को भारत पर आक्रमण करने का प्रोत्साहन मिला।

सिल्यूकस के पश्चात् एंटियोकस तृतीय, डिमेट्रियस, युक्रेटाइडीज और मिनेण्डर ने भारत पर आक्रमण किए और कुछ भारतीय प्रदेशों को विजित कर अपना राज्य स्थापित किया। मिनेण्डर के उत्तराधिकारी 50 ई० पू० तक शासन करते रहे। भारत में यूनानी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप अनेक यूनानी भारत में बस गये थे। उन्होंने भारतीय परम्पराओं और मान्यताओं को अंगीकार करके स्वयं को भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन कर दिया। दीर्घकालीन भारतीय और यूनानी सम्पर्क के कारण दोनों के मध्य सांस्कृतिक क्षेत्र में आदान-प्रदान हुआ।

भारतीयों ने यूनानियों से ज्योतिष, मुद्रा की आकृति और कला के क्षेत्र में ज्ञान अर्जित किया। दूसरी ओर यूनानी भी भारतीय संस्कृति के प्रभाव से अछूते नहीं रह पाये। भारतीय दर्शन ने यूनानी विचार धारा को अत्यधिक प्रभावित किया। योग, तपस्या, वैराग्य, पुनर्जन्म, कर्म का सिद्धान्त, सुरा और मांसाहार का निषेधादि भारतीय सिद्धान्त यूनानियों ने ग्रहण कर लिए। अनेक यूनानियों ने ब्राह्मण धर्म को स्वीकार कर लेने के उपरान्त उसके देवी-देवताओं की आराधना प्रारम्भ कर दी। मिनेण्डर ने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया तथा उसका उदार संरक्षक बन गया। यूनानी हिन्दू धर्म की मान्यताओं को अपना कर धार्मिक क्रिया-विधियों में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। मुख्यतः निम्नलिखित क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति पर यूनानी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

ज्योतिष—यूनानी ज्योतिष ने भारतीय ज्योतिष को प्रभावित किया है। भारतीय ज्योतिषाचार्यों ने यूनानी ज्योतिष से कई नवीन बातें सीखीं। कुछ यूनानी सिद्धान्तों को तो भारतीय ज्योतिष ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया—यथा होरा, यूनानियों का राशि चक्र का सिद्धान्त 'रोमक' और 'पोलिस' सिद्धान्त। गार्गी संहिता में यह उल्लेख मिलता है—"यद्यपि यवन बर्बर हैं, तथापि ज्योतिष के मूल निर्माता होने के कारण वे देवताओं की भांति स्तुत्य हैं।" आयुर्वेद, गणित तथा फलित ज्योतिष से सम्बन्धित भारतीय ग्रन्थों में यूनानी प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। नक्षत्रों को देखकर भविष्यवाणी करने की कला भारतीयों ने बाबुल से सीखी थी।

व्यापार पर प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण ने भारत और पश्चिमी देशों के मध्य एक सामुद्रिक और तीन स्थलीय मार्ग खोल दिए। स्थल मार्ग बिलोचिस्तान, मकरान, काबुल आदि देशों से होते हुए यूनान और यूरोप को जाते थे। इन मार्गों से अनेक यूनानी भारत में आने-जाने लगे। इससे भारत तथा पाश्चात्य देशों के मध्य परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क बढ़ा। भारत को पाश्चात्य सभ्यता का ज्ञान हुआ तथा भारत और यूनान के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध सुदृढ़ हो गये।

यूनानी प्रभाव के फलस्वरूप यूनानी ढंग के सिक्के भारत में प्रचलित हुए। सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व भारत में चिन्हित सादे, भद्दे और बेडौल सिक्के चलते थे। यूनानी प्रभाव के परिणामस्वरूप गोल, समान आकार वाले, सुन्दर और कलात्मक लेखों से अंकित तथा सुडौल सिक्के भारत में प्रचलित किए गए। इन सिक्कों में एक ओर राजा की प्रतिमा और उसकी उपाधियाँ अंकित होती थीं तथा दूसरी ओर कोई दूसरी आकृति होती थी, जो मूलतः यूनानी प्रभाव का द्योतक है। यूनानी शब्द 'द्रख्म' को भारत ने 'द्रम्म' और हिन्दी में दाम के रूप में स्वीकार कर लिया। अपनी लोकप्रियता के कारण भारतीय वस्तुओं का विदेशों को अत्यधिक निर्यात होने लगा। दूसरी शती ई० पू० में अंतिकोअस चतुर्थ ने दाफ़ेने नामक स्थान पर भारत में निर्मित वस्तुओं की प्रदर्शनी आयोजित की थी। डॉ० त्रिपाठी ने लिखा है—"सभ्यताओं के इस सम्पर्क से व्यापार को विशेष लाभ हुआ।"

यूनानी दासियाँ—यूनानी दासियाँ अपनी सुडौलता और सुन्दरता के लिए जगप्रसिद्ध थीं। यूनानियों के सम्पर्क के फलस्वरूप भारत में यूनानी शराब, अंगूर और दासियाँ अत्यधिक लोकप्रिय हो गई। भारतीय राजाओं और सामन्तों ने यूनानी दासियों को अपने शासन में विशेष स्थान दिया। भारतीय नरेशों के व्यक्तिगत अस्त्र-शस्त्र यूनानी महिलाएं रखती थीं। उल्लेखनीय है कि अन्तःपुर में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की अंगरक्षिकाएं यूनानी स्त्रियाँ थीं।

साहित्य—कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि साहित्यिक क्षेत्र में भी यूनानियों ने भारत को प्रभावित किया। इस सम्बन्ध में सन्त क्रिसोस्टम ने कहा है—"भारतीय होमर का काव्य गाते हैं जिन्होंने उसका अनुवाद अपनी भाषा और भावांगन शैलियों में कर लिया है।" प्लूटार्क और एरियन ने भी इस मत का समर्थन किया है। अपने मत की पुष्टि में विद्वानों का कथन है कि यूनान के महाकवि होमर के ग्रन्थ 'इलियड' और 'ओडेसी' का प्रभाव भारतीय ग्रन्थ 'महाभारत' और 'रामायण' पर है। किन्तु मात्र काव्यों में कथानक का सादृश्य देखकर यह धारणा बना लेना अनुपयुक्त है। वास्तविकता तो यह है कि होमर के उपरोक्त दोनों महाकाव्यों की रचना के सैकड़ों वर्ष पूर्व ही 'महाभारत' और 'रामायण' की रचना हो चुकी थी। विद्वानों का यह मत भी तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता कि संस्कृत नाटकों में 'यवनिका' (पर्दे) का प्रयोग यूनानी प्रभाव का द्योतक है। भारत में नाट्यकला प्राचीनकाल से प्रचलित थी। 'यवनिका' शब्द 'यवन' शब्द का व्युत्पन्न अवश्य है। किन्तु यह मानना अनुपयुक्त है कि यूनानी प्रभाव से पूर्व भारतीय नाट्यकला के ज्ञान से अनभिज्ञ थे।

कला—सिकन्दर ने अपने आक्रमण के मार्ग में अनेक यूनानी नगर और उपनिवेश बसाये। सिकन्दर द्वारा निर्मित नगर दीर्घकाल तक यूनानी संस्कृति और जीवन के केन्द्र बने रहे। यूनानी कला ने भी भारतीय कला को प्रभावित किया। यद्यपि यूनानी कला भारतीय कला को व्यापक क्षेत्र में प्रभावित न कर पाई, तथापि मूर्तिकला के क्षेत्र में उसने भारतीय कला पर अपनी अनुपम छाप छोड़ी है।

मूर्तिकला के क्षेत्र में यूनानियों का प्रभाव विशेष उल्लेखनीय है। जब पश्चिमोत्तर सीमान्त क्षेत्र में यूनानी भारतीय समाज और धर्म में अधिक घुल-मिल गये तो उसका प्रभाव कला पर पड़ा। यह प्रभाव भारतीय संस्कृति में सर्वाधिक गहन है। फलतः एक नवीन कला का प्रादुर्भाव हुआ जिसे 'गांधार कला-शैली' कहा जाता है। विदेशी विद्वानों ने इसे 'ग्रीको-बुद्धिस्ट', 'इण्डोग्रीक' और 'इण्डो-बैक्ट्रियन' शैली भी कहा है। गांधार प्रान्त के विभिन्न नगरों—पुष्करावती, तक्षशिला, पुरुषपुर (पेशावर) और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में एक विशिष्ट प्रकार की मूर्तिकला का उद्भव हुआ जो भारतीय इतिहास में 'गांधार-कला-शैली' के नाम से ख्यात है। गांधार शैली के अन्तर्गत बुद्ध और बौद्ध धर्म के देवी-देवताओं की कई मूर्तियाँ निर्मित की गयीं। बुद्ध, बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर आदि की मूर्तियां ध्यानमुद्रा, धर्म-चक्र मुद्रा, अभयमुद्रा, वरदमुद्रा आदि में निर्मित होने लगीं। गांधार शैली में बोधिसत्वों की प्रतिमाएं राजाओं जैसी बनाई गयीं तथा बौद्ध धर्म ग्रन्थों में वर्णित कहानियों और जातक ग्रन्थों के दृश्यों को पाषाण पर अंकित किया गया। भारतीय तथा यूनानी कला के इस सम्मिश्रण (गांधार कला) के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि गांधार शिल्प की शैली विदेशी होते हुए भी इसके विषय सदैव भारतीय रहे हैं। दूसरे शब्दों में गांधार शैली यूनानी कला और भारतीय दर्शन का समन्वय है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि यूनानी संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया तथा राजनीति, साहित्य, धर्म और कला के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति यूनानी संस्कृति की ऋणी है, तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता।

यूनानियों ने भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र को ही प्रभावित किया। सीमान्त प्रदेशों के यूनानी शासक परस्पर संघर्षरत रहते थे। उन्होंने भारतीय राजाओं के विरुद्ध निरन्तर सामरिक अभियान जारी रखे। उन्होंने अपने आक्रमणों में भीषण नरसंहार का परिचय दिया। इसलिए भारतीय जनता ने उन्हें आक्रान्ता के रूप में अधिक देखा। किन्तु इतना तो निश्चित है कि ज्योतिष मुद्रा की आकृति और मूर्तिकला के क्षेत्र में यूनानी संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत पर ईरानी आक्रमणों तथा उनके प्रभावों की विवेचना कीजिए।
2. भारत पर सिकन्दर के आक्रमण का संक्षेप में विवेचन कीजिए।
3. सिकन्दर के भारत आक्रमण का ऐतिहासिक महत्व लिखिए।
4. महान् योद्धा सिकन्दर का मूल्यांकन कीजिए।
5. भारत पर सिकन्दर के आक्रमण का संक्षिप्त विवरण दीजिए। भारतीय इतिहास पर इसका क्या प्रभाव पड़ा?

6. "सिकन्दर की नियोजित सामुद्रिक तथा सैनिक यात्राओं ने तत्कालीन भौगोलिक क्षितिज को विस्तृत किया और यातायात के नवीन ढंगों, व्यापार के नवीन मार्गों तथा सामुद्रिक साहसिक यात्राओं का द्वार खोल दिया ।" डा० आर० सी० मजूमदार के इस कथन की विवेचना कीजिए ।
7. "जो कुछ भी यूनानी प्रभाव भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में दृष्टिगोचर होते हैं वे सब सिकन्दर के आक्रमण के अप्रत्यक्ष परिणाम थे ।" इस कथन की समीक्षा कीजिए ।
8. सिकन्दर के पश्चात् भारत पर हुए यूनानी आक्रमणों का वर्णन कीजिए ।
9. भारतीय संस्कृति पर यूनानी प्रभाव की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ।

14

मौर्य वंश
(321 ई० पू०-184 ई० पू०)

321 ई० पू० में मगध में मौर्य वंश की स्थापना हुई। मौर्य वंश के अस्तित्व में आने से पूर्व भारत ईरानी और यूनानी आक्रमणों से त्रस्त हो चुका था और उसकी राजनीतिक स्थिति प्रायः विच्छिन्न अवस्था में थी। मौर्य वंश से पूर्व मगध पर शूद्रवंशी नन्द राजाओं का आधिपत्य था जो अलोकप्रिय होते हुए भी अत्यधिक शक्तिशाली थे। शक्तिशाली नन्दों का विनाश करके चाणक्य और मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया।

भारतीय इतिहास में मौर्य युग का विशेष महत्त्व है। मौर्य युग से पूर्व का भारतीय इतिहास अस्पष्ट है और उसकी तिथियां भी विवादास्पद हैं। मौर्य सम्राटों ने भारतवर्ष में व्याप्त राजनीतिक विच्छिन्नता को समाप्त कर एक विस्तृत, सुव्यवस्थित और सुसंगठित साम्राज्य की नींव डाली। इस वंश (मौर्य वंश) में चन्द्रगुप्त जैसे पराक्रमी योद्धा और अशोक महान् जैसे जगप्रसिद्ध सहृदय सम्राटों का आविर्भाव हुआ, जिनके क्रिया-कलाप न केवल अपने कुल अपितु सम्पूर्ण देश के इतिहास को गौरवान्वित करते हैं। पुराणों से विदित होता है कि मौर्य वंश ने 137 वर्ष तक शासन किया। अनेक भारतीय तथा विदेशी साक्ष्यों से मौर्यकालीन इतिहास पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है।

ऐतिहासिक साक्ष्य—विदेशी विद्वानों की कृतियों से मौर्यकालीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। सर्वप्रथम सर विलियम जौंस ने ही यह प्रमाणित किया कि यूनानी भाषा का सैंड्रोकोट्टस अथवा ऐंड्रोकोट्टस नाम मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त का है। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज कृत 'इण्डिका' तथा परवर्ती यूनानी लेखक स्ट्राबो, डियोडोरस, एरियन, प्लूटार्क, जस्टिन आदि के ग्रन्थों में मौर्यकालीन भारत का

उल्लेख मिलता है। कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र', विशाखदत्तकृत मुद्रा राक्षस, सोमदेव रचित कथासरित्सागर, पुराण, क्षेमेन्द्र द्वारा लिखित वृहत्कथामञ्जरी आदि ग्रन्थों से मौर्यकालीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। बौद्धग्रन्थ—दीपवंश, महावंश, महावंश टीका और महाबोधि वंश, तथा जैन ग्रन्थ कल्पसूत्र एवं परिशिष्ट पर्वण मौर्यकालीन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करते हैं। अशोक के चौदह शिलालेख और सात स्तम्भ लेख ऐतिहासिक ज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

नन्द वंश का अन्त और मौर्य वंश की स्थापना

मौर्य वंश की स्थापना से पूर्व मगध में शूद्रवंशी नन्द राजाओं का शक्तिशाली राज्य विद्यमान था। नन्दों की सेना इतनी अधिक शक्तिशाली थी कि उसके पराक्रम की गाथा सुनकर ही विश्व-विजय की आकांक्षा से प्रेरित यूनानी सैनिकों में दहशत फैल गई। नन्दों की सेना के भय से आतुर होकर यूनानी सैनिकों ने सिकन्दर को स्वदेश लौटने को विवश किया। ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था के संरक्षक थे, अतएव उनके द्वारा देश में शूद्र शासकों का विरोध नितान्त स्वाभाविक था। कूटनीति के पण्डित चाणक्य और नन्द वंश के मध्य तीव्र वैमनस्य की भावना व्याप्त थी। चाणक्य नन्द वंश के विनाश हेतु कृतसंकल्प था। सौभाग्यवश उसकी भेंट महान् योद्धा चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ हुई जो स्वयं भी नन्द वंश का अन्त करने के लिए प्रयत्नशील था। अतः दोनों ने मिलकर नन्द वंश को विनष्ट करने की योजना बनाई। कौटिल्य की कूटनीतिज्ञता और चन्द्रगुप्त मौर्य की सामरिक प्रतिभा ने मिलकर 321 ई० पू० में मगध पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने नन्द वंश का अन्त कर 321 ई० पू० में मगध में मौर्य वंश की नींव डाली। भारतवर्ष के इतिहास में मौर्य वंश का विशिष्ट स्थान है। डा० स्मिथ ने मौर्य काल के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"मौर्य राजवंश का प्रादुर्भाव इतिहासकार के लिए अंधकार से प्रकाश के मार्ग का निर्देश करता है। तिथिक्रम सहसा निश्चित, करीब-करीब सुनिश्चित हो जाता है; एक विशाल साम्राज्य का प्रादुर्भाव होता है जो भारत के विच्छिन्न असंख्य टुकड़ों को संयुक्त कर देता है। राजा लोग जिन्हें वास्तव में सम्राट कहा जा सकता है, महान् व्यक्तित्त्व के तथा लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे जिनके गुणों के दर्शन यद्यपि समय के कुहासे में मन्द रूप से किए जा सकते हैं।"[1] शृंखलाबद्ध इतिहास का प्रारम्भ,

---

1. "The advent of the Mauryan dynasty makes the passage from darkness to light for the historians, chronology sudd nly becomes definite, almost precise; a huge empire sp·ings into existence, unifying the innumerable fragments of distracted India : the kings, who may be described with justice as emperors, are men of known outstanding personalities whose qualities can be discerned about dimly through the mists of time."

—*V. A. Smith*

साम्राज्य की विशालता, शासन की श्रेष्ठता, लोक कल्याण की नीति पर आधारित शासन, साम्राज्यवादी प्रवृत्ति, शासन की एकरूपता, सांस्कृतिक एकता की स्थापना, विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्धों की स्थापना आदि विशेषताओं के कारण मौर्य काल भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

मौर्य वंश के शासकों ने 321 ई० पू० से 184 ई० पू० तक शासन किया। इस वंश के शासकों में मौर्य वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक महान् विशेष उल्लेखनीय हैं। यदि एक (चन्द्रगुप्त मौर्य) ने युद्ध घोष किया तो दूसरे (अशोक) ने धम्मघोष। यदि चन्द्रगुप्त मौर्य अपनी सामरिक प्रतिभा और सैनिक विजयों के लिए भारतीय इतिहास में ख्यात् है, तो अशोक मौर्य विशुद्ध मानव प्रेम और धम्म विजय के लिए विश्वविख्यात है।

चन्द्रगुप्त मौर्य
(321 ई० पू०—297 ई० पू०)

मगध में मौर्य वंश की नींव डालने का श्रेय संयुक्त रूप से कौटिल्य और चन्द्रगुप्त मौर्य को है। मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के जन्म और वंश के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचारधाराएं प्रचलित हैं। अतः सर्वप्रथम उनके वंश के सम्बन्ध में प्रचलित मतों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

मौर्य वंश—चन्द्रगुप्त मौर्य वंश का संस्थापक था। उसके जन्म के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त नीच कुलोत्पन्न शूद्र की सन्तान और राजपद के अयोग्य था। दूसरे मत के अनुसार, उसका जन्म कुलीन घराने में हुआ था, वह उच्चकुल का क्षत्रिय था और राजपद पाने हेतु सर्वथा योग्य था। अतः दोनों मतों पर विचार करना आवश्यक है।

विदेशी लेखक जस्टिन ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का जन्म एक मामूली घराने में हुआ था, परन्तु एक शकुन के कारण वह राजत्व प्राप्त करने को प्रेरित हुआ। जस्टिन के अतिरिक्त अन्य किसी भी विदेशी लेखक ने चन्द्रगुप्त को मामूली घराने से सम्बद्ध नहीं बताया है। प्लूटार्क का कथन है कि जब चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला तो उसने नन्द वंश के राजा के नीच कुल में उत्पन्न होने की बात उससे कही थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त नीच कुलोत्पन्न नहीं था। यदि वह नीच कुल में उत्पन्न हुआ होता तो वह सिकन्दर से नन्द राजा के नीच कुल में पैदा होने की बात क्यों कहता?

पुराणों के एक टीकाकार ने मौर्य शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य अन्तिम नन्द शासक की मुरा नामक शूद्रा रखेली से उत्पन्न हुआ था। इसीलिए बाद में वह मौर्य कहलाया। मुरा से 'मौर्य' नहीं 'मौरेय' शब्द बनना चाहिए। पुराणों में कहीं भी चन्द्रगुप्त को नीच कुलीय अथवा मुरा का पुत्र नहीं कहा गया है।

मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए 'कुलहीन' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ विद्वानों ने साधारण कुल कहा है। जस्टिन का कथन है कि चन्द्रगुप्त

मौर्य का जन्म मामूली घराने में हुआ था। इस प्रकार विदित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य नीच कुल में उत्पन्न न होकर मामूली घराने अथवा साधारण कुल में पैदा हुआ था। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि चन्द्रगुप्त राजकुमार न होकर साधारण क्षत्रिय था और मगध के राजमुकुट के अधिकार से उसका सम्बन्ध न था।

दूसरे मत के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ था। बौद्ध साहित्य में उसे अभिजात कुल का बताया गया है। उसमें कहा गया है कि चन्द्रगुप्त मोरिय नामक क्षत्रिय जाति की सन्तान था। मोरिय जाति शाक्यों की उस उच्च तथा पवित्र जाति की एक शाखा थी, जिसमें महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था। अत्याचारी कोशल नरेश विडूडभ के आक्रमणों से आतंकित होकर मोरिय जाति ने अपने मूल प्रदेश का परित्याग करके हिमालय के एक सुरक्षित स्थान की शरण ली। यह प्रदेश मोरों के लिए प्रसिद्ध था, इसलिए वहाँ निवास करने वाले लोग मोरिय कहलाने लगे। महाबोधिवंश में कहा गया है कि कुमार चन्द्रगुप्त का जन्म राजाओं के कुल में हुआ था और वह मोरिय नगर का निवासी था। उसमें यह भी कहा गया है कि चन्द्रगुप्त का जन्म क्षत्रियों के मोरिय नामक वंश में हुआ था।

जैन ग्रन्थों से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त एक गांव की मुखिया की बेटी का पुत्र था। उस गाँव में मोर पालने वालों की संख्या अधिक होने के कारण वह मौर्य कहलाया।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि चन्द्रगुप्त का जन्म पिप्पलिवन राज्य के मोरियवंश के क्षत्रिय कुल में हुआ था। चन्द्रगुप्त का पिता इसी मोरिय वंश का प्रधान था। किसी शक्तिशाली राजा ने चन्द्रगुप्त के पिता का वध करवा कर उसका राज्य छीन लिया। चन्द्रगुप्त की गर्भवती माता अपने सम्बन्धियों के साथ भागकर पाटलिपुत्र में निवास करने लगी। वहाँ वह मयूर-पालन का कार्य करती थी। अतः चन्द्रगुप्त का प्रारम्भिक जीवन मयूर पालकों के मध्य व्यतीत हुआ था।

दिव्यावदान और मध्यकालीन अभिलेखों में चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय कहा गया है।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि यूनानी वृत्तान्त और पुराण चन्द्रगुप्त मौर्य के कुल के विषय में स्पष्ट प्रकाश नहीं डालते। मुद्रा राक्षस में उसे नन्द वंश की सन्तान कहा गया है और बौद्ध तथा जैन साहित्य में उसे कुलीनवंशी कहा गया है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के जन्म से सम्बन्धित समस्त ऐतिहासिक साधनों का अध्ययन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि उसका जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था तथा वह राज्यपद पाने योग्य था। कौटिल्य जैसे कट्टर ब्राह्मण, शास्त्राचार्य तथा अडिग धर्मरक्षक द्वारा चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर बिठाया जाना, इस बात को प्रमाणित कर देता है कि वह राजपद पाने योग्य क्षत्रिय राजकुमार था। इस संदर्भ

में डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी का यह कथन उल्लेखनीय है—"कौटिल्य जैसे कट्टर ब्राह्मण, शास्त्राचार्य तथा अडिग धर्मरक्षक के हाथों सार्वभौम शासक के रूप में चन्द्रगुप्त का विधिवत् राज्याभिषेक इस बात का निश्चित प्रमाण है कि उसने जिस व्यक्ति को इस पद के लिए चुना था, वह अवश्य ही कुलीन घराने का रहा होगा, वह अवश्य ही राजत्व का पद प्राप्त करने योग्य क्षत्रिय रहा होगा।" डॉ० रायचौधरी ने भी चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय कुल का बताया है।

प्रारम्भिक जीवन—महावंश टीका तथा महाबोधिवंश नामक बौद्ध ग्रन्थों से चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। उनसे विदित होता है कि चन्द्रगुप्त का जन्म मोरिय नामक क्षत्रिय जाति में हुआ था; जिनका शाक्यों के साथ सम्बन्ध था। चन्द्रगुप्त का पिता अपनी जन्मभूमि को छोड़कर चली आने वाली मोरिय जाति का मुखिया था। दुर्भाग्यवश वह सीमान्त पर एक झगड़े में मारा गया। उसकी माता अपने भाइयों के साथ पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) पहुँच गयी, जहाँ उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया। सुरक्षा के विचार से उसके मामाओं ने अनाथ चन्द्रगुप्त को गोशाला में छोड़ दिया, जहाँ एक गड़रिये ने अपने पुत्र की तरह उसका पालन-पोषण किया और बड़ा होने पर उसे एक शिकारी के हाथ बेच दिया। शिकारी के यहाँ बालक चन्द्रगुप्त ने पशु चराने का काम किया। कहा जाता है कि इस साधारण ग्रामीण बालक चन्द्रगुप्त ने राजकीलम् नामक एक खेल का आविष्कार करके जन्म-जात नेता होने का परिचय दिया। इस खेल में वह राजा बनता था और अपने साथियों को अपना अनुचर बनाता था। वह राज्य सभा भी जुटाता था, जिसमें बैठकर वह न्याय करता था। गाँव के बच्चों की ऐसी ही एक राज्य सभा में चाणक्य ने पहली बार चन्द्रगुप्त को देखा था। चाणक्य ने अपनी दिव्य दृष्टि से तुरन्त इस ग्रामीण अनाथ बालक में राजत्व की प्रतिभा तथा चिन्ह देखे और वहीं पर उसके पिता को एक हजार कार्षापण देकर उसे खरीद लिया। तत्पश्चात् उसने चन्द्रगुप्त को प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला में प्रवेश दिलाकर आठ-नौ वर्षों तक समस्त विद्याओं और कलाओं का ज्ञान करवाया। नन्द राजा धननन्द ने चाणक्य की कुरूपता का उपहास किया था और उसे अपमानित भी किया था। अतः चाणक्य नन्दवंश का अन्त करके अपने अपमान का बदला लेना चाहता था। उस समय भारत पर यूनानी आक्रमण भी हो रहे थे। अतः चाणक्य ने नन्दवंश के अन्त तथा बाह्य आक्रमणों से देश को बचाने के उद्देश्य से चन्द्रगुप्त को अनेक विद्याओं में निपुण बनाया। अन्त में चाणक्य की कूटनीतिज्ञता और चन्द्रगुप्त की सामरिक प्रतिभा ने मिलकर मगध में नन्दवंश का अन्त कर नवीन राजवंश (मौर्य वंश) की नींव डाली।

एक अन्य विवरण से ज्ञात होता है कि गड़रिये तथा शिकारी के यहाँ लालन-पालन होने के उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्य मगध सम्राट् राजा नन्द की सेना में भर्ती हो गया। सेना में भर्ती होने के उपरान्त उसने अपनी असाधारण योग्यता का परिचय देते हुए नन्द सेना में सेनापति का पद प्राप्त कर लिया। चन्द्रगुप्त की

निरन्तर प्रगति उसके प्रतिद्वन्द्वियों के लिए ईर्ष्या का विषय बन गई। उसके विरोधियों ने नन्दशासक धननन्द के कान फूंक दिये। राजा ने चन्द्रगुप्त को मृत्यु दण्ड देने का निश्चय किया। किन्तु वह इस षड्यंत्र के चंगुल से भाग निकलने में सफल हो गया और उसने नन्दवंश का उन्मूलन करने का निश्चय किया। इसी समय नन्दवंश के प्रबल शत्रु चाणक्य से उसकी भेंट हुई। 'शत्रु का शत्रु अपना मित्र होता है,' की नीति का अनुकरण करते हुए चन्द्रगुप्त और चाणक्य परस्पर मित्र बन गये तथा उन्होंने नन्दवंश के अन्त हेतु प्रयास प्रारम्भ कर दिये।

एक अन्य कथन से यह विदित होता है कि चन्द्रगुप्त मगध के राजा नन्द की सेना में सेनापति था। अपने स्वामी के दुर्व्यवहार से क्रुद्ध होकर उसने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। किन्तु उसे अपने कार्य में सफलता नहीं मिल पाई और विवश होकर प्राण रक्षा हेतु उसे भागना पड़ा।

चन्द्रगुप्त की सिकन्दर से भेंट—326 ई० पू० में महान् योद्धा सिकन्दर ने भारत पर सैनिक अभियान प्रारम्भ कर दिया। उसने भारत के अनेक प्रदेशों को रौंद डाला। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त मगध राज्य के विरुद्ध भड़काने के उद्देश्य से पंजाब में सिकन्दर से मिला। प्लूटार्क के विवरण से ज्ञात होता है—"ऐंड्रोकोट्टस, जो उस समय नवयुवक था, स्वयं सिकन्दर से मिला था।" प्लूटार्क का कथन है कि जब चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला तो उसने मगध सम्राट् नन्द राजा के नीच कुल में उत्पन्न होने की बात उससे कही। नवयुवक चन्द्रगुप्त की स्पष्टवादिता, स्वतन्त्र विचार और दर्पयुक्त वाक्यों को सुनकर सिकन्दर क्रोध से भड़क उठा। उसने अपने सैनिकों को चन्द्रगुप्त का वध करने का आदेश दिया किन्तु चन्द्रगुप्त उनके चंगुल से भाग निकला। तत्पश्चात् वह सिकन्दर के भय से आतुर होकर अज्ञात रूप में रहने लगा। सिकन्दर के स्वदेश लौटने के पश्चात् उसने सिकन्दर द्वारा अविजित पंजाब की जातियों को सैन्य शक्ति के रूप में संगठित कर लिया।

चन्द्रगुप्त की विजयें

चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों नन्द वंश के कट्टर शत्रु थे। उनका प्रमुख उद्देश्य नन्दवंश का अन्त करना था। किन्तु शक्तिशाली नन्दवंश को, जिसकी विशाल और शक्तिशाली सेना से सिकन्दर महान् के सैनिक भयातुर हो गये थे, पराजित करना कोई आसान कार्य नहीं था। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम पंजाब को विजित कर वहाँ की युद्धप्रिय जातियों को सेना में भर्ती करके एक शक्तिशाली सेना संगठित की। तत्पश्चात् उसने भारत में बस गये यूनानियों को पराजित कर उनके द्वारा अधिकृत भू-भाग को विजित कर लिया। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्य का सामरिक अभियान क्रम इस प्रकार विदित होता है।

मगध पर असफल सैनिक अभियान—नंद वंश के दो शत्रु—चाणक्य और चन्द्रगुप्त के परस्पर मिल जाने से नंद वंश के लिए खतरा उत्पन्न हो गया। दोनों नंदवंश का अन्त करने के लिए कृतसंकल्प थे। चाणक्य को एक वीर, साहसी और

महत्त्वाकांक्षी नवयुवक की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति चन्द्रगुप्त मौर्य ने कर दी तथा चन्द्रगुप्त को एक विद्वान अनुभवी कूटनीतिज्ञ तथा विशाल सेना के संगठन के लिए धन की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति चाणक्य ने कर दी। चाणक्य ने एक बड़ी धनराशि चन्द्रगुप्त को प्रदान की जिससे एक विशाल सेना संगठित की गई। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने इस सेना द्वारा मगध पर आक्रमण कर दिया। किन्तु शक्तिशाली मगध राज्य की सेना के सम्मुख उन्हें करारी मात खानी पड़ी। महावंश टीका में उल्लिखित एक कथा से विदित होता है कि मगध-राज्य की सेना से पराजित होकर चन्द्रगुप्त मौर्य एक वृद्धा की झोपड़ी में छिपा हुआ था। वहां वृद्धा ने बालक को एक गर्म रोटी दी। बालक ने गर्म रोटी को बीच में से तोड़ा, इस पर उसका हाथ जल गया। वृद्धा ने बालक को शिक्षा दी कि गर्म रोटी किनारे से तोड़ कर खानी चाहिए। चन्द्रगुप्त ने वृद्धा के इस कथन से सबक सीखा। उसने महसूस किया कि शक्तिशाली मगध राज्य के केन्द्र पर आक्रमण कर उसने भूल की है। उसने निश्चय किया कि उसे पहले मगध-राज्य के दूरस्थ प्रदेशों को विजित करना चाहिए, जहां केन्द्रीय सरकार के प्रति असंतोष की भावना व्याप्त थी।

पर्वतक से मैत्री-संधि—ऐतिहासिक साक्ष्यों से विदित होता है कि मगध में मौर्यवंश की नींव डालने से पूर्व चाणक्य ने पर्वतक नामक राजा से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। मुद्राराक्षस में यह उल्लेख मिलता है कि चाणक्य ने हिमालय पर्वत-प्रदेश के एक राज्य के पर्वतक या पर्वतेश नामक प्रधान से मैत्री-संधि की थी। परिशिष्ट पर्वन नामक जैन ग्रन्थ में भी इस मैत्री-संधि का विवरण मिलता है। उसमें कहा गया है—"हिमवत्कूट गया, और उस प्रदेश के राजा पर्वतक के साथ उसने मैत्री-संधि की।" बौद्ध साहित्य में भी पर्वतक नामक चाणक्य के एक घनिष्ठ मित्र का उल्लेख मिलता है। एफ० डब्लू० टॉमस ने पर्वतक का समीकरण पोरस से किया है। डॉ० मुखर्जी ने उनका समर्थन करते हुए लिखा है—"यह मत बिल्कुल तर्कसंगत प्रतीत होता है। पोरस का उस समय इतना महत्त्व था कि उसकी सहायता प्राप्त किये बिना उस प्रदेश में किसी भी युद्ध का बीड़ा नहीं उठाया जा सकता था।" मुद्राराक्षस से ज्ञात होता है कि पर्वतक से मैत्री हो जाने के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त की सेना में अनेक जातियों के लोग भर्ती हो गये और उसकी सेना पहले से अधिक शक्तिशाली और सुसंगठित हो गई।

भारत से यूनानियों का निष्कासन—सिकन्दर ने अपने भारतीय अभियान में भीषण रक्तपात और नर संहार का परिचय दिया था, इससे भारतीय जनसाधारण पर उसका बुरा प्रभाव पड़ा। सिकन्दर ने भारत में विजित प्रदेशों में अपने क्षत्रप नियुक्त किये, जिनके प्रति भारतीयों में तीव्र असंतोष की भावनाएं व्याप्त थीं। उन्होंने निकानोर और तत्पश्चात् फिलिप नामक यूनानी क्षत्रपों को मौत के घाट उतार दिया। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—"फिलिप जैसे यूनानी पदाधिकारी की हत्या, जो यूनानी शासन का श्रेष्ठतम साकार रूप तथा प्रतिनिधि था, सचमुच उस शासन पर घातक प्रहार था।"

सिकन्दर के स्वदेश लौटने के पश्चात् भारतीयों ने यूनानियों के विरुद्ध अपना संघर्ष छेड़ दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जनसाधारण के सम्मुख यूनानियों को भारत से निष्कासित करने का आदर्श प्रस्तुत किया और यूनानियों के विरुद्ध असंतुष्ट भारतीय जनता का नेतृत्व किया। उसने यूनानियों को पंजाब से मार भगाया तथा जो यूनानी भारत में रह गये थे, उनमें से अधिकांश को मौत के घाट उतार दिया। इस सम्बन्ध में जस्टिन का यह कथन उल्लेखनीय है—"सिकन्दर की मृत्यु के बाद भारत ने मानो अपने गले से दासता का जुआ उतार फैंका और उसके क्षत्रपों को मार डाला। इस मुक्ति संग्राम का नेता सैंड्रोकोट्टस था।" यूनानियों को निष्कासित करने के उपरांत चन्द्रगुप्त एक विशाल और शक्तिशाली सेना द्वारा मगध राज्य पर टूट पड़ा।

पंजाब पर अधिकार—भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में यूनानी शासन कर रहे थे। चन्द्रगुप्त ने उन्हें पराजित कर मार भगाया। पंजाब और पश्चिमोत्तर भारत के यूनानी शासन का अन्त करना चन्द्रगुप्त की प्रथम सैनिक सफलता थी। उसने पंजाब पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त ने पंजाब की युद्धप्रिय जातियों को संगठित करके एक शक्तिशाली सेना का स्वरूप प्रदान किया। इस सेना द्वारा उसने मगध-साम्राज्य को भी धराशायी कर दिया। रिज डेविड्स का कथन है कि चन्द्रगुप्त द्वारा नंदों को पराजित करने में पंजाब के सैनिकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

मगध-राज्य पर आक्रमण और नंद वंश का अंत—पंजाब पर अधिकार करने के उपरांत चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध-राज्य पर पुनः आक्रमण करने की योजना बनाई। उन्होंने पंजाब की युद्धप्रिय जातियों को संगठित कर एक विशाल सेना के रूप में परिवर्तित कर दिया। शक्तिशाली सेना द्वारा चन्द्रगुप्त ने नंद साम्राज्य के सीमांत प्रदेशों पर आक्रमण कर दिये। अनेक नगरों और सैनिक चौकियों को विजित करते हुए चन्द्रगुप्त मगध-राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र के समीप पहुँचा। उसने पाटलिपुत्र का घेरा डाला और घमासान युद्ध में राजा धननंद सपरिवार मारा गया। मिलिंदपन्हों से विदित होता है कि इस युद्ध में सौ कोटि सैनिक, 10,000 हाथी, एक लाख घोड़े तथा 5,000 सारथी मारे गये। यद्यपि यह विवरण अतिरंजित सा प्रतीत होता है, तथापि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त और धननंद के मध्य भीषण संग्राम हुआ। पुराणों, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में नंद वंश के ऊपर चाणक्य और चन्द्रगुप्त की विजय का वर्णन मिलता है। मुद्राराक्षस से ज्ञात होता है कि चाणक्य ने नौ नंदों की हत्या कर संन्यासी के वेश में रह रहे एक अन्य वृद्ध नंद वंश के प्रतिनिधि को भी मौत के घाट उतार दिया। नंद शासक अपनी अकर्मण्यता, अयोग्यता और जनसाधारण के शोषण करने के कारण जनता में अलोकप्रिय थे। उसकी प्रजा उससे घृणा करती थी, जिसकी सूचना चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को दी थी। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि नंद वंश का साम्राज्य विस्तृत था और उसके पास एक विशाल और शक्तिशाली सेना थी। कर्टियस के अनुसार उसकी सेना में 2,00,000 पैदल सिपाही, 20,000 घुड़सवार, 2,000 घोड़ों वाले रथ और 3,000 हाथी थे। उसकी शक्तिशाली सेना के विषय में केवल

ज्ञान होने पर ही सिकन्दर की सेना भयातुर हो गई और अपने स्वामी सिकन्दर को स्वदेश लौटने को विवश किया। यह उल्लेखनीय है कि जिस मगध-सम्राट नंदराजा की शक्तिशाली सेना का नाम सुनकर ही सिकन्दर महान् के रणकुशल और निरंतर विजय अर्जित करने वाले सैनिक आतंकित हो उठे थे, उसे चन्द्रगुप्त ने पराजित कर दिया। अतः इसे उसकी महान् सामरिक उपलब्धि कहा जा सकता है।

सिंहासनारोहण—मगध में शक्तिशाली नंद वंश का अंत कर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को 321 ई० पू० में पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया, अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से इस कथन की पुष्टि होती है। चन्द्रगुप्त द्वारा नंद वंश का अंतकर अपने वंश की नींव डालने की घटना को इतिहासकारों ने उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सफलता बताया है।

सिल्यूकस का आक्रमण—सिकन्दर महान के आकस्मिक निधन के पश्चात् साम्राज्य पर अधिकार करने के उद्देश्य से उसके सेनापतियों में संघर्ष छिड़ गया। उसके सेनापति सिल्यूकस ने पश्चिमी एशिया में अपनी शक्ति प्रतिष्ठित कर ली। पश्चिमी एशिया में निरंतर अपनी शक्ति का विस्तार करने के उपरांत सिल्यूकस ने सिकन्दर द्वारा विजित भारतीय प्रदेशों को पुर्नविजित करने की योजना बनाई। किन्तु उस समय तक भारत के राजनीतिक आकाश में एक तेजस्वी नक्षत्र उदय हो चुका था जिसने अपने तेज से अन्य सभी नक्षत्रों को मलीन कर दिया। यह मौर्य वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य था। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"इसका पता संभवतः सिल्यूकस को न था। वहां अब एक ऐसे नृपति का शासन था जिसकी मेधा ने शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण किया था और जो ग्रीकों की युद्धशैली से भी अनभिज्ञ न था।"

305 ई० पू० में भारतीय प्रदेशों को विजित करने की लालसा से सिल्यूकस ने भारत पर आक्रमण कर दिया। किन्तु सिंधु नदी के तट पर वह भारत के प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा पराजित हुआ। विवश होकर सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ संधि करनी पड़ी। इस संधि के अनुसार सिल्यूकस ने हेरात, कंदहार, काबुल की घाटी और बिलोचिस्तान के चार प्रांत चन्द्रगुप्त को भेंट किये। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस को 500 हाथी भेंट स्वरूप प्रदान किये। प्लूटार्क का कथन है कि चन्द्रगुप्त ने 500 हाथी सिल्यूकस को भेंट किये और छः लाख की सेना को लेकर संपूर्ण भारत को अपने अधीन कर लिया। सिल्यूकस ने मेगस्थनीज नामक अपना राजदूत मौर्य दरबार में रखा। उसने यूनानियों की जानकारी के लिए 'इंडिका' नामक पुस्तक की रचना की। कहा जाता है कि सिल्यूकस ने अपनी सुन्दर कन्या ऐन्थना का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया। किन्तु कुछ विद्वान् इस विवाह सम्बन्ध पर संदेह व्यक्त करते हैं।

अन्य विजयें—उत्तरी भारत को अधिकृत करने के उपरांत चन्द्रगुप्त ने दक्षिणी भारत को विजित करने की योजना बनाई। उसने सौराष्ट्र, मालवा और मैसूर को विजित कर लिया था। जैन साहित्य से विदित होता है कि उसने दक्षिणापथ के ऊपर भी विजय प्राप्त की।

साम्राज्य-विस्तार—ऐतिहासिक प्रमाणों से चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की सीमाओं पर स्पष्ट और विस्तृत प्रकाश नहीं पड़ता है। जस्टिन और प्लुटार्क के विवरण से ज्ञात होता है कि वह सम्पूर्ण भारत का स्वामी था। यद्यपि उनके कथन संदेहास्पद हैं, तथापि इतना निश्चित है कि वह एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था। अशोक के अभिलेखों में दक्षिण में कर्नाटक तक मौर्य-साम्राज्य के विस्तार का उल्लेख मिलता है। रुद्रदामन प्रथम के जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने उस प्रदेश पर शासन हेतु पुष्यगुप्त नामक एक व्यक्ति को सूबेदार नियुक्त किया था। विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त का साम्राज्य पश्चिम में हेरात, कंदहार और काबुल से लेकर पूर्व में कामरूप तक तथा उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में कर्नाटक तक विस्तृत था। वह भारत का प्रथम शासक था जिसने इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना की।

राज्य-त्याग—लगभग 297 ई० पू० में अपने पुत्र बिन्दुसार को साम्राज्य की बागडोर सौंपकर चन्द्रगुप्त ने राजगद्दी का परित्याग कर दिया। जैन अनुश्रुतियों से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। उसने जैन आचार्य भद्रबाहु के संपर्क में आकर राजगद्दी का परित्याग कर दिया और संन्यास ग्रहण कर लिया था। वह भद्रबाहु के साथ मैसूर चला गया और वहाँ श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर जैन विधान के अनुरूप अनशन करके उसने शरीरांत किया।

शासन-प्रबन्ध—मौर्य शासन प्रबन्ध पर विस्तृत विवरण आगे प्रस्तुत किया जायेगा। चन्द्रगुप्त की उपलब्धियों के संदर्भ में यहाँ उसके शासन-प्रबन्ध पर संक्षिप्त प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

चन्द्रगुप्त मौर्य दुर्धर्ष योद्धा के अतिरिक्त कुशल शासन-संचालक भी था। उसका शासन-प्रबंध सुसंगठित और सुव्यवस्थित था। शासन की सुविधा के लिए वह केंद्रीय, प्रांतीय, नगर तथा ग्राम इकाइयों में विभक्त था। राजा शासन का सर्वोच्च अधिकारी होता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के पास एक विशाल सेना थी। उसकी सेना पदाति, घुड़सवार, हाथी और रथ चार श्रेणियों में विभक्त थी, जिसका संपूर्ण प्रबन्ध पांच-पांच सदस्यों की छः समितियां करती थीं।

राजा राज्य का प्रधान था। युद्ध, न्याय और कानून आदि में उसका निर्णय अंतिम तथा अनिवार्य माना जाता था। राज्य-संचालन में राजा की सहायता के लिए मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था थी। चन्द्रगुप्त मौर्य का जीवन बड़ी शान-शौकत और तड़क-भड़क का था। वह सुन्दर राजप्रासाद में निवास करता था तथा चमकीले कढ़े वस्त्र पहनता था।

शासन की सुविधा के लिए संपूर्ण साम्राज्य अनेक प्रांतों में विभक्त था। समीप के प्रांत राजा के शासन के अधीन थे और दूरस्थ प्रांत राजकुलीय 'कुमार' के अधीन होते थे।

प्रांत नगरों में विभक्त थे। मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र नगर की व्यवस्था का भार पाँच-पांच सदस्यों की छः समितियों के ऊपर था। संभवतः अन्य नगरों के

प्रशासन में भी यही व्यवस्था रही होगी। नगर का शासक 'नागरिक' अथवा 'नगराध्यक्ष' कहलाता था। 'स्थानिक' और 'गोप' नामक पदाधिकारी उसके अधीन होते थे। 'स्थानिक' नगर के चतुर्थांश और 'गोप' एक कुल के ऊपर शासन करता था।

'ग्राम' शासन की सबसे छोटी इकाई थी। ग्राम का प्रबन्ध गांव के वृद्धजनों की सहायता से 'ग्रामिक' करता था। पांच अथवा दस गांवों का अधिकारी 'गोप' कहलाता था।

चन्द्रगुप्त के शासनकाल में दंड विधान कठोर था जिसका उल्लेख चाणक्य और मेगस्थनीज दोनों ने किया है। साधारणतया अर्थदंड का विधान था तथा गंभीर अपराधों के लिए अंगभंग या मृत्युदंड भी दिया जाता था। आय का प्रमुख साधन भूमिकर था। उपज का छठा भाग भूमिकर के रूप में लिया जाता था।

कला—चन्द्रगुप्त के काल में कला के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा पाटलिपुत्र में निर्मित राजप्रासाद का विशद वर्णन किया है। विद्वानों ने उसकी काष्ठकला की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। मेगस्थनीज के अनुसार यह प्रासाद पार्क के मध्य स्थित था। उसमें सुनहले खम्भे थे जिन पर चांदी की सुन्दर बेलें थीं। चन्द्रगुप्त के काल में काष्ठ पर अंकित चित्रकला भी उत्कृष्ट कोटि की थी।

चन्द्रगुप्त मौर्य का चरित्र और मूल्यांकन

चन्द्रगुप्त एक दुर्धर्ष योद्धा, महान् विशाल साम्राज्य-निर्माता, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, धार्मिक सहिष्णु, और न्यायप्रिय शासक था। उसने उत्तरी भारत के छोटे-छोटे राज्यों को विजित करके उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसने सामरिक अभियानों में निरंतर सफलता अर्जित कर एक विशाल और संगठित राज्य की नींव डाली। मुख्यतः उसके चरित्र में निम्नलिखित गुणों का समावेश मिलता है—

महान् योद्धा—चन्द्रगुप्त मौर्य वीर, साहसी और रणकुशल योद्धा था। सैन्य संगठन स्थापित करने की उसमें अद्भुत क्षमता थी। सीमित साधनों द्वारा उसने एक विशाल और शक्तिशाली सेना संगठित की। सिकन्दर के लौटने के उपरांत उसने पंजाब को विजित कर भारत में नियुक्त यूनानी क्षत्रपों को मार भगाया। तत्पश्चात् उसने नंद साम्राज्य के सीमान्त प्रदेशों को विजित किया। इसके बाद वह मगध-राज्य पर टूट पड़ा। उसने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का घेरा डाला। शक्तिशाली और विशाल नंद सेना को पराजित कर वह मगध पर अधिकार करने में सफल हो गया। 305 ई० पू० में उसने सिंधुनदी के तट पर सिकन्दर महान् के महत्त्वाकांक्षी सेनापति सिल्यूकस को पराजित कर दिया। जैन ग्रन्थों से विदित होता है कि उसने दक्षिणी भारत के ऊपर भी विजय प्राप्त की। वह महान् विजेता था। उसने भारत से विदेशी शक्तियों को उखाड़ फेंका और तत्कालीन अनेक स्वतन्त्र राज्यों को पराजित करके उन्हें अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया। चन्द्रगुप्त द्वारा प्राप्त निरंतर विजयें उसकी सामरिक प्रतिभा और महान् विजेता होने के प्रमाण हैं। डॉ० स्मिथ ने चन्द्रगुप्त की सामरिक प्रतिभा पर प्रकाश डालते हुए उसकी गणना महात्तम और सफलतम शासकों में की है। उन्होंने लिखा

है, "अठारह वर्ष तक लम्बा समय लगाकर उसने मकदूनिया के सिपाहियों को भारत की सीमाओं से खदेड़ दिया। विशेषकर पंजाब और सिंधु की भूमि से उन्हें बाहर मार भगाया। सिल्यूकस की शक्ति को उसने क्षीण कर दिया और स्वयं उत्तरी भारत का सार्वभौम सम्राट बन बैठा। हरियाणा प्रदेश के बहुत बड़े भाग पर भी उसका अधिकार था। ये सभी विशेषताएं उसे इतिहास में महात्तम और सफलतम शासकों के मध्य स्थान प्रदान करती है।"

महान् साम्राज्य निर्माता—मौर्य वंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का था। उसने निरंतर विजयें प्राप्त कर विशाल साम्राज्य की स्थापना की। जस्टिन और प्लूटार्क ने उसे संपूर्ण भारत का स्वामी कहा है। विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त का साम्राज्य पश्चिम में हेरात, कंदहार और काबुल से लेकर पूर्व में कामरूप तक तथा उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में कर्नाटक तक विस्तृत था। वह भारत का प्रथम शासक था जिसने इतने बड़े भू-भाग पर अधिकार स्थापित किया। यह उसकी महत्ता का परिचायक है कि बिना राजपुत्र हुए उसने चाणक्य की मदद और अपने बाहुबल से मगध पर अधिकार कर लिया और तदुपरांत एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली, जो ईरान की सीमा को छूता था।

सफल राजनीतिज्ञ—चन्द्रगुप्त मौर्य एक सफल राजनीतिज्ञ था। राजनीतिक कुशलता का परिचय देते हुए उसने यूनानियों के विरुद्ध असंतुष्ट भारतीयों का नेतृत्व किया। वह नंदवंश का अंत कर मगध की राजगद्दी पर बैठा। नंदवंश का अंत, पर्वतक और मलयकेतु का वध, सिल्यूकस के साथ मैत्री संधि आदि घटनाएं उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता और कूटनीतिक सफलताओं की परिचायक थीं।

कुशल प्रशासक—कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज की 'इण्डिका' में उल्लिखित राजा की दिनचर्या से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य परिश्रमी शासक था। वह एक कुशल प्रशासक था। उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर उसे सुसंगठित शासन प्रणाली प्रदान की। शासन की सुविधा के लिए उसने संपूर्ण शासन तंत्र को केन्द्रीय, प्रान्तीय, नगर और ग्राम प्रशासन की इकाइयों में विभक्त किया। उसने ऐसी शासन प्रणाली को जन्म दिया जो बाद के भारतीय राजाओं के लिए आदर्श और अनुकरणीय बन गई थी।

महान् सम्राट—चन्द्रगुप्त मौर्य एक महान सम्राट था। उसने संपूर्ण उत्तरी भारत को एक सूत्र में पिरोया। वह सदैव प्रजाहित चिन्तन में व्यस्त रहता था। उसके समय में प्रजा सुखी और समृद्ध थी। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने उसके काल की दशा और प्रशासन का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक न होकर प्रजावत्सल सम्राट था। अपराधों पर रोक लगाने के निमित्त उसने दण्ड विधान में कठोरता की नीति अपनाई।

न्यायप्रियता और धार्मिक सहिष्णुता—न्यायप्रियता और धार्मिक सहिष्णुता की भावनाएं चन्द्रगुप्त मौर्य में कूट-कूट कर भरी थीं। सम्राट न्याय-विभाग का

प्रधान होता था। राज्य में न्यायालयों के निर्णय को रद्द कर सकता था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि विवादों को हल करने के लिए राजा दिनभर न्यायालय में उपस्थित रहता था। दण्ड-विधान की कठोरता के कारण चोरी की घटनाएं बहुत कम होती थीं।

वह धार्मिक सहिष्णु सम्राट था। उसने ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, आजीवक आदि सभी सम्प्रदायों के प्रति समानता का व्यवहार किया।

मूल्यांकन—चन्द्रगुप्त मौर्य की गणना भारत के महत्तम सम्राटों में की जाती है। बाल्यकाल में उसे अनेक विपदाओं का सामना करना पड़ा था। युवावस्था में वह नंदशासक धननंद के षड्यन्त्र और सिकन्दर की क्रोधाग्नि से बाल-बाल बच निकला। किन्तु उसने धैर्य और साहस नहीं खोया। सिकन्दर के वापस लौटते ही उसने कूटनीति के पण्डित चाणक्य के सहयोग से पहले पंजाब और फिर मगध पर अधिकार कर लिया। नंदवंश का अंत कर उसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अधिकृत कर लिया। दक्षिणी भारत के कुछ प्रदेशों को भी उसने विजित किया। वह प्रथम और अन्तिम भारतीय सम्राट था जिसने भारत के बाहर के प्रदेशों (अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान) पर शासन किया। उसने यूनानियों को भारत से निष्कासित किया तथा 305 ई० पू० में सिल्यूकस को पराजित करके उसकी भारत विजय की आकांक्षा पर तुषारपात कर दिया। वह केवल एक विजेता ही नहीं वरन् जनकल्याण-कारी सम्राट् भी था। उसने सुसंगठित, सुव्यवस्थित, अनुकरणीय और आदर्श शासन प्रणाली को जन्म दिया। उसका राज्य आंतरिक शान्ति और समृद्धि से युक्त तथा बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित था। अपने व्यक्तिगत शौर्य, जनहितकारी कार्यों और आदर्श शासन प्रणाली के लिए वह भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी का कथन है—"चन्द्रगुप्त मौर्य की गणना भारत के महान शासकों में की जाती है। उसकी महत्ता की सूचक अनेक उपाधियां हैं और उसकी महत्ता कई बातों में अद्वितीय भी है।" डॉ० स्मिथ का मत है—"चन्द्रगुप्त मौर्य प्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति था जिसे वास्तव में भारत का सम्राट कहा जा सकता है।"

चन्द्रगुप्त मौर्य साम्राज्यवादी नीति का पोषक था। उसने मध्य एशिया तक अपने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। विशाल-साम्राज्य-निर्माता के रूप में चन्द्रगुप्त की प्रशंसा करते हुए डॉ० स्मिथ ने लिखा है—"दो हजार वर्ष से भी अधिक हुए भारत के प्रथम सम्राट् (चन्द्रगुप्त मौर्य) ने इस प्रकार उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त किया जिसके लिए उसके अंग्रेज अधिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते रहे और जसे मुगल साम्राटों ने भी कभी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किया।" डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी का मत है—"वह प्रथम भारतीय राजा था जिसने बृहत्तर भारत पर अपना शासन स्थापित किया, जिसका विस्तार ब्रिटिश भारत से भी बड़ा था। बृहत्तर भारत की सीमाएं आधुनिक भारत की सीमाओं से बहुत आगे तक ईरान की सीमाओं से मिली हुई थीं। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त भारत का प्रथम शासक था जिसने अपनी विजयों द्वारा सिंधु घाटी तथा पांच नदियों के देश को गंगा और यमुना की

पूर्वी घाटियों के साथ मिलाकर एक ऐसें साम्राज्य की स्थापना की, जो एरिया (हेरात) से पाटलिपुत्र तक फैला हुआ था। वही पहला भारतीय राजा था जिसने उत्तरी भारत को राजनीतिक रूप से एकबद्ध करने के बाद विंध्याचल की सीमा से आगे अपने राज्य का विस्तार किया और इस प्रकार वह उत्तर तथा दक्षिण को एक ही सार्वभौम शासक की छत्रछाया में ले आया।" चन्द्रगुप्त मौर्य ने 24 वर्ष के शासन में अनेक सफलताएं अर्जित कीं। वह एक महान शासक, राष्ट्रनिर्माता, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ और दुर्धर्ष योद्धा के रूप में सदैव चिरस्मरणीय रहेगा।

चाणक्य

अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य के वंश और प्रारंभिक जीवन के सम्बन्ध में विस्तृत ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। वह तक्षशिला के समीप का निवासी था। वह विष्णुगुप्त और कौटिल्य के नाम से भी इतिहास में प्रसिद्ध है। चाणक्य ब्राह्मण वर्ण का था। वह वर्णाश्रम धर्म पर आधारित सामाजिक पद्धति का प्रबल समर्थक था। देश को यूनानी आक्रमणों की विभीषिका से बचाने तथा मगध को शूद्रवंशी नंदराजाओं के अधिकार से मुक्त कराने के उद्देश्य से चाणक्य ने राजनीति में प्रवेश किया। चाणक्य कृत 'अर्थशास्त्र' महत्वपूर्ण राजनीतिक ग्रंथ है। अर्थशास्त्र से मौर्यकालीन स्थिति तथा प्रशासन पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। अर्थशास्त्र में कहा गया है—"अर्थशास्त्र का संकलन एक ऐसे व्यक्ति ने किया है जिसने मातृभूमि को उसकी संस्कृति तथा उसके ज्ञान और सैन्य शक्ति का नंदवंश के राजाओं के चंगुल से बलपूर्वक एवं शीघ्र मुक्त कराया।"

कहा जाता है कि राजकीलम् खेल में बालक चन्द्रगुप्त की असाधारण प्रतिभा से प्रभावित होकर उसके पालक पिता (शिकारी) को 1,000 काषापण देकर चाणक्य ने उसे खरीद लिया। तत्पश्चात् उसने प्रसिद्ध शिक्षण-केन्द्र तक्षशिला में चन्द्रगुप्त मौर्य को विभिन्न विद्याओं का आठ वर्षों तक अध्ययन करवाया। चाणक्य की मगध-सम्राट् नंद से शत्रुता थी। वह वर्णाश्रम धर्म के प्रतिकूल इस वंश के राज्य को समाप्त करना चाहता था। चाणक्य और मगध-सम्राट् धननंद के मध्य वैमनस्य के सम्बन्ध में कहा जाता है कि चाणक्य धननंद के राज्य की दानशाला नामक संस्था का अध्यक्ष था। धननंद को चाणक्य की कुरूपता और उसका धृष्ट स्वभाव अच्छा नहीं लगा। उसने चाणक्य को पदच्युत कर दिया। इस अपमान से क्रुद्ध होकर चाणक्य ने राजा और उसके वंश को निर्मूल कर देने की धमकी दी, और स्वयं नग्न आजीवक के वेष में भाग निकला। मुद्राराक्षस में यह उल्लेख मिलता है कि धननंद ने चाणक्य को पदच्युत कर उसे अपमानित किया। इस अपमान का बदला लेने के लिए चाणक्य ने नंदवंश का अंत करने की सौगन्ध ली। यह भी कहा जाता है कि चाणक्य जब नंद दरबार में पहुँचा तो राजा धननंद को उसकी कुरूपता पर हँसी आ गई। इसे अपना अपमान समझकर चाणक्य ने नंदवंश को उन्मूलित करने की शपथ ली।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य ने मिल कर नंदवंश का अंत कर दिया। अर्थशास्त्र में चाणक्य की बुद्धिमत्ता से नंदवंश के अंत का संकेत मिलता है। मत्स्य-पुराण से विदित होता है कि कौटिल्य को नंदों के उन्मूलन में बारह वर्ष लगे। मगध पर से नंदवंश का अंत कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने राज्य की बागडोर संभाली और चाणक्य ने उसके मन्त्री के रूप में कार्यभार ग्रहण किया। चाणक्य कूटनीति का पण्डित था। उसके ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में आदर्श शासनप्रणाली का उल्लेख मिलता है। चाणक्य ने अपने ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में जनकल्याण पर आधारित जिस शासन व्यवस्था का उल्लेख किया है उससे उसके हृदय में व्याप्त जन सेवा की भावना पर प्रकाश पड़ता हैं। वह समाज सेवी राजनीतिज्ञ था।

मेगस्थनीज का भारत वर्णन

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी तथा सेनापति सिल्यूकस ने 305 ई० पू० में भारत पर आक्रमण कर दिया। किन्तु वह सिंधु नदी के तट पर भारत के प्रतापी सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा पराजित हुआ। अंत में दोनों के मध्य संधि सम्पन्न हो गई। इस संधि के परिणामस्वरूप सिल्यूकस ने मेगस्थनीज नामक राजदूत मौर्य दरबार में रखा। उसने भारतीय जन-जीवन, धर्म आदि के सम्बन्ध में जो कुछ देखा और सुना उसे यूनानियों के भारत विषयक ज्ञान के लिए लिपिबद्ध कर दिया। उसकी महत्त्वपूर्ण कृति 'इण्डिका' अब मूल रूप में प्राप्त तो नहीं है, किन्तु परवर्ती यूनानी लेखकों—स्ट्राबो, प्लिनी, एरियन आदि ने अपने ग्रन्थों में 'इण्डिका' से लम्बे-लम्बे उद्धरण उद्धृत किये हैं, जिनसे भारत विषयक ज्ञान की जानकारी उपलब्ध हो जाती है। मेगस्थनीज की 'इण्डिका' से भारत के विषय में जो प्रकाश पड़ता है, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

भौगोलिक स्थिति—मेगस्थनीज ने भारत की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि भारतवर्ष का आकार चतुर्भुज के समान है। उसके उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण व पूर्व में समुद्र और पश्चिम में सिंधु, गंगा, सोन, गोमती आदि नदियां हैं। उसने दक्षिणी भारत की नदियों का उल्लेख नहीं किया है। संभवतः दक्षिणी भारत के ज्ञान से वह अनभिज्ञ था। उसने अफगानिस्तान की जो उस समय चन्द्रगुप्त शासनान्तर्गत था, नदियों का वर्णन किया है। गंगा का उसने सर्वाधिक बड़ी नदी के रूप में वर्णन किया है। उसने लिखा है कि गंगा की कम से कम चौड़ाई एक सौ स्टेडिया है और उसके सबसे चौड़े घाट का अनुमान लगाना कठिन है। उसने लिखा है—"भारत में अनेक बड़े-बड़े पर्वत हैं, जिन पर हर प्रकार के फलों के असंख्य वृक्ष हैं। यहां अनेक अति विस्तृत उपजाऊ मैदान हैं, जिनमें अनेक नदियां बहती हैं, भूमि के अधिकांश भाग की सिंचाई होती है और उस पर वर्ष में दो फसलें उगती हैं।" उसका कथन है—"भारतवासी स्वच्छ वायु में श्वास लेते हैं और श्रेष्ठ जल पीते हैं।" भारतवर्ष की जलवायु के विषय में मेगस्थनीज ने लिखा है कि ग्रीष्म ऋतु में वहां अत्यधिक गर्मी पड़ती है। वर्षा ग्रीष्म तथा शीत दोनों ऋतुओं में होती है, परन्तु ग्रीष्म ऋतु में शीत ऋतु की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है।

राजनीतिक दशा--मेगस्थनीज ने तत्कालीन भारत की राजनीतिक स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। राजा चन्द्रगुप्त मौर्य, उसकी राज्य-सभा, राजप्रासाद और पाटलिपुत्र नगर का, जिनके सम्पर्क में वह स्वयं रहा, उसने विशद वर्णन प्रस्तुत किया है।

राजा—मेगस्थनीज ने लिखा है कि राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। उनके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य दिन भर राजकीय कार्यों में व्यस्त रहता था। जिस समय राजा का शरीर आबनूस के 'मुग्दरों' द्वारा दबाया जाता था, उस समय भी वह प्रजा के आवेदनों को सुनता रहता था। उसने लिखा है—"राजा दिन में नहीं सोता। केवल युद्ध के समय ही नहीं बल्कि विवादों का फैसला करने के लिए भी वह राजप्रासाद से निकलता है। ऐसे अवसरों पर वह दिन भर कोर्ट (सभा) में रहता है और इस कार्य में कोई विघ्न नहीं पड़ने देता, चाहे इस बीच में उसे अपनी वैयक्तिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने का ही समय क्यों न आ जाए।"

मेगस्थनीज का कथन है कि राजा के मन में सदैव प्राण भय की आशंका बनी रहती थी, इसलिए वह दो रात राजप्रासाद के एक कमरे में नहीं सोता था। आखेट के समय उसका मार्ग रस्सियों से घेर लिया जाता था। रस्सियों को लांघने के अपराध में मृत्यु दण्ड दिया जाता था। राजा की अंगरक्षक सेना में महिलाएं थीं, जो अस्त्र-शस्त्रों से सज्ज रहती थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य का जीवन शान-शौकत, तड़क-भड़क और वैभवपूर्ण था। वह मोतियों की मालाओं से अलंकृत स्वर्ण की पालकी और सुनहले फूलों से सुसज्जित हाथी पर सवार होकर राजप्रसाद से बाहर निकलता था। वह स्वर्ण तारों से कढ़े मल-मल के वस्त्र धारण करता था।

पाटलिपुत्र—मेगस्थनीज ने भारतवर्ष के नगरों के विषय में लिखा है—"भारत में नगरों की संख्या इतनी अधिक है कि वह ठीक-ठीक नहीं बताई जा सकती।" वह लिखता है कि वहाँ नदियों के किनारे या समुद्र-तट पर या विस्तृत खुले मैदान में या ऊंचे स्थानों पर नगर बने हुए है। मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा था। अतः उसने पाटलिपुत्र नगर का विस्तृत वर्णन किया है। पाटलिपुत्र को उसने पोलिब्रोथा कहा है जो उसका (पाटलिपुत्र) यूनानी रूपान्तरण है। वह लिखता है कि यह नगर गंगा और सोन नदी के संगम पर स्थित प्राच्य भारत का सबसे बड़ा नगर था। यह नगर 80 स्टेडिया ($9\frac{1}{2}$ मील) लंबा और 15 स्टेडिया ($1\frac{3}{4}$ मील) चौड़ा था। यह चारों ओर से 600 फीट चौड़ी, और 30 हाथ (44 फीट) गहरी खाई से रक्षित था। इसमें 570 बुर्जियां तथा 64 दरवाजे थे। मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र नगर का प्रबंध छह समितियों पर था, जिनमें प्रत्येक की सदस्य संख्या पांच थी।

पहली समिति उद्योग-धन्धों की देखभाल करती थी। दूसरी समिति विदेशियों का प्रबन्ध करती थी। तीसरी समिति जन्म-मरण का हिसाब रखती थी। चौथी समिति व्यापार पर नियंत्रण रखती थी। पांचवीं समिति का कार्य वस्तुओं में मिलावट की जांच करना था। छठी समिति विक्रय की गई वस्तुओं पर कर वसूल करती थी।

राजप्रासाद—पाटलिपुत्र में काष्ठ-कला पर निर्मित चन्द्रगुप्त मौर्य का राजप्रासाद सुन्दरता की दृष्टि से ईरान और यूनान के राजप्रासादों से अधिक सुसज्जित था। मेगस्थनीज ने मौर्य राजप्रासाद की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यह राजप्रासाद सूसा और इकबटना से भी अधिक भव्य और सुन्दर था। राजप्रासाद के चतुर्दिक सुन्दर और मनमोहक उद्यान तथा सरोवर थे। उद्यान में तोतों और मयूरों का बाहुल्य था। सरोवरों में विभिन्न प्रकार की मछलियां थीं। जल-क्रीड़ा के लिए सरोवरों में नावें चलती थीं। राजप्रासाद के स्तम्भों पर स्वर्ण-लताएँ चढ़ाई गई थीं और उन पर चांदी के प्राणियों के चित्र लगाये गये थे। राजप्रासाद वैभव से परिपूर्ण था।

दण्ड विधान—मेगस्थनीज ने भारतीयों के चारित्रिक गुणों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उसका कथन है कि भारत में चोरी बहुत कम होती है। चन्द्रगुप्त मौर्य के शिविर में चार लाख लोग रहते थे, परन्तु वहाँ चोरी की घटनाएं नगण्य थीं। मेगस्थनीज ने लिखा है—"आज तक किसी भी भारतवासी को झूठ बोलने का दण्ड नहीं दिया गया है।" उसने यह भी लिखा है—"भारतवासी मुकदमेबाज नहीं होते हैं। किसी के पास कोई धरोहर रखते समय गवाहों की या उस चीज पर मुहर लगाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। वह दूसरे पर विश्वास करके ही उसके पास धरोहर रखता है, आमतौर पर उनके घरों की रखवाली करने के लिए कोई नहीं होता।" मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतवासी किसी के साथ कोई अन्याय करना या किसी अन्याय को सहन करना अपने आचार-व्यवहार के प्रतिष्ठित मापदण्डों के विरुद्ध मानते हैं, इसीलिए न तो वे कोई कानूनी लिखा-पढ़ी करते हैं और न उन्हें किसी की जमानत की आवश्यकता पड़ती है।

मौर्यकाल में दण्ड-विधान अत्यन्त कठोर था। मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है कि साधारण अपराध के लिए भी अंगभंग का दण्ड दिया जाता था। कारीगर के अंग भंग करने तथा सरकारी सम्पत्ति की चोरी के अपराध में मृत्यु दण्ड की व्यवस्था थी। झूठी गवाही देने वाले का अपराध सिद्ध हो जाने पर उसके हाथ-पांव काट लिए जाते थे।

सैन्य-व्यवस्था—मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना तथा उसके युद्ध कार्यालय का वर्णन भी किया है। मेगस्थनीज के अनुसार सेना पर युद्ध कार्यालय नियन्त्रण रखता था। युद्ध कार्यालय के सदस्यों की संख्या वह तीस बताता है। प्रत्येक पाँच सदस्यों का एक विभाग (मण्डल) होता था। ये छह मण्डल सेना के निम्नलिखित छः विभागों का कार्य सम्भालते थे—(1) पैदल सेना, (2) घुड़सवार सेना, (3) युद्ध-रथ, (4) युद्ध के हाथी, (5) परिवहन, रसद तथा सैनिक सेवा और (6) नौ-सेना। पैदल सैनिकों के पास धनुष बाण और तलवार तथा अश्वारोही सैनिक के पास दो बरछे व एक ढाल होती थी।

सामाजिक दशा—मेगस्थनीज के विवरण से तत्कालीन समाज पर भी प्रकाश पड़ता है। भारतवासियों का सामाजिक स्तर ऊँचा था। लोग सुखी और सम्पन्न

थे। उनका नैतिक स्तर उच्चकोटि का था। वे फिजूलखर्च नहीं थे। मेगस्थनीज ने भारतीयों के चरित्र को श्रेष्ठ और जीवन को सादा तथा बौद्धिकता से युक्त बताया है। लोग शान्तिप्रिय थे और न्यायालयों की बहुत कम शरण लेते थे। लोग परस्पर एक-दूसरे पर विश्वास करते थे और चोरियाँ कम होती थीं।

भारतीयों का जीवन सरल और सात्विक था। लोग संयमी थे। सुरापान केवल यज्ञों के अवसर पर किया जाता था। लोग बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण धारण करते थे। वेशभूषा महीन मलमल की बनाई जाती थी। धन-सम्पन्न लोगों के पीछे सेवक एक छत्र लेकर चलता था। विवाह का उद्देश्य भोग-विलास, सहकारिता प्राप्ति और पुत्र प्राप्ति होता था। समाज में बहु विवाह की प्रथा प्रचलित थी। वह एक जोड़ा बैल के बदले में पिता द्वारा अपनी पुत्री का दान का उल्लेख करता है। मेगस्थनीज लिखता है कि अपने आचरण में सरल और मितव्ययी होने के कारण भारतीय सुखी हैं। वे घरों में ताले नहीं लगाते, मेगस्थनीज के अनुसार भारतवर्ष में दास प्रथा नहीं थी और वे लेखन कला के ज्ञान से भी अनभिज्ञ थे।

सामाजिक विभाजन—मेगस्थनीज ने लिखा है कि मौर्य काल में जाति-प्रथा समाज का मूलाधार थी। जातियों के बन्धन और नियन्त्रण अपरिवर्तनशील थे। व्यवसाय परिवर्तन की छूट भी नहीं थी। अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध थे। मेगस्थनीज ने तत्कालीन समाज को सात वर्गों में विभक्त किया है।

पहला वर्ग दार्शनिकों का था। यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम थी, तथापि समाज में उन्हें सम्मान प्राप्त था। दार्शनिक दो प्रकार के होते थे—(1) ब्रैखमेन और (2) सरमेन। ब्रैखमेन सबसे अधिक सम्मान के पात्र थे। ब्राह्मण तथा साधु-संन्यासी इसी वर्ग में आते थे। दूसरा वर्ग कृषकों का था जिनकी संख्या सर्वाधिक थी। तीसरे वर्ग में शिकारी और पशुपालक आते थे। चौथे वर्ग में व्यापारी, शिल्पी और मांझी थे। पांचवाँ वर्ग क्षत्रिय योद्धाओं का था। छठे वर्ग में चर तथा सातवें वर्ग में मन्त्रिगण आते थे।

मेगस्थनीज द्वारा भारतीय समाज को सात वर्गों में विभाजित किया जाना दोषपूर्ण है। इस सन्दर्भ में डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी का कथन है—"मेगस्थनीज और उसके बाद के लेखकों ने वर्णों तथा उनसे सम्बन्धित व्यवसायों के अन्तर को ठीक से न समझ सकने के कारण सात भारतीय वर्णों का वर्णन किया है।" डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"ग्रीक राजदूत का यह वर्णन प्रमाणतः अशुद्ध और दोषपूर्ण है। पिछले दो वर्ग कहीं भी सामाजिक स्तर निर्मित नहीं कर सकते। मेगस्थनीज स्पष्टतः भारतीय सामाजिक व्यवस्था को न समझ सकने के कारण यहाँ भूल कर बैठा।"

ब्राह्मणों का समाज में विशेष सम्मान था। वे अध्यापन का कार्य करते थे। बालक के गर्भकाल से ही उसे शिक्षा दी जाती थी। ब्राह्मण गर्भवती स्त्री को उपदेश देते थे और मन्त्रोच्चारण करते थे। विविध प्रकार की शिक्षा हेतु विद्यार्थी को गुरु के पास रहना पड़ता था।

स्त्रियों की दशा—मेगस्थनीज ने लिखा है कि ब्राह्मण दार्शनिक ज्ञान को स्त्रियों को नहीं बताते थे। पुरुषों में बहु विवाह की प्रथा प्रचलित थी। उस समय राजकीय सेवा में स्त्रियाँ नियुक्त की जाती थीं। विशेषकर राजा की अंगरक्षक सेना में उस समय थीं, जिनमें अधिकांश यूनानी थीं। मेगस्थनीज ने लिखा है—"कुछ स्त्रियाँ रथों पर, कुछ अश्वों पर और कुछ हाथियों पर आरूढ़ होती हैं और वे प्रत्येक प्रकार के शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रहती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे वे किसी आक्रमण के लिए जा रही हों।"

धार्मिक दशा—मेगस्थनीज ने भारत के संन्यासियों और परिव्राजकों का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि भारतीय पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं और देवताओं की पूजा करते हैं। मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय डिआनीसिअस और हेरक्लीज देवताओं की पूजा करते थे जो क्रमशः शिव और कृष्ण की पूजा है। यज्ञ और बलि की प्रथा प्रचलित थी। सिन्धु और गंगा को पवित्र नदियाँ माना जाता था। शवों के ऊपर छोटी-छोटी समाधियाँ बनाई जाती थीं।

आर्थिक दशा—मेगस्थनीज तत्कालीन भारतीय समाज की सम्पन्नता का उल्लेख करता हैं। कृषक धनी थे और अकाल बहुत कम पड़ते थे। दुर्भिक्ष पड़ने पर अकाल पीड़ितों को राज्य की ओर से सहायता प्रदान की जाती थी। लोग विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में संलग्न रहते थे। मेगस्थनीज का कथन हैं कि भारत की भूमि उपजाऊ है। राज्य की ओर से सिंचाई की व्यवस्था थी। वर्ष भर में दो फसलें उगाई जाती थीं। मेगस्थनीज लिखता है—"एक ओर जहाँ भूमि के ऊपर वे सभी फल उगते हैं, जिनसे कृषक परिचित हैं, तो दूसरी ओर भूगर्भ में नाना प्रकार की धातुओं के भण्डार हैं। इनमें सोना, चाँदी और काफी बड़े परिमाण में ताँबा तथा लोहा निकलता है, जिनसे नाना प्रकार की उपयोगी वस्तुएं तथा आभूषण और युद्ध के लिए शस्त्रास्त्र तथा अन्य उपकरण बनाये जाते हैं।" मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत में बाजरा बहुत होता है तथा पौष्टिक खाद्य पदार्थों की कमी नहीं रहती। मेगस्थनीज ने गन्ने की फसल का उल्लेख किया है। युद्ध के समय फसलों को क्षति नहीं पहुँचाई जाती थी। नालियों और नहरों के निर्माण हेतु अलग से अधिकारी नियुक्त किये गये थे।

मूल्यांकन—मेगस्थनीज के भारत विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका भारत विषयक ज्ञान गहरा नहीं था। उसने कई ऐसे विवरण दिये हैं जो अन्य साधनों से परख करने पर अप्रामाणिक प्रतीत होते हैं। उसने वर्ण-व्यवस्था और राजकीय पदों को मिलाकर जिन सात वर्गों में भारतीय समाज का विभाजन बताया है, वह इस बात की ओर इंगित करता हैं कि मेगस्थनीज अच्छा परिवेक्षक नहीं था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीय लेखन कला से अनभिज्ञ हैं और वहाँ दास-प्रथा भी नहीं है। उसका यह कथन भी सत्य से दूर है। मौर्य सम्राट अशोक के सैकड़ों अभिलेख इस बात के सबल प्रमाण हैं कि समस्त भारतवर्ष में लेखनकला ज्ञात थी। यूनानी लेखक निआर्कस ने लिखा है कि भारतीय लेखन कला के ज्ञान से अवगत

थे और एक प्रकार के कपड़े के ऊपर लिखते थे। चाणक्य के अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों से मौर्य काल में दास-प्रथा का उल्लेख मिलता है। अशोक के अभिलेखों में दासों के साथ उचित व्यवहार करने को कहा गया है। यह सम्भव है कि भारतवर्ष में दासों के साथ अच्छा व्यवहार होने के कारण मेगस्थनीज दासों को अलग से समझ नहीं पाया होगा।

यद्यपि मेगस्थनीज द्वारा प्रस्तुत कई विवरण सत्य से दूर हैं, तथापि यह मानना पड़ेगा कि उसके कुछ विवरण ठोस ऐतिहासिक हैं। विशेषत: जिनके वह स्वयं सम्पर्क में आया। सम्राट, राजधानी, पाटलिपुत्र में विदेशियों की व्यवस्था करने वाली समिति प्रामाणिक माने जा सकते हैं।

अन्त में यही कहना उपयुक्त होगा कि मेगस्थनीज की 'इंडिका' चन्द्रगुप्त मौर्य के समय और शासन का आँखों देखा वर्णन है तथा भारतीय इतिहास जानने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

बिन्दुसार
(297 ई० पू०—272 ई० पू०)

297 ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा राज्य त्याग के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर आसीन हुआ। जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि बिन्दुसार के राज्य काल के प्रारम्भ में चाणक्य ने राजनीति के संचालन में उसे सहयोग दिया। तदुपरान्त उसने सुबन्धु, खल्लाटक और राधागुप्त नामक मन्त्रियों को नियुक्त किया। भारतीय साहित्य तथा विदेशी साहित्य में बिन्दुसार के अनेक नाम मिलते हैं। वायुपुराण में उसे भद्रसार, कुछ अन्य पुराणों में वारिसार, चीनी विश्वकोश में बिन्दुपाल तथा यूनानी-लेखकों की कृतियों में अमित्रोचेड्स, अमित्राचेटस एवं अमित्रोचेड्स कहा गया है। परिशिष्ट पर्वन् में उसे बिन्दुसार कहा गया है।

कतिपय इतिहासकारों का मत है कि बिन्दुसार ने दक्षिणापथ को विजित किया। तारानाथ का कथन है—"बिन्दुसार के बड़े अमात्यों में से चानक (चाणक्य) ने सोलह नगरों के राजाओं और सरदारों का विनाश किया तथा उसने (बिन्दुसार) अपने को पूर्वी समुद्र तथा पश्चिमी समुद्र तक के सारे प्रदेश का अधिपति बना लिया।" किन्तु प्रामाणिक ऐतिहासिक साधनों के अभाव में यह कहना कठिन है कि मौर्य-साम्राज्य में सम्मिलित दक्षिण के प्रदेशों को चन्द्रगुप्त मौर्य ने विजित किया अथवा बिन्दुसार ने।

बिन्दुसार के शासनकाल में घटित किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। उसके शासनकाल में तक्षशिला प्रान्त में हुए एक जन-विद्रोह का विवरण मिलता है। उसके पुत्र अशोक ने, जो उस समय उज्जैन का सूबेदार था, तक्षशिला के विद्रोह को दबा दिया। यह जन-विद्रोह राजा के विरुद्ध न होकर दुष्ट अमात्यों की अत्याचारी नीति के विरुद्ध हुआ था।

यद्यपि बिन्दुसार के राज्यकाल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि इतना निश्चित है कि उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त पैतृक-साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने में वह सफल सिद्ध हुआ। आर्य-मंजु-श्री-मूलकल्प में उसे साहसी, वीर, निपुण और मधुरभाषी सम्राट् कहा गया है। उसने यूनानी-राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे। यूनान के सम्राट् ने डाडमेकस नामक राजदूत बिन्दुसार के दरबार में भेजा। बिन्दुसार तथा सीरिया के शासक एण्टीओकस के मध्य परस्पर मधुर सम्बन्ध थे। 25 वर्ष तक शासन करने के उपरान्त 297 ई० पू० में उसका देहावसान हो गया। पुराणों से विदित होता है कि बिन्दुसार ने 25 वर्ष तक शासन किया। बिन्दुसार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए भगवती प्रसाद पांथरी ने लिखा है—"बिन्दुसार में चन्द्रगुप्त का शौर्य और उसकी कूटनीति विद्यमान थी। एक ओर जहाँ उसने चन्द्रगुप्त की दक्षिणी विजय को स्थायी किया वहीं दूसरी ओर उत्तर भारत में होने वाले विद्रोहों को भी दबाया। परन्तु इस राजनीतिक रुचि के साथ-साथ दर्शन के प्रति उसकी अगाध आस्था भी प्रकट होती है। तभी उसने एण्टीओकस से यूनानी दार्शनिक की माँग की थी। उसकी सांस्कृतिक रुचि का परिचय उसके और सीरिया के राजा के बीच हुए पत्र-व्यवहार से मिलता है। पश्चिम के राज्यों के साथ दौत्य-सम्बन्ध उसकी सुन्दर वैदेशिक नीति का प्रमाण है।"

अशोक महान् (272 ई० पू० – 232ई० पू०)

272 ई० पू० में बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् उसका सर्वाधिक योग्य पुत्र अशोक पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर आसीन हुआ। वह अपने मानव प्रेम तथा सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों के लिए जगप्रसिद्ध है। उसे विश्व के महान् सम्राटों में महत्तम कहा गया है। एच० जी० वैल्स के शब्दों में—"प्रत्येक युग और प्रत्येक राष्ट्र ऐसे राजा को जन्म नहीं दे सकता। अशोक की समता आज तक भी विश्व-इतिहास में किसी अन्य (सम्राट्) से नहीं की जा सकती।"[1]

इतिहास जानने के साधन—अशोक के इतिहास जानने के साधनों में बौद्ध धर्म ग्रन्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। दीपवंश और महावंश में उल्लिखित अनुश्रुतियों से अशोक विषयक जानकारी पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। चीनी यात्री फाह्यान और ह्वेन्सांग के यात्रा वृत्तान्त से भी अशोक से सम्बन्धित अनेक तथ्यों का ज्ञान होता है। अशोक के अभिलेख उसके इतिहास जानने के प्रामाणिक साधन हैं। उसके द्वारा स्तम्भों, शिलाओं, गुहागृहों आदि पर उत्कीर्ण कराये गये लेखों से उसकी कलिंग-विजय, हृदय-परिवर्तन, धर्म-प्रचार, शासन-प्रबन्ध, प्रशासकीय सुधारों, साम्राज्य-विस्तार आदि पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है।

---

1. "It is not every age, it is not every nation, that can produce a king like this type, Asoka still remains without a parallel in the history of the world." —*H. G. Wells*

प्रारम्भिक जीवन—अशोक के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक जानकारी का अभाव है। दिव्यावदान में उसकी माता का नाम जनपद कल्याणी बताया गया है। अशोकावदान में उसकी माता का नाम सुभद्रांगी उल्लिखित है जो अति सुन्दर और चम्पा के एक ब्राह्मण की पुत्री थी। एक अन्य ग्रन्थ में अशोक की माता का नाम 'धम्मा' मिलता है।

अशोक बिन्दुसार और सुभद्रांगी का पुत्र था। बौद्ध अनुश्रुतियों से विदित होता है कि उसका एक सहोदर भाई विगताशोक (तिष्य) तथा निन्यानवे सौतेले भाई थे। दीपवंश और महावंश में बिन्दुसार की सोलह रानियों तथा एक सौ एक पुत्रों का उल्लेख मिलता है। बिन्दुसार के सबसे बड़े पुत्र का नाम सुसीम (सुमन) था।

बिन्दुसार ने अपने राज्य-काल में अशोक को उज्जयनी का सूबेदार नियुक्त किया। अनुश्रुति है कि जब अशोक उज्जयनी में सूबेदार का कार्यभार सम्भालने जा रहा था तो मार्ग में विदिशा के एक व्यापारी की पुत्री 'देवी' पर वह आसक्त हो गया और उसने व्यापारी की पुत्री से विवाह कर लिया। बिन्दुसार के शासनकाल में तक्षशिला की प्रजा ने विद्रोह कर दिया। जब वहाँ का सूबेदार सुसीम (सुमन) जन-विद्रोह को शान्त करने में विफल हो गया तो बिन्दुसार ने अशोक को तक्षशिला भेजा। उसने जन-विद्रोह पर नियन्त्रण पाकर उसे शान्त कर दिया। इस प्रकार अशोक ने अपने पिता के राज्यकाल में ही पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव प्राप्त कर लिया था। 272 ई० पू० में बिन्दुसार की मृत्यु के समय अशोक उज्जयनी पहुँचा और उसने राजसत्ता पर अधिकार कर लिया।

राज्यारोहण— बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् वंशानुगत परम्परा के अनुरूप सुसीम (सुमन) मगध-साम्राज्य का अधिकारी था। किन्तु अशोक ने राजसत्ता पर पहले ही अधिकार कर लिया जिसका सुसीम आदि ने विरोध किया। फलतः गृहयुद्ध छिड़ गया। उत्तराधिकार के युद्ध में अशोक की विजय हुई। चीनी और सिंहली ग्रन्थों में इस युद्ध का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध अनुश्रुतियों से विदित होता है कि अशोक प्रारम्भ में अत्यधिक क्रूर था। उसे चण्डाशोक अथवा कालाशोक के नाम से अभिहित किया जाता था। उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए हुए गृहयुद्ध में उसने अपने सहोदर भाई तिष्य को छोड़कर निन्यानवे सौतेले भाइयों को मौत के घाट उतार दिया। यद्यपि यह घटना अतिरंजित प्रतीत होती है, तथापि यह तो निश्चित है कि अशोक को मगध राज्य का सिंहासन बिना गृहकलह अथवा संघर्ष के प्राप्त नहीं हुआ। बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र सुसीम था और भारतीय परम्परा के अनुसार पिता की मृत्यु के बाद वही साम्राज्य का अधिकारी था। बौद्ध साहित्य में अशोक के राज्यारोहण और राज्याभिषेक में प्रायः तीन-चार वर्षों का अन्तर दृष्टिगोचर होता है। अतः उसके राज्याभिषेक की तिथि २६९ ई० पू० अथवा २६८ ई० पू० निर्धारित की जा सकती

है। सिंहासन पर आसीन होने पर अशोक ने अपने पूर्वजों के अनुरूप 'देवानाम्प्रिय' तथा 'प्रियदर्शी' की उपाधियाँ धारण कीं। डॉ० मजूमदार का कथन है—"देवानाम्प्रिय एक उपाधि है जो कि उसके पूर्वजों, समकालीन राजाओं और उत्तराधिकारियों ने भी धारण की थी। दूसरी उपाधि प्रियदर्शन (प्रियदर्शी) उसके पितामह चन्द्रगुप्त ने भी धारण की थी।"

कलिंग-विजय—मगध के नन्दवंश के सम्राटों ने कलिंग को विजित किया था, किन्तु उनके दुर्बल पड़ते ही वह पुनः स्वतन्त्र हो गया। यूनानी लेखकों के विवरण से ज्ञात होता है कि मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में कलिंग एक शक्तिशाली और स्वतन्त्र राज्य था। कलिंग की जनता वीर, साहसी और स्वाधीनता प्रिय थी। अपने राज्य काल के प्रारम्भिक चरण में अशोक ने अपने पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य की भाँति साम्राज्य-विस्तार की नीति का परिचय दिया। सर्वप्रथम उसने गृह-कलह और आन्तरिक संघर्ष पर विजय प्राप्त की। तत्पश्चात् उसने स्वतन्त्र और शक्तिशाली राज्य कलिंग पर आक्रमण कर दिया। अशोक ने अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष कलिंग-राज्य पर आक्रमण किया। इस युद्ध में अशोक ने भीषण मारकाट और नरसंहार का परिचय दिया। लगभग एक लाख लोग मौत के घाट उतार दिये गये तथा डेढ़ लाख बन्दी बनाये गये। कलिंग-युद्ध में हुई भारी क्षति के सम्बन्ध में अशोक के तेरहवें शिलालेख में स्पष्ट प्रकाश पड़ता है—"अपने अभिषेक के आठ वर्ष बाद देवानाम्प्रिय राजा प्रियदर्शी ने कलिंग देश को विजित किया। वहाँ डेढ़ लाख व्यक्ति बन्दी बनाकर बाहर भेज दिये गये, एक लाख मारे गये और इससे कई गुणा नष्ट हो गये।"

कलिंग-युद्ध में हुए भीषण नरसंहार और रक्तपात से अशोक का हृदय द्रवित हो उठा। उसने प्रतिज्ञा की कि वह भविष्य में युद्ध नहीं करेगा। उसने 'भेरीघोष' के स्थान पर 'धम्मघोष' करने का निश्चय किया। इस प्रकार कलिंग युद्ध की घटनाओं ने विजेता अशोक का मर्म छू लिया। उसका हृदय परिवर्तन हुआ और उसने भविष्य में युद्ध न करने की प्रतिज्ञा लेकर बौद्ध धर्म में प्रवेश किया। अपने तेरहवें शिलालेख में उसने घोषणा की—"कलिंग की विजय के शीघ्र बाद देवानाम्-प्रिय धम्म के अनुसरण, धम्म के प्रेम और धम्म के उपदेश के प्रति उत्साहित हो उठा।" अपने तेरहवें शिलालेख में अशोक कहता है—"कलिंग-विजय के समय जितने मनुष्य मारे गये, मरे अथवा बन्दी बनाये गये, उसकी शतांश अथवा सहस्रांश की भी यदि आज हानि हो तो देवनाम्प्रिय को भारी दुःख होगा। यही नहीं, यदि देवनाम्प्रिय को कोई हानि भी पहुँचाये तो उसे यथासम्भव सहन कर लेना चाहिए।" स्पष्ट हो जाता है कि कलिंग-युद्ध के नरसंहार से अशोक का हृदय परिवर्तित हो गया। डा० रायचौधरी कलिंग-युद्ध को एक महत्त्वपूर्ण घटना मानते हैं। डा० मजूमदार ने इसे प्राचीन विश्व की एक महत्त्वपूर्ण घटना कहा है। कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक ने 'धम्मघोष' किया। उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति धर्मप्रचार और प्राणियों की सेवा में समर्पित कर दी।

अशोक की महत्ता के कारण

धार्मिक सहिष्णुता और सभी प्राणियों के प्रति कल्याण की भावना से प्रेरित अशोक न केवल भारतीय इतिहास, अपितु विश्व के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कलिंग युद्ध से पूर्व वह एक अद्वितीय युद्ध-विजेता था और कलिंग युद्ध के पश्चात् वह महान् धर्मविजेता बन गया। उसके महान् व्यक्तित्व में धार्मिक सहिष्णुता, महान् शासक, महान् राष्ट्र निर्माता, कला और साहित्य प्रेम, आदर्शवादिता, लोकहितकारी आदि गुणों का समावेश दृष्टिगोचर होता है।

1. **असाधारण व्यक्तित्व**—कलिंग युद्ध से पूर्व अशोक विलासी था। कलिंग-युद्ध की घटना से उसका हृदय परिवर्तित हुआ और उसने विलासमय जीवन का परित्याग कर अत्यन्त सरल और त्यागमय जीवन ग्रहण कर लिया। बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात् अशोक अहिंसा का पुजारी बन गया। उसने अपने साम्राज्य में प्राणियों के वध पर नियन्त्रण लगा दिया। वह विश्व का प्रथम शासक था जिसने यह आज्ञा प्रसारित की कि 'प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर चाहे वह भोजन कर रहा हो, अन्तःपुर में, एकान्त गृह में, गोचर भूमि में, घोड़े की पीठ पर, खेल या बगीचे में हो, सूचनावाहक उसे प्रजा की सूचना दे सकता है।' (छठा अभिलेख)

अशोक एक महान् सम्राट था। उसने राजाओं के दिग्विजय के आदर्श और साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा का परित्याग कर युद्ध की भर्त्सना की। प्रेम, अहिंसा और शान्ति के तत्त्वों को राजनीति में स्थान देकर उसने युद्धघोष के स्थान पर धम्मघोष किया तथा जन-कल्याण को राजा का प्रथम कर्त्तव्य बताया। वह सदैव प्रजा हित-चिंतन में डूबा रहता था। उसका प्रमुख उद्देश्य अपनी प्रजा की नैतिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा भौतिक उन्नति करना था। इस हेतु उसने अपने अनेक अभिलेखों में धर्मोपदेश अंकित करवाये।

2. **धार्मिक सहिष्णुता**—सभी धर्मानुयायियों के प्रति समानता का भाव रखना अशोक के महान् व्यक्तित्व की एक प्रमुख विशेषता थी। महावंश से विदित होता है कि प्रारम्भ में अशोक अपने पिता की भांति ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। किन्तु बाद में निग्रोध समनेर के सम्पर्क में आने से वह बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। यद्यपि अशोक के अभिलेखों से उसके धम्म के सिद्धान्तों पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है, तथापि उसके धर्म के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद दिखाई देते हैं। निस्सन्देह वह व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म का अनुयायी था। अपने धर्म की व्याख्या करते हुए वह कहता है—"धर्म करना अच्छा है। पर धर्म क्या है ? धर्म यही है कि पाप से दूर रहें, बहुत से कल्याणकारी या सत्कार्य करें, दया, दान, सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करें····जो इसके अनुसार कार्य करेगा वह पुण्य का काम करेगा।" वह कट्टरपंथी अथवा धर्मांध न होकर उदार तथा व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण का सम्राट् था। उसने सभी धर्मों के अनुयायियों को उदारतापूर्वक दान

दिया। उसके अभिलेखों में ब्राह्मणों और श्रमणों का उल्लेख एक साथ मिलता है। उसने निर्ग्रन्थों और आजीविकों के हितों पर ध्यान दिया तथा आजीविकों के निवास हेतु गुफाएं निर्मित करवायीं।

कलिंग युद्ध में हुए भीषण रक्तपात ने अशोक को बौद्ध धर्म की ओर अग्रसर किया। बौद्ध धर्म ग्रहण करने के उपरान्त उसने उसके प्रचार व प्रसार के लिए अनेक प्रयत्न किये। उसने बौद्ध धर्म को विश्व धर्म के रूप में परिवर्तित कर दिया। डा० भण्डारकर का मत है—"अशोक के आदर्श बड़े ऊँचे थे और अपनी बुद्धिमत्ता तथा कलन-शक्ति उसने बौद्ध धर्म को, जो एक संकीर्ण प्रान्तीय सम्प्रदाय था, विश्वव्यापी धर्म का स्वरूप प्रदान करने में लगा दी।"[1] अशोक के तेरहवें शिलालेख से विदित होता है कि उसका धर्म भारतवर्ष तक ही सीमित न था, बल्कि उसके स्वतन्त्र पड़ोसी तथा अन्य राज्यों में भी धर्म की आवाज गूँज रही थी।

बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए उसने अभिलेखों पर उपदेश उत्कीर्ण करवाये। धम्म महामात्रों की नियुक्ति की तथा राज्य के अधिकारियों को धम्म यात्रा के लिए प्रेरित किया। उसने स्वयं नेपाल की यात्रा कर धर्म प्रचार किया। अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु श्रीलंका भेजा। अशोक की धर्म प्रचार की नीति की प्रशंसा करते हुए सांडर्स महोदय ने लिखा है—"विश्व के इतिहास में सम्राट् अशोक के धर्म प्रचारकों द्वारा सभ्यता के प्रसार का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया, क्योंकि इन लोगों ने ऐसे देशों में प्रवेश किया जो अधिकांशत: बर्बर तथा अन्धविश्वासपूर्ण थे।"[2]

3. **सभी प्राणियों के प्रति दयाभाव**—अशोक सभी प्राणियों के प्रति दयाभाव रखता था। उसने अपने साम्राज्य, यहाँ तक कि शाही भोजनालय में पशुओं का वध बन्द करवा दिया था। प्रथम लघु शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने यज्ञों में पशु वध पर रोक लगा दी थी। उसने स्वयं भी मांस भक्षण बन्द कर दिया था। अपने प्रथम शिलालेख में वह कहता है कि "किसी प्राणी का वध न किया जाय, समाज में उत्सव न मनाये जायें, क्योंकि इनमें अनेक दोष हैं।" उसने मनुष्य तथा पशुओं के लिए अपने राज्य तथा पड़ोसी राज्यों में निःशुल्क चिकित्सालय खुलवाए

---

1. "Ashoka was possessed of lofty ideals and employed his shrewdness and calculating powers to raise Buddhism from a narrow provincial sect that it was to the position of a world-wide religion." —*Dr. Bhandarkar*

2. "The missions of king Ashoka are amongst the greatest civilising influences in the history of the world for they entered countries for the most part barbarous and full of superstitions." —*K. J. Saunders*

जहाँ से औषधि वितरित की जाती थी। मानव और पशुओं के उपयोगी मार्गों पर वृक्ष लगवाए और कुएं खुदवाए। इस प्रकार अशोक विशुद्ध मानवतावादी था तथा उसका हृदय पशुओं के रक्षार्थ भी द्रवित हो उठा। इस संदर्भ में डा० त्रिपाठी का यह कथन उल्लेखनीय है—"अशोक उदारता की मूर्ति था और मानवता का सबसे बड़ा पुजारी। उसकी सहानुभूति और स्नेह मानव जगत को लाँघकर प्राणिमात्र तक पहुँचते थे।"

4. **लोककल्याणकारी शासन**—यद्यपि अशोक ने अपने पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था के आधार पर शासन संचालित किया, तथापि शासन-व्यवस्था को और अधिक जन हितकारी बनाने के लिए उसने धर्म महामात्रों को नियुक्त किया तथा दण्ड विधान की कठोरता को कुछ कम किया। वह सदैव लोक कल्याण कार्यों में व्यस्त रहता था। वह प्रजा को अपनी सन्तान के समान समझता था। जैसा कि द्वितीय कलिंग-शिलालेख में वह कहता है—"सारे मनुष्य मेरी सन्तान हैं और जिस प्रकार मैं अपनी संतति को चाहता हूँ कि वह सब प्रकार की समृद्धि और सुख को इस लोक और परलोक में भोगे, ठीक उसी प्रकार अपनी प्रजा की समृद्धि की कामना करता हूँ।" डा० हेमचन्द्र रायचौधरी ने लिखा है—"अपने उत्साह में वह सुदृढ़ और अपने प्रयासों में अथक था। उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रजा की आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति में लगा दी जिसे वह अपनी सन्तान के समान समझता था।"[1] अशोक ने स्वयं विहार-यात्राओं के स्थान पर धर्म-यात्राएं प्रारम्भ कीं। उसने एक स्थिर, सुव्यवस्थित, सुसंगठित, शान्तिमय, लोककल्याणकारी और विशुद्ध मानव धर्म से युक्त शासन की नींव डाली।

5. **महान् राष्ट्र-निर्माता और विश्व बन्धुत्व की भावना**—अशोक महान् राष्ट्र-निर्माता था। उसने पाली भाषा को राष्ट्र भाषा घोषित कर उसके विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उसने ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया। भाषा और लिपि की एकता ने मौर्य-साम्राज्य को राजनीतिक सुदृढ़ता प्रदान की। उसने धर्म का प्रचार कर सांस्कृतिक एकता के महत्त्व को बल दिया। न्याय के क्षेत्र में उसने एक-रूपता स्थापित कर सभी के प्रति समानता का परिचय दिया।

अशोक विश्व का प्रथम सम्राट् था जिसने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को अपनाया। उसने सम्पूर्ण विश्व के मानव के प्रति भ्रातृत्व भावना का परिचय दिया। अपने छठे शिलालेख में वह कहता है—"सम्पूर्ण संसार की भलाई करने से बड़ा कोई कार्य नहीं है।" उसी अभिलेख में वह कहता है—सम्पूर्ण संसार की भलाई करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है। डॉ० भण्डारकर का मत है कि अशोक के धर्म प्रचार के कारण मानवता को विश्व बन्धुत्व का संदेश मिला।

---

1. "He was tireless in his exertion and unflagging in his zeal all directed to the promotion of the spiritual and material welfare of his people whom he looked upon as his children."

—*Dr. H.C. Ray Chaudhari*

6. **आदर्शवादी तथा कलाप्रेमी**—अशोक एक आदर्शवादी सम्राट था। उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदर्शों की स्थापना की।

अशोक कलाप्रेमी सम्राट के रूप में स्मरणीय है। अशोक से पूर्व मौर्य कला के नमूने काष्ठ पर निर्मित किये जाते थे। सर्वप्रथम अशोक ने विशाल प्रस्तर खण्डों को तराश कर उन पर अद्भुत कला के नमूने चित्रित करवाये। उसके काल की कला-कृतियाँ सजीव जान पड़ती हैं। उसके समय के स्तूप, स्तम्भ और गुफाएँ कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

साम्राज्य-विस्तार—अशोक को उत्तराधिकार के रूप में एक विस्तृत साम्राज्य प्राप्त हुआ था। देश के विभिन्न भागों में उसके अभिलेख मिलते हैं जो उसके साम्राज्य के अधीन क्षेत्र के द्योतक हैं। कश्मीर और नेपाल भी उसके साम्राज्य के अंग थे। उसके अभिलेखों से विदित होता है कि वह एक विस्तृत भू-भाग का स्वामी था। उसका साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में आधुनिक अफगानिस्तान की सीमा से लेकर दक्षिण-पूर्व में उड़ीसा तक और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में मैसूर तक विस्तृत था। डॉ० त्रिपाठी का कथन है—"प्राचीन भारत का कोई भी सम्राट् इतने सुविस्तृत भू-खण्ड का स्वामी न था।"

अशोक का इतिहास में स्थान

भारत तथा विश्व के अन्य देशों के इतिहासकारों ने अशोक को 'महान्' सम्राट् की उपाधि से विभूषित किया है। विश्व के इतिहास में अनेक ऐतिहासिक पुरुषों को 'महान्' की उपाधि प्रदान की गयी है जिनमें सिकन्दर, सीजर, चंगेज़खां और नेपोलियन के नाम उल्लेखनीय हैं। इन राजाओं ने अपने पराक्रम, साहस, शौर्य और वीरत्व का परिचय देते हुए रणक्षेत्र में अद्वितीय रणकौशल का परिचय दिया और 'महान्' की उपाधि प्राप्त की। किन्तु भारतीय इतिहास के महान् सम्राट् अशोक मौर्य ने युद्ध-विजय और रणकौशल से नहीं, अपितु धर्म-विजय तथा विशुद्ध मानव प्रेम के संदेश के प्रचार व प्रसार के कारण 'महान्' की उपाधि प्राप्त की।

डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने अशोक का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"अशोक महान् ऐतिहासिक विभूतियों में से एक है। वह ध्येयनिष्ठ और दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति था। वह प्रत्येक दृष्टिकोण से महान् था। वह एक ऐसा राजनीतिज्ञ था जिसने शक्तिशाली सेनाओं के साथ महान् सफलताओं को प्राप्त किया और उसके कुछ वर्ष पश्चात् गंगाघाटी के धर्म को विश्व धर्म का स्वरूप प्रदान कर डाला। मौर्य वंश के इस अद्वितीय सम्राट् का प्रभाव आने वाली सन्तानों पर भी पड़ा।" डा० रायचौधरी ने उसे (अशोक) को चन्द्रगुप्त के समान शक्तिशाली, समुद्रगुप्त के समान प्रतिभा सम्पन्न तथा अकबर के समान निष्पक्ष[1] कहा है। पाल मेसन

1. "He had the energy of Chandra Gupta and versatility of Samudra Gupta and the catholicity of Akbar."

—*Dr. H.C. Raychaudhari*

और्सेल ने अशोक के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"मौर्य वंश का तृतीय सम्राट् (अशोक) न केवल भारतीय राज्यों में ही उच्च है, बल्कि इतिहास के महान् दार्शनिकों में से भी एक है। उसमें मारकस आरीलियस की महत्ता और क्षमा भावना तो थी ही, किन्तु उसकी कमजोरी और दुर्भावना का उसमें अभाव था। चीनी क्यूनत्स्यू की-सी आत्मिक महत्ता तो थी, किन्तु उसकी तरह अकर्मण्यता की भावना न थी। अशोक शक्ति, उदारता, न्याय और दान का संगठित रूप था। यद्यपि वह अपने समय का सजीव चित्र था, तो भी वह हमें हर बात में नवीन दिखाई पड़ता है। अपने दीर्घ राज्य काल में उसने ऐसे कार्य कर दिखाये जो साधारणतः कल्पना की परिधि तक ही सीमित थे। महत्तम सांसारिक शक्ति रहते हुए भी उसने शान्ति का घोष किया, क्योंकि अपने साम्राज्य की सीमाओं के पास भी उसने उस उद्देश्य की पूर्ति की जो कुछ धर्मों का स्वप्न रहा है, अर्थात् उसने विश्वव्यापी व्यवस्था स्थापित की जो सम्पूर्ण मानवता के लिए शान्ति का सन्देश थी।" अशोक महान् के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—"सम्पूर्ण इतिहास में कोई भी ऐसा राजा नहीं है; जिसका जीवन मानव अशोक या राजा अशोक की तुलना में लाया जा सके। सम्राट् अशोक की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए उसकी तुलना इतिहास की अन्य विभूतियों से की गयी है। इस तुलना में अशोक के सम्मुख अनेक नवीन और प्राचीन, ईसाई और यवन, आस्तिक और नास्तिक आदि अनेक व्यक्तियों को खड़ा किया गया है। अपने सम्पूर्ण राज्य में बौद्ध धर्म को स्थापित करने की अभिलाषा उसे इजराईल के डेविड और सोलोमन के सम्मुख ला खड़ी करती है। अशोक ने स्थानीय धर्म को विश्व धर्म का रूप दे डाला था। धार्मिक दृष्टिकोण से कांस्टेन्टाइन और दार्शनिक तथा धर्म की दृष्टि से मारकर ऑरीलियस के साथ उसकी तुलना की गयी है। राज्य-विस्तार और राज्य प्रणाली को दृष्टि में रखकर उसे शार्लिमेन के समान स्थान प्राप्त है।" एच० जी० रालिसन का कथन है—"बहुधा अशोक की तुलना मार्क्स आरीलियस, सेंटपाल और कांस्टेन्टाइन से की जाती है। किन्तु किसी भी ईसाई सम्राट् ने ईसा मसीह द्वारा पहाड़ पर दिये गये उपदेश को एक बड़े साम्राज्य का आधार नहीं बनाया और न कभी किसी सम्राट् ने अपनी प्रजा के सम्मुख यह घोषणा की—'सम्राट को कोई मनुष्य हानि ही क्यों न पहुँचाये, किन्तु उसका यह मत है कि उसको जहाँ तक हो सके, धैर्य के साथ सहन कर लेना चाहिए।" स्मिथ महोदय ने अशोक को सर्वाधिक महान् सम्राट् बताया है। एच० जी० वेल्स ने अशोक की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा है—"अशोक का नाम बड़े-बड़े और विभिन्न उपाधियों वाले सहस्रों शासकों में, जिनका वर्णन इतिहास में आता है, सितारे की तरह चमकता रहेगा। वोलगा से जापान तक आज भी उसका नाम अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत अशोक के सिद्धान्तों को छोड़ चुके हैं, किन्तु उसके महत्त्व की परम्परा को सुरक्षित रखे हुए हैं।

कांस्टेन्टाइन और शार्लिमेन से भी कहीं बढ़कर इस समय लोग अशोक की स्मृति का मान करते हैं।"

रामप्रकाश ओझा ने लिखा है—"वह विश्व का अकेला सम्राट् था, जिसमें विश्व बन्धुत्व की भावना, असीम धर्मानुराग और जनहित की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। उसका धर्म राजनीति के घेरे से पृथक था। उसको धर्म के प्रति सच्चा अनुराग था। धर्माभिवृद्धि के लिए उसने जो कार्य किये हैं, वे कार्य विश्व के किसी भी सम्राट् ने नहीं किये हैं।"

यह विश्व इतिहास में अविस्मरणीय घटना है कि अशोक जैसा क्रूर और नरसंहारक व्यक्ति, जिसने अपने पिता के शासनकाल में तक्षशिला के जन-विद्रोह का दमन किया और उत्तराधिकार के युद्ध में अपने अनेक भाइयों को मौत के घाट उतार दिया, कलिंग युद्ध की विभीषिका से द्रवित हो उठा और उसकी वीर भुजाओं ने शस्त्र त्याग कर विशुद्ध मानव प्रेम तथा सत्य और अहिंसा के पवित्र सिद्धान्तों को ग्रहण कर लिया।

अशोक विश्व के महत्तम सम्राटों में से एक है। विश्व के महान् सम्राटों की रक्तपात की नीति और साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा का परित्याग कर उसने धर्म प्रचार के माध्यम से जन-हृदय में विशुद्ध मानव प्रेम की गंगा प्रवाहित की। क्रूर और धर्मांध इस्लाम शासकों ने जहाँ अपने धर्म के सिद्धान्तों को तलवार की नोक के बल पर दूसरे धर्म के अनुयायियों पर थोपा, वहाँ अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देते हुए सत्य, अहिंसा और शान्तिपूर्वक स्वधर्म का प्रचार किया। अपने असाधारण व्यक्तित्व के लिए वह विश्व के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

अशोक का धम्म

बिन्दुसार (297-272 ई० पू०) की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अशोक (272-232 ई० पू०) मौर्य राजवंश की गद्दी पर आसीन हुआ। प्रारम्भ में क्रूर होने के पश्चात् कलिंग युद्ध में हुए भीषण रक्तपात और नरसंहार ने अशोक के मर्म को स्पर्श किया। फलतः उसका हृदय परिवर्तन हुआ और वह मानव-समाज की सेवा के लिए उत्साहित एवं लालायित हो उठा। उसने निश्चय किया कि वह भविष्य में कभी युद्ध नहीं करेगा। अशोक ने घोषणा की कि वह 'भेरीघोष' के स्थान पर 'धम्म-घोष' करेगा। अपने तेरहवें शिलालेख में उसने घोषणा की—"कलिंग की विजय के शीघ्र बाद देवानांपिय धम्म के अनुसरण, धम्म के प्रेम और धम्म के उपदेश के प्रति उत्साहित हो उठा।" सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा की नीति और धार्मिक सहिष्णुता के साथ अनेक जन-कल्याणकारी कार्यों के लिए अशोक विश्व के इतिहास में अपना सानी नहीं रखता।

पाली भाषा में धर्म को 'धम्म' कहते हैं। अशोक अभिलेखों से उसके धम्म के सम्बन्ध में विस्तृत प्रकाश पड़ता है। फिर भी उसके धम्म के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ विद्वान् उसके 'धम्म' को 'राजधर्म' कुछ इतिहासकार 'सार्वभौम धर्म' मानते हैं तथा कुछ अन्य विद्वान अशोक के धम्म को 'उपासक बौद्धधर्म' की संज्ञा देते हैं। अतः इन तीनों मतों की संक्षिप्त विवेचना आवश्यक है।

राजधर्म—कुछ विद्वानों का मत है कि अशोक ने अभिलेखों में जिस धर्म का उल्लेख किया है, वह वस्तुतः राजधर्म था। इन विद्वानों में फ्लीट महोदय का नाम उल्लेखनीय है। अशोक के धर्म को राजधर्म बताते हुए उन्होंने लिखा है—"अशोक के शिलालेखों का उद्देश्य किसी धर्म-विशेष का प्रचार करना नहीं था, अपितु सदाचारी सम्राट् के कर्त्तव्य के अनुसार सभी धार्मिक संप्रदायों का ध्यान रखते हुए दया तथा न्याय के साथ शासन करना था।"

फ्लीट महोदय अशोक के धर्म को राजधर्म ही मानते हैं। उनका कथन है कि अभिलेखों में उल्लिखित धम्म को किसी भी भाँति बौद्धधर्म नहीं कहा जा सकता। अपने कथन की पुष्टि में वे कहते हैं कि अभिलेखों में कहीं भी बुद्ध का उल्लेख नहीं मिलता और संघ का केवल एक बार उल्लेख है तथा वह भी इस ढंग से प्रयुक्त है कि उसे अन्य मतों के बराबर स्थान दिया गया है। फ्लीट महोदय अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त 'धम्म' शब्द को 'राजाओं के साधारण धर्म' का सूचक मानते हैं, जो धर्मशास्त्र में राजधर्म सम्बन्धी प्रकरण में निहित है।

राजधर्म में राजा के कर्त्तव्यों और विधि-निषेधों का वर्णन मिलता है जिसके आधार पर राजा शासन का संचालन करता है। चूंकि अशोक के धम्म में ये सभी विशेषताएँ मिलती हैं, इसलिए वह प्राचीन राजधर्म था।

निस्संदेह अशोक के धम्म के कुछ सिद्धान्त पुरातन भारतीय राजधर्म से मिलते हैं, किन्तु फिर भी उसे राजधर्म नहीं कहा जा सकता है। राजधर्म राजा के लिए होता है, प्रजा के लिए नहीं। अशोक ने अपने धम्म के जिन सिद्धांतों को अभिलेखों पर उत्कीर्ण करवाया है, प्रजा से उनका पालन करने को कहा गया है। यदि अशोक का धम्म राजधर्म होता तो वह स्वयं उसका पालन करता और जनसाधारण से उसका अनुसरण करने को नहीं कहता। चूंकि राजा अपनी प्रजा से राजधर्म का पालन करने को नहीं कहता है, अतः अशोक के धम्म को राजधर्म की संज्ञा देना उपयुक्त नहीं है।

सार्वभौम धर्म—डॉ० स्मिथ और डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी जैसे विद्वान् अशोक के धम्म को 'सार्वभौम धर्म' मानते हैं। अशोक द्वारा प्रतिपादित धर्म के सिद्धांत सभी धर्मों की समान सम्पत्ति हैं और उसके आचार मूलक सिद्धांत सभी धर्मावलंबियों को मान्य थे। डॉ० स्मिथ ने लिखा है—"अशोक का धम्म किसी एक संप्रदाय विशेष से

सम्बन्धित न था, बल्कि वह सभी भारतीय धर्मों के लिए समान था।"[1] उन्होंने यह भी लिखा है—"अशोक के लेखों का धम्म हिन्दू धर्म ही है। अंतर केवल इस कारण है कि उस पर बौद्धधर्म की छाया है, या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इसमें वे नैतिक विचार भरे पड़े हैं, जिनके आधार पर बौद्ध धर्म खड़ा हुआ, पर जिसका हिन्दू धर्म में गौण स्थान है।"

अशोक के धम्म को सार्वभौम धर्म बताते हुए डॉ० मुकर्जी ने लिखा है—"अभिलेखों (अशोक के अभिलेखों) का धर्म किसी एक धर्म अथवा किसी एक धार्मिक संप्रदाय का धर्म न होकर जाति अथवा धर्म से पृथक् एक नैतिक कानून है।"[2] डॉ० त्रिपाठी का विचार है—"जिस धम्म का रूप उसने संसार के सामने रखा वह प्रमाणतः सारे धर्मों का सार है।" इस प्रकार डॉ० स्मिथ, डॉ० मुकर्जी तथा डॉ० त्रिपाठी ने अशोक के धम्म को सार्वभौम धर्म सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस कथन में सत्यांश होने पर भी अशोक के धम्म को सार्वभौम धर्म नहीं कहा जा सकता।

उपासक बौद्धधर्म—सेनार्ट, हुल्श, डॉ० भण्डारकर, डॉ० नीलकंठ शास्त्री, डॉ० थॉमस आदि विद्वान् अशोक के धर्म को बौद्धधर्म मानते हैं। अशोक के धम्म पर अपने विचार व्यक्त करते हुए सेनार्ट महोदय ने लिखा है कि अशोक की शिक्षा और बौद्ध धम्मपद में समानता दृष्टिगोचर होती है। उनका कथन है कि अशोक के लेखों में उस समय के बौद्धधर्म का पूर्ण और सर्वांगीण चित्र है। डॉ० भंडारकर ने लिखा है—"अशोक का धम्म धर्म-निरपेक्ष बौद्धधर्म के अतिरिक्त कुछ नहीं था।"[3] डॉ० नीलकंठ शास्त्री का मत है—"अशोक ने बौद्धधर्म को एक शुष्क बौद्धिक ज्ञान की खोज के स्थान पर एक आकर्षक, भावनात्मक एवं लोकप्रिय धर्म में परिवर्तित कर दिया।"[4] डॉ० थामस का कथन है—"अशोक निःस्संदेह बौद्ध मतावलम्बी था। वह पहले उपासक और तत्पश्चात् भिक्षु बन गया। बाद में वह अपने धर्म और व्यक्तिगत विश्वास के प्रति अपने सम्मान की घोषणा करता है।"[5] भब्रू शिलालेख में अशोक बौद्ध धर्म तथा संघ के प्रति अपना विश्वास व्यक्त करता है।

---

1. "Asoka's Dhamma has no particular sectarian affiliation, but it was essentially common to all Indian religions."
—*Dr. V. Smith*
2. "The Dharma of the edicts is not any particular Dharma or religious system, but a moral law independant of caste or creed." —*Dr. R. K. Mookerjee*
3. "Asoka's Dhamma is nothing other than secular Buddhism."
—*Dr. Bhandarkar*
4. "Asoka turned Buddhism from a dry Academic pursuit of knowledge to a colourful and emotional religion with wide popular Appeal." —*Dr. K. A. N. Sastri*
5. Asoka was undoubtedly a Buddhist. He became lay disciple and then a monk. Later he proclaims his regard for the religion and his personal faith." —*Dr. Thomas*

उपरोक्त सभी विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि अशोक का व्यक्तिगत धर्म बौद्ध धर्म था। इस पर आपत्ति प्रकट करते हुए अन्य विद्वानों का कथन है कि यदि अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था तो उसने चार आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग तथा बौद्ध धर्म के अन्य सिद्धान्तों को अपने अभिलेखों में उत्कीर्ण क्यों नहीं करवाया ? उनकी यह आपत्ति तर्कसंगत नहीं है। वास्तविकता यह है कि बौद्ध धर्म के दो रूप हैं—प्रथम, भिक्षुओं के लिए और द्वितीय, बौद्ध उपासकों के लिए। भिक्षुओं के लिए बौद्ध धर्म का स्वरूप अधिक कठोर और साधनामय है। चार आर्य सत्यों एवं अष्टांगिक मार्ग पर चलना भिक्षुओं के लिए अनिवार्य है। उपासकों (गृहस्थों) के लिए बौद्ध धर्म का रूप अत्यन्त सरल, सुबोध और व्यावहारिक है। चूंकि अशोक की प्रजा गृहस्थ थी, इसलिए उसने बौद्ध धर्म के दूसरे स्वरूप उपासक बौद्ध धर्म को ही अपनाना अधिक उचित समझा। राम प्रकाश ओझा ने अशोक के धम्म को बौद्धधर्म द्वारा उपासक के लिए निर्धारित धार्मिक कर्त्तव्यों का संग्रह बताया है।

अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष अशोक ने शक्तिशाली कलिंग राज्य पर आक्रमण कर दिया। युद्ध की विभिषिका से ग्रस्त होकर उसने भविष्य में युद्ध न करने का निर्णय लिया और बौद्धों की अहिंसा तथा सदाचारपरक विचारधारा की ओर आकर्षित हुआ। कश्मीर के इतिहासकारों तथा बौद्ध धर्म ग्रन्थों से विदित होता है कि अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि अशोक जब उपगुप्त के संपर्क में आया, तब से वह बौद्ध धर्म का उपासक हो गया। उपगुप्त अथवा तिष्य नामक बौद्ध आचार्य से दीक्षा लेकर उसने बौद्ध धर्म के पवित्र स्थलों की 'सम्बोधि' यात्राएँ की। वह उपगुप्त के साथ लुम्बिनी, रुम्मनदेई, कपिलवस्तु, बोधगया, सारनाथ, कुशीनगर आदि स्थलों में गया। वहाँ उसने बौद्ध विहारों को दान दिया तथा स्तूप एवं स्तम्भ निर्मित करवाये। बुद्ध जन्म की स्मृति में निर्मित रुम्मनदेई तथा 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' की स्मृति में निर्मित सारनाथ का स्तम्भ आज भी अवशिष्ट हैं।

अशोक के आठवें शिलालेख से ज्ञात होता है कि अशोक ने अपने राज्याभिषेक के दसवें वर्ष बौद्ध तीर्थों की धार्मिक यात्रा की। रुम्मनदेई लघु स्तम्भ लेख से विदित होता है कि देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी अपने अभिषेक के बीस वर्ष पश्चात् शाक्यमुनि बुद्ध के जन्मस्थल लुम्बिनी की तीर्थ यात्रा पर गया। वहाँ उसने एक बहुत बड़े प्रस्तर की दीवार बनवाई तथा एक स्तम्भ स्थापित करवाया। बुद्ध की जन्मभूमि होने के कारण अशोक ने वहाँ पर लगे धार्मिक करों को समाप्त कर दिया तथा राज-कर का केवल आठवां हिस्सा ही वसूल किया। भब्रु शिलालेख में उसने बुद्ध, धम्म और संघ तीनों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। ऐसी भी परंपरा है कि उसने एक वर्ष तक भिक्षु के रूप में बौद्ध विहार में रहकर बौद्ध धर्म ग्रंथों का अध्ययन किया। मिलिंदपन्हो से विदित होता है कि अशोक भिक्षुओं की पोशाक धारण करता था। चीनी यात्री इत्सिंग ने अपने भारत भ्रमण के समय अशोक की एक मूर्ति बौद्ध भिक्षुओं की पोशाक से युक्त देखी थी। बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात् उसने उसके उत्थान के लिए पर्याप्त प्रयत्न किए। सारनाथ लेख में उसने बौद्ध संघ में फूट डालने वाले भिक्षुओं को दण्डित करने की आज्ञा दी है।

धर्म का स्वरूप और धार्मिक सहिष्णुता—अशोक के धम्म के सम्बन्ध में विद्वानों में जो मतभेद हैं उनका उल्लेख किया जा चुका है। अपने धम्म की स्पष्ट व्याख्या करते हुए अशोक कहता है कि पापहीनता, बहुकल्याण, दया, दान, सत्यता और शुद्धि ही धर्म है। द्वितीय लघु शिलालेख में वह कहता है कि 'माता-पिता की उचित सेवा, सब प्राणियों के प्रति आदर भाव तथा सत्यता गुरुतर सिद्धान्त हैं। इन धर्म गुणों की वृद्धि होनी चाहिए। इसी भांति शिष्यों को गुरुओं का उचित आदर करना चाहिए तथा सम्बन्धियों से उचित व्यवहार उत्तम है।' ग्यारहवें शिलालेख में वह अपने धम्म के अन्य तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए कहता है—"दास और भृत्यों तथा वेतन भोगी सेवकों के साथ उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों, श्रमणों और साधुओं के प्रति उदारता, प्राणियों में संयम, पशुबलि से विरतता।" ये सभी अशोक के धम्म के तत्त्व थे। अशोक के धम्म पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रोमिला थापर ने लिखा है—"अपने धर्म के प्रचार के द्वारा अशोक ने धार्मिक उपदेशों में निहित संकीर्ण मनोवृत्ति का सुधार करने, सबलों से दुर्बलों की रक्षा करने तथा संपूर्ण साम्राज्य में ऐसी व्यापक चेतना जाग्रत करने का प्रयत्न किया, जिसके सम्बन्ध में किसी सांस्कृतिक समूह को कोई आपत्ति न हो।" अशोक ने धर्म के आचार-मूलक सिद्धान्तों को अपना कर कर्मकांड को हतोत्साहित किया। उसका धम्म रूढ़िवाद व कर्मकांड, बाह्य आडम्बर, गूढ़ क्रियावादी, दर्शनमूलक और सूक्ष्म तत्त्वापेक्षी न होकर व्यापक नैतिक नियमों का संकलन था। अशोक के अनुसार समाज को उत्सव नहीं मनाने चाहिएं, क्योंकि इनमें अनेक दोष हैं। रामप्रकाश ओझा के शब्दों में—"इतना सुन्दर धर्म विश्व के किसी शासक के युग में न था। अशोक ने धम्म का जो प्रचार-प्रसार या उपदेश दिया है, वह निष्पक्ष भाव से समन्वित है। इसके पीछे कोई राजनीतिक उद्देश्य न छिपा था, जब विश्व के सभी सम्राटों के धर्म में कोई न कोई राजनीतिक उद्देश्य या स्व-महत्त्वाकांक्षा की भावना छिपी रहती थी। अशोक ने उन्मुक्त कंठ से जो धर्म-नाद किया है, वह अन्यत्र अप्राप्य है। इतना तो हमें अवश्य मानना पड़ेगा कि अशोक का धम्म सब धर्मों में सामान्य रूप से विद्यमान साधारण कर्त्तव्यों का संग्रह न था, बल्कि बौद्ध धर्म द्वारा उपासक के लिए निर्धारित धार्मिक कर्त्तव्यों का संग्रह ही था।" अनेक विद्वान् उसके धर्म को अन्य धर्मों का सार बताते हैं।

अशोक एक धार्मिक सहिष्णु सम्राट था। व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म का अनुयायी होने पर भी उसने अपने साम्राज्य के अन्तर्गत धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना की। अशोक का कहना था कि प्रत्येक राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी प्रजा का धार्मिक उन्नयन करे तथा अपने राज्यान्तर्गत सभी धर्मों के विकास का प्रयत्न करे। उसके साम्राज्य के अन्तर्गत ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, आजीवक आदि प्रमुख सम्प्रदाय थे। आजीवकों को उसने कुछ गुफाएँ दान दीं और विभिन्न मतावलम्बियों—ब्राह्मण, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि को पारस्परिक सम्बन्ध में उदारता और सद्भाव बनाये रखने के उपदेश दिये। उसका विश्वास था कि सभी सम्प्रदायों के अनुयाइयों का लक्ष्य 'तृष्णाओं का निग्रह और चित्तशुद्धि है।' सभी धर्मों के प्रति सद्भाव व्यक्त करते हुए वह कहता है—"जो अपने धर्म का सम्मान करता है और दूसरे धर्मों का

निरादर करता है और इस प्रकार अपने धर्म का यश बढ़ाना चाहता है वह वास्तव में अपने धर्म को भी हानि पहुँचाता है। ऐसे मनुष्य में धर्म की वास्तविकता की कमी है। सब धर्मों का सार है कि दूसरे धर्मों का भी आदर करना चाहिए।"

अशोक की उदारता इतनी सार्वभौमिक थी कि उसने कभी भी अपने व्यक्तिगत धार्मिक विचारों को प्रजा पर थोपने का यत्न नहीं किया। उसके अभिलेखों से विदित होता है कि बौद्ध तीर्थों की यात्रा के समय उसने ब्राह्मण, बौद्ध, जैन व आजीवकों को समान रूप से दान दिया। उसने धम्म महामात्रों को आज्ञा दी थी कि वे संघ, ब्राह्मण, आजीवक, निर्ग्रन्थ आदि की समान रूप से देखरेख करें। अपने बारहवें शिला लेख में देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी कहता है कि 'वह सब संप्रदायों का विविध दान और पूजा से सत्कार करता है। परन्तु वह दान अथवा सम्मान की अपेक्षा सब सम्प्रदायों के सारतत्त्व की वृद्धि और एक-दूसरे के धर्म के ज्ञान को अधिक अच्छा समझता है।' वह विश्व का प्रथम सम्राट् था जिसका हृदय मानव समाज के अतिरिक्त प्राणिमात्र की सेवा के लिए द्रवित हो उठा। अपने प्रथम शिलालेख में वह कहता है कि किसी प्राणी का वध न किया जाय। निष्कर्षत: अशोक के धम्म को विशुद्ध मानव धर्म अथवा विश्व धर्म की संज्ञा दी जा सकती है। व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म का अनुयाई होने पर भी वह धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था।

भारत तथा विदेशों में धर्म प्रचार हेतु कार्य—अशोक बौद्ध धर्म का न केवल अनुयायी था, बल्कि वह उसका महान् प्रचारक भी सिद्ध हुआ। उसने साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार में लगा दी। उसने स्वदेश और विदेशों में धर्मप्रचार के लिए निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कार्य किये—

राज्याधिकारियों की नियुक्ति—सातवें स्तम्भ लेख से विदित होता है कि अपने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष अशोक ने धर्म प्रचार हेतु धर्म 'महामात्र' नामक राज्यधिकारियों की नियुक्ति की। इनका कर्त्तव्य जनसाधारण की भौतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। उसने युक्ति, रज्जुक और प्रादेशिक नामक कर्मचारियों को स्पष्ट निर्देश दिये थे कि वे प्रति पांचवें वर्ष धर्म शिक्षा के लिए दौरे पर जायें और प्रजा को उनके कर्त्तव्यों का बोध करवायें।

धर्म यात्राएं—बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने प्रसिद्ध बौद्ध स्थल लुम्बिनी वन, कपिलवस्तु, बोधगया, सारनाथ, कुशीनगर, श्रावस्ती, वैशाली आदि स्थानों की स्वयं यात्राएँ कीं। उसने बौद्ध विहारों और स्तूपों के दर्शन किये। धर्म यात्रा के समय अशोक स्थान-स्थान पर जन-साधारण से मिलता था और उसके साथ धर्म से सम्बन्धित वार्त्ताएं करता था। उसने नेपाल जाकर स्वयं बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उसने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु श्रीलंका भेजा। अपने प्रथम लघु शिलालेख में वह कहता है कि 'उसके सक्रिय उद्योग के कारण वर्ष भर में सारे जम्बूद्वीप जो मनुष्य देवताओं से अयुक्त थे, वे उनसे युक्त हो गये।' अशोक के धर्म प्रचारक बड़े उत्साही और निर्भीक थे। उन्होंने कठिनाइयों की उपेक्षा करते हुए लंका, बर्मा, तिब्बत, जापान, कोरिया तथा पूर्वी द्वीप समूह में धर्म

प्रचार किया। इस सन्दर्भ में डॉ० स्मिथ ने लिखा है—"अशोक द्वारा धर्म प्रचारकों का भेजा जाना मानव इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अशोक से पूर्व लगभग ढ़ाई सौ वर्ष तक बौद्ध धर्म गंगा की घाटी तक सीमित रहा और उसकी हैसियत हिन्दू धर्म के एक संप्रदाय की ही रही···· । इस स्थानीय सम्प्रदाय को विश्व धर्म में परिवर्तित करना अशोक का ही काम था।" इन धर्म प्रचारकों के माध्यम से विदेशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार व प्रसार हुआ। डॉ० भंडारकर ने लिखा है कि अशोक के धर्मप्रचार से संसार को अतुलनीय लाभ हुआ। बौद्ध धर्म के कारण केवल धर्म और दर्शन का ही प्रचार नहीं हुआ, बल्कि हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के बहुत से अमूल्य प्रभाव भी दूर-दूर की जनता पर पड़े। 'इसका प्रभाव न केवल थेराप्यूटे और ऐसेनिज के यहूदी मतों पर ही पड़ा बल्कि पूर्व-मध्ययुगीन ईसाई धर्म भी इससे पूर्णतया प्रभावित हुआ।'

अभिलेखों की स्थापना—बौद्धधर्म के प्रचारार्थ अशोक ने अभिलेखों पर धार्मिक लेख उत्कीर्ण करवाये। उसके चौदह शिलालेख, सात स्तम्भ लेख, गुहालेख और कई अन्य लेख अनेक स्थानों पर मिले हैं। ये अभिलेख बुद्ध से सम्बन्धित स्थानों पर अधिक मिले हैं। उसने प्रमुख राजपदों, नगरों, साम्राज्य के सुदूर भागों तथा तीर्थ स्थानों में स्तम्भ शिलाओं पर लेख खुदवाये, जो आज भी अफगानिस्तान, पाकिस्तान तथा भारत में बृहद् मात्रा में अवशिष्ट हैं। अभिलेखों पर लेख जनसाधारण की भाषा में अंकित किये गये जिससे जनता उन्हें पढ़कर उनपर आचरण कर सके। अशोक के सप्तम स्तम्भ लेख से विदित होता है कि उसने "धम्म स्तम्भ खड़े किये, धम्म महामात अथवा धर्ममहामात्र नियुक्त किये और धम्म सावन अथवा धम्म-श्रावण किये।"

विहारों और मठों का निर्माण—बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु अशोक ने विहारों, मठों और स्तूपों का निर्माण करवाया। इनमें बौद्ध धर्म के प्रचारक भिक्षु-भिक्षणियां एवं धर्मोपदेशक निवास करते थे, जो सदैव धार्मिक चिंतन, मनन और प्रचार कार्य में व्यस्त रहते थे।

साहित्यिक साधनों द्वारा प्रचार—अशोक ने साहित्यिक साधनों के माध्यम से बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उसने तत्कालीन जनसाधारण की भाषा पाली में बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित ग्रंथों की रचना करवाई। उसने अभिलेखों में धर्म से सम्बन्धित लेख भी पाली भाषा में अंकित करवाये, जिससे जनसाधारण उन्हें समझकर उनका पालन कर सके। अशोक ने बौद्ध धर्म के पवित्र स्थलों पर शास्त्रार्थ करवाया।

बौद्ध धर्म के विविध सम्प्रदायों में सामंजस्य और विभिन्न दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से अशोक ने अपने राज्याभिषेक के सत्तरहवें वर्ष अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में मोग्गलिपुत्र तिष्य की अध्यक्षता में बौद्ध संगीति का अधिवेशन सम्पन्न करवाया जो बौद्ध साहित्य में तृतीय बौद्ध संगीति' (अधिवेशन) के नाम से ख्यात है। नौ माह के विचार-विनिमय के पश्चात् इसका समापन हुआ। इस सम्मेलन में बौद्ध धर्म-ग्रंथों को संशोधित किया गया। अधिवेशन के अंत में अध्यक्ष ने धर्म प्रचारार्थ दूर देशों को बौद्ध दूत भेजे। तृतीय बौद्ध संगीति के फलस्वरूप बौद्ध

धर्म में आई हुई शिथिलता दूर हो गई और उसमें नवीन चेतना का संचार हुआ। तृतीय बौद्ध संगीति के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए हंटर महोदय ने लिखा है— "इसने लगभग आधी मानव जाति के लिए एक साहित्य और धर्म का सृजन किया और शेष आधी (मानव जाति) के विश्वासों को प्रभावित किया।"[1]

लोकहितकारी कार्य—बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिए अशोक ने जीवों की हिंसा पर रोक लगा दी। उसने आम्रकुंज लगवाये, सड़कों का निर्माण करके उसके दोनों ओर फलदार एवं छायादार वृक्ष लगवाये, कुएं खुदवाए तथा मानव और पशु दोनों के लिए औषधालयों का निर्माण करवाया। औषधियों का विदेशों से भी आयात किया गया। द्वितीय शिला लेख से विदित होता है कि अशोक ने मनुष्यों और पशुओं के लिए देश विदेशों में अस्पताल खोले। उसके द्वारा किये गये लोकहित कार्यों द्वारा जनसाधारण का उसकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। इस प्रकार अशोक के उद्योग से बौद्ध धर्म जैन धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। कॉप्लैंस्टन महोदय ने उसे बौद्ध धर्म के लिए कौंसटैन्टाइन, सिकन्दर और नेपोलियन कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कलिंग के युद्ध की विभीषिका से अशोक का हृदय द्रवित हो उठा और उसने भविष्य में 'भेरीघोष' के स्थान पर 'धम्मघोष' करने का निर्णय लिया। वह व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म का उपासक था, किन्तु उसने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को किसी के ऊपर जबरन नहीं थोपा। वह एक धार्मिक सहिष्णु सम्राट था। अशोक सदैव लोकहित के कार्यों में व्यस्त रहता था। उसके द्वारा किए गये निरंतर अथक प्रयासों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म को, जो उस समय गंगा उत्पत्ति की लघु विचारधारा थी, विश्व धर्म के रूप में परिणत कर दिया। यह उसकी महत्ता का द्योतक है कि उसने अन्य नृपतियों की भांति तलवार के बल पर शोणित की नदियां बहाकर अपने धर्म का प्रचार नहीं किया बल्कि बड़ी उदारता और सहिष्णुता के साथ विश्व को सत्य, अहिंसा और मानवता का पाठ पढ़ाया।

अशोक के उत्तराधिकारी

दीर्घकाल (272 ई० पू०—232 ई० पू०) तक शासन के उपरांत अशोक का देहावसान हो गया। अशोक के पश्चात् मौर्य वंश में कोई ऐसा योग्य सम्राट् नहीं हुआ जो विशाल मौर्य-साम्राज्य को संगठित कर अक्षुण्ण रख सके। अशोक के अभिलेखों में उसके पुत्र तीवर का उल्लेख मिलता है जो उसके शासन काल में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया था। अशोक के तीन अन्य पुत्रों का उल्लेख मिलता है—महेन्द्र, कुणाल और जालौक। महेन्द्र को अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु श्रीलंका भेजा। कल्हणकृत राजतरंगिणी से विदित होता है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात्

---

1. "It has created a literature and religion for nearly half of the human race and has affected the beliefs of the other half."

—*W. W. Hunter*

उसके पुत्र जालौक ने कश्मीर में अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी। वह शैव मतावलम्बी था। वायु पुराण के अनुसार कुणाल ने आठ वर्ष तक शासन किया।

अशोक के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में कोई एक मत प्रचलित नहीं है। विभिन्न ग्रंथों में भिन्न-भिन्न विचारधाराएं दृष्टिगोचर होती हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों में कहा गया है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसका पौत्र राजगद्दी पर आसीन हुआ। जैन अनुश्रुतियों से विदित होता है कि अशोक के बाद संप्रति सिंहासनारूढ़ हुआ। वायु पुराण और मत्स्य पुराण से ज्ञात होता है कि संप्रति से पूर्व अशोक के पौत्र दशरथ ने राज्य किया। अभिलेखों से उसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। डॉ० स्मिथ का कथन है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया। उसके राज्य के पूर्वी भाग पर दशरथ और पश्चिमी भाग पर संप्रति ने अधिकार जमा लिया। विद्वानों का मत है कि दशरथ ने संप्रति से पहले राज्य किया। इतिहासकारों ने अशोक के उत्तराधिकारियों का क्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया है—कुणाल, दशरथ, संप्रति, शालीशुक और बृहद्रथ।

कुणाल—पुराण तथा बौद्ध और जैन साहित्य में अशोक के उत्तराधिकारी कुणाल का उल्लेख मिलता है। दिव्यावदान से विदित होता है कि वह अशोक का जेष्ठ पुत्र होने के बावजूद सिंहासनारूढ़ नहीं हुआ। बौद्ध अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि उसकी विमाता तिष्यरक्षिता ने उसकी आंखें फुड़वा दी थी। डॉ० रायचौधरी का मत है कि अंधा होने के कारण उसकी राजकीय स्थिति धृतराष्ट्र की तरह थी। उसके पुत्र संप्रति ने उसकी ओर से शासन संचालित किया। पुराणों से विदित होता है कि कुणाल ने आठ वर्ष तक शासन किया। डॉ० रायचौधरी ने यह संभावना व्यक्त की है कि दिव्यावदान में उल्लिखित 'धर्मविवर्धन' और विष्णु तथा भागवत पुराण में वर्णित सुयश कुणाल के उपनाम अथवा विरुद थे।

दशरथ—वायु पुराण में कुणाल के पुत्र को बंधुपालित और दिव्यावदान में संप्रति कहा गया है। डॉ० रायचौधरी का मत है कि बंधुपालित शायद दशरथ ही है। डॉ० राजबली पाण्डेय दशरथ को कुणाल का पुत्र मानते हैं। उसका विरुद 'देवानां प्रिय' था। उसने आजीवक साधुओं के लिए नागार्जुन की पहाड़ी पर तीन गुफाएं निर्मित की थीं। मत्स्य और वायु पुराण में दशरथ को अशोक का पौत्र कहा गया है।

संप्रति—डॉ० स्मिथ और प्रोफेसर ध्रुव का मत है कि कुणाल की मृत्यु के बाद मौर्य-साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया। उसके राज्य के पूर्वी भाग पर दशरथ ने और पश्चिमी भाग पर सम्प्रति ने अधिकार जमा लिया था। परन्तु अधिकांश विद्वान् उक्त मत से सहमत नहीं हैं। जैन अनुश्रुतियां उसे अपने धर्म का अनुयायी बताती हैं। पाटलिपुत्रकल्प से ज्ञात होता है कि भारत के अधिपति और महान् अरहन्त कुणाल के पुत्र सम्राट् सम्प्रति ने श्रमणों के लिए अनार्य देशों में भी विहार स्थापित करवाये थे।

शालिशुक—वायु पुराण, विष्णु पुराण और गार्गी संहिता में शालिशुक का उल्लेख मिलता है। विष्णु पुराण से विदित होता है कि संगत (संप्रति) के बाद शालिशुक राजगद्दी पर बैठा। डॉ० रायचौधरी ने शालिशुक और दिव्यावदान में उल्लिखित सम्प्रति के पुत्र बृहस्पति को एक ही व्यक्ति बताया है। युग पुराण में उसे जैन धर्म का अनुयायी कहा गया है। गार्गी संहिता में शालिशुक का उल्लेख एक अत्यन्त क्रूर और अत्याचारी शासक के रूप में मिलता है। उसे धर्म का ढोंग करने वाला अधार्मिक राजा कहा गया है। युग पुराण में उसे राजकर्म से निरत रहने वाला 'दुष्टात्मा' कहा गया है। उसने बलपूर्वक जैन धर्म का प्रचार किया।

बृहद्रथ—शालिशुक के पश्चात् देववर्मन और शतधनुष राजा हुए। उनके बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। बृहद्रथ अंतिम मौर्य सम्राट था। वह अयोग्य और विलासी राजा था। हर्षचरित में उसे 'प्रज्ञा-दुर्बल' शासक कहा गया है। उसके काल में यूनानी आक्रमणों का खतरा उत्पन्न हो गया था। वह सेना को संगठित कर विदेशी आक्रमणों का सामना करने में सक्षम न था। उसकी दुर्बलता का लाभ उठा कर उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने राजा बनने की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर सेना के निरीक्षण के अवसर पर खुलेआम राजा बृहद्रथ की हत्या कर दी। विष्णु पुराण में यह उल्लेख मिलता है—"सेनापति पुष्यमित्र बृहद्रथ को उन्मूलित कर देगा और (स्वयं राजा बनकर) राज्य पर 36 वर्ष शासन करेगा।" वाणभट्ट कृत हर्षचरित में पुष्यमित्र द्वारा छल पूर्वक राजा बृहद्रथ की हत्या का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार 184 ई० पू० में पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ की हत्या कर राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। मगध में मौर्यवंश का अंत हो गया और एक नवीन राजवंश (शुंगवंश) की स्थापना हुई।

मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारण

137 वर्षों (321 ई० पू०-184 ई० पू०) तक शासन करने के उपरान्त मौर्य-साम्राज्य का पतन हो गया। मौर्य-वंश में चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक महान् जैसे विख्यात सम्राट् हुए। उनके शासनकाल में मौर्य-साम्राज्य उन्नति की पराकाष्ठा पर था। किन्तु अशोक की मृत्यु के पश्चात् राजसत्ता उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के हाथ में आ गई, जो साम्राज्य को विघटित होने से नहीं बचा पाये। अशोक के अयोग्य उत्तराधिकारियों में न तो चन्द्रगुप्त मौर्य जैसी सामरिक प्रतिभा थी और न ही अशोक महान् जैसी विशुद्ध मानव कल्याण की भावना। इन दोनों के पर्याप्त अभाव में साम्राज्य का पतन स्वाभाविक था। पुराणों तथा हर्ष चरित में उल्लिखित विवरण से विदित होता है कि 184 ई० पू० में अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सेना के निरीक्षण के समय खुलेआम हत्या कर दी।

मौर्य-साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि अशोक के निधन के पश्चात् इतनी शीघ्रता से क्यों इस साम्राज्य का पतन हुआ ? मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारणों पर प्रकाश डालते हुए डा० रोमिला थापर

ने लिखा है—"मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारण सैनिक अकर्मण्यता, ब्राह्मणों का असन्तोष, जन-साधारण के विद्रोह अथवा आर्थिक दबाव के आधार पर सन्तोषजनक ढंग से नहीं समझाए जा सकते। उसके कारण इससे अधिक मौलिक थे और इनसे कहीं अधिक मौर्य-जीवन के विस्तृत आधारों से सम्बन्धित थे।"[1] डॉ० मुकर्जी ने मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारणों का उल्लेख करते हुए लिखा है—"स्थानीय स्वतन्त्रता की भावना, आवागमन के साधनों का अभाव, प्रान्तीय शासकों का अत्याचारी शासन और विद्रोही नीति, महल के षड्यन्त्र तथा सरकारी अधिकारियों की धोखेबाजी आदि इसके पतन के मुख्य कारण थे।" मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारणों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए डा० विमलचन्द्र पाण्डे ने लिखा है—"अन्य राज्यवंशों की भाँति मौर्य वंश का पतन भी न आकस्मिक था और न किसी एक कारण से उद्भूत। बहुत दिनों से अनेकानेक कारण मौर्य साम्राज्य को निर्बल बनाने में सहयोग दे रहे थे और एक दिन ऐसा आया जब उनके सम्मिलित आघातों से जर्जरित हुआ मौर्य-साम्राज्य धराशायी हो गया।" मौर्य-साम्राज्य के पतन के लिए मुख्यतः निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे :

1. **अयोग्य उत्तराधिकारी**—वंशानुगत राज्य उत्तराधिकारियों की योग्यता पर निर्भर करता है। उत्तराधिकारियों के अयोग्य होने पर विशाल-साम्राज्य को ढहते देर नहीं लगती। अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य-साम्राज्य की सत्ता उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के हाथ में आ गई। वे मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य की भाँति न तो सामरिक विजय कर सके और न ही अशोक महान की तरह धर्म विजय का बिगुल बजा पाये।

फलतः अशोक की मृत्यु के पश्चात् मात्र अड़तालीस वर्षों में ही मौर्य-साम्राज्य का पतन हो गया और मगध की राजगद्दी पर एक नवीन राज्यवंश का आविर्भाव हुआ जो इतिहास में शुंगवंश के नाम से प्रसिद्ध है। केन्द्र में शक्तिशाली राजा के अभाव में मौर्य-साम्राज्य के प्रान्तीय शासकों में स्वतन्त्रता की भावना बलवती हो गई। अशोक के निधन के पश्चात् जालौक और वीरसेन क्रमशः कश्मीर और गांधार में स्वतन्त्र हो गये। सीमाप्रान्त के शासक भी केन्द्रीय शासन की दुर्बलता का लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गये।

2. **दुर्बल केन्द्रीय शासन**—अयोग्य उत्तराधिकारियों के कारण अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य साम्राज्य का केन्द्रीय शासन दुर्बल हो गया था। केन्द्र में स्थिर

---

1. "The decline of the Mauryan empire can not be satisfactorily explained by quoting military inactivity, Brahman resentment, popular uprising, or economic pressure. The causes were far more fundamental and included a much wider perspective of Mauryan life than any of those mentioned above."
—*Dr. Romila Thapar*

और सुदृढ़ शासन के **अभाव** में कश्मीर, गांधार, विदर्भ आदि के राजाओं ने मौर्य-साम्राज्य के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। डा० रोमिला थापर ने भी मौर्य-साम्राज्य के पतन में दुर्बल केन्द्रीय शासन को एक मुख्य कारण माना है। सीमावर्ती प्रदेश भी अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने लगे। राजतरंगिणी से विदित होता है कि अशोक की मृत्यु के बाद उसके एक पुत्र जालौक ने कश्मीर में अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। तारानाथ का कथन है कि वीरसेन नामक राजपुत्र ने गांधार में अपनी पृथक सत्ता स्थापित कर ली थी। मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि मौर्यों की केन्द्रीय शासन की दुर्बलता का लाभ उठाकर विदर्भ स्वतन्त्र हो गया। इस प्रकार साम्राज्य विभाजित हो जाने के कारण राज्य की शक्ति का ह्रास हो गया।

3. **प्रान्तीय शासकों के अत्याचार**—मौर्य साम्राज्य के प्रान्तीय शासक अत्याचारी थे। उनके अत्याचारों से क्षुब्ध होकर प्रान्तीय जनता विद्रोह कर देती थी। तक्षशिला के दूरस्थ प्रान्तों में स्थानीय पदाधिकारियों के उत्पीड़न के कारण निरन्तर विद्रोह हुए। दिव्यावदान में प्रान्तीय प्रजा द्वारा किए गए दो विद्रोहों का उल्लेख मिलता है। बिन्दुसार के काल में तक्षशिला में हुए जन-विद्रोह को दबाने के लिए जब अशोक वहाँ पहुंचा, तो वहाँ की विद्रोही जनता ने उससे कहा कि 'न हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसार के, परन्तु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं।'

अशोक के कलिंग अभिलेख से भी प्रान्तीय शासकों की अत्याचारी मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। उसमें यह उल्लेख मिलता है कि प्रान्तीय शासक अकारण ही जनता का उत्पीड़न करते हैं। अशोक उन्हें ऐसा न करने का आदेश देता है। प्रान्तीय शासकों की जन-विरोधी नीति के कारण जन-साधारण के हृदय में मौर्य साम्राज्य के विरुद्ध आक्रोश की भावना उत्पन्न हो गई। अशोक की मृत्यु के पश्चात् तक्षशिला, कलिंग और उज्जैन के प्रान्तों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी।

4. **राजाओं की अत्याचारी नीति**—अशोक के कुछ उत्तराधिकारी न केवल अयोग्य थे, वरन् वे अत्याचारी भी थे। गार्गी संहिता से विदित होता है कि मौर्य-सम्राट् शालिशुक एक अधार्मिक तथा अत्याचारी शासक था। उसने अपनी प्रजा का घोर उत्पीड़न किया था।

इस प्रकार, एक ओर अशोक के कुछ उत्तराधिकारियों ने अत्याचारी नीति का परिचय दिया और दूसरी ओर उनके प्रान्तीय शासकों ने जनता का उत्पीड़न किया। राजा और उसके अधिकारियों की अत्याचारी नीति जनसाधारण के लिए असह्य हो गई और अन्त में अत्याचारी शासन के विरुद्ध जनसाधारण की विद्रोही प्रवृत्ति विस्फोट के रूप में प्रकट हुई।

5. **राज्य सभा में गुटबन्दी**—इतिहास इस बात का द्योतक है कि राज्य सभा में गुटबन्दी अथवा दलबन्दी के कारण शक्तिशाली साम्राज्य पतन के गर्त में

चले गये। वर्तमान दलगत राजनीति भी गुटबन्दी की गिरफ्त में है। मौर्य राज्य सभा में भी गुटबन्दी थी। कुणाल की आंखें तिष्यरक्षिता के षड्यन्त्र के कारण फड़वा दी गई। अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष के कारण राज्य के मन्त्री और उच्च-पदाधिकारी राष्ट्रीय हितों को नजरअन्दाज कर देते थे। बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर मौर्य दरबार की राजनीति दो गुटों में विभक्त हो गई थी। एक गुट ने अशोक का समर्थन किया और दूसरे ने उसका विरोध किया। परिणामतः गृहयुद्ध हुआ जो चार वर्ष तक चलता रहा। मालविकाग्निमित्र से विदित होता है कि बृहद्रथ के समय राज्य सभा में परस्पर-विरोधी दो गुट थे। उनमें से एक गुट मौर्य सम्राट बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र शुंग का प्रबल समर्थक था। इसीलिए सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सेना के निरीक्षण के अवसर पर खुलेआम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ की हत्या कर दी और बिना किसी विरोध के स्वयं राजगद्दी हथिया ली। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए राज्य सभा में गुटबन्दी भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

6. **ब्राह्मण प्रतिक्रिया**—कुछ विद्वान् ब्राह्मण प्रतिक्रिया को मौर्य-साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण बताते हैं जिनमें पण्डित हरप्रसाद शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है। पण्डित हरप्रसाद शास्त्री ने यह मत प्रतिपादित किया है कि अशोक की बौद्ध नीति के फलस्वरूप ब्राह्मणों में प्रतिक्रिया हुई और यही प्रतिक्रिया मौर्य साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण बनी। उनका कथन है कि मौर्य शासक शूद्रवंशी थे। अशोक द्वारा राज्य में एक-सा न्याय विधान और दण्ड व्यवस्था स्थापित किये जाने से ब्राह्मणों को समाज में प्राप्त विशेषाधिकार समाप्त हो गये। अशोक द्वारा यज्ञों के निषेध तथा धम्म महामात्रों की नियुक्ति ने ब्राह्मणों को कुपित कर दिया जिसकी अन्तिम परिणति पुष्यमित्र शुंग द्वारा बृहद्रथ की हत्या के रूप में हुई।

किन्तु पण्डित हरप्रसाद शास्त्री का उपरोक्त कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि मौर्य शासक क्षत्रिय थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी हिंसात्मक यज्ञों को हतोत्साहित किया गया है। जिन नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों का प्रचार अशोक ने किया, वे वैदिक धर्म के विरोधी नहीं थे। अशोक धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था। उसके अभिलेखों से विदित होता है कि वह ब्राह्मणों का सम्मान करता था और अन्य धर्मों के अनुयायियों की भांति उन्हें दान दिया करता था। ब्राह्मण इतिहासकार कल्हण ने लिखा है कि अशोक तथा उसकी ब्राह्मण प्रजा में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। अशोक के शासन काल में कोई ब्राह्मण विद्रोह नहीं हुआ। यदि मौर्य वंश के सम्राटों और ब्राह्मणों के मध्य वैमनस्य की भावना व्याप्त होती, तो बृहद्रथ कभी भी ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र शुंग को अपना सेनापति नहीं बनाता। पुष्यमित्र शुंग द्वारा बृहद्रथ की हत्या का कारण यह था कि मौर्य सम्राट अयोग्य और निर्बल था तथा पुष्यमित्र शुंग में राजा बनने की महत्त्वाकांक्षा थी। इसीलिए उसने सेना को अपने पक्ष में करके अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ की हत्या कर दी और राजगद्दी हथिया ली। इन तर्कों से

आधार पर पण्डित हरप्रसाद शास्त्री का यह मत, कि ब्राह्मण प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ, उपयुक्त नहीं हैं। डा० हेमचन्द्रराय चौधरी ने भी पण्डित हरप्रसाद शास्त्री के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि ब्राह्मण प्रतिक्रिया से मौर्य साम्राज्य के पतन का कोई सम्बन्ध नहीं है।[1]

7. आर्थिक कारण—आर्थिक असन्तोष साम्राज्यों अथवा राज्यों के पतन का मूल कारण होता है। डा० कौशाम्बी का विचार है कि आर्थिक दुर्बलता के कारण मौर्य-साम्राज्य का पतन हुआ। मौर्य शासकों ने राजकोष की वृद्धि के लिए प्रजा पर अनेक कर लगाये। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी करों की अधिकता का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने अनेक युद्ध करके एक नवीन और विशाल साम्राज्य की नींव डाली। युद्ध-व्यय और विशाल साम्राज्य के सुसंचालन के लिए उसने जनसाधारण पर अनेक कर लगाये। अशोक महान् ने धर्म प्रचार और दान पर अत्यधिक धन व्यय किया, जिससे राजकोष रिक्त हो गया। अशोक के अयोग्य उत्तराधिकारियों के शासन-काल में साम्राज्य के अनेक प्रदेश उनके हाथ से निकल गये। फलतः राज्य की आय कम हो गई। धनाभाव की स्थिति में विशाल साम्राज्य को स्थिर और संगठित रख पाना कठिन था। यह भी उल्लेख मिलता है कि मौर्य-सम्राट् मूर्तियाँ बेचकर धन बटोरते थे। करों के भार की अधिकता के कारण प्रजा में राज्य के प्रति विद्वेष की भावना व्याप्त हो गई और यही भावना मौर्य-साम्राज्य के पतन में सहायक सिद्ध हुई।

8. राष्ट्रीय भावना का अभाव—डा० रोमिला थापर का कथन है कि प्रशासकीय संगठन तथा राष्ट्रीय भावना के अभाव के कारण मौर्य-साम्राज्य का पतन हुआ था। इस सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है—"मौर्यों के पतन का मुख्य उत्तर-दायित्व ऐसे अत्यधिक केन्द्रित शासन को, जिसमें सम्पूर्ण सत्ता कुछ व्यक्तियों के हाथों में थी, तथा राष्ट्रीय भावना के अभाव को दिया जाना चाहिए।"[2]

किन्तु कुछ विद्वान् डा० रोमिला थापर के उपरोक्त कथन से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि डा० थापर ने आधुनिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मौर्य-युग को समझने का प्रयास किया है। अनेक कठिनाइयों के कारण उस युग में किसी भी राज्य में राष्ट्रीय भावना नहीं थी। इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि भारत में राष्ट्रीय भावना का संचार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध

---

1. "The theory which ascribes the decline and dismemberment of the Mauryan empire to a *Brahmanical revolution, does not bear scruting.*"
—*H. C. Raychaudhari*

2. "The causes of the decline of the Mauryanss must in large part be attributed to a top heavy administration where authority was entirely in the hands of a few persons, and an absence of any national consciousness."
—*Dr. Romila Thapar*

से हुआ था। अतः डॉ० थापर का यह मत, कि राष्ट्रीय भावना के अभाव के कारण मौर्य-साम्राज्य का पतन हुआ, उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

9. **विदेशी आक्रमण**—उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप मौर्य-साम्राज्य जर्जरित हो चुका था। मौर्य-शासकों की अयोग्यता का लाभ उठाकर यूनानियों ने उनके साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। यूनानी आक्रमण ने जर्जरित मौर्य-साम्राज्य के पतन को अवश्यम्भावी बना दिया। डॉ० मजूमदार ने लिखा है—"वह शक्ति जिसने सिल्यूकस के सैनिक जत्थों को पीछे भगा दिया था, बैक्ट्रिया के छोटे-छोटे राजाओं से देश की रक्षा करने में अयोग्य प्रमाणित हुई।"

10. **अन्य कारण**—मौर्य-साम्राज्य के कर्मचारी अयोग्य और भ्रष्ट थे। उनमें वफादारी और स्वामिभक्ति के गुणों का नितान्त अभाव था। साम्राज्य की विशालता के कारण उस पर नियन्त्रण रखना बहुत कठिन था। मौर्य युग में आवागमन और संचार के साधनों के अभाव के कारण अशोक के उत्तराधिकारी विशाल साम्राज्य को संगठित रखकर उसकी रक्षा नहीं कर सके। इस प्रकार भ्रष्ट नौकरशाही, साम्राज्य की विशालता और आवागमन के साधनों के अभाव के कारण मौर्य-साम्राज्य का पतन हो गया।

मौर्य-साम्राज्य के पतन के लिए अशोक कहाँ तक उत्तरदायी था—कुछ विद्वानों ने अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार करने तथा उसकी अहिंसा की नीति को मौर्य-साम्राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण बताया है। उनका कथन है कि अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसके प्रचार और प्रसार में लगा दी। उसने सैनिक बल और प्रतिष्ठा के स्थान पर उदारता, दया, सहिष्णुता को अपने साम्राज्य का आधार बनाया। साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति लोकहित ने कार्यों में लगा दी और सैनिक महत्त्व को भुला दिया। अहिंसा के सिद्धान्त के साम्राज्य की सैन्य शक्ति का ह्रास कर दिया और युद्ध की प्रवृत्ति को समाप्त कर दिया। विद्वानों का मत है कि अहिंसा व्यक्ति के लिए व्यावहारिक हो सकती है, राज्य के लिए नहीं। उस समय भारत के पश्चिमोत्तर में बर्बर जातियाँ आक्रमण की ताक में खड़ी थीं और मौर्य-साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्त भी अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने के लिए उत्सुक थे। ऐसी स्थिति में देश को एक विशाल एवं संगठित सेना और कुशल सेना-नायकों की आवश्यकता थी, भिक्षु अथवा धर्म-प्रचारकों की नहीं। कमण्डल से शान्ति का अभिषेक हो सकता है, देश की रक्षा नहीं।

डा० भण्डारकर ने अशोक की धार्मिक नीति को मौर्य-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी बताते हुए लिखा है कि विश्व-बन्धुत्व की भावना को स्थापित करना ही अशोक के जीवन का लक्ष्य था। अशोक के धार्मिक प्रचार से विश्व-बन्धुत्व की भावना तो फैली, किन्तु राष्ट्रीयता और राजनीतिक महत्ता की नींव खिसक गई। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मानवता और विश्व-बन्धुत्व की भावना हिन्दू धर्म के आधार रहे हैं, किन्तु इन्हीं की प्राप्ति के प्रलोभन के कारण राजनीतिक विज्ञान समाप्त-सा हो गया और धर्म तथा दर्शन हिन्दू मस्तिष्क में घुसकर बैठ गये।

उन्होंने यह भी लिखा है—"अशोक के समय हिन्दू सभ्यता एक ऐसी सीमा पर पहुँच गई थी, जबकि भौतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों का पूर्ण सन्तुलन हो चुका था, किन्तु अशोक के धार्मिक उत्साह ने इस सन्तुलन को गड़बड़ कर दिया और भौतिक तत्त्वों को भुला दिया। परिणाम यह हुआ कि समाज की प्रगति रुक गई और पतन प्रारम्भ हो गया।" डा० आर० डी० बनर्जी का मत है—"मौर्य वंश के पतन के कारणों में अशोक स्वयं एक भारी कारण था। उसके आदर्शवाद और धार्मिक भावना ने सेना के अनुशासन को कड़ी चोट पहुँचाई। जब उसने धर्मविजय की भावना को जनता के सामने रखा और कहा कि उसके समय में 'भेरीघोष' ने 'धम्मघोष' का रूप ले लिया है, तो उसने स्वयं ही अपने साम्राज्य के पतन की घण्टी बजा दी थी।" डा० राजबली पाण्डेय ने लिखा है—"संसार की जैसी रचना है उसमें धर्म, संस्कृति कला आदि जीवन की बहुमूल्य कोमल निधियों की रक्षा करने के लिए भी कठोर सैनिक तैयारी, राजनीतिक दाँव-पेंच तथा जागरूकता की आवश्यकता होती है। अशोक की नीति से जीवन का कठोर अंग शिथिल पड़ गया। मौर्य सेना और राजनीति अनभ्यास से दुर्बल हो गई। धर्म-विजय का प्रभाव साधारण जनता पर अच्छा पड़ा, किन्तु अशोक की नीति मध्य और पश्चिमी एशिया के राजनीतिक कुचक्रियों और रक्तपिपासु लड़ाकुओं पर यह प्रभाव न जमा सकी। अशोक के महान् व्यक्तित्व के उठ जाने पर सैनिक दृष्टि से दुर्बल और राजनीतिक कूटनीति में असावधान भारत के ऊपर उनके आक्रमण प्रारम्भ हो गये।" डा० मुकर्जी के अनुसार—"अशोक ने जिस धर्म राज्य की स्थापना की थी, वह उसके जीवनकाल में ही लड़खड़ाने लगा, क्योंकि यह राज्य अधिकांश जनता की इच्छा पर निर्भर नहीं था।" जायसवाल महोदय का कथन है—"सिंहासन पर एक ऐसे व्यक्ति के बैठने से, जो स्वभाव से एक मठाधीश होने के योग्य था, इतिहास की शक्तियाँ शताब्दियों नहीं, बल्कि सहस्राब्दियों पीछे ढकेल दी गयीं।" डा० हेमचन्द्र रायचौधरी ने भी अशोक की अहिंसावादी नीति को मौर्य-साम्राज्य के पतन का कारण बताया है। उनके अनुसार अशोक की अहिंसा की नीति ने राज्य की सैन्य शक्ति और सैनिक मनोबल को दुर्बल कर दिया जिसके फलस्वरूप वह यूनानी आक्रमणों का सामना करने की स्थिति में नहीं रहा। उन्होंने यह भी लिखा है कि सम्राट् की सैनिक दुर्बलता प्रान्तीय सरदारों के द्वारा प्रजा के प्रति अत्याचार करने के कारण बनी जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न स्थानों पर जन-विद्रोह हुए।

विद्वानों का यह मत कि अशोक की अहिंसा की नीति के फलस्वरूप सैन्य शक्ति का ह्रास हुआ और इसी के परिणामस्वरूप मौर्य-साम्राज्य का पतन हुआ, उचित प्रतीत नहीं होता। यद्यपि अशोक ने कलिंग-युद्ध के पश्चात् 'भेरी घोष' के स्थान पर 'धम्म घोष' करने का संकल्प अवश्य किया और तत्पश्चात् उसने युद्ध भी नहीं किये, तथापि इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता कि अशोक ने अपनी सेना में कटौती कर दी थी। इस सन्दर्भ में प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का यह कथन उल्लेखनीय है—"अशोक का शान्तिवाद, युद्धत्याग और उत्तराधिकारियों को उसका

अनुकरण करने का उपदेश इत्यादि अव्यावहारिक बातें न थीं। उस समय के मानवीय उद्देश्यों और स्थिति के अनुसार अशोक ने ठीक ही किया था। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि अशोक ने सेना मे कमी कर दी अथवा साम्राज्य के प्रतिरक्षा के साधनों को कम कर दिया।'' यदि अशोक ने सैनिक महत्त्व को भुला दिया होता तो अपने शासन काल में उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। उसे अपने राज्यकाल में न किसी आन्तरिक विद्रोह का सामना करना पड़ा और न ही बाह्य आक्रमण का। ऐसा विदित होता है कि अशोक अहिंसा के सिद्धान्त का पोषक होने के साथ-साथ एक शक्तिशाली सम्राट् था। उसका सैन्य दल देश की सुरक्षा करने में सक्षम था। अपने तेरहवें शिलालेख में वह कहता है—''देवानाम्प्रिय अपने साम्राज्य की वनवासी जातियों को भी समझाता है और उनका सुधार करना चाहता है। किन्तु देवानाम्प्रिय केवल दयालु ही नहीं है, वह शक्तिशाली भी है, और वह उन्हें बताता है कि उन्हें पश्चात्ताप करना चाहिए, नहीं तो वे मारी जायेंगी।'' स्पष्ट हो जाता है कि अशोक की बौद्ध नीति को मौर्य-साम्राज्य के पतन का प्रधान कारण नहीं माना जा सकता। यदि उसने नरसंहार द्वारा विजय प्राप्त न कर अहिंसा के सिद्धान्त द्वारा मानव हृदय को जीतने का प्रयास किया तो उसके इस कार्य को अनुचित नहीं कहा जा सकता। वर्तमान आणविक युग में विनाश से बचने का एक ही साधन है और वह है अहिंसा का सिद्धान्त। डा० मुकर्जी का कथन है ''यदि अशोक की नीति मौर्य वंश के पतन का कारण है तो भारत को इसके लिए पश्चात्ताप की आवश्यकता नहीं है। उस साम्राज्य को कुछ समय पूर्व अथवा पश्चात् विनष्ट तो होना ही था, भले ही अशोक भी अपने दादा की तरह रक्तपात की नीति अपनाता। अशोक के प्रयत्नों के द्वारा सभ्य संसार के अधिकतर भाग पर भारत की आध्यात्मिक संस्कृति की गहरी छाप शताब्दियों तक अपने गौरव का स्मारक रही है और आज भी है तथा उसका प्रभाव वर्तमान समय में भी कम नहीं हुआ है।''

अशोक की बौद्ध नीति आंशिक रूप से मौर्य-साम्राज्य के लिए पतन के उत्तर-दायी है। किन्तु उसे मौर्य-साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण नहीं कहा जा सकता, उत्थान और पतन तो प्रकृति का नियम है। ''साम्राज्यों का जन्म होता है वे विकसित होते हैं तथा निश्चित समय में काल-कवलित हो जाते हैं।''[1] मौर्य-साम्राज्य का पतन अशोक की मृत्यु के लगभग पचास वर्ष बाद हुआ। यदि अशोक धर्म-प्रचार के स्थान पर सैन्य-शक्ति को ही महत्त्व देता, तो भी योग्य उत्तराधिकारियों के अभाव में मौर्य-साम्राज्य के पतन को नहीं रोका जा सकता था।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य-साम्राज्य के पतन के लिए कोई एक कारण उत्तरदायी नहीं था और न ही उसका पतन आकस्मिक हुआ। दीर्घ काल से अनेक

---

1. "Kingdoms are born, attain maturity and die within definite period."
—*Ibnkhaldum*

कारण उसके पतन का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। अशोक महान् के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता तथा अत्याचारी नीति, प्रान्तीय शासकों की जन-विरोधी नीति, दुर्बल केन्द्रीय शासन, राज्य सभा में दलबन्दी, करों की अधिकता और राजकोष की रिक्तता, स्थानीय स्वायत्तता की भावना, आवागमन के साधनों का अभाव, कर्मचारियों की भ्रष्टता, पुष्यमित्र की महत्त्वाकांक्षा आदि मौर्य-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी तत्त्व थे। अशोक की बौद्ध नीति साम्राज्य के पतन के लिए एक सहायक कारण अवश्य थी, क्योंकि अहर्निश धर्म प्रचार तथा अहिंसा की नीति के फलस्वरूप मौर्य-साम्राज्य की सैन्य-शक्ति में कुछ शिथिलता अवश्य आई। किन्तु अशोक की बौद्ध नीति को मौर्य-साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण नहीं माना जा सकता।

मौर्य शासन-प्रबन्ध

मौर्य वंश ने 321 ई० पू० से 184 ई० पू० तक शासन किया। उसमें चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक महान् जैसे प्रसिद्ध राजा हुए। चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक ने एक विशाल एवं शक्तिशाली साम्राज्य की नींव डाली। चन्द्रगुप्त मौर्य एक ओर अपने वीरत्व, साहस एवं जनकल्याणकारी कार्यों के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है और दूसरी ओर वह एक सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित शासन प्रणाली को जन्म देने के परिणामस्वरूप भारतीय इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। उसने जिस आदर्श शासन प्रणाली की स्थापना की, वह कुछ साधारण परिवर्तनों के बाद उसके परवर्ती शासकों के लिए अनुकरणीय रही। अशोक महान् ने अपने पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा संचालित शासन-प्रबन्ध में कुछ सुधार कर उसे अपनाया। अशोक द्वारा शासन में किए गए सुधारों में पहले के शासन-प्रबन्ध के मूल ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। चाणक्य के अर्थशास्त्र तथा यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के विवरण से चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन प्रबन्ध केन्द्रीय शासन, प्रांतीय शासन और स्थानीय शासन तीन भागों में विभक्त था।

केंद्रीय शासन

राजा तथा उसके परामर्शदाताओं द्वारा राज्य के केन्द्र (राजधानी) से संचालित शासन व्यवस्था को केन्द्रीय शासन कहते हैं। मौर्य काल में राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था।

सम्राट्—मौर्य शासन प्रणाली के अन्तर्गत सम्राट् केन्द्रीय शासन का प्रधान और राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी, न्याय तथा सेना सम्बन्धी सभी शक्तियां उसके हाथों में केन्द्रित थीं। इस प्रकार मौर्य सम्राट् की स्थिति निरंकुश शासक की भांति थी। किंतु वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक नहीं हो सका था। प्राचीन परम्पराएं और मंत्रि-परिषद् उसकी निरंकुशता पर अंकुश रखते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सम्राट् के आदर्शों और कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। उसमें कहा गया है—"निरंतर अपनी प्रजा के हित के लिए कार्य करना ही राजा का व्रत है; प्रशासन का काम ही उसके लिए श्रेष्ठ धार्मिक कल्प है; सबके साथ

समानता का व्यवहार करना ही उसका सर्वोच्च दान है।" कौटिल्य ने लिखा है—"प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, जो चीज रुचिकर हो, उसमें नहीं बल्कि प्रजा की भलाई में ही उसकी भलाई है। प्रजा के सुख में ही उसे अपना सुख खोजना चाहिए।" मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक महान् सदैव प्रजा हित चिन्तन में व्यस्त रहते थे। मेगस्थनीज ने लिखा है—"राजा दिन में नहीं सोता। केवल युद्ध के समय ही नहीं, बल्कि विवादों का फैसला करने के लिए भी वह राजप्रासाद से निकलता है। ऐसे अवसरों पर वह दिन-भर सभा में रहता है और इस काम में कोई विघ्न नहीं पड़ने देता, चाहे इस बीच में अपनी वैयक्तिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने का ही समय क्यों न आ जाए।" कर्टियस ने लिखा है—"राजप्रासाद में कोई भी आ-जा सकता है, चाहे राजा उस समय अपने बाल संवारने और वस्त्र पहनने में ही क्यों न व्यस्त हो। उसी समय वह राजदूतों से साक्षात्कार करता है, और अपनी प्रजा का न्याय करता है।" अशोक ने अपने षष्ठ अभिलेख में यह आज्ञा प्रसारित की है कि प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर चाहे वह भोजन कर रहा हो, अंतःपुर में एकांतगृह में हो, गोचर भूमि में, घोड़े की पीठ पर, खेल अथवा बगीचे में हो, सूचनावाहक उसे प्रजा की सूचना दे सकता है। द्वितीय कलिंग शिलालेख में वह कहता है—"सारे मनुष्य मेरी संतान हैं और जिस प्रकार मैं अपनी संतति को चाहता हूँ कि वह सब प्रकार की समृद्धि और सुख इस लोक और परलोक में भोगे, ठीक उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा की समृद्धि की कामना भी करता हूँ।" स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य सम्राटों का प्रमुख उद्देश्य चाणक्य के सिद्धान्तों के अनुरूप प्रजाहित चिंतन था।

राजा शासन का प्रधान था। युद्ध, न्याय, व्यवहार आदि के सम्बन्ध में उसका निर्णय अंतिम और अनिवार्य था। वह स्वयं कानूनों का निर्माण करता था। नियमों के उल्लंघनकर्त्ता को दण्डित किया जाता था। प्रशासकीय विभागों के अतिरिक्त राजा सैन्यदल का भी प्रधान होता था। युद्ध के समय वह सेना का नेतृत्व करता था और सेनापतियों के साथ मिलकर आक्रमण की योजनाएं बनाता था। वह स्वयं राज्य के उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करता था। चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र में काष्ठ निर्मित सुन्दर राजप्रासाद में निवास करता था, जिसकी मेगस्थनीज ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि प्राण-भय से राजा दो रात एक कमरे में नहीं सोता था तथा उसके भोजन की भी जाँच की जाती थी। विदेशी स्त्रियां, जो अस्त्र-शस्त्रों से सज्ज रहती थीं, राजा की अंगरक्षक सेना में थीं। चाणक्य ने राजा की दिनचर्या और कार्यों का विशद वर्णन किया है।

मंत्री—प्रशासकीय कार्यों में राजा के परामर्श हेतु मंत्रियों की नियुक्ति की जाती थी, चाणक्य के अनुसार उनकी संख्या तीन अथवा चार होनी चाहिए। इन मंत्रियों की एक उपसमिति होती थी जिसे 'मंत्रणा' अथवा 'मंत्रि-सभा' कहा जाता था। राज्य के ईमानदार और योग्य व्यक्तियों को इस पद पर नियुक्त किया जाता था। मंत्री का पद मंत्रि-परिषद के सदस्यों से ऊंचा होता था। सम्पूर्ण राजकीय

कार्यों का संचालन तथा राज्य के उच्च अधिकारियों की नियुक्ति में मंत्रियों से परामर्श किया जाता था। इन मंत्रियों में कभी-कभी राजा एक मंत्री को प्रधानमंत्री नियुक्त करता था।

मंत्रि-परिषद्—विशाल मौर्य-सम्राट के सुसंचालन हेतु मंत्रि-परिषद की व्यवस्था थी, जिसके सदस्यों की नियुक्ति स्वयं सम्राट् करता था। राज्य के विश्वस्त ईमानदार, बुद्धिमान और कर्त्तव्यपरायण लोगों को ही इसका सदस्य नियुक्त किया जाता था। मंत्रि-परिषद् के सदस्यों का वेतन 12,000 पण था। राज्य के महत्त्वपूर्ण कार्यों हेतु मंत्रि-परिषद् का अधिवेशन बुलाया जाता था। इन मंत्रियों की संख्या बारह से बीस तक होती थी। मंत्रि-परिषद् बहुमत से अपना निर्णय देती थी परन्तु यह राजा की इच्छा पर निर्भर था कि वह मंत्रि-परिषद् के निर्णय को माने अथवा नहीं, अर्थात् राजा मन्त्रि-परिषद् के निर्णय को मानने को बाध्य नहीं था। अर्थशास्त्र में मंत्रि-परिषद् के सदस्यों को अमात्य, महामात्य, अध्यक्ष आदि कहा गया है।

विभागीय व्यवस्था—राज्य के सफल संचालन के उद्देश्य से अठारह विभागों की स्थापना की गई थी, जिन्हें 'तीर्थ' कहा जाता था। प्रत्येक विभाग (तीर्थ) का प्रधान 'अमात्य' कहलाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राज्य के अठारह मुख्य पदाधिकारियों (अमात्यों) का उल्लेख मिलता है। अमात्यों के अधीन कर्मचारी होते थे। अमात्यों और कर्मचारियों की नियुक्ति स्वयं राजा करता था। अठारह अमात्यों का विवरण इस प्रकार है—(1) मंत्री और पुरोहित, (2) समाहर्ता (राजस्व मंत्री), (3) सन्निधाता (कोषाध्यक्ष), (4) सेनापति, (5) प्रदेष्टा (फौजदारी न्यायालयों का प्रधान), (6) युवराज, (7) व्यावहारिक (न्यायाधीश), (8) नायक (नगर का पुलिस अफसर), (9) कर्मांतिक (कारखानों का अधिकारी), (10) अंतर्वंशिक (अंतःपुर का रक्षक), (11) मंत्रिपरिषदध्यक्ष (परिषद् का प्रधान), (12) दण्डपाल (पुलिस का प्रधान, (13) दुर्गपाल (गृहरक्षक), (14) अंतपाल (सीमा रक्षक), (15) पौर (राजधानी का शासक), (16) प्रशास्ता (अक्षपटल नामक विभाग का प्रधान अधिकारी), (17) दौवारिक (राजप्रासाद का अधिकारी) और (18) आटविक, (बन-विभाग का अमात्य)।

उपरोक्त अमात्यों के अतिरिक्त सिक्के ढालने, नमक बनाने, राज्य-व्यापार खान, जंगल, शस्त्रालय, नापतोल, चुंगी, चरागाह, कृषि, व्यापार, बंदरगाह आदि के लिए अन्य अधिकारी होते थे। मौर्य-प्रशासन में नौकरशाही का विशेष महत्व था। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का कथन है—"मौर्य कालीन नौकरशाही अत्यन्त विशाल एवं बड़ी संख्या में थी और वह देश के प्रत्येक आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में व्याप्त थी।"[1]

---

1. "The Maurya bureaucray was vast, numerous and all pervading keeping itself in touch with all phases of economic and social life of country."

—*Dr. K. A. N. Sastri*

प्रान्तीय शासन—प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से विशाल मौर्य-साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था। राजधानी के समीप के प्रान्त सीधे सम्राट् के नियन्त्रण में होते थे। महत्त्वपूर्ण प्रान्तों में राजकुमारों को नियुक्त किया जाता था। अन्य प्रान्तों में योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था। प्रांत का शासक 'प्रांतपति' कहलाता था, जो सम्राट् द्वारा नियुक्त और पूर्णरूप से उसके प्रति उत्तरदाई होता था। चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में प्रांतों की संख्या स्पष्टतः विदित नहीं है। अशोक के समय मगध, उत्तरापथ, अवंति, दक्षिणापथ, कलिंग और मध्यदेश नामक छः प्रांतों का उल्लेख मिलता है।

नगर-प्रशासन—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगर-प्रशासन का विवरण भी मिलता है। उसमें नगर के प्रधान को 'नागरिक' अथवा 'नगराध्यक्ष' कहा गया है। डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ने लिखा है—"कौटिल्य ने एक पूरी प्रणाली बताई है, जिसके आधार पर नगरों का प्रशासन व्यवस्थित किया जाता था। यह प्रणाली पौर जीवन की विशिष्ट समस्याओं तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तैयार की गई थी।"

ग्रीक राजदूत ने पाटलिपुत्र नगर की व्यवस्था पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। उसके विवरण से विदित होता है कि पाटलिपुत्र नगर के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व पांच-पांच सदस्यों की छः समितियों पर निर्भर था। मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है कि पहली समिति औद्योगिक शिल्पों का निरीक्षण करती थी। दूसरी समिति विदेशियों की गतिविधि देखती और उनकी आवश्यकताओं का प्रबन्ध करती थी। तीसरी समिति जन्म-मरण का हिसाब रखती थी। चौथी समिति व्यापार से सम्बन्धित थी। पांचवीं समिति कारखानों में बनी वस्तुओं तथा मिलावट का निरीक्षण करती थी तथा छठी समिति बिक्रीकर वसूल करती थी।

पाटलिपुत्र नगर-प्रशासन की व्यवस्था के अध्ययन से यह विचार व्यक्त किया जा सकता है कि साम्राज्य के अन्य नगरों में भी इसी प्रकार की व्यवस्था रही होगी।

मौर्यकालीन नगरों की संख्या स्पष्टतः विदित नहीं है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत में नगरों की संख्या इतनी अधिक है कि वह ठीक-ठीक नहीं बताई जा सकती। मेगस्थनीज के अनुसार केवल आंध्रराज्य में ही 30 नगर थे। नगरों की अनेक श्रेणियां थीं। सबसे छोटा नगर, 'संग्रहण' कहलाता था जो दस गांवों के मण्डल का केन्द्र होता था। इसी प्रकार, कार्वटक (200 गांवों के मण्डल का केन्द्र), द्रोणमुख (चार सौ गांवों के मंडल का केन्द्र), स्थानीय (800 गांवों के मण्डल का केन्द्र), शहर, बन्दरगाह, और अंत में राजधानी होती थी। संग्रहण का सर्वोच्च-अधिकारी 'गोप' तथा स्थानीय का सर्वोच्च अधिकारी 'स्थानीक' कहलाता था।

ग्राम-प्रशासन— गाँव प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। गांव का प्रधान 'ग्रामिक' कहलाता था। 'ग्रामिक' अवैतनिक होता था और वह ग्रामवासियों द्वारा निर्वाचित किया जाता था। वह गांव के अनुभवी वयोवृद्धों से परामर्श कर शासन-

संचालन करता था। प्रत्येक गांव में राज्य की ओर से एक 'ग्राम भोजक' नामक कर्मचारी नियुक्त किया जाता था।

न्याय व्यवस्था और दण्ड-विधान—सम्राट् स्वयं न्याय-विभाग का प्रधान होता था। ग्राम, संग्रहण, द्रोणमुख और जनपद के न्यायालय होते थे। राजा को इस बात का अधिकार था कि वह किसी भी न्यायालय के निर्णय को रद्द कर सकता था। राजा नीचे के न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुनता था। उसका निर्णय अंतिम फैसला होता था।

मौर्यकाल में धर्मष्ठीय और कंटकशोधन नामक न्यायालयों का उल्लेख मिलता है। धर्मष्ठीय न्यायालयों में धर्मग्रंथों में प्रतिपादित नियमों के अनुरूप न्याय किया जाता था। कंटकशोधन न्यायालयों के संदर्भ में प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का मत है कि उनका स्वरूप अर्द्ध-न्यायिक था और उनकी प्रणाली वर्तमान पुलिस विभाग की प्रणाली से मिलती थी। कंटकशोधन न्यायालयों के कार्यों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"उनका उद्देश्य राज्य तथा जनता की उन समाज-विरोधी व्यक्तियों के दुष्कर्मों से रक्षा करना था, जो समाज के लिए कंटक बने हुए थे।" कुछ विद्वानों का कथन है कि धर्मष्ठीय न्यायालयों में दीवानी और कंटकशोधन न्यायालयों में फौजदारी मामले तय किये जाते थे।

चन्द्रगुप्त के समय में दण्ड-विधान कठोर था जिसकी पुष्टि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और मेगस्थनीज की 'इंडिका' के उद्धरणों से भी होती है। साधारण अपराध के लिए भी कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। गुप्तचरों के द्वारा अपराधियों का पता लगाया जाता था। अपराधों को स्वीकार करने के लिए शारीरिक यातनाएं दी जाती थीं। साधारण अपराधों के लिए अर्थ दण्ड का विधान था। शिल्पियों को अंगक्षति पहुँचाने, राज्यकर न देने तथा राजद्रोह के अपराध में मृत्यु दण्ड दिया जाता था। व्यभिचारी, विश्वासघाती और राजकीय सम्पत्ति को क्षतिग्रस्त करने पर अंग-भंग का दण्ड निर्धारित था। कठोर दण्ड व्यवस्था के कारण मौर्यकाल में अपराधों की कमी थी। चन्द्रगुप्त के समय की दण्ड-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए यूनानी लेखक स्ट्राबो ने लिखा है—"यदि कोई व्यक्ति झूठी गवाही देता था और उसका यह अपराध सिद्ध हो जाता था, तो उसके हाथ-पैर काट दिये जाते थे। यदि कोई आदमी किसी दूसरे व्यक्ति के किसी दूसरे अंग को बेकार कर देता था, तो उसका न केवल वही अंग काट लिया जाता था, बल्कि उसका एक हाथ मी काट लिया जाता था। यदि कोई आदमी किसी कारीगर के हाथ अथवा आंख को नष्ट कर देता था, तो उसे मृत्यु दण्ड दिया जाता था।" अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार की यन्त्रणाओं तथा अंग-विच्छेद का उल्लेख किया गया है। मेगस्थनीज लिखता है कि भारत वर्ष में चोरी बहुत कम होती है और वहां के लोग मुकदमेबाज नहीं होते हैं। कौटिल्य ने राजा को दण्ड का प्रतीक माना है।

पुलिस एवं गुप्तचर विभाग—आंतरिक शान्ति और सुव्यवस्था के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में पुलिस एवं गुप्तचर विभाग की व्यवस्था की गई थी।

अपराधी को दण्डित करना तथा जनसाधारण से राजकीय नियमों का पालन करवाना पुलिस का मुख्य दायित्व था। पुलिस के सिपाही को 'रक्षिन्' कहते थे।

अपराधों का पता लगाने के लिए राज्य में गुप्तचरों की व्यवस्था थी। गुप्तचरों में स्त्रियां भी होती थीं। गुप्तचर विदेशों में भी भेजे जाते थे। कौटिल्य ने संस्था (स्थायी रूप से एक स्थान पर रह कर कार्य करने वाले) और संचारा (भ्रमण-शील) नामक दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख किया है।

सैन्य-संगठन—चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेना के बल पर ही नंद वंश का अन्त किया और एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली, अतः वह सेना के महत्व को समझता था। उसने एक विशाल सेना संगठित की। यूनानी लेखकों के वृत्तांतों से विदित होता है उसकी सेना में 6 लाख पैदल, 30,000 घुड़सवार, 9,000 गज और 8,000 रथ थे। सेना के ये चारों अंग पांच-पांच सदस्यों की छः समितियों द्वारा संचालित होते थे।

मेगस्थनीज के अनुसार सेना पर युद्ध कार्यालय नियंत्रण रखता था, जिसके तीस सदस्य होते थे। इनमें पांच-पांच सदस्यों के छः मण्डल होते थे। ये छः मण्डल निम्नलिखित छः विभागों का कार्यभार संभालते थे—(1) पैदल सेना, (2) घुड़सवार सेना, (3) युद्ध रथ, (4) युद्ध के हाथी, (5) परिवहन रसद तथा सैनिक सेवा और (6) नौ सेना के सेनापति से सहयोग स्थापित करने वाला मण्डल। मेगस्थनीज लिखता है कि मौर्य समाज में किसानों के बाद सैनिकों की संख्या अधिक थी। राज्य से उनको नियमित वेतन मिलता है। सेना में सेनापति, प्रशास्ता, नायक और मुख्य के पद प्रमुख थे जिन्हें क्रमशः 48,000, 24,000, 12,000, 18,000 पण वेतन मिलता था।

चन्द्रगुप्त सम्पूर्ण सेना का प्रधान था। सेना का प्रबन्ध करने वाला अधिकारी 'बलाध्यक्ष' कहलाता था। उसके अधीन सेना के विभिन्न अंगों के अध्यक्ष और उच्च पदाधिकारी होते थे। सैनिकों के पास विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र होते थे। पैदल सैनिकों के पास धनुष-बाण, भाले और तलवार होते थे। घुड़सवारों के पास दो-दो भाले रहते थे। राज्य में अस्त्र-शस्त्रों का एक विशाल भण्डार था। स्मिथ महोदय ने चन्द्रगुप्त मौर्य के सैन्य-संगठन की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक विशाल स्थाई सेना की व्यवस्था की थी, जिसे सीधे राजकोष से वेतन दिया जाता था और जो अकबर की सेना से भी अधिक सुयोग्य थी।"[1]

आय-व्यय के साधन—राज्य की आय का मुख्य साधन भूमिकर था। सम्पूर्ण भूमि पर राज्य का स्वामित्व होता था। उपज का $\frac{1}{6}$ भाग राजकर के रूप में लिया जाता था। विशेष परिस्थितियों में $\frac{1}{4}$ अथवा $\frac{1}{8}$ भाग राजकर के रूप में वसूल किया जाता था। इसके अतिरिक्त वन-कर, चुंगी-कर, बिक्री-कर, लाइसेन्स से प्राप्त

1. "Chandra Gupta Maurya maintained a large standing army directly paid by the crown, more efficient than Akbar's military."
—*V. A. Smith*

धनराशि, खानों से प्राप्त धनराशि, अर्थ दण्ड के रूप में प्राप्त धन, जन्म-मरण कर, मकान कर, नमक कर, व्यापारियों से प्राप्त कर आदि राज्य की आय के साधन थे।

राज्य से प्राप्त आय को राजा राजप्रासाद, सेना, सरकारी कर्मचारियों के वेतन, दान, सड़क निर्माण, सिंचाई व्यवस्था, धार्मिक कार्य, लोकहितकारी कार्यों आदि पर खर्च करता था।

अशोक द्वारा सम्पन्न शासन-सुधार

अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष अशोक ने शक्तिशाली कलिंग-राज्य पर आक्रमण कर उसे पराजित कर डाला। युद्ध की विभीषिका, नरसंहार तथा भीषण रक्तपात ने उसे युद्ध से विमुख कर विशुद्ध मानव प्रेम की ओर उन्मुख किया। कलिंग-युद्ध में हृदय परिवर्तन के परिणामस्वरूप वह बौद्ध धर्म का महान उपासक और प्रचारक बन गया। बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए मौर्य शासन में कुछ परिवर्तन आवश्यक थे। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा संचालित शासन-प्रबन्ध के मूल ढांचे में अशोक ने कोई परिवर्तन नहीं किये। उसने लोकहित कार्यों और धर्मों के प्रचार हेतु, प्रशासकीय क्षेत्र में कुछ सुधार किये।

कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक का हृदय मानव सेवा के लिए द्रवित हो उठा। वह सभी मनुष्यों को अपनी सन्तान के समान समझता था। वह अपनी प्रजा की भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए निरंतर प्रयत्नशील था। द्वितीय कलिंग शिला लेख में वह कहता है—"सारे मनुष्य मेरी सन्तान हैं और जिस प्रकार मैं अपनी संतति को चाहता हूँ कि वह सब प्रकार की समृद्धि और सुख इस लोक और परलोक में भोगे ठीक उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा की सुख-समृद्धि की भी कामना करता हूँ।"

शासन की सुव्यवस्था के लिए अशोक ने उसमें अनेक सुधार किये। उसने राजुकों, प्रादेशिकों और युक्तकों को पांच अथवा तीन वर्ष में न्याय व प्रशासन की देख-भाल के लिए राज्य का दौरा करने को कहा। उसने 'धम्म महामातों' को भी नियुक्त किया, जिनका कार्य विविध सम्प्रदायों का अर्थ साधन और उनमें दान-वितरण का प्रबन्ध करना था। अशोक द्वारा नियुक्त उपरोक्त नवीन कर्मचारियों का प्रमुख कर्त्तव्य सम्राट् को राज्य की प्रजा की स्थिति के बारे में अवगत कराना तथा प्रजा की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के उपाय करना था। अपने पांचवें शिलालेख में अशोक कहता है कि सर्वप्रथम उसी ने 'धर्म महामात्य' (धम्म महामात) नामक पदाधिकारी नियुक्त किए। न्याय की शीघ्रता और सुव्यवस्था के लिए अशोक ने 'राजुकों' को न्यायिक अधिकार प्रदान किए। चतुर्थ स्तम्भ लेख में वह कहता है कि मैंने 'राजुकों को पुरस्कार और दण्ड वितरण में पूर्ण अधिकार दे दिए हैं।' तृतीय शिलालेख और प्रथम कलिंग लेख से ज्ञात होता है कि अशोक ने राजुकों, प्रादेशिकों और युक्तों के प्रति पांचवें वर्ष प्रजा के दुःख को दूर करने के लिए राज्य का दौरा करने का आदेश दिया। पंचम शिलालेख से विदित होता है कि 'धम्म महामातों' का कार्य दान वितरित करना तथा दण्ड-विधान की कठोरता को कम करना

था। अशोक ने घोषणा की कि चाहे वह किसी भी स्थिति में हो आवेदक उसे प्रजा की सूचना दे सकते हैं। अशोक के छठे शिलालेख से विदित होता है कि उसको प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर, चाहे वह भोजन कर रहा हो अथवा अंत:पुर में हो, अथवा गर्भागार में हो अथवा राजकीय पशुशाला अथवा घोड़े की पीठ पर हो, चाहे उद्यान में ही क्यों न हो, बराबर सूचना देते रहें। अशोक ने अपने राज्याभिषेक के वार्षिकोत्सव के शुभ अवसर पर बंदियों को मुक्त करने तथा प्राण दण्ड पाये हुए अपराधियों को तीन दिन का जीवन दान देने का विधान पारित किया। अशोक के पंचम स्तम्भ लेख से विदित होता है कि वह अपने राज्याभिषेक के वार्षिकोत्सव के अवसर पर बंदियों को मुक्ति प्रदान कर देता था। चतुर्थ स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि वार्षिकोत्सव के इस अवसर पर मृत्युदण्ड प्राप्त अभियुक्तों को तीन दिन का जीवन दान दिया जाता था। अशोक ने प्रजाहित के लिए सड़कें बनवा कर उसके दोनों ओर छायादार वृक्ष लगवाए, नहरें और कुएं खुदवाए। राज्य में यात्रियों के निवास हेतु विश्राम गृहों की व्यवस्था की गई। अशोक ने अपने राज्य में पशु वध पर रोक लगा दी, शिकार और विहार यात्राओं के स्थान पर उसने धर्म-यात्राओं का आदर्श प्रस्तुत किया।

निष्कर्ष—अन्त में यह कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से एक अत्यन्त विशाल साम्राज्य की नींव डाली। इस विशाल साम्राज्य की शासन व्यवस्था सुसंगठित थी। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा संचालित आदर्श शासन-व्यवस्था के मूल ढांचे में यद्यपि अशोक ने कोई परिवर्तन नहीं किया, तथापि अपनी शासन-व्यवस्था को उसने अधिक जनकल्याणकारी बनाने के उद्देश्य से कुछ सुधार अवश्य किये।

चन्द्रगुप्त मौर्य प्रथम भारतीय सम्राट् था जिसने एक विशाल साम्राज्य को प्रशासनिक एकता के सूत्र में बाँधने का सफल प्रयास किया। मौर्य शासन प्रबन्ध में जनकल्याण की भावना निहित थी। मौर्य सम्राटों का उद्देश्य राज्य में आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने के अतिरिक्त बाह्य आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा करना भी था। चाणक्य ने जिस शासन की आधारशिला रखी वह लोकहित-कारी थी। मौर्य शासन प्रबन्ध के फलस्वरूप भारत में राजनीतिक एकता की भावना को बल मिला, शांति और सुव्यवस्था की स्थापना हुई तथा जनसाधारण की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति हुई।

मौर्य कला

मौर्यवंश ने 137 वर्षों तक शासन किया। इस काल में कला के क्षेत्र में भी विकास हुआ। मौर्य काल अपनी सामरिक दक्षता, कुशल प्रशासन और साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से ही भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखता, वरन् कला के क्षेत्र सें अभूतपूर्व प्रगति के कारण भी उसका स्थान अविस्मरणीय है। इस प्रकार राजनीतिक एकता के साथ-साथ सांस्कृतिक उन्नति के रूप में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अशोक मौर्य से पूर्व मौर्य कलाकार कलाकृतियों के लिए प्रायः ईंट और लकड़ियों का प्रयोग करते थे। अशोक एक महान् निर्माता था। उसने पत्थरों पर कलाकृति अंकित करने की पद्धति को जन्म दिया। मौर्यकालीन कला तत्कालीन भवन, स्तम्भ, स्तूप और गुफाओं पर अंकित है। विद्वानों का मत है कि मौर्यकला ईरानी और यूनानी कला से प्रभावित हुई थी। मौर्यकला एक ऐसी कला है जिसका आधार भारतीय है, परन्तु उसने स्वतन्त्रतापूर्वक ईरानी तथा यूनानी कला से प्रेरणा और ज्ञान प्राप्त किया है। मौर्यकाल में शिल्पकला और मुख्यतः स्थापत्य कला का विकास हुआ।

राजप्रासाद और नगर निर्माण—यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राजप्रासाद का विशद वर्णन किया है। यह राजप्रासाद लकड़ी का बना हुआ था। विद्वानों ने उसकी काष्ठकला की प्रशंसा की है। चन्द्रगुप्त के राजप्रासाद को सूसा और इकबटना के राजप्रासादों से भी सुन्दर बतलाया गया है। मेगस्थनीज ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य एक सुन्दर प्रासाद में रहता था। यह प्रासाद पार्क के मध्य स्थित था। उसमें सुनहले खम्भे थे, जिन पर चाँदी की सुन्दर बेलें थीं। यह लकड़ी का बना था और यह ईरान की राजधानी सूसा से भी अधिक सजा था।

आधुनिक पटना में पुरातत्त्व सम्बन्धी खुदाई में लकड़ी के विशाल भवनों के खण्डहर मिले हैं जो मौर्य कालीन हैं। अशोक एक महान् निर्माता था। उसने पाटलिपुत्र में एक भव्य राजप्रासाद निर्मित करवाया जो सातवीं शताब्दी तक विद्यमान था। पाँचवीं शताब्दी (405-411 ई०) में भारत भ्रमण पर आने वाला चीनी यात्री फाह्यान उसकी कला की कुशलता को देखकर विस्मय में पड़ गया था। उसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक का राजप्रासाद यहाँ के निवासियों ने न बनाकर देवलोक के लोगों ने निर्मित किया था। इस राजप्रासाद में 225 स्तम्भों वाला अत्यधिक सुन्दर हाल था। इन स्तम्भों पर बहुत सुन्दर पालिश की गई थी।

अशोक को नगर निर्माण में अभिरुचि थी। उसने कश्मीर में श्रीनगर और नेपाल में ललित पाटन नामक नगर का निर्माण किया था। इन नगरों को खूब सुसज्जित किया गया था। नगर के चारों ओर ऊँची दीवार सुरक्षा के लिए बनी थी। इनमें बुर्जियां और दरवाजे होते थे। दीवार के बाहर गहरी खाई होती थी। मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र एक विशाल तथा भव्य नगर था। यह नगर गंगा और सोन नदी के संगम पर स्थित था। यह नगर समान्तर चतुर्भुज के आकार का बना हुआ था। यह नगर लगभग 16 किलोमीटर लम्बा और 3 किलोमीटर चौड़ा था। इस नगर में 570 बुर्जियां और 64 दरवाजे थे। दीवार के चारों ओर 185 मी० चौड़ी और 30 हाथ (44 फ़ीट) गहरी खाई थी।

स्तम्भ—अशोक द्वारा निर्मित पाषाण स्तम्भ मौर्यकालीन कला की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं। उसके द्वारा निर्मित स्तम्भों की संख्या 30 से 40 के मध्य बताई जाती है। इनकी स्थापना उसने पवित्र बौद्ध स्थलों तथा यात्रा मार्गों पर करवाई थी।

इन स्तम्भों का निर्माण चुनार के बलुए पत्थर से किया गया है और इन पर शीशे की भाँति चमकदार पालिश की गई है। ये स्तम्भ पत्थर की एक ही शिला को काटकर बनाये गये हैं। इन स्तम्भों की ऊँचाई चालीस से 50 फीट और वजन 50 टन तक है। 80 टन वजन के स्तम्भों का भी उल्लेख मिलता है। स्तम्भों पर पशुओं की आकृतियाँ और कमल का फूल बना हुआ है। स्तम्भ के तीन भाग थे—तना, गला और शीर्ष भाग। मुख्य भाग और शीर्ष भाग ताँबे की दो फीट चौड़ी पट्टी से जुड़ा होता था।

कला की दृष्टि से अशोक का सारनाथ स्तम्भ सर्वोत्कृष्ट है जिसे अशोक ने बौद्ध के 'धर्मचक्र प्रवर्तन' की स्मृति में निर्मित करवाया था। सारनाथ स्तम्भ में शीर्ष के नीचे गोल चौकी पर हाथी, बैल, सिंह और घोड़े की सजीव आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं, जो चारों दिशाओं के रूप में आँके गये हैं। इन चारों पशुओं के बीच में चार धर्मचक्र अंकित हैं, जो बौद्ध धर्म के 'धर्मचक्र प्रवर्तन' के प्रतीक हैं। इन चारों पशुओं और धर्मचक्रों के ऊपर शीर्ष पर सिंह की चार सुन्दर आकृतियाँ हैं, जिनके नेत्रों को दीप्तिमान करने के लिए उन पर मणियाँ लगाई गई थीं। अनेक कला मर्मज्ञों ने अशोक के स्तम्भों और उनकी अद्वितीय कला की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। स्तम्भों का वजन, उनको बिना जोड़ के बनाना, एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाकर गाढ़ना, उन पर धातु जैसी चमकदार पालिश करना तथा उन पर निर्मित पशुओं की सजीव आकृतियाँ आदि सभी कुछ अद्वितीय और सुन्दरतम हैं। डॉ स्मिथ के शब्दों में—"प्राचीन पशु-शिल्प कला द्वारा निर्मित इस सुन्दर कलाकृति से श्रेष्ठ अथवा इसके समान भी उदाहरण किसी अन्य देश में प्राप्त करना कठिन है।"[1] मौर्यकालीन स्तम्भों की कला की प्रशंसा करते हुए डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—"इन स्तम्भों के पत्थर को चिकना करके उसमें जो चमक पैदा कर दी गई है, वह आजकल के संगतराश पैदा नहीं कर पाते हैं। सम्राट की बताई हुई योजना के अनुसार बनाए गए इन स्तम्भों की आकृति, बनावट तथा सजावट में इतनी उच्चकोटि की निष्कलंक कला की प्रवीणता का परिचय मिलता है कि हम इन्हें सहज ही मौर्यकालीन कला की श्रेष्ठतम कृतियाँ कह सकते हैं। इनमें पशुओं तथा पेड़-पौधों के प्राकृतिक रूप को पत्थर पर अंकित कर देने की कला को बहुत उच्च स्तर पर पहुंचा दिया है। ये स्तम्भ इंजीनियरी की दृष्टि से भी सराहनीय हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक का वजन औसत से लगभग 50 टन और ऊँचाई 50 फुट है और उनमें से प्रत्येक एक ही चट्टान को काटकर बनाये गये हैं, जिससे पता चलता है कि कितनी बड़ी-बड़ी चट्टानों को काटकर इन स्तम्भों का रूप दिया गया होगा। फिर यह बात भी सराहनीय है कि किस प्रकार इतने भारी स्तम्भों को सैकड़ों मील दूर ले जाकर उन स्थानों पर लगाया गया, जो सम्राट् ने सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए इन स्तम्भों के लिए चुने थे, क्योंकि ये स्तम्भ सार्वजनिक

1. "It is difficult to find in any country an example of ancient animal sculpture superior or even equal to this beautiful work of art." —*V. Smith*

हित के उद्देश्य से ही बनवाये गये थे।" मौर्यकालीन स्तम्भों की कला से विदित होता है कि मौर्यकाल में वास्तुविद्या विशारद भी देश के इंजीनियरों से कम न थे तथा उनकी कारीगरी और छटा वचन-अगोचर है।

स्तूप—स्तूप बुद्ध अथवा महान् बौद्ध भिक्षुओं की अस्थियों के ऊपर बनाये जाते थे। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—"बौद्ध वास्तुकला में इस शब्द (स्तूप) का प्रयोग उस टीले के लिए किया जाने लगा, जिसमें बुद्ध के शरीर के अवशेष, उनकी चिता की भस्म, हड्डियां या दांत या प्रसिद्ध बौद्ध सन्तों अथवा गुरुओं के शरीर के अवशेष दफन हों।"

मौर्यकालीन स्तूप वास्तुकला के सुन्दर नमूने हैं। डा० मुकर्जी के शब्दों में—"स्तूप मौर्यकालीन भारत की वास्तुकला की एक महत्त्वपूर्ण देन हैं।" बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक ने 84 सहस्र (84,000) स्तूपों का निर्माण करवाया था। यह विवरण विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता है। अशोक की मृत्यु के कई सौ वर्ष पश्चात् बौद्ध अनुयायी चीनी यात्री फाह्यान और ह्वेन्सांग ने भारत यात्रा के समय अफगानिस्तान तथा भारतवर्ष के कई स्थानों पर अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों के दर्शन किये थे। स्तूप अर्द्धगोलाकार आकृति के होते थे। उनका आन्तरिक भाग कच्ची ईंटों से भरा होता था और बाहरी भाग पर पक्की ईंटें लगी होती थीं। उस पर पलस्तर होता था। स्तूप के ऊपर लकड़ी अथवा पत्थर का छत्र होता था। स्तूप की परिक्रमा करने के लिए उसके चारों ओर पद मार्ग बनाया जाता था। ह्वेन्सांग ने तक्षशिला में अशोक द्वारा निर्मित तीन स्तूप देखे जिनकी ऊँचाई लगभग 100 फीट थी। अपने यात्रा-वृत्तान्त में उसने अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों की कला की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। नेपाल की सीमा पर स्थित पिपरहवा के खण्डहरों में सर्वाधिक पुरातन स्तूप मिला है। इस स्तूप का उल्लेख करते हुए डा० मुकर्जी ने लिखा है कि यह स्तूप पत्थर के एक विशाल कक्ष के चारों ओर तथा उसके ऊपर ईंटों के एक ठोस गुम्बद के रूप में बनाया गया था। इसके लिए जो ईंटें प्रयोग की गई थीं वे 16 इंच लम्बी, 11 इंच चौड़ी तथा 3 इंच मोटी बड़ी-बड़ी शिलाएं थीं। विंसेंट स्मिथ ने इस स्तूप का वर्णन करते हुए लिखा है—"इस स्तूप में ईंटों की जुड़ाई बहुत ही श्रेष्ठ कोटि की है, ईंटें बहुत अच्छे ढंग से तथा एक-दूसरे पर बहुत अच्छी तरह जमाकर लगाई गयी हैं; पत्थर का विशाल कक्ष इससे अच्छा नहीं बनाया जा सकता था; और पुण्य अस्थियों के सम्मान में यहाँ सोने, चाँदी, मूंगे, स्फटिक तथा बहुमूल्य रत्नों के जो आभूषण रखे गये हैं, उनमें पत्थर तथा सोने की चीजें बनाने की कला में अत्यधिक निपुणता का प्रमाण मिलता है।" कला की दृष्टि से साँची का स्तूप सर्वोत्कृष्ट है। मूल स्तूप ईंटों द्वारा निर्मित किया गया था और उसका आकार छोटा था। बाद में उसके आस-पास पत्थर की चिनाई करके उसके आकार को दुगुना कर दिया गया। वर्तमान रूप में उसका व्यास लगभग 188 मीटर है। स्तूप के चतुर्दिक 5 मीटर ऊँचा और एक मीटर चौड़ा प्रदक्षिणापथ है। पृथ्वी की सतह पर पत्थर की वेष्टणी से घिरा एक अन्य प्रदक्षिणा पथ है। मूल वेष्टणी

प्रारम्भ में लकड़ी की बनी थी, किन्तु बाद में दो मीटर ऊँची पत्थर की वेष्टणी बना दी गई। प्रदक्षिणा पथ पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ निर्मित की गई हैं। वेष्टणी में चार तोरण हैं, जो बाद में निर्मित प्रतीत होते हैं।

गुहागृह—मौर्यकाल में कठोर पत्थर की चट्टानों को काटकर गुफाओं का निर्माण किये जाने की कला का जन्म हुआ। इन गुफाओं का निर्माण भिक्षुओं के निवास हेतु किया गया था। मौर्यकालीन सात गुफाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें से चार गुफाएं अशोक ने गया से सात मील दूर नागार्जुन तथा बराबर की पहाड़ियों पर बनवायी थीं, जिनमें सुदामा गुफा और लोमस ऋषि की गुफा बहुत सुन्दर हैं। शेष तीन गुफाओं का निर्माण मौर्य सम्राट् दशरथ ने नागार्जुन की पहाड़ियों पर करवाया, जिनमें गोपी गुफा विशेष उल्लेखनीय है। मौर्यकालीन गुफाओं में 'सुदामा गुफा' सर्वाधिक प्राचीन है। इसका निर्माण आजीवक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के लिए अशोक ने अपने शासन काल के बारहवें वर्ष में करवाया। इसमें दो कमरे हैं। अशोक ने अपने शासन काल के उन्नीसवें वर्ष कर्णचौपाल नामक दूसरी गुफा का निर्माण करवाया। यह गुफा एक आयताकार कमरे के रूप में है। नागार्जुन की पहाड़ियों पर तीन गुफाएं निर्मित की गई हैं। ये गुफाएं आजीवक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के लिए बनाई गई थीं। इन पर अशोक के पौत्र दशरथ के लेख उत्कीर्ण हैं। गोपी गुफा में एक लम्बा आयताकार हाल है और उसकी छत भी मेहराबदार है। गोपी गुफा 44 फीट लम्बी, 19 फीट चौड़ी और 10 फीट ऊँची है। अशोक द्वारा निर्मित गुफाओं को चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने भी देखा था। गुफाओं पर सुन्दर और चिकनी पालिश की गई थी। गुफाओं में लोमस ऋषि की गुफा कला की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। उसका प्रमुख द्वार बड़े कौशल से बनाया गया है और वह विशद अलंकरण से युक्त है। उसकी कोठरी अंडाकार है।

शिलालेख—अशोक मौर्य ने अपनी राज्याज्ञाओं, आदेशों, उपदेशों, धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तों तथा धर्म-विजय से जनसाधारण को अवगत कराने के लिए पत्थर की चट्टानों पर लेख उत्कीर्ण करवाये। ये शिलालेख मुख्यतः राजमार्गों पर लिखवाये गये, ताकि पथिक उन्हें पढ़कर उनका पालन कर सकें। उसके चौदह शिलालेख, दो लघु शिलालेख, कलिंग से प्राप्त दो शिलालेख, भब्रु शिलालेख, सात स्तम्भ लेख, पाँच लघु स्तम्भ लेख व तीन गुहालेख विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। इन शिलालेखों में खरोष्ठी, प्राकृत और ब्राह्मी भाषा का प्रयोग किया गया है। ये शिलालेख बड़े कलापूर्ण ढंग से स्पष्ट अक्षरों और लिपि में उत्कीर्ण किए गए हैं। चट्टानों को काटकर उन पर आदेशों और नैतिक नियमों को कलापूर्ण ढंग से अंकित कराना मौर्यकाल की एक विशेषता थी। ये शिलालेख भारतीय कला के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

मूर्तिकला—मौर्यकाल में मूर्तिकला के क्षेत्र में भी विकास हुआ। उस काल में मनुष्यों, यक्ष-यक्षिणियों, गंधर्वों, देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों आदि की प्रतिमाएं

बनाई जाती थीं। इन मूर्तियों में मथुरा के परखम नामक गाँव में प्राप्त मणिभद्र यक्ष की मूर्ति तथा दीदारगंज की यक्षिणी की मूर्ति उल्लेखनीय हैं।

अशोक के कारीगरों को पशुओं की आकृति बनाने की कला में महारथ हासिल था। सारनाथ स्तम्भ में जिस कला-कौशल से सिंह आदि पशुओं की सजीव आकृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं, वे चित्रकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। पशुओं के चित्र सजीव से जान पड़ते हैं। मौर्य-कालीन मूर्तियों की सजीवता, सुन्दरता, आकृति, वेशभूषा और अलंकरण को देखने से यह आभास होता है कि मूर्तिकला के क्षेत्र में मौर्ययुग में अभूतपूर्व उन्नति हुई।

मूल्यांकन—भारतीय कला के विकास के इतिहास में मौर्यकला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ में यह कला काष्ठ प्रधान थी। किन्तु बाद में अशोक मौर्य ने अपने शासन काल में चट्टानों पर लेख अंकित कर, पशुओं की सजीव सी आकृतियाँ और गुहागृहों का निर्माण कर कला के विकास को एक कदम और आगे बढ़ाया। अशोक के काल में पाषाण कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। डा० विन्सेंट स्मिथ के शब्दों में—"कठोर पाषाण को चिकना करने की कला इस पूर्णता तक पहुँच गई थी कि यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग की कलात्मक शक्तियों के लिए यह एक खोई हुई कला ही है।" मौर्यकालीन अधिकांश कलाकृतियाँ बलुए पत्थर की बनी हैं तथा उन पर एक सुन्दर चमकदार पालिश की गई है।

कुछ विद्वानों का मत है कि मौर्यकला में तत्कालीन लोक जीवन और जन-साधारण के विचारों की अभिव्यक्ति न होकर सम्राट् के जीवन-चरित्र, आदर्शों, धार्मिक विचारों और सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मौर्यकला ने अपने को लोकजीवन और जनसाधारण के विचारों से दूर रखकर सम्राट् के संरक्षण तक सीमित रखा। इस सम्बन्ध में डा० निहाररंजन रे का यह कथन उल्लेखनीय है—"यह (मौर्यकला) वस्तुतः ग्रीष्म-भवन का एक पादप था जिसका पोषण राज्य दरबार की इच्छा, देख-रेख और संरक्षण पर अवलंबित था तथा वह दरबार स्वयं विदेशी संस्कृति और विचारधारा के प्रभाव से अभिभूत था। कालान्तर में शीशे की दीवारें नष्ट हो गयीं और वह पौधा भी मुरझा कर बिखर गया।"

इतिहासकारों का कथन है कि मौर्यकला यूनानी तथा ईरानी कला से प्रभावित हुई है। भारतीय कला के विकास में मौर्यकला का कोई योगदान नहीं रहा और वह केवल मौर्ययुग तक ही सीमित रही। क्रैमरीश ने लिखा है—"भारतीय कला के शरीर में मौर्य मूर्तिकला की केवल स्वल्प महत्ता है।" मौर्यकला में न आत्मिक प्रेरणा थी और न ही वह भारतीय कला को प्रेरणा ही प्रदान कर सकी। मौर्यकला को अस्थाई और राजा की इच्छाओं तक सीमित रहने वाली बताते हुए डा० निहाररंजन रे ने लिखा है—"अशोक की धम्म विजय की भाँति इस कला की दिशा का निर्माण भी मुख्यतया एक व्यक्ति की इच्छा, रुचि और पसन्द के कारण हुआ। दोनों में ही सामूहिक सामाजिक इच्छा, रुचि और पसन्द की गहरी जड़ों का

अभाव था। इस कारण दोनों को शक्तिशाली मौर्य दरबार की चहारदीवारी में सीमित रहकर साथ-साथ रहना पड़ा और दोनों का जीवन एकाकी और लघु रहा।"[1] कुछ विद्वानों का यह मत है कि मौर्यकला का प्रेरणा स्रोत बौद्ध धर्म था, जिसमें सत्यांश है।

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद यह कहा जा सकता है कि भारतीय कला के विकास में मौर्यकला का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। अशोक ने शिलाखण्डों पर कलाकृतियाँ अंकित करने की पद्धति को जन्म दिया। विशाल शिलाखण्डों को तराश कर उन पर सजीव-सी आकृति बनाना, उन पर धातु जैसी चमकीली और चिकनी पालिश कर लेख अंकित करना, चट्टानों को काटकर गुफाएं निर्मित करना आदि कला के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखती हैं। मौर्यकला के फलस्वरूप बौद्ध धर्म, जो एक प्रान्तीय धर्म था, विश्व धर्म के रूप में परिणत हो गया। पत्थरों पर कलाकृतियाँ उत्कीर्ण किये जाने से कला के क्षेत्र में स्थायित्व आया। अन्त में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि मौर्यकला एक समन्वित कला है, जिसमें यूनानी और ईरानी कला का सम्मिश्रण है तथा भारतीय कला के विकास के इतिहास में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मौर्यकालीन सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा

मौर्यकालीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री है। कौटिल्य के अर्थशात्र, मेगस्थनीज के वृत्तांत, अशोक के अभिलेखों तथा तत्कालीन साहित्यिक ग्रथों से मौर्यकालीन समाज और संस्कृति पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। ऐतिहासिक विवरण से ज्ञात होता है कि उस काल में वर्ण-व्यवस्था कठोर स्वरूप ले चुकी थी और कला के क्षेत्र में असाधारण प्रगति हुई।

सामाजिक दशा—मौर्यकालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था तथा वर्णाश्रम धर्म की प्रधानता थी। वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप पहले से जटिल हो गया था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। मगध में मौर्यवंश की स्थापना का श्रेय चाणक्य को है। अतः स्वाभाविक है कि कट्टर ब्राह्मणपंथी चाणक्य ने जिस राज्य की नींव डाली उसमें वर्ण-व्यवस्था की प्रधानता होती। एफ० डब्ल्यू० टॉमस का कथन है—"मौर्य साम्राज्य की उत्पत्ति एक ब्राह्मण से तथा एक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुई, और कौटिल्य के

1. "The main lines of this art, just as the main lines of Ashoka's policy of Dharmavijay were chiefly determined by individual will, taste and preference. Both lacked deeper roots in the collective social will, taste and preference and were therefore, destined to have isolated and short lines congenial and coexistent with and within the four limits of the powerful Mauryan court." —*Dr. Niharranjan Ray*

नेतृत्व में उस साम्राज्य ने समाज का नियमन वर्णाश्रम धर्म के नियमों के अनुसार किया।" समाज में ब्राह्मणों को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। मेगस्थनीज ने लिखा है कि ब्राह्मण ऐसे दार्शनिक होते थे जिन्हें समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था, परन्तु संख्या की दृष्टि से वह सबसे छोटा वर्ग था। स्ट्राबो ने 'ब्रेखमन' और 'सरमेन' नामक दो प्रकार के दार्शनिकों का उल्लेख किया है। ब्राह्मणों का प्रमुख कार्य अध्ययन-अध्यापन था। वर्ण व्यवस्था की कठोरता के कारण व्यवसाय परिवर्तन निषिद्ध हो चुके थे। इस संदर्भ में मेगस्थनीज ने लिखा है—"कोई सैनिक कृषक नहीं बन सकता था।" वह यह भी लिखता है—"किसी को अपने वर्ण से बाहर विवाह करने की अनुमति नहीं थी।" मेगस्थनीज ने चार वर्णों के स्थान पर सात वर्गों में मौर्यकालीन समाज का विभाजन किया है। पहला वर्ग ब्राह्मण और दार्शनिकों का था। मेगस्थनीज के अनुसार इस वर्ग के लोगों को समाज में विशेष स्थान प्राप्त था। दूसरा वर्ग कृषकों का था जिनकी संख्या सर्वाधिक थी। कृषक गाँव में रहते थे और अत्यन्त सरल होते थे। तीसरा वर्ग शिकारियों और पशुपालन करने वालों का था। ये लोग तम्बुओं में निवास करते थे। इनका प्रमुख कार्य आखेट खेलना और राज्य के लिए हाथी पकड़ना था। चौथा वर्ग शिल्पियों का था। उन्हें राज्य की ओर से विशेष संरक्षण प्राप्त था। पांचवां वर्ग क्षत्रिय योद्धाओं का था। कृषकों के बाद इन्हीं की संख्या सर्वाधिक थी। वे युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहते थे और राज्य की ओर से वे अस्त्र-शस्त्र से सदैव सज्ज रहते थे। छठा वर्ग निरीक्षकों का था। वे सम्राट द्वारा राज्य की सूचना देने के लिए नियुक्त किये जाते थे। सातवां वर्ग मंत्रियों का था। राज्य के प्रतिष्ठित पदों पर उन्हें नियुक्त किया जाता था। चार वर्णों के स्थान पर सात वर्गों का उल्लेख करना इस बात को स्पष्ट कर देता है कि मेगस्थनीज मौर्यकालीन सामाजिक व्यवस्था को भली भांति नहीं समझ पाया था। वह वर्ण और व्यवसाय के अन्तर को नहीं समझ सका।

रहन-सहन—मौर्यकालीन लोग अन्न, फल और मांस खाते थे। राज्य की अधिकांश जनता मांस खाती थी। शाही भोजनालय में मांस बनता था। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने पर राज महल और राज्य में पशुवध बन्द करवा दिया गया। यूनानियों के अनुसार भारतीयों का मुख्य आहार भात था। भात के ऊपर मसालेदार मांस रखा जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से विदित होता है कि मदिरापान भी किया जाता था। मदिरापान समाज में बुरा समझा जाता था। उत्सवों के अवसर पर मदिरापान की परम्परा थी। यूनानी लेखकों से विदित होता है कि प्रत्येक आदमी अकेले ही भोजन करता था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भोजन करते समय प्रत्येक भारतीय के सामने तिपाई की शक्ल की एक मेज रखी जाती थी। मेज पर सोने की थाली में भोजन परोसा जाता था। विधिपूर्वक तैयार किये गए बहुत से भोजन भारतीय करते थे। लोगों का जीवन सरलता और पवित्रता पर आधारित था। मेगस्थनीज ने लिखा है—"उच्चकोटि की सरलता भारतीय चरित्र की विशेषता थी। किसी भी भारतीय को कभी झूठ बोलने के अपराध में दण्ड नहीं मिला।" उसने

यह भी लिखा है कि भारतीय मुकदमेबाज नहीं होते और किसी दूसरे के यहाँ धरोहर रखने में भी गवाह की आवश्यकता नहीं पड़ती।

मौर्यकालीन लोग सूती वस्त्र धारण करते थे। मेगस्थनीज के अनुसार भारत वासियों के वस्त्रों में नाना प्रकार के चटकीले रंग होते थे। वे सोना, हीरा, जवाहरात के आभूषण पहनते थे। धूप से बचने के लिए छाते का प्रयोग किया जाता था। निआर्कम ने सिंधु नदी के तटीय प्रदेशों के निवासियों की विशेष वेषभूषा का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे चमकदार सूती वस्त्र पहनते थे। समाज में अमोद-प्रमोद के सामानों की प्रधानता थी। मनोरंजन के लिए विहार, यात्राएं, मल्लयुद्ध, रथदौड़, खेल-कूद, नृत्य और संगीत का आयोजन किया जाता था।

स्त्रियों की दशा—मौर्यकाल में स्त्रियों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। उनके साथ दुर्व्यवहार करने वाले को राज्य की ओर से दण्डित किया जाता था। किन्तु समाज में स्त्रियों को ऋग्वैदिक काल जैसी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। वे संतान उत्पन्न करने की साधन मात्र समझी जाती थीं। उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने की छूट नहीं थी। मेगस्थनीज ने लिखा है कि स्त्रियों को दार्शनिक ज्ञान देना उचित नहीं समझा जाता था। समाज में सती प्रथा भी विद्यमान थी। यूनानी लेखकों ने कठ जाति में प्रचलित सती प्रथा का उल्लेख किया है। स्त्रियों को राजकीय सेवा में भी नियुक्त किया जाता था। मेगस्थनीज ने राजा की अंगरक्षक सेना में स्त्रियों का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से विदित होता है कि स्त्रियां गुप्तचरों का कार्य भा करती थां। मौर्यकाल में वेश्यावृत्ति का भी प्रचलन था। वर्ण व्यवस्था के कारण अंतर्जातीय विवाह निषिद्ध थे। चाणक्य ने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है। मेगस्थनीज के अनुसार पुरुषों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। उसने एक जोड़ी बैल लेकर कन्या के विवाह का वर्णन किया है। यह आर्ष विवाह पद्धति कहलाती है। निआर्कस ने स्वयंवर प्रथा की भाँति एक अन्य विवाह पद्धति का उल्लेख किया है।

दासप्रथा—मौर्यकाल में दास-प्रथा भी थी। दास वर्ग में अनार्य लाग आते थे, जिनका-क्रय विक्रय किया जाता था। दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था और अपने स्वामी को मूल्य चुकाने पर दास स्वतंत्र हो सकते थे। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत में दास-प्रथा नहीं है। एरियन का कथन है—"सभी भारतवासी स्वतन्त्र हैं, और उनमें से कोई भी दास नहीं है।" किंतु यूनानी लेखकों का यह कथन उचित प्रतित नहीं होता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और अशोक मौर्य के अभिलेखों में दासों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कौटिल्य ने लिखा है कि किसी भी आर्य को दास नहीं बनाया जाना चहिए। अशोक के अभिलेखों में दासों के साथ उचित व्यवहार करने को कहा गया है। दास को अपने पिता की सम्पत्ति में अधिकार का विधान था। दासों के साथ उचित व्यवहार होने के कारण मेगस्थनीज दासों और जन-साधारण में अन्तर समझ नहीं पाया होगा।

धार्मिक दशा—मौर्य शासन में ब्राह्मण धर्म की प्रधानता थी। मौर्य शासक धार्मिक सहिष्णु थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में वैदिक धर्म का प्रभाव रहा। अशोक मौर्य ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर संपूर्ण शक्ति उसके प्रचार और प्रसार में लगा दी। अशोक से पूर्व राज्य में यज्ञों की प्रधानता थी जो हिंसक और व्ययसाध्य थे। समाज में मंत्र और जादू-टोना आदि का बाहुल्य था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दुर्गा, विष्णु, इन्द्र, शिव, अश्वि, अदिति, अनुमति, सरस्वती, सविता, अग्नि, सोम, कृष्ण आदि देवी देवताओं की उपासना का उल्लेख मिलता है।

ऐतिहासिक साक्ष्यों से विदित होता है कि मौर्यकाल में जैनधर्म, बौद्धधर्म, आजीवक तथा निर्ग्रन्थ आदि सम्प्रदायों का विशेष महत्त्व था। अशोक ने अपने शासन-काल में धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देते हुए सभी धर्मों के अनुयाइयों को समान रूप से दान दिया।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मूर्तियों और मन्दिरों का उल्लेख मिलता है। उस समय मूर्ति पूजा की प्रथा प्रचलित थी। मूर्ति निर्मित करने वाले लोग 'देवता कारू' कहलाते थे। बौद्ध धर्म के अनुयाई बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियां बना कर उनकी पूजा करते थे। नदियों को पवित्र समझा जाता था। मेगस्थनीज ने गंगा को पवित्र नदी कहा है। मौर्यकाल में जनसाधारण का जीवन धर्ममय था। जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना था। उस काल में मंत्रों एवं जादू टोने का विशेष प्रचलन था। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि राजा को मंत्रों, औषधियों तथा जादू-टोने की सहायता से अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए और शत्रु की प्रजा को हानि पहुँचानी चाहिए। इन मंत्रों द्वारा निम्न कोटि के देवताओं का आह्वान किया जाता था।

आर्थिक दशा—प्राचीनकाल से ही भारत कृषि प्रधान देश रहा है। मौर्यकाल में लोग प्रधानतया कृषि पर निर्भर थे। कृषि और कृषकों की सुरक्षा की व्यवस्था थी। राज्य की ओर से सिंचाई की व्यवस्था थी। मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है कि अधिकांश भूमि पर सिंचाई की जाती थी और वर्ष में दो फसलें उगाई जाती थीं। अर्थशास्त्र में उस काल की चार प्रकार की सिंचाई व्यवस्था का उल्लेख मिलता है—(1) हाथों से सिंचाई, (2) कंधों पर पानी ले जाकर सिंचाई, (3) नदियों तथा तालाबों से पानी उछाल कर सिंचाई और (4) यन्त्रों द्वारा सिंचाई। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सुदर्शन झील का निर्माण किया। अशोक ने अनेक नहरें निर्मित करवाईं। भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए विभिन्न खादों का प्रयोग किया जाता था। कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भी उस काल के लोगों का मुख्य व्यवसाय था। राज्य की ओर से पशुओं की वृद्धि और रक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। पशुओं के लिए ग्वालों और चरागाहों की व्यवस्था थी। राज्य को खानों से आय प्राप्त होती थी। सोना, चांदी, टीन आदि धातुओं की खानें थीं। समुद्र से मोती निकाले जाते थे।

मौर्यकाल में उद्योग-धंधों के क्षेत्र में भी विकास हुआ। हथियार, खेती के औजार, जहाज आदि बड़ी संख्या में निर्मित किये जाते थे। पाटलिपुत्र में तैयार माल

और उसकी जांच के लिए विशेष प्रकार की समितियां गठित की गई थीं। सूती वस्त्र और आभूषणों का समाज में विशेष प्रचलन था। कपास की खेती होती थी। वस्त्र बनाने में सन का भी प्रयोग किया जाता था। मगध और काशी वस्त्रों के प्रसिद्ध केन्द्र थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऊनी कपड़ों का भी उल्लेख मिलता है। बंगाल में रेशमी कपड़े बनाये जाते थे। चमड़े का उद्योग भी था। शिल्पियों की अंग क्षति करने वाले को मृत्यु दण्ड दिया जाता था।

मौर्यकाल में आंतरिक और बाह्य व्यापार में उन्नति हुई। पाटलिपुत्र में पांच सदस्यों की एक समिति राज्य के व्यापार की देखरेख करती थी। बेईमानी और मिलावट करने वाले व्यापारी को कठोर दण्ड दिया जाता था। राज्य में बड़े मार्गों के अतिरिक्त छोटे-छोटे मार्ग भी थे, जहाँ से माल विभिन्न नगरों को पहुँचाया जाता था। मौर्यकाल में विदेशी व्यापार भी प्रगति पर था। पश्चिमी देशों के साथ भारतीयों का व्यापार यूनानी आक्रमण के बाद से ही प्रारम्भ हो गया था। पाटलिपुत्र के बाजारों में एशिया तथा यूरोप के अनेक देशों के व्यापारियों की भीड़ लगी रहती थी। सामुद्रिक मार्गों से विदेशों के साथ जहाजों के द्वारा व्यापार किया जाता था। मौर्यकाल में सिक्कों का प्रचलन भी था। सिक्के बेडौल और भद्दे आकार के होते थे। मौर्यकाल में निर्मित बड़े-बड़े राजमार्गों ने व्यापार को प्रोत्साहन दिया।

शिक्षा और साहित्य—मौर्यकाल में शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में विकास हुआ। राज्य की ओर से विद्यालय खोले गये थे। लोग पढ़ना-लिखना जानते थे। अशोक मौर्य के अभिलेखों में जन-साधारण के लिए उत्कीर्ण धार्मिक उपदेश इस तथ्य के द्योतक हैं कि मौर्यकालीन जनता शिक्षित थी। तक्षशिला विश्व विद्यालय उस काल में ज्ञान का प्रमुख केन्द्र था। वहाँ विद्यार्थी को विविध प्रकार की शिक्षाएँ दी जाती थीं। चाणक्य ने भी चन्द्रगुप्त को आठ वर्षों तक वहीं शिक्षा दिलाई। गुरुकुलों, मठों और विहारों में शिक्षा दी जाती थी।

मौर्यकाल में संस्कृति और पाली भाषा के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। अशोक ने पाली भाषा को विशेष महत्व दिया। उसने अपने अभिलेख पाली भाषा में उत्कीर्ण करवाए। उस काल में ब्राह्मी लिपि और खरोष्ठी लिपि का प्रयोग किया जाता था। मौर्यकाल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है। विद्वानों का मत है कि कुछ सूत्रों तथा धर्म-शास्त्रों की रचना इसी युग में हुई। यह युग रामायण और महाभारत के परिवर्द्धन का काल भी माना जाता है। इसी युग में बौद्ध तथा जैन धर्म ग्रंथों का संकलन भी हुआ। इस काल का प्रसिद्ध कवि सुबंधु पहले अंतिम नंद सम्राट् और तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त और बिंदुसार का मंत्री रहा। उसने वासवदत्ता नाट्य धारा नामक नाटक की रचना की।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मौर्य कौन थे ? चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारम्भिक जीवन का वर्णन कीजिए।
2. चन्द्रगुप्त मौर्य के कार्यों एवं उसकी सफलताओं का वर्णन कीजिए।

3. चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन-चरित एवं उपलब्धियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4. चन्द्रगुप्त मौर्य की महत्ता के कारण समझाइए।
5. चन्द्रगुप्त मौर्य का मूल्यांकन कीजिए।
6. "चन्द्रगुप्त मौर्य भारत का प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् था।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
7. "चन्द्रगुप्त एक महान् विजेता था, परन्तु वह उससे भी महान् शासन-प्रबंधक था।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
8. "चन्द्रगुप्त अपने समय का सबसे शक्तिशाली शासक और राजाओं की श्रेणी में एक अत्यन्त चमकदार नक्षत्र था।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
9. "सम्राटों के काल में कठिनाई से ही कोई विवरण मिलता है जिसकी तुलना मनुष्य एवं शासक दोनों रूपों में अशोक से की जा सके।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
10. अशोक की महत्ता के कारण बताइए।
11. आप अशोक को महान् क्यों समझते हैं ?
12. सम्राट् अशोक के चरित्र का मूल्यांकन कीजिए।
13. अशोक की धार्मिक नीति एवं मानवतावादी कार्यों की विवेचना कीजिए।
14. अशोक के धम्म के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए। स्वदेश और विदेशों में उसके प्रचार के लिए अशोक ने कौन-कौन से साधन अपनाए ?
15. मौर्य शासन प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। अशोक ने उसमें कौन-कौन से सुधार सम्पन्न किए ?
16. मौर्यवंश के पतन के कारणों का निरूपण कीजिए।
17. मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए अशोक कहाँ तक उत्तरदायी था ?
18. मौर्य काल की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
19. मौर्य कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक दशा पर प्रकाश डालिए।

15

शुंग, कण्व और सातवाहन वंश

उत्तराधिकारियों की अयोग्यता के कारण दीर्घकालीन शासन के उपरान्त मौर्य-साम्राज्य का पतन हो गया। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारतवर्ष की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई। सम्पूर्ण मौर्य-साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् जिन राज्यों का अस्तित्व प्रकाश में आया, उनमें शुंग, कण्व और सातवाहन वंश के राज्य उल्लेखनीय हैं।

शुंग वंश

शक्तिशाली मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् 184 ई० पू० में पाटलिपुत्र पर ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र शुंग ने अपना अधिकार कर लिया। पुष्यमित्र शुंग अन्तिम मौर्य नरेश बृहद्रथ का सेनापति था। एक दिन सेना के निरीक्षण के समय पुष्यमित्र ने उसका वध कर स्वयं को मगध का सम्राट् घोषित कर दिया। पुष्यमित्र द्वारा बृहद्रथ की हत्या किए जाने का उल्लेख पुराणों और बाणभट्टकृत हर्षचरित में मिलता है।

पुराणों में यह उल्लेख मिलता है कि 184 ई० पू० में मौर्य वंश का अन्त कर पुष्यमित्र शुंग मगध की राजगद्दी पर आसीन हुआ। हर्षचरित में उल्लिखित है कि मौर्य सम्राट् बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सेना का निरीक्षण करते समय उसका वध कर डाला। बाणभट्ट के हर्षचरित में यह विवरण मिलता है— "जब नीच पुष्यमित्र सेनापति ने अपने स्वामी बृहद्रथ मौर्य को सेना का प्रदर्शन देखने का बहाना बनाकर बुलाया तो उसका वध कर दिया, क्योंकि बृहद्रथ ने अपनी राज्यारोहण शपथ का ठीक तरह पालन नहीं किया था।" इस सन्दर्भ में डॉ० रायचौधरी ने लिखा है कि मगध के अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ के शासनकाल में ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र शुंग मगध साम्राज्य का सेनापति था। उसने ब्राह्मणों तथा सेना की सहायता से दुर्बल एवं विलासी शासक बृहद्रथ का उसके सैनिकों के सामने

वध करके मगध-साम्राज्य पर अधिकार कर लिया और एक नये राजवंश की स्थापना की। सेना के सम्मुख सेनापति पुष्यमित्र द्वारा बृहद्रथ की हत्या की इस घटना पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"सम्भवतः बृहद्रथ अत्यन्त दुर्बल राजा था और पुष्यमित्र को सारी सेना की पूरी सहायता उपलब्ध थी, नहीं तो सेना के सामने ही खुले मैदान में वह अपने स्वामी को मार न सका होता।" पुष्यमित्र शुंग द्वारा राजा बृहद्रथ के वध के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उसके समय में यवनों ने भारत पर आक्रमणों की झड़ियाँ लगा दी थीं। दुर्बल शासक होने के कारण बृहद्रथ उनके आक्रमणों को रोकने में निष्फल सिद्ध हुआ। उसकी इस अयोग्यता के कारण जनसाधारण में उसके विरुद्ध असन्तोष व्याप्त था। इस जन-असन्तोष का लाभ उठाकर पुष्यमित्र ने बृहद्रथ की हत्या कर दी।

इस प्रकार विदित होता है कि मौर्य सम्राट् बृहद्रथ एक दुर्बल शासक था। सेना का निरीक्षण करते समय उसके सेनापति ने उसका वध कर दिया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि बृहद्रथ की हत्या एक पूर्व नियोजित षड्यन्त्र का परिणाम था। बिना पूर्व-निर्धारित षड्यन्त्र के सेना के सम्मुख राजा का वध सम्भव नहीं था। यह कहना अनुचित न होगा कि पुष्यमित्र शुंग राजा बृहद्रथ की हत्या करने से पूर्व सैनिकों के साथ सांठगांठ कर चुका था। यही कारण है कि सेना के निरीक्षण के समय जब उसने राजा की हत्या की तो सैनिक चुपचाप इस घटना को देखते रहे। बृहद्रथ की हत्या कर पुष्यमित्र शुंग ने मगध में शुंग वंश की नींव डाली।

शुंगों की उत्पत्ति—शुंग कौन थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। हरप्रसाद शास्त्री ने शुंग शासकों के नाम के अन्त में 'मित्र' जुड़ा होने के कारण उन्हें पारसीक राजा कहा है। किन्तु बाद में उन्होंने शुंगों को ब्राह्मण राजा बताया। दिव्यावदान में पुष्यमित्र को मौर्यवंशी कहा गया है। कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को बैम्बिकवंशी कहा गया है। बैम्बिक कश्यप गोत्रीय थे। यह गोत्र ब्राह्मणों का था। अस्पष्ट रूप से हरिवंश शुंगों को ब्राह्मण बताता है।

अधिकांश ऐतिहासिक साक्ष्यों से विदित होता है कि शुंग ब्राह्मण थे। व्याकरण के पण्डित पाणिनि ने शुंगवंश को भारद्वाज गोत्र का बताया है। आश्वलायन श्रौत-सूत्र में उन्हें आचार्य कहा गया है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने पुष्यमित्र को ब्राह्मण राजा कहा है। वैदिक साहित्य में शुंगवंश के आचार्यों का उल्लेख मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में शुंगों का अध्यापकों के रूप में विवरण मिलता है। अधिकांश ऐतिहासिक साधनों से शुंग ब्राह्मणवंशी प्रतीत होते हैं। कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र', पतंजलि के 'महाभाष्य' और महाकवि बाणभट्ट की रचना 'हर्षचरित' शुंग वंश के इतिहास जानने के प्रमुख स्रोत हैं।

पुष्यमित्र का उत्कर्ष—पुष्यमित्र शुंग अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का सेनापति था। अशोक महान् अहिंसा का पुजारी था। उसने सम्पूर्ण मानव जाति से अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करने का आग्रह किया। अशोक के उत्तराधिकारियों

ने भी उसकी अहिंसा की नीति का अनुसरण किया। इस नीति के फलस्वरूप मौर्य-साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति क्षीण पड़ गई। अतः प्रान्तीय शासक अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हो उठे। विदेशी आक्रांता उत्तर-पश्चिमी सीमा से भारत पर आक्रमण करने लगे थे। अशोक के उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। वे न आन्तरिक शान्ति स्थापित कर सके और न ही बाह्य आक्रमणों से साम्राज्य की रक्षा कर पाये। राजनीतिक दृष्टि से जर्जरित मौर्य-शासन ने धर्म और संस्कृति के लिए भी संकट उत्पन्न कर दिया। देश को बाह्य आक्रमणों से बचाने तथा धर्म और संस्कृति हेतु ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र शुंग ने तलवार उठाई। उसने कायर मौर्य सम्राट् वृहद्रथ की हत्या कर स्वयं को मगध का शासक घोषित कर दिया।

ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र द्वारा शस्त्र-ग्रहण करना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं थी। महाभारत के युद्ध में द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा ने हथियार उठाये थे। परशुराम ने भी शस्त्र-धारण किया था। मनु ने आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मणों को शस्त्र ग्रहण करने की अनुमति दी है। शास्त्रों में कहा गया है कि देश और धर्म पर संकट के समय ब्राह्मणों को शस्त्र धारण करना चाहिए। चौथी शताब्दी ई० पू० में सिन्धु की निचली घाटी में ब्राह्मणों ने सशस्त्र सिकन्दर का प्रतिरोध किया था। ब्राह्मण द्वारा शस्त्र धारण करने की घटना के सम्बन्ध में डा० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"वास्तव में शान्त और चिन्तक ब्राह्मण के इस शस्त्र-धारण कर्म में किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं है, क्योंकि आवश्यकतावश उनके शस्त्र ग्रहण करने का विधान मनु ने किया है।"

पुष्यमित्र शुंग के राज्यारोहण की तिथि—पुष्यमित्र शुंग के राज्यारोहण की तिथि के संदर्भ में मतभेद हैं। कुछ विद्वान् उसके राज्यारोहण की तिथि 187 ई० पू० निर्धारित करते हैं। कुछ अन्य इतिहासकारों का मत है कि पुष्यमित्र 184 ई० पू० में मगध की राजगद्दी पर आसीन हुआ। पुराणों के अनुसार मौर्य वंश ने 137 वर्ष तक शासन किया। अन्तिम मौर्य सम्राट् का वध कर पुष्यमित्र राजगद्दी पर बैठा था। चूंकि मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण की प्रामाणिक तिथि 321 ई० पू० मानी जाती है। अतएव पुष्यमित्र शुंग के राज्यारोहण की तिथि (321 ई० पू०-137 ई० पू० = 184 ई० पू०) 184 ई० पू० अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। पुष्यमित्र ने 36 वर्ष तक शासन किया और 148 ई० पू० में उसका देहावसान हो गया।

पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल की प्रमुख घटनाएं

जिस समय पुष्यमित्र शुंग ने मगध की राजगद्दी पर अधिकार किया, उस समय मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक प्रदेशों में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण व्याप्त था। एक ओर साम्राज्य में आन्तरिक अशान्ति विद्यमान थी और दूसरी ओर सीमांत प्रान्तों के शासक अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। अतः सर्वप्रथम पुष्यमित्र शुंग ने मगध के निकटवर्ती प्रदेशों को अपने अधीन

कर केन्द्र को शक्तिशाली बनाया। तत्पश्चात् उसने पश्चिमी प्रान्तों को विजित करने की योजना बनाई।

पुष्यमित्र एक महान् योद्धा था। मौर्य शासनकाल में वह योग्यतापूर्वक सेनापति का कार्य संचालित कर चुका था। उसके शासनकाल की तीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख मिलता है। उसने अपने राज्यकाल में विदर्भ के राजा यज्ञसेन को पराजित किया। यवन सेनापति डेमिट्रियस अथवा मिनेण्डर को पराजित करके उनके भारत-प्रसार को अवरुद्ध किया तथा अपनी शक्ति का परिचय देते हुए अश्वमेध यज्ञ सम्पादित करवाया।

विदर्भ से युद्ध—बृहद्रथ की हत्या के फलस्वरूप उत्पन्न राजनीतिक अराजकता का लाभ उठाते हुए यज्ञसेन ने विदर्भ में अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। मालविकाग्निमित्र से विदित होता है कि यज्ञसेन मौर्य-सम्राट् के सचिव का बहनोई था। यज्ञसेन की स्वतन्त्र सत्ता पुष्यमित्र शुंग के लिए चुनौती थी। पुष्यमित्र के पुत्र, जो उस समय विदिशा का शासक था, अग्निमित्र ने कूटनीति का परिचय देते हुए यज्ञसेन के चचेरे भाई माधवसेन को अपनी ओर मिला लिया। अग्निमित्र ने वीरसेन के नेतृत्व में एक सेना विदर्भ के राजा के विरुद्ध भेजी। इस युद्ध में विदर्भ को दो भागों में विभक्त कर एक भाग यज्ञसेन तथा दूसरा भाग पुष्यमित्र शुंग के समर्थक माधवसेन को दे दिया गया। वे दोनों पुष्यमित्र की अधीनता में शासन करने लगे।

यवन-आक्रमण – भारत पर यवन-आक्रमण पुष्यमित्र के शासनकाल की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी। पुष्यमित्र शुंग ने यूनानी-आक्रमणों का डटकर मुकाबला किया।

बृहद्रथ के शासनकाल में यूनानियों ने उत्तर-पश्चिमी सीमाओं को विजित कर अयोध्या तक आक्रमण किए थे। मौर्य सेनापति पुष्यमित्र ने यूनानियों को पराजित करके वापस लौटने को बाध्य किया। पुष्यमित्र का समकालीन व्याकरण का महापण्डित पतंजलि भवनों द्वारा मध्यमिका (चित्तौड़ के समीप का नगर) और साकेत (अयोध्या) के घेरों का उल्लेख करता है। गार्गी संहिता से विदित होता है कि 'दुष्ट विक्रान्त यवनों' ने मथुरा, पांचाल देश और साकेत को विजित कर लिया और वे कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) तक जा पहुंचे। कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र में भी यवन-आक्रमणों का उल्लेख मिलता है। सिन्धु नदी के तट पर अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने भीषण-संग्राम में यूनानियों को पराजित कर दिया। मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि सिन्धु नदी के तट पर यूनानियों ने पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को पकड़ लिया था जिसके फलस्वरूप पुष्यमित्र के पौत्र और यूनानियों के मध्य भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में वसुमित्र ने उन्हें बुरी तरह पराजित कर दिया।

भारत पर यूनानियों के आक्रमण बहुत पहले से प्रारम्भ हो गये थे। सीरिया के राजा एंटियोकस ने काबुल की घाटी को अधिकृत कर लिया था। उसके बाद बैक्ट्रिया के शासक डेमिट्रियस ने पश्चिमी पंजाब और सिन्ध में अनेक विजयें प्राप्त कीं। तत्पश्चात् मिनेण्डर ने भारत पर सामरिक अभियान जारी रखे। यह कहना कठिन है कि पुष्यमित्र का संघर्ष किस यवन-अक्रांता से हुआ। कुछ विद्वान् पुष्यमित्र

के राज्यकाल में पराजित होने वाले यूनानी सेनानी को डेमिट्रियस मानते हैं तथा कुछ अन्य विद्वान् इस संदर्भ में मिनेण्डर के नाम का उल्लेख करते हैं। पुष्यमित्र द्वारा पराजित होने वाला यूनानी आक्रांता चाहे जो भी रहा हो, इतना तो निश्चित है कि पुष्यमित्र ने यवनों का तीव्र प्रतिकार किया और उन्हें मध्यदेश से निष्कासित कर सिन्धु नदी के तट तक खदेड़ दिया। यह उसकी महान् उपलब्धि थी। इससे कुछ समय के लिए भारत में यवनों का प्रसार रुक गया।

अश्वमेध यज्ञ—पुष्यमित्र शुंग वैदिक धर्म का अनुयायी था। उसने वैदिक धर्म के अनुरूप अश्वमेध यज्ञ सम्पादित करवाए। पतंजलि और कालिदास उसके द्वारा सम्पादित अश्वमेध-यज्ञ का उल्लेख करते हैं। पुष्यमित्र द्वारा सम्पादित अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख करते हुए महाकवि कालिदास ने लिखा है—"पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया और एक घोड़ा छोड़ा। सिन्धु नदी के तट पर इस घोड़े को यवनों ने पकड़ लिया। अतः पुष्यमित्र की सेना का यवनों के साथ घोर संग्राम हुआ। इस संग्राम में हजारों यवन मारे गये और पुष्यमित्र की शानदार विजय हुई।" अयोध्या से प्राप्त अभिलेख में पुष्यमित्र द्वारा किए गए दो अश्वमेध यज्ञों का विवरण मिलता है। जनमेजय के बाद पुष्यमित्र ने ही अश्वमेध यज्ञ किया था। पुष्यमित्र के शासन-काल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। डॉ० स्मिथ ने पुष्यमित्र द्वारा सम्पादित अश्वमेध यज्ञ के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"पुष्यमित्र के स्मरणीय अश्वमेध यज्ञ से उस ब्राह्मण प्रतिक्रिया का आरम्भ होता है जो समुद्रगुप्त तथा उसके उत्तराधिकारियों के काल में पाँच शताब्दियों के बाद पूर्ण उन्नत हो गई।"[1]

पुष्यमित्र शुंग और कलिंगराज खारवेल—कुछ विद्वानों का मत है कि पुष्यमित्र शुंग और कलिंगराज खारवेल के मध्य संघर्ष हुआ जिसमें पुष्यमित्र की पराजय हुई। डॉ० स्मिथ का मत है कि कलिंग के राजा खारवेल ने मगध पर आक्रमण करके पुष्यमित्र को पराजित कर दिया और उसके राजकोष पर भी अधिकार कर लिया। डा० जायसवाल ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि पुष्यमित्र ने दूसरा अश्वमेध यज्ञ कलिंगराज खारवेल से पराजित होने के बाद सम्पादित किया। किन्तु डा० रायचौधरी और डा० त्रिपाठी जैसे प्रतिष्ठित विद्वान् पुष्यमित्र और खारवेल की समकालीनता को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। उन्होंने कलिंगराज खारवेल की तिथि प्रथम शती ई० पू० के तृतीय चरण में बताई है।

राज्य-विस्तार—अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का वध कर पुष्यमित्र ने मगध की राजगद्दी पर अधिकार किया था। यद्यपि वह सम्पूर्ण मौर्य-साम्राज्य को अधिकृत नहीं कर पाया, तथापि वह एक बड़े भू-भाग का स्वामी था। दिव्यावदान से विदित होता है कि पाटलिपुत्र, अयोध्या, विदिशा, जालन्धर और सियालकोट उसके

1. "The memorable horse sacrifice of Pushyamitra marked the beginning of the Brahamanical reaction which was fully developed five centuries later in the time of Samudra Gupta and his successors"
—*Dr. V. A. Smith*

राज्यान्तर्गत थे। तारानाथ भी जालन्धर और सियालकोट पर पुष्यमित्र के अधिकार का उल्लेख करता है। अयोध्या में प्राप्त अभिलेख से वहाँ उसके अधिकार की पुष्टि होती है। मालविकाग्निमित्र से विदित होता है कि विदिशा और नर्मदा नदी तक दक्षिणी प्रान्त पुष्यमित्र के अधीन थे। स्पष्ट हो जाता है कि अनेक प्रान्तीय मौर्य-शासकों द्वारा अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के पश्चात् भी पुष्यमित्र एक बड़े राज्य का स्वामी था।

पुष्यमित्र की धार्मिक नीति—बौद्ध धर्म ग्रन्थों में उल्लिखित विवरण तथा तारानाथ के कथन से विदित होता है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का कट्टर अनुयायी और बौद्धों का घोर विरोधी था। उसे धार्मिक असहिष्णु सम्राट् कहा गया है। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र ने साकल (सियालकोट) में प्रत्येक बौद्ध भिक्षु के सिर काटने के लिए एक सौ स्वर्ण दीनार देने की घोषणा की थी। तारानाथ का कथन है कि पुष्यमित्र बौद्ध विरोधियों का मित्र था। उसने बौद्ध विहार जला दिए तथा बौद्ध भिक्षुओं का वध करवा दिया। निस्संदेह पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का कट्टर अनुयायी था। उसने अपने शासनकाल में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लिए भरसक प्रयत्न किए। किन्तु उसकी बौद्ध विरोधी नीति की पुष्टि किसी ठोस ऐतिहासिक प्रमाण से नहीं होती है। अतः बौद्ध ग्रन्थों और तारानाथ द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विवरण को प्रामाणिक मानना संदिग्ध है। शुंगकाल में भरहूत, बोध गया और साँची के स्तूपों को विशाल बनाकर नया रूप दिया गया। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी का मत है—"किन्तु शुंगों के शासनकाल में बनाए गए भरहूत के बौद्ध अवशेषों से ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र और उसके वंशज प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणवाद के नेता रहे होंगे।" डा० रमाशंकर त्रिपाठी पुष्यमित्र शुंग को धार्मिक असहिष्णु सम्राट् नहीं मानते हैं। उनका कथन है—"इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का संरक्षक और उत्साही हिन्दू था, परन्तु भरहूत के बौद्ध स्तूप और वेदिका जिनका निर्माण शुंगों के काल में हुआ था निस्संदेह दिव्यावदान की कहानी के विरुद्ध पड़ते हैं और पुष्यमित्र की असहिष्णुता को निर्मूल सिद्ध कर देते हैं।" दिव्यावदान में पुष्यमित्र द्वारा बौद्ध अनुयायियों को अपना मन्त्री नियुक्त किये जाने का उल्लेख मिलता है। अग्निमित्र की राजसभा में भगवती कौशिकी नामक स्त्री बौद्ध अनुयायी थी। महावंश में कहा गया है कि शुंगकाल में बिहार, अवध, मालवा आदि स्थानों पर अनेक बौद्ध विहार विद्यमान थे जिनमें सहस्रों बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। इन सब प्रमाणों के आधार पर पुष्यमित्र धार्मिक सहिष्णु प्रतीत होता है।

मृत्यु—184 ई० पू० से 148 ई० पू० (36 वर्ष) तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरान्त पुष्यमित्र का निधन हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पराक्रमी पुत्र, जो अपने पिता के शासनकाल में विदिशा का सूबेदार रह चुका था, अग्निमित्र पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर बैठा। वायु पुराण में यह उल्लेख मिलता है

कि पुष्यमित्र ने अपने जीवनकाल में ही साम्राज्य को आठ पुत्रों में विभाजित कर दिया था।

मूल्यांकन—निस्संदेह पुष्यमित्र एक महान् योद्धा, वैदिक धर्म का संरक्षक, धार्मिक सहिष्णु तथा कला और साहित्य का प्रेमी था। मौर्य सेनापति के रूप में वह यूनानी आक्रमण को विफल करके अपनी सामरिक प्रतिभा का परिचय दे चुका था। उसके द्वारा सेना के सम्मुख राजा बृहद्रथ की हत्या सैनिकों में उसके असाधारण प्रभाव का द्योतक है। अपने राज्यकाल में उसने विदर्भ के राजा यज्ञसेन को पराजित किया। उसने यवन-आक्रांता को परास्त करके उसके भारत-प्रसार को रोक दिया। पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ करवाए। उसने वैदिक धर्म का पुनरुद्धार कर संस्कृत को राजभाषा के रूप में सम्मान प्रदान किया। बौद्ध स्तूपों को नूतन स्वरूप प्रदान कर उसने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। जिस समय पुष्यमित्र ने मगध की राजगद्दी पर अधिकार किया वह राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। उसने पतनोन्मुखी मगध-साम्राज्य को थोड़े समय के लिए विनष्ट होने से बचा लिया। मगध-राज्य में व्याप्त अस्थिरता को उसने समाप्त कर दिया। अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता और सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए पुष्यमित्र शुंग भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी

36 वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरांत 184 ई० पू० में पुष्यमित्र शुंग का देहावसान हो गया। पुराणों से विदित होता है कि पुष्यमित्र ने अपने साम्राज्य को आठ पुत्रों में विभक्त कर परलोकगमन किया। उसमें यह उल्लेख मिलता है कि 'पुष्यमित्र के आठों पुत्र सम्मिलित रूप से राज्य करेंगे।' किंतु इस आशय का अन्य विवरण अन्यत्र नहीं मिलता है। पुष्यमित्र के पश्चात् उसके पुत्र अग्निमित्र ने शासन किया। उसने आठ वर्ष तक शासन किया। अपने पिता के राज्य-काल में वह विदिशा का सूबेदार रह चुका था। उसमें कूटनीतिज्ञता और दूरदर्शिता के गुण विद्यमान थे। विदिशा के सूबेदार के रूप में उसके द्वारा विदर्भ पर विजय प्राप्त करना उसकी महान् उपलब्धि थी। अग्निमित्र के शासनकाल की किसी महत्त्व-पूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। वह कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' का नायक है।

अग्निमित्र के पश्चात् सुजेष्ठ और तत्पश्चात् अग्निमित्र का प्रतापी पुत्र वसुमित्र राजगद्दी पर बैठा। वह वीर और पराक्रमी था। अपने पितामह (पुष्यमित्र) के शासनकाल में वह सिंधु नदी के तट पर शक्तिशाली यूनानियों को पराजित कर चुका था। बाणभट्ट ने उसे नाट्यकला-प्रेमी बताया है। वसुमित्र के बाद भागभद्र राजा हुआ। भागभद्र के बाद शुंगवंश के राजाओं का ज्ञान अंधकार में समाया हुआ है। देवभूति इस वंश का अन्तिम शासक था। उसे अपने ब्राह्मण-मंत्री वसुदेव के षड्यंत्र का शिकार होना पड़ा। शुंगवंश के लगभग दस राजाओं ने एक शताब्दी से कुछ अधिक (184 ई० पू०— 72 ई० पू०) काल तक शासन किया।

भारतीय इतिहास में शुंग काल का महत्त्व—भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में शुंगकाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शुंग राजाओं ने एक ओर देश को यवन आक्रमणों का शिकार होने से बचाया तथा मगध साम्राज्य को कुछ समय तक के लिए विघटित होने से रोक दिया तथा दूसरी ओर कला, साहित्य आदि क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति को प्रोत्साहन दिया। संस्कृत भाषा को राज भाषा के रूप में सम्मानित किया गया और अश्वमेध यज्ञ सम्पादित किए। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म के आविर्भाव तथा प्रबल विरोध के कारण जो वैदिक धर्म विलुप्त हो रहा था उसका पुनरुद्धार हुआ। भारतीय इतिहास में शुंग वंश के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने लिखा है—"यों तो समूचे भारतीय इतिहास और विशेष कर मध्य भारत के इतिहास में पुष्यमित्र-वंशीय राजाओं का विशेष महत्त्व है। इनके शासन काल में यूनानी आक्रमणकारियों को गहरा आघात पहुँचा और मध्य प्रदेश के लिए निरंतर संकटकालीन स्थिति उत्पन्न करने वाले आक्रमण रुक गये। सीमावर्ती यूनानी राजाओं ने अपनी शक्ति में परिवर्तन कर दिया और वे सिल्यूकस कालीन नीति का अनुसरण करने लगे। इस काल में साहित्य, कला और धर्म के क्षेत्र में गुप्त वंशीय 'स्वर्णकाल' जैसे पुनरुत्थान की लहर-सी आ गई थी।"

शुंग-काल का राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं, वरन् सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस काल में श्रमण विचारधारा का विरोध, अश्वमेध का पुनरुद्धार और अहिंसा के सिद्धांत पर आवश्यकता से अधिक बल देने की नीति का विरोध किया गया।

शुंग-काल में साहित्य और कला के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई। पतंजलि के महाभाष्य की रचना इसी काल में हुई। इस काल में महाभारत को फिर से लिखा गया तथा मनु स्मृति, विष्णु स्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति का संकलन किया गया। डॉ० त्रिपाठी ने यह संभावना व्यक्त की है—"इस काल में सम्भवतः अनेक अन्य साहित्यिक महारथियों का भी प्रादुर्भाव हुआ था जिनके नाम आज काल के गर्भ में खो गए हैं।"

शुंगकाल के राजाओं ने कला के विकास की ओर भी विशेष ध्यान दिया। भरहूत, बोधगया और साँची के स्तूपों को विशाल बनाकर नवीन कला का परिचय दिया गया। भरहूत स्तूप के चारों ओर सात फीट ऊँची चहारदीवारी और चार तोरण द्वार बनाए गए। तोरण द्वार पर जातक कथाओं को उत्कीर्ण करवाया गया। शुंगकाल में विदिशा के गज दंत शिल्पियों ने सांची के तोरण-द्वार का निर्माण किया। साँची के स्तूप के ऊपर एक वर्गाकार वेदिका बनाई गई। स्तंभों पर उत्कीर्ण चित्र और विभिन्न भावों से युक्त अनेक मूर्तियां शुंगकालीन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। पूना के समीप भज विहार तथा उसके समीप चट्टानों को काट कर जो स्तूप और चैत्य निर्मित किए गये वे शुंगकालीन हैं। इस काल की कृतियों में अजन्ता का चैत्य, अमरावती का स्तूप तथा नासिक का चैत्य बहुत प्रसिद्ध हैं। शुंगकालीन कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका आधार धर्म न होकर लोक जीवन है।

कण्व कुल

पुराणों से विदित होता है कि शुंगवंश के राजाओं ने 12 वर्ष तक राज्य किया। शुंगवंश का संस्थापक पुष्यमित्र 184 ई० पू० में राजगद्दी पर बैठा। इस प्रकार शुंगवंश ने 184 ई० पू० (184 ई० पू०—112 वर्ष=72 ई० पू०) से 72 ई० पू० तक शासन किया। 72 ई० पू० में कण्व कुल ने मगध की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। कण्व ब्राह्मण वर्ण के थे। पुराणों और हर्ष चरित के विवरण से विदित होता है कि कण्व कुल के प्रथम राजा वसुदेव ने स्त्रीव्यसनी देवभूति का वध कर मगध की राजगद्दी हथिया ली। कण्व-कुल में चार राजाओं ने शासन किया किंतु उनके शासनकाल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता। वे साधारण राजा प्रतीत होते हैं। इस वंश के राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—वसुदेव कण्व वंश का संस्थापक था। उसने 9 वर्ष तक शासन किया। तत्पश्चात् भूमिमित्र ने 14 वर्ष, नारायण ने 12 वर्ष तथा सुशर्मन् ने 10 वर्ष तक राज्य किया। कण्व कुल के उपरोक्त चार राजाओं ने कुल मिलाकर 45 वर्ष तक शासन किया।

आन्ध्र अथवा सातवाहन वंश

सातवाहन कौन थे, यह एक विवादास्पद प्रश्न हैं। कुछ विद्वान् उन्हें अनार्य, कुछ विद्वान् उन्हें क्षत्रिय तथा कुछ अन्य इतिहासकार सातवाहनों को ब्राह्मण सिद्ध करते हैं। अतः इन तीनों मतों की विवेचना आवश्यक है।

सातवाहन अनार्य थे—कुछ विद्वानों का मत है कि सातवाहन अनार्य थे। अपने मत की पुष्टि में वे तर्क देते हैं कि सातवाहन आन्ध्र जाति के थे। ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्र जाति को अनार्य कहा गया है। उनके नामों, शकों के साथ उनके वैवाहिक सम्बन्धों तथा माताओं के नाम पर रखे गये नामों से वे अनार्य प्रतीत होते हैं। इस सन्दर्भ में आयंगर महोदय का यह कथन उल्लेखनीय है—"इस प्रकार आन्ध्र लोग अनार्य थे जो धीरे-धीरे आर्य बना लिए गए और वे दक्षिण के उत्तरी-पूर्वी भाग में निवास करते थे और वे बहुत शक्तिशाली थे।"[1] पुराणों में सातवाहन और आन्ध्रों का उल्लेख साथ-साथ मिलता है। विद्वानों का मत है कि सातवाहन और आन्ध्र एक ही थे।

सातवाहन क्षत्रिय थे—कुछ विद्वानों का कथन है कि सातवाहन क्षत्रिय थे। डॉ० के० गोपालाचारी ने सातवाहन शासकों को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहा है। विद्वानों का मत है कि चूंकि नासिक अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णी की तुलना राम, केशव, अर्जुन और भीम जैसे क्षत्रिय राजाओं से की गई है, अतः वे क्षत्रिय थे।

सातवाहन ब्राह्मण थे—कतिपय इतिहासकार उपरोक्त दोनों मतों पर

---

1. "Andhras were, thus a non-Aryan race who were slowly Aryanised and they lived on the northeastern portion of Deccan and possessed considerable power."

— *Ayyengar*

विश्वास नहीं करते हैं। उनका मत है कि सातवाहन ब्राह्मण थे। सेनार, ब्यूलर, डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी तथा डॉ० रमा शंकर त्रिपाठी सातवाहनों को ब्राह्मण बताते हैं। अपने कथन का पुष्टि में वे तर्क देते हैं कि नासिक अभिलेख में गौतमी पुत्र शातकर्णी को ब्राह्मण कहा गया है। गौतमीपुत्र और वसिष्ठपुत्र के नामों से भी वे ब्राह्मण विदित होते हैं। गौतम और वसिष्ठ ब्राह्मण गोत्र हैं। सातवाहन कुल के अभिलेखों में उन्हें ब्राह्मण कहा गया है। नासिक अभिलेख में गौतमीपुत्र को अतुलनीय ब्राह्मण कहा गया है जो पराक्रम में परशुराम के समान था। उसको क्षत्रियों के दर्प और मान को दलने वाला कहा गया है। सातवाहन वंश को ब्राह्मण वंशी बताते हुए डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने लिखा है—"अनेक कारणों से यह विश्वास किया जा सकता है कि तथाकथित 'आन्ध्र', 'आन्ध्रभृत्य' अथवा सातवाहन राजा ब्राह्मण थे, किन्तु उनमें नाग रक्त का कुछ मिश्रण अवश्य था।"[1]

सातवाहनों का मूल प्रदेश—सातवाहनों के मूल निवास क्षेत्र के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि सातवाहनों ने सर्वप्रथम दक्षिण में अपनी शक्ति का आरम्भ किया। तत्पश्चात् गोदावरी और कृष्णा नदी के मध्य में स्थित आन्ध्र प्रदेश को विजित कर लिया। आन्ध्र प्रदेश में रहने के कारण वे आन्ध्र जातीय कहलाए। सातवाहनों के मूल निवास क्षेत्र के सम्बन्ध में अपनी विचारधारा व्यक्त करते हुए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"वास्तव में जान तो यह पड़ता है कि सातवाहनों ने अपनी शक्ति का आरम्भ पहले दक्कन (दक्षिण) में किया और शीघ्र ही बाद उन्होंने आन्ध्र देश जीत लिया। परन्तु शक आर आभीर आक्रमणों के परिणामस्वरूप जब उनका अधिकार उनके पश्चिमी प्रांतों से उठ गया तब उनकी शक्ति गोदावरी और कृष्णा की भूमि तक ही सीमित रह गयी। तब उनकी संज्ञा आन्ध्र हुई।" डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय का कथन है—"आन्ध्र नाम प्रादेशिक संज्ञा है, जातीय संज्ञा नहीं।"

सातवाहनों का उदय-काल—सातवाहन वंश के उदय-काल के सम्बन्ध में भी भी विद्वानों में मतभेद है। इस वंश की स्थापना का श्रेय सिमुक नामक व्यक्ति को दिया जाता है। स्मिथ और रैपसन महोदय सिमुक का आविर्भाव तीसरी शताब्दी ई० पू० मानते हैं। किन्तु अधिकांश विद्वान् उनके इस मत से सहमत नहीं हैं। कण्वों का पतन कर सिमुक ने सातवाहन वंश की नींव डाली। नानाघाट अभिलेख तथा हाथी गुम्फा अभिलेख से विदित होता है कि सातवाहन वंश की स्थापना पहली शताब्दी ई० पू० में हुई थी और तीसरी शताब्दी के मध्य तक सातवाहनों का प्रभाव व्याप्त रहा।

सातवाहन वंश का संस्थापक—प्रथम शताब्दी ई० पू० में सिमुकने सातवाहन वंश की स्थापना की। उसने लगभग तेईस वर्ष तक शासन किया। सिमुक के विषय में ज्ञात होता है कि उसने कण्वों और बची हुई शुंग शक्ति को विनष्ट कर दिया।

1. "There is reason to believe that the Andhrabhritya or Satavahan kings were Brahaman with a little mixture of Naga blood."
—Dr. H. C. Raychaudhuri

योग्यता और वीरत्व का परिचय देते हुए उसने अपने शासन काल में मध्य भारत के कुछ प्रदेशों को विजित कर लिया। सिमुक के पश्चात् उसका भाई कन्ह (कृष्ण) उत्तराधिकारी बना।

गौतमीपुत्र शातकर्णी से पूर्व के सातवाहन राजा—सिमुक के बाद कृष्ण सातवाहन वंश का राजा बना। पुराण कृष्ण को सिमुक का छोटा भाई बताते हैं। नासिक अभिलेख से विदित होता है कि कृष्ण ने नासिक तक अपनी विजय पताका फहराई थी। वहाँ उसने एक दरीगृह का भी निर्माण करवाया। कृष्ण के बाद सिमुक का पुत्र शातकर्णी सिंहासनारूढ़ हुआ। वह महान् योद्धा और यशस्वी राजा था। नानाघाट के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने अनेक विजयें कीं तथा दो अश्वमेध यज्ञ संपादित किये। शातकर्णी ने निरंतर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसकी रानी नयनिका अथवा नागनिका ने शातकर्णी की मृत्यु के पश्चात् शक्तिश्री और वेदिश्री नामक पुत्रों की संरक्षिका के रूप में शासन किया। विद्वानों का मत है कि शातकर्णी और कलिंगराज खारवेल के मध्य संघर्ष हुआ। नीलकण्ठ शास्त्री का मत है कि शातकर्णी कलिंगराज खारवेल से पराजित हुआ। शातकर्णी के पश्चात् सातवाहन वंश में अनेक दुर्बल शासक हुए, किन्तु उनका विवरण अन्धकार में समाया हुआ है। इन दुर्बल शासकों के पश्चात् सातवाहन वंश में गौतमीपुत्र शातकर्णी नामक शक्तिशाली शासक का आविर्भाव हुआ। उसने अपने वंश की खोई हुई प्रतिष्ठा पुनःस्थापित की। इसलिए उसे सातवाहन वंश का पुनरुद्धारक भी कहा जाता है।

गौतमीपुत्र शातकर्णी (सन् 106-130 ई०)

शक्तिशाली सातवाहन नरेश शातकर्णी की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता के कारण सातवाहन राज्य की शक्ति क्षीण पड़ गई और शकों के साथ उनका दीर्घकालीन संघर्ष छिड़ गया, जिसमें कभी शकों की विजय हुई तो कभी सातवाहन विजयी रहे।

सातवाहन वंश जब पतन के कगार पर था तो उस समय उस वंश के गौतमीपुत्र शातकर्णी नामक शक्तिशाली, महत्त्वाकांक्षी और पराक्रमी नरेश का आविर्भाव हुआ। उसने शक, पल्लव, यवन आदि को पराजित कर अपने वंश के गौरव की पुनःस्थापना की। वह साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का शासक था। राजपद ग्रहण करने के उपरान्त उसने राज्य के संगठन और उसके विस्तार में अपनी शक्ति लगा दी।

पुराणों से विदित होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी सातवाहन वंश का तेईसवाँ राजा था। उसने अपने वंश के गौरव को फिर से स्थापित किया। राजमाता गौतमीबलश्री के नासिक अभिलेख में उसकी सफलताओं का वर्णन मिलता है। सातवाहनों के इतिहास जानने के साधनों का गहन अध्ययन कर विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी ने कम-से-कम चौबीस वर्ष तक शासन किया। उसका शासनकाल 106 ई० से 130 ई० तक निर्धारित किया गया है। अपने शासनकाल के चौबीसवें वर्ष गौतमीपुत्र शातकर्णी ने कुछ साधुओं को भूमि

दान की जिसका विवरण एक अभिलेख में मिलता है। इससे विदित होता है कि उसने कम-से-कम चौबीस वर्ष तक अवश्य शासन किया।

विजयें—गौतमीपुत्र शातकर्णी सातवाहन वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली सम्राट् था। नासिक अभिलेख में उसकी विजयों का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

शकों के साथ सातवाहन वंश के राजाओं की प्रबल प्रतिद्वन्द्विता थी। उन्होंने सातवाहनों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष कर कई प्रदेश उनसे छीन लिए। गौतमीपुत्र शातकर्णी ने शकों को पराजित कर अपने राज्य का विस्तार किया। नासिक अभिलेख में कहा गया है कि उसने शकों, यवनों, पल्लवों तथा क्षहरातों का नाश कर सातवाहन कुल के गौरव की पुनः स्थापना की। उसने शकों को परास्त कर उनसे गुजरात, सौराष्ट्र, पश्चिमी राजपूताना, मालवा, बरार और उत्तरी कोंकण प्राप्त किए। शक क्षत्रप नहपान की शक्ति को उसने उखाड़ फेंका।

विदेशी जातियों को विजित कर गौतमीपुत्र शातकर्णी ने अनेक अन्य विजयें कीं। नासिक अभिलेख में उसे क्षत्रियों का मान-मर्दन करने वाला तथा वर्ण धर्म का पुनःसंस्थापक कहा गया है। नासिक अभिलेख से ज्ञात होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी के वाहनों ने तीन समुद्रों का जल पिया और सभी राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार की।

व्यक्तित्व—गौतमीपुत्र शातकर्णी न केवल एक महान् योद्धा था, वरन् कुशल प्रशासक और लोकप्रिय राजा भी था। उसने राजराजा, विंध्यपति आदि उपाधियां धारण कीं। वह हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला रूपवान और आकर्षक राजा था। वह दयावान था और अपने शत्रुओं के प्रति भी सद्भाव रखता था। दानशील शासक के रूप में भी वह उल्लेखनीय है। अपने शासनकाल के अठारहवें वर्ष उसने नासिक के पास पाण्डुलेण में एक दरीगृह बनवाकर दान दिया और अपने राज्यकाल के चौवीसवें वर्ष उसने कुछ साधुओं को भूमि दान में दी। वह प्रजा के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख समझता था। वह प्रजा पर धर्मानुसार कर लगाता था और अपराधियों के प्रति अधिक कठोरता की नीति नहीं अपनाता था। वह ब्राह्मण धर्म का प्रबल समर्थक और वर्ण-व्यवस्था को पुनः स्थापित करने वाला था। वह धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था। नासिक अभिलेख में उसे द्विज और अवर (हीनजातियों) कुटुम्बों का वर्द्धन करने वाला कहा गया है। अपने शासनकाल के अन्तिम समय में गौतमीपुत्र शातकर्णी अपाहिज हो गया था। उसके शासनकाल के उत्तरार्द्ध में शक पुनः शक्तिशाली हो उठे। उन्होंने सातवाहन राज्य के अनेक प्रदेशों को पुनः विजित कर लिया। 130 ई० में गौतमीपुत्र शातकर्णी का देहान्त हो गया।

साम्राज्य-विस्तार—गौतमीपुत्र शातकर्णी ने अपने राज्यकाल में अनेक विजयें प्राप्त कर निरन्तर साम्राज्य का विस्तार किया। नासिक अभिलेख से उसके साम्राज्य-विस्तार पर भी प्रकाश पड़ता है। उसका राज्य गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, बरार, उत्तर कोंकण तथा पूना और नासिक के प्रदेश तक विस्तृत था। सामान्यतया उसका साम्राज्य उत्तर में मालवा और सौराष्ट्र से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक तथा

पूर्व में बरार से लेकर पश्चिम में कोंकण तक विस्तृत था। सुदूर दक्षिण के राज्य उसकी अधीनता स्वीकार करते थे।

गौतमीपुत्र शातकर्णी के उत्तराधिकारी—गौतमीपुत्र शातकर्णी के शासनकाल के अन्तिम चरणों में सातवाहन-साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य के विघटन का क्रम और अधिक तीव्र हो गया।

पुराणों से विदित होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी के पश्चात् उसका पुत्र वासिष्ठिपुत्र श्री पुलमावी राजगद्दी पर बैठा। उसने सातवाहनों का प्रभाव आन्ध्र प्रदेश पर स्थापित किया। उसे आन्ध्र-शासक भी कहा गया है। कन्हेरि लेख में वासिष्ठिपुत्र श्री शातकर्णी को महाक्षत्रप रुद्रदामन की कन्या का पति बताया गया है। इस आधार पर विद्वानों का मत है कि वासिष्ठिपुत्र पुलमावी ने शक-क्षत्रप रुद्रदामन की कन्या से विवाह किया था। उसे दो बार अपने ससुर रुद्रदामन से पराजित भी होना पड़ा। पुलमावी ने दक्षिणापथ के कुछ प्रदेशों को विजित किया। उसके शासनकाल में सातवाहनों की नौ-सेना और समुद्री व्यापार में वृद्धि हुई। उसने नवलगढ़ नामक नवीन नगर बसाया और अमरावती के स्तूप को बृहद् रूप देकर उसकी मरम्मत करवायी। 155 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

वासिष्ठिपुत्र पुलमावी के उत्तराधिकारियों में यज्ञश्री शातकर्णी को छोड़कर अन्य अयोग्य सिद्ध हुए। यज्ञश्री शातकर्णी ने सन् 165 से 195 ई० तक शासन किया। उसके शासनकाल के सत्ताईसवें वर्ष में उत्कीर्ण एक अभिलेख कृष्णा जिले के चिन्न नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है। उसने शकों को पराजित कर उनसे अनेक प्रदेश विजित कर लिए। गुजरात, काठियावाड़, मालवा, मध्य प्रदेश और आन्ध्र प्रदेश में उसके अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं। यज्ञश्री की चांदी की मुद्राओं में उसकी शक-विजय का उल्लेख मिलता है।

यज्ञश्री शातकर्णी के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। वे नाममात्र के राजा थे। वे न आन्तरिक संघर्ष से मुक्ति पा सके और न ही बाह्य आक्रमणों का सामना कर सके। अतः सातवाहन-साम्राज्य का विघटन तीव्रता से होने लगा। आभीरों ने उनसे महाराष्ट्र और इक्ष्वाकुओं तथा पल्लवों ने पूर्वी प्रान्त को अधिकृत कर सातवाहन-राज्य का अन्त कर दिया।

सातवाहन कालीन दक्षिणी भारत

भारतवर्ष के इतिहास में सातवाहन राजाओं का शासनकाल महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उन्होंने सर्वप्रथम दक्षिण में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें उत्तरी भारत के भी कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। सातवाहन कालीन ऐतिहासिक विवरण जानने के साधन अत्यन्त अल्प हैं। तत्कालीन सिक्कों, रचनाओं तथा नासिक अभिलेख से उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक दशा पर संक्षिप्त प्रकाश पड़ता है।

राजनीतिक दशा—सातवाहन-राज्य एकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति पर आधारित था। राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। राजपद वंशानुगत था। राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र राजगद्दी पर बैठता था। युद्ध के समय राजा स्वयं सेना का नेतृत्व करता था। अवयस्क राजा राजमाता अथवा मन्त्रियों की सहायता से शासन संचालित करता था। सातवाहन नरेश स्वयं को प्रजा का सेवक समझते थे। गौतमीपुत्र शातकर्णी प्रजा को अपनी सन्तान के समान समझता था। प्रजा के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख समझता था। राजा राज्य का प्रधान होता था। किन्तु वह दैवी अधिकारों से परिपूर्ण और निरंकुश न होकर धर्मशास्त्रों के आनुरूप शासन करता था। राजकुमारों को सभी प्रकार की शिक्षाएं दी जाती थीं। शासन-संचालन में राजा की सहायता के लिए मन्त्री होते थे। सम्पूर्ण-साम्राज्य जनपदों, आहारों और ग्रामों में विभक्त था। गांव का मुखिया ग्रामक कहलाता था। महाभोज, सेनापति, महाप्रतीहार, भाण्डागारिक, महामात्र, अमात्य, प्रतीहार, दूतक आदि राज्य के प्रमुख अधिकारी थे। भू-कर और अन्य वस्तुओं से प्राप्त कर राज्य की आय के प्रमुख स्रोत थे।

सामाजिक दशा—सातवाहन काल में समाज का विभाजन चार वर्णों में सुदृढ़ हो गया था। वर्ण का आधार कर्म न होकर जन्म हो गया था। राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से समाज चार वर्गों में विभक्त था। पहले वर्ग में महाभोज, महारठी और महासेनापति आते थे। ये अधिकारी जिलों अथवा राष्ट्रों के अधिपति थे। यह समाज का सर्वोच्च वर्ग था। इसमें राजपुत्रों और राजा के सम्बन्धियों को नियुक्त किया जाता था। दूसरे वर्ग में अमात्य, महामात्र, भाण्डागारिक आदि अधिकारी आते थे। वैद्य, लेखक, कृषक, सुनार, औषधि बेचने वाले आदि तीसरे वर्ग में आते थे। चौथा वर्ग माली, बढ़ई, धीवर और मछली पकड़ने वालों का था। परिवार शासन की सबसे छोटी इकाई थी। परिवार का मुखिया कुटुम्बिन् अथवा गृहपति कहलाता था। परिवार के सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि चूंकि सातवाहन नरेश अपने नाम के साथ अपनी माता का नाम जोड़ते थे, अतः वहां मातृ पक्ष की प्रधानता थी। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे। सातवाहन युवराज पुलमावी का विवाह शक-क्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री के साथ सम्पन्न हुआ था। समाज में स्त्रियों की दशा सन्तोषजनक थी। डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय का कथन है—"सातवाहन काल में स्त्री-समाज की अवस्था अत्यधिक सन्तोषजनक थी। माताओं के नाम पर सम्बोधित पुत्रों के उदाहरण (यथा गौतमीपुत्र शातकर्णी, वासिष्ठीपुत्र पुलमावी) समाज में स्त्रियों की मान्यता की ओर संकेत करते हैं।" नागानिका, गौतमी, बलश्री आदि नारियों ने अपने पतियों के साथ मिलकर शासन संचालित किया था। सम्पन्न लोग एक से अधिक विवाह करते थे।

आर्थिक दशा—सातवाहन कालीन लोग प्रधानतया कृषि और पशुपालन पर निर्भर थे। भूमि पर कृषक का स्वामित्व माना जाता था। श्रेणियों का अत्यधिक

महत्त्व था। विभिन्न व्यवसाय करने वाले लोग अपनी-अपनी श्रेणियां बना लेते थे। श्रेणियाँ न केवल व्यावसायिक संगठन थे बल्कि वे आधुनिक बैंकों की भांति ब्याज पर ऋण देना और रुपया जमा करने का कार्य भी करते थे। तत्कालीन कुम्हार, जुलाहे, तिलषिक, कासाकार आदि की श्रेणियों का उल्लेख मिलता है।

सातवाहन काल में व्यापार उन्नत अवस्था पर था। आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का व्यापार होता था। मसाले, मलमल और सूती कपड़ों का निर्यात किया जाता था तथा उसके बदले में शीशे का सामान, जूते आदि वस्तुएं आयात की जाती थीं। भडौंच, सोपारा तथा कल्याण आदि प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। नगरों तथा अन्य स्थानों पर व्यापारिक मण्डियां थीं। पानी में चलने वाले जहाजों (जलपोतों) से लंका, चीन, सुवर्ण भूमि, मिश्र, रोम, सीरिया, जावा, सुमात्रा, मलाया आदि देशों के साथ व्यापार होता था। क्रय-विक्रय के लिए स्वर्ण, रजत और ताम्र मुद्राएं प्रचलन में थीं। सोने के सिक्के 'सुवर्ण' और चांदी तथा तांबे की मुद्राएं 'कार्षापण' कहलाते थे।

धार्मिक दशा—ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी होने पर भी सातवाहन नरेश धार्मिक सहिष्णु थे। उन्होंने वैदिक धर्म को अंगीकार कर उसकी उन्नति के लिए यथासम्भव प्रयास किये। वैदिक धर्म के अनुरूप उन्होंने अनेक यज्ञ किये। यज्ञों में पशु बलि की प्रथा प्रचलित थी। ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती थी। वे दान को भी विशेष महत्त्व देते थे। नानाघाट अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णी तथा उसकी पत्नी द्वारा दिए गए दान का उल्लेख मिलता है। राज्य तथा धनी लोग दान देकर भिक्षुओं के निवास हेतु चैत्यगृह और दरीगृह का निर्माण करते थे। शिव और कृष्ण लोकप्रिय देवता थे। उनके अतिरिक्त सूर्य, विष्णु, इन्द्र, वरुण, गौरी, नन्दी आदि देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित थी। धार्मिक सहिष्णु सातवाहन नरेशों ने बौद्ध भिक्षुओं को दान दिया और उनके निवास हेतु चैत्यों, विहारों एवं गुफाओं का निर्माण करवाया।

साहित्य—सातवाहन राजाओं ने प्राकृत भाषा को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। फलतः प्राकृत भाषा के क्षेत्र में उन्नति हुई और अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। प्राकृत भाषा में अनेक अभिलेख उत्कीर्ण किए गए। सातवाहन काल में गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा', सर्ववर्मन् ने 'कातन्त्र' और हाल ने 'सत्तसई' (सप्तशतक) की रचना की जो उस काल की उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिक रचनाएं हैं।

कला—सातवाहन नरेश कला प्रेमी थे। उन्होंने चैत्यगृहों, विहारों और गुहागृहों का निर्माण कर कला को प्रोत्साहन दिया। अमरावती तथा जयपेट के स्तूप; नासिक, कार्ले और भाजा के बौद्ध विहार तथा चैत्यगृह स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। उस काल में अनेक भवनों का निर्माण हुआ। स्त्री-पुरुषों की मूर्तियां तथा हाथी, वृक्ष और अन्य पशुओं के अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक चित्र बनाए जाते थे।

सातवाहन काल भारतीय इतिहास के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रायः यह कहा जाता है कि जिस प्रकार उत्तर

भारत में साम्राज्य के युग को मौर्य-सम्राटों ने प्रारम्भ किया, उसी प्रकार दक्षिण भारत में साम्राज्य के युग को प्रारम्भ करने का श्रेय सातवाहन शासकों को है। लगभग त्रिशताब्दी तक शासन करने के उपरान्त सातवाहन शासकों ने दक्षिण भारत की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति में योग दिया।

कलिंगराज खारवेल

भीषण मारकाट और नरसंहार के पश्चात् अशोक कलिंग-राज्य को विजित करने में सफल सिद्ध हुआ। अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य-साम्राज्य की सत्ता अयोग्य उत्तराधिकारियों के हाथ में आ गई। मौर्य-साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाकर कलिंग-राज्य ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। कलिंगराज खारवेल इस चेदि वंश का तीसरा सम्राट् था। उड़ीसा में भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि के हाथी गुम्फा अभिलेख से कलिंगराज खारवेल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। इसमें उसके शासनकाल के प्रारम्भिक तेरह वर्ष के कार्यों का उल्लेख मिलता है। खारवेल की तिथि भी विवादास्पद है। किन्तु डा० रायचौधरी और डा० त्रिपाठी जैसे मूर्धन्य विद्वान् उसकी तिथि प्रथम शताब्दी ई० पू० के तृतीय चरण में मानते हैं।

हाथी गुम्फा अभिलेख से विदित होता है कि खारवेल के प्रारम्भिक पन्द्रह वर्ष खेलकूद और अध्ययन में व्यतीत हुए। सोलहवें वर्ष उसे युवराज बनाया गया। नौ वर्ष तक युवराज के रूप में कार्य करने के उपरान्त 24 वर्ष की आयु में वह कलिंग की राजगद्दी पर आसीन हुआ। अपने राज्यारोहण के प्रथम वर्ष में उसने अनेक सार्वजनिक निर्माण कार्य सम्पन्न किए। तूफान आने से राजधानी को जो क्षति पहुँची थी, खारवेल ने क्षतिग्रस्त प्राचीर और दुर्गों की मरम्मत करवाई। दूसरे वर्ष उसने शातकर्णी को पराजित किया और मूषिकों की राजधानी को नष्ट कर दिया। खारवेल संगीत प्रेमी था। अतः तीसरे वर्ष उसने अपनी राजधानी में संगीत और नृत्य के कार्यक्रम आयोजित किए और विजयोत्सव मनाया। राज्याभिषेक के चौथे वर्ष उसने राष्ट्रिकों और भोजकों को पराजित किया। पांचवें वर्ष उसने तनसुलि से लेकर अपनी राजधानी तक एक नहर का विस्तार किया जिसका निर्माण 300 वर्ष पूर्व नन्दराज ने किया था। छठे वर्ष उसने पौर (नगर) और जनपद (राज्य) की सभाओं को विशेषाधिकार प्रदान किए। अपने राज्य को संगठित करने के उपरान्त खारवेल ने उत्तरी भारत के विजय अभियान की ओर ध्यान केन्द्रित किया। आठवें वर्ष खारवेल ने मगध के राजा को पराजित करके मथुरा भाग जाने को विवश किया। नवें वर्ष उसने दान वितरित किया और प्राची नदी के दोनों ओर एक 'महाविजय प्रासाद' निर्मित करवाया। डा० विमलचन्द्र पाण्डेय ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि उक्त प्रासाद का निर्माण उत्तरी भारत की विजय के उपलक्ष्य में किया गया होगा। दसवें वर्ष उसने उत्तरी भारत पर सामरिक अभियान किया, किन्तु इस अभियान का परिणाम अज्ञात है। ग्यारहवें वर्ष खारवेल ने दक्षिणी भारत पर आक्रमण कर दिया। उसने पिथुण्ड नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और पाण्ड्य देश

तक पहुँच गया। वहाँ के राजा ने खारवेल को अनेक उपहार भेंट स्वरूप प्रदान किए। बारहवें वर्ष उसने मगध को पुनर्विजित किया। मगध के राजा बहसतिमित्र को पराजित करके उसे संधि करने को बाध्य किया। खारवेल ने अंग और मगध को लूटा तथा उन जैन प्रतिमाओं को उठा ले गया जिन्हें पहले नन्द सम्राट् कलिंग से लूट ले गये थे। तेरहवें वर्ष उसने सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य राजा पर विजय प्राप्त की। खारवेल के शासनकाल के तेरहवें वर्ष के पश्चात् की घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता है।

खारवेल प्रजावत्सल शासक था। वह नृत्य और संगीत प्रेमी था। वह महान् निर्माता था। राजधानी कलिंग में उसने अनेक निर्माणकारी कार्य किए। वह जैन मतावलम्बी था। उसने उदयगिरि की पहाड़ी पर जैन भिक्षुओं के निवास हेतु दरीगृह बनवाए थे। उसने जैन धर्म के अनुयायियों के लिए एक विशाल सभा-भवन निर्मित करवाया था। जैन-धर्मानुयायी होने के साथ-साथ खारवेल धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था। हाथी गुम्फा अभिलेख के विवरण से विदित होता है कि उसने समस्त देवालयों का जीर्णोद्धार करवाया था। वह एक पराक्रमी और महान् विजेता था। उसने 'कलिंगाधिपति' और 'महाविजय' की उपाधियां धारण कीं। उसकी रानी के अभिलेख में उसके लिए 'चक्रवर्ती' की उपाधि प्रयुक्त हुई है। डॉ० कश्यप का कथन है—"भारतीय इतिहास के गगन में वह (खारवेल) धूमकेतु के समान उदित हुआ और चारों ओर खलबली मचाकर फिर अस्त हो गया।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. शुंग कौन थे ? उनका संक्षिप्त इतिहास लिखिए।
2. शुंगों की उत्पत्ति का उल्लेख तथा पुष्यमित्र शुंग की उपाधियों का मूल्यांकन कीजिए।
3. शुंग-शासन का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
4. पुष्यमित्र शुंग का चरित्र-चित्रण कीजिए तथा उपलब्ध साहित्यिक और पुरातत्त्व सम्बन्धी साक्षी के आधार पर उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
5. शुंग कौन थे ? पुष्यमित्र शुंग के चरित्र एवं उसके कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।
6. पुष्यमित्र शुंग की उपलब्धियों का विवरण दीजिए। क्या वह बौद्धों का उत्पीड़क था ?
7. पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल की राजनीतिक घटनाओं का वर्णन कीजिए।
8. सातवाहन कौन थे ?
9. सातवाहन वंश का इतिहास संक्षेप में लिखिए।
10. सातवाहन वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा कौन था ?
11. गौतमीपुत्र शातकर्णी के जीवन-चरित्र एवं उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।

16

शक, पह्लव और कुषाण वंश

शक

भारत पर जिन विदेशी जातियों ने आक्रमण किए उनमें शकों का नाम महत्त्वपूर्ण है। शक मध्य एशिया के सरदरिया प्रदेश में निवास करते थे। द्वितीय शती ई० पू० में हूणों से पराजित होकर यू-ची जाति अन्य प्रदेशों में शरण लेने को बाध्य हुई। कुछ समय पश्चात् यू-ची लोगों का सरदरिया के उत्तरी प्रदेशों में निवास करने वाली शक जाति से संघर्ष हुआ। पराजित शक दक्षिण की ओर अग्रसर हुए तथा उन्होंने बैक्ट्रिया और पार्थिया के राज्यों को विजित कर लिया। मिथ्रिडेट्स द्वितीय नामक पार्थिया के राजा ने शकों का डटकर मुकाबला किया और उन्हें पूर्व की ओर बढ़ने को विवश किया। किन्तु काबुल की घाटी में स्थित यूनानी राज्य ने उनका प्रतिकार कर उन्हें आगे नहीं बढ़ने दिया। अतः शक लोग उसके समीप ही सीइस्तान अथवा शकस्तान में बस गये। तत्पश्चात् शकों ने कन्दहार और बिलोचिस्तान को पार कर सिन्धु की निचली घाटी में प्रवेश किया और वहीं बस गये। उनकी इस बस्ती को हिन्दू लेखकों ने शकद्वीप और ग्रीक लोगों ने इन्डोसीथिया कहा है। सिन्धु घाटी में बस जाने के उपरान्त शकों ने भारत के अन्य प्रदेशों को विजित कर अपनी बस्तियां स्थापित कीं।

मोआ अथवा मोगा—मोआ अथवा मोगा भारत में शकों का सर्वप्रथम राजा था। मैरा कूपलेख मोआ और तक्षशिला ताम्रपत्र में मोगा नामक शक नरेश का उल्लेख मिलता है। डॉ० स्मिथ का मत है कि मोआ शक नहीं पह्लव (पार्थियन) राजा था। किन्तु अधिकांश विद्वान उसे शक नरेश ही बताते हैं। वह एक महान् राजा था। तक्षशिला में प्राप्त उसके ताम्रपत्र में उसे 'महाराय' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वह प्रदेश मोआ के अधीन था। मोआ के सिक्कों में उसकी राजाधिराज की उपाधि अंकित है। उसके सिक्कों से गांधार और उसके समीप के प्रदेश

उसके अधीन प्रतीत होते हैं। मोआ का राज्य काबुल की घाटी और पूर्वी पंजाब नामक दो यूनानी राज्यों के मध्य स्थित था। मोआ के शासनकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। डा० रायचौधरी का मत है कि उसने 33 ई० पू० के बाद और प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध से पूर्व शासन किया। स्टेनकोनो का मत है कि मोआ ने 90 ई० पू० के लगभग शासन प्रारम्भ किया था। डी० सी० सरकार ने उसका राज्यकाल 20 ई० पू० से 22 ई० तक निर्धारित किया है।

मोआ के उत्तराधिकारी—मोआ की मृत्यु के पश्चात् अय राजा हुआ। उसके सिक्कों से विदित होता है कि उसने पूर्वी पंजाब को विजित कर लिया था। मोआ और अय के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि 58 ई० पू० में अय ने संवत् चलाया, किन्तु अधिकतर इतिहासकार इस कथन को प्रामाणिक नहीं मानते। डा० त्रिपाठी ने लिखा है कि निःसन्देह यह धारणा निराधार है। सिक्कों से ज्ञात होता है कि अय के बाद अयलिश राजा हुआ। सिक्कों में इन दोनों का नाम एक साथ मिलने से विद्वानों ने यह विचार व्यक्त किया है कि कुछ समय तक अय और अयलिश ने साथ-साथ शासन किया था। अयलिश के पश्चात् अय द्वितीय शासक बना। अय द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् पह्लव राजा विन्दफर्न ने शकों के राज्य को अधिकृत कर लिया।

शक क्षत्रप

शासन के सुसंचालन के लिए शकों ने अपने साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त किया। इन प्रान्तों पर शक सामन्त शासन करते थे जो क्षत्रप कहलाते थे। क्षत्रप शासन प्रणाली की यह विशेषता थी कि दो क्षत्रप एक साथ शासन कर सकते थे। इनमें से एक वरिष्ठ होता था तथा दूसरा कनिष्ठ कहलाता था। कनिष्ठ क्षत्रप प्रायः वरिष्ठ क्षत्रप का पुत्र होता था जो बाद में वरिष्ठ क्षत्रप हो जाता था।

उत्तर-पश्चिम के क्षत्रप—अभिलेखों से कापिसी, पुष्पपुर और अभिसार के क्षत्रपों का उल्लेख मिलता है। तक्षशिला ताम्रपत्र में लियक कुसुलुक और उसके पुत्र पतिक नामक दो क्षत्रपों का उल्लेख मिलता है। वे छहर और चुक्ष जिलों में महाराय मोग की ओर से क्षत्रप नियुक्त किए गए थे। पश्चिमोत्तर प्रदेश में यनिगुल और जिहोनिक दो अन्य क्षत्रपों का भी उल्लेख मिलता है।

मथुरा के क्षत्रप—मथुरा के क्षत्रपों में राजुबुल अथवा रज्जुबुल का उल्लेख सर्वप्रथम मिलता है। रज्जुबुल ने पूर्वी पंजाब में ग्रीक शासन का अन्त कर दिया। रज्जुबुल जिस समय महाक्षत्रप (वरिष्ठ क्षत्रप) के रूप में शासन कर रहा था, उस समय उसका पुत्र सोदास (शोणदास) क्षत्रप था। पिता की मृत्यु के पश्चात् सोदास महाक्षत्रप बन गया। सोदास ते उत्तराधिकारियों के विषय में जानकारी उपलब्ध नहीं है।

महाराष्ट्र के क्षत्रप—तक्षशिला के क्षत्रप वंश के शासकों ने पश्चिमी और दक्षिणी भारत में अपनी सत्ता स्थापित की। भूमक पश्चिमी भारत का पहला क्षत्रप

प्रतीत होता है। उसने सौराष्ट्र पर अधिकार स्थापित किया था। सिक्कों से नहपान भूमक का समीपस्थ प्रतीत होता है। किन्तु उन दोनों में क्या सम्बन्ध था, इसका ज्ञान प्राप्त नहीं है।

भूमक के पश्चात् नहपान का उल्लेख मिलता है। नहपान ने अपनी पुत्री दक्षमित्रा का विवाह उषवदात (ऋषभदत्त) से किया था। नहपान पराक्रमी शासक था। नहपान के पाण्डुलेन, जुन्नार और कारले के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने महाराष्ट्र के एक बड़े भू-भाग को विजित कर लिया था। नहपान के राज्य-विस्तार पर प्रकाश डालते हुए डा० रायचौधरी ने लिखा है कि नहपान का राजनीतिक प्रभाव सम्भवतः पूना और सुपारक (उत्तरी कोंकण) काठियावाड़ में प्रभास तक, मालवा में मन्दसौर और उज्जैन तक तथा अजमेर के प्रदेश तक, जिसमें पुष्कर भी शामिल था, फैला हुआ था। विद्वानों ने नहपान की राज्यावधि सन् 119 से 124 ई० तक निर्धारित की है।

नहपान को अपने शासनकाल में मालवों और सातवाहनों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। उत्तर की ओर से होने वाले मालव आक्रमण को उसके दामाद उषवदात ने निष्फल सिद्ध कर दिया। किन्तु दक्षिण की ओर से होने वाले सातवाहन आक्रमण को वह नहीं रोक पाया। सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णी ने नहपान को पराजित कर डाला। नासिक अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णी को 'क्षहराट जाति का उच्छेद करने वाला' कहा गया है।

उज्जैन के क्षत्रप—उज्जैन में क्षत्रप वंश का पहला शासक चष्टन था। कुछ विद्वानों ने उसे 78 ई० के संवत् का संचालक बताया है। किन्तु अन्य विद्वान् इस मत का विरोध करते हैं। चष्टन ने पहले क्षत्रप और बाद में महाक्षत्रप के रूप में शासन किया। उसका शासनकाल 130 ई० के लगभग बताया जाता है और उसे गौतमीपुत्र शातकर्णी का सामन्त भी कहा गया है।

चष्टन का पुत्र जयदामन क्षत्रप मात्र था। उसके शासनकाल की किसी महत्त्व-पूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। जयदामन का पुत्र रुद्रदामन शक्तिशाली और यशस्वी सम्राट् सिद्ध हुआ। जूनागढ़ में उसका संवत् 72 अर्थात् सन् 150 ई० का शिलालेख उत्कीर्ण है जिसमें उसकी विजयों का उल्लेख है। उससे विदित होता है कि रुद्रदामन ने स्वयं अपने पराक्रम से महाक्षत्रप का पद प्राप्त किया। जूनागढ़ के शिलालेख से विदित होता है कि उसने (रुद्रदामन) यौधेयों को पराजित किया और दो बार दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णी को भी परास्त किया। रुद्रदामन ने सातवाहन वंश के किस राजा (शातकर्णी) को पराजित किया, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। डॉ० भण्डारकर का कथन है कि रुद्रदामन द्वारा पराजित होने वाला सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णी था। रैप्सन का मत है कि रुद्रदामन ने पुलुमावी को पराजित किया। डा० रायचौधरी रुद्रदामन द्वारा पराजित सातवाहन राजा वासिष्ठीपुत्र शातकर्णी को बताते हैं। वासिष्ठीपुत्र शातकर्णी रुद्रदामन का जामाता

था। रुद्रदामन ने अपनी पुत्री का विवाह वासिष्ठीपुत्र शातकर्णी के साथ सम्पन्न करवाया था।

जूनागढ़ अभिलेख से आधुनिक गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, उत्तरी कोंकण, सिन्धु घाटी का निचला भाग, माहिष्मती प्रदेश, पूर्वी तथा पश्चिमी मालवा और राजस्थान के कुछ प्रदेश रुद्रदामन के राज्यांतर्गत प्रतीत होते हैं। उसके शासनकाल की एक महत्त्वपूर्ण घटना सुदर्शन झील के बाँध का टूट जाना है। रुद्रदामन ने उसकी मरम्मत करवाकर उसे पहले से तीन गुना मजबूत बना दिया। इस बाँध के पुनर्निर्माण का सम्पूर्ण व्यय उसने स्वयं वहन किया। वह स्वयं विद्वान् था। उसे संगीत, व्याकरण, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों का अच्छा ज्ञान था।

रुद्रदामन की मृत्यु के पश्चात् उसके वंश में कई शासक हुए। किन्तु उसके सभी उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए और वे रुद्रदामन द्वारा विजित विशाल साम्राज्य को अक्षुण्ण न रख सके। तीसरी शताब्दी में आभीरों ने उन पर आक्रमण कर उनकी स्थिति कमजोर कर दी और चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (सन् 380-413 ई०) ने मालवा और काठियावाड़ विजित कर शकों की सत्ता को समूल नष्ट कर दिया।

पह्लव

पह्लवों के सम्बन्ध में अत्यन्त अल्प जानकारी उपलब्ध है। सिक्कों और अभिलेखों से उनके सम्बन्ध में संक्षिप्त प्रकाश पड़ता है। वोनोनिस (वनान) पह्लव कुल का प्रथम शासक था। उसने एराकोसिया और सीस्तान में अपनी सत्ता स्थापित कर 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। उसके सिक्कों में उसके भाइयों (स्पलिराइसिस और स्पलहोरिस्) तथा भतीजे (स्पलगदमिस्) का उल्लेख मिलता है। ऐसा विदित होता है कि उसके भाई तथा भतीजे उसके द्वारा शासित राज्य के प्रान्तों में प्रतिनिधि शासक थे। विंदफर्ण (गोन्डोफरनिस्) इस कुल का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक सिद्ध हुआ।

विंदफर्ण पह्लव कुल का प्रतिभासम्पन्न सम्राट् था। पेशावर जिले में तख्तेवाही नामक स्थान पर उसका एक अभिलेख मिलता है, जिसके आधार पर विद्वानों ने उसका शासनकाल सन् 19 से 45 ई० तक निर्धारित किया है। पेशावर का प्रदेश उसके राज्यान्तर्गत था। सम्भवतः उसने पूर्वी ईरान और उत्तर भारत में शकों को पराजित कर उनके प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। उसे 'भारतीयों का राजा' कहा गया है। यह भी उल्लेख मिलता है कि सन्त टॉमस उसके दरबार में गये थे और उनके उपदेशों के प्रभाव से विंदफर्ण ने ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया था। विंदफर्ण की मृत्यु के पश्चात् पह्लव शक्ति का ह्रास हो गया और कुषाणों ने उनकी शक्ति का अन्त कर दिया।

कुषाण

मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् जिन विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण कर उसे प्रभावित किया, उनमें कुषाण प्रमुख थे। भारतवर्ष के राजनीतिक

तथा सांस्कृतिक इतिहास में कुषाणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुषाण लोग यू-ची जाति की एक शाखा थी जो चीन के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में कानस नामक प्रान्त में निवास करते थे। 165 ई० पू० में ह्यु ंग-नू नामक जाति के लोगों ने उन्हें पराजित कर दिया और कुषाणों को अपने मूल प्रदेश को छोड़कर अन्य प्रदेशों में शरण लेने को बाध्य किया। यू-ची जाति का नेता युद्ध में मारा गया। तत्पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ने यू-चियों का नेतृत्व किया। यू-ची लोग अपने निवास हेतु नवीन प्रदेश की खोज में चल पड़े। इला नदी की घाटी में निवास करने वाली जाति वुसुनो से उनका संघर्ष हुआ। वुसुनो जाति के लोग युद्ध में पराजित हुए और उनका नेता नयन-ताऊ-मी युद्ध में मारा गया। इस विजय के उपरान्त यू-ची दो भागों में विभक्त हो गये। उनकी एक टुकड़ी दक्षिण की ओर जाकर तिब्बत में बस गई और छोटी टुकड़ी यू-ची (सिआवो यू-ची) कहलाई। यू-चियों का बड़ा भाग आगे बढ़ता गया और सरदरिया के उत्तरी प्रदेशों में वसे शकों से जा टकराया। शक पराजित होकर दक्षिण और पश्चिम की ओर भागने को विवश हो हुए। वुसुनो जाति के मृत नेता नयन-ताऊ-मी के पुत्र क्वेन-मो ने 140 ई० पू० में यू-चियों को शकों के प्रदेश से मार भगाया। तत्पश्चात् यू-ची जाति के लोगों ने बैक्ट्रिया और आक्सस नदी की घाटी में निवास करने वाले शान्तिप्रिय और व्यापार में दक्ष शकों को पराजित कर डाला और उस प्रदेश में वस गये। आमूदरिया के उत्तर में स्थित आधुनिक बुखारा के प्रदेश में यू-चियों ने अपनी राजधानी स्थापित की। उन्होंने घुमक्कड़ जीवन को तिलांजलि देकर स्थायी रूप से निवास करना प्रारम्भ कर दिया और वे पाँच भागों में विभक्त हो गए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—हियूमी, कुआंग-मो, कुएई-चुआंग, हि-थुन और काओ-फू, कुए। कुएई-चुआंग (कुषाण) नामक शाखा ने उपर्युक्त अन्य चारों शाखाओं को पराजित करके उन्हें एक छत्र के नीचे संगठित किया।

कुजुल कडफिस—बैक्ट्रिया प्रदेश में बस जाने पर यू-ची जाति के लोग पाँच भागों में बंट गये थे। प्रत्येक शाखा ने अपना पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित कर लिया। इस विभाजन के सौ वर्ष पश्चात् कुएई-चुआंग (कुषाण) शाखा के प्रधान ने अन्य चार शाखाओं को पराजित करके उनके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया और स्वयं को राजा (वांग) घोषित कर दिया। विद्वानों ने उसे कुजुल कडफिस कहा है।

कुजुल कडफिस बड़ा महत्त्वाकांक्षी, वीर और साहसी था। उसने यू-चियों की सभी शाखाओं को एक राजनीतिक सूत्र में बाँध दिया। उसके नाम के अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं और वह इतिहास में 'कडफिस' प्रथम के नाम से विख्यात है। कुजुल कडफिस ने पार्थिया पर आक्रमण किया। उसने काबुल की घाटी को विजित किया और गांधार प्रदेश को अधिकृत कर लिया। कुछ सिक्कों में ग्रीक लिपि में एक ओर काबुल के अन्तिम यूनानी शासक र्हमियस का नाम अंकित है और दूसरी ओर खरोष्ठी में कुजुल कडफिस का नाम मिलता है। इस आधार पर विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि प्रारम्भ में कुजुल कडफिस यूनानी शासक के अधीन था। किन्तु बाद के सिक्कों में उसका नाम अनेक उपाधियों के साथ मिलता है, जो उसकी स्वतन्त्र सत्ता का द्योतक है।

चीनी लेखों से विदित होता है कि कुजुल कडफिस अस्सी वर्ष तक जीवित रहा। इस आधार पर डॉ० त्रिपाठी का कथन है कि उसका अन्त प्रथम शती ई० के तृतीय चरण के मध्य कहीं रखना होगा। स्पष्ट हो जाता है कि बैक्ट्रिया तथा उसके समीप के अन्य प्रदेशों पर विजय पताका फहराते हुए कुजुल कडफिस भारतीय प्रदेशों पर टूट पड़ा। सर्वप्रथम उसने काबुल की घाटी को अधिकृत किया और तत्पश्चात् गांधार प्रदेश पर अधिकार कर लिया। कुजुल कडफिस की मृत्यु के पश्चात् विम कडफिस उसका उत्तराधिकारी बना।

विम कडफिस—कुजुल कडफिस के पश्चात् उसका पुत्र विम कडफिस कुषाण राजगद्दी पर बैठा। वह कडफिस द्वितीय के नाम से भी जाना जाता है। वह अपने पिता की भांति वीर, साहसी और महत्त्वाकांक्षी था। उत्तराधिकार में प्राप्त पैतृक साम्राज्य का उसने निरन्तर विस्तार किया। उसने सम्पूर्ण पंजाब, सिन्धु और आधुनिक उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भागों को जीत लिया था। उसने महाराज, राजाधिराज आदि उपाधियाँ धारण कीं। उसके सिक्कों में उसके लिए माहेश्वर शब्द का प्रयोग किया जाता है और सिक्कों की दूसरी ओर नन्दी का चित्र अंकित है। विम कडफिस सम्भवत: बौद्ध मतावलम्बी बन गया था। वह विशाल साम्राज्य का मालिक था। उसके साम्राज्य की सीमाएं चीन और रोम-साम्राज्य को छूती थीं। विम कडफिस के बाद कुषाण-वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली सम्राट् कनिष्क राजगद्दी पर आसीन हुआ।

कनिष्क—अपनी दिग्विजय और सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण कुषाण नरेश कनिष्क भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। प्राचीन भारत में अशोक के पश्चात् कनिष्क सर्वाधिक चर्चित सम्राट् माना जाता है। उसके सम्बन्ध में अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं और उसे सम्पूर्ण उत्तरी भारत का विजेता कहा गया है। कनिष्क भारत के कुषाण राजाओं में सर्वाधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। भारतीय इतिहास में वह महान् विजेता और बौद्ध धर्म के उदार संरक्षक के रूप में प्रसिद्ध है। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"चन्द्रगुप्त मौर्य की सैनिक योग्यता तथा अशोक का धार्मिक उत्साह दोनों उसे समान मात्रा में उपलब्ध थे।" भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण सम्राट् होने पर भी कनिष्क विषयक ऐतिहासिक ज्ञान अत्यन्त अल्प है। वह विम कडफिस के पश्चात् कुषाण वंश का राजा हुआ। किन्तु उसका विम कडफिस के साथ क्या सम्बन्ध था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं।

विम कडफिस और कनिष्क का सम्बन्ध—कुषाण सम्राट् विम कडफिस और कनिष्क के मध्य क्या सम्बन्ध था, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। विद्वान् स्टेनकोनो ने विम कडफिस और कनिष्क के मध्य सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए यह मत प्रतिपादित किया है कि विम कडफिस यू-चियों की बड़ी शाखा का प्रधान था और कनिष्क उनकी छोटी शाखा का मुखिया (प्रधान) था। किन्तु उनका मत प्रमाणित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि चीनी ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कनिष्क यू-चियों की बड़ी शाखा

का राजा था। कुछ विद्वान् कनिष्क को विम का गवर्नर और कुछ अन्य विद्वान् उसका वंशज बताते हैं। कई स्थानों पर विम कडफिस और कनिष्क के सिक्कों का साथ-साथ मिलना और उनमें एकरूपता होना कनिष्क को विम का वंशज और उत्तराधिकारी सिद्ध करते हैं। सिक्कों के प्रमाण तथा तक्षशिला के भग्नावशेषों से ज्ञात होता है कि विम के काल से कनिष्क का काल अत्यन्त समीप था। अतः कनिष्क विम का उत्तराधिकारी प्रतीत होता है। मथुरा के देवकुल में विम और कनिष्क दोनों की मूर्तियाँ मिली हैं। अतः यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि कनिष्क विम का वंशज था।

कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि—महान् सम्राट् कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। डॉ० त्रिपाठी ने लिखा है कि महान् सम्राट् होने पर भी कनिष्क के विषय में हमारा ज्ञान अधिक नहीं है और उसकी तिथि तो आज भी हमारे लिए पहेली ही है।

कनेडी और फ्लीट महोदय कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि प्रथम शताब्दी ई० पू० मानते हैं। उन्होंने 58 ई० पू० के संवत् का संचालक कनिष्क को ही माना है। कनिंघम और डाऊसन ने भी फ्लीट के मत का समर्थन किया है। किन्तु रैप्सन और मार्शल महोदय इस मत का खण्डन करते हैं।

मार्शल, स्टेनकोनो तथा स्मिथ ने कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि 125 ई० बताई है। किन्तु उनका यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। जूनागढ़ अभिलेख से इस काल में रुद्रदामन की स्वतन्त्र सत्ता का ज्ञान होता है। कनिष्क ने एक संवत् संचालित किया था जिसका प्रयोग उसके उत्तराधिकारियों ने भी किया है। द्वितीय शताब्दी में किसी संवत् की स्थापना नहीं हुई थी। कनिष्क द्वारा संचालित संवत् से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके राज्यारोहण की तिथि 125 ई० नहीं हो सकती।

डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि 248 ई० निर्धारित की है। डा० भण्डारकर ने कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि 278 मानी है। किन्तु ये दोनों मत सत्य से अत्यधिक दूर हैं। कनिष्क के उत्तराधिकारियों के तिथिक्रम तथा तीसरी शताब्दी में भारत की राजनीतिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए उसे इस काल का शासक नहीं माना जा सकता है। चीनी ग्रन्थों से कनिष्क 170 ई० से पूर्व का शासक प्रतीत होता है।

फर्गुसन, ओल्डेनवर्ग, गमस, बनर्जी, रैप्सन तथा डा० त्रिपाठी का कथन है कि कनिष्क 78 ई० में कुषाणवंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ। उनका मत है कि 78 ई० से प्रारम्भ होने वाला संवत् कनिष्क ने संचालित किया था जो बाद में शक संवत् कहलाया। डा० त्रिपाठी ने लिखा है—"कनिष्क के राज्यारोहण का वर्ष वास्तव में 78 ईसवी अथवा 125 ईसवी है। यद्यपि 58 ईसवी पूर्व (फ्लीट) से लेकर 248 ईसवी (डा० आर० सी० मजूमदार) अथवा 278 ईसवी (आर० जी०

भण्डारकर) तक तिथियाँ बताई गई हैं। इस अनन्त वाद-विवाद के बावजूद हमें कनिष्क द्वारा 78 ईसवी के शक सम्वत् का संचालन सही जान पड़ता है।"

यद्यपि द्रुविया तथा जोवो रूबरूडल ने डा० त्रिपाठी तथा अन्य विद्वानों के इस मत की आलोचना की है कि कनिष्क 78 ई० में राजगद्दी पर बैठा, तथापि डा० त्रिपाठी का मत ही सत्य के सन्निकट है।

कनिष्क की दिग्विजय—कनिष्क एक महान् योद्धा, रणकुशल और महत्त्वाकांक्षी सम्राट् था। विम कडफिस से उत्तराधिकार में प्राप्त साम्राज्य का उसने निरन्तर विस्तार किया। महत्त्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी होने के कारण कनिष्क द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने पर भी उसकी साम्राज्य-विस्तार की नीति पर कोई असर नहीं पड़ा। सर्वप्रथम उसने कश्मीर की सुन्दर घाटी पर विजय प्राप्त कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। कल्हणकृत राजतरंगिणी में कनिष्क की कश्मीर-विजय का उल्लेख मिलता है। कश्मीर में उसने अनेक स्मारक बनवाए और श्रीनगर के समीप कनिष्कपुर नामक नगर बसाया। चीनी और तिब्बती साक्ष्यों से विदित होता है कि उसने साकेत और मगध तक धावे मारे। पाटलिपुत्र के राजा को पराजित कर वह अश्वघोष नामक विद्वान् को युद्ध के हर्जाने के रूप में वहाँ से अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) ले आया। कनिष्क अश्वघोष की विद्वत्ता से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने अश्वघोष से दीक्षा ग्रहण कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। मथुरा और सारनाथ में कनिष्क तथा उसके वंशजों के लेख मिलते हैं। बंगाल में कनिष्क की मुद्राएं मिलने से विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि उसका राज्य बंगाल तक विस्तृत था। एक अभिलेख में कनिष्क द्वारा सिन्धु घाटी पर की गई विजय का उल्लेख मिलता है। कुछ अन्य अभिलेखों से कंबोज, गांधार, काहिया और काबुल पर कनिष्क के अधिकार का विवरण मिलता है। भारत में एक संगठित, शक्तिशाली और विस्तृत साम्राज्य की स्थापना कर कनिष्क विदेशी-राज्यों पर टूट पड़ा।

पार्थिया से युद्ध—पार्थिया और कुषाण साम्राज्य की सीमाएं एक-दूसरे को छूती थीं। पार्थिया का एरियाना-प्रदेश कनिष्क के अधिकार में था, जिसे पार्थिया पुनः हस्तगत करना चाहता था। व्यापारिक दृष्टि से बैक्ट्रिया की स्थिति महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि यहीं से भारत, मध्य एशिया, चीन आदि देशों को व्यापारिक मार्ग जाते थे। बैक्ट्रिया कनिष्क के अधीन था। अतः अपनी समृद्धि हेतु पार्थिया उस पर अधिकार करना चाहता था। फलतः दोनों के मध्य संघर्ष छिड़ गया। चीनी साक्ष्यों से विदित होता है कि नान-सी के राजा ने देवपुत्र कनिष्क पर आक्रमण कर दिया, परन्तु असफल रहा। कनिष्क ने उसे पराजित कर दिया। नान-सी का समीकरण पार्थिया से किया जाता है।

चीन से युद्ध—कनिष्क के शासनकाल में चीन में शक्तिशाली और साम्राज्यवादी हान-वंश राज्य कर रहा था। उसके सेनापति पानचाऊ ने खोतान, काशगर, कूचा, कराशहर आदि को चीनी राज्य में मिला लिया और उसके साम्राज्य की

सीमा कनिष्क के राज्य को छूने लगी। चीन की साम्राज्यवादी नीति को अपने साम्राज्य के लिए खतरा समझकर कनिष्क ने उसका प्रतिरोध करने का निश्चय किया। चीनी-सम्राट् से अपनी समानता स्थापित करने के उद्देश्य से कनिष्क ने अपना एक राजदूत इस हेतु चीन भेजा कि चीनी राजकुमारी के साथ उसका विवाह कर दिया जाय। पान-चाऊ को कनिष्क का यह प्रस्ताव अपमानजनक लगा। उसने कनिष्क के दूत को बन्दी बना लिया। इसकी सूचना मिलते ही कनिष्क ने सात हजार अश्वारोहियों की सेना पामीर के उस पार भेजकर चीन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। किन्तु वह पान-चाऊ द्वारा पराजित हुआ। इस पराजय के फलस्वरूप कनिष्क ने प्रतिवर्ष चीन को कर देने का वचन दिया। ह्वेन्सांग के यात्रा वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि कनिष्क ने शीघ्र ही अपनी इस पराजय का बदला ले लिया। उसने यारकंद, खोतान और काशगर को विजित कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस युद्ध में पान-चाऊ का पुत्र पान यांग पराजित हुआ। कहा जाता है कि इस विजय के फलस्वरूप कनिष्क दो चीनी राजकुमारों को बन्दी बनाकर जमानत के तौर पर अपने दरबार में लाया। किन्तु ठोस ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में इस विवरण की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

रोम-साम्राज्य के साथ सम्बन्ध—कनिष्क के राज्यकाल में रोम-साम्राज्य और पार्थिया-साम्राज्य के मध्य वैमनस्य की भावना व्याप्त थी। पार्थिया और कुषाण-साम्राज्य के बीच भी शत्रुता थी। अतः कुषाण-साम्राज्य के विरुद्ध रोम-साम्राज्य और पार्थिया साम्राज्य के परस्पर मिलने की पूर्ण सम्भावना थी। इस संकट से बचने के उद्देश्य से कनिष्क ने भारत और रोम-साम्राज्य के मध्य व्यापारिक तथा कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए और दोनों ने एक-दूसरे की राजसभा में दूत नियुक्त किए।

कनिष्क का साम्राज्य-विस्तार—कनिष्क एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था। पंजाब, कश्मीर, सिन्ध और संयुक्त प्रान्त उसके शासनाधीन थे। विद्वानों ने उसका साम्राज्य मध्य एशिया से लेकर भारत में बनारस, साँची और विदिशा तक विस्तृत बतलाया है। कनिष्क के साम्राज्य की सीमाएं उत्तर में चीनी साम्राज्य से मिलती थीं और पश्चिम में पार्थियन साम्राज्य की सीमा तक विस्तृत थीं। इस विशाल साम्राज्य की राजधानी पुरुषपुर थी। भारत के बाहर उसमें अफगानिस्तान, बैक्ट्रिया, काशगर, खोतान और यारकन्द शामिल थे। शकों की भाँति कनिष्क ने भी अपने विशाल साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में महाक्षत्रप शासन-प्रणाली लागू की। इतिहासकारों ने उसके साम्राज्य की सीमा पश्चिम में खुरासान से पूर्व में बिहार तक और उत्तर में काशगर से लेकर दक्षिण में मालवा तक निर्धारित की है। सामरिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए कनिष्क ने अपने साम्राज्य के मध्य में स्थित पुरुषपुर (पेशावर) को अपनी राजधानी बनाया।

शासन-प्रबन्ध—कुषाणकालीन सिक्कों से विदित होता है कि उस काल में राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों प्रकार की शासन-पद्धतियाँ प्रचलित थीं। किन्तु

गणतन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्रात्मक शासन-पद्धति की अधिकता थी। कुषाणों के सिक्कों में क्षत्रपों, स्टेट्जस, मैरिडच आदि अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। प्रान्त के गवर्नर को क्षत्रप अथवा महाक्षत्रप कहा जाता था। स्टेट्जस सैनिक अधिकारी था। जिला न्यायाधीश मैरिडच कहलाता था। इन अधिकारियों की नियुक्ति उत्तर-पश्चिम में की गई थी। भारतीय प्रदेशों के प्रमुख अधिकारी अमात्य और महासेनापति कहलाते थे।

कुषाण शासकों ने महीश्वर, देवपुत्र, केसर और शाहीशानुशाही आदि विरुद धारण किए थे। प्रधानतया कुषाण-साम्राज्य राष्ट्र, आहार, जनपद और विषय नामक इकाइयों में विभक्त था।

सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

भारतीय इतिहास में कनिष्क अपनी राजनीतिक उपलब्धियों की अपेक्षा सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए अधिक प्रसिद्ध है। उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियों का विवरण इस प्रकार है—

कनिष्क का धर्म—कनिष्क के सिक्कों पर यूनानी, ईरानी और हिंदू देवताओं के चित्र अंकित हैं। मूर्तियों से वह यूनानी और ईरानी धर्मों का उपासक प्रतीत होता है। बाद में बौद्ध पंडित अश्वघोष के संपर्क और प्रभाव में आने के कारण उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। बौद्ध अनुश्रुतियों से विदित होता है कि प्रारम्भ में कनिष्क अशोक (कलिंग विजय से पूर्व का अशोक) की भांति रक्त-पिपासु और युद्धप्रेमी था, परन्तु बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के उपरांत वह शांति और अहिंसा का पुजारी बन गया। बौद्ध ग्रन्थों, राजतरंगिणी, मुद्राओं, तारानाथ के कथन तथा ह्वेन्सांग के यात्रा-वृत्तांत एवं कनिष्क द्वारा निर्मित बौद्ध विहार, मठ, चैत्य, स्तूप आदि के निर्माण से यही विदित होता है कि कनिष्क ने रक्त पिपासा, क्रूरता, निर्दयता और युद्धप्रेम की भावना को कम करके बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। उसने पेशावर में एक विशाल विहार बनवाया तथा बुद्ध की अस्थियों को विशाल स्तूपों में रखवाया। बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के उपरांत कनिष्क ने उसके प्रचार और प्रसार की ओर विशेष ध्यान दिया। यद्यपि वह अशोक की भाँति धर्म-प्रचार कार्य संपन्न तो नहीं कर पाया, तथापि उसने उस ओर प्रयत्न अवश्य किए। उसने बौद्ध भिक्षुओं को धर्म-प्रचार हेतु मध्य एशिया, तिब्बत, चीन और जापान में भेजा।

बौद्ध धर्म का अनुयाई होने पर भी कनिष्क के हृदय में धार्मिक सहिष्णुता की भावना व्याप्त थी। उसकी मुद्राओं पर यूनानी, ईरानी और हिंदू धर्म के देवताओं के चित्रों को उत्कीर्ण किया जाना उसकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का परिचायक है। उसने अपने शासनकाल में बौद्ध संगीति आयोजित की जो बौद्ध साहित्य में चतुर्थ बौद्ध संगीति के नाम से प्रसिद्ध है।

चौथी बौद्ध संगीति – चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन कनिष्क के शासनकाल की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। कनिष्क द्वारा आयोजित चौथी बौद्ध संगीति के स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि यह संगीति गांधार में आयोजित की गई, परन्तु कुछ अन्य इतिहासकार यह मत प्रस्तुत करते हैं कि चौथी बौद्ध संगीति जालंधर में संपन्न हुई थी। किंतु प्रामाणिक साक्ष्यों के आधार पर संगीति का स्थल कश्मीर का कुण्डल वन प्रतीत होता है। अधिकांश विद्वान् इसी मत कौ मानते हैं।

बौद्ध संप्रदायों के परस्परविरोधी सिद्धांतों से व्यग्र होकर कनिष्क ने अपने गुरु पार्श्व की सलाह पर एक बौद्ध संगीति आयोजित की, जिसमें पाँच सौ विद्वान् भिक्षुओं ने भाग लिया। बौद्ध साहित्य में इसे 'चौथी बौद्ध संगीति' कहा गया है। यह संगीति वसुमित्र की अध्यक्षता में कश्मीर के कुण्डल वन में संपन्न हुई। अश्व घोष को उसका उपाध्यक्ष मनोनीत किया गया था। इस संगीति में बौद्ध धर्म के मतभेदों को दूर कर संस्कृत भाषा में त्रिपिटक ग्रन्थों पर प्रामाणिक टीकाएं लिखी गईं और 'महाविभाष' नामक बौद्ध ज्ञानकोश तैयार किया गया। यह संगीति छः माह तक चलती रही। इसमें बौद्ध धर्म के ऊपर बड़े-बड़े भाष्य संपादित हुए जिन्हें सम्राट कनिष्क ने ताम्रपत्रों पर अंकित करवा कर एक स्तूप में सुरक्षित रखवा दिया। बौद्धधर्म के 'महायान' संप्रदाय को मान्यता प्रदान करना चौथी बौद्ध संगीति की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। महायान बौद्ध अनुयाई महात्मा बुद्ध को भगवान का अवतार मानकर उनकी उपासना करते थे। महायान संप्रदाय के प्रचार के लिए कनिष्क ने स्वदेश और विदेशों में अनेक प्रयास किये। विहार, स्तूप, मूर्तियाँ आदि निर्मित की गईं और विदेशों में धर्म प्रचारक भेजे गये। फलतः बौद्ध धर्म यथा-शीघ्र तिब्बत, खोतान, काशगर, चीन और जापान आदि देशों में फैल गया। इस संदर्भ में विद्वानों का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'हीनयान-संप्रदाय' में जो स्थान अशोक का है, महायान-संप्रदाय के प्रचार में वही स्थान कनिष्क का है।

साहित्य—कनिष्क विद्यानुरागी सम्राट था। उसने अपने समकालीन प्रसिद्ध विद्वानों, दार्शनिकों और धर्माचार्यों को राज्याश्रय प्रदान किया। अनुश्रुतियों से विदित होता है कि कनिष्क की राजसभा पार्श्व, वसुमित्र, अश्वघोष, नागार्जुन, चरक, मातृचेट आदि महान् दार्शनिकों और मेधावियों से सुशोभित थी। प्रसिद्ध विद्वान् वसुमित्र की अध्यक्षता में चतुर्थ बौद्ध संगीति का अधिवेशन संपन्न हुआ था। उसने बौद्ध धर्म पर प्रामाणिक टीकाएं लिखीं। अश्वघोष उच्चकोटि का कवि, दार्शनिक, लेखक और नाटककार था। उसने सत्तरह सर्गों में 'बुद्धचरित्र' नामक प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना की। इस महाकाव्य में बुद्ध के चरित्र एवं शिक्षाओं का उल्लेख किया गया है। अश्वघोष का दूसरा ग्रन्थ 'सौंदरानंद' है। उसने 'सारिपुत्र प्रकरण' नामक प्रसिद्ध नाटक की भी रचना की। अश्वघोष को चौथी बौद्ध संगीति के अधिवेशन का उपाध्यक्ष मनोनीत किया गया था। वसुमित्र की अनुपस्थिति में अश्वघोष इस संगीति के अधिवेशन का संचालन करता था। बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध

विद्वान् पार्श्व कनिष्क का गुरु था । चरक कनिष्क का राजवैद्य था । उसकी रचना 'चरक-संहिता' भारतीय आयुर्वेद की अमूल्य निधि है । कनिष्क की राजसभा में विदर्भ का ब्राह्मण नागार्जुन भी रहता था । वह उस समय का प्रसिद्ध विद्वान् और दार्शनिक था । उसने ब्राह्मण धर्म का परित्याग कर बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था । उसे शून्यवाद का प्रवर्तक माना जाता है । कुछ विद्वानों का मत है कि उसके शून्यवाद ने गुरु शंकराचार्य के मायावाद को प्रभावित किया । उसने 'सुहल्लेखा' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की । नागार्जुन न केवल दार्शनिक था वरन् वैज्ञानिक भी था । उसने अपने ग्रन्थ 'माध्यमिका सूत्र' (प्रज्ञापारमिता-सूत्र) में सृष्टि-सिद्धांत (सापेक्षवाद) को प्रतुस्त किया है । कनिष्क का मन्त्री मथर एक चतुर और सफल राजनीतिज्ञ था । अजेसिलास नामक यूनानी सम्राट कनिष्क का मुख्य अभियन्ता था ।

मूर्ति कला—कनिष्क साहित्य प्रेमी ही नहीं अपितु कला प्रेमी भी था । उसने एक नगर तक्षशिला और दूसरा कश्मीर में कनिष्कपुर के नाम से बसाया । अपनी राजधानी पुरुषपुर में उसने अनेक भव्य महल निर्मित करवाए तथा 400 फीट ऊँचा लकड़ी का एक स्तंभ और बौद्ध विहार बनवाए । कनिष्क ने अपने साम्राज्य के प्रमुख स्थलों पर विहार, स्तूप, भवन आदि का निर्माण करवाया । चीनी यात्री फाहियान ने भारत-भ्रमण (405-411 ई०) के समय कनिष्क द्वारा निर्मित बौद्ध विहारों और स्तूपों के दर्शन किए । कनिष्क के शासन काल में सर्वाधिक प्रगति मूर्तिकला के क्षेत्र में हुई । गांधार और मथुरा उस काल में मूर्तिकला के प्रसिद्ध केंद्र थे ।

गांधार कला—सिकन्दर महान् के भारत-अभियान के फलस्वरूप अनेक यूनानी भारत में ही बस गये थे । पश्चिमोत्तर सीमांत क्षेत्र में निवास करने वाले यूनानी कालांतर में भारतीय समाज और धर्म में अधिक घुल-मिल गये अर्थात् यूनानी और भारतीय परस्पर एक दूसरे के निकट संपर्क में आए । अनेक यूनानी भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन हो गये । इसका प्रभाव कला पर भी पड़ा । भारतीय और यूनानियों के परस्पर निकट संपर्क में आने से एक नवीन कला का जन्म हुआ जो गांधार कला के नाम से प्रसिद्ध हुई । इस कला का उद्भव और विकास गांधार प्रदेश के विभिन्न नगरों पुष्करावती, तक्षशिला, पुरुषपुर (पेशावर) और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में होने के कारण इसे 'गांधार कला' कहा जाता है । गांधार कला की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके कलाकार और शैली ग्रीक होते हुए भी इसके विषय सदैव भारतीय रहे हैं । गांधार प्रदेश अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण प्राचीन काल से ही भारतीय कला, ग्रीक और रोमन संस्कृतियों का मिलन स्थल बना रहा । गांधार कला शैली ग्रीक और रोमन तत्त्वों का सम्मिश्रण थी । इस-लिए इसे 'इण्डोग्रीक', 'ग्रीको-बुद्धिस्ट', 'इण्डोबैक्ट्रियन', 'इण्डो-हैलेनिक', 'इण्डो-रोमन' 'ग्रीको-रोमन' आदि नामों से जाना जाता है । बी० एन० लुनिया ने लिखा है—"गांधार कला निस्संदेह यूनानी कला अथवा निश्चयात्मक रूप से रोमन साम्राज्य और एशिया माइनर की हैलेनिष्टिक कला से उत्पन्न हुई है । सरसरी तौर से देखने पर गांधार कला का संबन्ध यूनानी कला से हा प्रतीत हाता है । इसी कारण से यह

कला 'हिन्दू यूनानी' या 'ग्रीको रोमन कला' के नाम से विख्यात है । गांधार देश में विकसित होने के कारण इस कला का नाम उस प्रदेश के अनुकूल 'गांधार शैली' पड़ा । कभी-कभी इसे 'ग्रीको बुद्धिस्ट' अथवा 'इण्डोहैलेनिक' कला भी कहते हैं ।

गांधार कला के आविर्भाव की तिथि ठीक-ठीक निर्धारित करना कठिन है, परंतु फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस कला का आविर्भाव पहली शताब्दी ई० पू० में हो चुका था और महान् कुषाण सम्राट के शासन काल में वह (गांधार-कला) उन्नत अवस्था में थी ।

कनिष्क के शासनकाल से पूर्व बौद्ध अनुयाई (हीनयान) महात्मा बुद्ध की प्रतिमाएं निर्मित करना धर्म के विरुद्ध मानते थे । आवश्यकता पड़ने पर कुछ विशेष प्रतीकों (घोड़ा, छत्र, सिंहासन अथवा चरण पादुकाओं) के माध्यम से बुद्ध के अस्तित्व को प्रदर्शित किया जाता था । कनिष्क द्वारा कुण्डल वन में आयोजित चतुर्थ बौद्ध संगीति में महायान संप्रदाय को मान्यता प्रदान की गई । महायान बौद्ध अनुयाई बुद्ध को भगवान का अवतार मानते थे । अत: वे बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ निर्मित कर उनकी उपासना करने लगे, गांधार कला के अंतर्गत महात्मा बुद्ध और बोधिसत्वों की अनेक प्रतिमाएं बनाई गईं तथा महात्मा बुद्ध के जीवन से संबंधित अनेक घटनाओं (बुद्ध के जन्म, सम्बोधि, धर्म-चक्र-प्रवर्तन और महापरिनिर्वाण की घटनाओं) को मूर्तियों द्वारा प्रदर्शित किया गया है ।

गांधार कला की विशेषताएं - गांधार कला की प्रमुख विशेषता यह है कि उसकी शैली और शिल्पकला यूनानी होते हुए भी उसके विषय, अभिप्राय और प्रतीक भारतीय थे । महात्मा बुद्ध को विभिन्न मुद्राओं (धर्मचक्र मुद्रा, अभय मुद्रा आदि मुद्राओं) में प्रदर्शित किया गया है । गांधार कला शैली के अंतर्गत बनी बुद्ध प्रतिमाएं इतनी सुन्दर हैं कि उनकी तुलना यूनानी सौंदर्य के देवता 'अपोलो' से की जाती है । उनके वस्त्र और अलंकरण भी विदेशी हैं । बोधिसत्वों की मूर्तियाँ आध्यात्मिक न लगकर यूनानी सम्राटों की भाँति लगती हैं । महात्मा बुद्ध के मुख पर आध्यात्मिकता की भावना न होकर व्यर्थ का आडम्बर दिखाई देता है । इस संदर्भ में कला मर्मज्ञ आनन्द कुमार स्वामी का यह कथन उल्लेखनीय है - 'पश्चिमी रूपों का समस्त परवर्ती भारतीय तथा चीनी बौद्ध कला पर प्रभाव सुस्पष्ट रूप से खोजा जा सकता है, परंतु गांधार की वास्तविक कला निगूढ़ मिथ्यात्व का आभास देती है क्योंकि बोधिसत्वों की संतुष्ट अभिव्यक्ति तथा कुछ-कुछ आडम्बरपूर्ण वेशभूषा तथा बुद्ध मूर्तियों की स्त्रैण तथा निर्जीव मुद्राएं बौद्ध विचारधारा की आध्यात्मिक शक्ति को अभिव्यक्ति प्रदान नहीं कर पातीं ।"

यूनानी कलाकार शारीरिक सौंदर्य और बौद्धिकता पर बल देते थे, जबकि भारतीय कला में आध्यात्मिकता तथा भावुकता की प्रधानता रही है । गांधार कला शैली के अन्तर्गत बनी मूर्तियों में शारीरिक सौंदर्य और बौद्धिकता का प्रदर्शन किया गया है ।

गांधार कला के प्रमुख केंद्र जलालाबाद, हड्ड, बमियां, स्वातघाटी और पेशावर थे। मूर्तियां भूरे रंग के पत्थर और स्लेटी पत्थर की बनी हैं। यह स्लेटी पत्थर गांधार प्रदेश में ही प्राप्त हो जाता था। गांधार कला के अन्तर्गत जिन प्रतिमाओं का निर्माण हुआ कला की दृष्टि से वे उत्कृष्ट कोटि की हैं। डॉ० नीहाररंजन रे का कथन है कि ऐसा प्रतीत होता है कि गांधार की मूर्तियां सिद्धहस्त कलाकारों द्वारा निर्मित न होकर मशीनों द्वारा तैयार की गई थीं। इस काल में शारीरिक सौंदर्य की प्रधानता है। बुद्ध के सिर पर घुंघराले बाल दिखाए गए हैं।

गांधार प्रदेश में निर्मित मूर्तियां मांसल हैं। मूर्तियों के होठ मोटे और आँखें भारी चित्रित की गई हैं। बौद्ध प्रतिमाएं आध्यात्मिकता से रहित हैं। बुद्ध को सुन्दर वस्त्र आभूषणों से सजाकर सिंहासन पर आसीन दिखाया गया है। कुछ प्रतिमाओं में उन्हें पाँव में चप्पल पहने प्रदर्शित किया गया है जो प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुरूप न होकर स्पष्ट रूप से विदेशी प्रभाव का परिणाम है। मूर्तियों के मुख मण्डल के चतुर्दिक प्रभाकर मण्डल है। आध्यात्मिकता और भावुकता के स्थान पर शारीरिक सौंदर्य और बौद्धिकता को महत्त्व दिया गया है।

गांधार कला के अंतर्गत स्तूपों को अधिक ऊँचा बनाया गया है। उसे ऊँचा आकार देने के निमित्त उसे चबूतरे के ऊपर बनाया गया है तथा स्तूप के ऊपर एक छत्र भी लगाया गया है।

भारतीय मूर्तिकला पर गांधार कला का प्रभाव—गांधार कला ने भारतीय मूर्ति कला को कहाँ तक प्रभावित किया, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। डॉ० स्मिथ तथा सर जॉन मार्शल का मत है कि गांधार कला के निर्माता यूनानी शिल्पकारों का अनुकरण कर भारतीय कलाकारों ने अपने धर्म के देवी-देवातओं की प्रतिमाएं बनाना प्रारम्भ कर दिया था। डॉ० राखलदास बनर्जी का मत है—"गांधार कला पाँच शताब्दियों तक विकसित होती रही और शनैः शनैः उसने भारत तथा अपने प्रभाव क्षेत्र में आने वाले अन्य देशों के कलात्मक स्कूलों को प्रभावित किया। मध्य एशिया में पाए गए भारतीय कला के अवशेष तथा कृष्णा जिले में अमरावती में पाए गए बौद्ध अवशेष गांधार कला के दूरगामी प्रभाव के परिचायक हैं। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों का आकार भारतीय मूर्तिकला को गांधार कला की मुख्य देन है।"

कुछ विद्वान् भारतीय कला को गांधार कला के प्रभाव से मुक्त मानते हैं। हेवल महोदय का मत है कि गांधार कला भारतीय कला को आध्यात्मिक दृष्टि से प्रभावित नहीं कर पाई। उसका प्रभाव केवल बाह्य है। विलडयूरैण्ड का कथन है—"गांधार कला का भारतीय मूर्तिकला के आकार तथा ढंग पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, जब कुछ शताब्दियों के भरपूर विकास के पश्चात् गांधार स्कूल समाप्त हुआ तो हिन्दू शासकों के संरक्षण में भारतीय कला पुनः विकसित होने लगी। उसने भरहुत, अमरावती तथा मथुरा के देशीय कलाकारों द्वारा छोड़ी गयी परम्परा को फिर से अपनाया और गांधार के यूनानी अन्तराल की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।"

डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—"गांधार कला ने भारतीय कला के अन्य स्कूलों पर भी कुछ प्रभाव डाला जैसा कि स्वयं उस पर उन स्कूलों ने प्रभाव डाला। किन्तु उस प्रभाव की प्रकृति तथा मात्रा का विषय विवादास्पद है। यह भारत के हृदय में प्रवेश न पा सकी और भारतीय कला के उत्तरकालीन विकास में इसका कोई हाथ न था, किन्तु भारत के बाहर गांधार कला ने महान् सफलता प्राप्त की क्योंकि यह पूर्वी अथवा चीनी तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान की बौद्ध कला की जन्मदात्री बनी।"

गांधार कला पाँच शताब्दियों तक विकसित होती रही। बुद्ध और बोधिसत्वों की अनेक मूर्तियों का निर्माण हुआ। पॉल मेसन आॅरसैल का मत है कि गांधार कला पर भारत की अपेक्षा यूनानी प्रभाव अधिक है। डॉ० क्रैमरिश ने लिखा है—"एक दृष्टि से इसे (गांधार कला को) ईरानी लक्षणों से युक्त यूनानी सभ्यता का पूर्ववर्ती विस्तार समझा जा सकता था, दूसरी दृष्टि से इसे भारतीय संस्कृति का पश्चिमी देश में पश्चिमवर्ती गमन समझा जा सकता है।" गांधार कला के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इस कला के कलाकार के पास यूनानी हाथ और भारतीय हृदय था। इसमें यूनानी मूर्तिकला की वास्तविकता और भारतीय कला की भावमय आध्यात्मिक अभिव्यंजना का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया।"

मथुरा कला—कनिष्क के काल में गांधार प्रदेश की भाँति मथुरा कला के प्रमुख केंद्र के रूप में ख्याति अर्जित कर चुका था। उस स्थान के अनुरूप यहाँ विकसित होने वाली कला का नाम 'मथुरा कला' पड़ा। गांधार कला ने मथुरा कला को प्रभावित किया अथवा नहीं, इस सन्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि मथुरा कला का आविर्भाव गांधार कला के प्रभावस्वरूप हुआ, किन्तु भारतीय विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। भारतीय विद्वानों का कथन है कि मथुरा कला गांधार कला से अधिक प्राचीन है। उनका मत है कि मथुरा कला का उदय साँची, सारनाथ और भरहुत की स्वदेशी कला के सूत्र को लेकर हुआ। कालांतर में गांधार कला ने उसे आंशिक रूप से प्रभावित किया। मथुरा कला को गांधार कला की अपेक्षा अधिक प्राचीन बताते हुए कलाविद वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि सर्वप्रथम मथुरा में ही बुद्ध मूर्तियों का निर्माण किया गया जहाँ इनके लिए पर्याप्त धार्मिक आधार था। इस संदर्भ में रालिन्सन का यह कथन उल्लेखनीय है—"उसी समय समकालिक कला की एक विशुद्ध देशी, जिसका भरहुत और साँची से उद्भव हुआ था, मथुरा मीटा, वेसनगर तथा केन्द्रों में प्रचलित थी। पहले यह धारणा थी कि बुद्ध, महावीर और हिन्दू देवताओं की मूर्ति निर्माण का प्रारम्भ विदेशी प्रभावों के कारण हुआ। परन्तु अब सामान्यतया इस बात पर अधिकांश सहमत हैं कि इसका उद्भव मथुरा के देशी कलाकारों द्वारा खोजा जाना चाहिए, न कि गांधार के।" रालिसन, डॉ० नीहाररंजन रे तथा क्रिस्टमस हम्फ्रीज का मत है कि मथुरा कला की सर्वाधिक पुरातन मूर्तियों का भरहुत की कला से सम्बन्ध है।

मथुरा कला के अन्तर्गत बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ निर्मित की गईं। ये मूर्तियाँ लाल बलुए पत्थर की हैं। गांधार कला की भाँति महात्मा बुद्ध के मुख के चारों ओर प्रभामण्डल है। उनका सिर मुण्डित है। महात्मा बुद्ध की कुछ प्रतिमाएं सिंहासन पर बैठी दिखाई गई हैं। मूर्तियाँ ऊर्ध्ववस्त्र और अधोवस्त्र धारण किए हैं। मूर्तियाँ आध्यात्मिक एवं भावना प्रधान हैं। महात्मा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण घटनाओं और जातक कथाओं को शिलापट्टों पर चित्रित किया गया है। मथुरा कला के शिल्पकारों ने शक-कुषाण राजाओं, राजकुमारों और सरदारों की मूर्तियाँ निर्मित कीं। कुशाण सम्राट विम कडफिस और कनिष्क की मस्तक रहित प्रतिमाएं मिली हैं जो राजकीय संग्रहालय मथुरा में संग्रहीत हैं। मथुरा के निकट एक टीले पर विम कडफिस की मूर्ति मिली है। यह मूर्ति सिंहासन पर आसीन है तथा चोंगा और पायजामा पहने है। मथुरा जिले के माट नामक स्थान से प्राप्त कनिष्क की मस्तक रहित मूर्ति कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की है। यह प्रतिमा 5 फुट 7 इंच ऊँची है। राजा घुटने तक कोट पहने है। वह पैरों में जूते पहने है। कनिष्क का दायाँ हाथ गदा पर टिका है तथा बायें हाथ से वह तलवार पकड़े है।

मथुरा के कलाकारों ने ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म की मूर्तियाँ भी निर्मित कीं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कार्तिकेय, गणेश, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, कृष्ण, लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, दुर्गा आदि देवी-देवताओं की मूर्तियाँ निर्मित की गईं। जैन तीर्थं-करों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं। यक्ष-यक्षिणी की प्रतिमाओं में कामुकता का प्रदर्शन किया गया है। मथुरा के अतिरिक्त कुषाण काल में सारनाथ, कौशाम्बी, श्रावस्ती, अहिच्छत्र आदि स्थानों पर मृण्मय मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ मिट्टी की हैं। कला की दृष्टि से ये उच्च कोटि की हैं। मथुरा कला शैली के अंतर्गत बनी मूर्तियों की अद्‌भुत कला पर प्रकाश डालते हुए डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है—"भारतीय कला में एक परमयोगी के मुख पर दैवी भावना होनी चाहिए, उसकी वृत्ति किस प्रकार अंतर्मुखी होनी चाहिए और उपासक के हृदय में अपने उपास्य देव का कैसा लोकोत्तर रूप होना चाहिए—इस सबको पत्थर की मूर्ति में उतार कर मथुरा के ये शिल्पी चिर यश के भागी हुए हैं।"

व्यापारिक उन्नति—कनिष्क का साम्राज्य पश्चिमोत्तर प्रदेश और मध्य एशिया तक के कुछ भागों तक विस्तृत होने के कारण ईरान, मध्य एशिया, चीन आदि देशों के साथ भारतवर्ष के व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए। भारत और विदेशों में परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ। रोम-साम्राज्य के साथ भारत के व्यापार में भारी वृद्धि हुई। रोमवासी भारत से विलासिता की वस्तुएं भारी मात्रा में खरीद कर उन्हें स्वर्ण दिया करते थे जिस पर प्लिनी नामक लेखक ने चिंता व्यक्त की थी।

कनिष्क की मृत्यु—लगभग 47 वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरांत 125 ई० में कनिष्क का देहावसान हो गया। उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह कहा जाता

है कि निरन्तर सामरिक अभियान से उसके सैनिक थक चुके थे । युद्ध से ऊब कर उसके सैनिकों ने उसे गला घोंटकर मार डाला ।

मूल्यांकन—भारतवर्ष के इतिहास में कनिष्क का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यदि उसे मौर्य शासकों और गुप्त राजाओं के मध्य का सर्वाधिक शक्तिशाली, प्रभावशाली और प्रमुख भारतीय नरेश कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी । कनिष्क एक महान् विजेता, कुशल प्रशासक, महान् निर्माता, धर्मतत्त्ववेत्ता, कला प्रेमी और साहित्य का संरक्षक था । उसके काल में धर्म, साहित्य और कला क्षेत्र में असाधारण प्रगति हुई । वह विशाल साम्राज्य का स्वामी था । किसी भी भारतीय नरेश के राज्य में मध्य एशिया का इतना बड़ा भू-भाग सम्मिलित नहीं था जितना कि कनिष्क के राज्य में । उसके साम्राज्य की विशालता के फलस्वरूप मध्य एशिया और चीन के साथ भारत के व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए । फलत: मध्य एशिया और चीन में भारतीयों ने कई उपनिवेश बसाये ।

कुछ विद्वानों ने कनिष्क की तुलना अशोक महान् के साथ की है । उनका कथन है कि प्रारम्भ में दोनों क्रूर नरसंहारक थे, किन्तु बौद्ध धर्म के प्रभावस्वरूप उनका हृदय परिवर्तन हुआ । अशोक और कनिष्क दोनों ने बौद्ध धर्म प्रचार व प्रसार के लिए अनेक प्रयत्न किए । यदि अशोक ने पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन किया तो कनिष्क ने कश्मीर के कुण्डल वन में चतुर्थ बौद्ध संगीति आयोजित की । यदि अशोक ने भारत, लंका और सीमावर्ती देशों में बौद्धधर्म का प्रचार किया तो कनिष्क भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहा । उसने तिब्बत, चीन और जापान में बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार हेतु अनेक प्रत्यन किए । दोनों विशाल साम्राज्य के स्वामी थे । इन समानताओं के फलस्वरूप कनिष्क को दूसरा अशोक कहा गया हैं ।

सम्राट् अशोक और कनिष्क के चरित्र में काफी समानताएं होने पर भी पर्याप्त भिन्नताएं थीं । अशोक हीनयान बौद्ध धर्म का अनुयाई था, जबकि कनिष्क महायान बौद्ध संप्रदाय का अनन्य भक्त था । बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के उपरांत अशोक का हृदय परिवर्तन हुआ । उसने भविष्य में युद्ध न करने का संकल्प किया । किन्तु कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात् भी साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा का परित्याग नहीं किया । बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के उपरांत भी वह शस्त्र-विजय के अभियान में व्यस्त रहा । जिस त्याग और उत्साह के साथ अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया, वैसा कनिष्क नहीं कर पाया । कनिष्क ने अशोक की भाँति अहिंसा के सिद्धान्त को व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ नहीं किया । निस्संदेह बौद्ध धर्म के पालनकर्त्ता, धर्मप्रचारक, विशुद्ध मानव-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत और अहिंसा के पुजारी के रूप में अशोक कनिष्क से महान् था । उक्त क्षेत्रों में विश्व का कोई भी सम्राट अशोक की बराबरी नहीं कर सकता ।

कनिष्क के उत्तराधिकारी

कनिष्क के उत्तराधिकरियों के सम्बन्ध में अत्यन्त स्वल्प जानकारी उपलब्ध है। वासिष्क, हुविष्क और वासुदेव नामक उसके तीन उत्तराधिकारियों का उल्लेख मिलता है।

वासिष्क—कनिष्क की मृत्यु के पश्चात् वासिष्क कुषाण-साम्राज्य का स्वामी बना। वासिष्क के मथुरा और सांची में उत्कीर्ण लेखों से उसके विषय में संक्षिप्त प्रकाश पड़ता है। उसका शासन-काल अत्यन्त अल्प सिद्ध हुआ।

हुविष्क—वासिष्क के पश्चात् हुविष्क कुषाण-वंश की राजगद्दी पर बैठा। उसके अनेक सिक्के मिले हैं जिनसे उसके दीर्घकालीन शासन पर प्रकाश पड़ता है। उसके सिक्कों पर रोमन, ईरान और हिंदू देवताओं के चित्र अंकित हैं। वह धार्मिक सहिष्णु सम्राट प्रतीत होता हैं। उसके सिक्कों और लेखों से काबुल, कश्मीर, पंजाब, मथुरा, और पूर्वी उत्तर प्रदेश पर उसके आधिपत्य का ज्ञान होता है। उसके द्वारा बसाया गया हुविष्कपुर नगर हुष्कपुर नामक गांव में आज भी विद्यमान है। हुविष्क बौद्ध धर्म के प्रति भी श्रद्धा भाव रखता था। अनुश्रुतियों से विदित होता है कि उसने मथुरा में एक बौद्ध विहार और मन्दिर का निर्माण करवाया था।

वासुदेव—हुविष्क की मृत्यु के पश्चात् वासुदेव राजा बना। मथुरा प्रदेश में उसके अभिलेख प्राप्त हुए हैं तथा उसके सिक्के पंजाब और उत्तर प्रदेश में पाये जाते हैं। इससे विदित होता है कि वासुदेव के शासन काल में शेष कुषाण-साम्राज्य उसके आधिपत्य से निकल चुका था। उसके सिक्कों पर शिव और नन्दी के चित्र अंकित हैं जो उसे शैव मतावलंबी प्रमाणित करते हैं।

कुषाण-साम्राज्य का पतन

महान् कुषाण सम्राट कनिष्क ने जिस विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य की नींव डाली थी, उसके अयोग्य उत्तराधिकारी उसकी रक्षा करने में निष्फल सिद्ध हुए। वासुदेव के शासनकाल से ही कुषाण-साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पतन अधिक तीव्र गति से होने लगा था। यद्यपि दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी कुछ कुषाण शासकों के शासन का उल्लेख मिलता है, परन्तु वे दुर्बल और सीमित भू-भाग के स्वामी थे।

कनिष्क के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता के अतिरिक्त स्थानीय शासकों की स्वतन्त्रता की भावना और अनेक राजवंशों के आविर्भाव ने कुशाण-साम्राज्य के पतन में अपना योग दिया। अयोग्य कुषाण-शासकों की दुर्बलता का लाभ उठाकर स्थानीय शासकों और जनजातियों में स्वतंन्त्रता की भावना बलवती हो गई। अवसर पाते ही उन्होंने अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा कर दी। भारशिव, यौधेय, गुप्त आदि राजवंशों के आविर्भाव ने कुषाणों की शक्ति का अंत कर दिया। डॉ० जायसवाल का कथन है कि कुषाणों के पतन में भारशिवों का भारी हाथ रहा।

डॉ॰ बनर्जी का मत है कि गुप्तों ने कुषाणों को मगध से भगाकर वहाँ अपनी सत्ता स्थापित कर ली। डॉ॰ अल्तेकर का मत है कि कुणिन्द, अर्जुनायन आदि गणराज्यों की मदद से यौधेयों ने कुषाणों को पराजित करके सतलज नदी के पार शरण लेने को बाध्य किया। कुछ विद्वान् कुषाण-साम्राज्य के पतन का कारण फारस के सेसेनियन वंश का आविर्भाव बताते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. शक कौन थे ? भारत में उनके शासन और कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. "बौद्धों के लिए कनिष्क भी उतना ही महान् था, जितना अशोक।" व्याख्या कीजिए।
3. भारत में कुषाण शासन का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
4. कनिष्क की तिथि निर्धारित कीजिए एवं उसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
5. कनिष्क प्रथम की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए। बौद्धधर्म के प्रचार के लिए उसने क्या किया ?
6. कुषाण युग की कला और साहित्य पर लेख लिखिए।
7. कनिष्क के जीवन एवं कृत्यों का वर्णन कीजिए।
8. कनिष्क के चरित्र का मूल्यांकन कीजिए।
9. भारत में धर्म और कला के क्षेत्र में कुषाणों के योगदान का विवरण दीजिए।
10. गांधार कला पर एक लेख लिखिए।
11. मथुरा कला पर संक्षिप्त लेख लिखिए।

17

कुषाण साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तरी भारत
(गुप्त वंश से पूर्व उत्तरी भारत)

शक्तिशाली कुषाण-साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तरी भारत में पुनः एक बार राजनीतिक अस्थिरता व्याप्त हो गई। संपूर्ण उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभक्त हो गया। इन राज्यों में से कुछ राज्यों में राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति थी और कुछ राज्य गणतंत्रीय शासन-पद्धति पर आधारित थे।

प्रारंभ में विद्वानों की यह धारणा थी कि कुषाणवंश के पतन से लेकर गुप्त-वंश के आविर्भाव तक का भारतीय इतिहास अंधकार में समाया हुआ है। इसलिए इस काल को 'अंधकारमय युग' की संज्ञा दी गई थी। किन्तु आधुनिक शोधों ने विद्वानों की इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। अनेक लेखों, मुद्राओं और पुराणों में उल्लिखित विवरण से कुषाण वंश के पतन से लेकर गुप्तवंश के उदय काल तक के काल की ऐतिहासिक घटनाओं पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। इस काल के यौधेय, कुणिन्द, अर्जुनायन, मद्र, औदम्बर, मालव, आभीर, नाग, वाकाटक आदि राज्यों का उल्लेख मिलता है।

यौधेय—यौधेय गणराज्य था। ऐतिहासिक प्रमाणों से यौधेयों पर प्रकाश पड़ता हैं। उन्हें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर का वंशज कहा गया है। डॉ० अल्तेकर का मत है कि कुषाणों पर सर्वप्रथम यौधेयों ने ही आक्रमण किया था। पाणिनि के अनुसार इस जाति का प्रधान कार्य युद्ध करना था। मौर्यकाल तक यौधेय आयुधजीवी संघ के रूप में रहते थे। किन्तु मौर्यों के पतन के उपरांत उन्होंने अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी और उन्होंने स्वतंत्रसत्ता के स्वामी के रूप में सिक्के भी प्रचलित किए। कनिष्क के शासन से पूर्व उनका राज्य उत्तरी राजपूताना और दक्षिणी-पूर्वी पंजाब तक विस्तृत था। कनिष्क के उत्कर्ष से यौधेय-गणराज्य को आघात पहुँचा। कनिष्क ने उन्हें कुचल कर अर्द्ध शताब्दी तक सिर नहीं उठाने दिया। यौधेय स्वतंत्रताप्रेमी

जाति थी। 145 ई० में उन्होंने उत्तर-पूर्वी राजपूताना में कुषाणों की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। शक महाक्षत्रप रुद्रदामन ने उनके विद्रोह को कुचल दिया। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से विदित होता है कि उसने (रुद्रदामन ने) यौधेयों का मान-मर्दन किया जो समस्त क्षत्रियों द्वारा अपने शौर्य के लिए सम्मानित किए जाने के कारण अभिमानी हो गये थे और जिन्होंने अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी थी। रुद्रदामन द्वारा पराजित हो जाने पर भी यौधेय हतोसाहित नहीं हुए। द्वितीय शताब्दी के अंतिम चरणों में उन्होंने पुनः अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा कर दी। उस समय कोई ऐसा शक्तिशाली कुषाण शासक न था जो यौधेयों की स्वतन्त्र भावनाओं को कुचल सकता। कुषाण-साम्राज्य अवनति की ओर अग्रसर था। इसका भरपूर लाभ यौधेयों ने उठाया। उन्होंने पुनः अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करके कुषाणों को सतलज के पार पश्चिम की ओर मार भगाया, इस प्रकार यौधेयों के पुनः उत्कर्ष ने कुषाणों को धक्का पहुँचाया।

कुषाण साम्राज्य के पतन के लिए यौधेय कहाँ तक उत्तरदायी थे, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ० अल्टेकर ने कुषाण साम्राज्य के पतन का श्रेय यौधेयों को दिया हैं। किन्तु डॉ० डी० सी० सरकार कनिष्क के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता को ही कुषाण साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी मानते हैं। इस संदर्भ में डॉ० अल्टेकर का मत ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कुषाणों के पतन के शीघ्र पश्चात् यौधेयों का उत्कर्ष इस बात का सूचक है कि इन दोनों के मध्य संघर्ष हुआ और अंत में यौधेय विजयी रहे। कनिष्क द्वतीय (180-210) और वासुदेव द्वितीय (210-240 ई0) के सिक्के सतलज के पूर्व में नहीं मिलते जब कि यौधेय मुद्राएं सतलज और यमुना के मध्य के प्रदेश से प्राप्त हुई हैं। यौधेय सिक्कों पर तीसरी और चौथी शताब्दी की ब्राह्मी लिपि में लेख अंकित हैं। यौधेयों ने कुषाणों के विरुद्ध अपनी असाधारण विजय के उपलक्ष्य में अनेक सिक्के प्रचलित किये। उनके सिक्कों पर 'यौधेय गणस्य जयः (यौधेयगण की जय) तथा उनके प्रमुख देवता 'कार्तिकेय' अंकित हैं। दीर्घकाल तक शासन करने के उपरांत समुद्रगुप्त ने उन्हें पराजित कर दिया। समुद्र गुप्त के प्रयाग स्तंभ लेख से ज्ञात होता है कि योधेयों ने उसकी (समुद्र गुप्त) आधीनता स्वीकार कर ली थी।

कुणिन्द—कुणिन्द गणराज्य यौधेय राज्य के उत्तर में स्थित था। उनका राज्य सतलज और व्यास के मध्य का भू-भाग था। विष्णु पुराण, मार्कण्डेय पुराण और बृहत संहिता में कुणिन्द जाति का उल्लेख मिलता है। ऐतिहासिक साक्ष्यों से विदित होता है कि कुणिन्द गणराज्य मद्र गणराज्य के समीप था। कांगड़ा, अम्बाला और सहारनपुर के जिलों में कुणिन्दों के अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं। कुणिन्दों ने प्रथम शताब्दी के प्रारंभ में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर डाली। बाद में कुषाणों के उत्कर्ष के फलस्वरुप कुणिन्दों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। कुणिन्दों के सिक्कों पर खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों में लेख अंकित किये गए। वे शिव के उपासक थे। उनके सिक्के 200 ई० तक प्रचलित रहे।

अर्जुनायन—अर्जुनायन गणराज्य यौधेय गणराज्य के दक्षिण-पश्चिम में स्थित था। उसमें आगरा से जयपुर तक का क्षेत्र सम्मिलित था। अर्जुनायन अपने को पांडव अर्जुन की सन्तान मानते थे। विद्वानों का मत है कि भारत में यूनानी सत्ता के पतन के उपरांत अर्जुनायन गणराज्य का उदय हुआ। किन्तु शकों ने उन्हें कुचल दिया। कुषाण साम्राज्य की अवनति के समय उन्होंने विद्रोह कर स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी। चौथी शताब्दी तक अर्जुनायन गणराज्य विद्यमान था। समुद्र गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उल्लेख मिलता है कि अर्जुनायन गणराज्य ने उसकी आधीनता स्वीकार कर ली थी। साहित्यिक साक्ष्यों से विदित होता हैं कि चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व में अर्जुनायन गणराज्य की स्थापना हुई थी। इस प्रकार उन्होंने आठ सौ वर्षों तक कभी स्वतंत्र राजा के रूप में तो कभी अधीनस्थ शासक के रूप में राज्य किया। अर्जुनायनों के सिक्के ब्राह्मी लिपि में अंकित मिलते हैं जिन पर 'अर्जुनायनानाम् जयः' (अर्जुनायनों की जय) उल्लिखित है। यौधेय और अर्जुनायन अपने को एक वंश का मानते थे, इसलिए दोनों के मध्य मधुर संबंध थे।

मद्र—कुषाणों के पतन के पश्चात् रावी चिनाब दोआब में मद्र लोगों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर डाली थी। पाणिनि ने मद्र जाति का उल्लेख किया है। डॉ० अल्टेकर ने यह संभावना व्यक्त की है कि मद्र कठों से भिन्न न थे। प्रयाग प्रशस्ति में स्वतंत्र मद्रकजाति का उल्लेख मिलता है। चौथी शताब्दी ई० तक मद्रक गणराज्य विद्यमान था। मद्रक गणराज्य के सिक्के उपलब्ध नहीं हैं।

औदम्बर—कुषाणों से पूर्व औदम्बर गणराज्य विद्यमान था। प्रयाग प्रशस्ति में इस गणराज्य का उल्लेख नहीं मिलता और न ही उसकी मुद्राएं प्राप्त हैं। इस आधार पर विद्वानों ने यह विचार व्यक्त किया हैं कि कुछ समय स्वतंत्रतापूर्वक शासन करने के उपरांत औदम्बर गणराज्य मद्र गणराज्य में विलीन हो गया था।

मालव—सिकन्दर के आक्रमण के समय मालव गणराज्य रावी-सतलज दो-आब में स्थित था। उन्होंने क्षुद्रकों के साथ मिलकर यूनानियों का तीव्र प्रतिरोध किया। भीषण संग्राम में उन्होंने यूनानियों के दांत खट्टे कर दिये और सिकन्दर बुरी तरह घायल हुआ। कालांतर में मालवों की एक शाखा राजपूताना की मरुभूमि की ओर बढ़ी और अजमेर तथा मेवाड़ प्रदेश में बस गयी। कुषाण वंश के उत्कर्ष के समय पश्चिम के क्षत्रपों ने मालवों की स्वतंत्र सत्ता को कुचल दिया। किन्तु स्वतंत्रताप्रेमी मालवों ने साहस नहीं खोया। उन्होंने अपनी स्वतंत्रता के लिए निरन्तर संघर्ष किया। नहपान के काल में मालवों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने का विफल प्रयत्न किया। द्वितीय शताब्दी के अंत तक उन्हें विदेशी सत्ता के अधीन रहना पड़ा। तृतीय शताब्दी के प्रारंभ में मालवों के एक नेता ने शकों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने में महत्वपूर्ण सफलता अर्जित की। नान्दसा यूप अभिलेख से विदित होता है कि 225 ई० के लगभग श्री सोम नामक एक मालव ने षष्ठि यज्ञ का अनुष्ठान किया। बटू अभिलेख से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के काल तक मालव गणराज्य का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा। प्रयाग

प्रशस्ति में भी मालव गणराज्य का उल्लेख मिलता है। मालवा की मुद्राओं पर 'मालवानां जयः' 'मालवा गणराज्य जय' लेख अंकित हैं।

आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, खर्परिक गणराज्य—आभीरों का राज्य भिलसा और झांसी के मध्य स्थित था। यूनानी लेखकों ने आभीरों को शूद्र कहा है। पतंजलि के महाभाष्य में भी आभीरों का उल्लेख है। प्रयाग प्रशस्ति से विदित होता है कि अन्य गणराज्यों की भांति आभीरों ने भी समुद्रगुप्त की आधीनता स्वीकार कर ली थी।

प्रार्जुन मध्य भारत में कहीं राज्य करते थे। सनकानीक भिलसा के समीप के निवासी थे। खर्परिक मध्य प्रदेश के दमोह जिले में निवास करते थे। प्रयाग प्रशस्ति में इन गणराज्यों का विवरण मिलता है।

नागवंश—प्राचीन भारत के इतिहास में नागवंश का विशेष महत्व है। नागवंश के इतिहास को प्रकाश में लाने का प्रमुख श्रेय डॉ० जायसवाल को है। अभिलेखों, मुद्राओं और पुराणों से नागवंश के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। महाभारत काल में नागों की शक्ति अत्यधिक बढ़ चुकी थी। पुराणों से विदित होता है कि शुंगों के बाद विदिशा में नागों ने राज्य किया। शकों और कुषाणों के उत्कर्ष के फलस्वरूप नागों की शक्ति क्षीण पड़ गई और उन्होंने विंध्याचल के दक्षिण में शरण ली। कुषाणों के पश्चात् नागों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी और उत्तरी भारत के अनेक प्रदेशों को अधिकृत कर लिया।

इतिहासकारों का मत है कि दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नवनाग के प्रयत्नों से नाग शक्ति का पुनरुत्थान प्रारंभ हुआ। नवनाग का उत्तराधिकारी वीर सेन महत्त्वाकांक्षी,था। उसने कुषाणों की शक्ति का विनाश कर मथुरा प्रदेश को अधिकृत कर लिया। उसने संपूर्ण दोआब पर नागों का प्रभुत्व स्थापित किया। वीरसेन के पश्चात् भवनाग सर्वाधिक शक्तिशाली राजा हुआ। उसने सन् 305 से 340 ई० तक शासन किया। नाग राजाओं ने मथुरा के अतिरिक्त पद्मावती क्षेत्र में भी शासन किया। पुराणों से विदित हाता है कि गुप्तवंश के उत्थान से पूर्व मथुरा में सात और पद्मावती में नौ नाग राजाओं ने शासन किया। नाग सर्पों की पूजा करते थे।

वाकाटक-वंश—गुप्त वंश से पूर्व वाकाटक वंश का एक शक्तिशाली राज्य विद्यमान था। शकों की दुर्बलता का लाभ उठाकर वाकाटकों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। वाकाटक-वंश ने तीसरी शती से पांचवीं शती तक शासन किया।

पुराणों से विदित होता है कि विंध्यशक्ति नामक ब्राह्मण ने वाकाटक-वंश की नींव डाली। विद्वानों का मत है कि विंध्यशक्ति सातवाहन सम्राटों का सामंत मात्र था। डॉ० जायसवाल का मत है कि वाकाटक प्रदेश के शासक होने के कारण ही विंध्यशक्ति के वंशज वाकाटक कहलाए। विंध्यशक्ति एक महत्वाकांक्षी नरेश था। उसने अनेक पड़ोसी राज्यों पर विजय प्राप्त की। उसने मालवा को भी जीता। विंध्यशक्ति ने लगभग 256 से 275 ई० तक शासन किया।

विंध्यशक्ति के पश्चात् प्रवरसेन प्रथम, रुद्रसेन, पृथ्वीसेन, रुद्रसेन द्वितीय, प्रभावतीगुप्त, प्रवरसेन द्वितीय, नरेन्द्रसेन, पृथ्वीसेन द्वितीय आदि राजाओं ने शासन किया। 550 ई० के लगभग चालुक्यों ने उनके राज्य का अधिकांश भू-भाग हड़प लिया। इस प्रकार वाकाटक वंश का अंत हो गया।

शक—कुषाणों के पतन के पश्चात् पश्चिमी पंजाब में शकों ने अपनी सत्ता स्थापित की। शक जाति के सात राजाओं का उल्लेख मिलता है। शक शासकों की अनेक मुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं। शकों ने समुद्रगुप्त की शक्ति से प्रभावित होकर उसके साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित कर लिए थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को पराजित कर उनके राज्य को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

इस प्रकार विदित होता है कि गुप्त वंश के उदय से पूर्व उत्तरी भारत अनेक छोटे गणतंत्रात्मक तथा राजतंत्रात्मक राज्यों में विभक्त था। गुप्तों के उत्कर्ष ने इन राज्यों का उन्मूलन कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर डाली जिसके परिणामस्वरूप भारतवर्ष में राजनीतिक एकता स्थापित हुई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कुषाणवंश के पश्चात् उत्तरी भारत की राजनीतिक दशा पर प्रकाश डालिए।

अथवा

गुप्त वंश से पूर्व उत्तरी भारत की राजनीतिक दशा पर प्रकाश डालिए।

18

गुप्त वंश

शक्तिशाली मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् शुंग, कण्व, सातवाहन, शक, पह्लव और कुषाण वंश ने भारत में राज्य किया। मौर्य-सामाज्य के पतन से लेकर गुप्त साम्राज्य के उत्कर्ष तक उत्तरी भारत तथा पश्चिमी भारत को विदेशियों के आक्र-मणों का शिकार होना पड़ा। अनेक विदेशी शासकों ने भारत में अपने राज्यों की स्थापना कर डाली। जिस समय गुप्त साम्राज्य की स्थापना हुई, उस समय भारत राजनीतिक दृष्टि से विश्रृंखलित था। कुछ राज्यों में राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति थी और कुछ राज्य गणतंत्रीय शासन-पद्धति पर आधारित थे। गुप्त वंश के आविर्भाव के समय उत्तरी भारत में यौधेय, कुणिन्द, अर्जुनायन, मद्र, औदम्बर, मालव, आभीर, वाकाटक, नाग आदि राज्य विद्यमान थे।

तृतीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में श्रीगुप्त ने उत्तरी भारत में गुप्त वंश की स्थापना की। गुप्त वंश ने दीर्घकाल तक उत्तरी भारत में राज्य किया। इस वंश में चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य और स्कंदगुप्त जैसे पराक्रमी सम्राट हुए। यह वंश अपनी सामरिक उपलब्धियों, राजनीतिक एकता तथा सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सर्वांगीण विकास का काल होने के कारण गुप्तकाल भारतीय इतिहास में 'स्वर्णयुग' की संज्ञा से बोधित हैं।

ऐतिहासिक स्रोत—गुप्त वंश के इतिहास जानने के पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं। पुराण, धर्मग्रन्थ, स्मृति ग्रन्थ, साहित्यिक, चीनी यात्रियों के वृत्तांत, अभिलेख, मुद्रा आदि से गुप्त वंश के इतिहास पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन भारत में पृथक रूप से ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखने की परम्परा नहीं थी। साहित्यिक ग्रन्थों में ही ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कर दिया जाता था। वायु पुराण, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण और भागवत पुराण में गुप्तकालीन इतिहास

का विवरण मिलता है । विद्वानों का मत है कि गुप्तकाल में रचित बृहस्पति, व्यास, हारित, पुलस्त्य आदि स्मृतियां तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं से पूर्ण हैं । कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में रहता था । कालिदास की कृतियों से ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है । किशोरिका अथवा विज्जिका द्वारा रचित 'कौमुदी महोत्सव', विशाखदत्त कृत 'देवीचन्द्र गुप्तम्' और 'मुद्राराक्षस' तथा शूद्रक कृत 'मृच्छकटिक' से गुप्तकालीन इतिहास का ज्ञान होता है । बौद्ध ग्रन्थ 'मंजुश्रीमूलकल्प,' परमार्थ की रचना वसुबन्धु के जीवन वृत्त, वात्स्यायन के 'कामसूत्र', कामंदक के 'नीति-सार' आदि ग्रन्थों में गुप्तकालीन ऐतिहासिक विवरण का समावेश हुआ है । चीनी यात्री फाह्यान, ह्वेन्सांग, इत्सिंग और अरब यात्री अल्बेरूनी के यात्रा-वृत्तांतों में गुप्तकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा पर प्रकाश पड़ता है । पुरातात्त्विक सामग्री से भी गुप्तवंश के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । गुप्त-कालीन अभिलेख शिलाओं, स्तम्भों और ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण हैं जिनमें गुप्तवंशावली, शासक तथा प्रशस्तिकार का उल्लेख किया गया है । ऐतिहासिक दृष्टि से समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का महरौली लौह स्तंभ, उदयगिरि गुहाभिलेख, मथुरा, सांची और गढ़वा अभिलेख, कुमारगुप्त का मंदसौर अभिलेख एवं स्कंदगुप्त का भीतरी और जूनागढ़ अभिलेख उल्लेखनीय हैं । गुप्त सम्राटों ने अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित किये । सिक्कों पर अंकित वेशभूषा, प्रतिमा और विरुद, उस काल के रहन-सहन, धार्मिक विचार और राजा के व्यक्तित्व का ज्ञान कराते हैं । गुप्तकालीन सिक्के उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा का चित्रण कराते हैं । गुप्त-कालीन मुहरों से भी उस काल के इतिहास का ज्ञान होता है । मुहरों से राजाओं के नामों तथा प्रांतीय और स्थानीय शासन का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है । यद्यपि अधि-कांश स्मारक या तो भूगर्भीय परिवर्तनों के कारण काल के गर्भ में समा चुके हैं या फिर क्रूर विदेशी आक्रांताओं की ध्वंस लीला के परिणामस्वरूप विनष्ट हो चुके हैं, तथापि कलाकृतियों के अवशिष्ट अवशेषों के आधार पर गुप्तकालीन सांस्कृतिक दशा का ज्ञान अर्जित किया जा सकता है । गुप्तकाल में मथुरा, नालन्दा और सारनाथ कला के विकसित केंद्र थे । देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, एहोल का दुर्गा मंदिर, गया का बौद्ध मंदिर तथा उदयगिरि का विष्णु मंदिर गुप्तकालीन कला के उत्कृष्ट नमूने हैं । गुप्त-कालीन शिव, विष्ण, बुद्ध, गंगा, यमुना आदि की प्रतिमाएं पाई गई हैं । गुप्तकाल में निर्मित अजंता और बाघ भित्ति चित्र चित्रकला के अद्वितीय नमूने हैं । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्य, विदेशी वृत्तांतों, अभिलेखों, मुहरों, मुद्राओं और स्मारकों का गहन अध्ययन कर गुप्तकालीन इतिहास की स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है ।

गुप्तों का प्रारंभिक इतिहास

यशस्वी प्रतापी और विशाल साम्राज्य के निर्माता गुप्त सम्राटों के वंश और मूल प्रदेश का इतिहास विवादास्पद है । गुप्त कौन थे और कहां से आये इस संबंध

में विद्वानों में मतभेद हैं। जिन गुप्त सम्राटों के शासनकाल में सरस साहित्य और ललित कला की वह धारा बह निकली जिसका स्रोत अनेक शताब्दियों तक न सूख सका, ऐसे प्रतापी गुप्त सम्राटों ने अपने किसी भी अभिलेख में अपने वर्ण का उल्लेख नहीं किया है। अतः उनकी उत्पत्ति का प्रश्न प्राचीन भारत के इतिहास की एक समस्या बनी हुई है।

गुप्तों की जाति—गुप्त सम्राटों की जाति और मूल निवास स्थान के संदर्भ में विद्वानों में मत भेद हैं। विद्वानों ने उन्हें जाट, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण सिद्ध करने की पृथक-पृथक रूप से चेष्टा की हैं।

गुप्त जाट थे—गुप्त अभिलेखों में उनकी जाति का उल्लेख न होने के कारण तथा डॉ० जायसवाल द्वारा चण्डसेन से चन्द्र गुप्त प्रथम का समीकरण किए जाने से विद्वानों ने यह धारणा व्यक्त की है कि गुप्त उच्च कुल के न थे। डॉ० जायसवाल का मत है कि गुप्त कारस्कर गोत्र के जाट थे और मूल रूप से पंजाब के निवासी थे। कौमुदी महोत्सव में वर्णित चण्डसेन को कारस्कर कहा गया है। डॉ० जायसवाल ने चन्द्रगुप्त प्रथम की समानता चण्डसेन से स्थापित करते हुए उसे कक्कड़ जाट कहा है। उन्होंने लिखा है कि कक्कड़ जाट गुप्तों की प्राचीन जाति के आधुनिक प्रतिनिधि हैं। जाटों का एक वर्ग धारी कहलाता है। प्रभावती गुप्ता ने अपने एक अभिलेख में अपने को धारण गोत्र का कहा है। जायसवाल का कथन है कि यह 'धारण' और धारी एक ही हैं।

डॉ० जायसवाल के मत को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। अभिलेखों में अपनी जाति का उल्लेख न करने के कारण गुप्तों को नीच कुल का नहीं कहा जा सकता। मौर्य अभिलेखों में भी मौर्य जाति का उल्लेख नहीं है। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्र की तुलना धनद, वरुण, इन्द्र और यम नामक देवताओं से की गई है। अतः वह शूद्र नहीं हो सकता। कौमुदी महोत्सव के चण्डसेन से चन्द्रगुप्त का समीकरण उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अनेक विद्वान कौमुदी महोत्सव की ऐतिहासिकता में संदेह करते हैं। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने भी लिखा है कि कौमुदी महोत्सव के चण्डसेन से चन्द्रगुप्त प्रथम की एकता सर्वथा अनिश्चित है। 'धारण' और 'धरणि' में केवल उच्चारण की समता है। यह ब्राह्मण गोत्र है अतः गुप्तों को जाट नहीं कहा जा सकता।

गुप्त वैश्य थे—एलन, आयंगर एवं अल्टेकर ने गुप्तों को वैश्य कहा है। इन विद्वानों ने विष्णु पुराण के उस श्लोक को साक्ष्य रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें कहा गया है कि वैश्यों को गुप्त शब्द का प्रयोग अपने नाम के अंत में करना चाहिए। डॉ० अल्टेकर ने लिखा है कि गुप्त काल में व्यवसाय का चयन एक मात्र जाति धर्म के अनुसार नहीं होता था। अतः यदि वैश्यों ने शस्त्र धारण कर लिए हों तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। ऐसे कई दृष्टांत उपलब्ध हैं जब कि वैश्यों ने शस्त्र उठाये थे।

डॉ० अल्टेकर तथा अन्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत मत, कि गुप्त वैश्य थे

अकाट्य नहीं हैं। गुप्त सम्राटों के नाम के अंत में आने वाला शब्द (गुप्त) उनकी जाति का सूचक नहीं है। यदि ऐसा होता तो घटोत्कच के नाम के बाद 'गुप्त' शब्द लगाना चाहिए । वस्तुतः गुप्त इस वंश के संस्थापक का नाम था जिसके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए बाद के सम्राटों ने अपने नाम के अंत में गुप्त शब्द का प्रयोग किया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में ऐसी प्रथा व्याप्त थी कि अन्य वर्णों के लोग भी अपने नाम के बाद गुप्त शब्द का प्रयोग कर सकते थे; यथा विष्णुगुप्त (चाणक्य), मातृगुप्त, ब्रह्मगुप्त ये सभी ब्राह्मण वर्ण के थे। अतः इस आधार पर कि गुप्त सम्राटों के नाम के अंत में गुप्त शब्द लगा हुआ है उन्हें वैश्य घोषित करना असंगत प्रतीत होता है। इस संदर्भ में डॉ० त्रिपाठी का कथन है—गुप्तों का मूल अंधकार में छिपा है परंतु उनके नामों के पद अन्त्य 'गुप्त' के आधार पर उनको वैश्य वर्णीय माना गया है। परन्तु इस तर्क पर भी बहुत निर्भर नहीं किया जा सकता। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि गुप्त पद से वैश्येतर वर्णियों के नाम भी अलंकृत हुआ करते थे।"

गुप्त क्षत्रिय थे—अनेक विद्वानों ने गुप्तों को क्षत्रिय सिद्ध किया। डॉ० गौरीशंकर ओझा, डॉ० सुधारक चट्टोपाध्याय, डॉ० **रमेश** चन्द्र मजूमदार जैसे विद्वान गुप्तों को क्षत्रिय मानते हैं।

गप्त नरेशों ने अपने अभिलेखों में अपनी जाति का उल्लेख तो नहीं किया किन्तु उत्तरवर्ती गुप्त शासकों ने अपने अभिलेखों में स्वयं को क्षत्रिय कहा है। सिरपुर प्रशस्ति में गुप्त वंशीय नरेश महाशिव गुप्त को चन्द्र वंशी क्षत्रिय कहा है। मंजुश्रीमूलकल्प में गुप्तों को क्षत्रिय कहा गया है। धारवाड़ के गुत्तल नरेश अपने को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का वंशज कहते हैं। गुत्तल नरेश सोमवंशी क्षत्रिय थे। जावा द्वीप से प्राप्त तंत्रिकामन्दक नामक ग्रंथ में वहां का इक्ष्वाकु वंशी राजा ऐश्वर्य पाल अपने को समुद्र गुप्त का वंशज बताता है। डॉ० वासुदेव उपाध्याय ने लिच्छवियों और गुप्तों के वैवाहिक संबंधों के आधार पर उन्हें क्षत्रिय सिद्ध करने की चेष्टा की है। चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवी वंश की क्षत्रिय राजकुमारी से विवाह संपन्न किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपना विवाह क्षत्रिय नागवंशी राजकुमारी कुबेर नागा से किया था।

गुप्तों को क्षत्रिय मानने वाले मत की भी आलोचना की जा सकती है। बाद के गुप्त शासकों के साथ पहले के गुप्त सम्राटों के क्या संबंध थे यह स्पष्ट रूप से विदित नहीं हैं। गुत्तल नरेशों के लेख बहुत बाद के हैं। अतः उन्हें पूर्ण रूप से विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। तंत्रीकामन्दक मध्यकालीन रचना है। उस काल तक गुप्त इतने प्रसिद्ध हो चुके होंगे कि ऐश्वर्यपाल ने अपने को उनका वंशज कहने में गौरव का अनभव किया होगा। लिच्छवियों और नागों से गुप्तों के वैवाहिक सम्बन्ध अन्तर्जातीय भी हो सकते हैं, अनलोम और प्रतिलोम विवाहों की परम्परा भारत में व्याप्त थी। लिच्छवियों के क्षत्रिय कुल को कसौटी बनाकर गुप्तों के वर्ण निर्णय की चेष्टा उचित नहीं है।

गुप्त ब्राह्मण थे—कुछ इतिहासकार गुप्तों को ब्राह्मणवंशी बताते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री का विवाह विष्णुवृद्ध गोत्र के वाकाटक वंशीय रुद्रसिंह द्वितीय के साथ संपन्न किया था। वाकाटक अभिलेखों में प्रभावती गुप्त को 'धरणी' गोत्र का कहा गया है। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने यह मत व्यक्त किया है कि गुप्त पुष्यमित्र शुंग के पुत्र अग्निमित्र की पत्नी धरणी से संबंधित थे। इसलिए उन्होंने यह गोत्र धारण किया। डॉ० रायचौधरी इस आधार पर गुप्तों को ब्राह्मण सिद्ध करते हैं। स्कंदपुराण में 'धरणी' को ब्राह्मणों का गोत्र कहा गया है, तालकुण्ड प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वर्ण के कदम्ब नरेश की पुत्री का विवाह गुप्त कुल में हुआ था। इस आधार पर भी गुप्त ब्राह्मण प्रतीत होते हैं।

उपरोक्त विवरण के आधार पर गुप्तों को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता है। भारत में अनुलोम विवाह शास्त्रसम्मत माने जाते हैं। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जहाँ क्षत्रियों और वैश्यों ने अपने ब्राह्मण पुरोहितों के गोत्र धारण कर लिए थे। डॉ० दशरथ शर्मा का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि गुप्तों ने अपने गुरुओं का गोत्र धारण कर लिया था।

निष्कर्ष—गुप्तों की जाति के संदर्भ में संपूर्ण मतों की विवेचना के पश्चात् भी किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँच पाना संभव नहीं है। भारत में वर्णों का जन्म कर्मों के आधार पर हुआ था। गुप्तों ने शस्त्र धारण कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और भारत को राजनीतिक एकता के रूप में सुदृढ़ किया तथा बाह्य खतरों से देश की रक्षा की। इस प्रकार गुप्तों ने क्षत्रियों के कर्त्तव्यों का निर्वाह किया। अतः उन्हें क्षत्रिय कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। विद्वानों का एक बड़ा समूह गुप्तों को क्षत्रिय सिद्ध करता है।

गुप्तों का मूल प्रदेश—गप्तों के मूल निवास स्थान के संबंध में भी इतिहासकारों में मतभेद हैं। चीनी यात्री इत्सिंग के विवरण से विदित होता है कि चे-ली-कि-तो नामक नरेश ने मी-ली-किया-सी-किया-पो-नो नामक स्थान पर चीनी यात्रियों के निमित्त एक मंदिर बनवाया तथा चीनी यात्रियों को उसके निकट एक गांव दान दिया था। चे-ली-कि-तो का शाब्दिक अनुवाद श्रीगुप्त होता है। डॉ० रायचौधरी, दांडेकर आदि विद्वान इत्सिंग द्वारा वर्णित श्रीगुप्त को गुप्त वंश का संस्थापक मानते हैं। फ्लीट ने इस मत का विरोध किया है। इत्सिंग द्वारा प्रस्तुत विवरण का अनुवाद बलि महोदय ने किया है। उनके अनुवाद के आधार पर मी-ली-किया-किया-पो-नो का एकीकरण सारनाथ से किया गया है। चैवनेस ने यह स्थान पश्चिमी बंगाल में मुर्शिदावाद जिला बताया है। डॉ० गांगुली ने इत्सिग के विवरण के आधार पर गुप्तों का मूल निवास बंगाल निर्धारित किया है। डॉ० मजूमदार ने गुप्तों का आदि स्थान उत्तरी बंगाल में वारेन्द्र बताया है। डॉ० यू० एन० राय ने बंगाल को गुप्तों का मूल निवास स्थान बताने वाले विद्वानों की आलोचना करते हुए लिखा है कि इन विद्वानों ने प्रारंभ में बंगाल पर गुप्तों का अधिकार था अथवा नहीं, इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया है। बंगाल में गुप्तों का अधिकार समुद्र गुप्त के समय ही संभव

हो पाया। सुधाकर चट्टोपाध्याय का कथन है कि मुर्शिदाबाद कभी वारेन्द्री के अंतर्गत नहीं था।

ऐलन, आयंगर तथा मुकर्जी का मत है कि गुप्तों का मूल निवास स्थान पाटलिपुत्र था। इस बात की प्रबल संभावना है कि प्रारंभ में गुप्तों ने मगध और उसके आसपास के स्थान को अधिकृत किया। प्रारंभिक गुप्त राजाओं की मुद्राएं उत्तर प्रदेश के चौदह स्थानों से प्राप्त हुई हैं।

गुप्त वंश का संस्थापक (श्रीगुप्त)—गुप्त नरेशों के अभिलेखों में उनकी वंशावली का उल्लेख किया गया है। अभिलेखों में गुप्तों के आदि पुरुष का नाम श्रीगुप्त मिलता है। चीनी यात्री इत्सिंग के विवरण से भी गुप्तों के आदि पुरुष श्रीगुप्त पर प्रकाश पड़ता है। इत्सिंग ने लिखा है कि महाराज चे-लि-कि-तो (श्रीगुप्त) ने चीनी यात्रियों के लिए मृग शिखावन के समीप एक मन्दिर निर्मित करवाया था। श्रीगुप्त ने महाराज की उपाधि धारण की थी जिससे स्पष्ट होता है कि वह स्वतंत्र शासक न होकर किसी अन्य राजा का सामंत शासक मात्र था। वह मगध के छोटे प्रदेश का मांडलिक था। अनुमानतः उसने सन् 275 से 300 ई० तक शासन किया।

श्रीगुप्त किस सम्राट का अधीनस्थ शासक था, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। डॉ० रामदास बनर्जी श्रीगुप्त और घटोत्कच को कुषाणों के सामंत मानते हैं। डॉ० जायसवाल भारशिवों को उनके स्वामी मानते हैं। डॉ० प्रमोद चन्द्र बागची का मत है कि प्रारंभिक गुप्त शासक मुरुण्डों के अधीन शासन करते थे। कुछ अन्य विद्वान उन्हें लिच्छवियों का सामंत मानते हैं।

उपरोक्त मतों में से कोई भी मत ठोस प्रामाणिक नहीं लगता। गुप्तों को कुषाणों का सामंत मानना तर्क-असंगत है। गुप्तों के आविर्भाव के कई वर्ष पूर्व कुषाणों का अंत हो चुका था। श्रीगुप्त और घटोत्कच भारशिवों के अधीन थे। इस मत की पुष्टि किसी ठोस ऐतिहासिक साक्ष्य से नहीं होती। अतः इसकी प्रामाणिकता में संदेह है। गुप्तों को मुरुण्डों के अधीन मानना भी उचित प्रतीत नहीं होता। समुद्र गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में पूर्वी भारत में कहीं भी मुरुण्डों का उल्लेख नहीं मिलता है। श्रीगुप्त और घटोत्कच किस वंश के राजा के अधीन शासक थे, यह स्पष्ट विदित नहीं है। किंतु इतना निश्चित है कि वे स्वतंत्र सम्राट न होकर अधीनस्थ शासक थे।

घटोत्कच—घटोत्कच श्रीगुप्त का पुत्र था। गुप्त अभिलेखों में श्रीगुप्त के पश्चात् घटोत्कच का उल्लेख मिलता है। घटोत्कच ने भी महाराज का विरुद धारण किया था। इससे विदित होता है कि वह भी अपने पिता की भाँति सामंत शासक था। कुछ विद्वानों का कथन है कि घटोत्कच श्रीगुप्त की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण था। इसका कारण वे यह बताते हैं कि एक अभिलेख में घटोत्कच को गुप्तवंश का आदि पुरुष बताया गया है। घटोत्कच के संबंध में अन्य ऐतिहासिक विवरण ज्ञात नहीं है। ऐलन महोदय ने घटोत्कच की राज्यावधि सन् 300 से 320 ई० तक निर्धारित की है। घटोत्कच के पश्चात् चन्द्रगुप्त प्रथम गुप्तवंश का शासक बना। वह एक स्वतंत्र शासक था। सर्वप्रथम उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की

जो उसकी स्वतंत्र सत्ता का सूचक है। स्वतंत्र सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम के काल से ही गुप्तवंश का उत्कर्ष प्रारंभ हो गया था।

चन्द्रगुप्त प्रथम (सन् 320—350 ई०)

320 ई0 में घटोत्कच के पश्चात् उसका यशस्वी पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम राजगद्दी पर बैठा। प्रयाग प्रशस्ति से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त गुप्तवंश का तीसरा शासक था। चन्द्रगुप्त प्रथम के पूर्वज (श्रीगुप्त और घटोत्कच) किसी स्वतंत्र शासक के सामंत मात्र थे और उनका विरुद भी 'महाराजा' था। चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने वंश की स्वतंत्रता घोषित करते हुए महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। प्रयाग प्रशस्ति में भी उसके लिए महाराजाधिराज के विरुद का प्रयोग किया गया है। वह गुप्त वंश का प्रथम स्वतंत्र शासक था। 'महाराजाधिराज' उसकी स्वतंत्र राजसत्ता का द्योतक है। उसने आसपास के राज्यों को विजित कर उत्तराधिकार में प्राप्त अपने पैतृक साम्राज्य में निरंतर वृद्धि की। चन्द्र गुप्त एक कुशल योद्धा होने के साथ-साथ एक महान् राजनीतिज्ञ भी था। उसके शासनकाल की प्रमुख घटनाओं का विवरण इस प्रकार है।

लिच्छवियों से वैवाहिक संबंध—लिच्छवियों का वैशाली में शक्तिशाली गणराज्य था जो प्राचीन भारत के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता हैं। विद्वानों का मत है कि शुंगकाल के पतन के पश्चात् लिच्छवियों ने पाटलिपुत्र पर भी अधिकार कर लिया था।

अभिलेखों तथा मुद्राओं से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने लिच्छवि राजकुमारी कुमार देवी के साथ विवाह किया था। इसी कुमारदेवी से उसके प्रतापी और यशस्वी पुत्र समुद्रगुप्त का जन्म हुआ। अभिलेखों में समुद्रगुप्त ने स्वयं को 'लिच्छविदौहित्रः' कहा है। चन्द्रगुप्त की कुछ स्वर्ण मुद्राओं पर एक ओर चन्द्रगुप्त और कुमार देवी का नाम तथा दूसरी ओर सिंह पर बैठी लक्ष्मी व 'लिच्छवियः' शब्द अंकित हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त के राज्य में लिच्छवि वंश को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। इन सिक्कों के विषय में ऐलन महोदय का मत है कि इनका मुद्रण समुद्रगुप्त ने अपने माता-पिता के स्मरण में कराया था। किंतु अधिकांश विद्वान उनके इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि इन सिक्कों को चन्द्रगुप्त ने ही चलाया था।

शक्तिशाली लिच्छवि राज्य की राजकुमारी से चन्द्रगुप्त का विवाह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस वैवाहिक संबंध के परिणामस्वरूप राजनीतिक क्षेत्र में चन्द्रगुप्त के प्रभाव में वृद्धि हुई। डॉ० स्मिथ का मत है कि कुमारदेवी विवाह में दहेज स्वरूप लिच्छवि साम्राज्य का बहुत बड़ा भाग लाई जिससे गुप्त साम्राज्य में वृद्धि हुई। इस वैवाहिक संबंध के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० स्मिथ ने लिखा है—"संभव है कि इस भाग्यशाली संयोग के समय लिच्छवि वंश प्राचीन राजनगर का स्वामी था और इस विवाह अपनी द्वारा पत्नी के संबंधियों की शक्ति का चन्द्र गुप्त उत्तराधिकारी बना।" डॉ० स्मिथ का कथन है कि कुमारदेवी से विवाह संबंध

के फलस्वरूप ही पाटलिपुत्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया। किंतु अधिकांश विद्वान उनके इस कथन को युक्तिसंगत नहीं मानते। उनका मत हैं कि कुमारदेवी से विवाह से पूर्व ही गुप्तों का पाटलिपुत्र पर अधिकार था। चीनी यात्री इत्सिंग के वृत्तांत से विदित होता है कि श्रीगुप्त के समय से ही पाटलिपुत्र पर गुप्तों का अधिकार स्थापित हो चुका था।

लिच्छवि राज्य का गुप्तराज्य में विलय—विद्वानों का मत है कि लिच्छवि राजकुमारी के साथ विवाह करने के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त प्रथम को राजनीतिक लाभ हुआ। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार का कथन है कि चन्द्रगुप्त और लिच्छवियों के राज्य एक दूसरे की सीमाओं को छूते थे। चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी के वैवाहिक संबंध के फलस्वरूप वैशाली का राज्य भी गुप्तराज्य में विलीन हो गया। कीलहर्न महोदय का मत है कि कुमारदेवी से विवाह करने के उपरांत चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने संबंधी लिच्छवियों से मगध का राज्य प्राप्त किया।

गुप्त संवत् की स्थापना—चन्द्रगुप्त प्रथम ने सन् 320 से 335 ई० तक सफलतापूर्वक शासन किया। गुप्त-अभिलेखों में एक विशेष तिथिक्रम का उल्लेख किया गया है। ऐसा विदित होता है कि गुप्त राजाओं ने एक संवत् को अपनाया। अल्बेरूनी ने भी गुप्त संवत् का उल्लेख किया हैं। डॉ० फ्लीट का मत है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने 319-320 ई० में गुप्त संवत् की स्थापना की। अल्बेरूनी ने लिखा है कि गुप्त संवत् की स्थापना शक संवत् (78 ई०) के 241 वर्ष बाद हुई थी। इसी आधार पर डॉ० फ्लीट ने यह मत प्रतिपादित किया कि गुप्त संवत् की स्थापना (78+241=319) 319 ई० में हुई। विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त ने अपसे राज्याभिषेक के वर्ष से गुप्त संवत् की स्थापना की जिसका प्रयोग उसके उत्तराधिकारियों ने भी किया। डांडेकर महोदय ने 319-320 ई० को गुप्त वंश का प्रारम्भिक वर्ष माना है। गोखले ने यह मत व्यक्त किया है कि गुप्त संबत् का प्रारम्भ चन्द्रगुप्त प्रथम और कुमारदेवी के विवाह की तिथि से माना जाना चाहिए।

चन्द्रगुप्त का साम्राज्य-विस्तार—चन्द्रगुप्त का पिता घटोत्कच सामन्त शासक मात्र था। वह एक छोटे भू-भाग का स्वामी था। चन्द्रगुप्त ने अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित करते हुए आसपास के प्रदेशों को विजित कर लिया। कुमारदेवी से विवाह सम्पन्न करके उसने वैशाली के लिच्छवि राज्य को अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया।

विष्णु पुराण, वायु पुराण एवं भागवत पुराण में गुप्त साम्राज्य की सीमाओं का वर्णन मिलता है। विष्णु पुराण और वायु पुराण गुप्तकालीन रचनाएँ हैं। अतः उनके विवरण को प्रामाणिक माना जा सकता है। वायु पुराण में गुप्त साम्राज्य की जो सीमा उल्लिखित है, उसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि वायु पुराण में वर्णित गुप्त राज्य की सीमाएँ चन्द्रगुप्त प्रथम के साम्राज्य की ही हैं। एलन महोदय भी इसी मत को मानते हैं।

प्रयाग प्रशस्ति के विवरण से भी चन्द्रगुप्त प्रथम के साम्राज्य की सीमाएँ

निर्धारित की जा सकती हैं। समुद्रगुप्त ने अपना विजय अभियान अहिछत्र, मथुरा और पद्मावती के नाग राज्यों के ऊपर विजय प्राप्त करके प्रारम्भ किया। अतएव चन्द्रगुप्त का राज्य प्रयाग से आगे नहीं होगा। दक्षिण में समुद्रगुप्त ने कौशल नरेश महेन्द्र पर विजय प्राप्त करके अपना सामरिक अभियान प्रारम्भ किया। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त का साम्राज्य विस्तार मध्य प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी भाग तक विस्तृत था। पूर्व की ओर समुद्रगुप्त ने कोई सैनिक अभियान नहीं किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मगध के आगे समतट को छोड़कर सम्पूर्ण भू-भाग चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का अंग था। चन्द्रगुप्त का साम्राज्य पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के कुछ प्रदेशों तक विस्तृत था।

समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी घोषित करना—राजगद्दी का परित्याग करने से पूर्व 335 ई० में चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को अपना राज्याधिकारी घोषित कर दिया। समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित करना चन्द्रगुप्त का एक साहसिक तथा दूरदर्शितापूर्ण निर्णय था। यद्यपि समुद्रगुप्त के बड़े भाई भी थे, किन्तु वे उसकी भाँति योग्य, दूरदर्शी, साहसी तथा बलिष्ठ नहीं थे। समुद्रगुप्त को प्रत्येक दृष्टि से योग्य अनुभव कर चन्द्रगुप्त ने उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसके इस कदम को सर्वथा उचित बताते हुए डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"समुद्रगुप्त की प्रारम्भिक स्थिति चाहे जैसी भी रही हो, वह गुप्त सम्राटों में सबसे अधिक योग्य सिद्ध हुआ और अपनी सफलताओं से उसने अपने पिता के चयन के औचित्य को प्रमाणित कर दिया।"[1]

राजगद्दी का परित्याग—सन् 320 से 335 ई० तक सफलतापूर्वक शासन करते के उपरान्त 335 ई० में अपने योग्य पुत्र समुद्रगुप्त को राज्य का कार्यभार सौंपकर चन्द्रगुप्त ने संन्यास धारण कर लिया।

इस प्रकार विदित होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने पिता घटोत्कच से एक छोटा सामन्त-शासन प्राप्त किया। चन्द्रगुप्त ने आसपास के प्रदेशों को अधिकृत कर निरन्तर अपने साम्राज्य का विस्तार किया और अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। उसने लिच्छवि राजकुमारी से विवाह सम्पन्न कर अपने राजनीतिक महत्त्व में वृद्धि कर दी। उसने लिच्छवियों के राज्य को अपने साम्राज्य में मिलाकर एक शक्तिशाली और सुसंगठित राज्य की नींव डाली जिसका विस्तार उसके यशस्वी पुत्र समुद्र गुप्त और प्रतापी पौत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किया। चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वर्ण मुद्राएँ प्रचलित कर उन पर गौरवपूर्ण शब्द तथा आकृतियाँ अंकित कीं। उसने गुप्त संवत् की स्थापना की और क्रम में अपने सर्वाधिक योग्य छोटे पुत्र को उत्तराधिकारी

---

1. "Whatever his earlier position, Samudragupta turned out to be one of the ablest Gupta sovereigns and by his exploits more than justified his father's selection."

—Dr. R. S. Tripathi

मनोनीत कर गुप्त साम्राज्य के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया। स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त साम्राज्य के उत्कर्ष और गौरवपूर्ण प्रगति में उस वंश के सर्वप्रथम स्वतन्त्र शासक चन्द्रगुप्त प्रथम का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

काच

काच कौन था और कब राजगद्दी पर बैठा? यह गुप्तकालीन इतिहास की एक गम्भीर समस्या है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में यह वर्णन मिलता है कि चन्द्रगुप्त द्वारा समुद्रगुप्त को राज्याधिकारी मनोनीत किए जाने से अन्य तुल्यकुलजों (राजकुमारों) के मुख म्लान पड़ गए। गुप्तकालीन काच नामक राजा की अनेक मुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं। इन आधारों पर कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि काच नामक गुप्त नरेश समुद्रगुप्त के समय में राजगद्दी पर बैठा। राजगद्दी प्राप्त करने के लिए समुद्रगुप्त को काच के साथ संघर्ष करना पड़ा। अनेक विद्वानों ने घटोत्कच, समुद्रगुप्त और रामगुप्त के साथ काच का समीकरण स्थापित करने का प्रयत्न भी किया है। उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर काच का विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है।

हरिषेणकृत समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में चन्द्रगुप्त प्रथम के राजत्याग एवं समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी के रूप में मनोनयन का अत्यन्त सजीव वर्णन किया गया है। उसमें उल्लिखित है कि समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी घोषित किये जाने से अन्य 'तुल्यकुलज' (राजकुमार) खिन्न हो उठे। इस वक्तव्य के आधार पर कुछ विद्वानों का कथन है कि अनेक राजकुमार सिंहासन प्राप्ति के इच्छुक थे। उनका कथन है कि प्रयाग प्रशस्ति की जो पंक्तियाँ खण्डित हो चुकी हैं, सम्भवतः उनमें गृहयुद्ध का विवरण था। विद्वानों का मत है कि प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी नियुक्त करने के विवरण के तुरन्त बाद यह कहा गया है कि युद्धों में अपकार करने वालों को उसने अपने भुजबल से जीता। यह युद्ध समुद्रगुप्त की दिग्विजय से सम्बन्धित नहीं हो सकता क्योंकि दिग्विजय से सम्बद्ध युद्धों का विवरण इस युद्ध के वर्णन के बाद प्रारम्भ होता है। विद्वानों ने इसे उत्तराधिकार के लिए हुआ युद्ध माना है और इस युद्ध का नायक तुल्यकुलज काच को बताया है।

काच के सिक्के जौनपुर, टांडा, वायना आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। तौल की दृष्टि से इन मुद्राओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में 115 ग्रेन की तथा द्वितीय वर्ग में 118 ग्रेन की मुद्राएँ आती हैं। ये सिक्के खोटे सोने के हैं और समुद्रगुप्त की स्वर्ण मुद्राओं की अपेक्षा घटिया किस्म के हैं। सिक्कों के पूर्व भाग (अग्रभाग) पर बन्द गले का कोट, पायजामा, बूट और आभूषण पहने राजा का चित्र अंकित है। उसके वाम-हस्त में चक्रध्वज और दक्षिण हस्त में वेदी पर आहुति देता हुआ प्रदर्शित है। उसके वाम-हस्त के नीचे 'काच' लिखा हुआ है और मुद्रा के चारों ओर वृत्ताकार में 'गाववजित्य', दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति' उत्कीर्ण है। पृष्ठभाग पर लक्ष्मी का चित्र अंकित है। वह साड़ी और वेशभूषा से सुशोभित है।

वह अपने दक्षिण हस्त में पुष्प तथा वाम हस्त में कानुकोपिय धारण किये है। इसी ओर राजा का विरुद 'सर्वराजोच्छेत्ता' अंकित है।

काच की मुद्राएं भी उन्हीं स्थानों से मिली हैं, जहाँ से गुप्तवंश के अन्य राजाओं के सिक्के मिले हैं। बनावट, तौल, आकार और लिपि की दृष्टि से भी काच की मुद्राएँ गुप्तकालीन मुद्राओं से साम्य रखती हैं। अतः काच को गुप्त नरेश मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चाँदी के सिक्के चलाये। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वर्ण मुद्राएँ चलाने वाला सम्राट काच चन्द्र-गुप्त द्वितीय से पूर्व का होगा।

फादर हेरास और रैप्सन महोदय ने यह विचार व्यक्त किया है कि काच समुद्रगुप्त का अग्रज था। समुद्रगुप्त को अपने भाई के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा था। उत्तराधिकार के युद्ध में काच मारा गया और राजसिंहासन पर समुद्रगुप्त का अधिकार स्थापित हो गया। काच का शासनकाल अत्यल्प रहा होगा। इसीलिए उसकी एक ही प्रकार की मुद्राएँ प्राप्त होती हैं। डॉ० राखलदास वनर्जी का मत है कि काच समुद्रगुप्त का अग्रज था। उनकी धारणा है कि काच कुषाणों के साथ युद्ध में मारा गया। अतः उसकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने के निमित्त समुद्रगुप्त ने स्मारक मुद्राएँ प्रचलित कीं। डॉ० राखलदास बनर्जी का यह मत असंगत प्रतीत होता है। गुप्तों और कुषाणों के मध्य किसी संघर्ष का विवरण नहीं मिलता है तथा भारत में स्मारक सिक्के चलाने की परम्परा का प्रमाण भी नहीं मिलता।

बी० एस० शिथोले का मत है कि काच गुप्त वंश का न होकर बाह्य घुस-पैठिया था। उनका कथन है कि तोरमाण और मोहम्मद गौरी सदृश आक्रांताओं ने अपने विरोधियों के सिक्कों का अनुकरण किया था। इस प्रकार के अनेक मुद्रा साक्ष्य उपलब्ध हैं। अतः सम्भव है कि समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ के अभियान के समय कोई बाहरी आक्रामक आ बैठा हो और उसी ने ये सिक्के प्रचलित किये हों। किन्तु शिथोले का विचार कल्पना मात्र है। समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ की विजय के समय न किसी आंतरिक विद्रोह का विवरण मिलता है और न ही किसी बाह्य आक्रमण का। आर्य-मंजुश्रीमूलकल्प का विवरण भी इन धारणाओं को निर्मूल सिद्ध कर देता है। आर्य-मंजुश्रीमूलकल्प से विदित होता है कि काच समुद्रगुप्त का भाई था। उसमें समुद्रगुप्त के एक भाई का नाम भस्क बताया गया है। काच और भस्क पर्यायवाची शब्द हैं।

अभिलेखों में उल्लिखित गुप्त-वंशावलियों में काच का नाम नहीं मिलता। अतएव अनेक विद्वानों ने काच का समीकरण अन्य गुप्त सम्राटों से किया है।

काच का अन्य गुप्त सम्राटों के साथ समीकरण—गुप्त-वंशावलियों में काच का उल्लेख न होने का कारण यह एक विवादास्पद विषय बन गया कि स्वर्ण मुद्राएँ प्रचलित करने वाला काच नरेश कौन था? विद्वानों नें गुप्त नरेश घटोत्कच, रामगुप्त और समुद्रगुप्त के साथ उसका समीकरण प्रस्तुत किया है।

काच का घटोत्कच के साथ समीकरण—प्रिंसप और टॉमस ने काच का समी-

करण घटोत्कच के साथ स्थापित किया है। किन्तु उनका यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। घटोत्कच का संक्षिप्त रूप कच होगा, काच नहीं। घटोत्कच की उपाधि 'महाराज' से विदित होता कि वह मांडलिक शासक मात्र था। सामन्त शासक को मुद्रा प्रसारित करने का अधिकार नहीं था। चूँकि काच ने स्वतन्त्र शासक के रूप में मुद्राएँ प्रचलित कीं अतः काच से घटोत्कच का समीकरण करना उपयुक्त नहीं है।

काच का समुद्रगुप्त के साथ समीकरण—ऐलन, फ्लीट, स्मिथ और डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी आदि विद्वानों ने समुद्रगुप्त के साथ काच का समीकरण स्थापित किया है। इन विद्वानों का मत है कि काच की मुद्राओं पर 'सर्वराजोच्छेत्ता' का विरुद अंकित है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा अभिलेख में समुद्रगुप्त को 'सर्वराजोच्छेत्ता' कहा गया है। अतः काच समुद्रगुप्त ही था। विद्वानों का कथन है कि समुद्रगुप्त का मूल नाम काच था। जब उसने समुद्र तक विजित कर लिया तो उसने अपना नाम समुद्रगुप्त रख लिया। मुद्राओं की बनावट एवं तौल से भी समुद्रगुप्त और काच एक ही प्रतीत होते हैं। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी का कथन है कि काच समुद्रगुप्त का ही दूसरा नाम है। अनेक विजयें अर्जित करने के पश्चात् उसने समुद्रगुप्त नामक नाम धारण कर लिया।

उपरोक्त मत में भी प्रामाणिकता नहीं है। इसके लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि समुद्रगुप्त का प्रारम्भिक नाम काच था और विजयों के पश्चात् उसने समुद्रगुप्त नाम धारण किया। समुद्रगुप्त ने स्वयं 'सर्वराजोच्छेत्ता' की उपाधि धारण नहीं की।

काच का भष्म के साथ समीकरण—डॉ० पी० एल० गुप्त ने आर्यमंजुश्रीमूलकल्प के आधार पर समुद्रगुप्त के भष्म नामक एक भाई होने की सम्भावना व्यक्त की है। विलियम्स और आप्टे आदि संस्कृत के विद्वानों ने भष्म को काच का पर्यायवाची माना है। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प के विवरण के अनुसार समुद्रगुप्त के पश्चात् उसके अनुज 'भष्म' ने शासन किया। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प की ऐतिहासिक घटनाओं को कुछ विद्वान प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

भट्टाचार्य महोदय ने कलियुगराजवृत्तांत के आधार पर काच को समुद्रगुप्त का सौतेला भाई सिद्ध किया है। किन्तु कलियुगराज की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। डॉ० मजूमदार ने इसे जाली रचना माना है।

काच का रामगुप्त के साथ समीकरण—डॉ० भण्डारकर ने काच का साम्य रामगुप्त के साथ स्थापित किया है। उनका मत है कि गुप्त लिपि में क और र, च तथा म अक्षरों की बनावट में पर्याप्त साम्य है। यदि काच को घसीट कर असावधानी से लिख दिया जाय तो उसे राम पढ़ लेना सर्वथा स्वाभाविक है। अल्तेकर ने भी इस मत का समर्थन किया है।

इस मत को भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। पूर्वी मालवा से रामगुप्त लिखी हुई मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। रामगुप्त की अनेक ताम्र मुद्राएँ मिली हैं। काच और रामगुप्त की मुद्राओं में समता स्थापित करना नितांत असंगत है।

सम्पूर्ण अध्ययन के पश्चात् यही सम्भावना व्यक्त करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि काच समुद्रगुप्त का अग्रज था। वह अत्यल्प समय तक शासन करने के उपरांत उत्तराधिकार के युद्ध में समुद्रगुप्त द्वारा मारा गया। उसके काल, सिक्कों की तौल और बनावट के आधार पर उसे समुद्रगुप्त के काल का सन्निकट माना गया है। उसके तथा समुद्रगुप्त के सिक्कों में पर्याप्त समानताएँ हैं।

समुद्रगुप्त (सन् 335—375 ई०)

चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्यत्याग के पश्चात् 335 ई० में समुद्रगुप्त मगध की राजगद्दी पर आसीन हुआ। यद्यपि समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ भ्राता भी थे किन्तु वे उसकी भाँति योग्य, वीर, दूरदर्शी और नीतिकुशल नहीं थे। अतएव चन्द्रगुप्त ने अपने शासन-काल में ही उत्तराधिकार का प्रश्न सुलझा दिया। उसने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। प्राचीन भारत में अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना को, जो मात्र एक कल्पना मानी जाती थी, समुद्रगुप्त ने साकार कर दिखाया। वह महान् योद्धा, कलाप्रेमी और विद्यानुरागी था। प्रयाग प्रशस्ति, ऐरण अभिलेख, गया अभिलेख तथा दो ताम्रपत्रों से उसकी सामरिक सफलताओं और सांस्कृतिक उपलब्धियों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। समुद्रगुप्त के शासन पर हरिषेण कृत प्रयाग प्रशस्ति से, जो प्रकाश पड़ता है, वह अनुपम है।

समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी घोषित करना—ज्येष्ठ पुत्रों की उपेक्षा कर अपने जीवन काल में ही समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी घोषित करना चन्द्रगुप्त प्रथम का महत्त्वपूर्ण कार्य था। समुद्रगुप्त को राज्याधिकारी मनोनीत करने की घटना का सुन्दर वर्णन प्रयाग-प्रशस्ति में मिलता है। उससे विदित होता है कि उत्तराधिकार के प्रश्न को हल करने के उद्देश्य से चन्द्रगुप्त ने एक अधिवेशन का आयोजन किया जिसमें राजा, सभासद, समुद्रगुप्त तथा अन्य तुल्यकुलज (राजकुमार) उपस्थित थे। इस सभा में चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त को हृदय से लगाकर कहा कि इस पृथ्वी का पालन करो। समुद्रगुप्त की योग्यता से सभासद परिचित थे। अतः उन्होंने चन्द्रगुप्त द्वारा समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का हर्ष ध्वनि के साथ स्वागत किया। उत्तराधिकार के अधिकारी राजकुमारों को चन्द्रगुप्त के इस निर्णय से भारी निराशा हुई। प्रयाग-प्रशस्ति की सातवीं पंक्ति से विदित होता है—"समुद्रगुप्त के समान पद वाले राजकुमारों के मुख म्लान हो गये और उसके विपरीत सभासद हर्ष से उच्छ्वासित हो रहे थे।" आठवीं पंक्ति से ज्ञात होता है—"पिता स्वयं अत्यधिक रोमांचित हो रहे थे और उनकी आँखों से हर्षातिरेक के अश्रु छलक रहे थे, जिस समय उन्होंने समुद्रगुप्त को इस अखिल पृथ्वी का पालन करने की आज्ञा दी।" प्राचीन भारत में प्रचलित उत्तराधिकार के नियमों की उपेक्षा करते हुए चन्द्रगुप्त द्वारा अपने सर्वाधिक योग्य पुत्र समुन्द्रगुप्त को जिसके बड़े भाई भी विद्यमान थे, उत्तराधिकारी घोषित करना उस काल की एक असाधारण घटना थी। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकार सम्बन्धी निर्णय को उचित बताते हुए लिखा है—"इसकी (समुद्रगुप्त) आरम्भिक अवस्था चाहे जो भी रही हो, इसमें सन्देह नहीं कि समुद्रगुप्त, गुप्त

सम्राटों में कई अर्थों में अद्वितीय था और अपनी विजयों से अपने पिता की दूरदर्शिता उसने प्रमाणित कर दी ।"

उत्तराधिकार का युद्ध—कुछ विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी घोषित किए जाने पर भी उसे आसानी से राजसिंहासन प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि इसके लिए उसे आंतरिक संघर्ष करना पड़ा। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के निर्वाचन के तुरन्त बाद किसी युद्ध का उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि यह उत्तराधिकार के लिए गृहयुद्ध का विवरण है। समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी घोषित किये जाने पर राजकुमारों के मुख म्लान पड़ गये थे। उत्तराधिकार के अधिकारी गुप्त राजकुमारों ने समुद्रगुप्त का चयन अपने लिए एक चुनौती समझी। फलतः उत्तराधिकार के लिए संघर्ष प्रारम्भ हो गया। उत्तराधिकार के इस युद्ध में समुद्रगुप्त ने डटकर अपने प्रतिद्वन्द्वियों का सामना किया और सफलता अर्जित की।

काच की मुद्राएँ—गुप्तकालीन काच नरेश की स्वर्ण मुद्राएँ मिली हैं। इससे यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि काच कौन था। कुछ विद्वानों का कथन है कि काच समुद्रगुप्त का अग्रज था। समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी घोषित किए जाने के विरुद्ध उसने विद्रोह कर दिया। वह कुछ समय तक गद्दी पर आसीन रहा और उसने स्वर्ण मुद्राएँ चलाईं। अनेक विद्वानों ने काच का समीकरण घटोत्कच, समुद्रगुप्त और रामगुप्त से स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसके सिक्के तथा उनकी तौल और बनावट गुप्तकालीन राजाओं की मुद्राओं से मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि काच समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ भाई था और उत्तराधिकार के युद्ध के समय वह अत्यल्प समय तक राजगद्दी पर बैठा। किन्तु बाद में समुद्रगुप्त द्वारा मारा गया।

समुद्रगुप्त के राज्यारोहण के समय भारत की राजनीतिक दशा—जिस समय समुद्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा, उस समय भारत की राजनीतिक दशा अत्यन्त क्षीण थी। नाग और वाकाटक राजाओं के उत्कर्ष के फलस्वरूप गंगा और यमुना के दोआब में कुषाणों का प्रभुत्व समाप्त हो चुका था, किन्तु पश्चिमी पंजाब और सीमांत प्रदेशों पर कुषाण अब भी अधिकार जमाये बैठे थे। पूर्वी तथा दक्षिणी पूर्वी-पंजाब में छोटे-छोटे राज्य अस्तित्व में आ चुके थे। राजस्थान और मालवा में भी अनेक स्वतन्त्र राज्य विद्यमान थे। बुन्देलखण्ड और विंध्याचल के दुर्गम प्रदेशों में स्वतन्त्र जातियों का आधिपत्य था। उत्तरी बंगाल और असम में स्वतन्त्र राज्य थे। मगध में गुप्तों का प्रभुत्व था, गुप्त राज्य के दक्षिण में कलिंग-राज्य था। सातवाहन वंश के पतन के पश्चात् कलिंग-राज्य के दक्षिण में अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये थे। तमिल प्रदेश में शक्तिशाली पल्लव राज्य था। सुदूर दक्षिण में चोल, पांड्य और चेर राज्य थे। गुजरात, कोंकण और मालवों के कुछ भागों पर शकों का आधिपत्य था। बरार तथा आंध्र प्रदेश के कुछ भागों में स्वतन्त्र वाकाटक राज्य स्थित था। स्पष्ट हो जाता है कि समुद्रगुप्त के राज्यारोहण के समय राजनीतिक दृष्टि से भारत क्षीण अवस्था में था। भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य विद्यमान थे। महत्त्वाकांक्षी समुद्रगुप्त इन

प्रदेशों को विजित कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। अपने उद्देश्य में वह सफल सिद्ध हुआ। समुद्रगुप्त ने किस प्रकार दिग्विजय करके सम्पूर्ण भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधा, इस का विस्तृत विवरण हरिषेण कृत उसकी प्रयाग-प्रशस्ति में मिलता है।

हरिषेण और प्रयाग-प्रशस्ति—हरिषेण कृत प्रयाग-प्रशस्नि में समुद्रगुप्त की दिग्विजय का वर्णन है। इस अभिलेख से विदित होता है यह हरिषेण की काव्यकृति है। हरिषेण राजकीय भोजनालय का व्यवस्थापक, सन्धि-विग्रह करने वाला, राजकुमारों का आमात्य तथा प्रधान न्यायाधीश था। प्रयाग-प्रशस्ति से यह भी विदित होता है कि महादण्डनायक का पद उसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था।

अशोक के कौशाम्बी स्तम्भ लेख को इलाहाबाद लाकर उसके दूसरी ओर समुद्रगुप्त की विजयों का वर्णन किया गया है। अब यह अभिलेख प्रयाग-प्रशस्ति के नाम से ही वर्णित है। इस अभिलेख के एक ओर अशोक के शान्ति और अहिंसा के सन्देश उत्कीर्ण हैं, तथा दूसरी ओर समुद्रगुप्त की शस्त्र वल की विजयें अंकित हैं।

हरिषेण समुद्रगुप्त का दरबारी कवि था। प्रयाग प्रशस्ति में हरिषेण ने अपने स्वामी समुद्रगुप्त की शस्त्रबल से प्राप्त विजयों का क्रमबद्ध उल्लेख किया है। प्रशस्ति में कहा गया है कि अखिल विश्व-विजय के फलस्वरूप समुद्रगुप्त की कीर्ति सम्पूर्ण विश्व में फैल गई और उसकी धूम स्वर्ग तक पहुँच गई। प्रशस्ति में कहा गया है कि आर्यावर्त की विजय के पश्चात् समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ की विजय की। उससे विदित होता है कि केन्द्र में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के उपरांत समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ में विजय-यात्रा प्रारम्भ करके अपने कार्यक्रम के द्वितीय सोपान में पदार्पण किया। वह दक्षिणापथ के सभी राजाओं को पराजित करने में सफल रहा।

प्रयाग-प्रशस्ति पर हरिषेण ने समुद्रगुप्त की विजयों को कब उत्कीर्ण किया। इस सन्दर्भ में विद्वानों में कुछ मतभेद दिखाई देता है। फ्लीट महोदय का मत है कि प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त से सम्बन्धित विवरण समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् लिखा गया है। किन्तु कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि प्रयाग-प्रशस्ति पर स्वयं समुद्रगुप्त ने यह विवरण उत्कीर्ण करवाया। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त द्वारा सम्पादित अश्वमेध यज्ञ का वर्णन नहीं है। अत: यह मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि प्रयाग-प्रशस्ति का वर्णन समुद्रगुप्त की विजयों के तुरन्त बाद और अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान से पूर्व का है।

प्रयाग-प्रशस्ति का महत्त्व केवल समुद्रगुप्त की दिग्विजय के सन्दर्भ में ही नहीं है, वरन् इससे प्रारम्भिक गुप्त शासकों के सम्बन्ध में भी प्रकाश पड़ता है। डॉ० स्मिथ ने प्रयाग-प्रशस्ति के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"राजकवि द्वारा लिखा हुआ अभिलेख आज भी लगभग पूर्णत: प्राप्य है और इससे उस समय की घटनाओं का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। असंख्य भारतीय अभिलेखों में यह सम्भवत: श्रेष्ठ है।"

समुद्रगुप्त की दिग्विजय

प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की दिग्विजय का विस्तृत विवरण है। विद्वानों में इस सम्बन्ध में मतभेद हैं कि समुद्रगुप्त ने अपने दिग्विजय अभियान का शुभारम्भ कहाँ से किया ? डॉ० स्मिथ का मत है कि समुद्रगुप्त ने गंगा की घाटी से अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया। तदुपरांत दक्षिण की विजय की। परन्तु डुब्रिल महोदय का कथन है कि समुद्रगुप्त ने पहले दक्षिण विजय प्रारम्भ की जो 340 ई० तक पूर्ण हो चुकी थी। डुब्रिल के मत को इतिहासकार कल्पना मात्र मानते हैं।

उत्तराधिकार के गृहयुद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के उपरांत समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उसने आर्यावर्त और दक्षिणापथ के राजाओं को पराजित करके अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित की। अनेक राजाओं ने उसके भय से आतंकित होकर बिना युद्ध किये उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। दिग्विजय की भावना से परिपूर्ण समुद्रगुप्त एक कुशल सेनापति था। उसे अपने जीवन पर्यन्त कभी किसी पराजय का सामना नहीं करना पड़ा। उसकी सैनिक सफलताओं से प्रभावित होकर डॉ० स्मिथ ने समुद्रगुप्त को 'भारतीय नेपोलियन' की संज्ञा दी है। वह एक कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने केवल उन्हीं प्रदेशों को अपने साम्राज्य में विलीन किया, जिन पर सफलतापूर्वक शासन किया जा सकता था। अन्य पराजित राजाओं को अपना करद राजा बनाकर उनके राज्य उन्हें वापस कर दिये। अध्ययन की सुविधा के लिए समुद्रगुप्त के विजय अभियान को निम्नलिखित क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. आर्यावर्त का प्रथम सैनिक अभियान।
2. दक्षिणापथ की विजय।
3. आर्यावर्त का द्वितीय सैनिक अभियान।
4. आटविक-राज्यों पर विजय।
5. सीमावर्ती राज्यों द्वारा अधीनता।
6. गणराज्यों पर विजय।
7. विदेशी शासकों द्वारा आत्मसमर्पण।

1. आर्यावर्त का प्रथम सैनिक अभियान—प्रयाग-प्रशस्ति से विदित होता है कि सिंहासन पर बैठने के शीघ्र पश्चात् समुद्रगुप्त को आर्यावर्त के राजाओं से युद्ध करना पड़ा। कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यावर्त के नौ राजाओं ने उत्तराधिकार के युद्ध के समय समुद्रगुप्त के विरुद्ध उसके भाई का साथ दिया। समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के नौ राजाओं को पराजित कर उनके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इन राजाओं का उल्लेख इस प्रकार है—रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, पद्मावती का गणपतिनाथ, अहिच्छत्र का अच्युत, मथुरा का नागसेन, नन्दिन और बलवर्मन, उन राजाओं के साथ समुद्रगुप्त के युद्ध का वर्णन प्रयाग-प्रशस्ति की 13 वीं पंक्ति में मिलता है।

समुद्रगुप्त और आर्यावर्त के नौ राजाओं के मध्य युद्ध किस स्थान पर हुआ, इस सम्बन्ध में डॉ० जायसबाल का मत है कि यह युद्ध कौशाम्बी में हुआ। डॉ० डांडेकर भी इसी मत को मानते हैं।

डॉ० रायचौधरी आदि विद्वानों का कथन है कि समुद्रगुप्त ने सर्वप्रथम आर्यावर्त की विजय की। फादर हेरेसा का मत है कि समुद्रगुप्त को आर्यावर्त पर दो बार विजय प्राप्त करनी पड़ी। प्रयाग-प्रशस्ति की 13वीं पंक्ति में आर्यावर्त की विजय के बाद 19वीं-20वीं पंक्ति में दक्षिणापथ की विजय का वर्णन है और उसके तुरन्त पश्चात् 21वीं पंक्ति में आर्यावर्त की विजय का उल्लेख है।

2. **दक्षिणापथ की विजय**—आर्यावर्त के नौ राजाओं को पराजित करने के उपरांत समुद्रगुप्त दक्षिण के राजाओं पर टूट पड़ा। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त द्वारा पराजित दक्षिणापथ के बारह राजाओं का उल्लेख मिलता है। दक्षिण के राजाओं को पराजित कर उसने बन्दी बना लिया और बाद में अपना करद राजा बनाकर उन्हें मुक्त कर दिया। इस प्रकार की नीति को समुद्रगुप्त की 'धर्म-विजय' की नीति की संज्ञा दी गई है। उसने दक्षिणापथ के जिन बारह राजाओं को पराजित किया, उनका विवरण इस प्रकार है—कौशल का महेन्द्र, महाकांतार का व्याघ्रराज, पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि, केरल का मन्तराज, कोटूर का स्वामीदत्त, कांची का विष्णुगोप, एरंडपल्ल का दमन, अवमुक्त का नीलराज, वेंगी का हस्तिवर्मन, पल्लक का उग्रसेन, देवराष्ट्र का कुबेर और कुस्थलपुर का धनञ्जय, दक्षिणी भारत के पराजित राजाओं के प्रति समुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत के पराजित राजाओं से भिन्न नीति अपनाई। उत्तरी भारत के राजाओं का उन्मूलन कर उसने उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया। किन्तु दक्षिणापथ के पराजित राजाओं को उनके राज्य वापस करके उन्हें अपनी प्रभुसत्ता अंगीकार करने को बाध्य किया। दक्षिण के राजाओं को करद राजा बनाकर उन्हें उनके राज्य वापस दे देने की नीति को समुद्रगुप्त की दूरदर्शिता एवं परिपक्व कूटनीति का प्रमाण कहा जा सकता है। आवागमम के साधनों के अभाव में इन दूरस्थ प्रांतों में सफलतापूर्वक शासन-संचालन कठिन था।

3. **आर्यावर्त का द्वितीय सैनिक अभियान**—प्रयाग-प्रशक्ति में समुद्रगुप्त की दक्षिणापथ की विजय के तुरन्त बाद पुनः आर्यावर्त की विजय का उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में डॉ० चट्टोपाध्याय का मत है कि आर्यावर्त के प्रथम विजय अभियान के पश्चात् जब समुद्रगुप्त दक्षिणापथ की विजय हेतु गया तो उस समय आर्यावर्त के पराजित राजाओं ने इसे उपयुक्त अवसर समझते हुए संगठित होकर उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। परन्तु समुद्रगुप्त ने उन्हें पुनः पराजित कर दिया।

कुछ विद्वानों का मत है कि समुद्रगुप्त ने पहली बार आर्यावर्त के राजाओं को पराजित कर उनके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। डॉ० रायचौधरी का कथन है कि दक्षिणापथ की विजय से पूर्व और पश्चात् प्रयाग-प्रशस्ति में आर्यावर्त की विजय का उल्लेख इसलिए आया है कि पहले हरिषेण ने आर्यावर्त की विजय का संक्षिप्त वर्णन किया है।

4. आटविक-राज्यों पर विजय—आर्यावर्त की द्वितीय विजय के पश्चात् हरिषेण समुद्रगुप्त की आटविक-राज्यों पर विजय का उल्लेख करता है। आर्यावर्त की द्वितीय विजय के बाद आटविक-राज्यों पर विजय का उल्लेख होने के कारण विद्वान आटविक-राज्यों को आर्यावर्त और पूर्वी सीमांत राज्यों के मध्य स्थित मानते हैं।

आटविक-राज्य जंगली राज्य थे, जिनकी संख्या अठारह थी। फ्लीट का मत है कि आटविक-राज्य उत्तर प्रदेश के गाजीपुर से लेकर मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले तक विस्तृत थे। समुद्रगुप्त ने आटविक-राज्यों को पराजित करके उन्हें अपना परिचारक (विशेष अवसरों पर सेवक का कार्य करने वाला) नियुक्त किया।

5. सीमावर्ती राज्यों द्वारा अधीनता—समुद्रगुप्त की आटविक-राज्य पर विजय के उपरांत हरिषेण उत्तर-पूर्व में स्थित राज्यों पर उसकी विजय का उल्लेख करता है। इन राज्यों के नाम इस प्रकार हैं—समतट (दक्षिणी-पूर्वी बंगाल), दवाक (ढाका के सीमावर्ती क्षेत्र), कामरूप (असम), नेपाल और कर्तृपुर (कुमाऊं-गढ़वाल और रुहेलखण्ड के प्रदेश)। इन राज्यों में राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति थी। समुद्रगुप्त ने सीमावर्ती राज्यों के राजाओं को पराजित करके उन्हें सभी प्रकार के कर, दान उपहरादि देने को बाध्य किया। उन्होंने समुद्रगुप्त के आदेशों का पालन करने का वचन दिया।

6 गणराज्यों पर विजय—समुद्रगुप्त के साम्राज्य के पश्चिम तथा दक्षिण पश्चिम में नौ गणतंत्रात्मक राज्य विद्यमान थे। गणराज्य सिकन्दर के भारत अभियान के समय भी मौजूद थे। ये गणराज्य मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक और खरपरिक थे। इन गणराज्यों ने समुद्रगुप्त की प्रचंड शक्ति से भयातुर होकर उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। डॉ० जायसवाल का मत है कि समुद्रगुप्त ने अपनी आक्रामक तथा विस्तारवादी नीति का परिचय देते हुए गणराज्यों का विनाश कर दिया। परन्तु डॉ० अल्तेकर उनके कथन को उपयुक्त नहीं मानते। उनकी विचारधारा है कि समुद्रगुप्त ने इन गणराज्यों का उन्मूलन न कर केवल उन्हें अपनी अधीनता मानने को विवश किया। समुद्रगुप्त ने उन्हें स्वायत्त शासन प्रदान किया।

7. विदेशी शासकों द्वारा आत्म-समर्पण—प्रयाग-प्रशस्ति से विदित होता है कि विदेशी शासकों ने समुद्रगुप्त की शक्ति से आतंकित होकर उसके सामने आत्म-समर्पण कर दिया। दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही (उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के कुषाण राज्य) और शक-मुरुण्ड (अवन्ति तथा सौराष्ट्र के शक-क्षत्रपों के राज्य) ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। प्रयाग-प्रशस्ति में यह उल्लेख मिलता है कि दैवपुत्र-शाही शाहानुशाही, शक-मुरुण्डों तथा सिंहल के अन्य द्वीपों के निवासियों ने "आत्म-समर्पण, कन्याओं की भेंट और अपनी विषय-भुक्ति के लिए गरुड़ के चिन्ह से अंकित आज्ञापत्र के स्वीकरण द्वारा उससे शान्ति क्रय की।"

विदेशों से सम्बन्ध—समुद्रगुप्त के पराक्रम और दिग्विजय की ख्याति विदेशों में भी फैल गई। विदेशों में उसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा और विदेशी उसके साथ मैत्री भाव रखने के इच्छुक थे। समुद्रगुप्त के शासनकाल में सिंहल द्वीप (लंका) के राजा मेघवर्मन ने दो बौद्ध भिक्षुओं को बोधगया तथा अन्य बौद्ध तीर्थ स्थलों की धार्मिक यात्रा हेतु भारत भेजा। भारत में उनका समुचित आदर-सत्कार नहीं हुआ, भारत में की गई धार्मिक यात्रा की कठिनाइयों से बौद्ध भिक्षुओं ने मेघवर्मन को अवगत कराया। मेघवर्मन ने बहुमूल्य उपहार भेंट कर समुद्रगुप्त से बोध गया में सिंहली बौद्ध अनुयाइयों के निवास हेतु एक विहार निर्मित करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। ह्वेन्सांग ने मेघवर्मन द्वारा निर्मित बौद्ध विहार के दर्शन किये थे।

चौथी शताब्दी तक दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों में हिन्दुओं के अनेक उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। समीपवर्ती द्वीपों में भी भारतीय सम्राटों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। दक्षिणी-पूर्व एशिया के प्रदेशों और निकटवर्ती द्वीपों ने समुद्रगुप्त का प्रभुत्व स्वीकार करते हुए उसके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे। विद्वानों का मत है कि मलाया, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों ने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया था।

अश्वमेध यज्ञ का संपादन—समुद्रगुप्त ने उत्तरापथ और दक्षिणापथ के अनेक राजाओं को नतमस्तक किया, प्रयाग-प्रशस्ति में उसके सौ युद्धों का उल्लेख है। अनेक राजाओं ने उसके भय से आतुर होकर उसके सामने आत्मसमर्पण कर दिया। उत्तर भारत में अपने एकछत्र शासन की स्थापना करने तथा दक्षिणी भारत के राजाओं को अपना करद राजा बनाने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य में प्राचीन भारत के चक्रवर्ती सम्राट के अनुरूप अश्वमेघ यज्ञ संपादित किया। अश्वमेध यज्ञ के सफलतापूर्वक संपादन के पश्चात् उसने संपूर्ण भारत का 'महाराजाधिराज' होने की घोषणा की। अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर समुद्र गुप्त ने एक प्रकार की स्वर्ण मुद्राएँ प्रचलित कीं। इन सिक्कों के एक ओर अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की आकृति उत्कीर्ण है और उसके नीचे 'अश्वमेध पराक्रम' (अश्वमेध के योग्य पराक्रम वाला) अंकित है तथा दूसरी ओर "राजाधिराजः पृथिवीमवजित्य दिवं जयति अप्रतिवार्य-वीर्यः" (राजाधिराज पृथ्वी को जीतकर अब स्वर्ग की जय कर रहा है, उसकी शक्ति और तेज अप्रतिम है) लिखा हुआ है।

साम्राज्य का संगठन और विस्तार—समुद्रगुप्त न केवल एक विजेता था, अपितु एक कुशल संगठनकर्ता भी था। वह महत्वाकांक्षी था और सार्वदेशिक साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। उसने आर्यावर्त्त के राजाओं को पराजित करके उनके राज्य को अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया और दूरदर्शिता का परिचय देते हुए दक्षिण के राजाओं को नतमस्तक कर उन्हें अपना करद राजा बना लिया, सीमावर्ती विदेशी राजाओं के साथ उसने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे। समुद्रगुप्त ने विशाल साम्राज्य के निर्माण के लिए सुदृढ़ नींव डाली।

समुद्रगुप्त ने अनेक विजयें प्राप्त करके एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उत्तराधिकार में प्राप्त एक छोटे राज्य को उसने अपनी सामरिक प्रतिभा का परिचय देते हुए विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया । प्रयाग-प्रशस्ति से उसके विस्तृत साम्राज्य का ज्ञान हो जाता है । आर्यावर्त्त के राज्यों को उसने अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया । फलतः उत्तर प्रदेश, विहार और पश्चिमी बंगाल उसके साम्राज्य के अंग बन गये । दक्षिणापथ के राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार करके उसे कर देना स्वीकार किया । सीमावर्ती राजतंत्रों और उस समय के गणराज्यों ने उसके सामने आत्मसमर्पण कर देना ही उचित समझा। विदेशी शासकों ने उसके साथ मधुर सम्बन्धों की कामना की। समुद्रगुप्त के साम्राज्य-विस्तार के सन्दर्भ में डॉ० रमेश चन्द्र मजूमदार ने लिखा है कि कश्मीर, पश्चिमी पंजाव, पश्चिमी राजपूताना, सिंध और गुजरात के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत पर समुद्रगुप्त का साम्राज्य स्थापित था । डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार समुद्रगुप्त का साम्राज्य पूर्व में ब्रह्मपुत्र, दक्षिण में नर्मदा, उत्तर में कश्मीर और हिमालय तक विस्तृत था। डॉ० स्मिथ ने समुद्रगुप्त के साम्राज्य-विस्तार पर प्रकाश डालते हुए लिखा है— "इस प्रकार चौथी शताब्दी के मध्य में समुद्रगुप्त के साम्राज्य के अन्तर्गत भारत के सर्वाधिक उपजाऊ प्रदेश थे। पूर्व में ब्रह्मपुत्र से लेकर पश्चिम में यमुना और चम्बल नदी तक विस्तृत था। उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक फैला था । इन विस्तृत सीमाओं के अतिरिक्त असम और गंगा डेल्टा के साथ-साथ हिमालय के दक्षिणी ढालों के राज्य, राजपूताना और मालवा की स्वतंत्र जातियाँ इस साम्राज्य से सहायक संधि से बंधी थीं । इसके अतिरिक्त दक्षिण के समस्त राजाओं पर समुद्रगुप्त की सेनाओं ने विजय प्राप्त की तथा उनसे अपनी असीमित शक्ति को स्वीकार करने को बाध्य किया । इतना विस्तृत साम्राज्य भारत में छः शताब्दी पूर्व केवल अशोक के समय ही विद्यमान था । विशाल साम्राज्य का सम्राट होने के कारण समुद्रगुप्त को विदेशों में भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था ।" विद्वानों ने समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर में हिमालय की तलहटी से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक और पश्चिम में यमुना और चम्बल तदी से लेकर पूर्व में हुगली नदी तक निर्धारित की हैं ।

समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व

समुद्रगुप्त असाधारण व्यक्तित्व का स्वामी था, उसकी गणना भारत के महत्तम सम्राटों में की जाती है। हरिषेण कृत प्रयाग-प्रशस्ति में उसे सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न सम्राट कहा गया है । समुद्रगुप्त के महान् व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० यू० एन० राय ने लिखा है—"पराक्रमांक समुद्रगुप्त का राज्यकाल भारतीय इतिहास के पृष्ठों में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना का मधुमय निदर्शन है । उसकी विलक्षण बहुमुखी प्रतिभा प्रशस्त गुणों से सम्पन्न एक ऐसे सम्राट का प्रतिनिधित्व करती थी जो कुशल योद्धा, प्रवीण सेनापति, सफल संगठनकर्ता, काव्य प्रेमी तथा कला एवं संस्कृति का प्रकांड उन्नायक था । यह सही है कि गुप्त साम्राज्य

की स्थापना का श्रेय उसके सुयोग्य पिता चन्द्रगुप्त प्रथम को था, परन्तु उसके संवर्धन एवं विस्तार का वास्तविक कार्य एक तरह से अधूरा रह गया था। मात्स्य न्याय के समकालीन वातावरण की समाप्ति, प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों का उन्मूलन एवं अतीव गर्वित शक्तियों का मानमर्दन कर अपने पिता द्वारा समर्पित वसुधा के रक्षण के कठिन उत्तरदायित्व को निभाते हुए उसने तेजस्वी सम्राट का नूतन आदर्श प्रस्तुत किया। यदि एक ओर वह 'सर्वराजोच्छेत्ता' (सम्पूर्ण नरेशों का उन्मूलन करने वाला) था, तो दूसरी ओर 'शास्त्रतत्त्वार्थभर्त्ता' (ज्ञान मर्मज्ञ) भी था। ऐसे प्रतिभा सम्पन्न नरेश के उदाहरण इतिहास के पृष्ठों में विरले (वहुत कम) हैं।'' प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के गुणों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर उसके व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है। डॉ० मजूमदार और सुधाकर चट्टोपाध्याय का मत है कि अभिलेखों और सिक्कों पर समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व का मनोहारी वर्णन अतिरंजित हो सकता है। उसके व्यक्तित्व में मुख्यतया निम्नलिखित गुणों का समावेश था—

1. **प्रतिभासम्पन्न सम्राट**—समुद्रगुप्त प्रतिभासम्पन्न सम्राट था। उसकी बुद्धि तीक्ष्ण और परिष्कृत थी। साहसी और दुर्धर्ष योद्धा होने के अतिरिक्त वह दयालु सम्राट था। करुणा का तो वह प्रतिरूप ही था। वह विनम्र और प्रजावत्सल सम्राट था। निर्धन, दीन, अनाथ और पीड़ितों का वह उद्धारक था। पराजित और आत्मसमर्पण करने वाले राजाओं के प्रति उसने उदार नीति का परिचय दिया, वह महान् साम्राज्य निर्माता और दानशील शासक था।

2. **महान् योद्धा**—समुद्रगुप्त में अद्भुत सामरिक प्रतिभा थी। वह महान् योद्धा और कुशल सेनानायक था। उसकी सामरिक योग्यता को सभी विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। अदम्य साहस का परिचय देते हुए उसने उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त एक छोटे साम्राज्य को विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत कर दिया। उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के राजाओं का उसने मानमर्दन किया। उसने दिग्विजय के काल में अनेक समर लड़े जिसके फलस्वरूप उसके क्रान्तिपूर्ण सुन्दर शरीर पर शस्त्रों के सैकड़ों घाव शोभा पाते थे। उसके पराक्रम का यश चतुर्दिक् व्याप्त था। उस काल में महान् विजेता अप्रतिरथ समुद्रगुप्त का सामना करने वाला कोई नहीं था। उसके पराक्रमपूर्ण समर कर्मों से विपुल यश उसे चारों ओर से परिमित किये था। उसके शत्रु स्वप्नान्तर में भी उसके रणार्जित पराक्रम का ध्यान करने से परित्रस्त हो उठते थे। दिग्विजय के रूप में उसने सकल पृथ्वी के राजाओं को दवाकर अपने प्रभाव को बढ़ाया था, और 'सर्वराजोच्छेत्ता' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। भारत के अनेक नरेशों को करद और अधीनस्थ बनाने का श्रेय समुद्रगुप्त को है। भगवान कृतान्तपरशु स्वरूप प्रवीर समुद्रगुप्त दुष्टों के लिए यम और अन्तक के समान था जिसका पृथ्वी पर कोई विरोध करने की सामर्थ्य न रखता था। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर बनी आकृतियों से विदित होता है कि वह महान् योद्धा था। उसके सिक्कों पर उसे युद्ध की वेशभूषा पहने, धनुष-बाण धारण किये, फरसा लिए और

सिंह से युद्ध करते हुए अंकित किया गया है। उसे 'व्याघ्र-पराक्रम,' 'पराक्रमांक,' 'विक्रमांक' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। प्रयाग-प्रशस्ति में कहा गया है कि समुद्रगुप्त ने सौ युद्ध लड़े।

3. **महान् विजेता**—समुद्रगुप्त महान् विजेता था। उसने आर्यावर्त के राजाओं, दक्षिणापथ के शासकों, आटविक-राज्यों, सीमावर्ती राज्यों तथा गणराज्यों पर विजय प्राप्त की। उसकी विजयों से प्रभावित होकर पड़ोसी देशों ने उसका प्रभुत्व अंगीकार कर लिया। डॉ० स्मिथ महोदय ने समुद्रगुप्त की असाधारण विजयों से प्रभावित होकर उसकी तुलना यूरोप के असाधारण विजेता नेपोलियन महान् से की है। आवागमन के साधनों के नितांत अभाव में भी अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए समुद्रगुप्त ने अपना विजयों का क्रम जारी रखा, सघन वनों और ऊँचे पर्वत-शिखरों को पार कर उसने मात्र डेढ़ वर्ष की अवधि में दक्षिणापथ के बारह राज्यों को पराजित कर डाला। आर्यावर्त के राज्यों को विजित कर उसने उन्हें एक सूत्र में बांधा और राजनीतिक एकता की स्थापना का आदर्श प्रस्तुत किया।

4. **दूरदर्शी राजनीतिज्ञ**—समुद्रगुप्त कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय देते हुए उसने उत्तरी भारत के राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लिया और दक्षिणापथ के राज्यों को पराजित करके उनके राजाओं को करद राजा बना लिया। वह भलीभाँति जानता था कि आवागमन के साधनों के अभाव में दूरस्थ प्रदेशों में शासन का सफल संचालन कठिन है। उसने भारत में स्थापित विदेशी राज्यों तथा अन्य विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर उनकी सहानुभूति अर्जित कर ली। प्रयाग-प्रशस्ति से समुद्रगुप्त की नीति-निपुणता की भव्य झाँकी मिलती है।

5. **दया और करुणा की मूर्ति**—समुद्रगुप्त दया और करुणा की मूर्ति था, वह दीन, अनाथ तथा पीड़ित व्यक्तियों की सहायता के लिए सदैव तत्पर रहता था। बहुधा ऐसा देखने में आता है कि रणविजयी सम्राटों का स्वभाव क्रूर होता है तथा उनके हृदय को दया एवं करुणा स्पर्श नहीं कर पाती, परन्तु समुद्रगुप्त के वीर रस से परिपूरित हृदय में करुणा की भावना व्याप्त थी। क्षात्र में दीक्षित होने पर भी वह दया-दान की दिव्य मूर्ति था। फाहियान ने भी गुप्त सम्राटों की दानशीलता पर प्रकाश डाला है। वह प्रजापालक, उदार और दयालु सम्राट था। समुद्रगुप्त प्रजा-वत्सल सम्राट था। प्रजा के प्रतिपालन के लिए ही मानो उसने स्वरूप ग्रहण किया था।

6. **कुशल प्रशासक**—समुद्रगुप्त महान् विजेता ही सहीं, वरन् कुशल प्रशासक भी था। उसने शुद्ध स्वर्ण और बढ़िया ताँबे के सिक्के चलाकर मुद्रा प्रणाली में सुधार किया। उसने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन को संगठित किया। शासन के सफल संचालन के लिए एक मन्त्रि-परिषद् का गठन किया। विभिन्न विभागों की सुव्यवस्था का उचित प्रबन्ध था। उसके शासन काल में कोई विद्रोह नहीं हुआ।

7. **कला, संगीत और साहित्य प्रेमी**—वह उच्चकोटि की कला, संगीत और

साहित्य का प्रेमी था। समुद्रगुप्त की मुद्राओं से उसके संगीत प्रेम का विवरण मिलता है। मुद्राओं में उसे वीणा बजाते हुए उत्कीर्ण किया गया है। प्रयाग-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने गांधर्व कला में देवताओं के गुरु तुम्बरु तथा नारद को लज्जित कर दिया।

समुद्रगुप्त को साहित्य के प्रति विशेष अनुराग था। वह विद्वानों के सत्संग का व्यसनी (प्रेमी) और शास्त्र के तत्त्वार्थ को जानने वाला तत्वभेदी व विद्वत्ता का आगार भी था। प्रयाग-प्रशस्ति में उसे 'कविराज' की संज्ञा दी गई है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और विचक्षण प्रतिभा से देवताओं के अधिपति (इन्द्र) के गुरु कश्यप को भी लज्जित कर दिया। उसने काव्य ज्ञान द्वारा लक्ष्मी एवं सरस्वती के शाश्वत विरोध का अंत कर दिया। समुद्रगुप्त विद्वानों का संरक्षक भी था। वह कवि हरिषेण का आश्रयदाता था।

8. धार्मिक सम्राट—समुद्रगुप्त एक धर्मनिष्ठ सम्राट था। वह धर्म की मर्यादा स्थापित करने वाला और शास्त्र विहित मार्ग पर चलने वाला नृपति था। वह कौटिल्य की परिभाषा के अनुरूप एक महान् राजर्षि था। प्रयाग-प्रशस्ति से भी ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त लोकनियमों के अनुष्ठान एवं पालन मात्र के लिए मनुष्य था, किन्तु वास्तव में वह इस लोक में रहने वाला देवता था। वह वैष्णव मतावलम्बी था। ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार के लिए उसने विशेष प्रयत्न किये। उसने अश्वमेध यज्ञ संपादित करके ब्राह्मण धर्म को पुनर्जाग्रत करने में अपना योग दिया, वैष्णव धर्म का अनुयाई होने के बावजूद उसमें धार्मिक सहिष्णुता की भावना व्याप्त थी। उसने बोध गया में एक बौद्ध विहार बनाने में अपना योग दिया और अन्य धर्मानुयाइयों को अपने शासन में ऊँचे-ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित किया।

समुद्रगुप्त का मूल्यांकन

समुद्रगुप्त सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति था। वह महान् विजेता के साथ-साथ कुशल प्रशासक, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, धार्मिक सहिष्णु और कला, संगीत एवं साहित्य-प्रेमी था। उत्तरी राज्यों को विजित करके अपने साम्राज्य में सम्मिलित करना तथा दक्षिण के राजाओं को करद राजा बनाकर उनका राज्य उन्हें लौटा देना, उसकी दूरदर्शिता का परिचायक है। अभिलेखों में उसे 'कविराज' कहा गया है और मुद्राओं पर उसे वीणा वादन करते हुए प्रदर्शित किया गया है जो उसके विद्यानुराग तथा संगीत प्रेम का द्योतक है।

राजनीतिक, सामाजिक, सामरिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से समुद्रगुप्त का काल महत्वपूर्ण था। विद्वानों ने उसकी तुलना चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक महान् और नेपोलियन महान् से की है।

समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त मौर्य—मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य से समुद्रगुप्त की तुलना की जाती है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध पर आक्रमण कर मौर्य वंश की नींव डाली। तत्पश्चात् उसने उत्तरी भारत को विजित किया। समुद्रगुप्त को साम्राज्य

की स्थापना नहीं करनी पड़ी। उसने उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त पैतृक साम्राज्य का विस्तार किया। उत्तरी भारत की विजय के पश्चात् उसने दक्षिणापथ की विजय की। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिस समय साम्राज्य की स्थापना की वह समुद्रगुप्त के काल की अपेक्षा अधिक संकटपूर्ण था। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त मौर्य दोनों ने विदेशी शक्तियों को पराजित करके अपने साम्राज्यों की रक्षा की। दोनों ही कुशल राजनीतिज्ञ, महान् योद्धा और धार्मिक सहिष्णु थे, दोनों में पर्याप्त समानताएँ होने पर कुछ क्षेत्रों में अन्तर दिखाई देता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने संकट की घड़ी में अपने बाहुबल से राज्य प्राप्त किया और उसका जन्म भी साधारण कुल में हुआ था, जबकि समुद्रगुप्त राजकुमार था तथा उसे साम्राज्य उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था। चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-प्रणाली समुद्रगुप्त की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित थी। मानसिक प्रतिभा के क्षेत्र में चन्द्रगुप्त की अपेक्षा समुद्रगुप्त कहीं अधिक महान् था। समुद्रगुप्त महान् संगीतज्ञ था और वीणावादन में पारंगत था। उसे 'कविराज' की उपाधि से विभूषित किया गया है जो उसकी साहित्यिक अभिरुचि की ओर संकेत करता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य एक कुशल सैनिक तथा उत्कृष्ट कोटि का शासन प्रबन्धकर्ता था। समुद्रगुप्त एक दक्ष सैनिक होने के अतिरिक्त संगीत और साहित्य का प्रकांड पण्डित था। अपनी-अपनी परिस्थितियों में दोनों बेजोड़ थे।

समुद्रगुप्त और अशोक महान्—कुछ विद्वानों ने समुद्रगुप्त की तुलना अशोक महान् से की है। दोनों महान् योद्धा थे, दोनों का साम्राज्य विशाल था और दोनों प्रजावत्सल सम्राट थे। समुद्रगुप्त और अशोक दोनों को राजगद्दी प्राप्त करने के लिए गृहकलह का सामना करना पड़ा। पर्याप्त समानताएँ होने पर भी दोनों में कुछ असमानताएँ व्याप्त थीं।

प्रारम्भ में साम्राज्यवादी होने के पश्चात् कलिंग युद्ध में हृदय-परिवर्तन की घटना से अशोक ने 'भेरिघोष' के स्थान पर धम्मघोष की नीति अपनाई। किन्तु समुद्रगुप्त साम्राज्यवादी था। उसने निरन्तर सामरिक अभियान करके साम्राज्य-विस्तार किया। अशोक का साम्राज्य भारत के बाहर अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान तक विस्तृत था। अशोक का साम्राज्य धर्म, अहिंसा, नैतिकता, शान्ति और मित्रता के पवित्र सिद्धान्तों पर आधारित था। किन्तु समुद्रगुप्त का साम्राज्य सैन्य-शक्ति, विजय और भय के आधार पर आधारित था। अशोक का लक्ष्य धर्म-विजय कर जन-कल्याण करना था। समुद्रगुप्त का उद्देश्य दिग्विजय करके चक्रवर्ती सम्राट् बनना था। उसकी नीति साम्राज्यवाद पर आधारित थी। अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसने उसके प्रचार और प्रसार में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। समुद्रगुप्त वैष्णव धर्म का अनुयायी था। उसने अपने धर्म-प्रचार हेतु कोई विशेष प्रयत्न नहीं किए। अशोक समुद्रगुप्त की भाँति विद्वान् न था। अशोक और समुद्रगुप्त अपने काल के महान् शासक थे। किन्तु धर्म-विजय और जन-कल्याणकारी कार्यों के क्षेत्र में अशोक समुद्रगुप्त की अपेक्षा अधिक महान् था। अशोक और समुद्रगुप्त

की तुलना करते हुए डा० मजूमदार ने लिखा है—"अशोक शान्ति और अहिंसा का पोषक था। समुद्रगुप्त इसके विपरीत सिद्धान्तों, युद्ध और आक्रमण की नीति का समर्थक था। एक विजय से घृणा करता था, जबकि दूसरा उसके लिए लालायित था।"

समुद्रगुप्त और नेपोलियन महान्—समुद्रगुप्त एक कुशल सेनापति तथा महान् विजेता था। उसकी सामरिक प्रतिभा से प्रभावित होकर डॉ० स्मिथ ने उसे 'भारतीय नेपोलियन' की संज्ञा दी है। डॉ० स्मिथ ने लिखा है—"वह वास्तव में विलक्षण प्रतिभा का व्यक्ति था और वह भारतीय नेपोलियन कहलाने का अधिकारी है।" दोनों महान् विजेता थे। समुद्रगुप्त और नेपोलियन दोनों ही साम्राज्यवादी नीति के पोषक, रणकुशल योद्धा और विशाल साम्राज्य के अधिपति थे।

समुद्रगुप्त की तुलना नेपोलियन महान् से करना उचित प्रतीत नहीं होता। दोनों के काल में इतना अधिक अन्तर है कि उनकी तुलना असंगत प्रतीत होती है। समुद्रगुप्त राजकुमार था। उसे राज्य उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था। किन्तु साधारण घर में जन्मे नेपोलियन ने अपनी असाधारण योग्यता और सामरिक प्रतिभा के बल पर फ्रांस की राजगद्दी प्राप्त की थी। नेपोलियन को अपने विद्यार्थी जीवन और सैन्य जीवन में अभावों का सामना करना पड़ा। अपनी योग्यता के बल पर पहले उसने फ्रांस के राजसिंहासन पर अधिकार किया और तत्पश्चात् वह अपने उत्कर्ष के दिनों में इंग्लैंड को छोड़कर सम्पूर्ण यूरोप का निर्णायक बन गया था। उसकी अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा और विश्व-विजय की अभिलाषा ने ही उसे पतन के गर्त में ढकेला। समुद्रगुप्त ने ऐसी भूल नहीं की। उसने दक्षिण के राज्यों तक अपनी अधीनता स्वीकार करने के उपरान्त छोड़ दिया। नेपोलियन के प्रतिद्वंद्वी राज्य इंग्लैंड, रूस, प्रशा और आस्ट्रिया जैसे शक्तिशाली देश थे, किन्तु समुद्रगुप्त के प्रतिद्वंद्वी इतने बलिष्ठ नहीं थे। नेपोलियन ने विजित देशों को अपने साम्राज्य में मिलाकर उनसे जहाँ प्रतिद्वंद्विता मोल ली, वहाँ समुद्रगुप्त ने पराजित राजाओं को अपना करद राजा बनाकर उनकी सहानुभूति अर्जित कर ली। समुद्रगुप्त को जीवन पर्यन्त किसी भी युद्ध में पराजय का सामना नहीं करना पड़ा, जबकि नेपोलियन का अन्त लिपजिग और वाटरलू के युद्धों में पराजित होने पर हुआ। नेपोलियन ने पराजित राष्ट्रों को सदैव आतंकित रखा और उनके साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया। किन्तु समुद्रगुप्त ने पराजित राज्यों के प्रति भी नम्रता की नीति का परिचय दिया। नेपोलियन और समुद्रगुप्त के काल और परिस्थितियों में भारी अन्तर है। समुद्रगुप्त की अपेक्षा नेपोलियन की विजय अधिक रक्तरंजित और दुःसाध्य थी। नेपोलियन का अन्त सेन्ट हेलना के निर्जन द्वीप में कैदी के रूप में हुआ, जबकि समुद्रगुप्त का देहावसान एक सम्राट् के रूप में हुआ था।

अतः समुद्रगुप्त की तुलना नेपोलियन से नहीं की जा सकती। यद्यपि दोनों महान् थे, तथापि दोनों के काल और परिस्थितियों में भारी अन्तर होने के कारण दोनों की तुलना उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। जहाँ तक रणकौशल और विजयों का

प्रश्न है, इस क्षेत्र में नेपोलियन निःसन्देह समुद्रगुप्त से आगे था। चतुरता, विद्वत्ता, दूरदर्शी राजनीतिज्ञता और सफल प्रशासन के क्षेत्र में समुद्रगुप्त नेपोलियन से बहुत आगे था।

अन्त में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि समुद्रगुप्त राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों क्षेत्रों में अपनी महान् उपलब्धियों के कारण विश्व इतिहास में अविस्मरणीय हैं। डॉ० स्मिथ ने उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—"समुद्रगुप्त अद्वितीय व्यक्तिगत गुणों और विभिन्न असाधारण योग्यताओं से परिपूर्ण व्यक्ति था। वह एक वास्तविक व्यक्ति, एक विद्वान्, एक कवि, एक संगीतज्ञ और योद्धा था।"[1] डॉ० मजूमदार ने समुद्रगुप्त की बहुमुखी प्रतिभा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"समुद्रगुप्त की सैनिक विजय तो महान् थी ही, उसकी व्यक्तिगत साधनाएँ भी कम महान् न थीं। उसके राजकवि ने विजित लोगों के प्रति उसकी उदारता, उसकी परिष्कृत प्रतिभा, उसके धर्मशास्त्रों के ज्ञान, उसके काव्य-कौशल और उसकी संगीत की योग्यता की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।" प्रोफेसर राखलदास बनर्जी का कथन है—"समुद्रगुप्त एक महान् शासक था और अपने वंश में सबसे महान् था। उसने एक छोटा-सा राज्य प्राप्त किया था, परन्तु अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक विशाल साम्राज्य छोड़ गया। उसने प्रशासन की कार्य-पद्धति को पुनर्गठित किया। सीथियन शब्दों को त्याग कर उसने कर्मचारी पद्धति में सुधार किया। कर्मचारियों की श्रेणी, अनुक्रम, अधिकार और उपाधियाँ सर्वथा भिन्न हो गयीं। इस प्रकार मौर्य-व्यवस्था से भी भिन्नता आ गई थी। बाद में मुसलमानों के काल में थोड़े-बहुत परिवर्तन के बाद यही व्यवस्था चलती रही।"

अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि समुद्रगुप्त भारत के महत्तम सम्राटों में से एक है। एरण-अभिलेख में उसे पृथु और रघु के तुल्य बताया गया है। उसके व्यक्तित्त्व में उदयन की कला-प्रियता, चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रवीरता और साहसिकता, अशोक की कोमलता एवं दयालुता तथा हर्षवर्धन की दानशीलता और विद्याप्रेम के अनेक गुणों का समावेश था। प्रयाग-प्रशस्ति में उसके इन गुणों पर प्रकाश डाला गया है। चालीस वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरान्त 375 ई० में समुद्रगुप्त का देहावसान हो गया।

---

1. "Samudra Gupta was a man of exceptional personal capacity and unusually varied gifts. He stands forth as a real man, a scholar, a poet, musician and a warrior." —*Dr. V. A. Smith*
2. "Great as were the military laurels won by Samundra Gupta his personal accomplishments were no less remarkable. His court poet extolls his magnanimity towards the fallen, his polished intellect, his knowledge of scriptures, his poetic spill and proficiency in music." —*Dr. R.C. Majumdar*

रामगुप्त (सन् 375-380 ई०)

प्रारम्भ में विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया था कि समुद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्तवंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ। किन्तु अब यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। ऐरण-अभिलेख से विदित होता है कि समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र थे। गुप्त अभिलेखों में चन्द्रगुप्त द्वितीय को समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी बताया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने स्वयं को समुद्रगुप्त द्वारा मनोनीत बताया है।

विशाखदत्त कृत नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के उद्धरणों से विदित होता है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र रामगुप्त राजगद्दी पर बैठा। डॉ० जायसवाल, स्टेनकोनो आदि विद्वानों का मत है कि विशाख दत्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था।

'देवीचन्द्रगुप्तम्' से ज्ञात होता है कि रामगुप्त एक दुर्बल राजा था। एक युद्ध में शक नरेश द्वारा घिर जाने पर उसने उसे अपनी पत्नी ध्रुव देवी देने का वचन देकर मुक्ति प्राप्त की। उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त को यह घटना अपमान-जनक लगी। उसने ध्रुव देवी के वेश में शक-नरेश के खेमे में जाकर उसे मार डाला। कालान्तर में उसने अपने भाई को भी मार डाला तथा ध्रुव देवी से विवाह कर लिया। उसने पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। प्रजा ने उसके इस कार्य पर प्रसन्नता व्यक्त की। बाणभट्टकृत 'हर्षचरित' से ज्ञात होता है कि दूसरे की स्त्री के प्रति कामुक शक नरेश स्त्री के वेश में चन्द्रगुप्त द्वारा मारा गया। कन्नौज नरेश यशोवर्मा के राजकवि राजशेखर ने अपनी रचना 'काव्य-मीमांसा' में लिखा है कि हिमालय पर्वतमालाओं में शर्मगुप्त (रामगुप्त) तथा खसाधिपति के मध्य युद्ध हुआ। युद्ध के परिणामस्वरूप गुप्त नरेश ने अपनी पत्नी ध्रुव देवी उस राजा को दे दी। वहाँ एक राजा के यश का गान कार्तिकेय नगर में स्त्रियां गीतों द्वारा करती हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के विद्वान् धारा नरेश भोज परमार ने अपने ग्रन्थ श्रृंगार-प्रकाश में लिखा है कि स्त्री का वेश धारण कर चन्द्रगुप्त ने राजा को मार डाला। राष्ट्रकूट नरेश अमोघ वर्ष प्रथम के संजन पत्रों से विदित होता है कि 'कलियुग में एक गुप्त वंशज ने अपने भाई की हत्या कर उसके राज्य तथा रानी पर अधिकार कर लिया।' अब्दुल हसन अली के ग्रन्थ 'मुजमलुत् तवारीख' में यह उल्लेख मिलता है—"रव्वाल नामक एक राजा था। उसके छोटे भाई बर्क-मारीस ने स्वयंवर में एक राजकन्या के साथ विवाह किया। परन्तु राजकन्या के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर रव्वाल ने उसे छीन लिया। कुछ समय बाद रव्वाल पर किसी शत्रु ने आक्रमण किया। रव्वाल युद्ध में पराजित हुआ और वह अपनी पत्नी को शत्रु को देने को सहमत हो गया। बर्कमारीस को यह बात अच्छी न लगी। वह स्वयं राजकन्या के वेश में शत्रु के पास गया और उसे मार डाला। बाद में उसने राजकन्या के साथ फिर विवाह कर लिया।" यह विवरण 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के विवरण से मिलता है। विद्वानों ने रव्वाल का समीकरण रामगुप्त से और बर्कमारीस का समीकरण चन्द्रगुप्त द्वितीय से किया है।

रामगुप्त की ऐतिहासिकता—डॉ० राखलदास बनर्जी, डा० अल्तेकर, डा० मिराशी, प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी आदि विद्वान् रामगुप्त को ऐतिहासिक सम्राट् मानते हैं। रामगुप्त की अनेक ताम्र मुद्राएँ मिली हैं, जिन पर 'रामगुप्त' अथवा 'मगुप्त' लिखा हुआ है। रामगुप्त की सिंह और गरुड़ध्वज शैली पर आधारित मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इन मुद्राओं पर गुप्तकालीन लिपि अंकित है।

किन्तु डा० स्मिथ, डा० रायचौधरी,डा० बसाक, डा० ए० के० नारायण आदि विद्वान् रामगुप्त की ऐतिहासिकता को प्रमाणिक नहीं मानते। विद्वानों का कथन है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का इतिहास लिखने के लिए 'देवीचन्द्रगुप्तम्' उतना ही अनुपयुक्त है, जितना मौर्यों का इतिहास जानने के लिए मुद्राराक्षस और अशोकावदान। गुप्त अभिलेखों में भी रामगुप्त का वर्णन नहीं मिलता है। कुछ विद्वानों ने रामगुप्त का समीकरण काच से स्थापित करने की कोशिश की है।

सम्पूर्ण अध्ययन के पश्चात् यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि रामगुप्त गुप्त-वंश का सम्राट था। अनेक साहित्यिक साक्ष्य तथा विभिन्न स्थानों से प्राप्त उसके सिक्के उसे ऐतिहासिक सम्राट् सिद्ध करते हैं। वह समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् 375 ई० में राजगद्दी पर बैठा और उसने केवल पाँच वर्ष तक शासन किया। 380 ई० में वह अपने महत्त्वाकांक्षी भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा मार डाला गया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य)
(सन् 380-413 ई०)

समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् रामगुप्त राजगद्दी पर बैठा। उसका शासन काल (सन् 375-380 ई०) अत्यल्प सिद्ध हुआ। वह दुर्बल और कायर शासक था। 380 ई० में उसका वध कर उसका छोटा भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्तवंश की राज-गद्दी पर आसींन हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्त और दत्तदेवी का पुत्र था। उसमें अपने पिता की भाँति सामरिक प्रतिभा थी। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त पैतृक साम्राज्य का न केवल विस्तार किया, अपितु उसे सुदृढ़ता भी प्रदान की। अभिलेखों से विदित होता है कि वह समुद्रगुप्त के पुत्रों में सर्वाधिक योग्य था। उसके पिता ने चन्द्रगुप्त द्वितीय को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। इस विवरण को प्रामाणिक माना जा सकता है, क्योंकि समुद्रगुप्त को भी उसके पिता चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने जीवन काल में ही गुप्त राज्य का उत्तराधिकारी चुन लिया था। सम्भव है कि समुद्रगुप्त ने अपने पिता द्वारा जारी उत्तराधिकारी चुनने की परम्परा को अपनाया। गुप्त तथा वाकाटक अभिलेखों में चन्द्रगुप्त को 'देवगुप्त' और 'देवराज' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि उसका दूसरा नाम देवराज था। अपने बड़े भाई रामगुप्त की हत्या कर उसकी पत्नी ध्रुवदेवी के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विवाह किया। उसकी कुबेरनागा नामक स्त्री का भी उल्लेख मिलता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—राजगद्दी पर बैठते ही चन्द्रगुप्त द्वितीय को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। रामगुप्त अयोग्य और कायर

सम्राट् था। अतः साम्राज्य में शिथिलता उत्पन्न हो गई। समुद्रगुप्त द्वारा विजित सीमावर्ती और दूरस्थ प्रदेशों के राजाओं में स्वतन्त्रता की भावना बलवती हो गई। समुद्रगुप्त द्वारा पराजित राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए चुनौतियाँ उत्पन्न करने लगे। रामगुप्त की दुर्बलता का लाभ उठाकर शक और कुषाण नरेश गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए तैयार बैठे थे। रामगुप्त को शकाधिपति ने पराजित कर डाला था। इन सभी समस्याओं का चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दृढ़तापूर्वक सामना किया और सफलता अर्जित की।

चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने पिता समुद्रगुप्त की भाँति महत्त्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी था। वह शकों, कुषाणों, गणराज्यों तथा अन्य राज्यों का विनाश कर अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। अपने साम्राज्य-विस्तार तथा शासन के सफल संचालन के लिए उसने तत्कालीन प्रमुख राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये।

राजनीति से प्रेरित वैवाहिक संबंध—अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से चन्द्रगुप्त द्वितीय ने यह आवश्यक समझा कि तत्कालीन प्रमुख राजवंशों नाग, वाकाटक तथा कदंब वंश के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किए जाएं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय नाग वंश एक शक्तिशाली राजवंश था, उसके साथ गुप्तवंश का बहुत पहले से वैमस्य चला आ रहा था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने नागवंश की राजकुमारी कुबेरनागा के साथ विवाह संपन्न कर इस वंशानुगत शत्रुता को मित्रता में बदल दिया। पूना ताम्रपत्र चन्द्रगुप्त और कुबेरनागा के विवाह संबंध का उल्लेख करता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय शकों को पराजित करना चाहता था। वाकाटक राज्य की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की थी कि बिना उसके राजा के सहयोग के शकों को पराजित करना कठिन था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुबेरनागा से उत्पन्न कन्या प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ संपन्न करवाया। पूना ताम्रपत्र में प्रभावती गुप्त और रुद्रसेन द्वितीय के विवाह का वर्णन मिलता है। डॉ० स्मिथ का मत है—"वाकाटक नरेश की भौगोलिक स्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि वह उत्तरी आक्रमणकारी को, जो कि शक-क्षत्रपों से युद्ध करने का बीड़ा उठाता है, लाभ अथवा हानि पहुँचा सकता था।" उनका कथन है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा वाकाटक नरेश के साथ अपनी पुत्री का विवाह संपन्न करना उसकी बुद्धिमत्ता का प्रतीक है। इस वैवाहिक संबन्ध के फलस्वरूप शक-विजय में चन्द्रगुप्त द्वितीय को वाकाटक राज्य की ओर से पर्याप्त सहायता मिली। रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु के बाद वाकाटक राज्य पर चन्द्रगुप्त द्वितीय का परोक्ष प्रभाव स्थापित हो गया। प्रभावती गुप्त ने अपने अभिलेखों में वाकाटक वंशावली के स्थान पर गुप्त वंशावली का उल्लेख किया है।

महाराष्ट्र में स्थित कुंतल राज्य में शक्तिशाली कदम्ब वंश का राज्य था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में कदम्ब वंश के साथ गुप्तवंश का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित

हुआ। किन्तु यह स्पष्ट रूप से विदित नहीं है कि कदम्ब वंश की राजकुमारी के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय ने स्वयं विवाह किया अथवा उसके पुत्र का विवाह हुआ। यह राजकुमारी कदम्ब वंश के राजा काकुस्थवर्मन की कन्या थी। तालगुण्ड अभिलेख इस विवाह सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है। धारा नरेश भोज परमार कृत श्रृंगार प्रकाश से ज्ञात होता है कि कुतल नरेश अपने राज्य का भार चन्द्रगुप्त द्वितीय पर डालकर स्वयं भोग-विलास में लिप्त हो गया था।

स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने तत्कालीन राजवंशों के साथ जो वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे, वे मूलतः राजनीति से प्रेरित थे। राजनीति के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए उस काल में शक्तिशाली राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध नितांत आवश्यक थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की दिग्विजय

चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्तवंश का प्रतापी सम्राट् था। चन्द्रगुप्त प्रथम ने जिस गुप्त साम्राज्य की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की, समुद्रगुप्त ने उसका विस्तार किया और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसे सुदृढ़ स्थिति प्रदान की। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अनेक राज्यों को पराजित कर निरन्तर गुप्त साम्राज्य का विस्तार किया। उसकी विजय श्रृंखला का विवरण इस प्रकार है—

1. **गणराज्यों का गुप्त-साम्राज्य में विलय**—गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमोत्तर भाग में अनेक गणराज्य विद्यमान थे। समुद्रगुप्त ने उन पर अपना प्रभाव स्थापित किया, परन्तु उन्हें अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया। ये गणराज्य स्वतन्त्रता प्रिय थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने साम्राज्यवादी नीति का परिचय देते हुए इन गणराज्यों का उन्मूलन कर उन्हें अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया। गणराज्यों पर विजय के उपलक्ष्य में उसे 'गणारि' कहा गया है।

2. **शक-विजय**—चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों के ऊपर विजय प्राप्त की। ये शक कौन थे, इस संदर्भ में विद्वानों में मतभेद है। उस समय गुजरात, काठियावाड़ एवं पश्चिमी मालवा में शकों का राज्य था। एक शक्तिशाली सेना को संगठित करके चन्द्रगुप्त ने पश्चिमी भारत के शक्तिशाली शकों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय के युद्ध तथा शान्ति-मन्त्री वीरसेन के उदयगिरि गुहालेख से विदित होता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त सम्पूर्ण पृथ्वी को विजित करने की आकांक्षा से वहाँ गया था। स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त ने मालवा को आधार बनाकर शकों पर विनाशकारी हमले किये। युद्ध में क्षत्रप रुद्रसिंह तृतीय पराजित होकर मारा गया। रुद्रसिंह तृतीय को पराजित करने के उपरान्त चन्द्रगुप्त ने उसके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। बाणभट्टकृत 'हर्षचरित' में भी चन्द्रगुप्त द्वारा शकाधिपति के वध का उल्लेख मिलता है।

शकाधिपति रुद्रसिंह तृतीय के ऊपर चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजय उसकी एक महान् उपलब्धि थी। इस विजय के फलस्वरूप मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र

(काठियावाड़) के उर्वर और समृद्ध प्रदेश चन्द्रगुप्त को मिल गये तथा पश्चिम के समुद्रतट तक गुप्त साम्राज्य का विस्तार हो गया। पश्चिमी समुद्र तट पर अधिकार हो जाने के कारण विदेशों के साथ उसके व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। शकों के ऊपर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'शकारि' का विरुद धारण किया।

3. **पूर्वी प्रदेशों पर विजय**—गुप्त साम्राज्य के पूर्वी सीमा पर अनेक राज्य थे जो संगठित होकर चन्द्रगुप्त द्वितीय के विरुद्ध आक्रमण करने की योजना बना रहे थे। इन राज्यों में समतट, दवाक और कामरूप महत्त्वपूर्ण राज्य थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इन राजाओं के संघ को पराजित कर उनके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

4. **पश्चिमोत्तर प्रदेश और वाह्लीक राज्य पर विजय**—भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में कुषाण राज्य विद्यमान था। कुषाण नरेश ने समुद्रगुप्त के प्रभुत्व को तो स्वीकार कर लिया, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। कुषाणों का दमन करने के लिए चन्द्रगुप्त ने पश्चिमोत्तर प्रदेश पर सैनिक अभियान किया। सिन्धु नदी की सहायक नदियों को पारकर उसने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में शासन कर रहे कुषाणों के वंशजों को पराजित किया। महरौली के लौह स्तम्भ पर 'चन्द्र' नामक किसी राजा की प्रशस्ति अंकित है। अधिकांश इतिहासकार इस 'चन्द्र' का समीकरण चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ स्थापित करते हैं। महरौली लौह स्तम्भ से विदित होता है कि चन्द्र ने अपने शत्रु के संघ को वंग (बंगाल) में पराजित किया, दक्षिणी जलनिधि को अपनी वीर्यानिल द्वारा सुवासित किया तथा सिन्धु के सातों मुखों (पंजाब की सिन्धु की सहायक नदियां) को पार कर वाह्लीकों को पराजित किया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुषाण तथा वाह्लीकों (बैक्ट्रिया) राज्यों को विजित किया। उसने पंजाब और सीमांत क्षेत्र को अधिकृत कर भारतीय सम्राटों की परम्परा के अनुरूप हिन्दुकुश के समीप तक दिग्विजय की। समुद्रगुप्त के काल में पंजाब के जो गणराज्य उसके मित्र थे, चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उनका उन्मूलन कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया।

शक और कुषाणों का, जो दीर्घकाल से भारत भूमि की रक्षा के लिए निरन्तर संकट उत्पन्न कर रहे थे, उन्मूलन कर चन्द्रगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की। विक्रमादित्य का तात्पर्य है सूर्य के समान प्रतापी और प्रकाशवान तथा जिसका यश, पराक्रम और ऐश्वर्य सूर्य के प्रकाश के समान विश्व में फैलता हो।

5. **दक्षिणापथ की विजय**—समुद्रगुप्त ने दक्षिण के राजाओं को नतमस्तक करके उन्हें कर देने को बाध्य किया था। उसने दक्षिण के राज्यों को अपने साम्राज्य में न मिलाकर उनके राजाओं को मात्र करद राजा बना डाला था। समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र रामगुप्त (375-380 ई०) गुप्त सम्राट बना, जो कायर और दुर्बल नरेश सिद्ध हुआ। फलतः दक्षिण के राजाओं ने गुप्तवंश की अधीनता अस्वी-

कार करते हुए कर और उपहारादि देना बंद कर दिया। दक्षिणापथ के राजाओं को अधीन बनाने के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय को सामरिक अभियान करना पड़ा। उसने अपने शौर्य और बाहुबल का परिचय देते हुए दक्षिणापथ के राजाओं पर तीव्र आक्रमण कर दिया और उन्हें अपनी प्रभुता अंगीकार करने को बाध्य किया, महरौली लौह स्तम्भ पर लिखा गया है कि 'उसके शक्ति के समीर से दक्षिण के समुद्र भी महक रहे थे।'

चन्द्रगुप्त द्वितीय के विरुद—चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी वीरता, साहस और दिग्विजय का परिचय देते हुए अनेक सम्मानपूर्ण विरुद धारण किये। अभिलेखों में उसके लिए 'परम भागवत', 'महाराजधिराज,' 'श्रीभट्टारक' का प्रयोग मिलता है। उसके सिक्कों में विक्रमादित्य, विक्रमांक, नरेन्द्रचन्द्र, सिंहविक्रम, सिंहचन्द्र, देवराज, देवगुप्त, देवश्री, गणारि, शकारि आदि विरुदों का उल्लेख मिलता है।

अश्वमेध—कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ का संपादन किया। काशी से एक पाषाण का अश्व प्राप्त हुआ है जिस पर 'चन्द्रगु' लिखा हुआ पढ़ा गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह पाठ इतना अस्पष्ट है कि उसके आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना असंगत है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चक्रवर्तिन के रूप में अपनी सफलता को उद्घोषित किया। उसके 'चक्रविक्रम' प्रकार के सिक्कों में इसका उल्लेख मिलता है।

साम्राज्य-विस्तार—चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' एक महान् योद्धा था। उसने अपनी सामरिक दक्षता का परिचय देते हुए अनेक राज्यों को नतमस्तक किया। इन राज्यों में से कुछ को उसने अपने साम्राज्य में मिला लिया और कुछ राजाओं को पराजित कर उन्हें अपना प्रभुत्व अंगीकार करने को विवश किया। उसके समय गुप्त-साम्राज्य चरमोत्कर्ष पर था। उसका साम्राज्य पश्चिम में अरब सागर तट और सौराष्ट्र तक तथा पूर्व में बंगाल व असम तक, उत्तर में हिमालय की तलहटी से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक विस्तृत था। उत्तर-पश्चिम में उसने हिन्दकुश पर्वत तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया।

शासन-प्रबन्ध—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल में प्रसिद्ध चीनी यात्रा फाह्यान बौद्ध धर्म ग्रंथों के अध्ययन हेतु भारत भ्रमण पर आया था। उसने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की दशा और प्रशासन का अपने यात्रावृत्तांत में वर्णन किया है। वह लिखता है कि प्रजा समृद्ध थी और जनसंख्या कर तथा अतिशासन के प्रतिबन्धों से मुक्त थी। प्रजा के आवागमन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। दंड-विधान चीन से विनम्र था, अपराधियों को अपराध के अनुसार आर्थिक दंड दिया जाता था। अभियुक्तों को शारीरिक यातनाएँ नहीं दी जाती थीं और मृत्यु दंड की प्रथा नहीं थी।

भूमि कर उपज के रूप में लिया जाता था। राजकर्मचारियों को वेतन दिया जाता था। अभिलेखों में 'सुवर्ण' तथा 'दीनार' नामक सोने के सिक्कों का उल्लेख मिलता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय शासन सुव्यवस्थित, शांतिपूर्ण और संगठित था। प्रजा सुखी और सम्पन्न थी। फाह्यान ने स्वच्छन्दतापूर्वक उत्तरी भारत का भ्रमण किया था। राजा अपने मन्त्रियों की सलाह से शासन संचालित करता था। अभिलेखों से चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामन्तों का ज्ञान होता है। गया में बुद्ध प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि महाराज थिकल चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामन्त था। मध्य प्रदेश के एक भूमि दान-पत्र से विदित होता है कि यल्लभी प्रदेश का शासक स्वामीदार चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामन्त था। वेसनगर मुहर से ज्ञात होता है कि महाराज श्री विश्वामित्र स्वामी चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामन्त था।

शासन की सुविधा के लिए साम्राज्य 'भुक्तियों' में विभक्त था। राजकुल से सम्बन्धित व्यक्ति को प्रान्त का प्रशासक नियुक्त किया जाता था जो 'उपरिक महाराज' अथवा गोप्ता कहलाता था। प्रान्त जिलों (विषय) में विभक्त थे। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। अभिलेखों में तत्कालीन अनेक राजकर्मचारियों का उल्लेख मिलता है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एक विजेता ही नहीं, वरन् एक सफल शासक भी था। उसके शासन में सम्पूर्ण शक्ति और अधिकार राजा के हाथों में निहित थे। सम्राट ही राज्य का सेनापति और सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। चन्द्रगुप्त स्वयं वैष्णव धर्म का उपासक होने पर भी धार्मिक सहिष्णु सम्राट था। राजकीय पदों पर सभी धर्मों के योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय का एक मन्त्री बौद्ध और दूसरा मन्त्री वैष्णव मतावलम्बी था। जनसाधारण को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वह उदार और दानी सम्राट था। वह दीनों, अनाथों, पीड़ितों को दान वितरित करता था। गुजरात, सौराष्ट्र और पश्चिमी तट पर अधिकार हो जाने के कारण विदेशों के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का व्यक्तित्व

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एक वीर योद्धा, रणकुशल सेनानायक और महान् विजेता था। डॉ० स्मिथ का कथन है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय एक सशक्त और प्रचण्ड शासक था। वह विशाल साम्राज्य की वृद्धि और उसके प्रशासन के लिए सुयोग्य था। उसके व्यक्तित्व में प्रमुखतया निम्नलिखित गुणों का समावेश था—

1. महान् योद्धा और विजेता—चन्द्रगुप्त दुर्धर्ष योद्धा और रणकुशल सेनानायक था। उसने चतुर्दिक विजयें प्राप्त कर निरन्तर गुप्त-साम्राज्य का विस्तार किया। उत्तराधिकार में प्राप्त विशाल साम्राज्य को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने और अधिक विस्तृत तथा सुदृढ़ बनाया। कुषाण, शक, सीमावर्ती राज्यों और गणराज्यों को पराजित करके उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया। उसने दक्षिणी भारत के राजाओं को नतमस्तक किया। पुराणों से विदित होता है कि देवरक्षित

(चंद्रगुप्त) ने कौशल, पुड्र ताम्रलिप्ति और पुरी तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। शकों को पराजित कर मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र को गुप्त साम्राज्य में मिला लिया। उसने अपने विरुद्ध वंग में निर्मित शत्रु के संघ को पराजित किया। दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त करके उन्हें पुनः कर देने को बाध्य किया।

2. कुशल प्रशासक—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य में कुशल प्रशासक के गुण विद्यमान थे। उसका प्रशासन सुव्यवस्थित और सुसंगठित था। उसने शासन को सुदृढ़ बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया। उसके समय में प्रजा सम्पन्न और सुखी थी। वह प्रजा वत्सल, न्यायप्रिय और धार्मिक सहिष्णु सम्राट था।

3. दूरदर्शी राजनीतिज्ञ—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। उसने ध्रुव स्वामिनी के वेश में शक राजा का वध कर डाला। राजनीति में सफलता प्राप्त करने तथा अपने साम्राज्य का विस्तार करने के उद्देश्य से उसने तत्कालीन प्रमुख राजवंशों के साथ मित्रता गाँठ ली। उसने नाग राजकुमारी से स्वयं विवाह किया, अपनी पुत्री का विवाह वाकाटक नरेश से किया तथा कुंतल के कदंब वंश की राजकुमारी के साथ सम्भवतः अपने पुत्र का विवाह सम्पन्न किया। इन वैवाहिक सम्बन्धों के फलस्वरूप तत्कालीन शक्तिशाली राजवंश उसके मित्र हो गये। इनकी मदद से वह विदेशी शासकों और अन्य राज्यों का उन्मूलन कर अपने साम्राज्य विस्तार में सफल रहा। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने महान् पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त साम्राज्य को न केवल अक्षुण्ण रखा, बल्कि उसका विस्तार भी किया।

4. धार्मिक सहिष्णु सम्राट—गुप्त सम्राट वैष्णव मतावलम्वी थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय वैष्णव भक्त होने पर भी धार्मिक सहिष्णु था। वह सभी धर्मों के प्रति आदरभाव रखता था। जनसाधारण को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। राजकीय पदों पर बिना किसी भेदभाव के सभी धर्मों के अनुयाइयों को प्रतिष्ठित किया जाता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेनापति आम्रकार्दव बौद्ध अनुयाई था। उसका युद्ध और शान्ति मन्त्री वीरसेन शाव और अन्य मन्त्री शिखरस्वामी शैव अनुयाई थे।

5. कला और साहित्य प्रेमी—वीर योद्धा और प्रशासकीय गुणों के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य कला और साहित्य का उदार संरक्षक भी था। उसके दरबार में कलाकारों और विद्वानों का जमघट लगा रहता था। उसके दरबार के नवरत्न विख्यात थे जिनमें धनवन्तरि, भवभूति और कालिदास प्रमुख थे। चन्द्रगुप्त ने अपने दरबार में संस्कृत भाषा को विशेष प्रोत्साहन दिया। उसके काल में अनेक उच्चकोटि के संस्कृत ग्रन्थों की रचना हुई। उसका काल साँस्कृतिक् उपलब्धियों के लिए प्रसिद्ध है।

मूल्यांकन—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य महान् योद्धा, रणकुशल सेनापति, कुशल प्रशासक, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, कला और साहित्यप्रेमी सम्राट था। उसका काल राजनीतिक स्थिरता और सांस्कृतिक उपलब्धियों से परिपूर्ण था। सभी दृष्टियों से उसका युग श्रेष्ठ था। डॉ० स्मिथ में उसे एक सशक्त और प्रचण्ड शासक कहा है।

डॉ० रायचौधरी ने उसे श्रेष्ठ शासक की संज्ञा दी है । चन्द्रगुप्त द्वितीय के व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए डॉ० रमेश चन्द्र मजूमदार ने लिखा है—"उसने समुद्रगुप्त द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यों को पूर्ण किया, उसने अनेक विजयें प्राप्त कर सीमावर्त्ती जातीय राज्यों, शकों और कुषाणों को परास्त करके उनके राज्यों को गुप्त साम्राज्य में मिला दिया । शान्तिमय और सुगठित विशाल साम्राज्य, जो उसने अपने उत्तराधिकारी को सौंपा, एक महान् सेनानी और सुयोग्य राजनीतिज्ञ के ही नहीं अपितु एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के प्रयत्नों का ही परिणाम था । यदि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को भविष्य की पीढ़ियों ने स्मरण रखा और उसके अधिक प्रतिभाशाली पिता को विस्मृत कर दिया तो इसका कारण ढूँढना कठिन नहीं है । सम्पूर्ण किये गये स्मारक का लोगों पर अधिक प्रभाव पड़ता है और योजना बनाने वाले तथा सतत परिश्रम से नींव रखने वाले मुख्य निर्माता को भूलकर उसे पूर्ण करने वाले को अधिक श्रेय प्रदान करते हैं । सौ युद्धों का विजेता समुद्रगुप्त इतिहास का एक चरित्र-नायक है । चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राजनीतिक महत्ता और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के नवीन युग को पूर्ण कर जनसाधारण के हृदय में अपना स्थान बना लिया ।"[1] प्रोफेसर आर० डी० बनर्जी का मत है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता से प्राप्त राज्य को एक साम्राज्य का रूप दे दिया । पंजाब और पश्चिमी भारत के सीथियनों को परास्त कर वह उत्तरी भारत का वास्तविक स्वामी बन गया । अपनी मृत्यु के समय वह निःसन्देह भारत का सर्वोच्च शासक था । वाकाटकों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके उसने भारत की एकमात्र प्रतिद्वंद्वी शक्ति को तटस्थ कर दिया । विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कारण ही गुप्तकाल स्वर्ण युग कहलाया । गुप्त-काल की चहुंमुखी प्रगति का श्रेय चन्द्रगुप्त द्वितीय को दिया जाता है ।

फाह्यान का भारत-वर्णन

प्राचीन काल में भारत विश्व में अपनी सांस्कृतिक महत्ता सिद्ध कर चुका था । गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित सरल और व्यावहारिक धर्म (बौद्ध धर्म) विश्व के अनेक देशों के लिए अनुकरणीय बन गया । चीन से बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अध्ययन तथा संग्रह एवं बौद्ध तीर्थ स्थलों की धार्मिक यात्रा के लिए राह में अनेक मुसीबतों को झेलते हुए भारत में आने लगे । 405 ई० में प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अध्ययन तथा बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्रा हेतु भारत में प्रविष्ट हुआ । उस समय यहाँ शक्तिशाली गुप्त वंशी राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य शासन कर रहा था । फाह्यान सन् 405 से 411 ई० तक भारत में रहा । इस अवधि में उसने बौद्ध

---

1. "Samudra Gupta, the Victor of hundrad fights is a hero of history. Chandra Gupta II, who brought a maturity to the new era of political greatness and cultural regeneration, won a place in the hearts of the people."

—Dr. R. C. Mazumdar

धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा बौद्ध तीर्थ स्थलों की धार्मिक यात्राएँ कीं । यहाँ से अर्जित ज्ञान और अनुभवों को उसने लिपिबद्ध किया जिससे तत्कालीन भारत की स्थिति पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है ।

फाह्यान के बचपन का नाम कुङ था । प्रव्रज्या ग्रहण करने के समय से वह फाह्यान कहलाया । चीनी भाषा में 'फा' का अर्थ होता है धर्म और हियान का अर्थ होता है आचार्य । अतः फाह्यान का तात्पर्य हुआ 'धर्माचार्य' । बाल्यकाल में ही फाह्यान के माता-पिता का देहावसान हो गया । वह बाल्यकाल से ही भिक्षुक बनना चाहता था । जब उसने स्वदेश चीन में धार्मिक शिक्षा अर्जित करनी प्रारम्भ की तो उसे ज्ञात हुआ कि चीन में प्राप्त विनय-पिटक अपूर्ण और क्रम भ्रष्ट है । अतः उसने निश्चय किया कि विनय-पिटक की सम्पूर्ण प्रति को प्राप्त करने के लिए वह भारत की जोखिम भरी यात्रा करेगा । 399 ई० में उसने अपने अन्य चार बौद्ध भिक्षुओं के साथ स्वदेश से भारत की यात्रा प्रारम्भ कर दी ।

बौद्ध धर्म से प्रेरित होकर फाह्यान स्वदेश से भारत की ओर चल पड़ा । मार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए वह गोबी के मरुस्थल को पार कर शान-शान पहुँचा । उसके यात्रा-वृत्तांत से विदित होता है कि वहाँ का राजा बौद्ध धर्म का अनुयायी था और वहाँ के लोग हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। शान-शान से तातार प्रदेश होते हुए वह खोतान पहुँचा । खोतान में उसने अनेक बौद्ध भिक्षुओं और मठों के दर्शन किए । यहाँ वह लगभग तीस माह तक रहा । उसके यात्रा-वृत्तांत से विदित होता है—"खोतान जनपद सुखप्रद और सम्पन्न है । अधिवासी धार्मिक हैं ।" खोतान से काशगर, कुफेन (काबुल), गांधार, तक्षशिला होता हुआ पुष्पपुर पहुँचा । काशगर में उसने अनेक बौद्ध भिक्षु देखे । वहाँ के राजा को वह हीनयान सम्प्रदाय का अनुयायी बताता है और कुफेन (काबुल) में महायान सम्प्रदाय के अनुयायी अनेक भिक्षुओं का उल्लेख करता है । गांधार प्रदेश के लोगों को वह हीनयान मतावलम्बी बताता है । उसने लिखा है कि तक्षशिला में राजा, मन्त्री और जनसाधारण सभी स्तूपों की पूजा करते थे । पुष्पपुर (पेशावर) में वह सात सौ से अधिक श्रमणों का उल्लेख करता है । पुष्पपुर से फाह्यान पंजाब, मथुरा, मध्य प्रदेश, कन्नौज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली, काशी, सारनाथ, बोधगया, नालन्दा, पाटलिपुत्र होता हुआ ताम्रलिप्ति बन्दरगाह पहुँचा । ताम्रलिप्ति से सिंहलद्वीप (लंका), जावा होता हुआ वह स्वदेश पहुँचा ।

भारत के अनेक बौद्ध स्थलों की यात्रा करते हुए उसने अनेक बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा उनकी नकल तैयार की । यहाँ धार्मिक स्थलों की यात्राओं और धर्म ग्रन्थों के अध्ययन में वह इतना अधिक व्यस्त रहा कि उसने अपने यात्रा-काल के भारतीय नरेश का नामोल्लेख तक नहीं किया है ।

फाह्यान सन् 405 ई० से 411 तक भारत में रहा । उस समय मगध की राजगद्दी पर गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय आसीन था । यद्यपि बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन में तल्लीन रहने तथा बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्रा में व्यस्त रहने के कारण

उसने तत्कालीन भारतीय नरेश का नामोल्लेख तक नहीं किया है, तथापि उसके यात्रा-वृत्तांत से तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। उसका यात्रा-वृतांत प्राचीन भारतीय इतिहास जानने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। फाह्यान के यात्रा-वृत्तांत से तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उसका संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है :—

राजनीतिक दशा—भारत में फाह्यान का अधिकांश समय बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन तथा बौद्ध तीर्थ स्थलों की यात्रा में व्यतीत हुआ। उसका भारत भ्रमण का उद्देश्य भी धर्म से प्रेरित था। अतः राजनीतिक क्षेत्र की ओर उसका ध्यान अधिक नहीं गया। उसके यात्रा-वृत्तांत से तत्कालीन भारत की सामाजिक तथा धार्मिक दशा पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है, किन्तु राजनीतिक दशा पर संक्षिप्त प्रकाश ही पड़ता है।

फाह्यान के विवरण से ज्ञात होता है कि गुप्त शासकों का शासनकाल उदार था। उसने मगध के शासन-प्रबन्ध को श्रेष्ठ और कुशल कहा है। प्रशासन में उदारता अधिक और कठोरता कम थी। जनसाधारण सुखी और सम्पन्न था तथा उस पर करों का भार अधिक नहीं था। भूमि-कर राज्य की आय का प्रमुख साधन था। भूमि-कर उपज तथा मुद्रा दोनों में दिया जा सकता था। लोग स्वतन्त्रतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा कर सकते थे। दण्ड विधान उदार था। अपराधी को उसके अपराध के अनसार आर्थिक दण्ड दिया जाता था। राजद्रोहियों और अनेक बार अपराध करने पर अभियुक्त का दाहिना हाथ काट लिया जाता था। प्राण दण्ड का विधान नहीं था। राज्य में सर्वत्र शांति और सुव्यवस्था विद्यमान थी। लोगों को चोरी का भय नहीं था। फाह्यान महीनों अकेले एकांत और निर्जन स्थानों का भ्रमण करता रहा, किन्तु उसके साथ कभी भी चोरी की घटना नहीं घटी। राजा और प्रजा के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। कर्मचारी ईमानदार और कर्त्तव्यपरायण थे। उन्हें वेतन दिया जाता था। राजकीय कर्मचारियों की नियुक्ति स्वयं राजा करता था। लोग सरल प्रकृति के थे और उन्हें न्यायालयों की शरण नहीं लेनी पड़ती थी। यात्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था उन्हें राज्य की ओर से विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। बड़े-बड़े नगरों में राज्य की ओर से औषधालय खोले गये थे। लोगों को मुफ्त में औषधियाँ वितरित की जाती थीं। फाह्यान ने लिखा है—"वैश्य कुलों के कुलपति दान तथा औषधियों के वितरण के निमित्त अनेक सदाव्रत चलाते थे।" फाह्यान ने राजा (चन्द्रगुप्त द्वितीय) की उदारता, न्यायप्रियता तथा सुसंगठित शासन-व्यवस्था की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

फाह्यान गुप्त-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में तीन वर्ष तक संस्कृत भाषा के अध्ययनार्थ रहा। उसने पाटलिपुत्र के दो विशाल एवं सुन्दर बौद्ध विहारों का वर्णन किया है जिनमें से एक हीनयान और दूसरा महायान सम्प्रदाय का था। इन विहारों में लगभग छः-सात सौ विद्वान भिक्षु निवास करते थे। देश के विभिन्न

स्थानों से बहुत बड़ी संख्या में जैन समुदाय ज्ञान अर्जित करने के लिए इन विद्वान भिक्षुओं के पास विहार में आते थे। पाटलिपुत्र में अशोक मौर्य द्वारा निर्मित राजप्रासाद के कला-कौशल को देखकर फाह्यान आश्चर्यचकित रह गया था। उसके अनुसार इसका निर्माण देवलोक के लोगों (देवताओं) ने किया है। उसने पाटलिपुत्र के धनी तथा दानी लोगों का उल्लेख किया है। उसने वहाँ के एक राजकीय औषधालय का भी वर्णन किया है, जहाँ से रोगियों को मुफ्त में औषधियाँ वितरित की जाती थीं।

सामाजिक दशा—फाह्यान के विवरण से भारत की तत्कालीन सामाजिक दशा पर भी प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार लोग सुखी और सम्पन्न थे। लोग अहिंसक प्रकृति के थे। आखेट और पशुवध की प्रथा नहीं थी। जनसाधारण सुरापान और मांस भक्षण नहीं करता था। लोग प्याज तथा लहसुन का प्रयोग भी नहीं करते थे। मांस और मछली का प्रयोग चाण्डाल लोग किया करते थे। वे शहर से बाहर रहते थे। नगर में प्रवेश के समय उन्हें लकड़ी बजाकर अपने आगमन की सूचना देनी पड़ती थी जिससे लोग उनके स्पर्श से बच सकें। निम्न जाति के लोग ही मुर्गियाँ और सूअर पालते थे। फाह्यान ने लिखा है—"इस देश के लोग न सूअर रखते हैं और न मुर्गे पलते हैं तथा न पशुओं का व्यापार ही करते हैं। बाजार में न कसाईखाने थे और न शराब की दुकानें। केवल चाण्डाल शिकार खेलते और मांस बेचते हैं।" क्रय-विक्रय में कौड़ियों का प्रयोग किया जाता था। गांधार, स्वात, पेशावर और तक्षशिला के सन्दर्भ में उसने लिखा है कि इन प्रदेशों में निवास करने वाले लोग बौद्ध मतावलम्बी हैं। मालवा के विषय में उसने लिखा है कि वहाँ की जलवायु सम तथा एकरूप है। वहाँ जनसंख्या की अधिकता है और लोग सुखी हैं। फाह्यान ने कन्नौज, कपिलवस्तु, कुशीनगर और बोधगया की भी यात्रा की। कपिलवस्तु की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उसने लिखा है—"कपिलवस्तु नगर में राजा और प्रजा कोई नहीं है। वह स्थल उजाड़ तथा खण्डहरों से युक्त है। कपिलवस्तु में वहुत कम अधिवासी हैं। मार्ग में सफेद हाथी और सिंह विद्यमान हैं।" कुशीनगर भी उजाड़ हो चुका था। बौद्ध धर्म का केन्द्र बोधगया अब जंगलों से घिर गया था। बौद्ध स्थल वैशाली में फाह्यान ने तीन वर्ष तक बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया। वहाँ निर्मित महायान संघाराम और हीनयान सम्प्रदाय के विहार का उसने उल्लेख किया है। वैशाली के बारे में उसने लिखा है—"मध्यदेश में यह नगर सबसे बड़ा है। वहाँ के निवासी सम्पन्न, समृद्धिशाली और दानी तथा न्याय श्रद्धालु हैं। प्रतिवर्ष दूसरे माह की आठवीं तिथि को मूर्तियों की यात्रा निकलती है।" मगध के निवासी सुखी और समृद्ध थे। धर्म तथा दान के कार्यों में लोगों में होड़ लगी रहती थी। प्रत्येक माह बुद्ध की मूर्तियों के जुलूस निकलते थे और उस अवसर पर खेल-तमाशे, संगीत आदि का आयोजन होता था। धनी लोगों ने नगर में चिकित्सालय बनवा दिये थे जिनमें सभी देशों के दरिद्र लंगड़े तथा बीमार लोग आते थे। उन्हें निःशुल्क सहायता प्रदान की जाती थी।

फाह्यान मगध की सम्पत्ति और समृद्धि एवं लोगों की दानशीलता से अत्यधिक प्रभावित हुआ। ताम्रलिप्ति नगर में उसने 24 संघाराम देखे थे।

धार्मिक दशा—फाह्यान के यात्रा-वृत्तांत से उस काल की धार्मिक दशा पर भी विस्तृत प्रकाश पड़ता है। उसके कथन से विदित होता है कि उस समय बंगाल, पंजाब और मथुरा में बौद्ध धर्म की प्रधानता थी, परन्तु मध्यदेश में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव था। गुप्त सम्राट् (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) स्वयं परम भागवत तथा वैष्णव धर्म का अनुयायी था। जनसाधारण में धार्मिक सहिष्णुता की भावना विद्यमान थी। भारत में फाह्यान ने सैकड़ों बौद्ध विहार देखे। भारत में बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान दोनों मत प्रचलित थे। पेशावर से मथुरा जाते हुए फाह्यान ने अनेक बौद्ध विहारों के दर्शन किये जिनमें लाखों बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। विहारों में रहने वाले भिक्षुओं के लिए निवास और भोजन की व्यवस्था निःशुल्क थी। वे अपना समय दया के कार्यों तथा धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन और मनन में व्यतीत करते थे। गृहस्थ, धनी तथा ब्राह्मण लोग भिक्षुओं को वस्त्र, आवश्यक वस्तुएँ तथा उपहार आदि भेंट करते थे। राजा और अन्य उच्च अधिकारी बौद्ध संघ को दान देते थे। मध्य भारत और मालवा में ब्राह्मण धर्म का विशेष प्रभाव था। जनसाधारण को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय वैष्णव धर्म का अनुयायी होने पर धार्मिक सहिष्णु था। उस काल में धार्मिक सम्प्रदायों में किसी प्रकार के वैमनस्य की भावना नहीं थी। धन-सम्पन्न लोग धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर दान वितरित करते थे। उसने पाटलिपुत्र के दो बौद्ध विहारों का उल्लेख किया है जहाँ अनेक भिक्षु निवास करते थे। धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करवाने के लिए लोगों में होड़ लगी रहती थी। फाह्यान ने वैशाली में बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव का उल्लेख किया है। मथुरा और दोआब बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। कन्नौज, कपिलवस्तु और कुशीनगर में बौद्ध धर्म का पतन प्रारम्भ हो गया था।

फाह्यान ने दक्षिणी भारत की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। उसने उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत के मार्गों को अत्यधिक कष्टदायक बताया है। दक्षिणी भारत के जनमार्गों को वह भयानक और चोर-डाकुओं से युक्त बताता है। वहाँ के मार्गों में सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था नहीं थी। एक नगर से दूसरे नगर में पहुँचने के लिए रक्षकों की मदद ली जाती थी।

इस प्रकार फाह्यान के यात्रा-वृत्तांत से तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशा पर प्रकाश पड़ता है। उस काल में शासन सुव्यवस्थित और सुसंगठित था। राजा और प्रजा में पिता-पुत्र-सा सम्बन्ध था। दण्ड विधान उदार था। मृत्यु दण्ड की व्यवस्था नहीं थी। लोगों का नैतिक स्तर उच्च था। प्रजा संयमित और अहिंसक प्रवृत्ति की थी। बौद्ध धर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म का विशेष प्रचलन था। धार्मिक सहिष्णुता की भावना व्याप्त थी। लोगों का जीवन सुखी, समृद्ध और शांतिमय था।

कुमारगुप्त प्रथम
(सन् 413-455 ई०)

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम 413 ई० के लगभग गुप्त-साम्राज्य की राजगद्दी पर बैठा। कुमारगुप्त प्रथम की पहली ज्ञात तिथि बिलसद-अभिलेख से प्राप्त होती है जो 415 ई० है। विद्वानों का मत है कि सम्भवतः उक्त तिथि से दो वर्ष पूर्व ही कुमारगुप्त प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ था। चाँदी की मुद्राओं से उसकी अन्तिम ज्ञात तिथि 455 ई० है। अतः यह कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त प्रथम ने सन् 413 से 455 ई० तक शासन किया। गुप्त अभिलेखों में उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय और ध्रुवदेवी का पुत्र कहा गया है।

वैशाली राजमुद्रा में चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक अन्य पुत्र गोविन्द गुप्त का भी उल्लेख मिलता है। 466 ई० के मन्दसौर अभिलेख से विदित होता है कि गोविन्दगुप्त ने अपने सामन्तों को पराजित करके उन्हें अपने अधीन कर लिया। मन्दसौर अभिलेख में उसके वायुरक्षित सेनापति का उल्लेख मिलता है। उसमें यह भी कहा गया है कि गोविन्दगुप्त की शक्ति को देखकर इन्द्र भी शंकाकुल हो गया था।

उपरोक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए सर्वप्रथम डॉ० भण्डारकर ने यह मत व्यक्त किया कि राजगद्दी पर अधिकार करने के लिए कुमारगुप्त को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनका कथन है कि कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त दोनों चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र थे। राज्याधिकार प्राप्त करने के लिए दोनों के मध्य संघर्ष छिड़ गया। किन्तु बाद में उन्होंने कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त दोनों को एक ही व्यक्ति मान लिया। डॉ० रायचौधरी और श्री जगन्नाथ ने यह मत व्यक्त किया है कि गोबिन्दगुप्त और कुमारगुप्त दोनों चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र थे। वैशाली राजमुद्रा में गोविन्दगुप्त की माता ध्रुवस्वामिनी का उल्लेख हुआ है। इस आधार पर श्री जगन्नाथ ने यह सिद्ध किया है कि गोविन्दगुप्त ही चन्द्रगुप्त द्वितीय बड़ा पुत्र और राज्याधिकारी था। विद्वानों का कथन है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की अन्तिम तिथि 412 ई० प्राप्त हुई है तथा कुमारगुप्त प्रथम की पहली तिथि 415 ई० है। अतः इन तीन वर्षों के अन्तराल से यही विदित होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद उसका बड़ा पुत्र युवराज गोविन्दगुप्त राजगद्दी पर बैठा। 415 ई० में उसके भाई कुमारगुप्त प्रथम ने उसका वध करके राजगद्दी पर अधिकार कर लिया।

कुमारगुप्त प्रथम के लगभग तेरह अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनमें उसकी विजयों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इससे ऐसा विदित होता है कि उसके शासनकाल का समय प्रायः शान्तिपूर्ण रहा। उसमें अपने यशस्वी पिता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और प्रतापी पितामह समुद्रगुप्त की भाँति सामरिक प्रतिभा नहीं थी।

कुमारगुप्त के शासनकाल की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ—कुमारगुप्त प्रथम के प्राप्त अभिलेखों से उसके शासनकाल की महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश नहीं पड़ता। परन्तु उसके यशस्वी पुत्र स्कन्दगुप्त के भीतरी अभिलेख तथा उसके द्वारा प्रचलित

अनेक मुद्राओं से कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विवरण मिलता है।

1. **पुष्यमित्रों की विजय**—भीतरी स्तम्भ लेख से विदित होता है कि अपने जीवन-काल के अन्तिम दिनों में कुमारगुप्त को शक्तिशाली पुष्यमित्रों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। उनके भीषण आक्रमण से गुप्तवंश की राजलक्ष्मी विचलित हो गई। स्कंदगुप्त ने बलपूर्वक पुष्यमित्रों का सामना करते हुए राज्यलक्ष्मी को पुनः स्थिर किया। उसने पुष्यमित्र को पराजित कर डाला। कुमारगुप्त के शासनकाल के आक्रांता पुष्यमित्र कौन थे, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। हर्नल महोदय का मत है कि पुष्यमित्र मैत्रक थे। डॉ० राखलदास बनर्जी पुष्यमित्रों को हूण मानते हैं। जायसवाल महोदय का कथन है कि पुष्यमित्र पश्चिमी मालवा में निवास करते थे। डॉ० स्मिथ ने उन्हें पश्चिमोत्तर प्रदेश में निवास करने वाली जाति कहा है। फ्लीट का मत है कि पुष्यमित्रों का निवास स्थान नर्बदा नदी के तट के निकट था। पुराणों में उन्हें नर्बदा के निकट मेकल प्रदेश का निवासी कहा गया है। पुष्यमित्रों के पास असाधारण शक्ति थी। गुप्त सम्राट् को उनके साथ हुए संघर्ष में भारी क्षति का सामना करना पड़ा। वृद्ध कुमारगुप्त अस्वस्थ होने के कारण स्वयं उनका सामना नहीं कर सका। अतः उसके पुत्र स्कंदगुप्त ने उन्हें पराजित किया।

2. **अश्वमेध यज्ञ**—कुमारगुप्त की अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उसने मयूर शैली की चाँदी की मुद्राएँ प्रचलित की थीं। उसके द्वारा प्रचलित स्वर्ण मुद्रा से कुमारगुप्त प्रथम द्वारा सम्पादित अश्वमेध यज्ञ का विवरण मिलता है। उसकी प्राप्त एक स्वर्ण मुद्रा में अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की आकृति बनी हुई है। उसके अग्र भाग पर 'देवोजति शत्रु कुमारगुप्तोधिराज' और पृष्ठ भाग में 'अश्वमेध महेन्द्रः' अंकित है। विद्वानों का मत है कि 'महेन्द्र' कुमारगुप्त की उपाधि थी। डॉ० रायचौधरी और डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने इस मुद्रा को कुमारगुप्त द्वारा प्रचलित मुद्रा ही माना है। यह ज्ञात नहीं है कि कुमारगुप्त ने इस प्रकार की मुद्राएँ किस युद्ध के बाद प्रचलित कीं।

उपाधियाँ—कुमारगुप्त प्रथम ने अनेक उपाधियाँ धारण कीं। उसने महेन्द्रादित्य, श्री महेन्द्र, अजित-महेन्द्र, सिंह-महेन्द्र, महेन्द्रकल्प, श्री महेन्द्र-सिंह, महेन्द्र-कर्मा, महेन्द्र-कुमार, अश्वमेध महेन्द्र, गुप्तकुलामलचन्द्र, गुप्तकुलव्योमशशि आदि विरुद धारण किए थे।

धार्मिक सहिष्णुता—कुमारगुप्त प्रथम धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था। उसकी मुद्राओं तथा अभिलेखों से विदित होता है कि वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था और उसने 'परम भागवत' की उपाधि धारण की थी। व्यक्तिगत रूप से वैष्णव धर्म का अनुयायी होने पर भी वह धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था। उसका एक मन्त्री पृथ्वीषेण शैव मतावलम्बी था। ह्वेन्सांग के अनुसार कुमारगुप्त ने नालन्दा में एक बौद्ध विहार की स्थापना की थी। उसके राज्य में बुद्धमित्र ने महात्मा बुद्ध की प्रतिमा की स्थापना की। उसने शिवलिंग और सूर्यमन्दिर की भी स्थापना की थी। कुमारगुप्त के कुछ

सिक्कों में कार्तिकेय की प्रतिमा भी उत्कीर्ण है। वह बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव आदि सभी सम्प्रदायों के प्रति समान दृष्टिकोण रखता था।

साम्राज्य-विस्तार—कुमारगुप्त के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनसे उसके अधिकार-क्षेत्र का ज्ञान होता है। मन्दसौर अभिलेख के विवरण से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी था जो चारों ओर से समुद्र से घिरी थी। मालवा के प्रशस्तिकार ने कुमारगुप्त प्रथम के साम्राज्य-विस्तार पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'कुमारगुप्त एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था। उसका साम्राज्य उत्तर में सुमेरु और कैलाश पर्वतों से दक्षिण में विन्ध्य वनों तक तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रों के मध्य तक फैला हुआ था। इनके बीच में उसका विशाल राज्य मेखला की भाँति झूम रहा था।' अहमदाबाद, वल्लभी, जूनागढ़ और मौरवी आदि स्थानों से उसकी अनेक मुद्राएँ मिली हैं। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में कुमारगुप्त की प्रशंसा करते हुए उसे एक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण सम्राट् कहा गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त का साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत तक और पूर्व में बंगाल तथा असम से लेकर पश्चिम में अरब सागर तक विस्तृत था। उसने विरासत में प्राप्त पैतृक साम्राज्य को विघटित नहीं होने दिया।

मूल्यांकन—कुमारगुप्त प्रथम ने सन् 413 से 455 ई० तक सफलतापूर्वक शासन किया। यद्यपि वह अपने पितामह और पिता की भाँति शूरवीर नहीं था, तथापि वह पैतृक साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने में सफल रहा। अनेक स्थानों में प्राप्त उसके अभिलेखों और मुद्राओं से उसका प्रभाव-क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है। वह एक विशाल भू-भाग का स्वामी था। उसने एक विशाल तथा शक्तिशाली सेना गठित की जिसने उसके शासनकाल के उत्तरार्द्ध में पुष्यमित्रों और स्कन्दगुप्त के शासनकाल में शक्तिशाली आक्रांता हूणों को करारी मात दी। कुमारगुप्त प्रथम के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा सम्पादित ऐतिहासिक ग्रन्थ 'दि क्लासिकल एज' में लिखा गया है—"कुमारगुप्त के लिए यह श्रेय की बात थी कि लगभग चालीस वर्ष शान्तिपूर्ण समय में भी राजसेना की रणकुशलता को बनाए रखा। सारांश में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कुमारगुप्त के प्रशासन और व्यक्तित्व को सामान्यतया इससे अधिक श्रेय प्रदान करना चाहिए, जितना कि वर्तमान इतिहासज्ञ देते हैं। अब तक उसका राज्यकाल एक अन्धकारमयी पृष्ठ-भूमि समझा जाता रहा है जिसके विरुद्ध दो पूर्वगामी और एक उत्तराधिकारी के राज्य देदीप्यमान रूप से चमकते दिखाई देते हैं। परन्तु हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि यह उसके लिए अनुचित हो सकता है और वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य से भी दूर।" डॉ० डांडेकर कुमारगुप्त को प्रतापी सम्राट् नहीं मानते। अतः यही कहना उपयुक्त होगा कि कुमारगुप्त अपने पितामह और पिता की भाँति प्रतापी नरेश तो नहीं था, किन्तु वह कुशल राजा अवश्य था। उसने गुप्त साम्राज्य की रक्षा की और उसकी सेना ने बाह्य आक्रमणकारियों को नतमस्तक किया। वह उदार तथा धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था।

स्कंदगुप्त
(सन् 455-467 ई०)

455 ई० में कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र स्कंद-गुप्त गुप्तवंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ। युवराज के रूप में उसने पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव प्राप्त किया था। अपने पिता के राज्य काल में वह अपने पराक्रम और अद्भुत सामरिक प्रतिभा का परिचय दे चुका था। उसे गुप्तवंश का 'महान् वीर' भी कहा जाता है।

वीरों का इतिहास तलवार की धार से लिखा जाता है। स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा का अदम्य उत्साह रणक्षेत्र में उनका (वीरों) सहचर होता है। पाँचवीं शती ई० के मध्य में विदेशी दरिंदों ने जब भारत की पवित्र भूमि को पदाक्रांत करने की योजना बनाई, तो वीर स्कंदगुप्त ने उनकी इस योजना को विफल कर दिया। कहा जाता है कि समय और परिस्थितियाँ महापुरुषों को उत्पन्न करती हैं। स्कंदगुप्त के आविर्भाव ने भी समय की माँग को पूरा किया। उसने 'खुदा का कहर' कहे जाने वाले हूणों को करारी मात दी। 'वह महान् वीर था जिसने हूणों के बर्बर अत्याचारों से दबी हुई मातृभूमि का पुनरुद्धार किया और साम्राज्य को पूर्णतया राहु से ग्रस्त होने से बचा लिया।'

स्कंदगुप्त के इतिहास जानने के साधन—स्कंदगुप्त के अनेक अभिलेखों, उसकी मुद्राओं तथा साहित्यिक ग्रन्थों से उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। उसके गढ़वा व जूनागढ़ शिलालेख, काहौम, बिहार, रीवा, भीतरी स्तम्भलेख, कौशाम्बी का प्रतिमा अभिलेख, इन्दौर ताम्रपत्र तथा 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' नामक साहित्यिक ग्रन्थ से स्कंदगुप्त के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध होती है। स्कंदगुप्त की स्वर्ण एवं रजत मुद्राएं प्राप्त होती हैं। उसके सिक्कों पर बनी आकृतियाँ और अंकित उपाधियाँ उसकी वीरता के प्रतीक हैं।

उत्तराधिकार का युद्ध—उत्तराधिकार के लिए युद्ध करना गुप्त युवराजों में एक परम्परा-सी बन गई थी। इसका मूल कारण यह था कि गुप्त नरेशों ने शास्त्रा-नुकूल ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी मानने वाली प्रथा का उल्लंघन कर सर्वाधिक योग्य पुत्र को राज्याधिकारी घोषित करना प्रारम्भ कर दिया था।

कुछ विद्वानों का मत है कि स्कंदगुप्त को राजगद्दी प्राप्त करने के लिए अपने भाई पुरुगुप्त के साथ युद्ध करना पड़ा। उत्तराधिकार के युद्ध में पुरुगुप्त को पराजित करने के उपरान्त ही वह सिंहासनारूढ़ हुआ। डॉ० मजूमदार और डॉ० गांगुली का मत है कि राजगद्दी पर अधिकार करने के लिए पुरुगुप्त और स्कंदगुप्त के मध्य संघर्ष हुआ। उनका कथन है कि स्कंदगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख का यह विवरण कि 'कुमार गुप्त की मृत्यु के पश्चात् राजवंश की लक्ष्मी चंचल हो गई' स्पष्ट रूप से गृहयुद्ध की ओर संकेत करता है। डॉ० मजूमदार का कथन है कि पुरुगुप्त और उसके सहयोगियों ने ही राजलक्ष्मी को चंचल किया था। जूनागढ़

अभिलेख से विदित होता है कि राजलक्ष्मी ने समस्त राजपुत्रों का परित्याग कर स्कंदगुप्त का वरण किया। गृहयुद्ध के समर्थक विद्वानों का मत है कि जूनागढ़ अभिलेख के उक्त विवरण से पुरुगुप्त और स्कंदगुप्त के मध्य हुए संघर्ष की पुष्टि होती है। किन्तु कुछ अन्य इतिहासकार उपरोक्त कथन पर विश्वास नहीं करते हैं। उनका मत है कि राजलक्ष्मी गृहयुद्ध के कारण नहीं, बल्कि पुष्यमित्रों अथवा हूणों के भीषण आक्रमण के परिणामस्वरूप चंचल हुई थी। स्कंदगुप्त के शासनकाल का प्रारम्भिक समय अशान्त वातावरण में व्यतीत हुआ। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने उसके शासनकाल को असाधारण और झंझावातों से भरा कहा है।

स्कंदगुप्त का राज्यकाल—स्कंदगुप्त का शासनकाल सन् 455 से 467 ई० तक निर्धारित किया जाता है। जूनागढ़ अभिलेख में उसकी सर्वप्रथम तिथि 455 ई० है। अतः उक्त तिथि उसकी सर्वप्रथम ज्ञात तिथि होने के कारण उसके शासनकाल की पहली तिथि मानी जाती है। गढ़वा अभिलेख में उसकी अन्तिम तिथि 467 ई० उपलब्ध होती है। विद्वानों ने उक्त तिथि को उसके शासनकाल की अन्तिम तिथि माना है। इस प्रकार स्कंदगुप्त ने सन् 455 से 467 ई० तक शासन किया।

युवराज के रूप में स्कन्दगुप्त की पुष्यमित्रों पर विजय—युवराज के रूप में स्कन्दगुप्त ने पर्याप्त प्रशासकीय अनुभव प्राप्त किया था। कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल में जब शक्तिशाली पुष्यमित्रों ने गुप्त राज्य पर आक्रमण किया तो स्कंद गुप्त ने अद्भुत वीरता का परिचय देते हुए उन्हें पराजित कर डाला। भीतरी स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्रों के आक्रमण से गुप्त सम्राट् को भारी क्षति उठानी पड़ी थी और नष्ट होते हुए गुप्त साम्राज्य को स्कन्दगुप्त ने अपने पराक्रम से बचा लिया। शक्तिशाली और कोष से समृद्ध पुष्यमित्रों को पराजित करने लिए उसे एक रात पृथ्वी पर ही सोकर व्यतीत करनी पड़ी। डॉ० त्रिपाठी का मत है कि जब स्कन्दगुप्त अपने प्रतिद्वंद्वी पुष्यमित्रों के साथ संघर्ष में उलझा हुआ था तो उसी समय कुमारगुप्त का देहावसान हो गया। इसलिए अपने शत्रुओं की पराजय की सूचना उसने अपने पिता के बजाय कृष्ण की भाँति अपनी माता को दी। इस युद्ध के बाद स्कन्दगुप्त ने 'अपना वाम पद राज-चरण पीठ पर रखा' अर्थात् सिंहासनारूढ़ हुआ। भीतरी स्तम्भ लेख से विदित होता है कि "स्कन्दगुप्त शत्रुओं का नाश कर प्रेम-अश्रु युक्त अपनी माता के पास उसी प्रकार गया, जिस प्रकार शत्रुओं का नाश करने वाले कृष्ण अपनी माता देवकी के पास गये थे।"

स्कन्दगुप्त के शासनकाल की प्रमुख घटनाएँ

युवराज के रूप में शक्तिशाली पुष्यमित्रों को पराजित करने के फलस्वरूप सर्वत्र स्कन्दगुप्त की धाक जम गई। बर्बर और 'खुदा का कहर' कहे जाने वाले हूणों को पराजित करना स्कन्दगुप्त के शासन काल की महत्वपूर्ण घटना है। उसने नागों को भी पराजित किया और सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण किया। उसके शासनकाल की प्रमुख घटनाओं का विवरण इस प्रकार है—

हूण आक्रमण—हूण मध्य एशिया में निवास करने वाली खानाबदोश

जाति थी। जनसंख्या में भारी वृद्धि के कारण वे अपने जीवन-यापन के लिए नवीन प्रदेशों की खोज में चले गये थे। पाँचवीं शताब्दी में एशिया और यूरोप के देशों पर हूणों के बर्बर आक्रमण प्रारम्भ हो गये। हूणों से पूर्व आर्य, शक और कुषाण तथा उनके बाद तुर्क तथा मंगोलों ने भारत में इसी कथा की पुनरावृत्ति की। हूणों ने विशाल रोमन साम्राज्य की धज्जियाँ उड़ा दीं। 448 ई० तक उन्होंने आक्सस नदी के भागों को अधिकृत कर लिया। तत्पश्चात् उत्तर-पश्चिमी दर्रों से वे भारत में प्रविष्ट हुए।

खानाबदोश और क्रूरकर्मा हूणों ने स्कन्दगुप्त के राज्य पर आक्रमण कर दिया। दुर्धर्ष योद्धा स्कन्दगुप्त ने उन्हें पराजित करके उनके आक्रमण को निष्फल कर दिया। जूनागढ़-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने हूणों की शक्ति को इस तरह विदीर्ण कर दिया कि म्लेच्छ देशों में भी उसके रिपुगण (हूण) उसकी विजय का सुयश उद्घोषित किया करते थे। भीतरी अभिलेख से यह विदित होता है कि हूण आक्रमण की विध्वंसकारी बाढ़ को रोकने के लिए स्कन्दगुप्त ने भीषण प्रचण्डता के साथ उनका सफल प्रतिरोध किया। गुप्त और हूणों की म्लेच्छ सेना के मध्य हुए भयंकर समर से धरा प्रकंपित हो उठी और युद्ध के भीषण आवर्त्त (बवंडर) में फँसे मस्त हूणों के कान गंगा की ध्वनि सम गुप्त धनुर्धरों की शरों की गर्जना से भर गये।

साहित्यिक साक्ष्यों से भी हूणों के ऊपर स्कन्दगुप्त की विजय पर प्रकाश पड़ता है। सोमदेव के कथासरित्सागर तथा आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में स्कन्दगुप्त की हूण-विजय का उल्लेख मिलता है।

स्कन्दगुप्त द्वारा हूणों की पराजय का उल्लेख भीतरी और जूनागढ़ के अभिलेखों में हुआ है। इन अभिलेखों की तिथि गुप्तसंवत् 136-137 (456 ई०) है। अतः इसी तिथि के आसपास हूण-आक्रमण की तिथि निर्धारित की जा सकती है। स्कन्दगुप्त ने हूणों को गंगा नदी की घाटी में कहीं पराजित किया। शक्तिशाली हूणों को पराजित करने के फलस्वरूप भारत कुछ समय तक इन आततायियों की बर्बरता का शिकार होने से बच गया। विद्वानों का मत है कि हूणों को विजित करने के उपरान्त स्कन्दगुप्त ने 'क्रमादित्य' और 'विक्रमादित्य' की उपाधियां धारण कीं। डॉ० मजूमदार ने स्कन्दगुप्त द्वारा हूणों की पराजय की घटना को अत्यधिक महत्वपूर्ण बताते हुए उसके द्वारा धारण 'विक्रमादित्य की उपाधि को उसके यश के अनुरूप बताया है। उन्होंने लिखा है—"स्कन्दगुप्त द्वारा हूणों का सफल और प्रभावशाली प्रतिरोध उस काल की महत्तम उपलब्धियों में से एक है। इस वीर कृत्य ने उसे पूर्णतया समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के समान 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करने का अधिकार दे दिया।"[1]

1. "The successful effective resistance to them by Skandagupta must rank as one of the greatest achievements of the age. This heroic feat fully entitled Skandagupta to assume the title of Vikramaditya which Samudragupta and Chandragupta II did before."
—*Dr. R. C. Mazumdar*

नागों पर विजय—डॉ० फ्लीट का मत है कि स्कन्दगुप्त ने नाग जाति पर विजय की। जूनागढ़-अभिलेख से विदित होता है कि स्कन्दगुप्त की गरुड़ध्वजांकित राजाज्ञा नागरूपी उन राजाओं का मर्दन करने वाली थी जो मान और दर्प से अपने फन उठाये रखते थे। अभिलेख में स्कन्दगुप्त द्वारा भुजगों की पराजय का उल्लेख है। भुजंग नाग का पर्यायवाची माना जाता है। इन विवरणों के आधार पर डॉ० फ्लीट ने यह मत व्यक्त किया है कि नाग स्कन्दगुप्त द्वारा पराजित हुए थे।

वाकाटकों का आक्रमण—बालाघाट ताम्रपत्र में वाकाटक नरेश नरेन्द्रसेन को मालवा का शासक कहा गया है। इस आधार पर डांडेकर ने यह मत व्यक्त किया है कि वाकाटक नरेश नरेन्द्रसेन ने स्कन्दगुप्त की प्रारम्भिक कठिनाइयों से लाभ उठाकर मालवा पर अधिकार कर लिया। किन्तु डॉ० अल्टेकर उक्त मत से सहमत नहीं है। विद्वानों ने इस सन्दर्भ में यह सम्भावना भी व्यक्त की है कि कुमारगुप्त प्रथम के शासन के अन्तिम चरणों में मालवा स्वतन्त्र हो गया होगा और सिंहासनारूढ़ होते ही स्कन्दगुप्त ने उसे विजित कर लिया होगा। वाकाटक और स्कन्दगुप्त के मध्य हुए संघर्ष का उल्लेख किसी अन्य साक्ष्य में नहीं मिलता है, अतः इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

दिग्विजय—स्कन्दगुप्त के अभिलेखों में उसके लिए प्रयुक्त उपाधियों के आधार पर कुछ विद्वानों ने स्कन्दगुप्त को दिग्विजय की सम्भावना व्यक्त की है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी का कथन है कि स्कन्दगुप्त द्वारा शत्रुओं को पराजित करने के उपरान्त उसके सैनिक स्वभाव ने उसे दिग्विजय की ओर प्रेरित किया। प्रमाणों के अभाव में स्कन्दगुप्त के दिग्विजय की बात संदिग्ध है।

साम्राज्य विस्तार—स्कन्दगुप्त को उत्तराधिकार के रूप में एक विशाल पैतृक साम्राज्य मिला था और स्कन्दगुप्त ने उसकी रक्षा की। उसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक तथा पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में सौराष्ट्र तक विस्तृत था। डॉ० मुकर्जी ने स्कन्दगुप्त के साम्राज्य-विस्तार के सन्दर्भ में लिखा है—"अपनी शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर स्कन्दगुप्त एक विशाल साम्राज्य का शासक थी काठियावाड़ से बंगाल तक सारे उत्तरी भारत में फैला हुआ था, पश्चिम में सौराष्ट्र, कैम्बे, गुजरात तथा मालवा के भाग भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित थे।" उसके अभिलेखों तथा मुद्राओं से विदित होता है कि वह विशाल साम्राज्य का स्वामी था।

स्कन्दगुप्त धुरंधर वीर और विस्तृत साम्राज्य का स्वामी ही नहीं था, बल्कि निर्माणकारी कार्यों एवं धार्मिक सहिष्णुता की भावना भी उसके हृदय में व्याप्त थी। उसने अपने शासनकाल में सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण करवाया। धार्मिक सहिष्णुता की भावना उसके उदार हृदय में व्याप्त थी।

सुदर्शन झील की मरम्मत—मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने गिरनार पर्वत पर सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था। अशोक ने इस झील से एक नहर निकाली थी। 150 ई० में सुदर्शन झील के टूटने पर महाक्षत्रप रुद्रामन प्रथम ने इसका जीर्णोद्धार

करवाया था । 456 ई० में यह बाँध पुनः टूट गया था । स्कन्दगुप्त ने इसका पुन-निर्माण करवाया ।

धार्मिक सहिष्णुता—अपने पूर्वजों की भाँति स्कन्दगुप्त वैष्णव धर्म का अनुयाई था । उसके लेखों में उसे 'परम भागवतो महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्तः' कहा गया है : भीतरी स्तम्भ लेख से विदित होता है कि उसने अपने पिता की मधुर स्मृति में भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापित करवाई । उसके गवर्नर पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने सुदर्शन झील के तट पर विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया ।

वैष्णव धर्मानुयायी होने पर भी स्कन्दगुप्त में धार्मिक सहिष्णुता की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी । उसके राज्य में बहुसंख्यक जैन और बौद्ध अनुयायी कहते थे । उन सभी के साथ वह समानता का व्यवहार करता था । काहौम अभिलेख से विदित होता है कि मद्र नामक एक व्यस्ति ने जन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ स्थापित कीं । इन्दौर ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त के शासनकाल में एक ब्राह्मण ने सूर्य मन्दिर में नित्य दीप जलाने के लिए दान दिया ।

शासन-प्रबन्ध—स्कन्दगुप्त एक कुशल प्रशासक था । उसका शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित और सुसंगठित था । अभिलेखों से उसकी शासन-प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है । जूनागढ़ शिलालेख के विवरण से ज्ञात होता है कि शत्रुओं को विजित करने के उपरान्त सभी प्रान्तों में गवर्नर नियुक्त करके वह साम्राज्य की व्यवस्था करने में जुट गया । काफी विचार-विमर्श के पश्चात् उसने पर्णदत्त को नवविजित प्रदेश सौराष्ट्र का गवर्नर नियुक्त किया । साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था । प्रान्तपति 'गोप्ता' कहलाता था । प्रमुख नगरों का प्रशासन नगर प्रमुख द्वारा संचालित होता था । उसके शासनकाल में प्रजा सुखी और समृद्ध थी । जूनागढ़ अभिलेख में कहा गया है कि 'जिस समय वह शासन कर रहा था, उसकी प्रजा में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो धर्मच्युत, दुःखी, दरिद्र, आपत्तिग्रस्त, लोभी अथवा दण्डनीय होने के कारण अत्यन्त सताया गया हो ।"

देहावसान—पहले युवराज और तत्पश्चात् बारह वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरान्त 467 ई० में स्कन्दगुप्त का देहावसान हो गया । कुछ विद्वानों का मत है कि उसके जीवन के अन्तिम दिन दुःखपूर्ण वातावरण में व्यतीत हुए । डॉ० स्मिथ का कथन है कि उसके शासन के अन्तिम दिनों में हूणों ने एक बार पुनः उसके राज्य पर आक्रमण किया और इस बार वह उस विजय की पुनरावृत्ति नहीं कर पाया, जो उसने अपने शासन-काल के आरम्भिक वर्षों में अर्जित की थी । डॉक्टर आर० डी० बनर्जी ने लिखा है—"स्कन्दगुप्त के शासन के अन्तिम वर्षों के इतिहास के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है । लेकिन हूणों के आक्रमण जारी रहे और अधिक सम्भावना इस बात की है कि इस विशाल आक्रमण को रोकने में स्कन्दगुप्त को प्राणों से हाथ धोना पड़ा ।" किन्तु इस मत को मानने के लिए प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि हूणों के साथ जूझते हुए स्कन्दगुप्त को वीर गति प्राप्त हुई । उसके अभिलेखों से

विदित होता है कि उसका शासन शांकिपूर्ण और सुखमय था। इन आधारों से यह ज्ञात होता है कि वह सुख की मौत मरा था।

मूल्यांकन—स्कन्दगुप्त गुप्तवंश का महान् वीर था। युवराज के रूप में उसने शक्तिशाली पुष्यमित्रों की उफनती हुई शक्ति का सामना किया। सम्राट् के रूप में उसने 'खुदा का कहर' कहे जाने वाले युद्धप्रिय हूणों को करारी मात दी। वह एक महान् विजेता, देश को मुक्त कराने वाला, गुप्त सम्राटों के गौरव को पुनः स्थापित करने वाला और सहृदय शासक था। उसकी उपलब्धियाँ उसको उसके महान् पूर्ववर्त्ती शासकों—चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक महान्, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, विक्रमादित्य की पंक्ति में बिठा देती है। यदि चन्द्रगुप्त मौर्य ने देश को ग्रीक दासता से मुक्ति दिलाई, समुद्रगुप्त सर्व राजोच्छेत्ता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य 'शकारि' तो स्कन्द्रगुप्त को हूण विजेता होने का गौरव प्राप्त था। अतः उसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम होगी। डॉ० मजूमदार ने स्कन्दगुप्त की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"अपने इस कृत्य (हूणों पर विजय) द्वारा स्कन्दगुप्त इतिहास में भारत के रक्षक के रूप में समझा जायेगा।" डॉ० जायसवाल ने लिखा हैं कि स्कन्दगुप्त एक श्रेष्ठ बुद्धिमान और धर्मवत्सल राजा था। उनका कथन हैं कि वह स्कन्द वंश का सबसे महान् सम्राट् था। काहौम स्तम्भलेख में स्कन्दगुप्त के पराक्रम पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है—"सैकड़ों राजाओं के सिर दरबार में नमस्कार करते समय उसके चरणों में नत हुए। वह सैकड़ों नरपतियों का सम्राट्, इन्द्र का समकक्ष और अपने साम्राज्य में शांति का संस्थापक था।" कुमारगुप्त के पुत्रों में वह सर्वाधिक योग्य था, जूनागढ़ अभिलेख से विदित होता है कि 'सभी राजकुमारों को छोड़कर लक्ष्मी ने स्वयं उसका बरण किया।' भीतरी स्तम्भ लेख में कहा गया है कि 'स्कन्दगुप्त की वीरता का गान देश के प्रत्येक भाग में बालक से लेकर युवा तक प्रसन्नतापूर्वक किया करते थे।' डॉ० डांडेकर ने स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"स्कन्दगुप्त सर्वोच्च प्रशंसा का अधिकारी है। वह हूणों को पराजित करने वाला एशिया और यूरोप का प्रथम वीर था। उसका बुद्धिमत्तापूर्ण शासन, उसके शौर्यपूर्ण युद्ध, उसकी देशभक्ति सम्बन्धी इच्छाएँ इन सबने स्कन्दगुप्त को सबसे महान् गुप्त सम्राटों में से एक बना दिया। स्कन्दगुप्त ने हूणों द्वारा देश की बरबादी को अगले पचास वर्षों के लिए रोक कर भारत की महती सेवा की।" उन्होंने आगे लिखा है—"असाधारण हूण विजेता स्कन्दगुप्त किसी अलक्षेन्द्र, चंगेज व नेपोलियन की भाँति नृशंस एवं क्रूर साम्राज्यवादी विजेता न था। वह भारतीय राजशास्त्रियों की परिकल्पना का एक उच्चदर्शी धर्म-विजेता चक्रवर्ती था।" उसने 'शक्रोपम', देवराज', 'श्रीपरिक्षिप्तवक्षा:" । विक्रमादित्य 'क्रमादित्य' आदि विरुद्ध धारण किये थे। उसने तीन प्रकार की स्वर्ण मुद्राएँ प्रचलित कीं। उसने कई प्रकार की रजत मुद्राएँ भी चलाईं। उसके काल में जनता सुखी और समृद्ध थी। वह गुप्त वंश का अन्तिम महान् शासक था। उसने अपने पैतृक साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसके अयोग्य उत्तराधिकारी साम्राज्य की रक्षा न कर सके। आंतरिक दुर्बलता और बाह्य आक्रमणों ने विशाल गुप्त साम्राज्य को विघटित करके पतन की ओर अग्रसर कर दिया।

अपनी असाधारण सामरिक और अद्भुत बीरता के लिए स्कन्दगुप्त इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगा ।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी

(गुप्तवंश का अवनति-काल)

(सन् 467-550 ई०)

467 ई० में स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसके अनेक दुर्बल उत्तराधिकारियों ने 550 ई० तक शासन किया । एक-दो राजाओं के अतिरिक्त इस अवधि में कोई भी राजा इतना शक्तिशाली सिद्ध नहीं हुआ कि वह अपने कुल गौरव की रक्षा कर सके । फलतः विशाल गुप्त-साम्राज्य में विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई । विद्वानों ने सन् 467 से 550 ई० तक के समय को गुप्तवंश का 'अवनति-काल' कहा है । विद्वानों ने इस अवधि में जिन गुप्त नरेशों ने शासन किया उनके क्रम-निधारण के सम्वन्ध में मतैक्य नहीं है । अतः स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों का क्रम प्रस्तुत करना प्राचीन भारतीय इतिहास की एक जटिल समस्या है ।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों का क्रम-निर्धारण

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों का क्रम निर्धारित करने में सन्दर्भ के विद्वानों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है । हर्नले महोदय ने उनका क्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया है—स्कन्दगुप्त, पुरुगुप्त, नरसिंह गुप्त, एवं गुप्त द्वितीय । वे बुधगुप्त और भानुगुप्त को कुमार सम्राट् नहीं मानते हैं । ऐलन महोदय ने यह विचार व्यक्त किया है कि कुमारगुप्त प्रथम के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था । एक शाखा के अन्तर्गत स्कन्दगुप्त, प्रकाशदित्य, चन्द्रगुप्त तृतीत और घटोत्कच गुप्त ने राज्य किया तथा दूसरी शाखा में पुरुगुप्त, नरसिंह गुप्त व कुमारगुप्त द्वितीय ने शासन किया । डॉ० राय चौधरी और डॉ० पन्नालाल ने उनका क्रम इस प्रकार निर्धारित किया हैं—कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त, पुरुगुप्त, नरसिंह गुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त, वैन्यगुप्त तथा भानुगुप्त । डॉ० मजूमदार का कथन है कि स्कन्दगुप्त के पश्चात् क्रमशः पुरुगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त, नरसिंह गुप्त, कुमारगुप्त तृतीय एवं विष्णु गुप्त ने राज्य किया । डॉ० त्रिपाठी द्वारा उल्लिखित क्रम इस प्रकार है—पुरुगुप्त, नरसिंह गुप्त द्वितीय, बुधगुप्त और भानुगुप्त ।

स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त राजाओं के क्रम के सन्दर्भ में सभी विद्वानों के मतों के अध्ययन के उपरांत उनका सम्भावित क्रम इस प्रद्यार निर्धारिक किया जाना अनुपयुक्त न होगा—पुरुगुप्त, नरसिंह गुप्त, बालादित्य, कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त, वैन्यगुप्त, भानुगुप्त, कुमारगुप्त तृतीय और विष्णु गुप्त ।

पुरुगुप्त—स्कन्दगुप्त अपुत्रक था । 467 ई० में उसके निधन के पश्चात् उसका सौतेला भाई पुरुगुप्त राजगद्दी पर आसीन हुआ । उसकी माता का नाम अनन्त देवी था । पुरुगुप्त ने धनुर्धर प्रकार की स्वर्ण मुद्राएँ चलाईं । उनकी मुद्राओं में उसका विरुद 'श्री-विक्रम' अंकित है । भीतरी लेख में उसकी माता

अनंत देवी तथा पत्नी चन्द्र देवी का उल्लेख मिलता है। राजगद्दी पर बैठते समय पुरुगुप्त वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुका था। उसने 467 से 473 ई० तक शासन किया। परमार्थकृत 'वसुबन्धुजीवनवृत्त' में पुरुगुप्त को बौद्ध अनुयायी कहा गया है। यह भी कहा जाता है कि उसने बौद्ध आचार्य वसुबन्धु को अपनी रानियों तथा युवराज नरसिंह गुप्त बालादित्य का गुरु नियुक्त किया। पुरुगुप्त के शासनकाल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता। उसके सिक्कों के प्राप्ति-स्थान से विदित होता है कि अब गुप्त साम्राज्य मध्य-भारत, गुजरात, मालवा तथा सौराष्ट्र में अपना प्रभाव खो चुका था और बंगाल, बिहार व पूर्वी उत्तरप्रदेश तक सीमित रह गया था।

नरसिंह गुप्त बालादित्य—पुरुगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह गुप्त राजगद्दी पर आसीन हुआ। 'बालादित्य' उसका विरुद था। भीतरी अभिलेख से विदित होता है कि वह पुरुगुप्त और वत्सदेवी का पुत्र था। नरसिंह गुप्त बालादित्य ने बौद्ध गुरु वसुबन्धु से शिक्षा प्राप्त की थी। बालादित्य का ज्ञान उसके कुछ सिक्कों से होता है। उसका कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है। उसने अल्प समय तक शासन किया था। डॉ०जायसवाल का मत है कि नरसिंह गुप्त बौद्ध अनुयायी था। ऐलन महोदय का कथन है कि वसुबन्धु के प्रभावस्वरूप बालादित्य बौद्ध धर्म का संरक्षक बन गया। उसने गुप्तवंश की खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया।

कुमारगुप्त द्वितीय—नरसिंह गुप्त के पश्चात् उसकी पत्नी महालक्ष्मी से उत्पन्न पुत्र कुमारगुप्त राजगद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल के तीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं। सारनाथ अभिलेख में उसे पृथ्वी की रक्षा करने वाला कहा गया है। उसके शासनकाल में दशपुर के सूर्य मन्दिर का रेशम के जुलाहों द्वारा जीर्णोद्धार हुआ। उसने 'क्रमादित्य' का विरुद धारण किया था। उसकी मुद्राओं पर उसके लिए 'महाराजाधिराज श्री कुमार गुप्त क्रमादित्य' अंकित है। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में उसे धार्मिक प्रवृत्ति का शासक कहा गया है।

बुधगुप्त—कुमारगुप्त द्वितीय के पश्चात् बुधगुप्त राजा बना। सारनाथ अभिलेख से विदित होता है कि 476 ई० में बुधगुप्त शासन कर रहा था। नालन्दा से बुधगुप्त की प्राप्त राजमुद्रा से ज्ञात होता है कि वह पुरुगुप्त का पुत्र था। उसकी अनेक मुद्राएँ तथा अभिलेख प्राप्त हैं। उसके अभिलेखों से विदित होता है कि उसका राज्य बंगाल से लेकर मध्य प्रदेश तक विस्तृत था। दामोदरपुर ताम्रपत्र में उसे 'परम भट्टारक' कहा गया है। उसकी रजत मुद्राओं से उसकी अन्तिम तिथि 495 ई० ज्ञात होती है। अतः बुधगुप्त ने सन् 476 से 495 ई० तक राज्य किया।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों में बुधगुप्त सर्वाधिक योग्य था। उसे स्कन्दगुप्त के पश्चात् अन्तिम महान् गुप्त सम्राट कहा जाता है। उसने 'श्री विक्रम' की उपाधि धारण की थी। उसके अभिलेखों से उसके प्रांतीय शासकों का ज्ञान होता है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने बुधगुप्त के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त काल के अंधकारमय युग में बुधगुप्त ने अपने वंश की पूर्व स्थिति और प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित कर लिया।[1]

वैन्यगुप्त—गुनैधर ताम्रपत्र से वैन्यगुप्त नामक शासक का ज्ञान होता है। विद्वान् तथागतगुप्त और वैन्यगुप्त को एक ही मानते हैं। गुनैधर ताम्रपत्र में वैन्यगुप्त को 'महाराज' कहा गया है। उसकी नालन्दा में प्राप्त राजमुद्रा में उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया है। वह धार्मिक सहिष्णु राजा था।

भानुगुप्त—वैन्यगुप्त के पश्चात् भानुगुप्त राजा बना। 510 ई० में ऐरण से प्राप्त अभिलेख में उसे संसार में सर्वश्रेष्ठ वीर तथा महान् शासक कहा गया है। ऐरण अभिलेख से विदित होता है कि भानुगुप्त का एक सामन्त गोपराज किसी भयंकर युद्ध में मारा गया। विद्वानों का कथन है कि यह युद्ध हूणों के विरुद्ध हुआ था। हूणों ने गुप्तों से मालवा छीन लिया।

कुमारगुप्त तृतीय—भीतरी अभिलेख से विदित होता है कि कुमारगुप्त तृतीय पुरुगुप्त का पौत्र एवं नरसिंह गुप्त का पुत्र था। उसकी माता का नाम श्रीदेवी था। उसकी स्वर्ण मुद्राओं पर उसके लिए 'विक्रमादित्य' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। कुमारगुप्त तृतीय के लिए 'परम भागवत' की उपाधि का प्रयोग हुआ है जो उसे वैष्णव मतावलम्बी सिद्ध करता हैं।

विष्णुगुप्त—कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र विष्णुगुप्त राजगद्दी पर बैठा। उसकी स्वर्ण मुद्राओं में उसके लिए 'चन्द्रादित्य' की उपाधि प्रयुक्त हुई है। 550 ई० तक शासन करने के उपरांत विष्णुगुप्त का निधन हो गया। उसकी मृत्यु के साथ ही गुप्त साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया।

गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण

गुप्त साम्राज्य अपनी उपलब्धियों के कारण भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह ऐतिहासिक महत्त्व का काल था। गुप्तकाल राजनीतिक एकता, आर्थिक समृद्धि, शान्ति, हिन्दूधर्म के उत्कर्ष, हिन्दू साम्राज्य की स्थापना, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रसार, साहित्य, विज्ञान तथा कला के चरमोत्कर्ष का काल था। अपनी अनेक उपलब्धियों के कारण वह भारतीय इतिहास में 'स्वर्ण युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ युग गुप्त काल में अनेक प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने एक ओर आन्तरिक संगठन को सुदृढ़ बनाकर शान्ति और समृद्धि का विकास किया तथा दूसरी ओर भारत को अधिकृत करने

1. "It will thus appear that the empire under Budhagupta recovered its position and prestige after the dark age following the death of Skandagupta."

—*R. K. Mookerjee*

के लिए उभरती हुई विदेशी शक्तियों को पराजित किया। लगभग ढाई शताब्दियों तक गुप्त वंश ने शासन किया। इस अवधि में गुप्त वंश की स्वतन्त्रता घोषित करने वाला चन्द्रगुप्त प्रथम, चक्रवर्ती सम्राट् समुद्रगुप्त, शक-कुषाण विजेता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और हूण विजेता स्कंदगुप्त जैसे महान् सम्राटों तथा दुर्धर्ष योद्धाओं ने शासन किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में गुप्त-साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था, परन्तु स्कंदगुप्त की मृत्यु के साथ ही उसका पतन प्रारम्भ हो गया। 467 ई० में स्कंदगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका कोई भी उत्तराधिकारी इतना योग्य सिद्ध न हुआ जो आन्तरिक संगठन को सुदृढ़ कर बाह्य आक्रमणकारियों से लोहा ले सके। आन्तरिक दुर्बलता एवं बाह्य आक्रमण के तीव्र प्रहार ने गुप्त साम्राज्य को झकझोर कर रख दिया और जर्जरित गुप्त साम्राज्य का महल यशोधर्मन के आविर्भाव और हूण आक्रमण के प्रवाह से धराशायी हो गया। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है—"इस बर्बर जाति (हूण) की अनवरत चोटों ने, जिनसे संसार के अनेक सभ्य साम्राज्य टूट चुके थे, गुप्त साम्राज्य को भी अन्त में तार-तार कर डाला।" शासकों की दुर्बलता से लाभ उठाकर सामन्तों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। लगभग दो शताब्दियों तक गौरवपूर्ण शासन करने के उपरान्त गुप्त साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। गुप्त साम्राज्य का पतन न तो आकस्मिक था और न ही इसके पतन के लिए कोई एक कारण विशेष उत्तरदायी था। दीर्घकाल से अनेक कारण इसके पतन का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। गुप्त-साम्राज्य के पतन के लिए प्रधानतया निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे—

1. **अयोग्य उत्तराधिकारी**—कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गई थी। किन्तु उसके यशस्वी पुत्र स्कंदगुप्त ने अपने व्यक्तिगत शौर्य एवं वीरत्व का परिचय देते हुए उसे विघटित होने से कुछ समय तक के लिए रोक दिया। स्कंदगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त वंश में अयोग्य उत्तराधिकारियों की झड़ी लग गई। वे दूरस्थ प्रदेशों के सामन्तों को अधीन रखकर न तो शासन को सुदृढ़ स्वरूप प्रदान कर सके और न ही बाह्य आक्रमणों का डटकर मुकाबला कर सके। पुरुगुप्त के काल से ही प्रान्त पतियों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करनी प्रारम्भ कर दी थी। यद्यपि बुधगुप्त और भानुगुप्त ने अथक परिश्रम कर निज कुल गौरव को पुनःस्थापित करने के लिए अनेक प्रयास किए, किन्तु वे भी गुप्त साम्राज्य की डूबती हुई नाव को भंवर से न बचा सके। स्कंदगुप्त की मृत्यु के पश्चात् कोई भी राजा इतना शक्तिशाली नहीं हुआ, जो गुप्त साम्राज्य को एकता के सूत्र में बाँध सके। निरन्तर अयोग्य सम्राटों के शासन के फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य का पतन स्वाभाविक था।

2. **आन्तरिक कलह**—गुप्त काल में राजपरिवार के आन्तरिक कलह ने साम्राज्य की जड़ें खोखली कर दीं। डॉ० मजूमदार ने भी आन्तरिक कलह को गुप्तों के पतन का मुख्य कारण बताया है। ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा, यह मान्यता सर्वमान्य नहीं थी। चन्द्रगुप्त प्रथम ने एक राजसभा आयोजित कर

अपने छोटे पुत्र समुद्रगुप्त को राज्याधिकारी मनोनीत किया। फलतः समुद्रगुप्त तथा उसके बड़े भाई के मध्य उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने अपने अग्रज भ्राता रामगुप्त का वध कर राजगद्दी हथिया ली। कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् स्कंदगुप्त और उसके बड़े भ्राता के मध्य सिंहासन-प्राप्ति हेतु संघर्ष छिड़ गया। उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न होने के कारण राजसभा में दलबन्दी और षड्यन्त्रों को प्रोत्साहन मिला।

3. **युद्धों की अधिकता**—गुप्त सम्राट् साम्राज्यवादी नीति के पोषक थे। उन्होंने तत्कालीन राजवंशों और विदेशी शक्तियों के साथ अपने युद्ध निरन्तर जारी रखे। समुद्रगुप्त ने सम्पूर्ण भारत को विजित किया। उसने उत्तरी भारत को अपने साम्राज्य में विलीन कर दक्षिणापथ के राजाओं को नतमस्तक कर अपना करद राजा बना लिया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने पिता की साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर गुप्त-साम्राज्य का विस्तार किया। उसने पश्चिमोत्तर भाग में स्थित गणराज्यों का उन्मूलन करके उन्हें अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया। उसने शकों और कुषाणों को पराजित कर पूर्वी प्रदेशों तथा दक्षिणापथ को विजित किया। कुमारगुप्त प्रथम के समय में पुष्यमित्रों ने गुप्त साम्राज्य पर जबरदस्त आक्रमण किया। अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए युवराज स्कंदगुप्त ने उन्हें पराजित कर दिया। स्कंदगुप्त के राजगद्दी पर बैठते ही बर्बर हूणों ने गुप्त-साम्राज्य पर सांघातिक प्रहार किया। वीर स्कंदगुप्त ने उनके आक्रमण को नाकाम सिद्ध कर दिया। स्कंदगुप्त के उत्तराधिकारियों को भी अनेक युद्ध करने पड़े। निरन्तर युद्धों के फलस्वरूप आन्तरिक संगठन में शिथिलता आ गई और राजकोष की रिक्तता के कारण आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई।

4. **प्रांत पतियों द्वारा स्वतन्त्रता की घोषणा**—स्कंदगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्तवंश के अयोग्य उत्तराधिकारियों के कारण केन्द्रीय शक्ति दुर्बल हो गई जिसका प्रांतपतियों और गुप्तों के अधीनस्थ शासकों ने भरपूर लाभ उठाया। गुप्तकाल में प्रान्तपतियों को अनेक विशेषाधिकार तथा पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वे 'महाराज' की उपाधि धारण करते थे। प्रान्तीय पदाधिकारियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा किए जाने के कारण वे राजा की अपेक्षा उसके (राज्यपाल के) प्रति अधिक उत्तरदायी होते थे। केन्द्रीय सत्ता की दुर्बलता के कारण सामन्तों ने अपनी स्वाधीनता घोषित कर 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण कर ली। कन्नौज के हरिवर्मा मौखरी, मालवा के यशोधर्मन, सौराष्ट्र के पर्णदत्त, वल्लभी के मैत्रक आदि शासकों ने गुप्त साम्राज्य के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। अयोग्य गुप्त नरेश उन्हें पराजित करने का साहस नहीं बटोर पाये। फलतः विशाल गुप्त साम्राज्य विघटित होकर छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया।

5. **बाह्य आक्रमण**—गुप्त साम्राज्य के पतन में सर्वाधिक योग बाह्य आक्रमणों का रहा। कुमारगुप्त के शासनकाल में पुष्यमित्रों ने आक्रमण किया और स्कंदगुप्त के राज्यकाल में हूण गुप्त साम्राज्य पर टूट पड़े। इन दोनों आक्रमणों

को स्कंदगुप्त ने शौर्य और साहस का परिचय देते हुए निष्फल कर दिया। स्कंदगुप्त द्वारा पराजित हो जाने पर भी हूणों ने साहस नहीं खोया। उन्होंने वीर स्कंदगुप्त की मृत्यु के पश्चात् भी अपने सैनिक अभियान जारी रखे। तोरमाण और मिहिरकुल के नेतृत्व में उन्होंने गुप्त सम्राटों को सदैव आतंकित रखा। स्कंदगुप्त के उत्तराधिकारियों से हूणों ने अनेक प्रदेश विजित कर निरन्तर अपनी शक्ति में वृद्धि की। डॉ० त्रिपाठी का मत है कि गुप्त साम्राज्य का पराभव हूण आक्रमण के फलस्वरूप हुआ। इस संदर्भ में डॉ० स्मिथ का यह कथन उल्लेखनीय है—"बर्बर हूणों के आक्रमण पाँचवीं और छठी शताब्दी में राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से इतिहास की युगान्तरकारी घटनाएं हैं। उन्होंने गुप्त साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और नवीन राज्यों के उत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त किया।" किन्तु डॉ० मजूमदार का मत है कि हूणनेता तोरमाण और मिहिरकुल की सफलताएं अल्पजीवी थीं। वे हूणों के आक्रमणों को गुप्त साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी नहीं मानते। किन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि पुष्यमित्रों और हूणों के तीव्र आक्रमणों ने जन और धन के क्षेत्र में गुप्त साम्राज्य को भारी आघात पहुँचाया।

गुप्त नरेशों की दुर्बलता का लाभ उठाकर वाकाटक नरेश नरेन्द्रसेन ने गुप्तों से कुछ प्रदेश छीन लिए। डॉ० मजूमदार ने उसे बुधगुप्त का समकालीन बताया है। छठी शताब्दी की तृतीय दशाब्दी में मध्य भारत में यशोधर्मन नामक पराक्रमी नरेश का आविर्भाव हुआ। मन्दसौर स्तम्भलेख में यशोधर्मन के शौर्य, पराक्रम और साम्राज्य-विस्तार का उल्लेख मिलता है। उसने ब्रह्मपुत्र से लेकर महेन्द्रगिरि (उड़ीसा) तक और हिमालय से लेकर पश्चिमी समुद्र तट तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। साम्राज्य-विस्तार की लालसा के कारण गुप्त शासकों से भी उसका संघर्ष हुआ। गुप्त राजाओं को पराजित करके उसने अपने राज्य का विस्तार किया। डॉ० मजूमदार का कथन है कि गुप्त साम्राज्य का विनाश हूणों के आक्रमणों के फलस्वरूप नहीं, बल्कि यशोधर्मन जैसे सरदारों की महत्त्वाकांक्षा के कारण हुआ। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने यशोधर्मन के पूर्वी भारत के सामरिक अभियान को गुप्त साम्राज्य के पतन का तात्कालिक कारण बताया है।

6. **साम्राज्य की विशालता**—चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने बाहुबल से एक विशाल-साम्राज्य की नींव डाली। उनका साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक और पूर्व में असम व ब्रह्मपुत्र नदी से लेकर पश्चिम में अरब सागर तक विस्तृत था। स्कंदगुप्त ने अपनी सामरिक प्रतिभा का परिचय देते हुए इस विशाल साम्राज्य की रक्षा की। तत्पश्चात् कोई भी उत्तराधिकारी इतना योग्य सिद्ध नहीं हुआ, जो उस काल में आवागमन के साधनों के नितान्त अभाव में विशाल साम्राज्य को नियन्त्रित कर पाता। प्रारम्भ में जो विशाल गुप्त साम्राज्य उनके कुल के गौरव का प्रतीक था, बाद में योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में उसके पतन का कारण सिद्ध हुआ।

7. कूटनीतिक विफलताएं—प्राचीन काल में राजनीति में सफलता अर्जित करने के लिए विभिन्न राजवंशों अथवा शक्तियों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने आवश्यक थे। इन कूटनीतिक सम्बन्धों के अन्तर्गत वैवाहिक सम्बन्धों का सर्वाधिक महत्त्व होता था। इस नीति का अनुसरण करते हुए चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि-वंश की राजकुमारी कुमार देवी के साथ विवाह कर वैशाली राज्य को अपने राज्यांतर्गत कर लिया। समुद्रगुप्त ने कुषाणों, शकों और सिंहल नरेश के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर उनकी कन्याओं से विवाह किया। नाग राजवंश के साथ मित्रता के उद्देश्य से उसने अपने यशस्वी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय का विवाह नाग राजकुमारी कुबेर नागा के साथ सम्पन्न किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुबेर नागा से उत्पन्न पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ सम्पन्न कर वाकाटकों को अपना मित्र बना लिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कदम्ब नरेश के साथ भी मैत्रीपूर्ण और वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए।

बाद के गुप्त नरेशों में यह दूरदर्शिता नहीं थी। वे समकालीन राजवंशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं कर पाये। फलतः संकट की घड़ी में उनका कोई मित्र नहीं रहा।

8. आर्थिक दुर्बलता—साम्राज्यवादी नीति के कारण गुप्त-सम्राटों को निरन्तर संघर्षरत रहना पड़ा। निरन्तर युद्धों और विशाल साम्राज्य की रक्षा के भार ने राजकोष को रिक्त कर दिया, जिसके फलस्वरूप साम्राज्य में आर्थिक दुर्बलता का वातावरण आच्छादित हो गया। बाद में गुप्त शासकों को साम्राज्य की रक्षा हेतु विदेशी शक्तियों के साथ भी भयंकर संग्राम लड़ने पड़े। इससे गुप्त साम्राज्य की आर्थिक स्थिति और अधिक बिगड़ गई। पश्चिमोत्तर और पश्चिमी प्रदेश भी गुप्त शासकों के हाथ से निकल जाने के कारण विदेशों के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध समाप्त हो गये। स्कंदगुप्त के समय से ही आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई थीं। यही कारण था कि उसने विशुद्ध धातु के सिक्के प्रचलित न कर मिश्रित धातु के सिक्के चलाये। इस प्रकार आर्थिक दुर्बलता ने गुप्त-साम्राज्य को पतन के कगार पर पहुँचा दिया।

9. गुप्त सम्राटों की अहिंसात्मक नीति—प्रारम्भिक गुप्त सम्राट वैष्णव मतावलम्बी थे। किन्तु स्कन्दगुप्त के पश्चात् भागवत धर्म गुप्तों का राजधर्म नहीं रह गया था। स्कन्दगुप्त के बाद के गुप्त राजाओं ने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था। पुरु गुप्त बौद्ध पंडित वसुवन्धु से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने बौद्ध आचार्य को अपनी रानियों एवं युवराज बालादित्य का गुरु नियुक्त किया। गुरु वसुवन्धु के प्रभाव के कारण बालादित्य बौद्ध धर्म का संरक्षक बन गया था। बौद्ध धर्म के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही उसने अपनी माता के कहने पर बन्दी हूण आक्रांता मिहिरकुल को मुक्त कर दिया जिसने बाद में अपने आक्रमणों की विभीषिका से गुप्त साम्राज्य को सदैव आतंकित रखा। बुधगुप्त के समय बौद्ध धर्म ने राज धर्म का स्वरूप ग्रहण कर लिया था। बाद के गुप्त शासकों ने बौद्ध धर्म के अनुरूप अहिंसा की नीति का परि-

पालन किया जिससे सैनिक शक्ति का ह्रास होने लगा। डॉ० राय चौधरी ने भी गुप्त सम्राटों का बौद्ध धर्म की ओर झुकाव को गुप्त साम्राज्य के पतन का एक कारण बताया है। मात्र अहिंसा के सिद्धांत का अनुसरण करके हिंसक प्रवृत्तियों को नहीं रोका जा सकता।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि ढाई शताब्दियों तक गौरवपूर्ण शासन करने तथा राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में अनेक उपलब्धियाँ प्रदान करने के उपरांत शक्तिशाली गुप्त-साम्राज्य का पतन हो गया। स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त वंश के अनेक अयोग्य सम्राटों ने शासन किया, जो न आंतरिक संगठन को सुदृढ़ कर सके और न ही तत्कालीन राजवंशों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर पाये। वे बाह्य आक्रमणों से साम्राज्य की सुरक्षा भी नहीं कर पाये। आंतरिक कलह, निरन्तर युद्धों और बाह्य आक्रमणों की विभीषिका ने शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य की नींव हिला दी। केन्द्रीय शासन की दुर्बलता का लाभ उठा कर अनेक प्रांतपतियों और सामन्तों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। डॉ० मजूमदार और डॉ० अल्टेकर ने गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों का सामंजस्य मौर्य और मुगल साम्राज्य के पतन के कारणों से स्थापित करते हुए लिखा है—"गुप्त साम्राज्य के पतन में उन्हीं परिस्थितियों का योगदान रहा जो इसके पहले मौर्य साम्राज्य को तथा बाद में मुगल-साम्राज्य को धराशायी करने में सहायक रहीं।"[1] डॉ० मजूमदार द्वारा सम्पादित 'दि क्लासिकल एज' में उन्होंने गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए लिखा है—"वास्तव में विभिन्न दृष्टिकोणों से गुप्त-साम्राज्य का पतन मुगल-साम्राज्य के पतन से समता रखता है। दोनों की अवनति और पतन के मुख्य कारण राज परिवार के आंतरिक झगड़े और अधीन शासकों तथा प्रांतीय क्षत्रपों के विद्रोह थे। यद्यपि विदेशी आक्रमण भी प्रमुख सहायक कारण रहे।"[2] उत्थान और पतन तो प्रकृति का शाश्वत नियम है। उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचने के उपरांत गुप्त-

---

1. "The decline and downfall of the Gupta empire was brought about by the same causes which operated in the case of the Maurya empire in the older and the Mughal empire in later days."

—Dr. R. C. Majumdar and Dr. Altekar
Vakataka-Gupta Age

2. "Indeed, from various points of view the end of the Gupta empire offers a striking analogy to that of the Mughal empire. The decline and downfall of both were brought about mainly by internal dissensions in the royal family and the rebellion of feudal chiefs and provincial satraps, though foreign invasion was an important contributory factor."

—Dr. R. C. Majumdar
The Classical Age

साम्राज्य का पतन स्वाभाविक था। इतिहास हमें अनेक साम्राज्यों के उत्थान और पतन का बोध कराता है।

गुप्तकाल : भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग

महान् गुप्त सम्राटों का शासनकाल अपनी अनेक उपलब्धियों के कारण भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से बोधित है। जिस प्रकार स्वर्ण अपनी अनेक विशेषताओं के कारण धातुओं में श्रेष्ठ माना जाता है, उसी प्रकार राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में श्रेष्ठता अर्जित करने वाला काल 'स्वर्णयुग' कहलाता है। गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का 'स्वर्णयुग', 'क्लासिकल युग' और 'भारत का पेरीक्लीज युग' की संज्ञा दी गई है।

गुप्तकाल में अनेक पराक्रमी तथा प्रतिभासम्पन्न सम्राटों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को एकछत्र के नीचे संगठित कर एक विशाल और सुदृढ़ शासन की नींव डाली। चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त ऐसे योद्धा थे जिन्होंने आंतरिक संघर्ष तथा विदेशी आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा की। विदेशी आततायियों का मान मर्दन कर उन्होंने निजकुल गौरव की रक्षा की, उनके शासनकाल में साम्राज्य की चतुर्दिक उन्नति हुई। यही कारण है कि विश्व के श्रेष्ठतम युगों के साथ गुप्तकाल की तुलना की जाती है। डॉ० स्मिथ ने गुप्तकालीन चतुर्दिक प्रगति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"प्राचीन हिन्दू इतिहास में अन्य सभी युगों की तुलना में महान् गुप्त सम्राटों का युग सर्वाधिक अनुकूल तथा सन्तोषजनक युग है······इस युग में साहित्य, कला और विज्ञान की प्रगति असाधारण रूप से हुई और शनैः-शनैः होने वाले धार्मिक परिवर्तन बिना किसी धार्मिक अत्याचार के हुए।"[1] डॉ० एल० डी० बारनेट ने लिखा है—"गुप्तकाल भारत के शास्त्रीय युग के इतिहास में वही स्थान रखता है जो कि प्राचीन यूनान के इतिहास में पेरीक्लीन युग का है। इसमें राष्ट्रवाद की शक्तिशाली भावनाएँ उत्पन्न हुईं। साम्राज्य सुदृढ़ हुआ, एक अच्छी प्रशासनीय पद्धति की स्थापना की गई, साहित्य और कला के क्षेत्र में अद्वितीय प्रगति हुई और धार्मिक आन्दोलनों का पुनरुत्थान हुआ। यह युग सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति के प्रसार का युग था जिसके कारण वृहत्तर भारत का जन्म हुआ।"[2] डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने गुप्तकाल के सन्दर्भ में

---

1. The age of great Gupta kings presents a more agreeable and satisfactory picture than any other period in the history of Hindu India..... Literature, art and science flourished in a degree beyond ordinary and gradual changes in religion were effec'ed without persecution."

—*Dr. V. A. Smith*

2. "The Gupta age is in the annals of classical India what the Periclean age is in the history of ancient Greece. It witnessed the rise of strong feelings of nationalism, establishment and consolidation

अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"गुप्त सम्राटों का शासन-काल भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग कहा जाता है। इस काल में उनके उदात्त, मेधावी और शक्तिमान् राजाओं ने उत्तर भारत को एकछत्र के नीचे संगठित करने में योग दिया और शासन में सुव्यवस्था तथा देश में समृद्धि और शान्ति स्थापित की। देशी और विदेशी व्यापार इस राजकुल की रक्षा में फूला-फला और देश की सम्पत्ति अनेक गुना बढ़ी। यह स्वाभाविक ही था कि इस सुरक्षा और साम्पत्तिक समुन्नति की दशा में धर्म, साहित्य, कला तथा विज्ञान के क्षेत्र में सक्रियता बढ़े और उन्नति हो।" भारतीय इतिहास में गुप्तकाल राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से चरमोत्कर्ष का काल है। इसीलिए उसे भारतीय इतिहास में 'स्वर्णयुग' की संज्ञा दी गई है। प्रधानतः निम्नलिखित विशेषताओं के कारण गुप्तयुग को भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग कहा जाता है।

1. **राजनीतिक एकता और दृढ़ता**—मौर्य-सम्राट अशोक की मृत्यु के पश्चात् भारतवर्ष की राजनीतिक एकता विच्छिन्न हो गई। उत्तरी भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य अस्तित्व में आये। विदेशी आक्रांताओं ने कश्मीर, सिंध, पंजाब, मथुरा, मालवा तथा गुजरात को अधिकृत कर वहाँ अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इस प्रकार अशोक की मृत्यु से लेकर गुप्तों के आविर्भाव तक भारतवर्ष में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण व्याप्त रहा। महान् गुप्त सम्राटों ने इस दीर्घकालीन अराजकता को दूर करने का बीड़ा उठाया। गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित करते हुए अपने राज्य का विस्तार किया। समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों और कुषाणों को पराजित कर विदेशी राज्यों का उन्मूलन कर दिया। स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों और हूणों को पराजित करके अपने साम्राज्य की रक्षा की। गुप्त सम्राटों ने दिग्विजय का आदर्श प्रस्तुत करके उत्तरी भारत को एकछत्र के नीचे संगठित कर दिया और उसे सुदृढ़ शासन प्रदान किया। गुप्त सम्राटों द्वारा स्थापित राजनीतिक एकता पर प्रकाश डालते हुए डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—"गुप्त साम्राज्य बड़ा ही सुसंगठित राज्य था, जिसे अपनी छत्रछाया में भारत के बहुत बड़े भू-भाग पर राजनीतिक एकता स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने इतने बड़े क्षेत्र पर अपना प्रभाव स्थापित किया जो उससे भी बड़ा था, जिस पर प्रत्यक्ष रूप से उनका साम्राज्य और शासन स्थापित

---

of the empire, a sound administrative setup to maintain the splendid output in the field of literature, the revival of religious movements and the unparalleled outburst of artistic activity. It was an age of expansion of India. Culture in the Far East was resulted in what is known as Greater India."

—*Dr. L. D. Barnett*

था।"[1] डॉ० मुकर्जी ने गुप्तकालीन भौतिक और नैतिक उन्नति का श्रेय तत्कालीन सुव्यवस्थित राजनीतिक दशा को दिया है।[2]

2. **महान् सम्राटों का युग**—गुप्त वंश ने लगभग ढाई शताब्दी तक शासन किया। इस दीर्घकालीन अवधि में गुप्तवंश में अनेक प्रतापी सम्राट् हुए। चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त बहुमुखी प्रतिभासंपन्न थे जिन्हें सामरिक क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त थी। चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की। उसने लिच्छवि गणराज्य की राजकुमारी से विवाह करके उसे (राज्य को) अपने राज्य में विलीन कर लिया। समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की। उसने उत्तरी भारत को अपने नियन्त्रण में रखकर दक्षिणापथ के राजाओं को करद राजा बना डाला। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों और कुषाणों को पराजित कर उनके भावी आक्रमण की योजनाओं को समाप्त कर दिया। उसने गुप्त साम्राज्य के पश्चिमोत्तर भाग में विद्यमान गणराज्यों का उन्मूलन करके उन्हें अपने राज्य में विलीन कर लिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता की भाँति साम्राज्यवादी नीति का परिचय देते हुए विशाल साम्राज्य की स्थापना कर डाली। वीर स्कन्दगुप्त ने युवराज के रूप में पुष्यमित्रों और सम्राट् के रूप में हूणों की शक्तिशाली सेनाओं को पराजित किया। हूणों के साथ उसका इतना घमासान संग्राम हुआ कि उसकी भुजाओं के प्रताप से पृथ्वी कंपित हो उठी। दुर्धर्ष योद्धा और नीतिकुशल होने के साथ-साथ गुप्त सम्राट् सांस्कृतिक क्षेत्र में भी तीव्र अभिरुचि रखते थे। समुद्रगुप्त स्वयं कवि और संगीत-प्रेमी था। चन्द्रगुप्त द्वितीय का दरबार नौ रत्नों से सुशोभित था। उसके दरबार के कवि कालिदास को डॉ० मजूमदार ने भारतीय काव्य शैली का सर्वोच्च पंडित कहा है। महान् सम्राटों का युग होने के कारण गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाता है।

3. **शान्ति और सुव्यवस्था का युग**—गुप्त सम्राटों ने विशाल साम्राज्य की स्थापना कर उसे सुसंगठित किया। फलतः देश में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना हुई। देश में सर्वत्र शांति विद्यमान थी। जनसाधारण को व्यापक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। फाह्यान ने लिखा है कि 'प्रजा समृद्ध तथा सुखी है।' गुप्त सम्राटों का दण्ड-विधान उदार था। आंतरिक शांति और सुव्यवस्था ने साम्राज्य की चतुर्दिक् प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। गुप्तकालीन शांति और सुव्यवस्था का वर्णन करते हुए महा-

---

1. 'The Gupta empire was a well organised state which achieved the political unification of a large part of India under the umbrella of its paramount sovereignty, establishing a share of influence which was much wider than that of its direct dominion and administration."

—Dr. R. K. Mookerjee

2. "Much of the material and moral progress of the country was ultimately the outcome of its established political conditions."

—Dr. R. K. Mookerjee

कवि कालिदास ने लिखा है—"इनके शासन काल में विहार के लिए उपवनों में जाने वाली सुन्दरियों के सो जाने पर वायु तक उनके वस्त्रों को स्पर्श नहीं कर सकता था। भला उनके आभूषणों को चुराने का साहस किसमें था ?"

4. **कुशल प्रशासन और जनकल्याणकारी कार्य**—गुप्त सम्राट् कुशल प्रशासक थे। उन्होंने ऐसी शासन-प्रणाली की स्थापना की जो तत्कालीन राजवंशों और बाद के राजाओं के लिए अनुकरणीय बन गई। प्रशासन की सुविधा से गुप्त शासन-प्रबन्ध केन्द्रीय, प्रांतीय, जिला, नगर तथा ग्राम की इकाइयों में विभक्त था। प्रत्येक इकाई का शासन सुव्यवस्थित और सुसंगठित था। गुप्त शासन के सिद्धांत लोकहित पर आधारित थे। दण्ड-विधान उदार होने पर भी अपराधों की संख्या बहुत कम थी। डॉ० अल्टेकर ने गुप्तकालीन शासन-प्रणाली को श्रेष्ठ बताते हुए लिखा है—"गुप्त प्रशासन समग्र दृष्टि से केन्द्र तथा राज्यों में सुसंगठित था।"[1]

गुप्त सम्राटों ने जन-कल्याणकारी राज्य की नींव डाली। दैवी अधिकारों से युक्त और राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होने पर भी वे निरंकुश नहीं थे। उन्होंने सदैव जनहित के कार्य सम्पादित किये। राज्य की ओर से दान वितरित करने की व्यवस्था थी और दीन-दुखियों और रोगियों की सहायता हेतु उचित प्रबन्ध था। सिंचाई और यातायात के साधनों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था।

5. **नैतिकता, समृद्धि और सम्पन्नता**—गुप्तकालीन प्रजा का जीवन नैतिकता की दृष्टि से श्रेष्ठ था। उसमें सदाचारिता, पवित्रता, सात्विकता, ईमानदारी, उदारता, शिष्टता, सत्यवादिता, अतिथि-सत्कार आदि की भावनाएँ व्याप्त थीं। लोगों का चरित्र उच्चकोटि का था। लोग प्याज, लहसुन, माँस और मदिरा का प्रयोग नहीं करते थे। इनका प्रयोग निम्न वर्ण के लोगों तक सीमित था। लोग ईमानदार थे और छल-कपट से दूर रहते थे। गुप्त सम्राटों ने अपनी प्रजा की नैतिक उन्नति की ओर भी ध्यान दिया। लोग दानशील और धर्मपरायण थे।

महान् गुप्त सम्राटों का काल समृद्धि और सम्पन्नता से पूर्ण था। कृषि जनसाधारण का प्रमुख व्यवसाय था। उसकी उन्नति के लिए राज्य की ओर से सिंचाई की व्यवस्था थी। धान व ईख की खेती मुख्य रूप से की जाती थी। कृषि के अतिरिक्त लोग व्यापार भी करते थे। पाटलिपुत्र, वैशाली, उज्जैनी, दशपुर, भड़ौच आदि गुप्तकाल के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे। पश्चिमी प्रदेशों पर अधिकार हो जाने के फलस्वरूप विदेशों के साथ उन्होंने व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये। अरब, मिस्र, फारस, चीन और रोम के साथ भारत का व्यापार उच्च स्तर पर होने लगा। फलतः आर्थिक समृद्धि में वृद्धि हुई। गुप्तकाल में भारतीयों द्वारा अन्य देशों के साथ स्थापित व्यापारिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में कला मर्मज्ञ डॉ० कुमार स्वामी का यह कथन

---

1. "The Gupta administration was on the whole well-organised, both at the Centre and the provinces."

—*Dr. Altekar*

उल्लेखनीय है—"गुप्तकाल भारतीय पोत निर्माण का महत्तम युग था, जबकि पेगु, कंबोडिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो में भारतीयों ने उपनिवेश स्थापित किये तथा चीन, अरब और फारस के साथ उनका व्यापारिक सम्बन्ध था।"

6. **साहित्यिक, कलात्मक और वैज्ञानिक उन्नति**—गुप्तकाल में साहित्यिक क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्त सम्राटों ने संस्कृत भाषा को राजसभा के रूप में सम्मान देकर उसके विकास में भारी योग दिया। उन्होंने अभिलेखों और मुद्राओं में संस्कृत भाषा में लेख अंकित करवाये। गुप्त राज सभा में कवियों, लेखकों, नाटककारों और दार्शनिकों का जमघट लगा रहता था। भास, कालिदास, भारवि, शूद्रक, विशाखदत्त, वसुबन्धु, दण्डिन, हरिषेण, वराहमिहिर आदि गुप्तकाल के प्रमुख विद्वान् थे जिन्होंने संस्कृत भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की। गुप्तकाल में संस्कृत साहित्य की वह धारा प्रवाहित हुई जिसका स्रोत आज तक नहीं सूखा है। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी इस काल में उन्नति हुई। पक्षिल स्वामिन, वात्स्यायन तथा दिङ्नाग इस युग के प्रमुख दार्शनिक थे।

गुप्तकाल में कला के सभी क्षेत्रों में भारी विकास हुआ। यह काल भारतीय कला का स्वर्णयुग माना जाता है। गुप्तकाल में निर्मित कलाकृतियाँ भारतीय कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। इस काल में वास्तुकला, शिल्पकला, मूर्तिकला, चित्रकला, वाद्यकला, संगीत, नृत्य, अभिनय आदि सभी कलाओं में भारी प्रगति हुई। कानपुर के समीप भीतरी गाँव का मन्दिर, झाँसी के समीप देवगढ़ का मन्दिर, अजन्ता और बाघ की चित्रकला, भूमरा तथा नचना के शिव-पार्वती मन्दिर, सारनाथ और मथुरा की बुद्ध व विष्णु प्रतिमाएँ गुप्तकालीन कला का प्रतिनिधित्व करती हैं। सरलता, स्वाभाविकता, प्रभावोत्पादकता, सजीवता और विदेशी प्रभाव से मुक्ति गुप्तकालीन कला की विशेषताएँ हैं।

साहित्यिक और कलात्मक विकास के साथ गुप्तकाल वैज्ञानिक प्रगति के क्षेत्र में भी पीछे नहीं रहा। इस काल में ज्योतिष, गणित, रसायन विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, नक्षत्र शास्त्र आदि के क्षेत्र में भारी प्रगति हुई। गुप्तकाल में आर्यभट्ट जैसे गणितज्ञ, वराहमिहिर जैसे वैज्ञानिक, चरक और सुश्रुत जैसे चिकित्सक तथा आयुर्वेदाचार्य हुए। सर्वप्रथम आर्यभट्ट ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है और पृथ्वी तथा सूर्य के मध्य चन्द्रमा के आ जाने से ग्रहण होता है। दशमलव प्रणाली का आविष्कार इसी युग में हुआ।

7. **हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार और धार्मिक सहिष्णुता**—प्रारम्भिक गुप्त सम्राट् वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। उनके शासनकाल में संस्कृत भाषा, अश्वमेध यज्ञ, कर्मकांड, वर्णाश्रम धर्म आदि का खूब प्रचार हुआ। विष्णु और शिव की अनेक प्रतिमाएँ तथा मन्दिर निर्मित करवाये गये। उनके उदार संरक्षण में वैदिक धर्म अनेक देशों में फैल गया।

वैष्णव धर्मानुयायी होने के बावजूद गुप्त सम्राट् धार्मिक सहिष्णु थे। उन्होंने बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायियों को राज-दरबार में ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित

किया। बाद के गुप्त सम्राट बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ गये थे। डॉ० स्मिथ ने गुप्त सम्राटों की धार्मिक सहिष्णुता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"यद्यपि गुप्त सम्राट् ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, परन्तु प्राचीन भारत की परम्परा के अनुकूल वे सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे।"[1]

8. **विदेशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार**—प्रतापी गुप्त सम्राटों ने निरन्तर विजयें कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उन्होंने पूर्वी एशिया और पूर्वी द्वीप समूहों में अनेक उपनिवेश स्थापित किये। भारत के अनेक धर्म प्रचारकों ने बालि, जावा, सुमात्रा, मलाया, बोर्नियो, चम्पा, कम्बोडिया, इण्डो-चीन आदि में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया। इन द्वीपों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति फूली-फली। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल में चीनी बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अध्ययन हेतु भारत आये और गुप्तकाल में अनेक भारतीय धर्म प्रचारक चीन गये। इस प्रकार तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया आदि देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ जिसके फलस्वरूप 'बृहत्तर भारत' का जन्म हुआ। डॉ० एल० डी० बार्नेट ने लिखा है—"यह युग सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति के प्रसार का युग था जिसके कारण बृहत्तर भारत का जन्म हुआ।"

इस प्रकार विदित होता है कि गुप्तकाल राजनीतिक स्थिरता, सामाजिक संगठन, आर्थिक समृद्धि, सहिष्णुता, साहित्यिक प्रगति, वैज्ञानिक उन्नति तथा कला के विकास का युग था। अतः उसे निस्सन्देह भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में अरविन्द का यह मत उल्लेखनीय है कि भारत ने अपने इतिहास में कभी भी अपनी जीवन शक्ति को इतनी दिशाओं में इस प्रकार प्रस्फुटित होते हुए नहीं देखा जैसा कि गुप्तयुग में देखा गया।

विश्व के अन्य युगों से गुप्तकाल की तुलना

राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में उन्नति का चरमोत्कर्ष का युग होने के कारण कुछ विद्वानों ने गुप्तकाल की तुलना यूनान (ग्रीस देश) के पेरीक्लीज-युग तथा रोम के एण्टोनाइंस-युग से की है। गुप्तकालीन साहित्यिक प्रगति से प्रभावित होकर स्मिथ महोदय ने उसकी तुलना इंगलैंड के एलिजाबेथ और स्टुअर्ट काल से की है।

गुप्तकाल की पेरीक्लीज-युग से तुलना—कुछ विद्वानों ने गुप्तकाल की तुलना ग्रीक इतिहास के स्वर्णयुग 'पेरीक्लीज-युग' से की है। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में ग्रीक देश से पेरीक्लीज नामक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ने अपनी योग्यता और दूरदर्शिता का परिचय देते हुए एक आदर्श शासन-प्रणाली की नींव डाली। उसके शासनकाल

---

1. "The Gupta kings, although officially Brahmanical Hindus with a special devotion to Vishnu, followed the usual practice of ancient India in looking with a favourable eye on all varieties of Indian religion."

—V. A. Smith

में साहित्य और कला के क्षेत्र में राज्य की उन्नति पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। फलतः एथेंस नगर ग्रीक सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र बन गया था। इसलिए उसका काल ग्रीक इतिहास में 'स्वर्णयुग' के नाम से प्रसिद्ध हैं। डॉ० बार्नेट का कथन है—"प्राचीन भारत के इतिहास में गुप्तकाल का वही महत्त्व है जो यूनान के इतिहास में पेरीक्लीयन युग का है।"

कुछ विद्वान पेरीक्लीज के युग से गुप्तकाल की तुलना करते हैं। किन्तु यह तुलना उपयुक्त नहीं है। उस काल में यूनानी-राज्य छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों (सिटी-स्टेट्स) में विभक्त था। प्रत्येक राज्य की जनसंख्या इतनी भी नहीं थी जितनी कि गुप्त-साम्राज्य के किसी एक भाग की। कम जनसंख्या के ऊपर शासन-संचालन और शांति-स्थापना का कार्य अधिक जनसंख्या की अपेक्षा सरल होता है। गुप्तों ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। इतने विशाल साम्राज्य में शासन का सुसंचालन और शाँति-स्थापना का कार्य राजा की व्यक्तिगत योग्यता और दूरदर्शिता पर निर्भर था। पेरीक्लीज के राज्य में एक ऐसा दास वर्ण था जो नागरिक और राजनीतिक अधिकारों से सर्वथा वंचित था। वे दासता और गुलामी का घृणित जीवन व्यतीत करते थे। गुप्तों के शासनकाल में समाज के एक वर्ग-विशेष के साथ इस प्रकार का भेदभाव और अत्याचार नहीं किया जाता था। पेरीक्लीज ने जिस राज्य की नींव डाली, वह दुर्बल और अत्यल्प सिद्ध हुआ। उसके मरते ही उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। किन्तु गुप्त सम्राटों ने जिस साम्राज्य की आधार-शिला रखी, वह दीर्घकालीन सिद्ध हुआ और ढाई शताब्दियों तक शासन करता रहा। कवियों, लेखकों और दार्शनिकों का जो त्रिवेणी संगम गुप्तकाल में दृष्टिगोचर होता था, ऐसा पेरीक्लीज के काल में न था। गुप्तकालीन दासों की स्थिति पेरीक्लीज काल के दासों से कहीं अधिक बेहतर थी। विद्वानों का मत है कि भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग (गुप्तकाल) यूनानी इतिहास के स्वर्ण युग (पेरीक्लीज) से हृदय की विशालता, समाज में व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता तथा विशाल साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधने आदि दृष्टियों से श्रेष्ठ था। अतः गुप्तकाल की पेरीक्लीज युग से तुलना उपयुक्त नहीं हैं। प्रत्येक दृष्टि से गुप्तकाल पेरीक्लीज युग से श्रेष्ठ था।

गुप्तकाल की एंटोनाइंस युग से तुलना—रोम-साम्राज्य के इतिहास में एंटोनाइंस राजाओं का शासनकाल सन् 96 से 192 ई० तक अपनी उत्कृष्टता के कारण स्वर्णयुग के नाम से जाना जाता है। इस काल में पाँच योग्य और प्रजावत्सल शासकों ने राज्य किया।

कुछ विद्वानों ने गुप्तकाल की तुलना रोम के स्वर्णयुग 'एंटोनाइंस युग' से की है। किन्तु गुप्त युग की तुलना एंटोनाइंस युग से करना उचित प्रतीत नहीं होता। एंटोनाइंस राजाओं के शासनकाल में प्रजा सुखी नहीं थी। उनके शासनकाल में समाज प्लीबियन लोगों, जो दास थे, के ऊपर अनेक अत्याचार ढाये जाते थे और वे नागरिक अधिकारों से भी वंचित थे। एंटोनाइंस काल में धार्मिक सहिष्णुता का अभाव था। उस काल में ईसाइयों के ऊपर अनेक अत्याचार किये गये। किन्तु गुप्तकाल में

समाज के किसी वर्ग-विशेष के ऊपर अत्याचारों का विवरण नहीं मिलता । गुप्त सम्राटों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना व्याप्त थी । वैष्णव धर्म के अनुयाई बौद्ध और जैन मतावलंबियों के प्रति समानता का दृष्टिकोण रखते थे । वे सभी धर्म के अनुयाइयों का सम्मान करते थे ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि गुप्तकाल में भारत सर्वांगीण विकास हुआ । राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में जो अभूत-पूर्व उन्नति गुप्तकाल में हुई, वह भारतीय इतिहास में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती । गुप्तकाल पेरीक्लीज युग और एंटोनाइंस काल से अधिक श्रेष्ठ था । सभी क्षेत्रों में चरमोत्कर्ष का काल होने के कारण गुप्तकाल विश्व के इतिहास में अपना सानी नहीं रखता ।

गुप्त शासन प्रबन्ध

शक्तिशाली गुप्त सम्रटों ने लगभग ढाई शताब्दियों तक शासन किया । उनका काल जहाँ एक ओर अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए प्रसिद्ध है, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक स्थिरता, सुविस्तृत साम्राज्य और सुसंगठित शासन-प्रबन्ध के लिए भी भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है । गुप्त शासन राजतन्त्रात्मक शासन-पद्धति पर आधारित था और उत्तराधिकार का नियम वंशानुगत था । तत्कालीन गणराज्यों का उन्मूलन करके अपनी साम्राज्यवादी नीति के अनुरूप उन्होंने उन्हें अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया । विशाल साम्राज्य होने पर भी गुप्त शासन सुव्यवस्थित और सुसंगिठत था । डॉ० अल्टेकर ने गुप्त शासन प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"गुप्तकालीन शासन प्रणाली तथा उसकी उपलब्धियों के सम्बन्ध में हमें विस्तृत जानकारी प्राप्त है और हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वह केन्द्रीय एवं प्रान्तीय दोनों रूप में सुसंगठित थी ।"[1] चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल में चीनी यात्री फाहियान धार्मिक दृष्टिकोण से भारत भ्रमण पर आया था । उसके यात्रा वृत्तांत से गुप्तकालीन शासन व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है । उसने लिखा है कि गुप्तकालीन शासन उच्चकोटि का होने के कारण प्रजा सुखी और संपन्न थी । वह लिखता है—"प्रजा समृद्ध और सुखी है, व्यवहार में लिखा-पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है । वे राजा की भूमि जोतते हैं और उसका अंशमात्र कर के रूप में देते हैं । जहाँ चाहे जायें, जहाँ चाहे रहें । राजा न तो प्राण दण्ड देता है और न शारीरिक दण्ड दिया जाता है । बार-बार दस्यु कर्म करने पर दाहिना हाथ काट दिया जाता है । राजा के प्रतिहार और सहचर वेतनभोगी हैं ।" फाहियान के विवरण से ज्ञात

1. "We possess fairly detailed information about the Gupta government and its achievement and it can well be concluded that it was very well organised both at the Centre and in provinces."
— *Dr. Altekar*

होता है कि प्रजा सुखी और समृद्ध थी। दण्ड-विधान कठोर नहीं था। जनसाधारण को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

गुप्त सम्राटों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने शासन काल में एक विस्तृत साम्राज्य को सुसंगठित रखा। अपने चरमोत्कर्ष के समय गुप्त साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विंध्याचल पर्वत तक तथा पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में सौराष्ट्र तक विस्तृत था। पाटलिपुत्र को विशाल गुप्त साम्राज्य की राजधानी होने का गौरव प्राप्त था। तत्कालीन अभिलेखों; मुद्राओं और साहित्यिक ग्रन्थों से गुप्त शासन-व्यवस्था पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। शासन की सुविधा के लिए गुप्त शासन-प्रबन्ध केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय शासन प्रणाली में विभक्त था।

केन्द्रीय शासन

गुप्त साम्राज्य में गणतन्त्र और राजतन्त्र शासन प्रणाली का प्रचलन था। गुप्त राजाओं के अधीन राजा, महाराजा, सामन्त और गणराज्यों के प्रधान स्वतन्त्र शासक के रूप में शासनतन्त्र संचालित करते थे। उनके प्रत्यक्ष अधिकार-क्षेत्र में शासन-व्यवस्था का आधार राजतन्त्रात्मक था।

सम्राट्—सम्राट् राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। वह न्याय, सेना और शासन तीनों का प्रधान होता था। वह स्वयं सैनिकों की भर्ती करता था और बड़े युद्धों में सेना का नेतृत्व भी करता था। दक्षिणापथ के सामरिक अभियान में समुद्रगुप्त ने स्वयं अपनी सेना का नेतृत्व किया था। पश्चिम में शकों का उन्मूलन करने के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने सैन्य दल के साथ गया। पुष्यमित्रों के भीषण आक्रमण का युवराज स्कन्दगुप्त ने दृढ़तापूर्वक सामना किया। अपनी दो भुजाओं पर विश्वास करने वाले स्कन्दगुप्त के समक्ष उन्हें नतमस्तक होना पड़ा। हूणों के तीव्र आक्रमण को स्कन्दगुप्त ने विफल कर दिया। प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर अधिकारियों की नियुक्ति सम्राट् द्वारा की जाती थी जो सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होते थे। गुप्तकाल में राजा के दैवी अधिकारों को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। उसे देवता के तुल्य समझा जाता था। राजकवि हरिषेण ने प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को पृथ्वी पर निवास करने वाला देवता कहा है। यद्यपि राजा को दैवी अधिकार प्राप्त थे, किन्तु वह स्वेच्छाचारी होकर निरंकुश शासनतन्त्र स्थापित नहीं कर सकता था। उसे पुरातन हिंदू धर्म-ग्रन्थों के अनुरूप शासन करना पड़ता था। राज्य की सम्पूर्ण भूमि पर राजा का अधिकार माना जाता था और वह उसे किसी को भी दे सकता था। गुप्तयुग में रानियों को भी बहुत महत्व दिया जाता था। उन्हें सम्मान के निमित्त 'परमभट्टारिका' तथा 'परमभट्टारिकाराज्ञी महादेवी' की संज्ञा दी गई है। चन्द्रगुप्त प्रथम की रानी कुमारदेवी ने अपने पति के साथ मिलकर प्रशासकीय कार्यों में भाग लिया था। गुप्त राजकुमारी प्रभावती गुप्ता ने अपने पति के निधन के पश्चात् अवयस्क पुत्र की संरक्षिका के रूप में वाकाटक-शासन का बड़ी योग्यता के साथ संचालन किया। शासन-संचालन में राजा की सहायता के लिए एक परिषद्

होती थी, जिसे 'सम्राट्-परिषद्' कहा जाता था। इस परिषद् में राजकुमार, सामन्त और उच्च अधिकारी होते थे। राज्य-संचालन में राजा उनसे परामर्श लिया करता था। अपनी महत्ता के अनुरूप गुप्त शासकों ने 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर,' 'एकाधिराज', 'चक्रवर्ती', 'पृथ्वीपाल', 'परम भागवत', 'विक्रमादित्य' आदि उपाधियाँ धारण की थीं।

सामन्त—गुप्तकाल में सामन्तीय शासन-पद्धति का उल्लेख मिलता है। गुप्त सम्राटों के अधीन अनेक छोटे-छोटे सामन्त शासन करते थे। वे नाममात्र के लिए अधीन थे। सामन्त 'महाराजा' की उपाधि धारण करते थे। वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने शासन का संचालन करते थे। अनेक अवसरों पर वे विभिन्न भेंटें व उपहारादि देकर राजा के प्रति अपना भक्ति भाव प्रकट करते थे। अभिलेखों में गुप्त सम्राटों के अनेक सामन्तों का उल्लेख मिलता है, जिनमें पूर्वी मालवा का समकानीक, बुन्देल खण्ड का परिव्राजक तथा उच्चकल्प वंश के शासकों का नाम उल्लेखनीय है।

राजकुमार—गुप्तकाल में राजकुमारों को प्रशासकीय शिक्षा प्रदान कर राज्य के उच्च पदों पर प्रतिष्ठित किया जाता था। उन्हें प्रान्त के राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाता था। सम्राट् के ज्येष्ठ पुत्र को 'युवराज भट्टारक' तथा अन्य पुत्रों को 'युवराज' कहा जाता था। राजकुमार महत्वपूर्ण प्रशासकीय पदों पर प्रतिष्ठित होकर शासन के सुसंचालन में राजा का हाथ बंटाते थे। युवराज के रूप में स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों को पराजित किया।

उत्तराधिकार की परम्परा वंशानुगत थी। शासनाधिकारी ज्येष्ठ पुत्र न होकर सर्वाधिक योग्य पुत्र होता था। चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने बड़े पुत्रों को छोड़कर सर्वाधिक महत्वाकांक्षी और योग्य पुत्र समुद्रगुप्त को एक राज सभा आयोजित कर राज्याधिकारी घोषित किया। इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के बाद उसका छोटा पुत्र स्कन्दगुप्त राजगद्दी पर बैठा।

मन्त्रि-परिषद—गुप्तकाल में प्रशासकीय कार्यों में राजा की सहायता हेतु मंत्रि-परिषद् का गठन किया गया था। मंत्रियों का पद प्रायः पैतृक होता था। मंत्रि-परिषद् के सदस्य शासन-सम्बन्धी कार्यों में राजा को सलाह दिया करते थे। किन्तु यह राजा की इच्छा पर था कि वह मन्त्रि-परिषद् की सलाह माने अथवा नहीं। मंत्रि-परिषद् की कार्यवाही गोपनीय रखी जाती थी। मन्त्रियों की नियुक्ति सैनिक योग्यता पर की जाती थी। समुद्रगुप्त का मन्त्री हरिषेण और चन्द्रगुप्त द्वितीय का युद्ध सचिव वीरसेन उच्च कोटि के सेनानायक भी थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जब पश्चिम में शकों का दमन करने के लिए गया तो उसका सन्धि विग्रहिक वीरसेनशाव भी उसके साथ गया था। करमदण्डा लेख से ज्ञात होता है कि वीरसेन और पृथ्वीषेण को मन्त्रि-पद आनुवंशिक रूप से प्राप्त हुए थे। मन्त्रियों में प्रतिहार, महाप्रतिहार, महाबलाधिकृत, महादण्डनायक, महासंधिविग्रहिक, अक्षपटालधिकृत आदि का उल्लेख मिलता

है। महाकवि कालिदास ने विदेश, वित्त और न्याय सम्बन्धी मन्त्रियों का भी उल्लेख किया है। गुप्तकाल में कुमारामात्य नामक उच्च अधिकारियों का भी एक वर्ग था। डॉ० अल्तेकर ने उन्हें आधुनिक आई० ए० एस० अधिकारियों के समान बताया है। राज्य के अन्य कर्मचारियों का विवरण इस प्रकार है—भांडागाराधिकृत (कोषाध्यक्ष), धुव्राणिकर (भूमि कर वसूल करने वाला), शाल्किक (कर वसूलने वाला), गौल्मिक (वनों का अध्यक्ष), पुस्तपाल (महाक्षपटलिक का सहायक), महाक्षपटलिक (लेखा विभाग का प्रधान अधिकारी), अग्रहारिक (दान विभाग का अध्यक्ष), गोप (गाँवों के आय-व्यय का हिसाब रखने वाला), महाप्रतिहार (अन्तःपुर का अधिकारी), करणिक (सरकारी कार्यालय का प्रधान), महासेनापति, राजामात्य, महासामन्त, दण्डनायक आदि।

गुप्त शासन प्रणाली में नौकरशाही का विशेष स्थान था। इस सन्दर्भ में डॉ० यू० एन० घोषाल ने लिखा है—"गुप्त सम्राटों ने परम्परागत नौकरशाही शासन व्यवस्था को स्थापित किया जिसमें पदाधिकारियों के पद परम्परागत आधार पर अथवा कुछ बदलकर ग्रहण किये गये थे।[1] फाह्यान ने लिखा है कि राजकर्मचारियों को वेतन दिया जाता था।

न्याय एवं दण्ड विधान—गुप्तकाल में न्याय की समुचित व्यवस्था थी। राजा राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। उसका निर्णय अन्तिम माना जाता था। सम्राट के अतिरिक्त न्याय सम्बन्धी कार्यों के लिए अनेक न्यायाधीश होते थे। गांवों में ग्राम पंचायतें न्याय सम्बन्धी कार्य भी सम्पन्न करती थीं। गुप्त अभिलेखों में महादण्डनायक, दण्डनायक, सर्वदण्डनायक आदि का उल्लेख मिलता है। धर्मशास्त्रों और साक्षी के आधार पर भी निर्णय दिये जाते थे।

गुप्तकाल में दण्ड-विधान अधिक कठोर नहीं था। अपराध के अनुसार अर्थदण्ड का विधान था। बार-बार अपराध करने पर अभियुक्त का दाहिना हाथ काट लिया जाता था। जघन्य अपराध करने पर भी ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाता था। फाह्यान ने गुप्तकालीन विनम्र दंड विधान पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"राजा प्राण दंड और शारीरिक दंड नहीं देता था। अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार अर्थ दंड दिया जाता था।" अनेक बार अपराध करने पर दाहिना हाथ काट दिया जाता था। बिना कठोर दंड विधान के विशाल साम्राज्य का शासन-संचालन कठिन कार्य होता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि गुप्तों का दंड-विधान फाह्यान के कथन की अपेक्षा कठोर था। उनका मत है कि गुप्तकाल में मृत्यु-दंड का विधान था। विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस' में गुप्तकाल में फाँसी

1. The imperial Guptas continued that traditional machinery of bureaucratic administration with nomenclature mostly borrowed or adopted from earlier times."

—*Dr. U. N. Ghoshal*

दिये जाने का उल्लेख मिलता है। हाथी से कुचलवा कर भी मृत्यु-दंड दिया जाता था। व्यक्ति को दोषी अथवा निर्दोष सिद्ध करने के लिए पानी, आग, तौल और जहर से उसकी परीक्षा ली जाती थी। आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था के लिए पुलिस विभाग की स्थापना की गई थी। पुलिस विभाग के सर्वोच्च अधिकारी को दंड-पाशाधिकरण कहते थे। उसके अधीन दंडपाशिक अधिकारी होते थे।

सैन्य-संगठन—गुप्त सम्राटों ने शक्तिशाली सेना के बल पर ही एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। अतएव वे सेना के महत्व को समझते थे। उनकी सेनाओं ने शकों, दक्षिणापथ के राजाओं, पुष्यमित्रों और वर्बर हूणों को पराजित किया था। राजा सेना का सबसे बड़ा अधिकारी होता था तथा बड़े युद्धों में वह स्वयं सेना का नेतृत्व करता था। सबसे बड़े सैन्य अधिकारी को महासेनापति कहा जाता था। उसके अतिरिक्त महादंडनायक, रणभांडागारिक, महाबलाधिकृत आदि सैनिक अफसर थे। सैनिक को 'चाट' और सैनिक टुकड़ी को 'चमू' कहते थे। प्रयाग-प्रशस्ति में सेना के अनेक अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख है। गुप्त सेना चार भागों में विभक्त थी—पैदल सेना, अश्वसेना, गजसेना और रथ सेना। 'अश्व सेना' के प्रधान को भटाश्वपति तथा गज सेना के प्रमुख को 'महापीलुपति' कहते थे। सैन्य-विभाग के मुख्य अधिकारी को सन्धिविग्रहिक कहा जाता था।

आय-व्यय के साधन—गुप्त अभिलेखों से तत्कालीन आय-व्यय के साधनों पर प्रकाश पड़ता है। राज्य का सम्पूर्ण भू-भाग का स्वामी राजा माना जाता था। राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि कर था। उपज का 6 भाग भू-कर के रूप में वसूल किया जाता था जिसे 'उद्रंग' तथा 'उपरिकर' कहा जाता था। राज्य की ओर से कुछ नियमित कर भी लगाये गये। जंगलों, खानों, अर्थदंड, धान्य, हिरण्य, अदेय, भूतो, विष्ठी आदि करों एवं सामन्तों के उपहारादि से राज्य को आय प्राप्त होती थी। गुप्त अभिलेखों में अठारह प्रकार के राजकीय करों का उल्लेख मिलता है। वेगार भी ली जाती थी। शासन से प्राप्त आय को राज्य-प्रबन्ध, सार्वजनिक कार्यों, कृषि कार्यों और राजकीय कर्मचारियों को वेतन देने पर व्यय किया जाता था। राज्य में सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। स्कन्दगुप्त के काल में सुदर्शन झील के बांध का पुर्ननिर्माण हुआ था।

प्रान्तीय शासन—गुप्तों ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। प्रशासन के सुसंचालन के लिए उनका साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था, जिन्हें भुक्ति, देश, भोग, आदि कहा जाता था। भुक्ति (प्रान्त) का प्रधान 'उपरिक' कहा जाता था। इस पद पर प्रायः राजकुमारों को नियुक्त किया जाता था। उसे अनेक अधिकार प्राप्त होते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का पुत्र गोविन्दगुप्त तीर-भुक्ति का तथा कुमारगुप्त का पुत्र घटोत्कच गुप्त पूर्वी मालवा का राज्यपाल था। स्कन्दगुप्त ने अपने शासनकाल में एक अन्य योग्य व्यक्ति पर्णदत्त को सौराष्ट्र का गवर्नर नियुक्त किया।

जिला-प्रशासन—प्रत्येक भुक्ति (प्रान्त) कई जिलों में विभक्त था। जिले को 'विषय' और उसके प्रशासक को 'विषयपति' कहते थे। उसकी नियुक्ति सम्बन्धित भुक्ति के 'उपरिक' अथवा कभी राजा द्वारा भी की जाती थी। उस काल के पंचनगर, कोटि-वर्ष, वैशाली आदि विषयों के नाम मिलते हैं। 'विषय' के प्रशासन को संचालित करने के लिए विषयपति के सहायतार्थ नगर श्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथम-कुलिक, प्रथम कायस्थ आदि सदस्यों की एक समिति थी।

नगर-प्रशासन—नगर के प्रमुख को 'पुरपाल' या 'नगर-रक्षक' कहा जाता था। नगर का प्रशासन एक 'परिषद्' द्वारा संचालित होता था, जो आधुनिक नगर-पालिका के समान थी। विभिन्न नगरों के प्रमुखों के अध्यक्ष को 'पुरपाल उपरिक' कहा जाता था।

ग्राम-प्रशासन—प्रत्येक 'विषय' कई ग्रामों में विभक्त था। ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। ग्राम का प्रमुख 'ग्रामिक' कहलाता था। गाँव का प्रबन्ध पंचायत करती थी जो अपने कार्य में स्वतन्त्र होती थी। डॉ० अल्तेकर का मत है कि गम्भीर अपराधों को छोड़कर अन्य सभी झगड़ों का निपटारा ग्राम पंचायतें करती थीं। महत्तर, अष्टकुलाधिकारी, ग्रामिक और कुटुम्बिन नामक सदस्य ग्राम प्रशासन का संचालन करते थे।

इस प्रकार विदित होता है कि गुप्त सम्राटों का शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित और संगठित था। शासन की सुविधा के लिए राज्य भुक्तियों, भुक्ति विषयों और विषय नगरों तथा ग्रामों में विभक्त थे। ग्राम पंचायत को उन्होंने एक आदर्श के रूप में स्वीकार किया। राजतन्त्रात्मक शासन-पद्धति के संचालक तथा दैवी अधिकारों से युक्त होने पर भी गुप्त सम्राटों में निरंकुशता की भावना नहीं आने पायी। गुप्तों ने एक अनुकरणीय शासन-प्रणाली की नींव डाली जिसका अनुकरण बाद के राजवंशों ने किया। डॉ० अल्तेकर ने गुप्त शासनप्रबन्ध के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि गुप्त प्रशासन ने दीर्घकाल तक प्रजा को विदेशी आक्रमणों तथा आन्तरिक उपद्रवों से सुरक्षित रखा और उनकी समृद्धि में वृद्धि की। डॉ० स्मिथ का मत है कि प्राच्य शैली के अनुसार इससे अच्छा प्रशासन भारत में कभी नहीं हुआ। गुप्त शासन पूर्णतया विकेन्द्रित था। वाकाटक, कलचुरि, चालुक्य और राष्ट्रकूट वंश के शासकों ने गुप्त शासन प्रणाली का अनुकरण किया। डॉ० अल्तेकर ने गुप्त शासन प्रणाली की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"अतएव हम गुप्त शासन व्यवस्था पर गर्व कर सकते हैं, जो अपने समकालीन राज्यों तथा बाद के राज्यों के लिए आदर्श व्यवस्था बन गई।"[1]

महान् गुप्त सम्राटों ने एक विशाल और सुसंगठित साम्राज्य की नींव ही नहीं डाली, बल्कि एक अनुकरणीय शासन प्रणाली को भी जन्म दिया।

1. "We may, therefore, be well proud of the Gupta administrative system which served as the ideal for contemporary and later states."

—*Dr. Altekar*

गुप्तकालीन शिक्षा, साहित्यिक और वैज्ञानिक प्रगति

सर्वांगीण विकास का काल होने के कारण गुप्तकाल भारतीय इतिहास में 'स्वर्ण युग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल में देश की चतुर्दिक उन्नति हुई। एक ओर साम्राज्य में राजनीतिक स्थिरता व्याप्त थी और कला के क्षेत्र में भारी विकास हुआ, तथा दूसरी ओर शिक्षा, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई।

शिक्षा

गुप्तवंश के आविर्भाव से पूर्व बौद्ध शिक्षा-दीक्षा का बाहुल्य था। चीनी यात्री फाहियान और ह्वेनसांग के यात्रा-वृत्तान्त से विदित होता है कि भारत में स्थान-स्थान पर बौद्ध शिक्षा के केन्द्र थे। महान् गुप्त सम्राटों ने अपने राज्य में शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। पाटलिपुत्र, वल्लभी, उज्जैयनी, नालन्दा, पद्मावती, अवरपुर, वत्सगुल्य, काशी, काँची, मथुरा, नासिक गुप्तकालीन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।

गुप्त सम्राटों ने अपने शासनकाल से पूर्व भारत में प्रचलित शिक्षा-पद्धति को ही अपनाया। केवल इतना परिवर्तन आ गया था कि वैदिक काल में पाठ को कंठस्थ करने की परम्परा ही थी, किन्तु गुप्तकाल में उसे लिपिबद्ध करना भी आवश्यक था। शिष्य को गुरु के पास जाकर शिक्षा अर्जित करनी पड़ती थी। शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व विद्यार्थी को उपाकर्म संस्कार सम्पन्न कराना पड़ता था। गुरु शिष्य को इहलौकिक और पारलौकिक शिक्षा प्रदान करना था। विद्यार्थी गुरु के पास रहकर अपना सर्वांगीण विकास करता था। शिष्य ब्रह्मचारी के रूप में बारह वर्ष तक गुरु से शिक्षा ग्रहण करता था। विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य के रूप में कठोर और संयमित जीवन व्यतीत करना पड़ता था। याज्ञवल्क्य स्मृति से विदित होता है कि ब्रह्मचारी को निकलते हुए सूर्य तथा नग्न स्त्री को नहीं देखना चाहिए। विद्यार्थी अंजलि से जल न पीये, सोते हुए को न जगाये, जुआ न खेले तथा धर्मद्रोही दुष्टों के साथ न रहे। शिक्षा-केन्द्रों के व्यय का भार सम्राट् और शिक्षाप्रेमी लोग उठाते थे। कुछ गाँवों से प्राप्त राजस्व को शिक्षा केन्द्रों को अनुदान के रूप में दे दिया जाता था। ऐसे गाँव 'अग्रहार' कहलाते थे। प्रारम्भिक शिक्षा हेतु गाँवों में पाठशालाएं थीं। विद्यार्थियों को वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, बौद्ध साहित्य, भाषा विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र, अर्थ विद्या आदि का अध्ययन करना पड़ता था। विद्यार्थियों के रहन-सहन आदि सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व विश्वविद्यालय का था। तत्कालीन शिक्षा केन्द्रों में नालन्दा विश्वविद्यालय का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस विश्वविद्यालय की स्थापना का श्रेय गुप्त नरेश कुमारगुप्त प्रथम को दिया जाता है। गुप्त सम्राटों ने नालन्दा विश्वविद्यालय के विकास के लिए प्रभूत दान दिया। यह विदेशों में भी अपनी विशिष्ट शिक्षा की धाक जमा चुका था। ह्वेनसांग के यात्रा-वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि नालन्दा विश्वविद्यालय में अनेक देशों के

लगभग दस हजार विद्यार्थी अध्ययन करते थे। प्रवेश-प्राप्ति हेतु प्रवेशार्थियों को द्वार परीक्षा देनी पड़ती थी। पाँच वर्ष के बाद ही बालक को शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् विद्यार्थी का उत्सर्जन संस्कार किया जाता था। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् शिष्य गुरु को दक्षिणा के रूप में द्रव्य देते थे। शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त ब्रह्मचारी गुरु से आज्ञा लेकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था। गुप्तकालीन शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए महाकवि कालिदास ने लिखा है—"विद्या के कारण ज्ञान तथा नम्रता आती है जो कि मानसिक विकास का परिणाम है।" साक्ष्यों से विदित होता है कि विद्यार्थी को चौदह विषयों का अध्ययन करना पड़ता है।

यद्यपि गुप्तकालीन स्त्रियों में शिक्षा का विशेष प्रचलन नहीं था, किन्तु कुछ स्त्रियाँ अवश्य उच्च शिक्षा प्राप्त थीं। उच्च कुल की स्त्रियाँ साधारण शिक्षा के अतिरिक्त नृत्य और चित्रकला का ज्ञान भी रखती थीं। कालिदास के कथन से ज्ञात होता है कि यक्ष की पत्नी पति के नाम संयोजक अक्षरों के साथ पद्य में गीतों का निर्माण करती थी। शकुन्तला द्वारा प्रेम-पत्र लिखने का वर्णन मिलता है।

राजकुमारों के लिए शिक्षा की विशेष व्यवस्था थी। उनकी शिक्षा के लिए शिक्षाविदों की व्यवस्था की जाती थी। रघुवंश के विवरण से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण शिक्षा अर्जित करने के उपरान्त ही राजकुमार का विवाह सम्पन्न होता था। राजकुमारों को वेद, वेदान्त, धनुर्विद्या तथा राजनीति आदि का अध्ययन करना पड़ता था। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' के विवरण से विदित होता है कि राजा वेद, गणित, कला और हस्त-विद्या का ज्ञाता होता है। समुद्रगुप्त के लिए 'कविराज' की संज्ञा प्रयुक्त की गई है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का दरबार नवरत्नों से सुशोभित था। कुमारगुप्त धनुर्विद्या में निपुण था।

गुप्तकालीन अवशेषों से विदित होता है कि उस काल में तकनीकी शिक्षा की भी व्यवस्था थी। विद्वानों का कथन है कि विद्वान् शिल्पी की देखरेख में विद्यार्थी व्यावसायिक शिक्षा अर्जित करते थे। विद्यार्थी को दक्षिणा के रूप में गुरु के कारखाने में कुछ दिन कार्य करना पड़ता था।

साहित्य

गुप्तकाल में साहित्य के क्षेत्र में भारी विकास हुआ। गुप्तकालीन साहित्यिक प्रगति से प्रभावित होकर डॉ० बार्नेट ने उसकी तुलना यूनान के स्वर्णयुग पेरीक्लीज के युग से करते हुए लिखा है—"प्राचीन भारत के इतिहास में गुप्तकाल का वही महत्त्व है जो यूनान के इतिहास में पेरीक्लीयन युग का है।" डॉ० स्मिथ ने गुप्तकालीन साहित्यिक उन्नति से प्रभावित होकर उसकी तुलना इंग्लैण्ड के एलिजाबेथ और स्टुअर्ट काल से की है। गुप्तकाल साहित्यिक श्री-वृद्धि का अपूर्व युग माना जाता है।

संस्कृत भाषा—अशोक मौर्य ने पाली भाषा को विशेष महत्त्व दिया। उसने अपने शिलालेख पाली भाषा में उत्कीर्ण करवाये। तत्पश्चात् प्राकृत भाषा का

विकास हुआ। ज्यों-ज्यों प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ उनमें परस्पर अधिक अन्तर होने लगा। अतः विद्वानों ने पुनः संस्कृत भाषा को अपना लिया। बौद्ध और जैन मतावलम्बियों, शुंग, नाग, वाकाटक आदि नरेशों ने संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन दिया। इस अवधि में पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य की रचना, बुद्धचरित, सौंदरानन्द, सारिपुत्र-प्रकरण, चरक संहिता आदि ग्रन्थों की रचना गुप्तयुग से पूर्व संस्कृत भाषा में हुई। रुद्रदामन की जूनागढ़ प्रशस्ति संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण है। इस प्रकार गुप्तकाल से पूर्व ही संस्कृत-भाषा का काफी विकास हो चुका था। इसलिए मैक्समूलर के इस कथन को, कि गुप्तकाल संस्कृत साहित्य का पुनरुज्जीवन काल था, भारतीय विद्वान् उपयुक्त नहीं मानते।

गुप्तकाल में संस्कृत भाषा की विशेष प्रगति हुई। विद्यानुरागी गुप्त सम्राटों ने संस्कृत को राजभाषा घोषित कर समस्त अभिलेखों और आदेशों में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया। उनकी मुद्राओं पर लेख संस्कृत भाषा में अंकित किये गये। गुप्तकाल में विद्वानों, कवियों, लेखकों, धर्माचार्यों, दार्शनिकों, शासकों, अधिकारियों, कर्मचारियों ने संस्कृत भाषा को अपनाया। अध्ययन-अध्यापन का माध्यम संस्कृत भाषा होने के कारण उसका चरम विकास स्वाभाविक था। गुप्तकाल में अनेक साहित्यकारों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने संस्कृत भाषा में काव्यों की रचना कर उसकी समृद्धि को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। अध्ययन की सुविधा के लिए गुप्तकालीन साहित्यिक प्रगति को निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—

(अ) **प्रशस्तिकार**—गुप्तकाल में अनेक प्रतिभासम्पन्न प्रशस्तिकार हुए जो संस्कृत के उच्च कोटि के कवि थे। उन्होंने गुप्त अभिलेखों को संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण किया। इस संदर्भ में गुप्तकालीन प्रशस्तिकार हरिषेण का स्थान सर्वोच्च है। हरिषेण समुद्रगुप्त का 'सन्धिविग्रहिक' था। उसने अशोक के प्रयाग स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की दिग्विजयों, काव्य-प्रतिभा, नीति-कुशलता, संगीत प्रेम आदि को उत्कीर्ण किया है। काव्य की दृष्टि से यह प्रशस्ति उच्चकोटि की है। प्रयाग प्रशस्ति की भाषा और शैली के माध्यम से हरिषेण ने अपनी काव्य-कुशलता का परिचय दिया है। हरिषेण का पुत्र वीरसेन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का राजकवि और प्रशस्तिकार था। वसुल, वत्सभट्टी, बन्धुवर्मा उस काल के उच्चकोटि के प्रशस्तिकार थे।

(आ) **प्रमुख कवि और उनके ग्रन्थ**—गुप्तकाल में अनेक प्रतिभासम्पन्न कवि हुए जो अपनी अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों के लिए प्रसिद्ध हैं। गुप्तकालीन कवियों में महाकवि कालिदास का स्थान सर्वोपरि है।

कालिदास को भारत का सबसे बड़ा कवि माना जाता है। उसकी तुलना इंग्लैण्ड के अंग्रेजी भाषा के महान् कवि शेक्सपीयर से की जाती है। डॉ० स्मिथ का कथन है कि भारत में कालिदास ने साधारण लेखकों को उसी प्रकार प्रकाशहीन कर दिया जैसा कि इंग्लैण्ड में शेक्सपीयर ने अन्य लेखकों को निष्प्रभ कर दियाथा।

महाकवि कालिदास ब्राह्मण वर्ण का था। बाल्याकाल में ही पिता की मृत्यु के बाद एक चरवाहे ने उसका पालन-पोषण किया। बाद में उसने साधना कर प्रसिद्ध कवियों में अपने को प्रतिष्ठित कर दिया। कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा का मेधावी राजकवि था। उसने 'शकुन्तला', 'मालविकाग्निमित्र', और 'विक्रमोर्वशी' जैसे नाटक; 'कुमार सम्भव' और 'रघुवंश' नामक महाकाव्य; 'ऋतु-संहार' जैसे गीतिकाव्य तथा 'मेघदूत' जैसे खण्ड काव्यों की रचना की। कालिदास की कविता अपने सौन्दर्य, सरसता, सरलता, भावों और शब्द-चयन की दृष्टि से श्रेष्ठ है। डॉ० मजूमदार ने कालिदास की काव्य प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"कालिदास गुप्तयुग में साहित्यिक आकाश पर सबसे चमकदार नक्षत्र है जिसने अपना प्रकाश सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य पर डाला है। वह सर्वसम्मति से सबसे महान् कवि और नाटककार था और उसकी कृतियाँ सब युगों में अत्यन्त प्रसिद्ध और सर्वप्रिय रही हैं।"[1] कालिदास की कृतियों में 'शकुन्तला' नाटक सर्वाधिक रोचक है। उसमें दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रेम कहानी का सुन्दर वर्णन है। डॉ० देवस्थली ने उसे संसार की श्रेष्ठ कृति मानते हुए लिखा है—"कालिदास का नाटक 'शकुन्तला' सर्वसम्मति से न केवल संस्कृत साहित्य में, बल्कि संसार में सम्पूर्ण साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है।"

गुप्तकाल का दूसरा प्रसिद्ध कवि वत्सभट्टी था। उसने 'रावण-वध' नामक महाकाव्य की रचना की। काव्यदर्शन और दशराजकुमारचरित का रचयिता दण्डिन, बृहतसंहिता का लेखकादि गुप्तयुगीन विभूतियाँ थीं। हरिषेण समुद्रगुप्त का 'सन्धि-विग्रहिक' और 'महादण्डनायक' होने के साथ-साथ कवि भी था। प्रयाग-प्रशस्ति उसकी काव्य-प्रतिभा का सबल प्रमाण है। वीरसेन चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा का प्रसिद्ध कवि, व्याकरणाचार्य और राजनीतिज्ञ था। 'किरातार्जुनीय' का लेखक भारवि इसी युग में हुआ। कुछ विद्वान् प्रतिभासम्पन्न कवि भर्तृहरि को गुप्तकालीन मानते हैं। उसने 'नीतिशतक', 'श्रृंगार शतक' और 'वैराग्यशतक' नामक तीन ग्रन्थों की रचना की। मातृगुप्त, सौभिल्ल, कुलपुत्र और भर्तृश्रेष्ठ आदि इस काल के कवि थे।

(इ) **नाटककार**—गुप्तकाल में अनेक नाटककारों का आविर्भाव हुआ। तेरह नाटकों का रचयिता 'भास' इसी युग का नाटककार माना जाता है। भास के नाटकों में 'स्वप्नवासवदत्ता' श्रेष्ठ और प्रसिद्ध है। शकुंतला नाटक का लेखक कालिदास, मृच्छकटिक का लेखक शूद्रक और 'देवीचन्द्रगुप्तम्' तथा 'मुद्राराक्षस' का रचयिता विशाखदत्त गुप्तकालीन नाटककार थे।

---

1. "Kalidas was the most brilliant luminary in the literary firmament of the Gupta age who has shed lustre on the whole Sanskrit literature. He is by common consent the greatest poet and dramatist that ever lived in India and his books have enjoyed a high reputation and popularity throughout the ages."
—*Dr. R. C. Mazumdar*

(ई) **नीति ग्रंथ, कोष और व्याकरण**—गुप्तकाल में नीतिग्रंथ, कोष और व्याकरण की रचना की गई। कामंदक ने 'नीतिसार' ग्रंथ की रचना की। इस काल में नारद-स्मृति, वात्स्यायन स्मृति, पाराशर स्मृति, बृहस्पति-स्मृति आदि को आधुनिक रूप दिया गया। गुप्तकाल में अमरसिंह ने संस्कृत की प्रसिद्ध पुस्तक 'अमर कोष' की रचना की। चन्द्रगोमिन नामक बौद्ध पंडित ने 'चान्द्र व्याकरण' लिखा।

(उ) **अन्य ग्रंथ**—गुप्तकाल में पंचतंत्र और हितोपदेश नामक गल्प ग्रंथों की रचना की गई। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य वसुबंधु ने बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय और हीनयान संप्रदाय पर कई पुस्तकें लिखीं। परमार्थ ने वसुबंधु की जीवन कथा लिखी, दिङ्नाग ने 'प्राण समुच्चय' की रचना की।

विज्ञान

गुप्तकाल वैज्ञानिक प्रगति के लिए भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस काल में ज्योतिष, गणित, रसायन शास्त्र, चिकित्साशास्व, खगोल विद्या, धातु विज्ञान आदि के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई। आर्यभट्ट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त इस काल के प्रमुख वैज्ञानिक थे। इन्हें संसार का सर्वप्रथम नक्षत्र वैज्ञानिक और गणितज्ञ कहा गया है।

आर्यभट्ट गुप्तकाल के वैज्ञानिकों में सर्वोच्च स्थान रखता है। वह गणित और नक्षत्र-विद्या का प्रकांड विद्वान् था। वह पाटलिपुत्र का निवासी था। उसने केवल तेइस वर्ष की आयु में ही 'आर्यभट्टीयम्' नामक ग्रंथ की रचना की। सर्वप्रथम उसी ने यह मत प्रतिपादित किया कि सूर्य और चन्द्र गहण राहु और केतु नामक राक्षसों के ग्रसने से नहीं बल्कि तब होता है, जब चन्द्रमा, सूर्य और पृथ्वी के बीच में आ जाता है। उसने ही सर्वप्रथम यह कहा कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। डॉ० अल्तेकर ने आर्यभट्ट के वैज्ञानिक ज्ञान पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"निस्सन्देह वह प्राचीन भारत के सबसे महान् वैज्ञानिकों में से एक था। यूनानियों ने सिंकदरिया में जो उन्नति नक्षत्र विद्या में की थी, उससे आर्यभट्ट भली भाँति परिचित था। उसे भारतीयों की नक्षत्र विद्या तथा ज्योतिष में की गई उन्नति का भली भाँति ज्ञान था।"

आर्यभट्ट नक्षत्र विद्या, ज्योतिष विद्या और गणित का विद्वान् था। उसने अंकगणित, बीजगणित और ज्यामिति में भी कई नई खोजें कीं। उसने पाई की सही कीमत निकाली। उसे दशमलव पद्धति का आविष्कारक माना जाता है।

वराहमिहिर गुप्तकाल का उच्च कोटि का ज्योतिषाचार्य था। उसने 'पंचसिद्धान्तिका', 'बृहज्जातक', 'बृहत्संहिता' और 'लघुजातक' नामक ज्योतिष से सम्बंधित ग्रन्थों की रचना की। ब्रह्मगुप्त, निःशंक, पांडुरंग स्वामी और लाटदेव उस काल के अन्य प्रसिद्ध ज्योतिषी थे।

गुप्तकाल में औषधि-विज्ञान के क्षेत्र में 'अष्टांगसंग्रह' और 'अष्टांगहृदय संहिता' नामक ग्रन्थों की रचना हुई। एक अन्य महत्त्वपूर्ण औषधि ग्रन्थ 'नावनीतकम' गुप्तकाल की रचना मानी जाती हैं। कुछ विद्वानों ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि महान् वैद्य धन्वन्तरि इसी युग में हुआ था।

रसायन शास्त्र के क्षेत्र में गुप्तकाल में वहुत उन्नति हुई। उस काल की रसायनशास्त्र की उन्नति का सवसे वड़ा प्रमाण महरौली का लौह स्तम्भ है। चिकित्सा-शास्त्र और रसायन-शास्त्र के महान् विद्वान् नागार्जुन का आविर्भाव इसी काल में हुआ था।

महरौली का लौह स्तम्भ—यह स्तम्भ वर्तमान समय में दिल्ली से नौ मील दणिण की ओर मिहिरपुरी ग्राम में स्थित है। विद्वानों का मत है कि इस लौह स्तम्भ को व्यास नदी के समीप के किसी पर्वत से वर्तमान स्थान पर लाया गया है। इस स्तम्भ में किसी 'चन्द्र' राजा की विजयों का उल्लेख किया गया है। इससे विदित होता है कि चन्द्र ने शत्रुओं की संघबद्ध शक्ति का अकेले सामना कर बंग प्रदेश की विजय की। उसने सप्तसिंधु के पार वाह्लीकों पर विजय प्राप्त की। उसने दक्षिण में समुद्र तक विजेता के रूप में ख्याति अर्जित की और अपने भुजबल द्वारा संसार में संप्रभुता प्राप्त की।

महरौली लौह स्तम्भ में जिस चन्द्र राजा की विमल कीर्ति उत्कीर्ण हैं उसका साम्राज्य विस्तृत विदित होता है। उसका साम्राज्य उत्तर में वाह्लीक प्रदेश, दक्षिण में समुद्र, पश्चिम में सिंधु नदी का मुहाना और पूर्व में बंग प्रदेश तक विस्तृत था।

महरौली लौह स्तम्भ में उत्कीर्ण चन्द्र राजा कौन था ? इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान् इस स्तम्भ लेख में उल्लिखित विजित प्रदेशों का स्वामी सिंहवर्मन के पुत्र चन्द्र वर्मन को मानते हैं और कुछ विद्वान् उक्त प्रदेशों की विजय का श्रेय गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को देते हैं। चन्द्रवर्मन (चन्द्र वर्मा) से सम्बन्धित अभिलेखों में उसे सामन्त मात्र कहा गया है और उसके द्वारा विजित उपरोक्त प्रदेशों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को बंगाल प्रदेश की विजय का श्रेय दिया जाता है। महरौली लौह स्तम्भ की लिपि प्रयाग-प्रशस्ति में प्रयुक्त लिपि से मिलती-जुलती है। आधुनिक इतिहासकार महरौली के लौह स्तम्भ में वर्णित 'चन्द्र' को चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ही मानते हैं।

महरौली लौह स्तम्भ गुप्तकालीन रसायन-शास्त्र और धातु विज्ञान की उन्नति का सबल प्रमाण है। यह स्तम्भ 24 फीट ऊँचा और $6\frac{1}{2}$ टन वजन का है। इतना वड़ा और भारी लौह स्तम्भ किस प्रकार निर्मित किया गया, यह एक बड़ा भारी रहस्य है। डॉ० अल्तेकर ने महरौली लौह स्तम्भ को ढालने की कला के लिए उस काल के धातु वैज्ञानिकों की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"ऐसे समय में जबकि लोहे को ढालने के तरीके का पश्चिम में अधूरा ज्ञान था—हिन्दू धातु वैज्ञानिकों ने ऐसी चतुराई से इतने भारी लौह स्तम्भ को बनवाया कि गत 1500 वर्षों से धूप तथा वर्षा

में निरन्तर खड़ा रहने पर भी यह न तो खराब हुआ है और न ही इसे जंग लगा है। इतने भारी स्तम्भ को ढालना न केवल उस शताब्दी में बल्कि कई शताब्दियों के बाद तक मनुष्य की समझ से बाहर था।"

गुप्तकालीन कला

गुप्तकाल महान् सम्राटों का युग था। इस वंश में चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त जैसे प्रतापी, मेधावी और साहित्य एवं कला में अभिरुचि रखने वाले सम्राटों का आविर्भाव हुआ। उनके काल में एक ओर शासन में राजनीतिक स्थिरता विद्यमान थी तथा दूसरी ओर सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई।

गुप्तकाल राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से उन्नति की पराकाष्ठा का युग था। कला के क्षेत्र में तो इस काल में अभूतपूर्व प्रगति हुई। शांति और सम्पन्नता के इस युग में कला के विभिन्न क्षेत्रों में विकास हुआ। गुप्त कला की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह विदेशी प्रभाव से सर्वथा मुक्त रही। गुप्तकाल में कला के क्षेत्र में हुई अभूतपूर्व उन्नति पर प्रकाश डालते हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है—"संस्कार और परिमार्जन की जो धारा कुषाण काल में आरम्भ हुई थी, वह गुप्तकाल में परिपक्व हो गई। शिल्प और चित्र, वस्त्र और आभूषण, भाषा और साहित्य सभी क्षेत्रों में अद्भुत सौंदर्य और सूक्ष्म संस्कृति ने जीवन को व्याप्त कर लिया ...आकृति की माधुरी और मण्डन की छवि का जैसा नपा-तुला समन्वय गुप्त युग में हुआ वैसा भारतीय संस्कृति में फिर कभी नहीं देखा गया।" इस काल की कला कृतियों ने गुप्त युग की कीर्ति को चिरस्थायी बना दिया। बनारस, मथुरा और पाटलिपुत्र गुप्तकालीन कला के प्रमुख केन्द्र थे।

गुप्तकला में रूढ़िवादिता का अभाव, स्वाभाविकता और यथार्थवादिता, सांस्कृतिक और प्राकृतिक सौंदर्य, गहन धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्श, कला की सादगी और अभिव्यंजना, लावण्य और लालित्य का संयमित प्रदर्शन एवं कला का विशुद्ध भारतीय रूप दृष्टिगोचर होता है, जिन्हें गुप्तकला की विशेषताएँ भी कहा जा सकता है। भारतीय कला में ओज और सौंदर्य का भाव तथा वास्तविकता का जैसा पूर्ण मिलन गुप्त युग में होता है वैसा और कभी नहीं हुआ। कला के विभिन्न अंगों स्थापत्य कला, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत और अभिनय कला, धातु और मुद्राकला आदि ने भारतीय कला के इतिहास में अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर दी।

(1) स्थापत्य कला (वास्तुकला)

कला के अनन्य प्रेमी गुप्त सम्राटों के भारी प्रोत्साहन और राज-संरक्षण के फलस्वरूप स्थापत्य कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। यद्यपि इस काल की वास्तु-कला के अवशेष अब नहीं रहे, तथापि खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर गुप्तकाल की स्थापत्य कला का अनुमान लगाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में डॉ० स्मिथ ने लिखा है—"इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त जानकारी और प्रामाणिक

साधन हैं कि गुप्तकाल में वास्तुकला का बड़े परिमाण में बड़ी सफलतापूर्वक अभ्यास किया जाता था।"

यद्यपि गुप्तकालीन अनेक भवन काल के गर्भ में समा चुके हैं, तथापि अनेक मन्दिर, विहार, चैत्य आदि वर्तमान समय तक अपने पूर्व स्वरूप में विद्यमान हैं। खुदाई से प्राप्त अवशेषों से भी उस काल की वास्तुकला पर प्रकाश पड़ता है। देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, भीतरी गाँव का मन्दिर, भूमरा का शिव मन्दिर, नचनाकुठार का पार्वती मन्दिर, तिग्वा का विष्णु मन्दिर, उदयगिरि का विष्णु मन्दिर, सारनाथ का स्तूप, अजन्ता, एलोरा और बाघ की गुफाएँ गुप्तकालीन स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए गुप्तकालीन स्थापत्य कला को निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—

(अ) मन्दिर—गुप्त सम्राटों ने हिन्दू धर्म को राजधर्म के रूप में स्वीकार किया था। गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म की प्रधानता होने के कारण विष्णु, शिव, पार्वती आदि अनेक देवी-देवताओं के मन्दिर निर्मित किये गये। प्रारम्भ में मन्दिर पाषाण निर्मित और आकार में छोटे होते थे। बाद में ईंटों का प्रयोग भी प्रारम्भ हो गया था। मन्दिरों का निर्माण ऊँचे चबूतरे पर किया जाता था। प्रारम्भ में उनकी छतें चपटी होती थीं, किन्तु बाद में शिखरों का निर्माण होने लगा था। मन्दिरों के प्रवेश द्वार पर गंगा-यमुना की आकृतियाँ उत्कीर्ण की जाती थीं।

गुप्तकालीन मन्दियों में तिग्वा का विष्ण मन्दिर, भूमरा का शिव मन्दिर, नचना का पार्वती मन्दिर, देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, कानपुर का भीतरी गाँव का मन्दिर, बंगाल में पहाड़पुर का मन्दिर, महाराष्ट्र का एहोल मन्दिर, सांची का बौद्ध मन्दिर आदि प्रमुख हैं। कला की दृष्टि से देवगढ़ का दशावतार मन्दिर सर्वाधिक सुन्दर है। इस मन्दिर की दीवारों को सुन्दर मूर्तियों से सुसज्जित किया गया है। भीतरी गाँव के मन्दिर की दीवारों के बाहरी भाग को मिट्टी की पकाई हुई पट्टियों से सजाया गया है और उन पर अनेक मूर्तियाँ तथा पौराणिक कथाएँ अंकित की गई हैं। गुप्तकालीन मन्दिरों की दीवारों को ब्रह्मा, गणेश, कार्तिकेय, सूर्य आदि देवताओं के चित्रों से सजाया गया है। मन्दिर की दीवारों पर अनेक मांगलिक चिह्नों एवं प्रतीकों को भी अंकित किया गया है। बौद्ध अनुयायी नरसिंहगुप्त बालादित्य ने नालन्दा में 92 फीट ऊँचा बौद्ध मन्दिर निर्मित करवाया।

(आ) गुफा—अशोक महान् के शासन-काल से ही भिक्षुओं के निवास हेतु शिलाओं को काट और तराश कर गुफाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। भिक्षुओं के निवास हेतु गुप्तकाल में गुफाओं का निर्माण कार्य जारी रहा। उस काल में अजन्ता, एलोरा, औरंगाबाद, बाघ और उदयगिरि की गुफाओं का निर्माण हुआ।

गुप्तकालीन गुफाओं में अजन्ता और उदयगिरि की गुफाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। अजन्ता की गुफाएँ पर्वतों को काटकर निर्मित की गई हैं। अजन्ता की 16 नम्बर की गुफा 65 फीट लम्बी और इतनी ही चौड़ी है। 17 नम्बर की गुफा का आकार भी

लगभग ऐसा ही है। गुप्तकाल में विदिशा के समीप उदयगिरि की पहाड़ी पर बनी गुफाएं कला की दृष्टि से सुन्दर हैं। इन गुफाओं पर शैव और वैष्णव दोनों ही मतों के देवी देवताओं के चित्र उत्कीर्ण किये गये हैं। इन गुफाओं में वराह अवतार की मूर्ति सर्वोत्कृष्ट है।

गुप्तकालीन गुफाओं की प्रमुख विशेषता यह है कि इनके बाहरी भाग और प्रवेश द्वार पर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की जाती थीं।

(इ) **भवन निर्माण**—गुप्त सम्राटों ने राजप्रासादों तथा अनेक भवनों का निर्माण किया था। मथुरा, पाटलिपुत्र, नालन्दा, उज्जैयिनी, कौशांबी, वाराणसी और सारनाथ उस काल के प्रसिद्ध नगर थे। इन नगरों में बड़े-बड़े भवनों का निर्माण हुआ था। प्राकृतिक प्रकोपों और मुस्लिम आक्रांताओं की ध्वंसात्मक नीति के कारण यद्यपि उस काल के भवन काल के गर्भ में समा चुके हैं, तथापि उस काल के ग्रन्थों में प्राप्त विवरण तथा खुदाई में प्राप्त अवशेषों से विदित होता है कि गुप्तकाल में विशाल और कई मंजिले भवन निर्मित हुए थे। मोहरा भराड़ू में एक सभा-सदन, जलपान-गृह, स्नानागार, भण्डारगृह, रसोई और शौचालय के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

(ई) **विहार**—गुप्तकाल में अनेक विहारों का निर्माण हुआ था। नालन्दा, जलियांन, पुष्कलवती आदि स्थानों पर विहारों के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

(उ) **स्तूप**—भगवान बुद्ध तथा उनके महान् शिष्यों की अस्थि अथवा भस्म के ऊपर स्तूप निर्मित किया जाता था। यह आकार में अर्द्ध गोलाकार होता था। गुप्तकाल में अनेक स्तूपों का निर्माण हुआ था जिनमें सारनाथ का धमेख स्तूप और राजगृह का 'जरासंध की बैठक' प्रमुख हैं।

कला की दृष्टि से सारनाथ में निर्मित धमेख स्तूप वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना है। यह स्तूप लगभग 128 फीट ऊँचा है। इसके बाहरी भाग पर लगे पत्थरों पर नयनाभिराम चित्र और सुन्दर मूर्तियाँ बनी हुई हैं। खुदाई में अनेक गुप्तकालीन स्तूपों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं।

(ऊ) **स्तम्भ**—अशोक मौर्य ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचारार्थ अनेक पाषाण स्तम्भ निर्मित किए, जिन पर उसने धार्मिक उपदेश अंकित करवाये। गुप्त सम्राटों ने भी अपनी दिग्विजय की स्मृति, अपने यश और गौरवगाथा के वर्णन तथा धार्मिक कार्यों हेतु अनेक पाषाण स्तम्भ और ध्वज स्तम्भ खड़े करवाये। गुप्तकालीन स्तम्भ चतुष्कोण, अष्टकोण और विभिन्न कोणों से युक्त होते थे। उनके शीर्ष भाग पर विष्णु के वाहन गरुड़ अथवा सिंह की प्रतिमा अंकित होती थी। गुप्तकाल में मिश्रित धातुओं के स्तम्भ भी निर्मित करवाये जाते थे। उस काल के स्तम्भों में समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ (जो मूलरूप में अशोक का है), चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का महरौली लौह स्तम्भ और स्कन्दगुप्त का काहौम पाषाण स्तम्भ उल्लेखनीय हैं। गुप्तकालीन स्तम्भ लेखों पर गुप्त सम्राटों की दिग्विजयों, शूरता-वीरता और उनके पराक्रम का उल्लेख मिलता है।

(2) चित्रकला

स्थापत्य कला की भाँति गुप्तकाल में चित्रकला के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस काल की चित्रकला अजन्ता, ग्वालियर की बाघ गुफाओं, महाराष्ट्र में औरंगाबाद जिले में पीतल खोरा, दक्षिण में बादामी की गुफाओं और लंका में सिगीरिया की चट्टानों को काटकर बनी गुफाओं पर उत्कीर्ण की गई है।

गुप्तकालीन चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता उसकी मौलिकता है। गुप्तकालीन चित्रकला की उन्नति पर प्रकाश डालते हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है—"उस युग में यह (चित्रकला) अपने चरम शिखर पर पहुंच चुकी थी।" उन्होंने लिखा है कि गुप्तकाल के चित्रों में रूपरेखा की कोमलता, रंगों का चमकीलापन, सुन्दर कल्पना, भावों की अनुपम अभिव्यक्ति और अभूतपूर्व सौंदर्य तथा सजीवता है। गुप्तकाल में चित्रकला के माध्यम से धर्म-ग्रन्थों के उद्धरणों और प्रसंगों को उत्कीर्ण किया गया है। विद्वानों का कथन है कि गुप्तकाल में चित्रकला का उपयोग धर्म प्रचार के लिए किया गया था। अजन्ता और बाघ की गुफाओं में महात्मा बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं तथा जातक कथाओं को चित्रकला के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है, ताकि लोग उनसे प्रेरणा ले सकें।

अजंता-चित्रकला—अजंता की चित्रकला अपनी उत्कृष्टता के लिए जगप्रसिद्ध है। अजंता की गुफाएँ महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले में स्थित हैं। यहां उनतीस गुफाओं पर चित्रकारी की गई थी, किंतु अब केवल छह गुफाएँ ही अवशिष्ट हैं। विद्वानों का कथन है कि अजंता की गुफाओं की कलाकृतियों में पुष्प, पादप, मानव, पशु, देव-देवियों, दृश्य, जलूस, आमोद-प्रमोद, प्रेम-उल्लास तथा करुणा के सजीव दर्शन होते हैं। अलंकरण, चित्रण और वर्णन अजंता चित्रकला के तीन प्रमुख विषय हैं।

भारत में चित्रकला का इतिहास बहुत पुराना है। प्रमुखतया चित्रकला दो प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष चित्रकला और भावगम्य चित्रकला। प्रत्यक्ष चित्रकला के अंतर्गत सामने रखी गयी वस्तु का चित्रण किया जाता है। भावगम्य चित्रकला के अन्तर्गत कल्पना के आधार पर चित्र निर्मित किए जाते हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णित चौसठ कलाओं में चित्रकला का चौथा स्थान है। प्राचीन भारत में चित्रकला के छह अंगों का उल्लेख मिलता है, जिनका विवरण इस प्रकार है—रूप भेद, प्रमाण, भाव, लावण्य योजना, सादृश्य और वर्णिक भंग। अजंता और बाघ आदि के गुफाचित्रों में चित्रकार ने उपरोक्त षडंगों को बड़ी कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किया है। अनामिकता, रेखा प्रधानता, प्राचीरांकन, असांप्रदायिकता, अभिव्यक्ति प्रधानता, सांकेतिक भाषा का प्रयोग आदि भारतीय चित्रकला की विशेषताएँ हैं।

अजंता की सभी उनतीस गुफाओं पर चित्रकारी की गई थी, किंतु अब छह गुफाओं के चित्र शेष हैं। वर्तमान समय में अजंता की पहली, दूसरी, नवीं, दसवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं के चित्र अवशिष्ट हैं। विद्वानों ने इन गुफाओं के

चित्रों का काल भी भिन्न-भिन्न बताया है। नवीं और दसवीं गुफा के चित्र सर्वाधिक पुरातन माने जाते हैं। इनका निर्माण-काल पहली-दूसरी सदी ई० पू० माना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि इनका निर्माण ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ था। सोलहवीं-सत्रहवीं गुफाओं के चित्र गुप्तकालीन माने जाते हैं। पहली और दूसरी गुफाओं के चित्र सातवीं शताब्दी ई० के माने जाते हैं। गुफाओं की सतह पर पहले प्लास्टर किया जाता था। यह प्लास्टर गोबर मिट्टी, भूसा आदि को मिलाकर तैयार किया जाता था। प्लास्टर के सूखने के पश्चात् उस पर चित्र बनाये जाते थे।

नवीं और दसवीं गुफा—अजंता की गुफाओं के सर्वाधिक पुरातन चित्र, जो नवीं और दसवीं गुफा पर उत्कीर्ण हैं, भी कला की दृष्टि से अत्यधिक सुन्दर हैं। इन गुफाओं के अनेक चित्र भरहूत, सांची और अमरावती के दृश्यों से मिलते हैं। इन गुफाओं के चित्रों में सर्वाधिक मोहक चित्र एक जलूस का है। इस जलूस में राजा, रानियों, सैनिक, सेवक तथा अनेक पशुओं को जाते हुए अंकित किया गया है। इस जलूस को एक तोरण द्वार के अन्दर प्रविष्ट होते हुए दिखाया गया है, जहां राजा स्तूप की पूजा करता है। अपनी सूंड उठाकर स्तूप को प्रणाम करते हुए जो हाथियों के चित्र प्रदर्शित किए गए हैं, वे अत्यन्त मनमोहक हैं। इस चित्र में उच्च कोटि के समूह प्रदर्शन से प्रभावित होकर डा० श्रीनिवासन ने इस चित्र की कला को 'आर्ट ऑफ हाई ऑडर' की संज्ञा दी है।

सोलहवीं और सत्रहवीं गुफा—अजंता की सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाओं के चित्र गुप्तकालीन हैं जो चित्रकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। सोलहवीं गुफा की दीवारों पर जातक कथाएँ और महात्मा बुद्ध के जीवन से संबन्धित अनेक घटनाओं को चित्र कला के माध्यम से चित्रित किया गया है। ये चित्र अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति और सौन्दर्य के लिए जगप्रसिद्ध हैं। इस गुफा चित्र में बुद्ध के गृहत्याग, राजानन्द का राज्य-त्याग कर बौद्ध संघ में प्रवेश, बुद्ध के आठ अवतार, बुद्ध के माता-पिता, सुजाता द्वारा बुद्ध को खीर खिलाने आदि घटनाओं को चित्रित किया गया है। सोलहवीं गुफा के एक अत्यंत आकर्षक चित्र द्वारा यह चित्रित किया गया है कि कुमार सिद्धार्थ छोड़ने से पूर्व अपनी सोई हुई पत्नी यशोधरा और नवजात शिशु राहुल पर अंतिम दृष्टि डाल रहे हैं। चित्रकार ने बड़ी सफलतापूर्वक गौतमबुद्ध को माया मोह से रहित प्रदर्शित किया है। सोलहवीं गुफा में एक मरने वाली राजकुमारी का चित्र बड़ी वास्तविकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस चित्र के माध्यम से यह चित्रित किया गया है कि बहुत इलाज करने के उपरान्त भी राजकुमारी को कोई लाभ नहीं हुआ। उसे देखकर उसके सम्बन्धी पूर्ण निराश हैं और रो रहे हैं। इस चित्र में करुणा की अभिव्यक्ति अद्वितीय है। ग्रिफिथ,[1] बर्जेस और फर्गुसन ने इन

1. "For pathos and sentiment and the unmistaken way of telling its history, this picture, I consider, cannot be surpassed in the history of art." —Griffith

चित्रों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। फर्गुसन महोदय ने इस चित्र के संदर्भ में लिखा है—"करुणा और विचारों की दृष्टि से और अपनी कथा कहने के ठीक ढंग की दृष्टि से मेरे विचार में कला के इतिहास में इससे अधिक श्रेष्ठ चित्र बनाना संभव नहीं है। फ्लोरेंस का कलाकार अधिक अच्छी रूप रेखा बना लेता और वेनिस का कलाकार अधिक अच्छे रंग लगा सकता, किंतु उनमें से एक भी इससे अच्छी भाव-पूर्णता प्रस्तुत न कर सकता।"

अजंता की सत्रहवीं गुफा के चित्र भी गुप्तकालीन माने जाते हैं। इस गुफा के चित्र सर्वाधिक सुरक्षित, सुन्दर और आकर्षक हैं। इनमें महात्मा बुद्ध के जन्म, महाभिनिष्क्रमण, महापरिनिर्वाण आदि घटनाओं को कुशलतापूर्वक चित्रित किया गया हैं। सत्रहवीं गुफा का सर्वाधिक प्रभावित करने वाला चित्र बुद्ध को राहुल भेंट करती हुई यशोधरा का है। सिद्धार्थ बुद्धत्व-प्राप्ति के पश्चात् यशोधरा के दरवाजे पर भिक्षा माँगने गये तो उस समय यशोधरा ने अपने पुत्र राहुल को भिक्षा के रूप में बुद्ध को समर्पित कर दिया। इस चित्र में यशोधरा के मुख की विवशता, बुद्ध के प्रति समर्पित भाव, राहुल के आत्म-समर्पण के भाव को अत्यधिक सजीवता के साथ प्रस्तुत किया गया है। सत्रहवीं गुफा में बुद्ध के गृहत्याग (महाभिनिष्क्रमण) की घटना को बड़ी सजीवता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस चित्र में युवक सिद्धार्थ सिर पर मुकुट धारण किए हैं। उनकी आँखों से अहिंसा, शांति और वैराग्य के भाव प्रकट हो रहे हैं। मुख मुद्रा गंभीर और सांसारिकता के प्रति उदासीन चित्रित की गई है। इस चित्र की प्रशंसा करते हुए निवेदिता ने लिखा हैं कि यह चित्र संभवतः बुद्ध का महत्तम कलात्मक प्रदर्शन है जिसे संसार ने कभी देखा है। ऐसी कल्पना दुवारा कठिनता से उत्पन्न हो सकती है। एक अन्य चित्र में राजा को स्वर्ण हंस की बातें सुनते हुए दिखाया गया है। इस चित्र के संदर्भ में निवेदिता का कथन है कि विश्व में इससे बढ़कर दूसरा चित्र नहीं हो सकता।

इसी गुफा में एक राजकीय जलूस का चित्र अंकित किया गया है जिसमें पुरुषों और स्त्रियों को बहुत सुन्दर वस्त्र धारण करते हुए दिखाया गया है। बुद्ध के जीवन संबन्धी घटनाओं के अतिरिक्त शेर, हाथी, काला हिरण और मोर आदि पशु-पक्षियों के सजीव और आकर्षक चित्र अजंता की गुफाओं की दीवारों पर चित्रित किये गये हैं। इन चित्रों की प्रशंसा करते हुए श्रीमती हैरिंघम ने लिखा है—"ये चित्र प्रकाश और छाया के क्रम पर बनाये गये हैं, जिनकी तुलना इटली में सत्रहवीं शताब्दी से पहले नहीं की जा सकती है।"[1] चित्रकला की दृष्टि से सत्रहवीं गुफा के

---

1. These pictures are composed in a light and shade scheme which can scarcely be paralleled in Italy before the 17th century and the posing and grouping are curiously natural and modern."
—Mrs. Herringham

चित्र अद्वितीय हैं। इनमें मनुष्य के भावों को जिस कला कौशल से प्रदर्शित किया गया है, वह अत्यन्त रोचक और प्रशंसनीय है।

पहली और दूसरी गुफा—अजंता की पहली और दूसरी गुफा के चित्र सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के माने जाते हैं। पहली गुफा के एक चित्र में चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय को फारस नरेश खुसरो द्वारा भेजे गए राजदूत का स्वागत करते हुए प्रदर्शित किया गया है। इस गुफा का सबसे प्रसिद्ध चित्र बोधिसत्व पद्ममणि का है। इस चित्र में बोधिसत्व की आंखों में दुःख और सुख के भाव को समान रूप से चित्रित किया गया है। दूसरी गुफा में महात्मा बुद्ध के जन्म से संबंधित कई घटनाओं का अंकन किया गया है। इसके अतिरिक्त जातक कथाओं को भी उत्कीर्ण किया गया है।

मूल्यांकन—अजंता की चित्रकला में धार्मिक चित्रों के अतिरिक्त अनेक लौकिक चित्र भी चित्रित किये गये हैं। मानव के साथ-साथ पशुओं और पक्षियों के चित्र भी बनाये गये हैं। अनेक कलाविदों ने अजंता की चित्रकला की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

कला-मर्मज्ञ डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अजंता चित्रकला की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"उस मनुष्य के लिए जिसने ये चित्र स्वयं अपने नेत्रों से नहीं देखे, इस बात का अनुमान लगाना असंभव है कि ये चित्र अपने सौन्दर्य तथा धार्मिक उत्साह आदि में कितने अद्भुत हैं। कुछ समय के लिए इन गुफाओं का दर्शक सौन्दर्य के अतीन्द्रिय जाग्रत में पहुँच जाता है।

कला-विशेषज्ञ ग्रिफिथ्स का कथन है—"अजंता की कलाकृति इतनी पूर्ण, परम्परा में इतनी निर्दोष, अभिप्राय में इतनी सजीव और विविध, आकृति तथा वर्ण के सौन्दर्य में इतनी प्रसन्न है कि उसे संसार की श्रेष्ठतम कलाकृतियों में बरबस गिनना पड़ेगा।" तेरह वर्ष तक अजंता चित्रकला का गहन अध्ययन करने वाले ग्रिफिथ्स महोदय ने अजंता चित्रकला का वर्णन करते हुए लिखा है—"यहाँ सजीव कला के दर्शन होते हैं जिसमें भावमयी मनुष्य की आकृतियाँ हैं, अंग सौन्दर्यपूर्ण और गतिशील हैं, पुष्प पूर्णतया खिले हुए हैं, पक्षी आकाश में ऊँचे उड़ रहे हैं और पशु झपटते हैं, लड़ते हैं अथवा शांति से अपने बोझ को ढो रहे हैं। यह सभी कुछ प्रकृति से प्राप्त और स्वाभाविक गति से प्रगति करता हुआ है तथा इस दृष्टि से मुगलकला से सर्वथा पृथक् है जो अस्वाभाविक और अप्राकृतिक है और इसलिए विकास के अयोग्य है।"[1] डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है—"चित्रकला गुप्तकाल में

1, "Here we have art with life in it, human faces full of expression, limbs drawn with grace and action, flowers which bloom, birds which soar and beasts that spring, or fight or patiently carry burdens ; all are taken from nature's book—growing after her pattern, and in this respect differing entirely from Muhammadan art which is unreal, unnatural and therefore incapable of development." —*Griffith*

अपनी पूर्णता पर पहुंच चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता हैं कि गुप्तकालीन नागरिक के सांस्कृतिक जीवन में चित्रकला की शिक्षा एक आवश्यक भाग थी और प्रत्येक सुसंस्कृत स्त्री और पुरुष इस युग में उसमें श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था।"[1] अजन्ता-चित्रकला पर प्रकाश डालते हुए श्रीमती ग्राबोस्का ने लिखा है—"अजन्ता की कला भारत की प्राचीन कला है। उसमें चित्रकारी का सौंदर्य आश्चर्यजनक है और वह भारतीय चित्रकारी की चरमोन्नति का प्रतीक है।"[2] डेनिश कलाकार ने अजन्ता चित्रकला के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"वे विशुद्ध भारतीय कला के उच्चतम विकास की द्योतक हैं। सम्पूर्ण चित्र से लेकर छोटे-से-छोटे मोती अथवा फूल तक सभी कुछ अन्तर्दृष्टि की गहराई तथा महान तकनीकी कुशलता के प्रमाण हैं।" अजन्ता चित्रकला की प्रशंसा करते हुए रॉथेंस्टाइन ने लिखा है—"इन चट्टानों से कटे हुए मन्दिरों की सैकड़ों दीवारों और स्तम्भों पर हम एक विशाल नाटक देखते हैं, जिसे राजकुमारों, ऋषियों और नायकों तथा प्रत्येक स्थिति के पुरुषों और स्त्रियों ने अलौकिक विभिन्न पृष्ठभूमि में खेला। जंगलों, उद्यानों, दरबारों, नगरों के चौड़े मैदानों तथा घने वनों में उन्होंने अपना-अपना ड्रामा खेला और स्वर्गीय सन्देश पहुंचाने वाले शीघ्रता से आकाश में घूमते हैं। इन सबसे एक आनन्द उत्पन्न होता है जो विश्व के मुख की आभा से, पुरुषों तथा स्त्रियों की शारीरिक श्रेष्ठता से, पशुओं के वल तथा लावण्य से और पक्षियों तथा फूलों की सुन्दरता और शुद्धता से प्रस्फुटित होता है। संसार के पदार्थों की सुन्दरता के इस पटल से हम संसार की आध्यात्मिक शक्तियों का क्रमबद्ध चित्र देखते हैं।"

बाघ गुफा की चित्रकला—मध्य प्रदेश में मालवा-गुजरात की सीमा पर स्थित बाघ गाँव के समीप अजन्ता के समान कुछ गुफाएँ है। इन गुफाओं पर चित्रकला के सुन्दर नमूने अंकित हैं। बाघ गुफाओं पर भी बौद्ध जातक कथाओं को चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त पुष्पों, लताओं, गजों, मृगों, वृषभों, गायों वानरों आदि के चित्र अंकित किये गए है। सौन्दर्य और कला की दृष्टि से ये चित्र उत्कृष्ट तथा सजीव हैं। विद्वानों का मत है कि विविधता और चित्रपटुता में ये अजन्ता की भांति हैं, किन्तु अजन्ता के चित्रों की अपेक्षा बाघ गुफाओं के चित्रों में अधिक धर्मनिरपेक्षता दृष्टिगोचर होती है। मार्शल महोदय का कथन है कि बाघ गुफाओं की चित्रकला अजन्ता चित्रकला से किसी प्रकार भी कम नहीं है। मार्शल महोदय का कथन है कि बाघ के चित्र जीवन की दैनिक घटनाओं से लिए गए हैं। परन्तु वे जीवन की वास्त-

1. "The art of painting reached its perfection in the Gupta age. It appears that training in painting formed a necessary item in the cultural makeup of the Gupta citizen and that every cultured man and woman tried to attain excellence in it during this age."
—Dr. V.S. Agrawala

2. "The art of Ajanta is the classical art of India, the beauty of the paintings is marvellous and they are the high watermark of Indian painting."
—Mrs. Grabowska

विक घटनाओं को ही चित्रित नहीं करते, बल्कि उन अव्यक्त भावों को भी स्पष्ट कर देते हैं जिनको प्रकट करना उच्चकला का लक्ष्य है।

गुप्तकालीन चित्रकला ने भारत के बाहर बृहत्तर भारत के उपनिवेशों पर भी अपनी छाप छोड़ी। गुप्तकाल में अनेक चित्रकार सूदूर देशों में गये। वहां उन्होंने अनेक चित्र अंकित करके चित्रकला के क्षेत्र में अपनी दक्षता का परिचय दिया। डॉ० नीलकण्ठ शास्त्री ने गुप्तकालीन शिल्पकला एवं चित्रकला के विषय में लिखा है—"शिल्पकला तथा चित्रकला के क्षेत्र में गुप्तकालीन कला भारतीय प्रतिभा के चूड़ान्त विकास का प्रतीक हैं और इसका प्रभाव सम्पूर्ण एशिया पर देदीप्यमान है।"[1]

मूर्तिकला

गुप्तकाल में मूर्तिकला के क्षेत्र में भी असाधारण उन्नति हुई। उस काल में हिन्दू देवी-देवताओं, बौद्ध और जैन धर्म से सम्बन्धित अनेक मूर्तियों का निर्माण किया गया। गुप्तकालीन मूर्तियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे विदेशी प्रभाव से सर्वथा मुक्त और विशुद्ध रूप में भारतीय हैं। इन मूर्तियों के निर्माण में सरलता और नैतिकता पर विशेष ध्यान दिया गया है। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने गुप्तकालीन मूर्तिकला पर प्रकाश डालते हुए लिखा है —"आमतौर से गुप्त कलावंतों की कृतियां अपनी सजीवता, सादगी, गति तथा टेकनीक की उत्तमता में विशिष्ट हैं।" विदेशी प्रभाव से मुक्त, भौंडेपन और सजावट के भार का अभाव, सुन्दर आकर्षक मूर्तियाँ, भौतिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति, उत्कृष्ट आदर्शवाद और सौन्दर्य भावना का समन्वय, समृद्ध समाज का प्रतिनिधित्व, मूर्तिकला का प्रौढ़ व परिष्कृत रूप आदि गुप्तकालीन मूर्तिकला की विशेषताएँ हैं। गुप्तकालीन मूर्तिकला की प्रगति पर प्रकाश डालते हुए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—"गुप्तकला को जो सम्मान प्राप्त हैं, वह अधिकतर मूर्तिकला के कारण है। गुप्तकाल के श्रेष्ठ कलाकारों ने अपनी छेनी से पत्थर को बहुत अच्छे ढंग से काटा और खोदा तथा उसमें से स्थायी लालित्य और सौन्दर्यपूर्ण प्रतिमाएँ बनाईं। गुप्तकला की सबसे बड़ी महत्ता इस बात में पायी जाती हैं कि इसने कुषाणकाल की बलपूर्वक ध्यान खींचने वाले रंगरास तथा कामुकता वाली कला और प्रारम्भिक मध्यकाल की अपकर्षण कला के मध्य सन्तुलन स्थापित कर दिया।"[2]

---

1. "In the realm of sculpture and painting Gupta art marks the highest reach of the Indian genius and its influence radiates all over Asia." —*Dr. K. A. N. Shastri*

2. "Sculpture has contributed most to the high esteem in which the Gupta art is held, under the stroke of the master's chisel, the stone became malleable as it were, and was transformed into figures of permanent beauty and grace, the success of Gupta sculpture lies in its balanced synthesis between the obtruding sensuality of the Kushan figures and the symbolic abstraction of the early mediaeval work." —*Dr. V. S. Agrawala*

गुप्तकाल में मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्र थे। विभिन्न स्थानों पर गुप्तकालीन हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म से सम्वद्ध अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां—गुप्तकाल में हिन्दू धर्म की प्रधानता होने के कारण हिन्दू देवी-देवताओं की अनेक प्रतिमाएँ निर्मित की गईं। इस काल में निर्मित प्रतिमाओं में शिव और विष्णु की मूर्तियों का प्रमुख स्थान है। शिव की एक-मुखी, चतुर्मुखी, अर्द्धनारीश्वर आदि मूर्तियाँ मिली हैं। एकमुखी और चतुर्मुखी शिवलिंग की पूजा गुप्तकाल में ही प्रारम्भ हुई। गुप्त कलाकारों ने शिव को अर्ध-नारीश्वर रूप में भी चित्रित किया है जिसमें शिव को आधा स्त्री तथा आधा पुरुष के रूप में दिखाया गया है। देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में शिव की अनेक कलात्मक आकृतियाँ हैं। नागोद राज्य के खोह नामक स्थान से शिव की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। भूमरा के शिव मन्दिर में छः फीट एक इंच ऊँचा एकमुखी शिवलिंग प्राप्त हुआ है।

झाँसी जिले में देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में विष्णु की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति मिली है। इसमें उन्हें मुकुट धारण किये, कानों में कुण्डल पहने, गले में हार और हाथों में कंगन पहने तथा शेषनाग की शय्या पर लेटे हुए चित्रित किया गया है। इसमें विष्णु की नाभि कमल पर ब्रह्मा को और चरणों में लक्ष्मी को दिखाया गया है। ऊपर आकाश में शिव, पार्वती, कार्तिकेय, इन्द्र आदि देवताओं को दिखाया गया है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने दशावतार मन्दिर की विष्णु प्रतिमा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"गजेन्द्र मोक्ष अनन्त पर लेटे हुए विष्णु और हिमालय में निवास करते हुए नर तथा नारायण, जिन्हें देवगढ़ के मन्दिर की मूर्तियों में चित्रित किया गया है, हिन्दू मूर्तिकला की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में से हैं।"[1] भिलसा के समीप उदयगिरि के मन्दिर में विष्णु की वराह अवतार की अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है। इस मूर्ति में शरीर मनुष्य का और मुख वराह का दिखाया गया है। वराह दाढ़ों में पृथ्वी को लिए हुए है। इसी के पास गंगा-यमुना के जन्म, प्रयाग में संगम और उनके सागर में विलीन होने को दो असाधारण दृश्यों में प्रदर्शित किया गया है। डॉ० अग्रवाल ने लिखा है—"उदयगिरि की विशाल वराह मूर्ति को गुप्त मूर्तिकारों की कुशलता का स्मारक माना गया है।"

गुप्तकाल में शिव और विष्णु प्रतिमाओं के अतिरिक्त हिन्दू धर्म के ब्रह्मा, सूर्य, कार्तिकेय, लक्ष्मी, पार्वती आदि देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। देवगढ़ के मन्दिर में राम और कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं को दृश्यों के रूप में चित्रित किया गया है। अहिल्यो द्धार, राम वन-गमन, शूर्पणखा नासिका-छेदन

1. "Gajendramoksha, Vishnu reclining on Ananta and Nara and Narayana in their Himalayan hermitage, sculptured in the Deogarh temple, rank among the best specimens of Hindu sculpture."
—*Dr. V. S. Agrawala*

कृष्ण की बाल-लीला, कृष्ण का गोकुल-गमन, कृष्ण-सुदामा भेंट, कंसवध आदि दृश्यों को अंकित किया गया है।

गुप्तकाल में कार्तिकेय नामक देवता को विशेष सम्मान दिया जाता था। उस काल की कार्तिकेय की मूर्ति काशी के कला भवन में सुरक्षित है। कार्तिकेय युद्ध देवता और देवताओं के सेनापति माने जाते थे। युद्ध में विजय के उपरांत उनकी पूजा की जाती थी। काशी के पास एक टीले से कृष्ण मूर्ति प्राप्त हुई थी जो अब सारनाथ के अजायबघर में सुरक्षित है। इस मूर्ति में कृष्ण गोवर्धन पर्वत को उठाए हुए हैं। कौशांबी से प्राप्त सूर्य प्रतिमा अत्यन्त सुन्दर और मोहक है। गुप्तकालीन कलाकारों ने हिन्दू देवी-देवताओं तथा पौराणिक गाथाओं को बड़ी सरलता और निपुणता के साथ पाषाण पर उत्कीर्ण किया है।

बौद्ध प्रतिमाएं—गुप्तकाल में महात्मा बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ निर्मित की गईं जिनमें तीन मूर्तियाँ कला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। महात्मा बुद्ध की एक ताम्र प्रतिमा सुल्तानगंज से प्राप्त हुई है। वर्तमान समय में यह मूर्ति इंग्लैंड के बर्मिंघम अजायबघर में सुरक्षित है। यह मूर्ति साढ़े सात फीट लम्बी है। इस मूर्ति में बुद्ध का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में खड़ा है और मुख मण्डल पर अपूर्व शान्ति, दिव्य तेज और करुणा के भाव दृष्टिगोचर होते हैं। बुद्ध की दूसरी मूर्ति मथुरा से मिली है। इसमें महात्मा बुद्ध को खड़ा दिखाया गया है। उनका शरीर महीन वस्त्र से ढका हुआ है। उनके पीछे प्रभा मण्डल है। उनकी इस प्रतिमा में शान्ति, करुणा, तेज और आध्यात्मिकता के भाव दिखाई देते हैं। बुद्ध की तीसरी महत्त्वपूर्ण मूर्ति सारनाथ से प्राप्त हुई है। बुद्ध की यह प्रतिमा धर्मचक्र प्रवर्तन से सम्बद्ध है। महात्मा बुद्ध पद्मासन पर बैठे हैं और उनके सिर के चतुर्दिक प्रकाश मण्डल दिखाया गया है। शान्ति, करुणा, गम्भीरता, माधुर्य और कोमलता इस प्रतिमा की विशेषताएँ हैं। उनके सिर पर केश हैं और पलकें झुकी हुई हैं। पद्मासन के मध्य में धर्मचक्र अंकित है तथा उसके दोनों ओर मृग दिखाये गये हैं। भिक्षु चक्र के सम्मुख करबद्ध खड़े हैं। सारनाथ में बुद्ध तथा बोधिसत्वों की अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त महात्मा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं को पाषाण खण्डों पर चित्रित किया गया है। इनमें महात्मा बुद्ध का लुम्बिनी में जन्म, तप हेतु गृहत्याग, गया में बुद्धत्व प्राप्ति, सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन और कुशीनगर में महापरिनिर्वाण की घटनाओं को कुशलता तथा सजीवता के साथ अंकित किया गया है।

जैन-प्रतिमाएँ—हिन्दू देवी-देवताओं तथा बौद्ध प्रतिमाओं के अतिरिक्त गुप्तकाल में जैन प्रतिमाओं का निर्माण किया गया था। मथुरा, गोरखपुर आदि स्थानों से महावीर स्वामी तथा अन्य जैन-तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों में मथुरा से प्राप्त चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी की मूर्ति महत्त्वपूर्ण है। महावीर स्वामी ध्यान मुद्रा में पद्मासन पर बैठे हैं। आसन के नीचे एक लेख खुदा है और एक चक्र बना है। चक्र के दोनों ओर मानव आकृतियाँ बनी हैं।

मिट्टी की मूर्तियां—गुप्तकालीन हिन्दू देवी-देवता, बौद्ध प्रतिमाएँ, स्त्री-पुरुषों तथा पशु-पक्षिओं की सुन्दर और सजीव मिट्टी की मूर्तियां मिली हैं। उस काल में पकी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। इन मूर्तियों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है—"उस काल की प्रचलित सच्ची कला की आत्मा मिट्टी की इन बनी हुई आकृतियों में पाई जाती है। गुप्तकालीन कलाकारों के विषय में यह सत्य ही कहा गया है कि उन्होंने जिस वस्तु पर हाथ लगाया उसी को अत्यन्त सुन्दर बना दिया।"[1] गुप्तकाल में रंगीन खिलौने और शिव विष्णु, सूर्य, गंगा, यमुना, हाथी, शेर आदि की मिट्टी की मूर्तियाँ बनाई गई।

संगीत और अभिनय कला—गुप्त सम्राट संगीत और अभिनय कला के प्रेमी थे, अतः उनके काल में इन कलाओं का विकास स्वाभाविक था। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त महान संगीत प्रेमी था। उसकी मुद्राओं में उसे वीणा बजाते हुए चित्रित किया गया है। प्रयाग-प्रशस्ति से विदित होता है कि समुद्रगुप्त ने संगीत कला में प्रवीण नारद और तुंबरु को भी लज्जित कर दिया था। भूमरा के शिव मन्दिर में शिव को गण भेरी, झांझ आदि बजाते हुए प्रदर्शित किया गया है। बाघ गुफाओं में नर्तक को नृत्य करते हुए तथा स्त्रियों को बाजा बजाते हुए दिखाया गया है। सारनाथ से प्राप्त एक प्रस्तर खण्ड पर एक नारी को नृत्य करते हुए चित्रित किया गया है।

गुप्तकाल में अनेक नाटककारों का आविर्भाव हुआ जिनमें कालिदास और विशाखदत्त के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों की कृतियों से संगीत, नृत्य और अभिनय कला का ज्ञान होता है। गुप्तकाल में रचित अनेक नाटकों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उस काल में जनसाधारण अभिनय कला से अवगत था।

धातु और मुद्रा कला—गुप्तकालीन शिल्पी धातुकला में प्रवीण थे, धातुओं को गलाकर तथा मिलाकर उनकी मूर्तियां तथा स्तंभ आदि निर्मित करवाए गए। गुप्तकालीन बुद्ध की अनेक ताम्र प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं जिनमें सुल्तानगंज से प्राप्त साढ़े सात फीट ऊंची तांबे की बुद्ध प्रतिमा उल्लेखनीय हैं। चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने नालंदा विश्व विद्यालय के प्रांगण में अस्सी फीट ऊंची बुद्ध कांस्य प्रतिमा के दर्शन किए थे। उसने अपने यात्रा वृत्तांत में उसका उल्लेख किया है। गुप्तकालीन धातुकला का एक अद्भुत उदाहरण महरौली में कुतुब-मीनार के समीप स्थित लौह-स्तंभ है जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की अमर और विमल कीर्ति का स्मरण कराता है। यह सात मीटर ऊंचा और छः टन वजन वाला है। सर्दियों, धूप और वर्षा में खड़े रहने के बावजूद उसमें आज तक जंग नहीं लगा, जो सचमुच आश्चर्य का विषय है।

---

1. "Much of the Terra-Cotta works of the Gupta period is imbued with the spirit of true art prevailing at that time. It can be rightly claimed for the Gupta artist that he adorned whatever he touched."
—Dr. V. S. Agrawala

गुप्त सम्राटों ने स्वर्ण, रजत तथा अन्य धातुओं के सिक्के प्रचलित किए। उनके सिक्कों में राजा की प्रतिमा, लक्ष्मी की मूर्ति, गरुड़ध्वज और सिंह की अत्यंत सजीव और कलापूर्ण आकृतियां बनी हैं। चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों में उसे तथा उसकी रानी कुमारदेवी को चित्रित किया गया है। समुद्रगुप्त के सिक्कों में उसे वीणा बजाते तथा शिकार खेलते हुए दिखाया गया है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिक्कों में उसे सिंहासन पर आसीन और सिंह का वध करते हुए अंकित किया गया है। कुमार गुप्त तथा स्कंदगुप्त के सिक्कों में उस काल के देवी-देवताओं के चित्र बनाए गए हैं।

मूल्यांकन—गुप्तकालीन कला के सभी अंगों का अध्ययन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष सहज ही निकल जाता है कि उस काल में स्थापत्यकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य और अभिनयकला तथा धातु एवं मुद्राकला सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई, जिसने न केवल भारतवर्ष को प्रभावित किया, वरन् सुदूर पूर्व के देशों पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ी। गुप्तकालीन कला की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह विशुद्ध रूप में भारतीय कला है और विदेशी प्रभाव से मुक्त रही है। गाँधार कला भी उसे प्रभावित नहीं कर पाई। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ डॉ०,वासुदेव शरण अग्रवाल ने गुप्तकालीन कला की चार विशिष्टताओं का उल्लेख किया है जिनका विवरण इस प्रकार है—(1) परिष्कार और संयम से युक्त कला, (2) सौंदर्य की अवधारणा, (3) गहन धार्मिक और आध्यात्मिक आकर्षण, तथा (4) शैली की सादगी और अभिव्यंजन की अनुकूलता।

गुप्तकला उस काल की धार्मिक विचारधाराओं और नैतिकता का प्रतीक थी। शारीरिक सौंदर्य की अपेक्षा चित्रकारों ने आध्यात्मिक भावना को ऊंचा स्थान दिया है। कला-मर्मज्ञ डा० आनंद कुमार स्वामी का कथन है—"गुप्तकालीन कला एक पूर्ण स्वाभाविक क्रमिक बलात्मक विकास की पराकाष्ठा का प्रतीक है।" गुप्तकालीन कला की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए डा० राखलदास बनर्जी ने लिखा है—"गुप्तकला वास्तव में पुनरुत्थान है जिसका कारण चौथी तथा पाँचवीं शती ई० में उत्तरी भारत के लोगों के विचारों में परिवर्तन था। इस परिवर्तन का आधार पुराने लक्षणों को मिलाना, विदेशी लक्षणों को निकाल बाहर करना और पूर्णतया नये तथा विशुद्ध भारतीय विचारों की क्रमबद्ध रचना करना था।" रालिंसन महोदय ने गुप्तकला के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"समय के थपेड़ों तथा हूण और मुस्लिम आक्रमणकारियों के प्रहारों से गुप्तकला एवं शिल्पकला को बहुत क्षति हुई है, और बहुत कम नमूने बच सके हैं। किन्तु जो कृतियां प्राप्त हुई हैं उनसे स्पष्ट होता है कि ह्वेन्सांग और बाणभट्ट के वर्णन बढ़ा-चढ़ा कर नहीं लिखे गए थे।"

गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दशा

गुप्तकालीन साहित्यिक ग्रंथों, अभिलेखों में उल्लिखित विवरणों, मुद्राओं, कलाकृतियों तथा चीनी यात्री फाहियान के यात्रा-वृत्तांत से उस काल की सामाजिक,

धार्मिक और आर्थिक दशा पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। गुप्तकाल सर्वांगीण विकास का युग था। अतः उस काल में सामाजिक धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई। ब्राह्मण धर्म को, जो जैनधर्म और बौद्धधर्म के अभ्युदय के कारण अवनति की ओर उन्मुख था, गुप्त सम्राटों ने राजधर्म घोषित कर उसके पुनरुत्थान में महत्वपूर्ण योग दिया। सभी क्षेत्रों में पराकाष्ठा का युग होने के कारण गुप्तकाल 'पुनरुत्थान का युग' के नाम से बोधित है। गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दशा इस प्रकार विदित होती है—

सामाजिक दशा

अध्ययन की सुविधा के लिए गुप्तकालीन सामाजिक दशा को निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—

वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था—गुप्तकाल ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का काल था। वैदिक काल से ही भारतीय समाज चार वर्णों में विभक्त रहा है। गुप्तकालीन समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में विभक्त था। फाहियान के यात्रा-वृत्तांत से विदित होता है कि चारों वर्णों के लोग अलग-अलग नियमों के अनुसार रहते थे और अपने ही वर्ण में विवाह करते थे। सभी वर्णों के लोग अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन और धार्मिक क्रियाओं को संपन्न करते थे।। समाज में उन्हें सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। राजा का पुरोहित ब्राह्मण होता था जिससे शासन-संचालन में आवश्यक मंत्रणा ली जाती थी। गंभीर अपराध करने पर भी ब्राह्मण को मृत्यु-दंड नहीं दिया जाता था। वे कर से मुक्त थे। समाज में ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का स्थान था। क्षत्रिय देश रक्षा और शासन-संचालन का कार्य करते थे। वैश्यवर्ण के लोग कृषि और व्यापार का कार्य करते थे। उन्हें यज्ञ, दान और अध्ययन करने का अधिकार भी था। गुप्तकाल में वैश्य लोग न्यायालय, औषधालय और धर्मशालाओं में नियुक्त किये जाते थे। शूद्रवर्ण के लोग अन्य वर्ण के लोगों की सेवा किया करते थे। अन्य वर्णों की अपेक्षा उनके लिए दंड-विधान कठोर था। गुप्तकालीन समाज में चांडालों का उल्लेख भी मिलता है। चांडाल लोग नगरों और ग्रामों से बाहर निवास करते थे। उनका स्पर्श वर्जित था।

गुप्तकालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त अनेक जातियों का उल्लेख भी मिलता है। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था में पहले की अपेक्षा जटिलता अवश्य आ गई थी तथापि उसमें इतनी अधिक कठोरता नहीं आई थी कि व्यवसाय-परिवर्तन निषिद्ध हो जाएं। प्रत्येक वर्ण के लोग बिना किसी प्रतिबन्ध के स्वतन्त्रतापूर्वक और इच्छा-नुसार व्यवसाय परिवर्तन कर सकते थे। उस काल में शूद्रों के उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने तथा सेना में भर्ती होने का उल्लेख मिलता है। गुप्तकालीन रचना मृच्छकटिक में चारुदत्त नामक ब्राह्मण को व्यापारी कहा गया है। कुछ ब्राह्मण शिल्पकार का कार्य भी करते थे। क्षत्रिय वर्ण के लोग भी व्यापार करते थे। शूद्र व्यापार, शिल्प

और कृषि का कार्य करते थे । इस प्रकार गुप्तकाल में व्यवसाय-परिवर्तन की स्वतन्त्रता थी ।

चार वर्णों की भांति गुप्तकाल में चार आश्रमों का भी प्रचलन था । राजा वर्णों एवं आश्रमों का रक्षक था । व्यक्ति को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमों का पालन करना पड़ता था । प्राचीन काल से ही प्रत्येक आश्रम का काल पच्चीस वर्ष निर्धारित किया गया है । जीवन के प्रारंभिक पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत व्यतीत करने पड़ते थे । ब्रह्मचर्य आश्रम के अंतर्गत ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन करना पड़ता था । पच्चीस से पचास वर्ष का आयु-काल गृहस्थ आश्रम के अंतर्गत आता था । इस आश्रम में मनुष्य विवाह करके सांसारिक सुखों का भोग करता था । पचास से पचहत्तर वर्ष तक का आयु-काल वानप्रस्थ आश्रम कहलाता था, जिसमें सांसारिक सुखों और समस्याओं से मुक्त होकर वन में जाकर धार्मिक चिंतन करना पड़ता था । पचहत्तर वर्ष के बाद संन्यास प्रारम्भ होता था । संन्यास आश्रम का तात्पर्य था समस्त सुखों को तिलांजलि देकर संन्यास ग्रहण करना और ईश्वर-प्राप्ति में लीन हो जाना । आश्रम-व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य व्यवस्थित ढंग से जीवन यापन करना और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना था ।

आत्मसात की शक्ति भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है । गुप्तकालीन भारतीयों ने अपनी संस्कृति के अनुरूप अनेक विदेशी जातियों को बिना किसी भेद-भाव के भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन कर लिया । भारत में जब यूनानी, बाख्मी, कुषाण, पल्लव, शक आदि विदेशी जातियों का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया तो वे गुप्तकालीन समाज में विलीन हो गए ।

पारिवारिक जीवन और विवाह प्रथा—गुप्तकालीन पारिवारिक जीवन सुखी और समृद्ध था । समाज में संयुक्त परिवार की प्रथा लोकप्रिय थी । पिता अथवा वयोवृद्ध व्यक्ति परिवार का मुखिया (प्रधान) होता था । वही परिवार की सम्पत्ति का स्वामी होता था । तत्कालीन स्मृति ग्रंथों में संयुक्त परिवार प्रथा की प्रशंसा की गई है और पिता के काल में परिवार के विभाजन की निंदा की गई है । तत्कालीन अभिलेखों में संयुक्त परिवार प्रथा का उल्लेख मिलता है । पूर्वजों की सम्पत्ति में पुत्र का जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता था । परिवार का विभाजन बुरा समझा जाता था । संतानहीन लोगों में गोद लेने की प्रथा प्रचलित थी ।

विवाह एक पवित्र संस्कार माना जाता था । प्रधानतया माता-पिता ही विवाह तय करते थे । गुप्तकाल में साधारणतया सजातीय विवाह की प्रथा प्रचलित थी । किन्तु अनुलोम और प्रतिलोम विवाह पद्धतियों का भी उल्लेख मिलता है । उच्चवर्ण का व्यक्ति और निम्नवर्ण की स्त्री के विवाह को अनुलोम कहा जाता था । प्रतिलोम ठीक इसके विपरीत प्रथा थी । उसमें उच्चवर्ण की स्त्री और निम्नवर्ण के पुरुष का विवाह होता था । उस काल में अन्तर्जातीय विवह भी प्रचलित थे । ब्राह्मण वंशीय वाकाटक नरेश रुद्रसेन ने गुप्तवंश की राजकुमारी प्रभावती गुप्त से

विवाह किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने नागवंशीय राजकुमारी कुबेरनागा के साथ विवाह सम्पन्न किया था। ब्राह्मण वंशीय कदंब राजाओं ने अपनी कन्याओं का विवाह गुप्त राजकुमारों के साथ सम्पन्न करवाया था। रविकीर्ति नामक ब्राह्मण ने भानुगुप्ता से विवाह किया था। समाज में एक पत्नी विवाह की प्रथा सर्वमान्य थी, किन्तु बहु विवाह की प्रथा भी थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त की अनेक रानियां थीं। प्राय: बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में कन्या का विवाह कर दिया जाता था। स्मृतिकारों ने यह मत व्यक्त किया है कि रजस्वला होने से पूर्व कन्या का विवाह कर देना चाहिए। वात्स्यायन के अनुसार वर-वधू में कम-से-कम तीन वर्ष का अन्तर होना चाहिए। गुप्तकालीन कवि-शिरोमणि कालिदास ने प्राचीन आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है—ब्राह्म विवाह, प्राजापत्य विवाह, आर्ष विवाह, दैव विवाह, असुर विवाह, गाँधर्व विवाह, राक्षस विवाह और पिशाच विवाह। स्वयंवर प्रथा भी प्रचलित थी। यद्यपि विधवा विवाह की प्रथा अधिक प्रचलित नहीं थी, तथापि उस काल में विधवा-विवाह निषिद्ध नहीं थे। चन्द्रगुप्त ने अपने अग्रज रामगुप्त का वध कर उसकी विधवा स्त्री ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया था। नारद और पाराशर स्मृतियों में भी विधवा को बुरा नहीं कहा गया है। राजवंशों और धन-सम्पन्न लोगों में बहु-विवाह की प्रथा थी।

स्त्रियों की स्थिति—गुप्तकालीन समाज में स्त्रियों को वह सम्मान प्राप्त नहीं था, जो वैदिक काल में था। बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में कन्या का विवाह कर दिया जाता था। स्त्रियां उपनयन संस्कार और वेदों का अध्ययन नहीं कर सकती थीं। संयुक्त परिवार की विधवा को जीवन-वृत्ति मिलती थी, किन्तु संयुक्त परिवार से पृथक विधवा को पति की सम्पत्ति में जीवन-पर्यन्त अधिकार दिया जाता था। विधवाओं को अत्यन्त सरल जीवन व्यतीत करना पड़ता था। वे आभूषण और सुन्दर वस्त्र धारण नहीं कर सकती थीं, सुगंधित पदार्थों का उपयोग भी उनके लिए निषिद्ध था। स्त्रियों में पर्दे की प्रथा नहीं थी। गुप्तकाल में सती प्रथा न्यून मात्रा में प्रचलित थी। कालिदास और वात्स्यायन ने भी सती प्रथा का उल्लेख किया है। भानुगुप्त के 510 ई० के एरण अभिलेख में गोपराज की मृत्यु के पश्चात उसकी पत्नी के सती हो जाने का उल्लेख मिलता है। मृतक गोपराज के साथ उसकी पत्नी ने चिताग्नि में प्रवेश किया था। बाल्यकाल में विवाह हो जाने के कारण स्त्रियों की शिक्षा की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था, उन्हें पुरुष के भोग-विलास का साधन कहा गया है।

यद्यपि गुप्तकाल में नारियों को वैदिक काल की भांति सम्मान प्राप्त था तथापि समाज में उनकी स्थिति अधिक खराब नहीं थी। कालिदास की कृतियों से विदित होता है कि कन्या को स्नेह मिलता था। कुमारसंभव में पुत्री को कुल का प्राण कहा गया है। कात्यायन ने संपत्ति में नारी का अधिकार स्वीकार किया है। पत्नी और माता के रूप में उसे (नारी को) उच्च स्थान प्राप्त था। उच्च कुल की कन्याओं के लिए शिक्षा की व्यवस्था थी। वे नृत्य, संगीत और चित्रकला के क्षेत्र में

शिक्षाएं अर्जित करती थीं। अमरकोश में वैदिक मंत्रों की शिक्षा प्रदान करने वाली स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता सुशिक्षित महिला थी। कालिदास ने शकुंतला द्वारा प्रेम-पत्र लिखने का उल्लेख किया है। स्त्रियां पुरुषों के साथ सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में भाग लेती थीं।

खान-पान और मनोरंजन के साधन—गुप्तकालीन लोग संयमित जीवन को अधिक महत्त्व देते थे। विशेष अवसरों पर ही मांसाहार और मदिरापान किया जाता था। प्रायः क्षत्रिय और निम्नवर्ण के लोग मांस का प्रयोग करते थे। फाहियान के यात्रा-वृत्तान्त से विदित होता है कि लोग सुखी और सम्पन्न थे। जनसाधारण सुरा-पान और मांसाहार नहीं करता था। लोग प्याज तथा लहसुन का प्रयोग भी नहीं करते थे। केवल चांडाल लोग, जो शहर से बाहर रहते थे, माँस और मछली का प्रयोग करते थे। उसने लिखा है—"बाजारों में माँस और मदिरा की दुकानें नहीं हैं, लोग सूअर या मुर्गियाँ नहीं पालते, प्याज तथा लहसुन तक नहीं खाते, शराब नहीं पीते थे। केवल चांडाल शिकार खेलते और मांस बेचते थे।" लोग गेहूँ, जौ, चावल, दही, दूध, घी, तेल, दाल, चीनी, गुड़, इलायची, मिर्च, नमक आदि का प्रयोग करते थे। दिन में दो बार भोजन किया जाता था।

शतरंज, जुआ, गेंद खेलना, आखेट करना, पशुओं की लड़ाई, नृत्य, संगीत, नाटक, मेले, धार्मिक उत्सव और रथ-यात्राएँ मनोरंजन के साधन थे। पानगोष्ठियों में लोग समूहिक रूप से सुरापान करते थे। जलक्रीड़ा और नौका-विहार से मनो-रंजन किया जाता था। शरद-पूर्णिमा को कौमुदी महोत्सव तथा चैत्र पूर्णिमा को वसंतोत्सव मनाया जाता था। फाहियान पाटलिपुत्र में प्रतिवर्ष सम्पन्न होने वाली रथयात्रा के उत्सव का उल्लेख करता है।

वस्त्र और आभूषण—लोग वस्त्र और आभूषण धारण करते थे। ऋतु के अनुसार सूती और ऊनी प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। विशेष उत्सवों पर रेशमी वस्त्र पहने जाते थे। श्वेत, लाल, नीले, श्याम और केसरिया आदि रंग-बिरंगे वस्त्र पहने जाते थे। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों तीन-तीन वस्त्र धारण करते थे। स्त्रियां चोली, घाघरा और उत्तरीय पहनती थीं। पुरुष पगड़ी, अधोवस्त्र और उत्तरीय पहनते थे। विदेशी महिलाएँ जैकेट, ब्लाउज, फ्राक आदि का प्रयोग करती थीं।

स्त्री-पुरुष दोनों आभूषणप्रेमी थे। रत्नों, सोने और मोती के अनेक आभूषण बनाए जाते थे। हार, करधनी, कड़े, कान की बालियां, मोतियों की मालाएँ अंगूठियाँ आदि आभूषणों का विशेष प्रचलन था। राजपरिवार के लोग सिर पर चूड़ामणि, शिखा-मणि, किरीट, मुकुट आदि धारण करते थे। अपने को सुन्दर प्रदर्शित करने के लिए रंग का प्रयोग किया जाता था और केशों को संवारा जाता था। अनेक सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था।

शिक्षा—गुप्तकाल में शिक्षा की उचित व्यवस्था थी। पाटलिपुत्र, वल्लभी

उज्जैन, पद्मावती, अयोध्या, नालन्दा, अवरपुर, वत्सगुल्य, काशी, कांची, मथुरा, नासिक आदि गुप्तकालीन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। शिष्य को गुरु के पास जाकर शिक्षा अर्जित करनी पड़ती थी। राजा और राज्य के धनी लोग शिक्षा का भार वहन करते थे। नालन्दा एशिया में शिक्षा का उच्च केन्द्र समझा जाता था, जहां अनेक देशों के विद्यार्थी विद्याध्ययन हेतु आते थे। वेद, पुराण, धनुर्विद्या, दर्शन शास्त्र, तर्कशास्त्र, स्मृति, औषधि विज्ञान आदि की शिक्षा दी जाती थी।

अन्धविश्वास और दास-प्रथा—गुप्तकालीन समाज में अन्धविश्वास की भावनाएँ व्याप्त थीं। अन्धविश्वास अधिकतर स्त्रियों में प्रचलित था। स्त्रियों की बाईं आँख का फड़कना शुभ और दाईं आँख का फड़कना अशुभ समझा जाता था। पुरुषों की दाईं आँख की फड़कना अच्छा माना जाता था। लोग क्षा-सूत्र पहनते थे तथा तावीजों का भी प्रचलन था।

विश्व के अन्य देशों की भाँति प्राचीनकाल में भारत में दास-प्रथा प्रचलित थी। गुप्तकाल में भी दास-प्रथा प्रचलित थी। अन्य देशों के दासों की अपेक्षा भारत में दासों के साथ अत्यन्त नम्र व्यवहार होता था। यही कारण है कि विदेशी यात्री भारत में दासों की स्थिति का ज्ञान प्राप्त न कर सके। इसीलिए उन्होंने भारतवर्ष में प्रचलित दास-प्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। गुप्तकाल में दास-प्रथा का उल्लेख मिलता है। युद्धवन्दियों, ऋणी लोगों और हारे जुआरियों को दासता का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। ये दास ऋण चुकाने के उपरान्त स्वतन्त्र भी हो सकते थे। दासों को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी और उनके साथ अच्छा व्यवहार होता था। अकाल की स्थिति में निर्धन लोग स्वेच्छानुसार धनी लोगों की दासता स्वीकार कर लेते थे।

धार्मिक दशा

वैदिक धर्म का पुनरुत्थान—वैदिक धर्म में, जो प्रारम्भ में व्यावहारिक था, कालान्तर में अनेक जटिलताएँ आ गईं। अहिंसक यज्ञों, कर्मकाण्ड की जटिलता और अन्धविश्वासों से युक्त होने के कारण महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने वैदिकधर्म का विरोध किया। उन्होंने जैनधर्म और बौद्धधर्म के माध्यम से वैदिकधर्म में व्याप्त बुराइयों पर कुठाराघात किया। सरल और व्यावहारिक होने के कारण जनसाधारण नवीन धर्मों की ओर आकृष्ट हुआ। 320 ई० में गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने वंश की स्वाधीनता घोषित करते हुए अपनी स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना कर डाली। प्रारम्भिक गुप्त नरेश वैष्णव मतावलम्बी थे। उन्होंने 'परम भागवत' उपाधि धारण की। गुप्त सम्राटों ने ब्राह्मण धर्म को राजधर्म घोषित कर उसके उत्थान के लिए अनेक प्रयत्न किए। उनका काल 'ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान का काल' माना जाता है। गुप्तकाल में मीमांसा, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र और न्यायसूत्र की रचना कर बौद्ध मत का विरोध किया गया। पुराण और स्मृति ग्रन्थों में वैदिक धर्म की प्रशंसा की गई। अश्वमेध यज्ञों को पुनः सम्पादित किया जाने लगा। समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त ने

अश्वमेध यज्ञ सम्पादित करवाए। उस काल के अन्य वंशों के छोटे-बड़े अनेक राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किए, जिनमें वाकाटक नरेशों का प्रमुख स्थान है। गुप्त सम्राटों ने संस्कृत को राजभाषा का स्थान प्रदान कर वैदिकधर्म के पुनरुत्थान का मार्ग प्रशस्त किया।

गुप्तकालीन हिन्दू धर्म में प्राचीन और नवीन तत्त्वों का समन्वय था। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा सम्पादित 'दि क्लासिकल एज' में लिखा गया है—"वैदिक धर्म (गुप्तकालीन वैदिक धर्म) विभिन्न शाखाओं और प्रशाखाओं में विकसित हो गया था। उसमें प्राचीन एवं नवीन, उच्च तथा निम्न, धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों का समन्वय मिलता है, उसने समाज में निरन्तर नवीन तत्त्वों के प्रवेश में खोया कुछ नहीं था, वह नवीन तत्त्वों से कुछ-न-कुछ ग्रहण ही करता रहा।"

धार्मिक सहिष्णुता—वैदिक धर्म के अनुयायी गुप्त सम्राटों ने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। गुप्तकाल में हिंदू, बौद्ध और जैनधर्म के अनुयाइयों में बिना किसी द्वेष और भेदभाव के परस्पर वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ होते थे। जन-साधारण को धर्म के क्षेत्र में पर्याप्त स्वतंत्रता थी। गुप्त सम्राटों ने सभी धर्मों के अनुयाइयों को उनकी योग्यतानुसार शासन में स्थान दिया। वैष्णव मतावलम्बी समुद्र गुप्त ने अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा के लिए बौद्ध विद्वान् वसुवंधु को नियुक्त किया था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शैव अनुयायी वीरसेन को प्रधानमंत्री और बौद्ध अनुयाई आम्रकाद्दव को प्रधान सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित किया। कुमारगुप्त का मंत्री पृथ्वीषेण शैव मतावलम्बी था। फाह्यान ने गुप्तकालीन सहिष्णुता का उल्लेख किया है। ह्वेन्सांग के अनुसार कुमारगुप्त प्रथम ने नालंदा में बौद्ध विहार की स्थापना की थी। उसके काल में सूर्य मन्दिर और शिवलिंग की स्थापना की गई। स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में पाँच जैन तीर्थंकरों की पाषाण प्रतिमाएँ निर्मित करवाई गईं। गुप्त सम्राटों ने बौद्ध शिक्षा के केन्द्र नालन्दा विश्वविद्यालय को संरक्षण प्रदान किया। स्कन्दगुप्त के बाद के गुप्त सम्राटों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। गुप्त सम्राट् नरसिंह गुप्त 'बालादित्य', बुधगुप्त और तथागतगुप्त बौद्ध अनुयाई थे। गुप्तकाल में वैदिक धर्म के अतिरिक्त बौद्ध धर्म और जैन-धर्म की प्रतिमाएँ निर्मित की गईं।

वैष्णव धर्म—गुप्त सम्राट् वैष्णवधर्म के अनुयाई थे। गुप्तकाल में विष्णु के अनेक अवतार माने जाते थे, जिनमें मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन, नृसिंह, परशुराम, राम और कृष्ण प्रमुख थे। गुप्तकालीन अभिलेखों में विष्णु के अनेक अवतारों का उल्लेख करते हुए उनकी स्तुति की गई है। गुप्त सम्राटों ने वैष्णव धर्म को राजधर्म के रूप में मान्यता प्रदान की। समुद्रगुप्त वैष्णव मतावलम्बी था। उसने वैदिक धर्म के अनुरूप अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर उसका पुनरुद्धार किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने 'परम भागवत' का विरुद धारण किया। कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ सम्पादित किए।

वैष्णव धर्म को 'भागवत' धर्म भी कहा जाता है। गुप्त सम्राटों ने 'परमभाग-

वत महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। गरुड़ को विष्णु का वाहन माना जाता है। गुप्त सम्राटों ने गरुड़ध्वज को अपनी मुद्राओं में अंकित करवाया। उनके सिक्कों पर विष्णु की पत्नी लक्ष्मी का चित्र भी अंकित है। गुप्त सम्राटों ने अपने आराध्य देव विष्णु की अनेक प्रतिमाएँ निर्मित करवाईं और मन्दिर स्थापित किए। गुप्त काल में निर्मित देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में विष्णु की एक अत्यंत सुन्दर मूर्ति है। उदयगिरि के मन्दिर में विष्णु की वराह अवतार की अत्यंत सुन्दर मूर्ति है। उसे गुप्त मूर्तिकारों की कुशलता का स्मारक माना जाता है। देवगढ़ के मन्दिर में विष्णु के अन्य अवतार राम और कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध अनेक घटनाओं को दृश्यों के रूप में चित्रित किया गया है। स्कन्दगुप्त ने एक विष्णु प्रतिमा निर्मित करवाई। गुप्त चित्रकारों ने लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी के रूप में चित्रित किया है। गुप्तकाल में विष्णु की आराधना में ध्वज स्तम्भ स्थापित किए गए। गुप्तकालीन अभिलेखों में विष्णु की स्तुति का उल्लेख मिलता है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख का विवरण विष्णु की स्तुति से प्रारम्भ किया गया है। बुधगुप्त के एकरण अभिलेख में विष्णु की प्रार्थना की गई है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि गुप्त सम्राट् विष्णु के उपासक थे।

शैव धर्म—गुप्त सम्राटों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति के कारण उनके काल में शिव की उपासना भी प्रचलित थी। गुप्तकाल में निर्मित शिव की एकमुखी, चतुर्मुखी, अर्द्धनारीश्वर आदि मूर्तियाँ मिली हैं। लिंग और मानव रूप में शिव की पूजा प्रचलित थी। देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में शिव की अनेक कलात्मक आकृतियाँ हैं। भूमरा के शिव मन्दिर में छह फीट और एक इंच एकमुखी शिवलिंग प्राप्त हुआ है। गुप्त काल में अनेक शिव मन्दिरों का निर्माण हुआ था। गुप्त सम्राटों ने शैव मतावलंबियों को उच्च प्रशासकीय पदों पर प्रतिष्ठित किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का मन्त्री वीरसेन, जिसने उदयगिरि में एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था, शैव मत का अनुयाई था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में शैव गुफाओं का निर्माण हुआ। उसके काल का मथुरा से प्राप्त अभिलेख शैवधर्म के पाशुपत संप्रदाय से सम्बद्ध है। कुमारगुप्त प्रथम का महाबलाधिकृत पृथ्वीसेन शिव का उपासक था। कुमारगुप्त के करमदंडा अभिलेख से विदित होता है कि शैव मतावलम्बी शिव का जलूस निकालते थे। कालिदास शैव का अनुयाई था। उसने उज्जैन में निर्मित महाकाल मन्दिर का उल्लेख किया है। गुप्त सम्राट् वैन्यगुप्त शिव का भक्त था। गुप्त सम्राटों के समकालीन अन्य वंश भार शिव, वाकाटक, नल, मैत्रक, कदम्ब आदि शैव उपासक थे। समाज में शिव के पुत्र कार्तिकेय और गणेश की पूजा प्रचलित थी।

अन्य देवी-देवता—विष्णु और शिव के अतिरिक्त गुप्तकाल में ब्रह्मा, सूर्य, नाग, यक्ष, लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती आदि देवी-देवताओं की पूजा होती थी। गुप्तकाल में चार सूर्य-मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख मिलता है। कुमारगुप्त के शासनकाल में मंदसौर में सूर्य मन्दिर का निर्माण हुआ था। निम्न जातियों के लोगों में नाग और यक्षों की पूजा प्रचलित थी। पद्मावती (ग्वालियर) और राजगृह (बिहार) में यक्ष

मन्दिर पाये गये हैं। उदयगिरि की गुफा में गुप्तकालीन दुर्गा की मूर्तियाँ मिली हैं। कुमारगुप्त के राज्यकाल में कार्तिकेय का मन्दिर निर्मित हुआ था।

बौद्ध-धर्म—प्रारम्भिक गुप्त नरेश वैदिक धर्म के अनुयाई थे। किन्तु बाद के गुप्त सम्राटों ने बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया था। धार्मिक सहिष्णुता का काल होने के कारण गुप्तकाल में बौद्धधर्म के दोनों सम्प्रदायों—हीनयान और महायान का विकास हुआ। पंजाव, कश्मीर और अफगानिस्तान में बौद्धधर्म अत्यधिक लोकप्रियता अर्जित कर चुका था। बोधगया इस काल में भी बौद्ध अनुयाइयों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। इत्सिंग के विवरण से विदित होता है कि प्रथम गुप्त नरेश 'चे-लि-कितो' (श्रीगुप्त) ने चीनी यात्रियों के लिए मृग शिखावन के समीप एक बौद्ध मन्दिर निर्मित करवाया था। सम्राट् समुद्रगुप्त ने सिंहल के राजा को भारत में बौद्ध-विहार के निर्माण की अनुमति प्रदान की थी। गुप्त सम्राटों ने नालन्दा बौद्ध विहार की प्रगति में भारी योग दिया। कुमारगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों ने नालन्दा में अनेक संघाराम निर्मित करवाए थे। चीनी यात्री फाह्यान ने मथुरा, कौशांबी, कुशीनगर और सारनाथ का उल्लेख प्रमुख बौद्ध केन्द्रों के रूप में किया है। अजंता, एलोरा, कार्ले, कान्हेरी, मथुरा, सारनाथ, नालन्दा आदि स्थानों पर अनेक बौद्ध विहार निर्मित किए गए। गुप्तकाल में निर्मित विहार, स्तूप, चैन्य आदि पर बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं को अंकित किया गया है, सम्राट् समुद्रगुप्त ने बौद्ध आचार्य वसुबंधु को अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा हेतु नियुक्त किया था। गुप्त सम्राट् बुधगुप्त के काल में बौद्धधर्म ने राजधर्म का स्वरूप ग्रहण कर लिया था। वैन्यगुप्त ने बौद्ध-विहार हेतु एक गाँव दान में दिया था। वसुबंधु के अतिरिक्त इस काल में असंग और दिङ्नाग जैसे बौद्ध विद्वानों का आविर्भाव भी हुआ। गुप्तकाल में दिव्यावदान, विशुद्धिमग्ग, अभिधम्मकोश, प्रमाण समुच्चय, न्याय प्रवेश आदि बौद्ध ग्रंथों की रचना हुई।

जैन-धर्म—गुप्तकाल में जैन धर्म भी प्रचलित था। इसका प्रभाव उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत पर अधिक था। मथुरा, वल्लभी, पुंड्रवर्धन, कर्नाटक, मैसूर, मदुरा आदि जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। सन् 313 और 453 ई० में वल्लभी तथा 470 ई० में मदुरा में जैन धर्म के अधिवेशन सम्पन्न हुए। गुप्तकाल में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ निर्मित कर उनकी पूजा की जाती थी। बिहार राज्य में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, जिनका निर्माण गुप्तकाल में हुआ था, प्राप्त हुई हैं। बुधगुप्तकालीन एक ताम्रलेख पहाड़पुर (पूर्वी बंगाल) में प्राप्त हुआ है, जो जैन आचार्य द्वारा जैन विहार के निर्माण का उल्लेख करता है। स्कन्दगुप्त के शासनकाल के कहांव स्तम्भ शीर्ष पर तीर्थंकरों की चार मूर्तियाँ अंकित हैं। स्कन्दगुप्तकालीन एक अभिलेख से विदित होता है कि एक जैन अनुयाई ने जैनधर्म के पाँच तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की थीं। गुप्तकाल में अनेक जैन ग्रंथों की रचना की गई।

विदेशों में हिन्दू धर्म का प्रचार—गुप्तकाल में अनेक विदेशियों ने वैदिक धर्म ग्रहण कर लिया था। बर्बर आक्रांता हूणों ने हिन्दू धर्म को अपना लिया और

हूण नायक मिहिरकुल शिव का अनन्य भक्त बन गया था। उसने अपने सिक्कों पर त्रिशूल और बैल की आकृतियाँ उत्कीर्ण करवाईं, जावा, सुमात्रा, बोर्नियों आदि उपनिवेशों में हिंदू धर्म द्रुत गति से फैल गया। मैसोपोटेमिया और सीरिया को भी हिन्दू धर्म ने प्रभावित किया।

आर्थिक दशा

गुप्तकाल सुख-समृद्धि और आर्थिक संपन्नता का काल था। उस काल में कृषि, उद्योग, व्यापार आदि क्षेत्रों में अभूतपूर्व विकास हुआ।

कृषि—गुप्तकालीन आर्थिक जीवन कृषि-प्रधान था। गुप्त सम्राटों ने कृषि के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया। राजा सम्पूर्ण भूमि का स्वामी होता था। कृषि उन्नत अवस्था पर थी। हल और बैलों से खेती की जाती थी। राज्य की ओर से सिंचाई हेतु विशेष व्यवस्था थी। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा निर्मित सुदर्शन झील के टूट जाने पर स्कन्दगुप्त ने उसका जीर्णोद्धार करवाया। कृषि प्रधानतया वर्षा पर निर्भर थी। झीलों और तालाबों से सिंचाई की जाती थे। गेहूँ, धान, गन्ना, सन, तिलहन, कपास, ज्वार-बाजरा, अदरक आदि की खेती की जाती थी। कृषि मजदूर को उपज का तैंतीस प्रतिशत से लेकर पचास प्रतिशत तक पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता था। आम, केला, इमली, नारियल आदि फलों का उल्लेख मिलता है। काली मिर्च, इलायची, लौंग, चन्दन, कपूर आदि का प्रयोग किया जाता था। वनों को विशेष महत्व दिया जाता था।

उद्योग—कृषि के अतिरिक्त गुप्तकाल में अनेक उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। गुप्त कालीन कलाकार मिट्टी के वर्तन बनाने से लेकर पोत निर्माण करने तक की कला से अवगत थे। वस्त्र उद्योग उन्नत अवस्था में था। अमरकोष में चार प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है। बंगाल, गुजरात और तमिलदेश सूती और रेशमी वस्त्रों के प्रमुख केन्द्र थे। उस काल में बनारस रेशमी वस्त्रों और मदुरा सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। सिले और बिना सिले दोनों प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। वस्त्रों को रंगा भी जाता था।

गुप्तकालीन धातुकला विकसित अवस्था में थी। ताँबे, पीतल, काँसे आदि धातुओं की अनेक मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। महरौली का लौह स्तम्भ धातुकला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। स्वर्णकार सुन्दर और आकर्षक आभूषण बनाते थे। बृहत्संहिता में चौबीस प्रकार के आभूषणों का उल्लेख मिलता है। पत्थर और हाथी दाँत की कला कृतियाँ निर्मित की जाती थीं। वनों से कीमती लकड़ी और बहुमूल्य जड़ी-बूटियाँ प्राप्त की जाती थीं।

व्यापार—इस काल में आंतरिक और बाह्य व्यापार उन्नति पर था। उज्जैन, पेशावर, कौशांबी, विदिशा, साकेत, प्रयाग, बनारस, ताम्रलिप्ति, भृगुकच्छ, अहिच्छत्र, मदुरा आदि प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे। राज्य के बड़े व्यावसायिक केन्द्रों को सड़कों

द्वारा एक-दूसरे से जोड़ा गया था। नावों द्वारा भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक सामान पहुँचाया जाता था।

गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ समुद्र-तट तक विस्तृत होने के कारण मध्य एशिया और पूर्वी तथा पश्चिमी देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये। पश्चिमी समुद्रतट पर मरुकच्छ, शूरक कल्याण और पूर्वी तट पर ताम्रलिप्ति गुप्तकालीन प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। भारतीय पोत-निर्माण की कला से अवगत थे। डॉ० अल्तेकर का मत है कि गुप्तकाल में भारतीय 500 व्यक्तियों के बैठ सकने की क्षमता वाले जलपोत का निर्माण कर लेते थे। मुख्यतः तिब्बत, खोतान, चीन, ईरान, अरब आदि देशों के साथ भारत का व्यापार होता था। भारत हीरे, मोती, जवाहरात, कीमती पत्थर, वस्त्र, तेल, धूप, मसाले, औषधियाँ, सुगन्धित वस्तुएँ, नारियल, हाथी दाँत की वस्तुएँ, मलमल आदि वस्तुओं का निर्यात तथा सोना, चाँदी, ताँबा, टीन, रेशम, सीसा, कपूर, खजूर, अश्व आदि विदेशों से आयात करता था। व्यापार विनिमय में स्वर्ण, रजत और ताम्र का प्रयोग किया जाता था।

औद्योगिक संघ—व्यापारिक क्षेत्र में असाधारण प्रगति होने के कारण गुप्तकाल में अनेक औद्योगिक और व्यापारिक संघों की स्थापना हुई। उस काल के अभिलेखों में व्यापारियों और साहूकारों के अतिरिक्त जुलाहों, तेलियों, शिल्पियों और कुम्हारों के संघों का उल्लेख मिलता है। मंदसौर में प्राप्त अभिलेख में रेशमी कपड़ा बनाने वालों की श्रेणी का तथा इन्दौर ताम्रलेख में तैलिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है। गुप्तकालीन अठारह श्रेणियों का वर्णन मिलता है।

व्यापारियों का एक अन्य संगठन निगम कहलाता था। यह अनेक व्यवसायों में लगे हुए लोगों का संगठन था। डॉ० ब्लाक ने यह संभावना व्यक्त की है कि श्रेणियाँ और निगम आधुनिक 'चेंबर ऑफ कॉमर्स' तथा 'मर्चेंट एसोसिएशन' की भाँति संस्थाएँ रही होंगी। व्यापारियों और साहूकारों के संघ बेंकों का कार्य भी करते थे। संघ के कार्यों का प्रबन्ध एक प्रधान तथा कार्यकारिणी करती थी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. गुप्त कौन थे ? उनके मूल प्रदेश तथा संस्थापक पर प्रकाश डालिए।
2. चन्द्रगुप्त प्रथम के जीवन-चरित्र एवं उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
3. समुद्रगुप्त की विजयों का वर्णन कीजिए।
4. समुद्रगुप्त के कार्यों एवं सफलताओं का उल्लेख कीजिए।
5. समुद्रगुप्त की दक्षिण-विजय का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
6. समुद्रगुप्त को भारतीय नेपोलियन क्यों कहा जाता है ?
7. चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) की उपलब्धियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए।

8. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कार्यों एवं उसकी सफलताओं का वर्णन कीजिए ।
9. फाह्यान कौन था ? उसने भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति पर क्या प्रकाश डाला है ?
10. स्कन्दगुप्त के जीवन-चरित्र एवं उपलब्धियों का वर्णन कीजिए ।

अथवा

स्कन्दगुप्त अपने वंश का महान् वीर था । समीक्षा कीजिए ।

11. गुप्तयुग की सांस्कृतिक उपलब्धियों का वर्णन कीजिए ।
12. भारतीय इतिहास में गुप्तयुग को 'स्वर्णयुग' कहने का औचित्य स्पष्ट कीजिए ।

अथवा

प्राचीन भारत के इतिहास में गुप्तयुग के महत्त्व पर प्रकाश डालिए ।

13. स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों पर एव संक्षिप्त लेख लिखिए ।
14. गुप्तकालीन साहित्य, कला एवं विज्ञान की प्रगति का वर्णन कीजिए ।
15. गुप्त शासन प्रणाली का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।
16. गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों का उल्लेख कीजिए ।
17. गुप्तकालीन कला की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।

19

नाग वंश और वाकाटक वंश

विशाल मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारतवर्ष की राजनीतिक एकता पुनः विच्छिन्न हो गयी। तत्पश्चात् शुंग, सातवाहन, शक और कुषाणों ने राज्य किया। इस अवधि में नागों की शक्ति विलुप्त हो गई थी। शकों और कुषाणों के पतन के पश्चात् नाग वंश ने प्रसिद्धि प्राप्त की और वाकाटक-वंश का उत्कर्ष हुआ।

भारतवर्ष के इतिहास में नाग वंश और वाकाटक-वंश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन वंशों में अनेक पराक्रमी और सांस्कृतिक क्षेत्र में अभिरुचि रखने वाले शासकों ने शासन किया। उन्होंने एक ओर अनेक राजनीतिक सफलताएँ अर्जित कीं और दूसरी ओर कला, धर्म और साहित्य के विकास में प्रशंसनीय योगदान दिया।

नाग वंश

प्राचीन भारत के इतिहास में नाग वंश का विशेष महत्त्व है। नाग वंश के इतिहास को प्रकाश में लाने का प्रमुख श्रेय डॉ० जायसवाल को है। तत्कालीन अभिलेखों, मुद्राओं तथा पुराणों में उल्लिखित विवरण से नाग वंश के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

नाग वंश का इतिहास बहुत पुरातन है। नाग राजाओं ने भारत के अनेक प्रदेशों में शासन किया था। महाभारत काल में नागों की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हुई। पुराणों से विदित होता है कि शुंग वंश के पश्चात् नागों ने विदिशा में शासन किया। पुराण विदिशा के अतिरिक्त कांतिपुर, मथुरा और पद्मावती में नाग राजाओं के शासन का उल्लेख करते हैं। प्रारम्भ में नाग शक्ति का प्रधान केन्द्र पद्मावती था। किन्तु बाद में भारत में शकों और कुषाणों का आधिपत्य स्थापित हो जाने के फलस्वरूप नाग वंश की शक्ति क्षीण पड़ गई। लगभग एक शताब्दी तक नाग राजा शांत बैठे रहे। विद्वानों का मत है कि इस अवधि में नाग राजाओं ने शुंगों, शकों

और कुषाणों की अधिसत्ता स्वीकार कर ली थी। शकों और कुषाणों के उत्कर्ष की अवधि में उन्होंने (नागों ने) विंध्याचल के दक्षिण में शरण ली। कुषाण-साम्राज्य के पतन के पश्चात् नागों ने पुनः सिर उठाया और अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर उत्तरी भारत के अनेक प्रदेशों को विजित कर लिया। पुराण विदिशा, कांतिपुरी, मथुरा और पद्मावती पर उनके अधिकार का उल्लेख करते हैं। तीसरी और चौथी शताब्दी में उत्तरी तथा मध्य भारत के विशाल भू-खण्ड पर नाग राजा शासन करते थे। पुराणों से विदित होता है कि गुप्त वंश के अभ्युदय से पूर्व मथुरा में सात और पद्मावती में नौ राजा राज कर चुके थे।

नवनाग (140-170 ई०)—विद्वानों का मत है कि कुषाण-काल में नाग राजा नागपुर को केन्द्र बनाकर मध्य प्रांत में दबे पड़े रहे। यहीं से भारशिव नाग राजा नवनाग के नेतृत्व में नाग लोग बुन्देलखण्ड होते हुए पुनः उत्तर प्रदेश में प्रविष्ट हुए। 150 ई० के लगभग उन्होंने कांतिपुरी (मिर्जापुर के समीप) को अपनी राजशक्ति का केन्द्र बनाया। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि दूसरी शती के उत्तरार्द्ध में नवनाग के प्रयत्नों से नाग शक्ति का पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया। नवनाग के वंशजों ने भारशिव (शिवलिंग वहन करने वाला) की उपाधि धारण की। अतः उन्हें भारशिव वंश का कहा जाता है।

वीरसेन (170-210 ई०)—नवनाग के पश्चात् उसका शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी उत्तराधिकारी वीरसेन राजा हुआ। उसने पतन के कगार पर पहुँचे कुषाण साम्राज्य को ध्वस्त कर गंगा-यमुना के दोआब और मथुरा से कुषाणों को मार भगाया। 180 ई० के लगभग उसने सम्पूर्ण आर्यावर्त्त को अधिकृत कर लिया। डॉ० जायसवाल ने वीरसेन के अभ्युदय को आर्यावर्त्त की एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना कहा है। उनका कथन है—"वीरसेन का उत्थान न केवल नाग इतिहास में बल्कि आर्यावर्त्त के इतिहास में परिवर्तन-बिन्दु है। उसके सिक्के उत्तरी भारत में अधिकता से पाये जाते हैं।"

यद्यपि वीरसेन शक्तिशाली सम्राट् था तथापि उसने केवल 'स्वामिन' का विरुद धारण किया। उसने कुषाणों को पराजित करके कुषाण शैली के अनुरूप प्रचलित सिक्कों को बन्द कर दिया और उनके स्थान पर भारतीय शैली के सिक्कों को प्रचलित किया। उसके सिक्कों पर ताड़-वृक्ष और नाग की आकृतियाँ अंकित हैं।

भवनाग (290-319 ई०)—वीरसेन के पश्चात् भवनाग नागवंश का अन्तिम शक्तिशाली सम्राट् था। पद्मावती के नाग राजाओं में भवनाग सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ। उसने अपनी पुत्री का विवाह वाकाटक नरेश प्रवरसेन के पुत्र गौतमीपुत्र के साथ सम्पन्न किया। पद्मावती के नाग शिव के उपासक थे।

भवनाग के उत्तराधिकारी—भवनाग के राज्यकाल में नागवंश की शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् नागों की शक्ति क्षीण पड़ गई। कालांतर में वे वाकाटकों के अधीन हो गये। कुछ विद्वानों का मत है कि भवनाग के

वंशज शक्तिशाली थे। उन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ किए जो निस्सन्देह उनकी स्वतन्त्र सत्ता के परिचायक हैं।

भवनाग के पश्चात् वाकाटक नरेश गौतमीपुत्र के पुत्र रुद्रसेन प्रथम ने शासन किया। विद्वानों का मत है कि रुद्रसेन प्रथम के राज्यकाल में ही नागवंश को वाकाटक वंश में मिला लिया गया था। यही कारण है कि अभिलेखों में वाकाटक रुद्रसेन को भारशिव कहा गया है।

नाग वंश का पतन—भवनाग नाग वंश का अंतिम पराक्रमी राजा था। यद्यपि उसके उत्तराधिकारी भवनाग की भांति प्रतापी तो सिद्ध नहीं हुए तथापि वे एक विशाल साम्राज्य के स्वामी अवश्य थे। मथुरा, धौलपुर, आगरा, ग्वालियर, कानपुर, झाँसी और बाँदा उनके राज्यान्तर्गत थे। चौथी शताब्दी ई० में पद्मावती में नागसेन और मथुरा में गणपति नाग राज्य करते थे। उन दोनों को पराजित करके पराक्रमी गुप्त नरेश समुद्रगुप्त ने उनके राज्य को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। किन्तु उनकी सत्ता पूर्णतः समाप्त नहीं हुई थी। समुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने नाग राजकुमारी से विवाह किया था। ऐसा विदित होता है कि स्कन्दगुप्त के राज्य काल तक गंगा तथा दोआब के क्षेत्र में नाग राजा अपने अधिकारियों के माध्यम से शासन करते थे। स्कन्दगुप्त के समय नागवंशी सामन्त प्रांतीय शासक अथवा राज्यपाल थे।

यद्यपि पुराणों से नागवंश के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु वह पर्याप्त नहीं है। पुराणों में नागवंशी राजाओं के नाम नहीं मिलते हैं और न ही उनके उत्तराधिकार के क्रम का ही ज्ञान प्राप्त होता है।

नाग वंश का महत्त्व—भारतवर्ष के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में नाग वंश का अत्यधिक महत्त्व है। एक ओर उन्होंने विदेशी शक्तियों को पराजित किया और दूसरी ओर हिन्दुत्व के उत्थान में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया। मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्पन्न भारतवर्ष की राजनीतिक विशृंखलता का लाभ उठाकर यूनानी, शक, पह्लव और कुषाणों ने भारत पर आक्रमण कर दिए थे। भारत के विरुद्ध सामरिक अभियानों में इन विदेशी आक्रांताओं को व्यापक सफलताएँ मिलीं और उन्होंने भारत में अपने राज्य भी स्थापित कर लिए। कुषाण-वंश के राजाओं ने दीर्घकाल तक भारत में राज्य किया। उनके प्रभावस्वरूप हिन्दू धर्म और संस्कृति का ह्रास हो रहा था। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर भगवती प्रसाद पांथरी का यह कथन उल्लेखनीय है—"निःसन्देह शक-कुषाण हिन्दू-धर्म, संस्कृति और समाज-व्यवस्था को मिटाकर भारत का म्लेच्छीकरण कर उसे शक अथवा कुषाण देश में परिवर्तित कर देने की महत्त्वाकांक्षा रखते थे।" जिस समय भारत विदेशी आधिपत्य का शिकार हो रहा था, ऐसी स्थिति में आर्यावर्त्त के राजनीतिक रंगमंच पर नाग राजाओं का उत्कर्ष हुआ। उन्होंने कुषाणों की शक्ति को उखाड़ फेंका। कुषाणों पर प्राप्त विजय के उपलक्ष्य में नाग राजाओं ने काशी में दस बार अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। यही कारण है कि वह स्थान दशाश्वमेध घाट के नाम से प्रसिद्ध है। विदेशी

शक्तियों को पराजित कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के उपरांत भी नाग राजाओं ने 'स्वामिन्' की ही उपाधि धारण की। सम्राट् के अनुरूप अनेक कार्य करने के उपरांत भी मात्र 'स्वामिन्' का विरुद धारण करना नाग राजाओं की देशभक्ति का जीता-जागता उदाहरण है। प्रोफेसर भगवती प्रसाद पांथरी के शब्दों में—"उनका पौरुष और राष्ट्रसेवा व राष्ट्रप्रेम ही उनकी शान व शौकत थी। उनका व्यक्तिगत जीवन उनके आराध्यदेव योगिराज शिव की तरह सहज, सरल और सुन्दर रहा। उनका जीवनोद्देश्य सेवा करना था, सेवा लेना नहीं।"

नाग राजाओं ने न केवल कुषाण-सत्ता का उन्मूलन किया, बल्कि अपने राजनीतिक उत्तराधिकारी वाकाटकों और गुप्तों के लिए भारतीय राष्ट्रीयकरण का मार्ग प्रशस्त बना दिया था। उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति में नवीन चेतना का संचार किया। डॉ० जायसवाल का कथन है—"नाग राजाओं की वास्तविक देन यह थी कि उन्होंने एक नई परम्परा की नींव रखी और वह परम्परा थी हिन्दू-स्वतन्त्रता और राजसत्ता की। मानव धर्मशास्त्र में लिखा है कि आर्यावर्त्त आर्यों की भूमि है और म्लेच्छों को उससे पृथक् रहना चाहिए। यह उनका राजनीतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय जन्मसिद्ध अधिकार है। इसको सिद्ध करने की आवश्यकता थी। नाग राजाओं ने जिन परम्पराओं को आरम्भ किया था उनको वाकाटक राजाओं ने जीवित रखा। तत्पश्चात् इन्हीं परम्पराओं को गुप्त राजाओं ने पूरी तरह अपनाया।" उन्होंने यह भी लिखा है—"आधुनिक हिन्दुत्व की नींव नाग वंश के सम्राटों ने रखी और उस हिंदुत्व रूपी भवन को वाकाटक राजाओं ने निर्मित किया तथा गुप्त सम्राटों ने उसका विस्तार किया।" नाग राजाओं ने मन्दिरों का निर्माण कर वास्तुकला के विकास में योग दिया। अश्वमेध यज्ञ सम्पादित कर उन्होंने वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में महत्त्व-पूर्ण योगदान दिया। उन्होंने अनेक हिन्दू देवी-देवताओं के मन्दिरों का निर्माण करवाया। संस्कृत भाषा और साहित्य के विकास में भी उनका योगदान अविस्मरणीय है। भारतीय इतिहास में भारशिव नागों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० जायसवाल ने लिखा है—"भारशिवों ने आर्यावर्त्त में हिन्दू-प्रभुत्व की पुनःस्थापना की। उन्होंने हिन्दू राजसिंहासन और राष्ट्रीय सभ्यता को पुनः स्थापित किया तथा देश को एक नया जीवन प्रदान किया। लगभग चार शताब्दियों के बाद उन्होंने अश्वमेध का पुनरुत्थान किया। पाप और अपराध से भगवान शिव की नदी गंगा को पूरी तरह मुक्त करके उन्होंने गंगा माँ की पवित्रता फिर से स्थापित की और उसे इतना पवित्र बना दिया कि वाकाटक तथा गुप्त शासकों ने अपने मन्दिर के द्वारों पर उसे पवित्रता के चिन्ह स्वरूप अंकित किया। उन्होंने यह सब किया और अपने लिए कोई स्मारक न बनाया। उन्होंने ये महान् कार्य किए और अपने को मिटा दिया।"

वाकाटक वंश

गुप्त वंश के अभ्युदय से पूर्व वाकाटक वंश का एक शक्तिशाली राज्य विद्यमान था। शकों की दुर्बल स्थिति का लाभ उठाकर वाकाटकों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता

घोषित कर दी थी । वाकाटकों ने लगभग तीसरी शताब्दी से छठी शती तक शासन किया ।

वाकाटक-वंश का राज्य बुन्देलखण्ड और उसके दक्षिण-पश्चिम में स्थित था। विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार उत्तरी भारत में गुप्त राजाओं की स्थिति सम्मान-जनक थी, उसी प्रकार सम्पूर्ण मध्य प्रदेश, बरार एवं दक्षिणी भारत में वाकाटकों के महत्त्वपूर्ण राज्य की स्थिति गौरवपूर्ण थी। प्रोफेसर जे० डुब्रील का कथन है— "दक्षिण के उन समस्त राजवंशों में, जिन्होंने तीसरी शताब्दी ई० से छठी शताब्दी तक राज्य किया, सर्वाधिक गौरवपूर्ण एवं सम्माननीय स्थान का पात्र और सबमें अद्वितीय तथा सम्पूर्ण दक्षिण के राज्यों में श्रेष्ठतम सभ्यता वाला निश्चय ही वाकाटकों का यशस्वी राजवंश था।"[1]

वाकाटकों का कुल एवं मूल प्रदेश—नागों की भाँति वाकाटकों के इतिहास पर भी कोई प्रकाश नहीं पड़ता। वाकाटकों के कुल और प्रदेश के सम्बन्ध में स्पष्ट विवरण ज्ञात नहीं हैं। पुराणों से विदित होता है कि वाकाटक-वंश का संस्थापक विंध्यशक्ति ब्राह्मण कुल का था। वाकाटक अभिलेखों में विंध्यशक्ति को वंश का आदि पुरुष और 'वाकाटकानां वंशकेतु' कहा गया है। मिराशी महोदय का कथन है कि विंध्यशक्ति एक द्विज और विष्णुभद्र गोत्र का था।

वाकाटकों का मूल निवास प्रदेश विवादास्पद है। तीसरी शताब्दी ई० के एक अभिलेख से विदित होता है कि वाकाटक नामक एक व्यक्ति अमरावती के बौद्ध स्तूप के दर्शनार्थ गया था। अतः यह सम्भावना व्यक्त की जाती है कि वाकाटकों का मूल प्रदेश आंध्र देश (अमरावती) था। कुछ विद्वान् वाकाटकों का मूल निवास प्रदेश बुन्देलखण्ड के बिजनौर-बगाट ग्राम को बताते हैं। डॉ० जायसवाल का मत है कि वाकाटक-वंश का मूल पुरुष विंध्यशक्ति पुराने ओड़छा राज्य के उत्तरी कोने में स्थित वर्तमान बगाट अथवा वाकाटक नामक स्थान अथवा नगर का रहने वाला था। इस स्थान के नाम के अनुरूप ही उसने वंश को वाकाटक संज्ञा दी थी। पुराणों में उसे किलकिला नामक स्थान से सम्बद्ध बताया गया है। यह स्थान बुन्देलखण्ड में है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि वाकाटक राजवंश का उदय स्थल बुन्देलखण्ड अथवा मध्यप्रदेश था। कतिपय विद्वानों का मत है कि पुराणों में वाकाटकों तथा नागों का उल्लेख एक साथ हुआ है। अतः यह भी सम्भव हो सकता है कि वाकाटकों का आदि देश विदिशा (पूर्वी मालवा) था। डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय पश्चिमी मध्य प्रदेश को वाकाटकों का राजनीतिक उत्कर्ष स्थल मानते हैं।

---

1. "Of all the dynasties of the Deccan that have reigned from the third to six century the most glorious, the one that must be given a place of honour, the one that has excelled all others, the one that had the greatest civilization of the whole of the Deccan, is unquestionably the illustrious dynasty of the Vakatakas."

—*J. Drouble*

कुछ विद्वानों का मत है कि प्रारम्भ में वाकाटक सातवाहनों के सामन्त मात्र थे, किन्तु कुछ अन्य विद्वान् उन्हें भारशिव नागों के सामन्त बताते हैं।

विंध्यशक्ति (255 ई०-275 ई०)—विंध्यशक्ति वाकाटक-वंश का संस्थापक था। पुराणों से विदित होता है कि विंध्यशक्ति नामक एक ब्राह्मण ने वाकाटक-वंश की नींव डाली। उसके पूर्वज बरार में सातवाहनों के अधीन सामन्त मात्र थे। विद्वानों का मत है कि विंध्यशक्ति की प्रारम्भिक स्थिति एक सामन्त जैसी ही थी। कालांतर में सातवाहनों की क्षीण दशा का लाभ उठाकर उसने अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित कर दी। पुराणों और अभिलेखों में विंध्यशक्ति को वाकाटक-वंश की स्थापना का श्रेय दिया गया है। अजन्ता-अभिलेख में उसे 'वंशकेतु' की संज्ञा दी गई है। पुराणों में उसका उल्लेख न केवल वंश संस्थापक के रूप में हुआ, बल्कि उसे विदिशा और पुरिक का शासक भी कहा गया है। विंध्य पर्वत की बाह्य सीमा पर अपनी शक्ति स्थापित करने के कारण वह विंध्यशक्ति कहलाया। डॉ० जायसवाल का मत है कि वाकाटक प्रदेश के शासक होने के कारण ही विंध्यशक्ति के वंशज वाकाटक कहलाए।

वाकाटक वंश का संस्थापक विंध्यशक्ति एक महत्त्वाकांक्षी सम्राट् था। उसने अपनी शक्ति का परिचय देते हुए सर्वप्रथम अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की और तदुपरांत अनेक पड़ोसी राज्यों को विजित कर लिया। अजन्ता अभिलेख में विंध्यशक्ति की तुलना इन्द्र और विष्णु से की गई है। उसने अपने भुजवल से पड़ोसी राज्य को विजित कर विंध्य पर्वत के उत्तर में स्थित पूर्वी मालवा तक अपने राज्य को विस्तृत किया। अनुमानतः उसने सन् 255 से 275 ई० तक राज्य किया।

प्रवरसेन प्रथम (275-335 ई०)—विंध्यशक्ति के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी प्रवरसेन प्रथम 275 ई० में राजसिंहासन पर बैठा। वह वाकाटक वंश का एकमात्र नरेश था, जिसने 'सम्राट्' का विरुद धारण किया। वह अत्यन्त पराक्रमी नृपति था। उसने मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र को विजित कर शक क्षत्रपों को मार भगाया। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त छोटे-से राज्य को एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य में प्रवरसेन ने चार अश्वमेध यज्ञ सम्पादित किए। अश्वमेध यज्ञों के अतिरिक्त उसने वैदिक धर्म के अनुरूप अन्य यज्ञ (बृहस्पतिसव, वाजपेय, आप्तोर्याम, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि) सम्पन्न किए। डॉ० जायसवाल का कथन है कि प्रवरसेन ने पंजाब में रह रहे कुषाणों को पराजित कर अफगानिस्तान जाने को बाध्य किया था। डॉ० जायसवाल ने प्रवरसेन को उत्तर भारत का विजेता भी कहा है। विद्वानों का मत है कि प्रवरसेन के शासनकाल में वाकाटक-राज्य उत्तर में बुन्देलखण्ड व मध्य प्रदेश से लेकर दक्षिण में बरार, हैदराबाद और महाराष्ट्र तक विस्तृत था। उसके काल में वाकाटक शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

प्रवरसेन न केवल एक योद्धा था अपितु वह एक कूटनीतिज्ञ के रूप में भी सफल सिद्ध हुआ। राजनीतिक सफलता हेतु उसने अपने पुत्र गौतमीपुत्र का विवाह तत्कालीन शक्तिशाली भारशिव-नरेश भवनाग की पुत्री से सम्पन्न किया। इस मित्रता

के परिणामस्वरूप प्रवरसेन की राजनीतिक महत्ता में अत्यधिक वृद्धि हो गई।

वाकाटक-साम्राज्य का विभाजन—ऐसा विदित होता है कि प्रवरसेन की मृत्यु के उपरांत वाकाटक राज्य चार भागों में विभाजित हो गया था। साम्राज्य विभाजन की यह प्रवृत्ति विशाल साम्राज्य की स्थापना में बाधक सिद्ध हुई। पुराणों में प्रवरसेन के चार पुत्रों का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि प्रवरसेन ने वाकाटक राज्य को अपने चार पुत्रों में विभक्त कर दिया था अथवा प्रवरसेन की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों ने वाकाटक-राज्य को परस्पर विभाजित कर लिया था। उसके पुत्र सर्वसेन ने प्रवरसेन की मृत्यु के बाद बसीम में अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवरसेन के राज्यकाल में उसके चारों पुत्र राज्य के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के गवर्नर थे। प्रवरसेन के चार पुत्रों में से दो पुत्रों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक ज्ञान अज्ञात है। उसके शेष दो पुत्रों के पृथक्-पृथक् राज्य का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार प्रवरसेन की मृत्यु के पश्चात् वाकाटक-राज्य दो शाखाओं में विभक्त हो गया—(1) प्रधान शाखा और (2) बसीम शाखा।

वाकाटक वंश की प्रधान शाखा

प्रवरसेन की मृत्यु के पश्चात् वाकाटक वंश की प्रधान शाखा में निम्नलिखित राजाओं ने शासन किया—

रुद्रसेन प्रथम (335-360 ई०)—प्रवरसेन के पुत्र गौतमीपुत्र का देहावसान अपने पिता के राज्यकाल में ही हो गया था। अतः प्रवरसेन के पश्चात् उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम 335 ई० में वाकाटक राजगद्दी पर आसीन हुआ। ऐसा विदित होता है कि रुद्रसेन के तीन चाचाओं ने, जिन्होंने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली, उसे अपदस्थ कर वाकाटक-राज्य को हड़पने की कोशिश की थी। संकट की इस घड़ी में उसे अपने नाना नाग नरेश भवनाग से महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई। भवनाग की सहायता से वह वाकाटक-राज्य को स्थिर रखने में सफल रहा। वाकाटक-अभिलेखों में रुद्रसेन और भवनाग के मधुर सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है।

रुद्रसेन प्रथम का काल राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। एक ओर समुद्रगुप्त के नेतृत्व में गुप्त साम्राज्य उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था और दूसरी ओर मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के शक-महाक्षत्रपों ने रुद्रदामन द्वितीय के नेतृत्व में अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी थी। उज्जैन में शकों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर दी। डॉ० जासयवाल का मत है कि समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन प्रथम को पराजित किया था, किन्तु अन्य विद्वान् उनके इस मत से सहमत नहीं हैं। विद्वान् प्रयाग-प्रशस्ति में उल्लिखित पराजित नरेश रुद्रसेन को रुद्रसेन प्रथम स्वीकार न कर उत्तर भारत का कोई अन्य राजा मानते हैं। किन्तु इतना तो निश्चित है कि समुद्रगुप्त के उत्कर्ष ने रुद्रसेन प्रथम की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध कर दिया था। अपने नाना भवनाग के प्रभावस्वरूप रुद्रसेन ने वैष्णव धर्म का परित्याग कर शैव धर्म को अपनाया। वाकाटक अभिलेखों में उसे 'महाभैरव' की संज्ञा दी गई है।

पृथ्वीषेण प्रथम (360-385 ई०)—रुद्रसेन प्रथम की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र पृथ्वीषेण 360 ई० में राजगद्दी पर बैठा। वाकाटक अभिलेखों में उसे अत्यन्त पवित्र और धर्मविजयी शासक कहा गया है तथा उसकी तुलना धर्मराज युधिष्ठिर से की गई है। वह शिव का अनन्य भक्त था। उसके काल में वाकाटक राज्य समृद्ध था।

पृथ्वीषेण के शासनकाल में वाकाटकों की बसीम शाखा में विंध्यसेन राज्य कर रहा था। पृथ्वीषेण और विंध्यसेन के परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे। विंध्यसेन द्वारा कुंतल-राज्य पर किए गए सामरिक अभियान में पृथ्वीषेण ने उसे सहायता प्रदान की। नचना और गंजाम अभिलेखों से विदित होता है कि बुन्देलखण्ड का शासक व्याघ्रदेव पृथ्वीषेण का सामन्त था। पृथ्वीषेण एक शक्तिशाली शासक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह पृथ्वीषेण के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ सम्पन्न किया। यह वैवाहिक सम्बन्ध पूर्णतः राजनीति से प्रेरित था। इस मैत्री सम्बन्ध के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त द्वितीय को मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र में शकों की शक्ति उन्मूलित करने में वाकाटकों से महत्त्वपूर्ण सहायता मिली और वाकाटकों के राजनीतिक सम्मान में भी वृद्धि हुई।

रुद्रसेन द्वितीय (385-390 ई०)—पृथ्वीषेण के बाद उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय राजा हुआ। उसके शासनकाल में वाकाटक-राज्य गुप्तों के प्रभाव में आ गया। अनेक वाकाटक अभिलेखों में वाकाटकों के साथ-साथ गुप्तों का उल्लेख अधिक शक्तिशाली राजाओं के रूप में हुआ है।

रुद्रसेन द्वितीय एक साहसी और पराक्रमी नवयुवक था। वह अपने प्रतापी श्वसुर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से अत्यधिक प्रभावित था। इसीलिए उसने अपने वंशानुगत धर्म शैव धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्म को अपना लिया। इस बात की प्रवल सम्भावना थी कि वह अपने प्रतापी श्वसुर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सैनिक अभियानों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता, किन्तु मात्र 30 वर्ष की अल्पायु में ही उसका देहावसान हो गया। रुद्रसेन द्वितीय के अकस्मात निधन के पश्चात् अपने पिता के निर्देशन में रानी प्रभावती गुप्ता ने योग्यतापूर्वक वाकाटक शासन का संचालन किया।

प्रभावती गुप्ता (390-410 ई०)—रुद्रसेन द्वितीय के दो पुत्र थे—दिवाकरसेन और दामोदरसेन जिनकी अवस्था रुद्रसेन की मृत्यु के समय क्रमशः पाँच वर्ष तथा दो वर्ष थी। अतः युवराज दिवाकरसेन की संरक्षिका के रूप में प्रभावती गुप्ता ने राज्य-भार सम्भाला। शासन-कार्य संचालन में उसे अपने पिता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से महत्त्वपूर्ण सहायता मिली। ऐसा विदित होता है कि प्रभावती गुप्ता के शासनकाल में वाकाटक-राज्य पूर्णतः गुप्तों के प्रभाव में आ चुका था। प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रपत्रों में वाकाटक-वंशावली के स्थान पर गुप्त-वंशावली का उल्लेख मिलता है। यह भी सम्भावना व्यक्त की जाती है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने दौहित्रों की शिक्षा-दीक्षा हेतु कालिदास को शिक्षक बनाकर भेजा था। प्रभावती के संरक्षण-काल

के तेरहवें वर्ष दिवाकरसेन का निधन हो गया। अतः 410 ई० में रुद्रसेन द्वितीय का छोटा पुत्र दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय के नाम से वाकाटक राजगद्दी पर आसीन हुआ।

प्रवरसेन द्वितीय (410-440 ई०)—410 ई० में दामोदर सेन प्रवरसेन द्वितीय के नाम से वाकाटक राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके ताम्रपत्रों से यह विदित होता है कि प्रवरसेन द्वितीय ने सन् 410 से 440 ई० तक राज्य किया, किन्तु उसकी विजयों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। विद्वानों का मत है कि प्रवरसेन द्वितीय कला प्रेमी और विद्यानुरागी सम्राट् था। उसने प्राकृत-भाषा में 'सेतुबंध' नामक काव्य की रचना की जिसमें राम की लंका-विजय का वर्णन है। उसने पुरानी वाकाटक राजधानी नगरधन का परित्याग कर प्रवरपुर (आधुनिक वर्धा जिले के पवनार में स्थित) में नई राजधानी स्थापित की। उसने अपने पुत्र नरेन्द्रसेन का विवाह कदम्बवंश की राजकुमारी अजित भट्टारिका के साथ सम्पन्न किया। शक्तिशाली कदम्बवंश से मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो जाने के परिणामस्वरूप प्रवरसेन की राजनीतिक महत्ता में अभिवृद्धि हुई। वह शांतिप्रिय शासक था। लगभग 440 ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

नरेन्द्रसेन (440-460 ई०)—440 ई० में प्रवरसेन द्वितीय की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र नरेन्द्रसेन सिंहासनारूढ़ हुआ। नवल-नरेश भवदत्त वर्मन ने नरेन्द्रसेन को पराजित कर वाकाटक राज्य के अंग नन्दिवर्धन को अधिकृत कर लिया। किन्तु भवदत्तवर्मन की मृत्यु के तुरन्त बाद प्रतिशोध की भावना से नरेन्द्रसेन ने भवदत्तवर्मन के उत्तराधिकारी अर्थपति को पराजित कर न केवल अपनी पराजय का बदला लिया बल्कि नलों के स्वामित्व में चले गये वाकाटक प्रदेश के अतिरिक्त नल-राज्य के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। सम्भवतः इस विजय अभियान में नरेन्द्रसेन को कदम्बवंश से सहायता मिली थी। पृथ्वीषेण द्वितीय के एक अभिलेख में नरेन्द्रसेन को मालवा, मेकल और कौशल का स्वामी (विजेता) कहा गया है। उसने बसीम शाखा के वाकाटक-वंश के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे।

पृथ्वीषेण द्वितीय (460-480 ई०)—नरेन्द्रसेन के बाद पृथ्वीषेण द्वितीय राजा बना। पृथ्वीषेण द्वितीय के बालाघाट अभिलेख में उसे 'परम भागवत' कहा गया है। इसी अभिलेख से विदित होता है कि उसने दो बार अपने वंश की विलुप्त लक्ष्मी का पुनरुद्धार किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने नल तथा दक्षिणी गुजरात के त्रैकुटक वंशी राजाओं के आक्रमण से वाकाटक राज्य की रक्षा की। पृथ्वीषेण द्वितीय वाकाटक वंश की प्रधान शाखा का अन्तिम राजा था। उसकी मृत्यु के उपरांत बसीम शाखा के शासक हरिषेण ने वाकाटकों की प्रधान शाखा के राज्य को अधिकृत कर लिया।

वाकाटकों की बसीम शाखा

प्रवरसेन प्रथम (275-335 ई०) के देहावसान के पश्चात् उसके चार पुत्रों ने वाकाटक राज्य को परस्पर विभक्त कर लिया। उसके बड़े पुत्र गौतमी पुत्र का निधन प्रवरसेन के शासनकाल में ही हो गया था। अतः प्रवरसेन के बाद उसका पौत्र रुद्र-

सेन प्रथम राजगद्दी पर बैठा। रुद्रसेन ने अपने दो चाचाओं को पराजित कर उनका राज्य तो छीन लिया किन्तु वह सर्वसेन को परास्त न कर सका। सर्वसेन ने महाराष्ट्र के बसीम नामक स्थान पर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। यही कारण है कि वहाँ के वाकाटक राजाओं को 'बसीम शाखा के वाकाटक' की संज्ञा दी गई। बसीम शाखा के वाकाटक शासकों का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार विदित होता है—

सर्वसेन (330-350 ई०)—प्रवरसेन प्रथम के पुत्र सर्वसेन ने 330 ई० में बसीम में अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी थी। सर्वसेन वाकाटकों की बसीम शाखा का संस्थापक था। उसे 'हरविजय' ग्रन्थ का रचयिता कहा गया है। उसके शासन-काल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। 20 वर्ष तक शासन करने के उपरांत 350 ई० में उसका निधन हो गया था।

विंध्यशक्ति द्वितीय (350-400 ई०)—सर्वसेन के वाद विंध्यशक्ति राजा हुआ। उसने कुंतल राज्य को विजित कर अपने राज्य में मिला लिया। दक्षिणी बरार, उत्तरी हैदराबाद, नागर, नासिक, पूना और सतारा के जिले उसके राज्यान्तर्गत थे।

प्रवरसेन द्वितीय (400-415 ई०)—विंध्यशक्ति द्वितीय के उपरांत प्रवरसेन राजगद्दी पर बैठा। उसने केवल पन्द्रह वर्ष राज्य किया।

प्रवरसेन द्वितीय का उत्तराधिकारी (415-455 ई०)—प्रवरसेन द्वितीय के वाद उसके उत्तराधिकारी ने चालीस वर्ष तक शासन किया। उसका नाम अज्ञात है। प्रवरसेन द्वितीय की मृत्यु के समय उसका पुत्र मात्र 8 वर्ष का था। डॉ० अल्तेकर का मत है कि प्रधान वाकाटक शाखा के राजा प्रवरसेन द्वितीय ने दीर्घकाल तक बसीम शाखा के अवयस्क शासक के संरक्षक के रूप में कार्य किया और वयस्क हो जाने पर उसे राजसत्ता प्रदान कर दी।

देवसेन (455-475 ई०)—455 ई० में प्रवरसेन द्वितीय का पौत्र (अज्ञात वाकाटक नरेश का पुत्र) देवसेन राजा हुआ। वह शांतिप्रिय राजा था।

हरिषेण (475-510 ई०)—देवसेन का उत्तराधिकारी हरिषेण था। वह वाकाटकों की बसीम शाखा का सर्वाधिक प्रबल शासक था। पृथ्वीषेण द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसने प्रधान वाकाटक शाखा के राज्य को विजित कर अपने राज्य में मिला लिया था। अजन्ता अभिलेख से विजित होता है कि हरिषेण ने कुंतल, अवन्ति, कलिंग, कोशल, त्रिकूट, लाट, आंध्र आदि राज्यों पर विजय प्राप्त की। उसके काल में वाकाटक शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। वह एक विशाल भू-भाग का स्वामी था।

वाकाटक राज्य का पतन—510 ई० में हरिषेण की मृत्यु के पश्चात् योग्य उत्तराधिकारियों के अभाव में वाकाटक-राज्य का क्रमिक ह्रास प्रारम्भ हो गया। इसी अवधि में मालवा में शक्तिशाली नरेश यशोधर्मन का उत्कर्ष हुआ। उसने वाकाटक राज्य के उत्तरी प्रदेशों को विजित कर लिया। वाकाटकों की क्षीण दशा का लाभ उठाकर कर्नाटक में कदम्ब वंश, उत्तरी महाराष्ट्र में कलचुरि वंश, दक्षिणी

महाराष्ट्र में राष्ट्रकूट-वंश, छत्तीसगढ़-प्रदेश में सोमवंशी पाण्डव-वंश तथा दक्षिणी कोशल में नलों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। अन्त में शक्तिशाली चालुक्य वंश ने सभी छोटे-छोटे राज्यों को पराजित कर अपनी सार्वभौम सत्ता की स्थापना की। इस प्रकार तीन शताब्दियों तक शासन करने के उपरांत वाकाटक-वंश का पतन हो गया।

वाकाटक राजवंश का महत्त्व

नाग वंश की भाँति वाकाटक वंश का भारतीय इतिहास के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाकाटक वंश ने गुप्त वंश से पूर्व ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर ली और गुप्त वंश के चरमोत्कर्ष की अवधि में भी उनकी सत्ता बनी रही। वाकाटक राजाओं ने एक विशाल राज्य की स्थापना की। उन्होंने मध्य प्रदेश, बरार और ऊपरी दक्षिण में लगभग तीन शताब्दियों तक सफलतापूर्वक शासन किया। उन्होंने (वाकाटकों ने) कुषाणों को पराजित कर काबुल में शरण लेने को विवश किया। वाकाटकों का प्रमुख उद्देश्य विदेशी शक्तियों का अन्त करके देशी साम्राज्य की स्थापना करना था। अपने इस कार्य में वे प्रायः सफल रहे। गुप्त सम्राटों ने भी उनके इस आदर्श का अनुकरण किया।

वाकाटकों ने न केवल राजनीतिक एकता की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया बल्कि सांस्कृतिक विकास में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया। नाग राजाओं के समान वाकाटकों का उद्देश्य हिन्दू-राज्य और हिन्दू धर्म की स्थापना था। वे न केवल एक महान् राज्य-निर्माता थे अपितु धर्म और संस्कृति की अभिवृद्धि में भी उन्होंने उल्लेखनीय भूमिका निभाई।

हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में वाकाटकों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म की स्थापना कर विश्रृंखलित भारतीय समाज को पुनःसंगठित किया। डॉ० जायसवाल का कथन है कि वर्णाश्रम धर्म और हिन्दुत्व की पुनःस्थापना युग की पुकार थी जिसे वाकाटकों ने समझा और कार्यान्वित किया। वाकाटक राजाओं ने पवित्र 'गंगा-यमुना' को अपने साम्राज्य चिह्न के रूप में मान्यता देकर अखिल भारतीय गौरव प्रदान किया।

वाकाटक राजाओं ने संस्कृत भाषा के विकास हेतु अनेक प्रयत्न किए। उन्होंने संस्कृत को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की। प्रारम्भिक वाकाटक-अभिलेख संस्कृत भाषा में उल्लिखित हैं। कौमुदी महोत्सव, वाकाटक काल की सर्वोत्कृष्ट संस्कृत-रचना मानी जाती है। उनके काल में साहित्य के क्षेत्र में भारी विकास हुआ। 'भाव-शतक' उस काल की प्रसिद्ध रचना है। वाकाटक राजा विद्यानुरागी थे। वे स्वयं विद्वान् थे। वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय ने मराठी प्राकृत काव्य 'सेतुबंध' और सर्वसेन ने 'हर विजय' नामक प्राकृत काव्य की रचना की।

विद्वानों का कथन है कि कुषाणों ने हिन्दू देव-मन्दिर को क्षति पहुँचाई थी, जिससे कला के क्षेत्र में अवनति प्रारम्भ हो गई। वाकाटकों ने वास्तुकला, शिल्पकला

और चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने सुन्दर देव-मन्दिरों का निर्माण करवाया। डॉ० जायसवाल का मत है कि नाग-वाकाटकों के भूमरा और नचना के सुन्दर मन्दिरों पर गंगा-यमुना की ललित रचना नाग-वाकाटक संस्कृति का सुन्दर प्रतिबिम्ब परिलक्षित करती है।

वाकाटक राजा ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। प्रारम्भ में वे शैव मतावलम्बी थे और उन्होंने 'परममाहेश्वर' का विरुद धारण किया। किन्तु बाद में गुप्तों के प्रभाव में आ जाने के कारण वे वैष्णव धर्मानुयायी हो गये थे और उन्होंने 'परमभागवत' का विरुद धारण कर लिया था। ब्राह्मण धर्म के अनुरूप उन्होंने अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञ सम्पादित किए।

इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि वाकाटक राजाओं का शासन-काल भारतीय इतिहास का गौरवपूर्ण युग था। विद्वानों का मत है कि नाग राजाओं और वाकाटक नरेशों की राजनीतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ही गुप्त सम्राटों का विशाल साम्राज्य प्रतिष्ठित हुआ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. नाग वंश के इतिहास पर प्रकाश डालिए।
2. वाकाटक वंश के इतिहास का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
3. नाग वंश तथा वाकाटक वंश के ऐतिहासिक महत्त्व की विवेचना कीजिए।

20

मैत्रक, मौखरी और उत्तरकालीन गुप्त

मैत्रक—स्कंदगुप्त की मृत्यु के उपरांत गुप्त-साम्राज्य के विभाजन का क्रम प्रारम्भ हो गया। सर्वप्रथम सौराष्ट्र प्रांत ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। वल्लभी में भट्टारक ने पांचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मैत्रक नामक राजवंश की स्थापना की। भट्टारक के पूर्वजों के संबंध में विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान उन्हें मैत्रक वंशी मानते हैं। प्रारंभिक मैत्रक नरेश गुप्तों के अधीन प्रतीत होते हैं। अभिलेखों में उनके लिये केवल 'सेनापति' की उपाधि प्रयुक्त हुई है। भट्टारक तथा उसके पुत्र धरसेन को सेनापति कहा गया है। धरसेन के छोटे भाई द्रोणसिंह ने 'महाराज' का विरुद धारण किया। द्रोण सिंह के पश्चात् उसका भाई ध्रुवसेन प्रथम राजा बना। उसके द्वारा जारी भूमि अनुदानों में गुप्त सम्राट का उल्लेख है जिससे वे गुप्तों के अधीन प्रतीत होते हैं।

ध्रुवसेन प्रथम के पश्चात उसका छोटा भाई धरदत्त वल्लभी का राजा बना। उसके संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। धरदत्त के बाद उसका पुत्र गुहसेन राज्याधिकारी बना। उसके द्वारा जारी अनुदानों से विदित होता है वह स्वतंत्र शासक था। इस प्रकार गुहसेन ने गुप्तों के विरुद्ध अपने वंश की स्वतंत्रता घोषित कर दी थी।

गुहसेन के उपरांत उसका पुत्र धरसेन द्वितीय मैत्रक वंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ। उसकी तिथि 556 से 567 ई० तक विदित होती है। धरसेन द्वितीय ने अपने साम्राज्य की सीमाएं पश्चिमी काठियावाड़ तक विस्तृत कीं। उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। धरसेन द्वितीय के बाद शीलादित्य शासक बना। ह्वेन्सांग ने शीलादित्य की वहुत प्रशंसा की है। वह बौद्ध धर्म के प्रति उदार था। उसने एक कलापूर्ण बौद्ध मंदिर का निर्माण करवाया।

शीलादित्य के बाद उसका छोटा भाई खराग्रह राजगद्दी पर बैठा। तत्पश्चात् धरसेन द्वितीय शासक बना। उसने उत्तरी गुजरात को विजित कर वल्लभी

राज्य में सम्मिलित कर लिया। धरसेन तृतीय के पश्चात् ध्रुवसेन द्वितीय ने शासन किया। उसके शासन में चीनी यात्री ह्वेन्सांग वल्लभी आया। उसने ध्रुवसेन द्वितीय के बारे में लिखा है—"राजा जन्म से छत्रिय था और मो-ला-पो (मालवा) के पूर्ववर्ती राजा शीलादित्य का भतीजा तथा कान्यकुब्ज के शीलादित्य का जामाता था। उसका नाम तु-लो-पो-पो-ता (ध्रुवभट्ट) था। उसके विचारों में न गहराई थी और न दूरदर्शिता, परन्तु बौद्ध धर्म में उसकी गहरी आस्था थी।" हर्ष ने ध्रुवसेन द्वितीय को पराजित किया और बाद में उसे अपनी पुत्री देकर मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित कर लिए। उसने लगभग 640 ई० तक राज्य किया।

ध्रुवसेन द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र धरसेन चतुर्थ राजा बना। उसने स्वतंत्र राजा के अनुरूप 'परम भट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' और 'चक्रवर्तिन' की उपाधियां धारण कीं। ऐसा विदित होता है कि गुर्जरों को पराजित कर भरुकच्छ तक अपने राज्य का विस्तार किया। महाकवि भट्टि को उसका दरबारी कवि कहा गया है।

धरसेन चतुर्थ के बाद शीलादित्य ने शासन किया। उसने गुर्जरों को पराजित किया। वह शक्तिशाली नृपति था। उसने कई भूमिदान जारी किये। तत्पश्चात् शीलादित्य चतुर्थ, शीलादित्य पंचम, शीलादित्य षष्ठ और शीलादित्य सप्तम ने शासन किया। शीलादित्य सप्तम इस वंश का अन्तिम सम्राट था। 766-67 ई० के लगभग मैत्रक-वंश के शासन का अन्त हुआ। अल्बेरूनी के कथनानुसार अरबों ने वल्लभी का नाश किया। भारतीय इतिहासकार वल्लभी के पतन के लिए प्रतीहारों और चालुक्य राजाओं को उत्तरादाई ठहराते हैं।

मौखरी वंश—यद्यपि मौखरियों का प्रभाव गुप्तवंश के पतन के पश्चात् स्थापित हुआ, तथापि उनका इतिहास बहुत पुरातन है। पाणिनि और पतंजलि ने मौखरी वंश का उल्लेख किया है। कय्यट (बारहवीं शताब्दी) ने पतंजलि के महाभाष्य की टीका में मौखर्य्या शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। पतंजलि का काल द्वितीय शताब्दी ई० पू० निर्धारित है। अतः विदित होता है कि द्वितीय शताब्दी ई० पू० में मौखरी विद्यमान थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'मौखर्य्य' शब्द का उल्लेख मिलता है। पाणिनि का ससय ई० पू० पाँचवीं शताब्दी था। अतः यह कहा जा सकता है कि मौखरी पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में विद्यमान थे। हरहा अभिलेख से विदित होता है कि अश्वपति को वैवस्वत (मनु) के वर से सौ पुत्र प्राप्त हुए थे। मौखरी इन्हीं के वंशज थे। "वे (मौखरी) उन सौ पुत्रों के वंशज थे जिन्हें राजा अश्वपति ने वैवस्वत से पाया था।"

बाणभट्ट ने मौखरी वंश को मुखर वंश कहा है। हरहा अभिलेख में मौखरी नरेशों को 'मुखराः क्षितीशाः' कहा गया है। इससे विदित होता है कि मुखर इस वंश का संस्थापक था।

मौखरियों के वंश के संदर्भ में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डा० जायसवाल उन्हें

वैश्य जाति का बताते हैं। निहाररंजन रे ने मौखरियों को चन्द्रवंशी क्षत्रिय बताया है। हरहा अभिलेख से वे क्षत्रिय प्रमाणित होते हैं। हरहा लेख के संपादक हीरानंद शास्त्री का कथन है कि मौखरी सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। डा० रमाशंकर त्रिपाठी का मत है—"उनका (मौखरियों) आदि जनक चाहे जो भी रहा हो हरहा लेख और उनके नामों के अन्त्य "वर्मन्" से इतना निश्चित जान पड़ता है कि वे क्षत्रिय थे।"

गुप्त-वंश के अवनति काल में लगभग 500 ई० के आसपास मौखरी वंश के सामंत ने कन्नौज में अपनी सत्ता स्थापित की। इस वंश के प्रथम तीन शासकों ने उत्तरकालीन गुप्तों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किये। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मौखरी शासक उत्तरकालीन गुप्तों के अधीन थे। मौखरी वंश के चतुर्थ शासक ईशानवर्मन ने सर्वप्रथम अपने कुल की स्वतंत्रता घोषित की। उसने "आंध्रों को जीता···शूलिकों को परास्त किया···और गौड़ों को अपनी सीमा के भीतर रहने को बाध्य किया।" उसने स्वतंत्र शासक के अनुरूप 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। ईशानवर्मन् के पश्चात् उसका पुत्र सर्वबर्मन् राजा हुआ। उसने उत्तरपश्चिम में हूणों की शक्ति का विनाश किया तथा दामोदर गुप्त को पराजित किया। इसके बाद अवंतिवर्मन् और ग्रहवर्मन् शासक बने। ग्रहवर्मन् ने थानेश्वर राज्य के वर्धन राजा प्रभाकरवर्धन की कन्या राज्यश्री से विवाह किया। मालवा के शासक देवगुप्त ने ग्रहवर्मन् को पराजित करके मार डाला। उसी के साथ कन्नौज में मौखरी वंश के शासन का अन्त हो गया। ग्रहवर्मन् की मृत्यु (606 ई०) के बाद हर्ष ने राज्यश्री के संरक्षक के रूप में कन्नौज का कार्यभार संभाला और बाद में उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। हर्ष ने कन्नौज को अपनी राजधानी के रूप में विकसित किया।

उत्तरकालीन गुप्त—गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तरी भारत में जो नवीन राज्य अस्तित्व में आये, उनमें परवर्ती गुप्तों (उत्तरकालीन गुप्त) का राज्य प्रमुख था।

उत्तरकालीन गुप्त (Later Gupta Dynasty) के मूल निवास-स्थान के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। फ्लीट महोदय ने उनका मूल निवास-स्थान मगध बताया है। डॉ० बनर्जी तथा अन्य कुछ विद्वानों ने उनके मत का समर्थन किया है। हार्नले, ए० पियर्स, आर० एन० सालेतूर, डॉ० डी० सी० गांगुली, चिन्तामणि वैद्य, डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी तथा डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार उत्तरकालीन गुप्तों का आदि स्थान मालवा था। डॉ० बी० सी० सेन और डा० रमाशंकर त्रिपाठी का कथन है कि उत्तरकालीन गुप्त मूलतया मगध के शासक थे, किन्तु छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वे मालवा आकर बस गये। अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर भी उनका मूल स्थान मगध प्रतीत होता है। मगध के शक्तिशाली गुप्तवंश के साथ उत्तरकालीन गुप्तों का क्या संबंध था, यह अज्ञात है।

उत्तरकालीन गुप्तवंश ने लगभग दो शताब्दियों तक शासन किया। प्रारंभ में वे मगध में शासक करते थे, किन्तु बाद में मगध मौखरियों द्वारा अधिकृत कर लिये जाने पर उनका राज्य मालवा में सीमित रह गया। कृष्णगुप्त इस वंश का संस्थापक था। आदित्य सेन के अफसढ़ अभिलेख (गया जिला) और जीवित गुप्त द्वितीय के देव-वरणार्क (शाहाबाद जिला) अभिलेख से उत्तरकालीन गुप्त वंश के ग्यारह राजाओं पर प्रकाश पड़ता है।

उत्तरकालीन गुप्तवंश की संस्थापना का श्रेय कृष्णगुप्त (लगभग 510-525 ई०) को दिया गया है। अफसढ़ अभिलेख में उसे 'असंख्य शत्रुओं का विजेता' तथा 'अच्छे वंश' का कहा गया है। उसका उत्तराधिकारी हर्ष गुप्त पराक्रमी नरेश था। उसने भयंकर युद्धों में अपने शत्रुओं को पराजित किया। उसका पुत्र जीवितगुप्त प्रथम भी शक्तिशाली राजा था। उसे क्षितीशचूड़ामणिः (राजाओं में सिरमौर) कहा गया है। वह अपने रिपुओं के लिए महाज्वर के समान था। वह अपने वंश का शक्तिशाली शासक था। विद्वानों का मत है कि उपरोक्त प्रारंभिक तीन उत्तरकालीन गुप्त राजाओं ने 555 ई० तक शासन किया। वे गुप्तों के अधीन थे।

जीवितगुप्त प्रथम के पश्चात् उसका यशस्वी पुत्र कुमार गुप्त प्रथम राजा बना। उसने अपने वंश की स्वतंत्रता घोषित करते हुए 'महाराजाधिराज' का विरुद धारण किया। अफसढ़ अभिलेख में कुमारगुप्त द्वारा मौखरी नरेश ईशानवर्मन के ऊपर विजय का उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है–"ईशानवर्मन् की क्षीर सागर के समान विकराल सेना को कुमारगुप्त ने युद्धक्षेत्र में उसी तरह मथ डाला जिस तरह देवासुर संग्राम में मंदराचल पर्वत द्वारा क्षीर सागर मथा गया था।" इस विजय के फलस्वरूप कुमारगुप्त के राज्य की सीमा प्रयाग तक विस्तृत हो गई। अफसढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त का दाह-संस्कार प्रयाग में हुआ।

कुमार गुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र दामोदर गुप्त राजगद्दी पर बैठा। मौखरी नरेश ईशानवर्मन् का सर्ववर्मन् प्रबल प्रतिद्वंद्वी था। वह अपने पिता की पराजय का प्रतिशोध लेना चाहता था। उसने दामोदर गुप्त को पराजित कर मगध को पुनः अपने अधिकार में ले लिया। अफसढ़ अभिलेख में उल्लिखित है कि दामोदर गुप्त युद्ध-क्षेत्र में मूर्च्छित हो गया जहां सुरवधुओं ने उसका वरण किया। मगध पर सर्ववर्मन् का अधिकार हो जाने के फलस्वरूप उत्तरकालीन गुप्तों का राज्य मालवा तथा उसके समीप तक सीमित रह गया।

दामोदर गुप्त की मृत्यु के बाद उसके पुत्र महासेन गुप्त ने राज्यभार संभाला। उसने कामरूप नरेश सुस्थितवर्मन् को लौहित्य नदी (ब्रह्मपुत्र) के तट पर पराजित किया। थानेश्वर का राजा प्रभाकर वर्धन महासेन गुप्त की बहिन महासेन गुप्ता से उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार महासेन गुप्त ने वर्धन वंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया।

महासेनगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र देवगुप्त मालवा की राजगद्दी पर बैठा। वह अपने सौतेले भाई कुमारगुप्त और माधवगुप्त के प्रति द्वेषभाव रखता था। अतः

उनकी सुरक्षा हेतु महासेनगुप्त ने उन्हें प्रभाकरवर्धन की शरण में भेज दिया। देवगुप्त प्रभाकरवर्धन के प्रति द्वेष भाव रखता था। अपनी स्थिति को मजबूत करने के उद्देश्य से देवगुप्त ने गौड़ नरेश शशांक से मित्रता गाँठ ली। 605 ई० में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पश्चात् देवगुप्त ने उसके दामाद ग्रहवर्मा के राज्य कन्नौज पर अधिकार कर उसका वध कर दिया। राज्यवर्धन ने देवगुप्त को पराजित किया, किन्तु वह गौड़ नरेश शशांक द्वारा वंचकता से मार डाला गया।

राज्यवर्धन की मृत्यु के बाद 606 ई० में उसका छोटा भाई हर्षवर्धन थानेश्वर की राजगद्दी पर बैठा। उसने अपने सहयोगी माधवगुप्त को मालवा का सामंत नियुक्त किया। हर्ष की मृत्यु के बाद उत्तरी भारत में राजनीतिक अराजकता का वातावरण व्याप्त हो गया। माधवगुप्त ने भी अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। उसका पुत्र आदित्यसेन मालवा का चक्रवर्ती सम्राट बना। वह महान योद्धा और कुशल प्रशासक था।। अफसढ़ और शाहपुर के अभिलेखों से विदित होता है कि उसने मगध पर अधिकार कर लिया था। स्वतंत्र शासक के अनुरूप उसने 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की और अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। संभवतः उसने 655 से 675 ई० तक शासन किया। उसके बाद उसके पुत्र देवगुप्त द्वितीय ने शासन किया। उसने भी 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' का विरुद धारण किया। चालुक्य अभिलेखों में उसे 'सकलोत्तरपथनाथ' कहा गया है। उसके बाद विष्णुगुप्त और जीवितगुप्त द्वितीय ने शासन किया। जीवितगुप्त द्वितीय उत्तरकालीन गुप्त वंश का अन्तिम महान् शासक था। उसकी मृत्यु के बाद इस वंश का अन्त हो गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मैत्रकों और मौखरियों के इतिहास पर प्रकाश डालिए।
2. उत्तरकालीन गुप्तों का वर्णन कीजिए।

21

हूण-आक्रमण और यशोधर्मन का उत्कर्ष

बर्बर हूण मध्य एशिया में निवास करने वाली खानाबदोश जाति थी। पारस्परिक कलह और जनसंख्या में भारी वृद्धि के कारण वे अपने जीवन-यापन के लिए नवीन प्रदेशों की खोज में चले गये थे। हूणों के मूल निवास-स्थल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। अधिकतर विद्वान उन्हें चीन के समीप का निवासी बताते हैं। प्रारम्भ में हूणों का यू-ची जाति के साथ संघर्ष हुआ। बाद में नवीन प्रदेशों की खोज में वे दो दलों में विभक्त हो गये। एक दल वोल्गा की ओर बढ़ा और दूसरा आक्सस नदी की ओर अग्रसर हुआ।

वोल्गा की ओर बढ़ने (पश्चिमी शाखा) वाली हूणों की शाखा ने यूराल पर्वत को पार कर रोम-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने विशाल रोम-साम्राज्य की धज्जियाँ उड़ा दीं। आक्सस नदी की ओर अग्रसर (पूर्वी शाखा) हूणों ने 448 ई० में आक्सस नदी के भागों को अधिकृत करके वहाँ अपनी शक्ति मजबूत कर ली। हूणों ने ईरान को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने हिन्दूकुश को पार कर भारत में प्रवेश किया।

भारत पर हूण-आक्रमण—हिंदूकुश को पार कर हूणों ने गांधार को अधिकृत कर लिया। खानाबदोश और क्रूरकर्मा हूणों ने 456 ई० में गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। महान् योद्धा स्कंदगुप्त ने उन्हें पराजित कर दिया। जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता हैं कि उसने हूणों की शक्ति को इस तरह विदीर्ण कर दिया कि म्लेच्छ देशों में भी उसके रिपुगण (हूण) उसकी विजय का सुयश उद्घोषित किया करते थे। भीतरी अभिलेख से ज्ञात होता है कि हूण आक्रमण की विध्वंसकारी बाढ़ को रोकने के लिए स्कंदगुप्त ने भीषण प्रचण्डता के साथ उनका सफल प्रतिरोध किया। गुप्त और हूणों की म्लेच्छ सेना के मध्य हुए भयंकर समर से धरा प्रकम्पित हो उठी और युद्ध के भीषण आवर्त्त में फँसे मस्त हूणों के कान गंगा की ध्वनि सम

गुप्त धनुर्धरों की शरों की गर्जना से भर गये। सोमदेव के कथासरितसागर और आर्य-मंजुश्रीमूलकल्प में भी हूणों के ऊपर स्कन्दगुप्त की विजय का उल्लेख मिलता है।

स्कंदगुप्त द्वारा बुरी तरह पराजित हो जाने के पश्चात् हूणों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति पूर्वी यूरोप को विजित करने में लगा दी। तत्पश्चात् लगभग पचास वर्ष तक उन्हें भारत पर पुनः आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। छठी शताब्दी के प्रारम्भ में हूणों ने तोरमाण के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण कर दिया, इस बार उन्हें सफलता मिली।

तोरमाण—स्कंदगुप्त द्वारा पराजित हूणों ने गांधार में अपनी शक्ति को केन्द्रित किया। सुंगयुन के अनुसार वे लोग गांधार पर अपने एक नये नेता के नेतृत्व में राज्य कर रहे थे। छठी शताब्दी के प्रारम्भ में उन्होंने तोरमाण के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण किया जिसमें उन्हें भारी सफलता मिली।

तोरमाण एक महान् सैनिक था। सामरिक शक्ति में उसकी तुलना सिकन्दर और मिनेण्डर से की जाती है। वह क्रूर और हिंसक प्रवृत्ति का था। तोरमाण के क्रूर स्वभाव पर प्रकाश डालते हुए उपेन्द्र ठाकुर ने लिखा है—"तोरमाण का उदय मृत्यु, युद्ध, डर, मुर्दों के ढेर, लोगों की चिल्लाहट, मर रहे निर्दोष लोगों और सैनिकों की लूटमार के मध्य हुआ। वह भारत के राजनीतिक आकाश में एक नया सितारा था, जिसका एकमात्र मित्र तलवार थी और उसकी एकमात्र खुशी लूटमार और खून-खराबा था।" उसने एक सैनिक के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया था। प्रारम्भ में उसने काबुल, गांधार, सीमाप्रान्त, पंजाब और कश्मीर को विजित किया। तदुपरान्त उसने यौधेय, मालव, मद्र आदि जातियों का विनाश किया। उसने स्यालकोट, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, मगध, काशी और कौशाम्बी को जीत लिया।

गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण—456 के लगभग स्कंदगुप्त ने शक्तिशाली हूणों की सेना को कुचल दिया था। जब तक स्कंदगुप्त जीवित रहा, तब तक उन्हें गुप्त-साम्राज्य पर पुनः आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। स्कंदगुप्त की मृत्यु के बाद राजसत्ता उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के हाथ में आ गई। हूणों में प्रतिशोध की भावना थी। अतः उन्होंने तोरमाण के नेतृत्व में मगध पर आक्रमण कर लिया। 510 ई० में गुप्त सम्राट् भानुगुप्त का सामन्त गोपराज हूणों के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया। भानुगुप्त स्वयं भी तोरमाण के आक्रमण का प्रतिरोध करने में निष्फल सिद्ध हुआ। ऐरण-विजय के पश्चात् तोरमाण ने काशी को विजित किया और बाद में बीमारी के कारण वहीं उसकी मृत्यु हो गई।

तोरमाण महान् योद्धा था। उसने गुप्त साम्राज्य के कई प्रदेश विजित कर लिए थे। प्रारम्भ में कट्टर होने पर भी वह बाद में धार्मिक, सहिष्णु और न्यायप्रिय सम्राट के रूप में उभर कर सामने आया। उसने स्कंदगुप्त द्वारा हूणों की पराजय का बदला चुकाया। उपेन्द्र ठाकुर के शब्दों में—"वह एक बुद्धिमान

शासक और कूटनीतिज्ञ था। उसने अपनी शक्ति, दूरदर्शिता, विशालता, कूटनीति और बुद्धिमत्ता से मध्य एशिया से लेकर पाटलिपुत्र तक (हूण) साम्राज्य स्थापित किया। तोरमाण मर गया, किन्तु गुप्तों का वंश वापस न आ सका और कुछ वर्ष पश्चात् उनका पूर्णतया अन्त हो गया। देश की राजनीतिक एकता को ऐसी चोट लगी कि वह पुनः स्थापित न हो सकी। 550 ई० के पश्चात् साधारण और राष्ट्रीय जीवन की समानता समाप्त हो गई। यह सत्य है कि हूणों का भी अन्त हो गया, परन्तु पुराना जीवन वापस न आ सका।"

तोरमाण ने निरन्तर विजयें करके विशाल हूण-साम्राज्य की स्थापना कर डाली। अभिलेखों तथा सिक्कों से ज्ञात होता है कि वह पंजाब से ऐरण तक विस्तृत क्षेत्र का स्वामी था। काशी, कौशाम्बी, मालवा, मगध, ऐरण, स्यालकोट आदि उसकी शक्ति के प्रमुख केन्द्र थे। वह प्रथम विदेशी शासक था जिसने मध्य एशिया से लेकर मध्य भारत तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसने कई प्रकार के सिक्के प्रचलित किए। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पंजाब और कश्मीर में उसके अनेक सिक्के पाये गये हैं। जैन ग्रन्थ 'कुवलयमाला' में उसे जैन धर्म का अनुयायी बताया गया है।

मिहिरकुल—तोरमाण की मृत्यु के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र मिहिरकुल शासक बना। विद्वानों का मत है कि वह लगभग 515 ई० में राजगद्दी पर बैठा। कल्हणकृत राजतरंगिणी से विदित होता है, मिहिरकुल ने कश्मीर और गांधार पर शासन किया तथा दक्षिणी भारत और लंका को भी विजित किया। ह्वेन्सांग के अनुसार वह भारत के एक बड़े भू-भाग का स्वामी था तथा शाकल उसकी राजधानी थी। कॉस्मास ने उसे 'भारत सम्राट्' की संज्ञा दी है। वह अत्याचारी सम्राट् था। अत्याचार करने में वह कभी नहीं हिचकिचाता था। वह बौद्ध-विरोधी था। उसने अनेक बौद्ध विहारों को नष्ट कर दिया। ह्वेन्सांग लिखता है कि उसने शान्तिप्रिय बौद्धों पर अनेक अत्याचार किये और उनके स्तूपों और विहारों को लूटकर विनष्ट कर दिया। गांधार नरेश हुनकिंग के दरबार में रहने वाले चीनी राजदूत सुंगयुन ने लिखा है—"दो पीढ़ियों पूर्व हूणों ने गांधार पर अधिकार कर लिया। सम्राट् हुनकिंग का स्वभाव अत्यन्त क्रूर और प्रतिशोधात्मक है। वह बहुत अधिक असभ्यतापूर्ण अत्याचार करता है। वह महात्मा बुद्ध के धर्म में विश्वास नहीं रखता है, बल्कि दैत्यों की पूजा में आस्था रखता है। अपनी शक्ति में विश्वास रखते हुए उसने सीमाओं के बारे में कश्मीर के राजा के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया और गत तीन वर्ष से वह उसके साथ संघर्षरत है।" विद्वानों ने हुनकिंग का समीकरण मिहिरकुल से स्थापित किया है।

अत्याचारी मिहिरकुल महान् योद्धा था। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त पैतृक साम्राज्य का निरन्तर विस्तार किया। उस समय हूणों की शक्ति सिन्धु नदी के पश्चिम में व्याप्त थी। कौशाम्वी में भी उसके सिक्के मिले हैं, जो उसके अधीन प्रदेश के सूचक हैं। कल्हण के अनुसार, उसने श्रीनगर में मिहिरेश्वर का

मन्दिर निर्मित करवाया। मन्दसौर अभिलेख में उसे शिव का उपासक कहा गया है।

मिहिरकुल द्वारा 'बालादित्य' पर आक्रमण—गुप्त सम्राट् नरसिंह गुप्त 'बालादित्य' बौद्ध धर्मानुयायी था। मिहिरकुल बौद्ध विरोधी था। उसके बौद्ध, विरोधी कार्यों से क्रुद्ध होकर 'बालादित्य' ने उसे करादि देना बन्द कर दिया। मिहिरकुल ने दण्डित करने के उद्देश्य से उसके राज्य मगध पर आक्रमण कर दिया। किन्तु वह 'बालादित्य' द्वारा बन्दी बनाया गया। अन्त में बालादित्य ने बौद्ध अनुयायी अपनी वृद्ध माता के कहने पर उसे मुक्त कर दिया। उस समय तक उसका भाई हूण राज्य पर अधिकार कर चुका था। विवश होकर मिहिरकुल कश्मीर के राजा की शरण में चला गया। कश्मीर नरेश ने उसका आदर-सत्कार किया। किन्तु मिहिरकुल ने षड्यन्त्र द्वारा उसका वध करवा कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् वह अधिक समय तक जीवित न रह सका। एक वर्ष बाद ही उसकी मृत्यु हो गई।

मिहिरकुल और यशोधर्मन् के मध्य संघर्ष—तिथि रहित मन्दसौर के अभिलेख में मालवा के यशस्वी नरेश यशोधर्मन् की विजयों का वर्णन मिलता है। उसमें यशोधर्मन द्वारा हूण नरेश मिहिरकुल की पराजय का उल्लेख मिलता है। मन्दसौर अभिलेख काव्यात्मक शैली में लिखा गया है। उसमें उल्लिखित है—"जिसने भगवान शिव के अतिरिक्त अन्य किसी के सामने सिर नहीं झुकाया था, जिसकी भुजाओं में आलिंगित होने के कारण हिमालय व्यर्थ ही दुर्गम होने का अभिमान करता था, ऐसे मिहिरकुल के मस्तक को अपने बाहुबल से यशोधर्मन ने नीचे झुकाकर उसे पीड़ित कर दिया तथा उसके बालों की जूट में लगे पुष्पों द्वारा अपने दोनों पैरों की पूजा करायी।"

इस संदर्भ में विद्वानों में मतभेद है कि मिहिरकुल को पहले गुप्त सम्राट् बालादित्य ने पराजित किया अथवा मालव नरेश यशोधर्मन् ने। डॉ० स्मिथ ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि बालादित्य और यशोधर्मन् ने मिहिरकुल के विरुद्ध संघबद्ध होकर दो विपरीत दिशाओं से आक्रमण कर उसे पराजित किया। डॉ० मुखर्जी और डॉ० फ्लीट का मत है कि मिहिरकुल को पूर्व में बालादित्य तथा पश्चिम में यशोधर्मन द्वारा पराजित होना पड़ा। कुछ विद्वान् सर्वप्रथम यशोधर्मन् को मिहिरकुल को पराजित करने का श्रेय देते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पहले मिहिरकुल बालादित्य द्वारा पराजित हुआ। तत्पश्चात् उसने कश्मीर में शरण ली। वहाँ के राजा का वध कर उसने कश्मीर की राजगद्दी हथिया ली। तदुपरान्त उसने गांधार को भी अधिकृत कर लिया। अन्त में वह मालवा के सम्राट् यशोधर्मन् द्वारा पराजित हुआ, जिसका उल्लेख मंदसौर की प्रशस्ति में काव्यात्मक शैली में हुआ है।

मिहिरकुल के बाद हूण वंश—मिहिरकुल की पराजय और मृत्यु के उपरान्त हूणों में कोई इतना योग्य शासक नहीं हुआ जो तोरमाण और मिहिरकुल की विजयों

की पुनरावृत्ति कर सकता। अतः उनकी शक्ति में क्रमिक ह्रास होने लगा। वे छोटे-छोटे दलों में विभक्त हो गये। 550 ई० में उन्होंने गंगा की घाटी पर पुनः अधिकार करने का प्रयास किया किन्तु मौखरी नरेश ईशानवर्मा ने उन्हें पराजित कर दिया। अफसढ़ अभिलेख में मौखरि सेना को 'हूण-विजेता' कहा गया है। तत्पश्चात् सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रभाकरवर्धन और राज्यवर्धन ने उन्हें पराजित कर हूणों की शक्ति को कुचल दिया। बाणभट्टकृत 'हर्षचरित' में प्रभाकरवर्धन को 'हूण रूपी हिरण के लिए सिंह के समान' (हूणहरिणकेसरी) कहा गया है। बाद में हूण भारतीयों के निकट सम्पर्क में आये और अन्त में भारतीय समाज में विलीन हो गये।

हूण-आक्रमण का प्रभाव

क्रूरकर्मा हूण युद्धप्रिय जाति थी, किन्तु शासन संचालित करने की क्षमता उसमें नहीं थी। यही कारण है कि वे भारत में स्थायी साम्राज्य की स्थापना नहीं कर पाये। उनके आक्रमण से भारत कुछ क्षेत्रों में प्रभावित हुआ। उन्होंने अपने क्रूर स्वभाव के अनुरूप भारत में विध्वंसात्मक लीला जारी रखी। डा० स्मिथ का मत है कि उत्तरी भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक इतिहास में हूण-आक्रमण का प्रभाव पड़ा। भारत में निम्नलिखित क्षेत्रों में हूण-आक्रमण का प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है।

राजनीतिक प्रभाव—हूण वर्बर और विध्वंसकारी थे। उनका प्रमुख उद्देश्य भ्रमण करना और लूट-पाट करना था। हूणों के आक्रमणों ने भारत की राजनीतिक एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया। उनके आक्रमणों से गुप्त साम्राज्य को गहरा आघात लगा। स्कंदगुप्त की मृत्यु के बाद वे गुप्त साम्राज्य के अनेक प्रदेशों को जीतने में सफल हो गये। हूणों ने विध्वंसक लीला जारी रखी। उन्होंने बौद्ध विहारों, स्तूपों और अभिलेखों को विनष्ट कर दिया। इससे भारतीय इतिहास को भारी क्षति पहुंची। ऐतिहासिक सामग्री के नष्ट हो जाने से अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का ज्ञान अंधकार में समा गया। उनकी क्रूर और हिंसक प्रवृत्ति ने देश की प्रजातान्त्रिक भावना को ठेस पहुंचाई। उनकी इस नीति ने भारतीय राजाओं के सम्मुख निरंकुशता तथा नृशंसता का उदाहरण प्रस्तुत किया।

हूणों के आक्रमणों के फलस्वरूप भारत की राजनीतिक एकता को गहरा आघात पहुँचा। उनका आक्रमण एक आँधी की भाँति था। उनके दुर्बल पड़ते ही भारत में अनेक राजाओं का अभ्युदय हुआ जिन्होंने स्वतन्त्र शासक की हैसियत से छोटे-छोटे राज्यों में शासन किया।

सामाजिक प्रभाव—हूणों की सत्ता क्षीण पड़ जाने के पश्चात् कालान्तर में हूणों ने अपने को भारतीय समाज में आत्मसात् कर लिया। उन्होंने हिन्दू जाति के विश्वास, रीति-रिवाज तथा सामाजिक प्रणाली को अपना लिया। कुछ विद्वानों का मत है कि हूणों के फलस्वरूप ही राजपूत जाति का आविर्भाव हुआ। किन्तु अभी

यह मत मान्य नहीं। हूणों द्वारा भारतीय समाज में विलीन हो जाने के पश्चात् उन्होंने भारतीयों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। फलतः अनेक नई जातियों का जन्म हुआ।

यशोधर्मन का उत्कर्ष

प्रारम्भ में मालवा गुप्त साम्राज्य के अधीन था। स्कंदगुप्त की मृत्यु के बाद निरन्तर अयोग्य गुप्त शासकों की उपस्थिति में केन्द्रीय सत्ता निर्बल पड़ गई जिसका लाभ उठाते हुए अनेक महत्वाकांक्षी व्यक्तियों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। हूणों और वाकाटकों के आक्रमणों के फलस्वरूप मालवा के समीप के प्रदेशों पर गुप्त सम्राटों का अधिकार नहीं रह पाया। इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाते हुए स्थानीय शासक जैनेन्द्र यशोधर्मन् ने इस प्रदेश में अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। विद्वानों का मत है कि वह लगभग 530 ई० में मालवा का शासक बना।

पराक्रमी मालवा नरेश यशोधर्मन् की उत्पत्ति और प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्धित विवरण अंधकार में समाया हुआ है। उसकी सैनिक उपलब्धियों का उल्लेख मन्दसौर के दो अभिलेखों में हुआ है जिनमें मालव सम्वत् 589 अर्थात् सन् 532 ई० नामक तिथि उल्लिखित है।

मंदसौर अभिलेख में कहा गया है--"पूर्व में कई अत्यन्त शक्तिशाली सम्राटों तथा उत्तर के अनेक राजाओं को पराजित कर उसने राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण की। विन्ध्य तथा पारियात्र की मध्यवर्ती एवं अरब सागर तक फैली हुई भूमि में अभयदत्त उसके वायसराय के रूप में शासन करता था।" मंदसौर अभिलेख में यह भी कहा गया है—"उसने अपने राज्य की सीमाओं को लाँघकर उन देशों को भी विजित किया जिन्हें गुप्तों तक ने न भोगा था—और उसने ऐसे देशों पर भी आक्रमण किए जिनमें हूण तक प्रवेश न कर सके थे।" "उसने पूर्व में लौहित्य (ब्रह्मपुत्र नदी) से लेकर पश्चिम में समुद्र तक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में महेन्द्र पर्वत तक के प्रदेशों को विजित किया।"

मंदसौर अभिलेख में यशोधर्मन् की विजयों का विस्तृत वर्णन मिलता है। काव्यात्मक शैली में लिखी गई इस प्रशस्ति में यशोधर्मन् को चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में चित्रित किया गया है। उसे 'हूण विजेता' भी कहा गया है।

निस्संदेह यशोधर्मन महान् सम्राट् और अद्वितीय विजेता था, किन्तु मंदसौर अभिलेख में वर्णित उसकी विजयें अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होती हैं। उसने हूण योद्धा मिहिरकुल को पराजित कर उसकी रही-सही शक्ति को भी कुचल दिया। वह उल्का की भाँति भारत के राजनीतिक गगन मण्डल पर चमका। जिस तेजी से उसका उत्कर्ष हुआ, उसी शीघ्रता से उसका पतन हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यशोधर्मन का प्रभाव सन् 530 से 540 ई० तक व्याप्त रहा। 540 ई० के पश्चात् जिन राजाओं ने उत्तरी बंगाल और मालवा में शासन किया, वे गुप्त सम्राटों

के आधीन थे। ऐसा विदित होता है कि यशोधर्मन् ने अपने उत्कर्ष के दिनों में गुप्त नरेश को पराजित करके उसके साम्राज्य के अधिकांश भू-भाग को अधिकृत कर लिया। उसके शासन-काल में गुप्त राज्य मगध और उत्तरी बंगाल तक सीमित रह गया था। ह्वेन्सांग ने उसे नालंदा में एक बड़ा विहार बनाने का श्रेय दिया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत पर हूण आक्रमण की विवेचना कीजिए।
2. यशोधर्मन के उत्कर्ष पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

22

थानेश्वर का वर्धन राजवंश

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात जिन राज्यों का आविर्भाव हुआ उनमें थानेश्वर का वर्धन राज्य प्रमुख है। बाणभट्टकृत हर्षचरित में थानेश्वर-राज्य की स्थापना का श्रेय पुष्यभूति को दिया गया है। पुष्यभूति के पश्चात् नरवर्धन, राज्यवर्धन और आदित्यवर्धन ने राज्य किया। इन राजाओं ने सन् 525 से 600 ई० तक शासन किया। आदित्यवर्धन के पश्चात् उसकी परवर्ती गुप्तवंशी रानी महासेनगुप्ता (महासेनगुप्त की बहन) से उत्पन्न पुत्र प्रभाकरवर्धन राज्याधिकारी बना। ह्वेन्सांग के यात्रा-वृत्तांत तथा आर्यमंजुश्रीमूलकल्प से विदित होता है कि वर्धन वैश्य जातीय थे।

प्रभाकरवर्धन (सन् 600-606 ई०)—आदित्यवर्धन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र प्रभाकरवर्धन थानेश्वर की राजगद्दी पर आसीन हुआ। उसने स्वतन्त्र शासक के अनुरूप 'महाराजाधिराज' का विरुद धारण किया। वह प्रतापी सम्राट था। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने उसे 'हूणों को पराजित करने वाला' कहा है। उसने सिंध, गांधार, गुर्जर, लाट और मालवा आदि के राजाओं के विरुद्ध सामरिक अभियान किये। बाणभट्ट की रचना हर्षचरित से ज्ञात होता है—"वह हूण-रूपी हिरन के लिए सिंह, सिंधु देश के राजा के लिए ज्वर, गुर्जर को चैन से न सोने देने वाला, गांधारराजरूपी मस्त हाथी के लिए जलता हुआ बुखार, लाट देश की चतुरता का अन्त करने वाला, मालव-देश की लक्ष्मीरूपी लता को काट देने वाला कुठार के समान था।" परवर्ती गुप्तनरेश महासेनगुप्त के पुत्र माधवगुप्त और कुमारगुप्त मालवा छोड़कर प्रभाकरवर्धन की शरण में आ गये थे। प्रभाकरवर्धन ने मालवा के नये शासक देवगुप्त के लिए भी परेशानियाँ उत्पन्न कर दीं, जिसका बदला उसने राज्यवर्धन की मृत्यु के तुरन्त बाद उसके दामाद कन्नौज नरेश ग्रहवर्मा का वध तथा पुत्री राज्यश्री को कारागार में बन्द करके चुकाया। 606 ई० में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हो गई।

राज्यवर्धन द्वितीय (606 ई०)—606 ई० में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के उपरांत उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन राजसिंहासन पर आसीन हुआ। युवराज के रूप में वह हूणों को पराजित कर चुका था। प्रभाकरवर्धन के समय गौड़ में शक्तिशाली राजा शशांक राज्य कर रहा था। वह कन्नौज को भी अधिकृत करना चाहता था। राज्यवर्धन के गद्दी पर बैठने के बाद मालव नरेश देवगुप्त ने कन्नौज नरेश ग्रहवर्मा का, जो राज्यवर्धन का बहनोई था, वध कर दिया। राज्यवर्धन ने 10,000 घुड़सवार सेना द्वारा देवगुप्त की शक्ति को कुचल दिया, संभवत: उसे मार भी डाला। किन्तु देवगुप्त के मित्र शशांक ने वंचकता से उसका वध कर दिया। राज्यवर्धन संन्यासी प्रवृत्ति का था।

हर्षवर्धन (सन 606-647 ई०)—शशांक द्वारा राज्यवर्धन का वध किये जाने के उपरान्त हर्षवर्धन मन्त्रियों की सलाह और अनुग्रह पर थानेश्वर की राजगद्दी पर बैठा। हर्ष की प्रारम्भिक कठिनाइयों, विजयों और सांस्कृतिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालने से पूर्व संक्षेप में उसके इतिहास जानने के साधनों का उल्लेख करना आवश्यक है।

हर्ष के इतिहास जानने के साधनों में बाणभट्टकृत 'हर्षचरित' का महत्वपूर्ण स्थान है। हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु, राज्यवर्धन का राज्यारोहण, ग्रहवर्मा का वध, शशांक द्वारा वंचकता से राज्यवर्धन की हत्या तथा विंध्याचल के वन में राज्यश्री की प्राप्ति की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। परन्तु उसमें हर्ष की विजयों तथा अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों की चर्चा नहीं है। डॉ० विशुद्धानन्द पाठक इसका कारण बाणभट्ट का कालकवलित हो जाना मानते हैं।

हर्ष के चार अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनमें से दो ताम्रपत्र तथा दो मुहरों पर खुदे हैं। इन अभिलेखों में नालन्दा और बांसखेड़ा अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण हैं। इन अभिलेखों से हर्ष के शासन-प्रबन्ध, धर्म, दानशीलता तथा चालुक्य सम्राट पुलकेशी के साथ हर्ष के संघर्ष का उल्लेख मिलता है।

चीनी यात्रियों के वृत्तांतों में हर्ष से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है। चीनी यात्री ह्वेन्सांग, जो हर्ष के दराबर में भी रहा के, यात्रा-वृत्तांत में हर्ष विषयक विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। वह अपने यात्रा-वृत्तांत में शशांक द्वारा राज्यवर्धन का वध, हर्ष द्वारा कन्नौज की राजगद्दी ग्रहण करने, उसकी विजयों और सैन्य शक्ति की चर्चा करता है। स्वदेश लौटने के पश्चात 648 ई० में उसके द्वारा प्रस्तुत ग्रंथ 'सि-यू-कि' में तत्कालीन भारतीय लोक-जीवन, रीति-रिवाज और भौगो-लिक स्थिति का उल्लेख किया है। ह्वेन्साँग के शिष्य हुइ-ली द्वारा लिखित उसकी जीवनी में ह्वेन्सांग के जीवन और भारत-भ्रमण पर प्रकाश डाला गया है। हर्ष-कालीन सिक्कों तथा उसकी रचनाओं से तत्कालीन इतिहास का विवरण मिलता है।

सम्राट हर्षवर्धन

606 ई० में शशांक द्वारा राज्यवर्धन का वध किये जाने के उपरांत हर्ष थानेश्वर

की राजगद्दी पर बैठा। जिस समय हर्ष राजगद्दी पर बैठा, उस समय उसकी अवस्था मात्र सोलह वर्ष की थी। जिस समय वह सिंहासनारूढ़ हुआ वह समय घोर विपत्तियों का था। पिता प्रभाकरवर्धन की मृत्यु, माता यशोमति के सती हो जाने, बहनोई ग्रहवर्मा के वध, बहिन राज्यश्री के कैद हो जाने, बड़े भाई राज्यवर्धन का शशांक द्वारा वध आदि ऐसी दुःखद घटनाएँ थीं जिनसे हर्ष की मनःस्थिति व्याकुल थी। उसकी इस स्थिति का मार्मिक चित्रण करते हुए बाणभट्ट ने लिखा है कि 'हर्ष शोक और विपत्ति के उन दिनों में अपना समय भी व्यतीत नहीं कर पाता था। अपने झुंड से छुटे हुए किसी हाथी की तरह अकेले वह खोया-खोया सा रहता था।' ऐसी स्थिति में उसे अपने भाई के वध तथा बहिन का कान्यकुब्ज के कारागार से निकल कर विंध्याचल पर्वत में चिताग्नि में प्रवेश करने का समाचार मिला। संकटों पर घोर संकट की यह स्थिति हर्ष के लिए कितनी कष्टदायक रही होगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। सर्वप्रथम हर्ष के सम्मुख यह समस्या थी कि वह अपनी बहिन को चिताग्नि में प्रवेश करने से बचाए।

राज्यश्री को चिता में जलने से बचाना—राजगद्दी पर बैठते ही हर्ष को सूचना मिली कि उसकी भगिनी राज्यश्री कान्यकुब्ज के कारागार से निकल कर विंध्याचल पर्वत में चिता बनाकर जलने वाली है। अतः सर्वप्रथम उसने अपनी बहिन के प्राणों की रक्षा हेतु उपाय किये। वह राज्यश्री के प्राणों की रक्षा के लिए विंध्याचल की ओर बढ़ा और उसे अपने साथ लौटा लाया। हर्ष ने कन्नौज की राजगद्दी पर राज्यश्री को बिठा कर स्वयं उसके संरक्षक के रूप में कार्य किया। राज्यश्री की मृत्यु के बाद उसने कन्नौज को अपने साम्राज्य में विलीन कर लिया। उसने अपनी राजधानी थानेश्वर से हटाकर कन्नौज में स्थापित की। उसके काल में कन्नौज का प्रभाव सम्पूर्ण उत्तर भारत में स्थापित हो गया।

हर्ष की प्रतिज्ञा—राज्यवर्धन की मृत्यु का समाचार सुनकर हर्ष क्रुद्ध हो उठा। उसके वृद्ध सेनापति ने हर्ष को इन विषम परिस्थितियों में यह कहकर उत्साहित किया—"राजा दिवंगत हो गये और गौड़राजारूपी सर्प ने राज्यवर्धन को डंस लिया। अब पृथ्वी को धारण करने के लिए शेषनाग के समान तुम्हीं शेष रह गये हो। अपनी अरक्षित प्रजा की रक्षा करो, अपने चरण शत्रुओं के मस्तक पर रखो, अधम गौड़राज को समाप्त कर देने की प्रतिज्ञा आज ही करो।' हर्ष अपने सेनापति के इस कथन से प्रभावित हुआ और उसने प्रतिज्ञा की—"यदि मैं कुछ गिने-चुने दिनों के अन्दर ही अपने धनुषों की चपलता के कारण उत्तेजित सभी (शत्रु) राजाओं के पैरों में बेड़ियाँ डालकर उनकी झंकार से सम्पूर्ण पृथ्वी को झंकृत न कर दूं तथा गौड़राज से उसे (पृथ्वी को) रहित न कर दूं तो जलती हुई अग्नि में अपने को पतंग की भांति स्वयं को झोंक दूंगा और जल मरूंगा।"

हर्ष के राज्यारोहण की तिथि—हर्ष के राज्यारोहण की तिथि विद्वानों ने विवादास्पद बना दी है। चीनी साक्ष्यों से विदित होता है कि 643 ई० में जब ह्वेन्सांग हर्ष की राजसभा में था, तो उस समय हर्ष को शासन करते हुए 30 वर्ष हो चुके थे।

इस आधार पर यह कहा जाता है कि हर्ष (643—30=613 ई०) 612-613 ई० में गद्दी पर बैठा। किंतु अधिकांश विद्वान हर्ष के राज्यारोहण की तिथि 606 ई० मानते हैं। हर्ष 606 ई० में गद्दी पर बैठा और उसके शासन काल के छः वर्ष (606-612 ई०) अशान्तिमय वातावरण में व्यतीत हुए। कीलहर्न महोदय के मतानुसार 606 ई० में हर्ष संवत् की स्थापना हुई थी।

हर्ष की दिग्विजय

ऐतिहासिक सामग्री के अभाव के कारण हर्ष की दिग्विजय का तिथिक्रम और उसके विषय में सविस्तार विवरण प्रस्तुत कर पाना नितांत कठिन है। वह अपनी प्रतिज्ञानुसार शत्रु-उन्मूलन में कहां तक सफल रहा, इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता हैं। बाणभट्ट और ह्वेन्सांग द्वारा प्रस्तुत विवरण कुछ प्रशंसात्मक प्रतीत होते हैं।

थानेश्वर और कन्नौज का स्वामी बन जाने के फलस्वरूप हर्ष की शक्ति में असाधारण वृद्धि हुई। उसने अपनी शक्तिशाली और विशाल सेना के बल पर भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बांधने का भरसक यत्न किया। ह्वेन्सांग के यात्रा-वृत्तांत से ज्ञात होता है—"पूर्व की ओर बढ़कर उसने (हर्ष) उन राज्यों पर आक्रमण किया, जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार न की थी। छः वर्षों तक, जब तक कि उसने 'पांचों भारतों' के साथ पूर्णतः युद्ध न कर लिया, वह निरन्तर लड़ता रहा।" ह्वेन्सांग ने यह भी लिखा हैं—"शीघ्र उसने अपने भ्राता की मृत्यु का बदला ले लिया और वह भारत का स्वामी बन गया।" वह लिखता है—"शीलादित्य महाराज ने अब तक पूर्व से पश्चिम तक के प्रदेश विजित कर लिये थे और दूरस्थ प्रदेशों तक धावे मारे थे।" किन्तु वह यह नहीं बताता कि हर्ष ने कब, कैसे और कौन से प्रदेश विजित किये। बाण के हर्षचरित में हर्ष की विजयों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

डॉ० स्मिथ का कथन है—"सम्पूर्ण भारत को एकछत्र के नीचे लाने के उद्देश्य से उसने अपनी सारी शक्ति तथा योग्यता को एक सुव्यवस्थित विजय-योजना को कार्यान्वित करने में लगा दिया।" ह्वेन्सांग के वृत्तांत से ज्ञात होता है कि हर्ष ने दिग्विजय की लालसा से प्रेरित होकर 5,000 गज, 2,000 अश्व तथा 50,000 पदाति सेना संगठित की। उपलब्ध सामग्री के आधार पर हर्ष के सामरिक अभियान के क्रम को इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है—

गौड़ाधिपति शशांक से युद्ध—बहिन राज्यश्री के प्राणों की रक्षा करने में समर्थ हो जाने के उपरान्त हर्ष अपने भाई के हत्यारे गौड़ नरेश शशांक से बदला लेना चाहता था। अपने भाई के वध का दुःखद समाचार मिलने पर हर्ष ने क्रुद्ध होकर पृथ्वी को गौड़विहीन कर देने की प्रतिज्ञा की थी।

हर्ष और शशांक के मध्य हुए संघर्ष की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है। डॉ० मजूमदार का मत है कि शशांक की मृत्यु (637 ई०) के उपरान्त ही

हर्ष बंगाल को विजित कर पाया। कुछ विद्वानों का मत है कि हर्ष ने 612 ई० में शशांक को पराजित करके अपनी अधीनता स्वीकार करने को विवश किया। यही कारण है कि शशांक की उपाधि 'महाराजाधिराज' से 'महासामन्त' मात्र रह गई थी। 619 ई० में शशांक ने विद्रोह कर पुनः 'महाराजाधिराज' का विरुद धारण किया। प्रोफेसर बनर्जी शशांक के ऊपर हर्ष विजय का उल्लेख करते हैं।

ऐतिहासिक साधनों से विदित होता है कि 619 ई० तक हर्ष शशांक को विजित नहीं कर पाया। 629 ई० के मिदनापुर से प्राप्त लेख में उस समय तक शशांक के जीवित होने का उल्लेख मिलता है। 619-620 ई० के गंजाम लेख से ज्ञात होता है कि उस समय तक शशांक पूरी शक्ति और भोग के साथ राज्य कर रहा था। उस अभिलेख में उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया है। 637 ई० पू० में ह्वेन्सांग ने पूर्वी भारत का भ्रमण करते हुए शशांक को निकट भूतकाल का राजा बताया था। स्पष्ट हो जाता है कि 637 ई० के कुछ ही पूर्व शशांक की मृत्यु हुई।

अधिकतर विद्वानों का मत है कि दीर्घकालीन संघर्ष के उपरान्त 619 ई० के कुछ ही समय बाद अपने प्रतिद्वन्द्वी शशाँक को पराजित करने में सफल हो गया। किशे-किया-फेंग-चे नामक चीनी साक्ष्य से विदित होता है कि हर्ष ने 'कुमारराज (असम का भास्कर वर्मा) के साथ मिलकर बौद्धधर्म विरोधी शशांक, उसकी सेना और उसके अनुयायियों को नष्ट (हरा) कर दिया।' कामरूप नरेश भास्कर वर्मा ने शशांक की विस्तारवादी नीति के विरुद्ध हर्ष के साथ मैत्री कर ली। दोनों ने मिलकर शशांक को पराजित कर डाला। भास्कर वर्मा के निधनपुर ताम्रलेख से विदित होता है कि गौड़नरेश के विरुद्ध हर्ष के सामरिक अभियान में सहायता देने के फलस्वरूप उसे गौड़ राज्य का पूर्वी भाग प्राप्त हुआ। शशांक की मृत्यु के उपरान्त हर्ष और भास्करवर्मा ने सम्मिलित रूप से बंगाल पर आक्रमण करके उसे विजित कर लिया। पूर्वी बंगाल पर भास्कर वर्मा और पश्चिमी बंगाल पर हर्ष ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

शशांक और हर्ष के मध्य हुए संघर्ष के सन्दर्भ में यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि शशांक को पराजित करने में हर्ष को दीर्घकाल तक युद्ध करना पड़ा। शशांक को पराजित करने में उसे अपने मित्र भास्कर वर्मा से भी सहायता लेनी पड़ी। वह गौड़ नरेश को 619 ई० के बाद ही पराजित कर पाया। किन्तु 637 ई० तक सामन्त के रूप में शशांक का अस्तित्व विद्यमान रहा।

पंजाब, कन्नौज, मिथिला तथा उड़ीसा-विजय—किसी भी ऐतिहासिक साक्ष्य से हर्ष की विजयों पर विस्तृत और क्रमबद्ध प्रकाश नहीं पड़ता है। ह्वेन्सांग के यात्रा-वृत्तान्त में यह उल्लेख मिलता है कि राज्याभिषेक के बाद छः वर्षों में ही हर्ष ने पंजाब, कन्नौज, गौड़, मिथिला तथा उड़ीसा पर अधिकार कर लिया। इस विजय का शुभारम्भ पूर्व की ओर से हुआ। ह्वेन्सांग के कथनानुसार पंजाब को हर्ष ने विजित किया, किन्तु बाणभट्ट ने इसका श्रेय महाराजा प्रभाकरवर्धन को दिया है।

ऐसी स्थिति में ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष ने पंजाब को पुर्नविजित किया। यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि 606 ई० में जिस समय हर्ष के सामने अनेक संकट विद्यमान थे, उसका लाभ उठाकर पंजाब स्वतन्त्र हो गया। बाद में हर्ष को उसे पुर्नविजित करने की आवश्यकता पड़ी।

कान्यकुब्ज (कन्नौज) का शासक मौखरिवंशी ग्रहवर्मा था। वह हर्ष का बहनोई था। मालवा नरेश देवगुप्त ने ग्रहवर्मा का वध कर राज्यश्री को बन्दी बना लिया। राज्यवर्धन अपने भगिनीपति के हत्यारे देवगुप्त को पराजित करने में तो सफल रहा, किन्तु देवगुप्त के मित्र गौड़नरेश ने धोखे से उसे मार डाला। बाद में हर्ष ने सेनापति भण्डि के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना देवगुप्त के विरुद्ध भेजी। भण्डि ने देवगुप्त को पराजित करके कन्नौज पर अधिकार कर लिया। भण्डि द्वारा कन्नौज को विजित कर लेने के उपरान्त हर्ष ने उसे अपने राज्य की राजधानी कब बनाया, यह ज्ञात नहीं है। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि प्रारम्भ में हर्ष ने बहिन राज्यश्री को कन्नौज की राजगद्दी पर बिठाकर स्वयं रक्षक के रूप में कार्य किया। बाद में राज्यश्री के अनुरोध और कन्नौज के सरदारों की प्रार्थना पर उसने कन्नौज का स्वामित्व स्वीकार किया। यह भी कहा जाता है कि राज्यश्री की मृत्यु के बाद ही उसने कन्नौज को अपने राज्य की राजधानी बनाया। हर्ष की राजधानी के रूप में कन्नौज की शान निराली थी।

हर्ष ने मिथिला और उड़ीसा पर भी विजय प्राप्त की। डॉ० मजूमदार के मतानुसार हर्ष ने उड़ीसा को 643 ई० में विजित किया।

मगध और मालवा की विजय—हर्ष के राज्याभिषेक के समय मगध में परवर्ती गुप्तों का राज्य था। हर्ष ने मगध को कब विजित किया, यह ज्ञात नहीं है। डॉ० मजूमदार के अनुसार हर्ष ने 641 ई० में मगध पर विजय प्राप्त की। ह्वेन्सांग ने उसे मगध का शासक कहा है।

मालवा का शासक देवगुप्त वर्द्धनवंश और ग्रहवर्मा के प्रति द्वेषभाव रखता था। वह प्रभाकरवर्धन के अधीन शासन करता था और उसके दो पुत्र (कुमारगुप्त और माधवगुप्त) बन्धक के रूप में थानेश्वर के दरबार में रहते थे। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के तुरन्त बाद देवगुप्त ने कन्नौज पर आक्रमण करके उसके दामाद ग्रहवर्मा को मार डाला। राज्यवर्धन ने देवगुप्त को पराजित करके अपने बहनोई के वध का बदला चुकाया। किन्तु शशांक द्वारा उसे मार डाले जाने के कारण देवगुप्त मालवा का राजा बना रहा। हर्षवर्धन ने मालवा के राजा देवगुप्त के राज्य पर आक्रमण किया और उसकी सेनाओं ने देवगुप्त को मार डाला। तत्पश्चात् हर्ष ने अपने सहयोगी तथा भक्त माधवगुप्त को मालवा राजमुकुट पहनाया। माधवगुप्त ने हर्ष के अधीन मालवा का राज्य-भार सम्भाला।

सिन्ध-विजय—ह्वेन्सांग ने सिन्ध को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में वर्णित किया है। उस आधार पर डॉ० मजूमदार ने यह मत प्रतिपादित किया कि सिन्ध के

विरुद्ध सामरिक अभियान में हर्ष को विशेष सफलता नहीं मिल पाई। बाणभट्ट ने सिन्ध को प्रभाकरवर्धन के प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत दिखाया है। अन्य प्रमाणों से भी यही विदित होता है कि सिन्ध प्रदेश हर्ष के अधीन था। बाणभट्ट हर्ष द्वारा सिंध से कर वसूल करने का उल्लेख करता है जो हर्ष की अधीनता का द्योतक है।

वल्लभी पर आक्रमण—हर्ष उत्तर-भारत का निष्कंटक शासक बनना चाहता था। अपनी इस अभिलाषा की पूर्ति हेतु उसने वल्लभी को भी अपने आक्रमणों का निशाना बनाया। वल्लभी राज्य पश्चिमी मालवा और गुजरात के क्षेत्रों तक विस्तृत था। यह उत्तर में हर्ष-साम्राज्य तथा दक्षिण में चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के साम्राज्य के मध्य स्थित था। अतः उसकी स्थिति अत्यधिक संकटपूर्ण थी। हर्ष और पुलकेशी दोनों उस पर अधिकार के लिए लालायित थे।

उत्तरी भारत को विजित कर लेने के उपरान्त हर्ष दक्षिणी भारत पर भी अपनी विजय-पताका फहराने की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित था। अतः वल्लभी जैसे मध्यस्थ राज्य की विजय नितान्त आवश्यक थी। अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु हर्ष ने वल्लभी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय पर आक्रमण कर दिया। युद्ध की विभीषिका से त्रस्त होकर ध्रुवसेन द्वितीय गुर्जर-नरेश दद्द द्वितीय की शरण में गया। जयभट्ट तृतीय के नौसारि अभिलेख से विदित होता है—"परमेश्वर श्री हरदेव द्वारा पराजित वल्लभी नरेश का परित्राण करने के कारण प्राप्त यश का वितान श्री दद्द के ऊपर निरन्तर झूलता था।" स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष द्वारा पराजित होकर ध्रुवसेन द्वितीय (ध्रुव-भट्ट) को गुर्जर-नरेश दद्द की शरण में जाना पड़ा। पराजित वल्लभी राज्य को हर्ष ने अपने साम्राज्य में विलीन न कर उसके स्वामी ध्रुवसेन द्वितीय के साथ मैत्री कर ली। ह्वेन्साँग के वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि अपनी मित्रता को चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से हर्ष ने ध्रुवसेन के साथ अपनी पुत्री का विवाह सम्पन्न कर दिया। यद्यपि हर्ष द्वारा वल्लभी पर किये गये आक्रमण की तिथि अज्ञात है, तथापि हमें गुर्जर-नरेश दद्द द्वितीय का शासनकाल (629-640 ई०) ज्ञात है। अतः विद्वान इस घटना को 629-640 के मध्य घटित मानते हैं। विद्वानों का मत है कि वल्लभी पर आक्रमण के समय हर्ष ने कच्छ और सूरत पर विजयें प्राप्त कीं।

बर्फीले प्रदेश की विजय—बाणभट्ट के हर्षचरित में हर्ष द्वारा एक बर्फ से ढके हुए प्रदेश की विजय का उल्लेख मिलता है। इस प्रदेश की पहचान के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। भगवानलाल इन्द्र और ब्यूलर महोदय इस प्रदेश का सम्बन्ध नेपाल से स्थापित करते हैं। अपने मत की पुष्टि में वे नेपाल में प्रचलित हर्ष संवत् का उल्लेख करते हैं। डॉ० सिलवाँ लेवी इस मत का विरोध करते हैं। डॉ० मुकर्जी बर्फ से ढके हुए प्रदेश को कश्मीर बताते हैं। कुछ अन्य इतिहासकारों का मत है कि नेपाल में हर्ष संवत का प्रयोग निश्चित रूप से उसकी अधीनता का द्योतक है। वे बाणभट्ट कृत हर्षचरित में उल्लिखित बर्फ से ढके हुए प्रदेश की समता नेपाल से ही स्थापित करते हैं अर्थात् हर्ष द्वारा विजित बर्फ से ढका हुआ प्रदेश नेपाल ही था।

चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय से युद्ध—हर्ष का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युद्ध चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय के साथ हुआ। जिस प्रकार हर्ष उत्तरी भारत की प्रमुख शक्ति बनने के लिए प्रयत्नशील था, उसी प्रकार पुलकेशी दक्षिण की सार्वभौम शक्ति बन जाना चाहता था। राजगद्दी पर बैठते ही उसने अपने साम्राज्य-विस्तार की योजना कार्यान्वित कर दी। उसने राष्ट्रकूट, कदम्ब वंश, मालाबार, उत्तरी कोंकण, दक्षिणी गुजरात, भड़ौच, कलिंग आदि के राजाओं को नतमस्तक कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। युवान्-च्वांग (ह्वेन्सांग) के विवरण से ज्ञात होता है जिस समय अनेक राज्य हर्ष के सम्मुख नतमस्तक होकर उसकी अधीनता स्वीकार कर रहे थे, उसी समय महाराष्ट्र के लोगों ने पुलकेशी के नेतृत्व में हर्ष की अधीनता स्वीकार करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। ह्वेन्सांग की जीवनी में उल्लिखित है —"अपने सेनापतियों की सर्वदा सफलता और अपने कौशल की डींग मारते हुए आत्मविश्वास के साथ शीलादित्य राजा ने सेना का स्वयं नेतृत्व करते हुए इस राजा (पुलकेशी) के विरुद्ध युद्ध के लिए अभियान किया। किन्तु न तो वह उसको पराजित कर सका और न अपने अधीन कर सका।" 634 ई० के अहिहोड़ अभिलेख से विदित होता है कि हर्ष और पुलकेशी द्वितीय के मध्य हुए संघर्ष में हर्ष पराजित और पुलकेशी विजित हुआ। उसमें उल्लिखित है—"जिसके चरण कमलों पर अपरिमित समृद्धि से युक्त सामन्तों की सेना नतमस्तक होती थीं, उस हर्ष का हर्ष (आनन्द) युद्ध में मारे हुए हाथियों का वीभत्स दृश्य देखकर विचलित हो गया।" उक्त अभिलेख के अनुसार यह युद्ध नर्मदा के तट पर हुआ था। यह पुलकेशी की महान उपलब्धि थी। हर्ष पर विजय प्राप्त कर उसने 'परमेश्वर' की उपाधि धारण की। इस युद्ध की तिथि भी विवादास्पद है। डॉ०फ्लीट हर्ष-पुलकेशी द्वितीय के मध्य युद्ध की तिथि 609 ई०, डॉ० स्मिथ 620 ई०, डॉ० अल्तेकर 630 से 634 ई० के मध्य और दुब्रिया महोदय 637-638 निर्धारित करते हैं।

हर्ष-पुलकेशी युद्ध में वर्णित अहिहोड़ अभिलेख की तिथि 633-634 ई० है। अतः यह युद्ध इससे पूर्व अवश्य हो चुका होगा। लेकिन 630 ई० पूर्व यह युद्ध नहीं हुआ था, क्योंकि पुलकेशी के 630 से पूर्व के किसी भी अभिलेख में इस युद्ध की घटना का उल्लेख नहीं है। यह युद्ध 630-634 के मध्य कभी हुआ।

कामरूप—कामरूप के राजा भास्कर वर्मा और सम्राट् हर्ष के मध्य गौड़ नरेश शशांक के विरुद्ध संधि सम्पन्न हुई थी जो सफल सिद्ध हुई। कुछ विद्वानों का मत है कि बाद में भास्कर वर्मा को हर्ष की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इसलिए उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध चीनी यात्री ह्वेन्सांग को हर्ष के पास भेजना पड़ा। कन्नौज की सभा में भी उसके द्वारा 20,000 हाथियों सहित उपस्थित होने की घटना को विद्वान् भास्कर वर्मा का अधीन शासक होने का सूचक मानते हैं। डॉ० मजूमदार तथा कुछ अन्य इतिहासकार असम को हर्ष के अधीन मानने वाले मत का विरोध करते हैं। उनके अनुसार असम हर्ष के शासन-काल में स्वतन्त्र राज्य के रूप में विद्यमान था।

साम्राज्य-विस्तार—बाणभट्ट और ह्वेन्सांग के विवरणों से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण उत्तरी भारत हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत आता था। किन्तु कुछ विद्वान् उनके इस कथन को प्रशंसा मात्र मानते हैं। दक्षिणी भारत के चालुक्य एवं राष्ट्रकूट वंशों के अभिलेखों में हर्ष को 'सकलोत्तरापथनाथ' कहा गया है। सरदार के० एम० पणिक्कर का मत है कि हर्ष का राज्य कामरूप (असम) से कश्मीर तक और हिमालय पर्वत से लेकर विंध्याचल पर्वत तक विस्तृत था। किन्तु डॉ॰ मजूमदार इस मत से सहमत नहीं। उनके अनुसार हर्ष का राज्य आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश), बिहार और पंजाब के कुछ भाग तक विस्तृत था। कश्मीर, सिंध, पश्चिमी पंजाब, राजपूताना, कामरूप, गुजरात, कच्छ, काठियाबाड़ और दक्षिणी भारत में अनेक स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व था। डॉ॰ मुकर्जी ने हर्ष के अधीन प्रत्यक्ष रूप से शासन-क्षेत्र को संकुचित और उसके प्रभाव क्षेत्र को विस्तृत बताया है।

विरुद—चालुक्य अभिलेखों में हर्ष को 'सकलोत्तरापथनाथ' कहा गया है। बाणभट्ट उसके लिए 'चारों समुद्रों के अधिपति', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'समस्त राजाओं में श्रेष्ठ' और 'अन्य राजाओं में चूड़ामणि द्वारा चमकते हुए नखों वाला' कहता है। ह्वेन्सांग उसे 'शीलादित्य महाराज' और 'पांच भारतों का स्वामी' कहता है।

वैदेशिक नीति—हर्ष ने विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की नीति अपनाई। उसने फारस और चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये। हर्ष और चीनी सम्राट् ने एक-दूसरे के दरबार में दूत मंडल भेजे। तारानाथ का कथन है कि हर्ष और ईरान के शासक ने एक-दूसरे के पास भेंटें भेजीं।

हर्षकालीन सांस्कृतिक उपलब्धियां

हर्ष न केवल एक महान् योद्धा और समर विजेता था, बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उसकी गहन अभिरुचि थी। भारतीय इतिहास के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों क्षेत्रों में वह महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वह धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था। उसके शासनकाल में शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। वह विद्यानुरागी था। उसे स्वयं भी कई ग्रन्थों का रचयिता होने का गौरव प्राप्त है। हर्षकालीन सांस्कृतिक उपलब्धियों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है—

कन्नौज की सभा—हर्ष के काल में राजधानी कन्नौज का चहुंमुखी विकास हुआ। वह उत्तर भारत का प्रमुख नगर बन गया था। वहां के सौ विहारों में 10,000 बौद्ध भिक्षुक रहते थे। देव मंदिरों की संख्या लगभग दो सौ थी।

महायान संप्रदाय के सिद्धान्तों के प्रचार हेतु हर्ष ने कन्नौज में एक सभा आयोजित की। इस सभा में विभिन्न धर्मों के अनेक अनुयायियों तथा हर्ष के अधीन एवं मित्र नरेशों ने भाग लिया। सभा को प्रारम्भ करने से पूर्व एक जलूस निकाला

गया, जिसमें हर्ष, भास्कर वर्मा, ह्वेन्सांग, अन्य अधीन नरेश, धर्माचार्यों, मंत्रियों, अधिकारियों, भिक्षुओं तथा विद्वानों ने भाग लिया। जलूस के अंत में महात्मा बुद्ध की एक मूर्ति सिंहासन पर विराजमान कर हर्ष द्वारा उसकी पूजा की गई। तत्पश्चात् हर्ष ने एक बड़ा भोज दिया। ह्वेन्सांग को सभा-मण्डप का सभापति मनोनीत किया गया। उसने महायान संप्रदाय के गुणों का विस्तृत विवेचन कर उपस्थित जनसमूह को अपना प्रतिवाद प्रस्तुत करने की चुनौती दी। किन्तु किसी भी विद्वान् को ह्वेन्सांग के साथ वाद-विवाद करने का साहस नहीं हुआ। अंत में उन्होंने उसे मारने का षड्यंत्र रचा। हर्ष को इस षड्यंत्र की भनक मिल गई थी। उसने घोषणा की कि जो भी व्यक्ति ह्वेन्सांग को हानि पहुंचाने की कोशिश करेगा, उसे मौत की सजा दी जायेगी। अठारह दिन के पश्चात् कन्नौज की सभा का समापन सम्पन्न हुआ। इस के द्वारा ह्वेन्सांग ने महायान की श्रेष्ठता स्थापित कर दी। अनेक हीनयानियों तथा अन्य धर्मों के मतावलम्बियों ने महायान धर्म स्वीकार कर लिया। ह्वेन्सांग को 'महायान-देव' और 'मोक्ष देव' कहा जाने लगा।

प्रयाग का पंचवर्षीय सम्मेलन—सम्राट् हर्ष गंगा और यमुना के संगम (प्रयाग) पर एक सम्मेलन आयोजित करता था जिसमें वह सम्पूर्ण राजकोष को दान के रूप में वितरित कर देता था। इस अवसर पर वह बुद्ध, सूर्य, शिव आदि सभी देवताओं की पूजा बड़े उत्साह से करता था। हर्ष के निमन्त्रण पर ह्वेन्सांग ने भी इस दानोत्सव में भाग लिया था। उसने एक प्रत्यक्ष दर्शी के रूप में इस समेम्लन का वर्णन किया है। इस सम्मेलन में पाँचों भारतों के पाँच लाख श्रमण, निग्रंथ, ब्राह्मण, निर्धन, अनाथ, दीन एकत्रित हुए थे। इस अवसर पर हर्ष राजकोष का सम्पूर्ण धन, आभूषण तथा अपने वस्त्र तक दान में दे देता था। बाद में वह राज्यश्री से प्राप्त वस्त्र धारण करता था। ह्वेन्सांग लिखता है कि धर्म-पंडितों, निर्धनों, अनाथों तथा अपाहिजों को एक माह तक दान वितरित किया गया।

शिक्षा एवं साहित्यिक उन्नति—हर्ष स्वयं विद्यानुरागी था। उसके काल में शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई। हर्ष के काल में नालंदा विश्वविद्यालय प्रसिद्ध शिक्षण संस्था के रूप में विश्व के अनेक देशों में ख्याति अर्जित कर चुका था। ह्वेन्सांग ने वहाँ रहकर बौद्ध धर्म-ग्रंथों का अध्ययन किया। हर्ष ने भीनालंदा विश्वविद्यालय के विकास में योग दिया। उसने 100 गाँवों की आय उसके व्यय के लिए दान दी थी। हर्ष के समय शीलभद्र वहाँ का कुलपति था। ह्वेन्सांग वहाँ अध्ययन करने वाले 10,000 विद्यार्थियों और अध्यापन करने वाले 1,000 अध्यापकों का उल्लेख करता है जिनका सम्पूर्ण व्यय राज्य और उदार जनता वहन करती थी। प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थियों को एक कठिन प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ती थी। विद्यार्थियों को महायान के अठारह संप्रदायों के सिद्धान्त, वेद, हेतु विद्या, शब्द विद्या और सांख्य सहित अनेक शास्त्रों का अध्ययन करना पड़ता था। प्रत्येक 10 विद्यार्थियों में से केवल 2 अथवा 3 विद्यार्थियों को ही प्रवेश मिल पाता था। हर्ष ने नालंदा विश्व-

विद्यालय के मुख्य भवन के समीप लगभग 100 फीट ऊँचा एक भव्य विहार बनवाया, जिसकी दीवारें पीतल की चादरों से जड़ी थीं।

सम्राट् हर्ष विद्यानुरागी था। वह स्वयं उच्चकोटि का विद्वान् था। उसे रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानंद नामक तीन संस्कृत नाटकों की रचना का श्रेय दिया गया है। 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' में शिव, पार्वती, गंगा, ब्रह्मा, कृष्ण, लक्ष्मी और सरस्वती नामक देवी-देवताओं की स्तुति की गई है। 'नागानन्द' नाटक में यद्यपि महात्मा बुद्ध की स्तुति की प्रधानता है, तथापि ब्राह्मणों के देवता गरुड़ और गौरी (पार्वती) को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। बाणभट्ट हर्ष को सुन्दर काव्य रचना में दक्ष कहता है। वह लिखता है कि 'काव्य कथाओं (गोष्ठियों) में ऐसा अमृत बरसता था जो उसकी अपनी संपत्ति थी न कि किसी दूसरे से प्राप्त हुई।' ग्यारहवीं शताब्दी का कवि सोड्ढल अपनी कृति 'अवंतिसुन्दरी कथा' में उसकी समता विक्रमादित्य, मुंज, भोज आदि कवींद्रों से करते हुए कहता है—"सैंकड़ों-करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं से अपनी सभा में बाणभट्ट को संपूजित करने वाला वह केवल नाम से ही हर्ष नहीं था, अपितु साक्षात् वाणी-विलास (सरस्वती का हर्ष) था।" जयदेव उसे भास, कालिदास, बाण और मयूर की श्रेणी में रखता है। कुछ विद्वानों का मत है कि उपरोक्त ग्रंथों की रचना हर्ष ने स्वयं न कर, उसके दरबारी कवियों ने की थी। हर्ष ने उन्हें धन देकर उन पर अपना नाम लिखवाया। किन्तु इस मत के समर्थन में कोई ठोस प्रमाण नहीं है।

हर्ष विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसके दरबार में विद्वानों का जमघट लगा रहता था। बाणभट्ट उसके दरबार का प्रमुख कवि था। उसने हर्षचरित, और 'कादम्बरी' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। कुछ विद्वान् उसे 'चण्डी शतक' और 'पार्वती-परिणय' नामक कृतियों की रचना का भी श्रेय देते हैं। हर्ष की सभा में दूसरा कवि मयूरभट्ट था जिसने सूर्य की स्तुति में एक सौ श्लोकों का 'सूर्य-शतक' तथा 'मयूर शतक' लिखा। उसे 'आर्यमुक्तमाल' का रचयिता भी माना जाता है। यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। उसकी सभा में मातंक दिवाकर नामक विद्वान् भी था। चाण्डाल होते हुए भी वह उच्च कोटि का कवि था। बाणभट्ट का पुत्र भूषणभट्ट भी कवित्व-शक्ति से पूर्ण था। उसने अपने पिता के अपूर्ण ग्रंथ 'कादम्बरी' को पूर्ण किया। कुछ विद्वान् 'वासवदत्ता' के लेखक सुबंधु, 'किरातार्जुनीय' के लेखक भारवि और 'जानकीहरण' के लेखक कुमारदास को भी हर्षकालीन मानते हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि दण्डी ने हर्ष की मृत्यु के कुछ समय बाद अपने ग्रंथ प्रकाशित किये। सम्भवतः उद्योत नामक विद्वान् ने इसी काल में 'न्यायवार्तिक' नामक ग्रंथ की रचना की। गौरी शंकर चटर्जी के मतानुसार 'पूर्वमीमांसा' का प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल भट्ट हर्षकालीन था। धावक नामक कवि को भी हर्ष का राज्याश्रय प्राप्त था। ह्वेन्सांग ने योगाचार नामक ग्रंथ की रचना की तथा कुछ अन्य बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया।

हर्ष का धर्म—बाणभट्ट के कथन से विदित होता है कि हर्ष के पूर्वज शैव

मतावलम्बी थे। सोनपत की ताम्र-मुहर और मधुवन शिलालेखों से विदित होता है कि हर्ष का पिता प्रभाकरवर्धन सूर्य की उपासना करता था। प्रारम्भ में हर्ष भी शैव धर्म का अनुयाई था, किन्तु बाद में प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र के प्रभाव-स्वरूप वह बौद्ध धर्म का उपासक बन गया।

व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने पर भी वह महान् भारतीय सम्राटों की नीति के अनुरूप धार्मिक सहिष्णु सम्राट् था। उसके द्वारा रचित नाटकों में महात्मा बुद्ध के अतिरिक्त अन्य वैदिक देवताओं की स्तुति भी की गई। प्रयाग के पंचवर्षीय सम्मेलन के अवसर पर उसने महात्मा बुद्ध के अतिरिक्त ब्राह्मण देवता आदित्य और शिव की भी उपासना की थी। उसने सभी धर्मों के अनुयाइयों को समान रूप से दान वितरित किया। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी का कथन है—"प्रयाग की सभा में, जो कन्नौज के बाद हुई, सम्राट् हर्ष ने सब वर्ग, जाति और संप्रदायों को एक समान दान दिया। यहाँ पर एक समान रूप से श्रमण, ब्राह्मण, निर्धन, अनाथ और लंगड़े-लूलों को बुलाया और दान दिया गया। वहाँ हर्ष ने अपनी उदारता का एक यह और प्रमाण दिया कि उसने महात्मा बुद्ध के अतिरिक्त शिव और सूर्य की भी पूजा की।"

हर्ष का मूल्यांकन

बाणभट्ट और ह्वेन्सांग ने हर्ष की अत्यधिक प्रशंसा करते हुए उसे उत्तरी भारत का एक महान् सम्राट् सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। निःसन्देह वह महान् विजेता, कुशल प्रशासक, विद्यानुरागी और विद्वानों का संरक्षक था। बौद्ध मतावलंबी होने पर भी उसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण किया। एच० जी० रॉलिन्सन ने हर्ष की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"हर्ष एक विशिष्ट पुरुष था और भारत के महान् शासकों में उसका स्थान अशोक और अकबर के समान है। सैनिक तथा प्रशासक, अपनी प्रजा के हित के लिए अपने प्रयत्नों में अथक, साहित्य का संरक्षक और स्वयं एक सुयोग्य नाटककार आदि के रूप में वह इतिहास के पृष्ठों में एक प्रतिभासम्पन्न और चित्ताकर्षक व्यक्ति है।"[1] उसमें अशोक जैसी धार्मिक सहिष्णुता, प्रजाहित-चिंतन की भावना और धर्म-प्रचार की शक्ति विद्यमान थी। किन्तु बौद्ध धर्म के प्रचारक के रूप में वह अशोक की बराबरी नहीं कर पाया और दानशीलता के कार्यों में वह अशोक से कहीं आगे था। महान् गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त के गुणों का भी उसमें समावेश था। दोनों महान् योद्धा और विजेता थे। दोनों ने विशाल

1. "Harsha was a remarkable man and stands besides Asoka and Akbar among the greatest rulers that India has produced. Soldier and administrator, unwearied in his efforts for the good of his subjects, pious and merciful, a patron of literature and himself a poet and dramatist of distinction, he stands forth on the page of history, a bright and fascinating figure."
—*H. G. Rawlinson*

साम्राज्य की स्थापना की और दोनों साहित्य और कला प्रेमी थे। दानशीलता में समुद्रगुप्त उससे पीछे था किन्तु योद्धा के रूप में हर्ष समुद्रगुप्त की बराबरी नहीं कर सका। समुद्रगुप्त को कभी भी पराजय का सामना नहीं करना पड़ा और वह दक्षिणापथ के राजाओं को विजित करने में सफल रहा। परन्तु हर्ष को दक्षिणी अभियान में सफलता नहीं मिल पाई। नर्मदा के तट पर उसे चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के सम्मुख मुँह की खानी पड़ी।

हर्ष शासक और विजेता के रूप में महान् था, परन्तु शांति के निर्माता के रूप में वह महत्तर था। शाँति की उसकी विजयें युद्ध की विजयों से कहीं अधिक व्यापक थीं। अनेक इतिहासकारों ने उसे हिंदूकाल का अन्तिम महान् साम्राज्य-निर्माता कहा है। इस सन्दर्भ में पणिक्कर महोदय का यह कथन उल्लेखनीय है—"यह हर्ष का गौरव था कि वह चन्द्रगुप्त मौर्य से प्रारम्भ होने वाली उन हिंदू शासकों की लम्बी पंक्ति का अन्तिम शासक था जिनके समय में संसार ने भारत को एक प्राचीन तथा महान् सभ्यता ही नहीं बल्कि मानवता की उन्नति के लिए कार्यशील एवं सुव्यवस्थित और शक्तिशाली राज्य के रूप में देखा। इसमें कोई संदेह नहीं कि शासक, कवि और धार्मिक समुत्साही के रूप में हर्ष को भारतीय इतिहास में एक उच्च स्थान प्राप्त होगा।"[1] हर्ष को अन्तिम महान् हिंदू सम्राट् मानने वाले विद्वानों का मत है कि हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत में राजनीतिक एकता की पुनः स्थापना के सभी प्रयत्न समाप्त हो गये।

डॉ० मजूमदार इस मत से सहमत नहीं हैं कि हर्ष अन्तिम हिन्दू साम्राज्य-निर्माता अथवा अंतिम महान् हिन्दू सम्राट था। अपने मत की पुष्टि में वे कहते हैं कि कश्मीर के शासक ललितादित्य मुक्तापीड़ और कन्नौज के शासक यशोवर्मा के साम्राज्य हर्ष साम्राज्य से किसी भी प्रकार कम नहीं थे, तथा पाल और प्रतीहार-साम्राज्य निःसन्देह हर्ष के साम्राज्य से कहीं अधिक विस्तृत और स्थाई सिद्ध हुए। चंदेल शासक यशोवर्मा और कलचुरि नरेश गंग और कर्ण के साम्राज्य हर्ष-साम्राज्य से अधिक विस्तृत थे। दक्षिणी भारत में राष्ट्रकूट-वंश के शासक गोविन्द तृतीय, चालुक्य सम्राट विक्रमादित्य षष्ठ और चोल शासक गजेन्द्र चोल के साम्राज्य हर्ष-साम्राज्य की तुलना में कहीं अधिक बड़े थे। ऐसी स्थिति में हर्ष को तो भारत का तो क्या उत्तरी भारत का भी अंतिम साम्राज्य-निर्माता मानना तर्क-असंगत है। आधुनिक

1. "It is Harsha's glory to have been the last in the long line of Hindu Rulers beginning with Chandragupta Maurya in whose time India appeared to the world not only as an ancient and mighty civilisation, but also an organised and powerful state working for the progress of humanity. There is no doubt that Harsha the ruler, the poet, and the religious enthusiast will ever have an honoured place in Indian history."

—*Panikkar*

अधिकतर इतिहासकार तर्कों पर आधारित डॉ० मजूमदार के उपर्युक्त मत को ही प्रामाणिक मानते हैं। एक महान् शासक, साहसी सैनिक नेता, ललित कलाओं और विद्वानों के संरक्षक के रूप में डॉ. मजूमदार ने हर्ष की प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है—"हर्ष शान्ति और युद्ध की कलाओं में महान् था। वह तलवार और कलम दोनों का धनी था।"[1] डॉ० रायचौधरी के मतानुसार, "हर्ष एक महान् सेनानायक और प्रबन्धक था। इससे बढ़कर धर्म और साहित्य का महान् संरक्षक था।"[2]

हर्ष एक महान् योद्धा, कुशल प्रशासक, साहसी योद्धा, धार्मिक सहिष्णु तथा महादानी सम्राट था। दान देने में विश्व इतिहास में उसकी तुलना कुंती के पुत्र महाभारत के महान् योद्धा कर्ण से ही की जा सकती है।

सोलह वर्ष की आयु में उसने जिस प्रकार भारी मुसीबतों का सामना किया, वह विश्व इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। 605 ई० में पिता की मृत्यु, माता का सती होना, बहनोई ग्रहवर्मा का मालवा नरेश देवगुप्त द्वारा वध, राज्यश्री को कारावास, बड़े भाई राज्यवर्धन का गौड़ नरेश शशाँक द्वारा वंचकता से वध आदि ऐसी विपत्तिजनक घटनाएँ थीं जिनसे दीर्घायु का व्यक्ति भी विचलित हो सकता था। किन्तु सोलह वर्षीय किशोर हर्ष ने जिस प्रकार धैर्य और साहस के साथ मुकाबला किया, उसकी मिसाल मिल पाना नितांत कठिन है। विशाल गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत में जो राजनीतिक चेतना विलुप्त हो चुकी थी, हर्ष ने उसे पुनः स्थापित करने का सफल प्रयास किया। उसने उत्तरी भारत के एक बड़े भू-भाग में राजनीतिक एकता स्थापित की।

हर्ष एक महान् कूटनीतिक सम्राट था। कामरूप नरेश भास्कर वर्मा और वल्लभी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय के साथ उसके मैत्री तथा वैवाहिक संबंध इस कथन के प्रमाण हैं। उसमें विद्याप्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। सम्राट के साथ-साथ वह साहित्यकार भी था। उसकी रचनाएँ संस्कृत साहित्य की निधि हैं। दानशीलता में तो संसार का कोई भी सम्राट उसकी कोटि में नहीं आता। प्रति पांचवें वर्ष प्रयाग में उसके द्वारा संपन्न होने वाला दानोत्सव इतिहास में विस्मयकारी घटना है।

हर्ष का शासन-प्रबन्ध

हर्ष का शासन-प्रबन्ध प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थों से भिन्न न होकर उन्हीं में उल्लिखित नियमों और व्यवस्था के अनुरूप था। प्राचीन भारतीय सम्राटों ने जिस कल्याणकारी आदर्श शासन-व्यवस्था को अपनाया, हर्ष का प्रशासन उसी का अनु-

1. "Harsha distinguished himself almost equally in arts of peace and war. He could wield the pen as well as the sword."
2. "Harsha was a great general and a just administrator. He was even greater as a patron of religion and literature."

—*Dr. H. C. Roychowdhry*

करण था, महाभारत के शांति पर्व से विदित होता है कि राजा का अर्थ स्वामी नहीं बल्कि जनता को सुख प्रदान करने वाला है। उसे मनमाने ढंग से कर वसूल करने का अधिकार नहीं है, बल्कि उसका कर्त्तव्य प्रजा की अधिकाधिक सेवा करना है। हर्षचरित, ह्वेन्सांग के यात्रा-वृत्तांत तथा तत्कालीन अभिलेखों से हर्ष के शासन-प्रबन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

केन्द्रीय शासन

सम्राट्—सम्राट् हर्ष साम्राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। वह अहर्निश राजकीय तथा धार्मिक कार्यों में व्यस्त रहता था। वह राज्य का दौरा करके प्रजा के आवेदन सुनता था और प्रजा के कष्टों को दूर करने का प्रयास करता था। एक बार उसने डाकुओं द्वारा लूटी गई फसल का कृषकों को मुआवजा दिया था। उसने अनेक धर्मशालाएँ निर्मित करवाईं और निर्धनों के लिए निःशुल्क भोजन की व्यवस्था की।

राजा राज्य के सभी विभागों का प्रधान होता था। उसके निर्णयों को चुनौती नहीं दी जा सकती थी। वह राजकीय कार्यों में व्यस्त रहता था। ह्वेन्सांग कहता है—"राजा का दिन तीन भागों में विभक्त रहता था। एक भाग में तो वह प्रशासन को देखता था और शेष दो भागों में धर्म कार्य किया करता था।" आदर्श भारतीय राजाओं की पुरानी परिपाटी के अनुसार वह दुष्टों के दमन और सज्जनों को पुरस्कृत करने के लिए सारे राज्य का भ्रमण करता था। ह्वेन्सांग का कथन है—"वह अपना कर्त्तव्य अथक परिश्रम से करता था और कर्त्तव्य पूर्ति में खाना और सोना भी भूल जाता था। उसने यात्रियों की सुविधा के लिए बहुत सी धर्मशालाएँ बनवाईं जहां यात्रियों और निर्धन लोगों को बिना व्यय के भोजन मिलता था और उनके स्वास्थ्य के लिए योग्य चिकित्सक और चिकित्सालयों का प्रबन्ध था।"

महासामंत तथा सामंत—हर्ष के दरबार में महासामंतों तथा सामंतों को विशेष स्थान प्राप्त था। महासामंत और प्रधान सामंत का स्थान राजा के बाद सर्वोपरि था। उनकी स्थिति अपने प्रदेशों में राजाओं जैसी होती थी। उन्हें भूमि कर एकत्रित करने तथा अपने प्रदेश में पूर्ण प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे। महासामंत को युद्ध के समय हर्ष की सहायता करनी पड़ती थी। हर्ष की गज सेना का प्रधान स्कन्दगुप्त महासामंत था। बाणभट्ट का कथन है कि प्रधान सामंत की बात नहीं टाली जा सकती थी। महासामंतों में मालवा के राजा माधवगुप्त का नाम उल्लेखनीय है।

महासामंत के बाद सामंतों का स्थान था। बाणकृत हर्षचरित और बाँसखेड़ा अभिलेख में हर्ष के दरबार में अनेक प्रकार के सामंतों का उल्लेख मिलता है। एक लाख से तीन लाख तक प्रतिवर्ष भूमि से आय प्राप्त करने वाले को सामंत कहते थे। उनकी स्थिति छोटे-छोटे राजाओं की भांति थी। प्रशासकीय कार्यों में स्वतंत्र होने पर भी वे राजा को कर दिया करते थे। महासामंतों और सामंतों का हर्ष-दरबार में विशेष महत्त्व था।

मंत्रि-परिषद्—प्राचीन भारतीय राजनीति में मंत्रि-परिषद् का महत्त्वपूर्ण

स्थान था। मंत्रि-परिषद् के सदस्य महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय कार्यों में राजा की मदद करते थे और उसे निरंकुश होने से रोकते थे। कौटिल्य ने महत्त्वपूर्ण राजकीय कार्यों में मंत्रि-परिषद् की सलाह को आवश्यक बताया है। हर्ष के दरबार में महासामंतों और सामंतों के बाद मंत्रि-परिषद् के सदस्यों का स्थान था। सम्राट के रूप में हर्ष का चुनाव मंत्रि-परिषद् ने ही किया था। ह्वेन्सांग के यात्रा-वृत्तांत से ज्ञात होता है कि हर्ष के राज्य में एक मंत्रिपरिषद् थी। किन्तु उसकी मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या ज्ञात नहीं है। हर्ष की सभा में मंत्रियों में अवंति तथा भण्डि के नाम उल्लेखनीय हैं। अवंति नामक मंत्रि महासंधिविग्रहाधिकृत कहलाता था जो राजा को युद्ध तथा शांति संबंधी विषयों पर सलाह देता था। उसकी स्थिति आधुनिक विदेश मंत्री के समान थी। भण्डि हर्ष का मुख्यमंत्री था। मंत्रि-परिषद् का प्रशासन में विशेष स्थान था। वह राजा का निर्वाचन करती थी और आवश्यक कार्यों में अपनी सलाह देती थी।

हर्ष के शासन काल में प्रशासन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए कार्यों को विभागों में विभक्त किया गया था। प्रत्येक विभाग अध्यक्ष के अधीन होता था। इन अध्यक्षों का विवरण इस प्रकार है—

संधिविग्रहिक (युद्ध और संधि के कार्यों का प्रधान), महाबलाधिकृत (पैदल सेना का सर्वोच्च अधिकारी अर्थात् सेनापति), बृहदश्ववार (घुड़सवार सेना का नायक) कटुक (गजसेना का प्रधान), दूतक महाप्रभातार महासामंत (प्रशासकीय कार्यों के लिए उत्तरदायी अधिकारी), महाक्षपटलाधिकरणाधिकृत (राजकीय कार्यालय का सर्वोच्च अधिकारी), दौस्साधनिक (कठिन कार्य संपन्न करने वाला), कुमारामात्य (कुमार को परामर्श देने वाला), चाट, भाट और सेवक (शांति और सुव्यवस्था स्थापित करने वाले राजपुरुष) आदि।

राजा, राजदरबार और रनिवास की देखभाल के लिए राज्य की ओर से अनेक कर्मचारी नियुक्त किये गये थे। उनमें प्रतिहारों का मुखिया, साधारण प्रतिहार, कंचुकी अथवा वेली, छत्र चमर धारण करने वाले सेवक, मीमांसक, पुरोहित, चामरग्रहिणी, ताम्बूलकरंकवाहिनी तथा राजा के अंगरक्षकों जैसे अनेक कर्मचारियों का विवरण मिलता है। हर्ष चरित में मेखलक, कुरंगक और संवादक नामक कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है।

आय-व्यय के साधन—हर्ष के शासन काल में प्रजा से बहुत कम कर वसूल किया जाता था। कुल उपज का $\frac{1}{6}$ भूमिकर के रूप में लिया जाता था। हर्ष के अभिलेखों में तुल्यमेय (तौल के अनुसार वस्तुओं पर लगाया गया कर), भागभोग (भूमि और भोग पर लगाया जाने वाला कर), करहिरण्यादि (नकद और स्वर्ण के रूप में वसूल किया जाने वाला कर), उपरिकर (नियमित कर के अतिरिक्त) वात, धान्य और आदेश आदि करों का उल्लेख मिलता है।

राज्य ने प्राप्त आय को दान और धर्म कार्यों, विद्वानों को पुरस्कार दिये

जाने, सार्वजनिक निर्माण कार्यो तथा मंत्रियों और अधिकारियों के वेतन पर व्यय किया जाता था

दंड-विधान—हर्ष के काल में अपराधों की संख्या कम थी। इसका प्रमुख कारण दण्ड-विधान की कठोरता रहा होगा। अपराधियों को कठोर दंड दिया जाता था। राजद्रोह के लिए आजन्म कारावास का विधान था। सामाजिक नियमों के प्रतिकूल आचरण करने, माता-पिता के साथ अनुचित व्यवहार करने तथा विश्वासधात करने पर अंगभंग कर दिया जाता था। घोर अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड का विधान था। जल, अग्नि, तुला तथा विष देकर अपराधी की परीक्षा लेने की परंपरा प्रचलित थी। कठोर दंड विधान के बावजूद हर्ष के राज्य में डाकुओं का भय व्याप्त था। चीनी यात्री ह्वेन्साग को भी दो बार चोरों ने घेरा था।

राज्य में शांति और सुव्यवस्था की स्थापना हेतु पुलिस की व्यवस्था थी। पुलिस के छोटे अधिकारियों को दण्डिक और दण्डपाशिक कहा जाता था।

सैन्य-संगठन—हर्ष ने एक विशाल सेना संगठित की थी। ह्वेन्सांग शांतिकाल में उसकी सेना में हाथियों की संख्या 60,000 तथा अश्व सेना की संख्या 1,00,000 बताता है। बाणभट्ट भी उसकी विशाल सेना का उल्लेख करता है किन्तु उसकी पदाति सेना का उल्लेख नहीं मिलता है। यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस सम्राट की सेना में 60,000 गज और 1,00,000 घुड़सवार हों, उसकी पदाति सेना निश्चित रूप से इनसे बड़ी रही होगी। पणिक्कर के अनुसार हर्ष की सेना में 5,000 हाथी, 20,000 घुड़सवार और 50,000 पैदल सैनिक थे। किंतु उनका कथन ह्वेन्साँग और बाणभट्ट द्वारा प्रस्तुत विवरण के प्रतिकूल है। अतः उसे तर्कसंगत नहीं माना जा सकता ।

धनुष-बाण, तलवार, ढाल, भाले और कवच हर्ष की सेना के प्रमुख हथियार थे। सेना के सर्वोच्च अधिकारी को 'महासंधिविग्रहाधिकृत' कहा जाता था। उसके अधीन 'महाबलाधिकृत', बलाधिकृत, बृहदश्ववार भटाश्वपति, कटुक और पाटीपति अधिकारी थे।

प्रांतीय शासन—प्रशासन की सुविधा के लिए हर्ष का साम्राज्य कई प्रांतों में विभक्त था। उस काल में प्रांतों को भुक्तियां कहा जाता था। महत्त्वपूर्ण भुक्तियों के शासकों को उपरिक महाराज कहा जाता था तथा उनकी नियुक्ति हर्ष द्वारा की जाती थी। भुक्तियों के शासकों की सहायतार्थ एक मंत्रि-परिषद होती थी जिसकी नियुक्ति हर्ष की स्वीकृति पर उपरिक महाराज करता था। हर्ष के साम्राज्य के प्रांतों (भुक्तियों) की संख्या ज्ञात नहीं है। अभिलेखों में उस काल की श्रावस्ती भुक्ति और अहिछत्र भुक्ति का ज्ञान होता है। रत्नावली नाटक में कौशाम्बी भुक्ति का उल्लेख मिलता है

विषय-प्रशासन—भुक्तियों को 'विषयों' में विभक्त किया गया था। 'विषयों' की स्थिति आधुनिक जिलों की भांति होती थी। विषय के प्रधान को 'विषयपति'

कहते थे। वह प्रायः उपरिक महाराज (प्रांतपति) द्वारा नियुक्त किया जाता था। कभी-कभी उसकी नियुक्ति सीधे सम्राट द्वारा भी की जाती थी। 'विषयपति' के प्रधान कार्यालय को 'विषयाधिकरण' कहा जाता था। उसकी सहायता के लिए एक कौंसिल होती थी। उसके सदस्यों की संख्या चार होती थी—नगर श्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथम कुलिक और प्रथम कायस्थ। अभिलेखों में हर्षकालीन 'कुण्डधानी विषय' और 'अंगदीपविषय' का उल्लेख मिलता है।

ग्राम-प्रशासन—प्रत्येक विषय में अनेक 'पठक' होते थे, जिनकी स्थिति आधुनिक तहसीलों की भांति थी। 'ग्राम' प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। प्राचीन काल में भारत में 'ग्राम-प्रशासन का विशेष महत्त्व था। हर्ष के प्रशासन में भी गांवों के महत्त्व को ध्यान में रखा गया। बाणभट्ट ने ग्रामों की सभा, दान वितरण केन्द्र, मण्डप आदि का उल्लेख किया है। गांव का प्रधान ग्रामपति अथवा महत्तर कहलाता था। बाणभट्ट 'ग्रामाक्षपटलिक' नामक एक अन्य ग्राम-अधिकारी का उल्लेख करता है। महत्तर का कार्य राजस्व की वसूली, सरकारी राजस्व का हिसाब रखना तथा गाँव में शांति स्थापित करना होता था। उसकी सहायता के लिए 'करणि' 'पुस्तकृत' और 'आग्रहरिक' नामक अधिकारी होते थे।

ह्वेन्सांग का भारत-विषयक वर्णन

बौद्धधर्म के पवित्र धार्मिक स्थलों की तीर्थ यात्रा और बौद्धधर्म-ग्रन्थों के अध्ययन हेतु जिन चीनी यात्रियों ने भारत की यात्रा की, उनमें ह्वेन्सांग का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उसे 'यात्रियों में राजकुमार' और 'नीति का पंडित' कहा जाता है। उसकी पुस्तक 'रिकार्ड आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड' से तत्कालीन भारतीय स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। स्मिथ महोदय ने उसकी पुस्तक के महत्व को स्वीकारते हुए लिखा है—"यह ग्रंथ सच्चे समाचारों का अमूल्य कोश है जिसका अध्ययन प्राचीन अवशेषों की खोज करने वाले विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है। इस ग्रन्थ ने भारत के लुप्त इतिहास को प्रकाश में लाने में वह कार्य किया है जो भूतल विशारदों की पुरातत्व सम्बन्धी किसी भी खोज से कम नहीं है।" ह्वेन्सांग के भारत-प्रवेश के समय उत्तरी भारत में शक्तिशाली राजा हर्षवर्धन राज्य कर रहा था। यद्यपि उसका उद्देश्य बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अध्ययन तथा बौद्ध तीर्थ स्थलों की धार्मिक यात्रा करना था, तथापि उसके यात्रा-वृत्तांत में तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ह्वेन्सांग का 'यात्रा-वृत्तांत' हर्षकालीन इतिहास जानने का प्रमुख साधन है।

ह्वेन्सांग का प्रारम्भिक जीवन—ह्वेन्सांग (युवान-च्वांग) का जन्म 600 ई० में चीन के होनान-फू के समीप एक नगर में हुआ था। बाल्यकाल से ही वह सत्य और ज्ञान की खोज में संलग्न हो गया। उसका बड़ा भाई बौद्ध धर्म की दीक्षा ले चुका था। ह्वेन्सांग अपने भाई से प्रभावित होकर उसीके साथ रहने लगा। तेरह वर्ष की आयु में उसने भी बौद्धधर्म की दीक्षा ले ली। बीस वर्ष की अवस्था में वह पूर्ण भिक्षु बन गया।

भारत-यात्रा—चीन में बौद्धधर्म का अध्ययन करके वह गहन अध्ययन हेतु भारत की यात्रा करना चाहता था। उसने इस निमित्त चीनी सम्राट के सम्मुख निवेदन किया। किन्तु चीनी सम्राट् ने उसके निवेदन को ठुकरा दिया। 629 ई० में उसने छिपकर भारत यात्रा करने का निश्चय किया। चीन की सीमा को पार कर वह गोबी के रेगिस्तान होते हुए 'हामी' नामक नगर में पहुँचा। वहां के शासक ने ह्वेन्सांग की विद्वत्ता से प्रभावित होकर उसका सम्मान किया। वहाँ से काशगर, समरकंद, बल्ख होता हुआ वह अफगानिस्तान पहुंचा। अफगानिस्तान से वह पेशावर पहुँचा और वहां से तक्षशिला पहुँच गया। मार्ग में कठिन विपत्तियों के कारण उसके साथियों ने उसका साथ छोड़ दिया। अकेला रह जाने पर भी वह अपने उद्देश्य में चट्टान की भांति दृढ़ रहा। मार्ग में उसने बौद्ध मातावलंबियों, बौद्ध मठों, स्तूपों तथा मूर्तियों के दर्शन किए। 630 ई० में वह भारत में प्रविष्ट हुआ। तक्षशिला पहुँचने के उपरान्त वह कश्मीर गया। कश्मीर से वह पंजाब, मथुरा, कन्नौज, श्रावस्ती, अयोध्या, वाराणसी, कपिलवस्तु, कुशीनगर, सारनाथ, वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह, बोधगया तथा अन्य नगरों में गया। तत्पश्चात् नालंदा विहार में बौद्ध धर्मग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। नालंदा से वह असम, उड़ीसा, ताम्रलिप्ति होता हुआ दक्षिणी भारत में कांचीवरम् पहुँचा। 644 ई० में कन्नौज नरेश हर्ष से विदा लेकर उसने स्वदेश की यात्रा प्रारम्भ की। विद्यानुरागी सम्राट हर्ष ने ह्वेन्सांग को विशेष सम्मान प्रदान किया। हर्ष ने उसे कन्नौज में सम्पन्न धार्मिक सम्मेलन का अध्यक्ष मनोनीत किया। इस सम्मेलन में उपस्थित जनसमूह पर उसने अपनी विद्वत्ता की छाप छोड़ी, फलस्वरूप उसे 'महायानदेव' और 'मोक्षदेव' कहा जाने लगा। प्रयाग के पंचवर्षीय दान वितरण समारोह में वह प्रमुख अतिथि के रूप में सम्मिलित हुआ। हर्ष से विदा लेकर ह्वेन्सांग अफगानिस्तान, काशगर और खोतान होता हुआ 645 ई० में चीन पहुँचा। स्वदेश पहुंचने पर उसका भव्य स्वागत हुआ। चीनी सम्राट ने सिर झुकाकर उसका हार्दिक अभिनंदन किया। ह्वेन्सांग भारत से बुद्ध की अनेक मूर्तियां, स्मारक चिन्ह और बौद्ध धर्मग्रन्थों की प्रतिलिपियां ले गया। बाद में चीन के सम्राट के आग्रह पर अपना यात्रा-वृत्तांत (रिकार्ड आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड) लिखा जिससे तत्कालीन भारतीय दशा पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। 664 ई० में उसका देहावसान हो गया। ह्वेन्सांग ने भारत के सम्बन्ध में जो प्रकाश डाला हैं, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं—

राजनीतिक दशा—ह्वेन्सांग के भारत प्रवेश के समय उत्तरी भारत में शक्तिशाली नरेश हर्षवर्द्धन राज्य कर रहा था। ह्वेन्सांग उसके दरबार में रहा। वह हर्ष को कर्तव्यपरायण, प्रजावत्सल और दयालु सम्राट बताता है। वह प्रजा की सुख-सुविधा के लिए राजकीय कार्यों में व्यस्त रहता और समय मिलने पर राज्य का दौरा किया करता था। उसने दिन को तीन भागों में विभक्त कर रखा था। पहले भाग में वह प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में व्यस्त रहता था। दूसरे तथा तीसरे भाग में धार्मिक कार्य संपादित करता था। लोक-कल्याण के कार्यों में वह नींद और भूख को भी भूल जाता था। ह्वेन्सांग ने लिखा है—"सम्राट हर्ष बहुत परिश्रमी था। वह दिन-रात

कार्यों में व्यस्त रहता था। हर्ष दिन को तीन भागों में बाँटता था। दिन का एक भाग शासन-सम्बन्धी कार्यों की देख-भाल में व्यतीत होता था और दिन का दो-तिहाई भाग धर्म-सम्बन्धी कार्यों में व्यतीत किया जाता था। हर्ष अपने साम्राज्य का दौरा किया करता था, क्योंकि वह जानता था कि अन्यथा वह लोगों के कष्टों को दूर नहीं कर सकता है।"

वह लिखता है कि हर्ष का शासन-प्रवन्ध सुव्यवस्थित और सुसंगठित था। प्रजा सुखी और सम्पन्न थी। उपज का $\frac{1}{6}$ भाग भूमि कर के रूप में वसूल किया जाता था। राज्य को प्राप्त आय को राजकीय अधिकारियों और कर्मचारियों के वेतन और धर्म सम्बन्धी कार्यों में व्यय किया जाता था। ह्वेनसांग लिखता है कि राजकीय आय का पहला भाग राजकीय कार्यों के लिए, दूसरा भाग सरकारी कर्मचारियों के लिए तीसरा विद्वानों की सहायतार्थ तथा चौथा भाग भिक्षुओं और ब्राह्मणों को दान वितरण करने में व्यय किया जाता था।

न्याय पक्षपात रहित था। अपराध और विद्रोहों की संख्या कम थी। अपराधियों के लिए कठोर दंड-विधान था। घोर अपराधों के लिए अंग-भंग का विधान था। राजद्रोहियों के लिए आजीवन कारावास का दंड था। गंभीर अपराधी को मौत की सजा दी जाती थी। अर्थदंड की भी व्यवस्था थी। राज्य की ओर से मार्गों पर सुरक्षा-व्यवस्था के बावजूद चोर-डाकुओं का भय व्याप्त था। स्वयं ह्वेनसांग को दो बार चोरों ने घेरा था। राज्य सम्बन्धी सभी कार्य रजिस्टरों में अंकित किए जाते थे। राज्य की ओर से जन-कल्याणकारी कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। चौड़ी सड़कों का निर्माण करके उनके दोनों ओर छायादार वृक्ष लगवाये जाते थे। साम्राज्य की सीमाओं की रक्षा हेतु हर्ष के पास एक विशाल सेना थी। उसकी सेना में 1,00,000 घुड़सवार, 60,000 गज और 50,000 पदाति सेना थी।

ह्वेनसांग ने हर्ष की राजधानी कन्नौज के वैभव का भी वर्णन किया है। पाटलिपुत्र की समृद्धि और वैभव का स्थान कन्नौज ले चुका था। कन्नौज 8 किलोमीटर लम्बे और 2 किलोमीटर चौड़े क्षेत्र में बसा था। वहां निर्मित भवन स्वच्छ और सुन्दर थे। वहां निवास करने वाले नागरिक परिष्कृत और चितवन थे। नगर में सौ से अधिक बौद्ध-विहार थे, जिनमें दस सहस्र भिक्षु निवास करते थे। लगभग दो सौ हिन्दू मंदिर कन्नौज नगर में थे। कन्नौज नगर में बौद्ध और हिन्दू दोनों धर्मों के अनुयाई निवास करते थे। नगर में सुन्दर उद्यान व स्वच्छ जल-तड़ाग विद्यमान थे। प्रजा करों के भार से मुक्त थी।

सामाजिक दशा—ह्वेनसांग के यात्रा-वृत्तांत से भारतीय जन-जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वह भारतीयों की पवित्रता, नैतिकता और सदाचारपूर्ण जीवन की प्रशंसा करता है। वह भारतीयों को सत्यनिष्ठ, ईमानदार और सरल स्वभाव का बताता है। जाति-प्रथा में कठोरता आ गई थी। उसने भारतीय परम्परा के अनुसार तत्कालीन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कार्यों का उल्लेख किया है। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न संतानों की गणना उसने पांचवें वर्ग में की है। समाज में

छुआछूत की प्रथा विद्यमान थी। हीन कर्म करने वाले लोग शहर से बाहर निवास करते थे। भारतीय भोजन की शुद्धता पर विशेष ध्यान देते थे। गेहूँ, शक्कर, घी, दूध, सब्जी, फल आदि प्रमुख आहार थे। कुछ विशेष अवसरों पर मांस का प्रयोग किया जाता था। प्याज-लहसन का प्रयोग बहुत कम होता था। वेश-भूषा साधारण होती थी। लोग रेशमी, ऊनी और सूती सभी प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। जन-साधारण शिक्षा और ललित-कलाओं में अभिरुचि रखता था। स्त्रियां साड़ी धारण करती थीं। उनमें पर्दा-प्रथा नहीं थीं, किन्तु उनमें सती-प्रथा प्रचलित थी। हर्ष की माता अपने पति के साथ सती हुई थीं। स्त्री-पुरुष दोनों आभूषणप्रिय थे। अंगूठियां, कंगन, मालाएं, हार, बालियां आदि आभूषण पहने जाते थे। श्रृंगार में मोरपंख, लाली, काजल, सीपी आदि का उपयोग किया जाता था। केशों को संवार कर जूड़ा बांधा जाता था। पुरुष मूंछ रखते थे। अन्तरजातीय विवाह की प्रथा कम थी। बहु-पत्नित्व का प्रचार अधिक था। बाल-विवाह की प्रथा थी। राज्यश्री का विवाह बहुत छोटी अवस्था में हुआ था। विधवा विवाह वर्जित थे।

हर्ष के काल में शिक्षा की भी उचित व्यवस्था थी। नालंदा विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में विश्वविख्यात हो चुका था। ह्वेन्साँग लिखता है कि भारत में शिक्षा धर्म से सम्बन्धित थी और वह विहारों में अर्जित की जाती थी। वेदों को कंठस्थ किया जाता था। प्राय: 9 वर्ष से 30 वर्ष तक की आयु के लोग विद्याध्ययन करते थे। संस्कृत भाषा की प्रधानता थी। गुरु और शिष्यों में परस्पर मधुर सम्बन्ध थे। विद्वानों, धर्माचार्यों, संन्यासियों व तपस्वियों को समाज में विशेष सम्मान प्राप्त था। उज्जैन, वल्लभी, काशी और नालंदा शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।

धार्मिक दशा—ह्वेन्सांग ने हर्षकालीन धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि सम्राट हर्ष बौद्ध मतावलंबी था। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अनेक प्रयास किए। वह अधिकाँश बौद्ध तीर्थों को खण्डहरों के रूप में वर्णित करता है। वह लिखता है कि उस काल में बौद्ध धर्म की अपेक्षा हिन्दू-धर्म की प्रधानता थी। काशी और प्रयाग ब्राह्मण धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र थे। ह्वेन्साँग ने कन्नौज में विष्णु, शिव और सूर्य के मंदिरों तथा बनारस में शैव मंदिरों का उल्लेख किया है। समाज में ब्राह्मणों को सम्मान प्राप्त था। उसने लिखा है—"ऐश्वर्य का पीछा करना सांसारिक जीवन का लक्ष्य माना जाता था और ज्ञान का पीछा धार्मिक जीवन का लक्ष्य था।"

ह्वेन्साँग का कथन है कि उस समय बौद्ध धर्म अवनति की स्थिति में था। वह अठारह शाखाओं में विभक्त हो चुका था। महायान संप्रदाय लोकप्रिय और उन्नत स्थिति में था। सम्राट हर्ष स्वयं महायान-संप्रदाय का अनुयायी था। ह्वेन्सांग कन्नौज की सभा में सभापति के पद पर मनोनीत किया गया और प्रयाग दानोत्सव में वह विशेष अतिथि के रूप में सम्मिलित हुआ। उसने इन दोनों घटनाओं पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

ह्वेन्साँग के यात्रा-वृत्तांत से तत्कालीन भारत की स्थिति पर स्पष्ट प्रकाश

पड़ता है। उसके शासनकाल में भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा उन्नत थी। सम्राट हर्ष लोकहित के कार्यों में व्यस्त रहता था। लोगों का नैतिक जीवन उच्च कोटि का था। लोग सम्पन्न थे। उनमें नैतिकता और सदाचार की भावना व्याप्त थी। बौद्ध धर्म की अपेक्षा ब्राह्मण धर्म उन्नत दशा में था। उसके कुछ विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण होते हुए भी उसके द्वारा प्रस्तुत यात्रा-वृतांत हर्षकालीन इतिहास जानने का प्रधान साधन हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हर्ष के कार्यों एवं उसकी सफलताओं का वर्णन कीजिए। क्या उसे अन्तिम महान हिन्दू शासक कहा जा सकता है ?

2. 'हर्ष न तो समुद्रगुप्त जैसा महान् विजेता था, न ही वह अशोक जैसा धार्मिक एवं मानवतावादी था।' इस कथन के संदर्भ में हर्ष के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए।

3. प्रशासक, कला और शिक्षा के संरक्षक के रूप में हर्ष का मूल्यांकन कीजिए। भारत के इतिहास में उसे क्या स्थान प्राप्त है ?

4. साम्राज्य-निर्माता के रूप में हर्ष का मूल्यांकन कीजिए।

5. हर्ष के आरंभिक जीवन एवं विजयों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

6. विजेता, राजनीतिज्ञ एवं साहित्य और कला के संरक्षक के रूप में सम्राट् हर्ष का मूल्यांकन कीजिए।

7. हर्ष की विजयों का उल्लेख कीजिए। (रुहेलखंड वि० वि० 1979 ई०)

8. एक शासक, सेनानी एवं लेखक के रूप में हर्ष की सफलताओं का समीक्षात्मक विवरण दीजिए।

9. हर्ष के सैनिक अभियानों के प्रकाश में उसके साम्राज्य के विस्तार का वर्णन कीजिए।

10. ह्वेन्सांग ने भारत की तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था पर क्या प्रकाश डाला है ?

23

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत की राजनीतिक दशा

योग्य उत्तराधिकारी के अभाव के कारण हर्ष की मृत्यु (647 ई०) के पश्चात् उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई। इस राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर हर्ष के अधीनस्थ सभी क्षेत्रों के शासक स्वतन्त्र होने के प्रयत्न करने लगे। कन्नौज के साम्राज्य का पतन हो गया तथा मगध, बंगाल और उड़ीसा ने कन्नौज से पृथक् होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। हर्षकालीन स्वतन्त्र राज्यों ने भी अपने विस्तार की योजना क्रियान्वित की। राजपूताना तथा पश्चिमी भारत में एक के बाद एक उत्तरी भारत के प्रमुख राज्य बन गये। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत की राजनीतिक दशा पर प्रकाश डालते हुए डॉ० मुकर्जी ने लिखा है—"हर्ष के समय की उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता उसकी मृत्यु के पश्चात् स्थिर न रह सकी। यह (उत्तरी भारत) शीघ्र ही अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। एक बृहद् संगठित साम्राज्य के इतिहास ने स्वयं को स्थानीय कथाओं में खो दिया।"[1]

1. चीनी दूत वंग-ह्वान-सी का आक्रमण—उत्तरी भारत के महान् सम्राट् हर्ष के शासनकाल (सन् 606-647 ई०) में चीनी यात्री ह्वेन-सांग बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अध्ययन हेतु भारत आया। वह शीलादित्य महाराज (हर्ष) से काफी प्रभावित हुआ। ह्वेन्सांग

1. "The political unification of northern India achieved under the suzerainty of Harsha did not hold when the cohesive force of his personality was withdrawn by his death. It soon split up into a number of small states. The unified history of a large Empire lost itself in local annals."
—*Dr. R. K. Mookerjee*

के माध्यम से हर्ष और चीनी सम्राट् के मध्य राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हुए। अतः दोनों राज्यों के मध्य दूत-मण्डलों का आदान-प्रदान हुआ।

646 ई० में वेंग-ह्वान-सी के नेतृत्व में एक अन्य चीनी दूत-मण्डल भारत-यात्रा पर आया। किन्तु इस दूत-मण्डल के भारत प्रवेश तक हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी। हर्ष के एक मन्त्री अर्जुन ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया था। अर्जुन चीन के साथ राजनयिक सम्बन्धों का विरोधी था। अतः उसने चीनी दूत-मण्डल के भारत में प्रवेश रोकने के लिए अपने सैनिकों को भेजा। उसके सैनिकों ने चीनी दूत-मण्डल के सदस्यों को लूटा, कैद कर लिया तथा कुछ लोगों को मार डाला। अर्जुन के सैनिकों के अभद्र व्यवहार से चीनी दूत-मण्डल का नेता वेंग-ह्वान-सी क्रुद्ध हो उठा। उसने तत्कालीन तिब्बत नरेश श्राङ्ग्ब्तशान्-स्गैम्पो तथा नेपाल नरेश अंशुवर्मा से सैनिक सहायता माँगी। तिब्बत नरेश ने उसे 1200 चुने हुए सिपाही दिये तथा नेपाल नरेश ने 7000 घुड़सवारों की सेना से उसकी मदद की। इन दोनों शक्तिशाली सेनाओं की मदद से वेंग-ह्वान-सी ने अर्जुन के राज्य पर धावा बोल दिया। उन्होंने अर्जुन के तीन हजार सिपाहियों को मार डाला और राजा अर्जुन अपनी प्राण रक्षा हेतु भाग निकलने में सफल हो गया। अर्जुन ने अपनी सेनाओं को पुनःसंगठित कर फिर से मोर्चा लिया। किन्तु विफल रहा। अर्जुन की सभी स्त्रियों को वेंग-ह्वान-सी ने अपने अधिकार में कर लिया तथा अर्जुन को कैदी बनाकर चीन के जेल में बन्द कर दिया। मा-ट्वान्-लिन् के वृत्तांत से विदित होता है कि वेंग-ह्वान-सी के आक्रमण से आतंकित होकर तत्कालीन भारत के 580 नगरों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर उसे भेंटें प्रदान कीं।

कुछ इतिहासकार उपरोक्त विवरण को अतिरंजित मानते हैं। किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि हर्ष की मृत्यु के पश्चात् विदेशी शक्तियों ने भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप किया, जिसके फलस्वरूप हर्ष का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

2. **कामरूप का भास्कर वर्मा**—हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न राजनीतिक अराजकता का लाभ उठाते हुए कामरूप के राजा भास्कर वर्मा ने अपने साम्राज्य की सीमाएँ बढ़ानी प्रारम्भ कर दीं। निधनपुर अभिलेख से इस तथ्य की पुष्टि होती हैं।

3. **मौखरि शासक**—कुछ अभिलेखों से विदित होता है कि मौखरियों ने कन्नौज पर पुनः अधिकार कर लिया था। भोगवर्मा शामक राजा को वीर 'मौखरि-कुल का मुकुटमणि' कहा गया है। वह शक्तिशाली तथा राजनीति में दक्ष था।

4. **कश्मीर का कार्कोटक वंश**—हर्ष के देहावसान के पश्चात् कश्मीर में कार्कोटक वंश ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली। कार्कोटक वंश का संस्थापक दुर्लभवर्धन था। तत्पश्चात् उसका पुत्र दुर्लभग राजसिंहासन पर बैठा। दुर्लभक का पुत्र चन्द्रा-पीड़ एक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। उसने अरबों के आक्रमण को विफल कर दिया। चन्द्रापीड़ प्रतापी होने के साथ-साथ न्यायप्रिय शासक भी था। कल्हण ने उसकी न्यायप्रियता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

चन्द्रापीड़ के पश्चात् ललितादित्य मुक्तापीड़ राजगद्दी पर आसीन हुआ। वह पराक्रमी और महत्त्वाकांक्षी शासक था। वह सम्पूर्ण उत्तरी भारत को विजित करके एक राज्य के रूप में संगठित करना चाहता था। ललितादित्य को कार्कोटक वंश का सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न और प्रभावशाली राजा माना जाता है। ललितादित्य ने शक्तिशाली कन्नौज नरेश यशोवर्मा को 733 से 736 के मध्य पराजित किया था। ललितादित्य मुक्तापीड़ की मृत्यु के पश्चात् कार्कोटक-वंश का पतन प्रारम्भ हो गया। सन् 810 में कश्मीर में कार्कोटक वंश के स्थान पर एक नवीन राजवंश उत्पल वंश का आविर्भाव हुआ।

5. **कश्मीर का उत्पल वंश**—उत्पल वंश का संस्थापक अवंतिवर्मन था। उसने युद्ध नीति का परित्याग कर राज्य में शांति और समृद्धि की ओर ध्यान दिया।

अवंतिवर्मन का पुत्र एवं उत्तराधिकारी शंकरवर्धन एक अत्याचारी शासक था। शंकरवर्धन के पश्चात् गोपालवर्धन राजा बना, किन्तु वह एक अयोग्य राजा सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल में राज्य की शक्ति क्षीण हो गई। गोपालवर्धन के बाद पार्थ, उन्मत्तावन्ती और सुखवर्मन राजा बने। तत्पश्चात् उत्पलवंश का पतन हो गया।

6. **कन्नौज नरेश यशोवर्मा (यशोवर्मन)**—हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत में अराजकता व्याप्त हो गई। हर्ष की मृत्यु के लगभग पचहत्तर वर्ष पश्चात् यशोवर्मा नामक शक्तिशाली राजा का आविर्भाव हुआ, जिसने अपने साहस और पराक्रम का परिचय देते हुए कन्नौज के खोये हुए यश को पुनः स्थापित करके उसे गौरवान्वित करने का प्रयास किया।

यशोवर्मा के दरबारी कवि वाक्पति द्वारा प्राकृत भाषा में रचित ग्रन्थ 'गौड़-वाहो', कल्हणकृत 'राजतरंगिणी', राजशेखर द्वारा रचित 'प्रबन्धकोश', प्रभाचन्द्र के 'प्रभावकचरित', बाणभट्टकृत 'सूरचरित', जिनप्रभुसूरि के 'तीर्थ-कल्प', पाँच चीनी ग्रन्थ, अभिलेख तथा मुद्राओं से यशोवर्मा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

यशोवर्मा के वंश के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। 'गौडवाहो' में उसे चन्द्रवंशी कहा गया है। जैन ग्रन्थों के अध्ययन से विदित होता है कि वह चन्द्रगुप्त मौर्य का वंशज था। कुछ विद्वान् उसे मौखरि वंश का बताते हैं।

यशोवर्मा के वंश की भाँति उसके शासनकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। डॉ० स्मिथ के मतानुसार यशोवर्मा ने 728 ई० और 745 ई० के मध्य शासन किया। किन्तु डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी के अनुसार यशोवर्मा ने सन् 725 से 752 ई० तक शासन किया। समस्त साक्ष्यों की विवेचना के पश्चात् डॉ० त्रिपाठी द्वारा प्रस्तुत शासनावधि को अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।

यशोवर्मा की विजयें—वाक्पति के 'गौडवाहो' काव्य में यशोवर्मा की विजयों का वर्णन इस प्रकार है कि वर्षा के अन्त में उसने अपनी विजय-यात्रा प्रारम्भ की। सर्वप्रथम वह दक्षिण पूर्व की ओर चला और मार्ग में विंध्यवासिनी देवी की आराधना के लिए रुका। यह मन्दिर मिर्जापुर में है। तत्पश्चात् वह मगध की ओर गया और मगध के राजा के साथ उसका युद्ध हुआ। पहले तो मगध के राजा ने बचना चाहा, किन्तु जनसाधारण के दबाव के कारण उसने यशोवर्मा के साथ युद्ध किया। इस युद्ध में मगध का राजा मारा गया। इसके बाद यशोवर्मा की सेनाएँ बंग की ओर बढ़ीं, जहाँ के राजा ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। वहाँ से दक्षिण की ओर बढ़ता हुआ वह मलय पर्वत को पार कर गया। दक्षिणापथ के राजाओं ने भी उसकी अधि-सत्ता स्वीकार कर ली। वहाँ से उसने पारसीकों के देश को प्रस्थान किया और एक घोर युद्ध में उन्हें पराजित कर डाला तथा पश्चिमी घाट के क्षेत्रों से कर वसूल किया। नर्मदा और समुद्री किनारों से होता हुआ यशोवर्मा मरुदेश (राजपूताना और मारवाड़) की ओर लौटा, जहाँ से श्रीकण्ठ (थानेश्वर) और कुरुक्षेत्र होता हुआ अयोध्या पहुँचा। वहाँ से हिमालय की तलहटियों के प्रदेशों को विजित करते हुए उसने अपनी राजधानी कन्नौज लौटकर दिग्विजय पूर्ण की। तत्पश्चात् दिग्विजय में पराजित राजाओं को उसने मुक्ति प्रदान कर दी।

वाक्पति यशोवर्मा का दरबारी कवि था। इसलिए उसके द्वारा यशोवर्मा के दिग्विजय के उल्लेख को कुछ इतिहासकार प्रामाणिक नहीं मानते हैं। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी तथा कई अन्य विद्वान् यशोवर्मा की दिग्विजय को केवल काव्यात्मक प्रशस्ति मानते हैं। चूँकि 'गौडवाहो' एक दरबारी कवि की कृति है, इसलिए यशोवर्मा की दिग्विजय से सम्बन्धित घटनाएँ अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकती हैं। किन्तु उसकी ऐति-हासिकता को नकारा नहीं जा सकता है। इसमें वर्णित दिग्विजय का वर्णन काफी मात्रा में कालिदास द्वारा प्रस्तुत रघु की दिग्विजय के वर्णन से मिलता है। दिग्विजय का क्रम भी परम्परागत है—सर्वप्रथम, पूर्व की ओर प्रस्थान, फिर दक्षिण और तत्पश्चात् पश्चिम की ओर से उत्तर होते हुए वापसी।

नालन्दा से प्राप्त अभिलेख में भी यशोवर्मा की विजयों का उल्लेख मिलता है। इस अभिलेख में उसे लोकपाल कहा गया है। उसमें यह भी उल्लेख मिलता है कि उसने (यशोवर्मा) अपनी तलवार के बल पर समस्त राजाओं के सिरों पर अपने चरणों को रखकर उत्कर्ष किया।

यशोवर्मा और ललितादित्य के मध्य संघर्ष—कार्कोटक-वंश का कश्मीर नरेश ललितादित्य कन्नौज नरेश यशोवर्मा का समकालीन था। दोनों महत्त्वाकांक्षी राजा थे तथा दोनों साम्राज्यवाद की लिप्सा से पूर्ण थे। अतः दोनों के मध्य साम्राज्य-विस्तार हेतु संघर्ष छिड़ गया। इस युद्ध में ललितादित्य की विजय हुई तथा यशोवर्मा पराजित हुआ। कल्हणकृत राजतरंगिणी में इस संघर्ष का उल्लेख हुआ है। डॉ० रमा-

शंकर त्रिपाठी इस युद्ध की तिथि 733 ई० मानते हैं। कुछ अन्य विद्वानों ने इसकी तिथि 736 ई० निर्धारित की है।

यशोवर्मा न केवल पराक्रमी सम्राट् के रूप में जाना जाता है, वरन् वह नगर निर्माता, विद्याप्रेमी और शैव धर्म के उपासक के रूप में भी प्रसिद्ध है। मगध-विजय के उपलक्ष्य में उसने एक नगर का निर्माण किया। उसकी राजसभा में वाक्पतिराज तथा भवभूति जैसे कवि थे। 752 ई० में यशोवर्मा की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् केवल बीस वर्षों तक उसके उत्तराधिकारियों ने राज्य किया। इसके बाद कन्नौज में आयुध-वंश का अधिकार स्थापित हो गया।

कन्नौज का आयुध-वंश—यशोवर्मा के अयोग्य उत्तराधिकारियों के कारण 770 ई० में कन्नौज पर आयुध-वंश ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस वंश के तीन राजाओं का उल्लेख मिलता है—वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध। आयुध-वंश के अंतिम शासक चक्रायुध को पराजित कर प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय ने कन्नौज पर अपना अधिकार जमा लिया।

मगध के परवर्ती गुप्त—प्रभाकर वर्धन के राज्यकाल में महासेन गुप्त मगध और पूर्वी मालवा का नाममात्र का राजा था। महासेनगुप्त के दो पुत्र थे—कुमार गुप्त और माधवगुप्त। ये दोनों भाई थानेश्वर के राज दरबार में राज्यवर्धन और हर्षवर्धन के सखा और सेवी के रूप में रहते थे। 641 ई० में हर्ष ने मगध पर अधिकार कर लिया था।

माधवगुप्त का पुत्र आदित्यसेन एक साहसी तथा पराक्रमी युवक था। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत में व्याप्त चतुर्दिक अराजकता का लाभ उठाते हुए उसने मगध पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली और उत्तरी भारत के एक बड़े भू-भाग को अधिकृत कर लिया। अभिलेखों में उसे 'क्षितीशचूड़ामणि', 'लोकपाल', 'परमभट्टारक' और 'महाराजाधिराज' की उपाधियों से विभूषित किया गया है। आदित्यसेन के पुत्र देवगुप्त और पौत्र विष्णुगुप्त ने भी 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज' और 'परमेश्वर' की उपाधियाँ धारण की थीं। आदित्यसेन के उत्तराधिकारी उसके समान पराक्रमी सिद्ध नहीं हुए। अतः वे साम्राज्य की रक्षा के दायित्व का निर्वाह नहीं कर पाये। चालुक्य राजाओं ने उन पर आक्रमण करके उनकी शक्ति को क्षीण कर दिया। अंत में कन्नौज के पराक्रमी राजा यशोवर्मा ने उन्हें पराजित करके मगध पर अधिकार कर लिया। मगध पर यशोवर्मा के अधिकार की पुष्टि नालन्दा अभिलेख से भी होती है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि हर्ष के देहावसान के पश्चात् योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में सम्पूर्ण उत्तरी भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया और उनके राजा साम्राज्य-विस्तार हेतु परस्पर सदैव संघर्षरत रहते थे। किन्तु यशोवर्मा के अतिरिक्त कोई भी ऐसा शक्तिशाली राजा नहीं हुआ जो एक शक्तिशाली, सुसंग-

ठित तथा विस्तृत साम्राज्य की स्थापना कर सकता। यशोवर्मा के उत्कर्ष के फल-स्वरूप एक बार पुनः कन्नौज के पुरातन गौरव की प्रतिष्ठा स्थापित हुई । किन्तु उसके अयोग्य उत्तराधिकारी दीर्घकाल तक राज्य की रक्षा न सके।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत की राजनीतिक दशा पर प्रकाश डालिए।
2. यशोवर्मा के जीवन-चरित एवं विजयों पर प्रकाश डालिए।

24

राजपूतों की उत्पत्ति

सम्राट् हर्ष की मृत्यु से लेकर मुस्लिम-विजय तक का भारतीय इतिहास राजपूतों की प्रभुता के कारण 'राजपूत-युग' के नाम से जाना जाता है। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता पुनः विश्रृंखलित हो गई तथा उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। इस प्रकार गुप्तकाल से चली आ रही भारतवर्ष की राजनीतिक एकता हर्ष की मृत्यु (647 ई०) के बाद छिन्न-भिन्न हो गई। सन् 650 से 1200 ई० तक का काल भारतीय इतिहास में राजपूतकाल के नाम से प्रसिद्ध है। ये राजपूत कौन थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। राजपूतों की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या करने से पूर्व 'राजपूत' शब्द की प्राचीनता तथा अर्थ पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

राजपूत शब्द की प्राचीनता तथा अर्थ—'राजपूत' प्राचीन भारतीय इतिहास में एक नवीन शब्द है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख सातवीं शताब्दी में हुआ है। 'राजपूत' शब्द संस्कृत भाषा के 'राजपूत्र' शब्द का अपभ्रंश है जो कि प्राचीन भारत में बहुत पहले से प्रचलित था। किन्तु 'राजपूत' शब्द का प्रयोग सातवीं शताब्दी से पूर्व न होने के कारण इतिहासकारों में इसके अर्थ के सम्बन्ध में काफी मत-भेद हैं।

कुछ विद्वान् 'राजपूत' शब्द का प्रयोग क्षत्रिय सामंतों की अनैतिक (अवैध) संतानों के लिए प्रयुक्त किया गया मानते हैं तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि राजपूत लोग शक, कुषाण, हूण आदि विदेशी आक्रांताओं की संतान थे जिन्हें अग्नि द्वारा शुद्ध करके भारतीय समाज में अंगीकार कर लिया गया। अनेक भारतीय विद्वान् उन्हें वैदिक क्षत्रियों की संतान मानते हैं।

राजपूतों की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धांत

राजपूत कौन थे? कहां से आये? ये प्रश्न भारतीय इतिहास में विवादा-

स्पद हैं। राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुख्यतः निम्नलिखित मत प्रचलित हैं—

1. **विदेशी उत्पत्ति का सिद्धान्त**—कुछ विद्वान् राजपूतों को विदेशी आक्रांताओं की संतान मानते हैं, जिनमें कर्नल टॉड, डॉ० स्मिथ, डॉ० भंडारकर तथा क्रुक महोदय के नाम उल्लेखनीय हैं।

कर्नल टॉड के अनुसार, 'राजपूत' शक तथा सीथियन जाति के थे। जब ये जातियाँ भारत में रहने लगीं तो उन्होंने हिन्दू धर्म के रीति-रिवाजों को ग्रहण कर लिया तथा शनैः-शनैः ये लोग भारतीय समाज के अंग बन गये। चूंकि ये लोग भारत में शासन कर रहे थे, अतः इन्हें भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुसार 'क्षत्रिय' ही मान लिया गया। अपने कथन की पुष्टि में कर्नल टॉड राजपूत और शक तथा सीथियन जातियों के गुणों एवं कार्यों में समानता का उल्लेख करते हैं।

डॉ० स्मिथ भी राजपूतों को विदेशियों की संतान मानते हैं। राजपूतों को विदेशियों की संतान बताते हुए डॉ० स्मिथ ने लिखा है—"मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जब शकों तथा कुषाणों ने हिन्दू धर्म में प्रवेश किया, तो उनको हिंदू-वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रिय-वर्ग में स्थान दिया गया परन्तु इस बात का बाद में निश्चित रूप से होने वाली घटनाओं की समानता के आधार पर अनुमान ही लगाया जा सकता है, सिद्ध नहीं किया जा सकता।" उन्होंने आगे लिखा है—"इस प्रकार उस समय जातियों का क्षत्रिय अथवा राजपूत समूह वास्तव में एक व्यावसायिक समूह है जिसमें सभी कबीले हैं, जो हिन्दू रीतियाँ मानते हैं, जिन्होंने ही वास्तव में राजकार्य संभाला, अतः अत्यन्त विभिन्न जातियाँ राजपूत कही जाती हैं और वर्तमान अधिकांश राजपूत कबीले अपनी उज्ज्वल वंशावलियों के होते हुए भी विदेशों से आने वाली जातियों या गोंड़ और भारत जैसी देशी जातियों के वंशज हैं।"

गुर्जरों को खजर जाति का मानने का सिद्धान्त सर्वप्रथम कैम्पबैल और जैक्सन महोदय ने प्रतिपादित किया था। डॉ० भंडारकर और क्रुक महोदय के अनुसाय राजपूत विदेशी खजर जाति की संतान थे। डॉ० भंडारकर ने राजपूतों को विदेशी आक्रांताओं की संतान बताते हुए प्रतीहारों, चालुक्यों, परमारों और चाहमानों को पृथक्-पृथक् रूप से विदेशी सिद्ध करने की चेष्टा की है।

आलोचना—गुर्जरों को विदेशियों की संतान प्रमाणित करने का कोई प्रमाण प्रस्तुत न कर पाने, गुर्जरों और खजरों की परम्पराओं में अन्तर होने के कारण तथा राजपूतों की शरीर-रचना वैदिक आर्यों की-सी होने के कारण अनेक भारतीय विद्वान् राजपूतों को विदेशी आक्रमणकारियों की संतान मानने वाले विद्वानों के मत की आलोचना करते हैं। डॉ० ए० सी० बनर्जी ने डॉ० भंडारकर के मत की आलोचना करते हुए लिखा है—"जैक्सन-भंडारकर के गुर्जरों से सम्बन्धित विदेशी

उत्पत्ति के सिद्धान्त को एक परिकल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता।"[1]

कर्नल टॉड, डॉ० स्मिथ, डॉ० भंडारकर और क्रुक महोदय राजपूतों को विदेशी आक्रांताओं की संतान सिद्ध करने के लिए कोई ठोस ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। अतः उक्त विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विवरण के आधार पर राजपूतों को विदेशियों की संतान मानना तर्क-असंगत है।

2. **अग्निकुल का सिद्धान्त**—प्राचीन परम्परा एवं किंवदंती के आधार पर यह कहा जाता है कि जब परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी से क्षत्रियों का संहार कर डाला तो देश की सुरक्षा संकट में पड़ गई। अतः वसिष्ठ-मुनि ने आबू पर्वत पर यज्ञ सम्पन्न कर अग्निकुण्ड से चालुक्य, चौहान (चाहमान), परमार और प्रतिहार नामक चार योद्धाओं को उत्पन्न किया और उन्हें 'राजपूत' नाम दिया गया।

चन्द्रबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' नामक ग्रंथ के आधार पर राजाओं को अग्निकुलवंशीय बताया गया है। चन्द्रबरदाई ने लिखा है—"जब विश्वामित्र, गौतम, अगस्त्य एवं अन्य ऋषि आबू पर्वत पर धार्मिक अनुष्ठान कर रहे थे, उस समय दैत्यों ने मांस, रक्त, हड्डियां और पेशाब डालकर उनके धार्मिक अनुष्ठान को अपवित्र कर दिया। इस समय वशिष्ठ ने हवन-सामग्री के बल पर तीन योद्धाओं को अग्निकुंड से उत्पन्न किया, जो क्रमशः प्रतीहार, चालुक्य और परमार कहकर संबोधित किये गये। इन तीनों की तुलना में चौथा एवं अन्तिम योद्धा अधिक हट्टा-कट्टा था। कालान्तर में इन चारों योद्धाओं के वंशज प्रतीहार, चालुक्य, परमार और चौहान राजपूत कहलाये।" इन चारों योद्धाओं की उत्पत्ति अग्निकुंड से होने के कारण इन्हें अग्निवंशीय कहा गया है।

आलोचना—पृथ्वीराजरासो की सर्वाधिक पुरातन प्रतिलिपि अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में सुरक्षित है। उसमें अग्निकुल कथा का वर्णन नहीं है। इसके अतिरिक्त 'पृथ्वीराजरासो' में अनेक कल्पित कहानियों के मिलने, प्रतीहार और चाहमानों से सम्बन्धित पुरातात्त्विक साक्ष्यों में कहीं भी अग्निकुल की कथा का उल्लेख न मिलने के कारण विद्वान् 'पृथ्वीराजरासो' में वर्णित अग्निकुल की कथा में विश्वास नहीं करते। आधुनिक वैज्ञानिक युग में कोई भी तर्कशील व्यक्ति यह स्वीकार करने के लिए एकाएक तैयार नहीं होगा कि अग्निकुंड से योद्धाओं का जन्म हो सकता है। प्रतीहार, चालुक्य, परमार और चाहमान नामक चार राजपूतवंशों को अग्निवंशीय स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'पृथ्वीराजरासो' में ही राजपूतों को सूर्यवंशीय, चन्द्रवंशीय तथा यदुवंशीय कहा गया है।

---

1. **"Jackson-Bhandarkar Theory of the Foreign Origin of the Gurjaras can not be treated as anything more than the working hypothesis."**

—*A. C. Banerjee*

सी० वी० वैद्य का मत है कि सम्भवतः ये चारों योद्धा पहले से ही विद्यमान हों और मुनि वसिष्ठ ने यज्ञ के अवसर पर केवल इन्हीं चारों को बुलाया हो।

उपरोक्त सभी आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए डॉ० दशरथ शर्मा ने लिखा है कि अग्निकुंड से राजपूतों की उत्पत्ति केवल एक ऐसी कल्पना पर आधारित है, जो मध्यकालीन चारण और भाटों की चाटुकारी प्रवृत्ति का प्रमाण है। इन लोगों ने अपने अकर्मण्य स्वामियों को उत्तेजित करने के लिए प्रशंसात्मक गीत गाये अथवा अपने आश्रयदाताओं को समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करने के लिए इस कहानी का आश्रय लिया।

3. **वीर जातियों के समूह का सिद्धान्त**—राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि राजपूत पूर्णतः न तो भारतीय थे और न ही पूर्णतया विदेशी। उनके अनुसार प्राचीन भारतीय क्षत्रिय विदेशों से आ रही जातियों से मिलते रहे और धीरे-धीरे उनके रीति-रिवाजों में सामंजस्य स्थापित हो गया। इस प्रकार एक नये वर्ग का उदय हुआ, जिसे राजपूतों के नाम से पुकारा गया। इस मत का समर्थन करते हुए डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है—"यह निस्संदेहात्मक है कि विदेशी जातियां, जो भारत में बसीं, ने सामाजिक वर्गों को पुनर्व्यवस्थित किया और राजनीतिक शक्ति उन्हीं के पास होने के कारण उनके ब्राह्मण सलाहकारों द्वारा उन्हें प्राचीन क्षत्रियों से जोड़ा गया।"[1]

4. **भारतीय उत्पत्ति का सिद्धान्त**—कुछ विद्वान् राजपूतों को भारतीय मानते हैं। किन्तु राजपूतों को भारतीय मानने वाले विद्वानों में भी उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद हैं। कुछ इतिहासकार राजपूतों को ब्राह्मणों की संतान मानते हैं तथा कुछ विद्वान् उन्हें वैदिक क्षत्रियों का वंशज बताते हैं।

(अ) राजपूतों को ब्राह्मणों की संतान मानने का सिद्धान्त—कुछ भारतीय इतिहासकारों का मत है कि राजपूत ब्राह्मणों की संतान थे। इस मत का समर्थन करते हुए डॉ० दशरथ शर्मा ने लिखा है कि राजपूतों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से हुई थी। चौहानों के आदि पुरुष वत्सगोत्र के ब्राह्मण थे जिनका निवास स्थान अहिछत्रपुर (आधुनिक नागौर) था। पन्द्रहवीं शताब्दी का मेवाड़ का राणा कुंभा अपने आपको ब्राह्मण वंशज बताता है, जो नागर जाति का ब्राह्मण था।

(आ) राजपूतों को क्षत्रियों की संतान मानने का सिद्धान्त—कुछ भारतीय इतिहासकार राजपूतों को प्राचीन भारतीय क्षत्रियों की संतान मानते हैं, जिनमें सी० वी० वैद्य तथा गौरीशंकर ओझा के नाम प्रमुख हैं। अपने मत की पुष्टि में गौरीशंकर ओझा निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

---

1. "It is undoubtable that the foreign tribes who settled in India made a fresh rearrangement of social groups inevitable and as possessors of political power they were connected with the ancient Kshatriyas by their Brahmin advisors."
—*Dr. Ishwari Prasad*

1. सूर्य पूजा और सती-प्रथा भारत में क्रमशः वैदिककाल तथा महाभारत काल में प्रचलित थी और इन्हें राजपूतों ने भी अपनाया। अतः वे वैदिक आर्यों की संतान सिद्ध होते हैं।
2. प्रतीहार अपने को सूर्यवंशीय क्षत्रिय मानते हैं, जैसा कि उनके ग्वालियर-अभिलेख से भी स्पष्ट होता है।
3. चन्देल स्वयं को चन्द्रमा की संतान मानते हैं।
4. चालुक्य अपनी उत्पत्ति हारीति के कमंडल से बताते हैं।
5. हम्मीर महाकाव्य के अनुसार चाहमान सूर्य-पुत्र थे।
6. पृथ्वीराजरासो में वर्णित छत्तीस राजपूत कुलों को सूर्यवंशीय, चन्द्र-वंशीय और यदुवंशीय कहा गया है।
7. शरीर-रचना के आधार पर भी राजपूत वैदिक आर्यों की संतान प्रतीत होते हैं।
8. मातृभूमि के प्रति न्योछावर हो जाने की भावना से भी राजपूत वैदिक आर्यों की संतान प्रतीत होते हैं।

आलोचना—यद्यपि गौरीशंकर ओझा द्वारा प्रस्तुत तर्क काफी प्रभावशाली हैं, तथापि कुछ विद्वान् राजपूतों के भारतीय उत्पत्ति के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। विलियम क्रुक ने राजपूतों के भारतीय उत्पत्ति के सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए लिखा है—"वैदिककालीन क्षत्रियों तथा मध्यकालीन राजपूतों के मध्य एक चौड़ी खाई है जिसको पाटना अब असंभव है।"[1]

विलियम क्रुक के मत के समर्थक विद्वान् राजपूतों को भारतीय मानना हठ-धर्मी मात्र मानते हैं।

निष्कर्ष

संपूर्ण अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद हैं। साहित्यिक साक्ष्यों, अभिलेखों, जन-श्रुतियों एवं विदेशी विवरणों का अध्ययन करने के पश्चात् भी किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँच पाना अत्यधिक कठिन है। ए. सी. बनर्जी के शब्दों में—"राजपूतों के प्रमुख वंशों की उत्पत्ति का संक्षिप्त सर्वेक्षण यह निर्देशित करता है कि कई दशाब्दियों के बौद्धिक वाद-विवाद ने भी (राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में) कोई निर्विवाद निष्कर्ष नहीं दिया है। . . . . . वर्तमान समय में भी हमें स्वयं को असंतोषजनक निष्कर्षों से ही संतुष्ट कर लेना चाहिए।"[2]

1. "A wide gulf lies between Vedic Kshatriyas and Rajputas of mediaeval times, which is now impossible to bridge."
—*W. Crooke*

2. "This brief survey of the problem of the origin of principal Rajput dynasties would indicate that even scholarly discussions extending over several decades have not given us indisputable conclusions.................We must satisfy ourselves, in the present circumstances, with unstisfactory conclusions."
—*A. C. Banerjee*

राजपूतों को विदेशी आक्रांताओं की संतान मानने वाले विद्वान् कर्नल टॉड, भंडारकर, क्रुक, डॉ० स्मिथ आदि अपने मतों की पुष्टि में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध कराने में असमर्थ रहे हैं। अग्निकुल का सिद्धान्त मानने वाले विद्वान भी अपने कथन की पुष्टि में ठोस ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। सी० वी० वैद्य ने अग्निकुल के सिद्धान्त को कवि-कल्पना माना है। डॉ० दशरथ शर्मा के अनुसार, अग्निकुल का सिद्धान्त प्रक्षेप हैं। पृथ्वीराजरासो की मौलिक कृति में अग्निकुल कथा वर्णन नहीं मिलता हैं। वीर जातियों के समूह का सिद्धान्त मानने में भी अनेक कठिनाइयां हैं, क्योंकि इस सिद्धान्त की पुष्टि किसी अन्य ठोस ऐतिहासिक साक्ष्य से नहीं होती हैं।

ऐसी स्थिति में राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विदेशी उत्पत्ति का सिद्धांत, अग्निकुल का सिद्धान्त तथा वीर जातियों के समूह का सिद्धान्त को मानना सम्भव नहीं है। आधुनिक अधिकांश विद्वान् राजपूतों को भारतीय ही मानते हैं, जिनमें सी० वी० वैद्य, गौरीशंकर ओझा, धीरेन्द्र चन्द्र गांगुली, डॉ० दशरथ शर्मा, के० एम० मुंशी, कृष्णस्वामी, बैजनाथ पुरी और डॉ० विशुद्धानंद पाठक के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार राजपूतों को भारतीय क्षत्रियों का वंशज मानना एकाएक अनैतिहासिक नहीं होगा। डॉ० विश्वेश्वर स्वरूप ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"भारत में वर्ण और जाति की उत्पत्ति व्यवसाय के आधार पर हुई थी। जब राजपूतों ने क्षत्रियों के कर्त्तव्यों को निभाया है, तो फिर उन्हें एकाएक क्षत्रियों से पृथक् करना ठीक नहीं है।"

इस प्रकार राजपूतों की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न मतों का विवेचनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यद्यपि निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है तथापि अधिकांश विद्वानों के मत तथा उनके द्वारा अपने मतों के समर्थन में दिये गये तर्कों के आधार पर यह विदित होता है कि राजपूत संभवत: वैदिक क्षत्रियों की संतान थे।

प्रश्न

1. राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में आप क्या जानते हैं? 11-12वीं शती में उनकी सामाजिक दशा का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

25

उत्तरी भारत के राजपूत-राज्य

हर्ष की मृत्यु (647 ई०) से लेकर तुर्कों की भारत-विजय (1206 ई०) तक का भारतीय इतिहास राजपूतों की प्रभुता के कारण राजपूत युग के नाम से प्रसिद्ध है। यह युग राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। इस काल में उत्तरी भारत में जहाँ एक ओर अनेक राजवंशों का आविर्भाव हुआ, वहीं दूसरी ओर कला और साहित्य के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। सन् 650 से 1200 ई० के मध्य मुख्यतः निम्नलिखित राजपूत राजवंशों ने उत्तरी भारत में शासन किया।

गुर्जर-प्रतीहार-वंश

उत्पत्ति—अन्य राजपूत वंशों की भाँति गुर्जर-प्रतीहारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान उन्हें विदेशी आक्रांताओं की सन्तान मानते हैं, किन्तु अधिकांश आधुनिक इतिहासकार उन्हें भारतीय क्षत्रियों का वंशज बताते हैं। कर्नल जेम्स टॉड पृथ्वीराजरासो में वर्णित अग्निकुल की कथा को प्रामाणिक मानते हुए गुर्जर-प्रतीहारों को विदेशी आक्रमणकारियों की सन्तान बताते हैं। कैम्प-बैल, जैक्सन, स्मिथ तथा डॉ० भण्डारकर ने गुर्जर-प्रतीहारों को खजर नामक विदेशी जाति की सन्तान बताया है किन्तु आधुनिक विद्वान चिन्तामणि विनायक वैद्य, गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, डॉ० गांगुली, डॉ० दशरथ शर्मा, डॉ० विशुद्धानन्द पाठक आदि गुर्जर-प्रतीहारों को भारतीय मूल का मानते हैं।

गुर्जर-प्रतीहारों की तीन शाखाएँ थीं जो क्रमशः भृगुकच्छ, नान्दीपुरी, मांडव्य-पुर—मेदन्तक और उज्जैन नामक नगरों में शासन करती थीं। इनमें प्रमुख शाखा उज्जैन में शासन करने वाले प्रतीहारों की थी, जिसने मालवा पर अधिकार करके पश्चिम में गुजरात तक के प्रदेशों को विजित करके अपने साम्राज्य का अंग बनाया। इसी शाखा के शासक नागभट्ट द्वितीय ने आयुध-वंश का विनाश करके कन्नौज पर अधिकार कर लिया। तदुपरान्त कन्नौज प्रतीहारों की राजधानी के रूप में विकसित

हुई। नागभट्ट प्रथन उज्जैन के प्रतीहार वंश का पहला शासक था। गुर्जर-प्रतीहार नरेशों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं—

नागभट्ट प्रथम—नागभट्ट प्रथम प्रतीहार वंश का पहला शासक था। विद्वान उसकी राज्यावधि आठवीं शताब्दी के तीसरे और पाँचवें दशकों के मध्य निर्धारित करते हैं। ग्वालियर-प्रशस्ति से विदित होता हैं कि नागभट्ट प्रथम ने म्लेच्छों (जुनैद) की शक्तिशाली सेना को परास्त किया। उसने भड़ौंच के समीप के क्षेत्र अरबों से बलपूर्वक छीनकर अपने सामन्त चाहमान भर्तृवड्ढ को वहाँ का शासक नियुक्त किया। अमोघवर्ष प्रथम के संजन-अभिलेख से विदित होता है कि नागभट्ट को राष्ट्रकूट-वंश के संस्थापक दन्तिदुर्ग से पराजित होना पड़ा।

कुकस्थ नागभट्ट प्रथम के पश्चात उसका भतीजा कुकस्थ (कक्कुक) राजगद्दी पर बैठा। ग्वालियर-प्रशस्ति में उसे 'वंश का यश बढ़ाने वाला' कहा गया है।

देवराज— कुकस्थ के बाद उसका छोटा भाई देवराज राजा बना। ग्वालियर-प्रशस्ति में उसे अनेक राजाओं को पराजित करने वाला कहा गया है।

वत्सराज (775-800 ई०)—देवराज की मृत्यु के पश्चात् 775 ई० में उसका प्रतापी पुत्र वत्सराज राजगद्दी पर बैठा। उसने तत्कालीन अनेक राजाओं को नतमस्तक कर प्रतीहार साम्राज्य का विस्तार किया। उसने मध्य राजपूताना को विजित कर लिया। ग्वालियर-प्रशस्ति में उल्लिखित हैं कि 'कुछ हाथियों द्वारा निर्मित मानो एक प्राचीर के कारण दुर्जय भण्डिकुल से उसने (वत्सराज ने) बलपूर्वक साम्राज्यश्री छीन ली।' विद्वानों का मत है कि वत्सराज के काल में जोधपुर की गुर्जर-प्रतीहार शाखा ने अवन्ति के प्रतीहारों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। 783 ई० में उसने कन्नौज पर आक्रमण करके वहाँ के राजा इन्द्रायुध को अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया।

वत्सराज का समकालीन पाल नरेश धर्मपाल था। उत्तरी भारत में साम्राज्य-विस्तार के उद्देश्य से दोनों में संघर्ष छिड़ गया जिसमें प्रतीहार-नरेश वत्सराज की विजय हुई। राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय के राधनपुर अभिलेख से विदित होता है कि 'मदान्ध वत्सराज ने गौड़ की राज्यलक्ष्मी को आसानी से हस्तगत करके दो राज़छत्रों को छीन लिया था।' पृथ्वीराज विजय से ज्ञात होता है कि—'चाहमान शासक दुर्लभराज ने, जो वत्सराज का सामन्त था, गौड़ देश पर विजय प्राप्त की तथा अपनी तलवार को गंगा सागर के जल से पवित्र किया।' डॉ० मजूमदार के अनुसार यह संघर्ष दोआब में हुआ था। किन्तु अन्य इतिहासकारों के अनुसार वत्सराज और धर्मपाल के मध्य संघर्ष बंगाल में हुआ था।

वत्सराज धर्मपाल को पराजित करने में तो सफल रहा, किन्तु राष्ट्रकूट ध्रुव से उसे पराजित होना पड़ा। गोविन्द तृतीय के वनि-डिण्डोरी और राधनपुर अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ध्रुव ने वत्सराज को पराजित करके कहीं मरुदेश

(राजपूताना) में शरण लेने को विवश किया। इस स्थिति का धर्मपाल ने भरपूर लाभ उठाया। उसने (धर्मपाल ने) कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। धर्मपाल ने वत्सराज का प्रभुत्व स्वीकार करने वाले इंन्द्रायुध को पराजित करके अपने समर्थक चक्रायुध को कन्नौज के राजसिंहासन पर बिठाया। इस अवसर पर उसने एक दरबार का आयोजन किया जिसमें अवन्तिराज (वत्सराज) को विवश होकर शामिल होना पड़ा।

नागभट्ट द्वितीय (800-833 ई०)—वत्सराज की मृत्यु के पश्चात् उसका यशस्वी पुत्र नागभट्ट द्वितीय राजगद्दी पर आसीन हुआ। वह पहला प्रतीहार राजा था जिसने कन्नौज को विजित करके उसे अपनी राजधानी बनाया।

नागभट्ट के पौत्र मिहिरभोज की ग्वालियर-प्रशस्ति में उसकी सैनिक उपलब्धियों का वर्णन मिलता है। ग्वालियर-प्रशस्ति से विदित होता है कि उसने आंध्र, सिन्ध, विदर्भ और कलिंग के राजाओं को अपने अधीन कर लिया, कन्नौज नरेश चक्रायुध को हराया। आगे बढ़ कर उसने गौडनृपति (धर्मपाल) को पराजित किया तथा बलपूर्वक आनर्त्त, मालवा, किरात, तुरुष्क, वत्स और मत्स्य के पर्वतीय दुर्गों को छीन लिया। इतने प्रदेशों का विजेता नागभट्ट द्वितीय राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय से पराजित हुआ। संजन, राधनपुर और मुन्ने अभिलेखों में नागभट्ट द्वितीय के ऊपर गोविन्द तृतीय की विजय का उल्लेख मिलता है। अमोघवर्ष के संजन-अभिलेख से विदित होता है कि गोविन्द ने 'नागभट्ट के सुयश को युद्ध में हर लिया।' राधनपुर अभिलेख से ज्ञात होता है कि गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट द्वितीय के शौर्य को नष्ट कर दिया और वह भय के मारे न जाने स्वयं कहाँ भाग गया, जहां स्वप्न में भी युद्ध न दिखाई दे। यह युद्ध 802 ई० से पूर्व बुन्देलखण्ड में कहीं लड़ा गया था।

चक्रायुध और धर्मपाल की पराजय—उत्तरी भारत को रौंदने के उपरान्त गोविन्द तृतीय तुरन्त दक्षिण लौट गया। उस स्थिति का नागभट्ट द्वितीय ने लाभ उठाया। उसने कन्नौज नरेश चक्रायुध को पराजित करके उसके राज्य को अधिकृत कर लिया। कन्नौज को विजित कर नागभट्ट ने उसे प्रतीहार-राजा की राजधानी बनाया और स्वयं 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' आदि विरुद धारण किए। विद्वानों का मत है कि नागभट्ट द्वितीय के आक्रमण से भयभीत होकर चक्रायुध अपने स्वामी धर्मपाल के यहाँ शरण लेने को भागा। नागभट्ट द्वितीय उसका पीछा करता हुआ पालनरेश धर्मपाल के बिहार वाले क्षेत्र पर चढ़ गया। परिणामतः नागभट्ट द्वितीय और धर्मपाल के मध्य घमासान युद्ध हुआ। अन्त में नागभट्ट की विजय हुई और धर्मपाल पराजित हुआ। भोज की ग्वालियर-प्रशस्ति में कहा गया है कि बंग का राजा (धर्मपाल) 'अपने हाथियों, घोड़ों और रथों के साथ काले घने मेघों के अन्धकार की तरह' आगे बढ़कर उपस्थित हुआ, किन्तु 'त्रिलोकों को प्रसन्न करने वाला नागभट्ट उगते हुए सूर्य की तरह उस अन्धकार को काटने' में सफल रहा। प्रतीहार वाउक के जोधपुर-अभिलेख से विदित होता है कि इस युद्ध में नागभट्ट द्वितीय के सामन्त कक्क ने अपने स्वामी का साथ दिया तथा यह युद्ध मुंगेर में लड़ा गया।

नागभट्ट द्वितीय प्रतीहार वंश का शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। उसने कन्नौज को राजधानी बनाकर प्रतीहार-साम्राज्य का विस्तार किया। वत्सराज और नागभट्ट ने प्रतीहार-राज्य की जो नींव डाली, उसी पर मिहिर भोज ने स्थायी राज्य का महल खड़ा किया। डॉ० मजूमदार ने वत्सराज और नागभट्ट द्वितीय की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"भारत के तत्कालीन इतिहास में वत्सराज और नागभट्ट द्वितीय के राज्यों का विशिष्ट स्थान हैं। दोनों ही महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति थे और सामरिक प्रतिभा दोनों में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी।"

रामभद्र (833-836 ई०)—चन्द्रप्रभसूरिकृत 'प्रभावकचरित' से विदित होता है कि 833 ई० में नागभट्ट द्वितीय ने पवित्र गंगा में जल-समाधि द्वारा अपना प्राण-त्याग किया। जल-समाधि ग्रहण करने से पूर्व उसने अपने पुत्र रामभद्र को राजगद्दी पर बिठाया, जो राम अथवा रामदेव के नाम से भी ज्ञात है। उसने केवल तीन वर्ष (833-836 ई०) तक शासन किया। उसे पाल नरेश देवपाल से पराजित होना पड़ा।

मिहिरभोज (836-885 ई०)—रामभद्र के पश्चात् उसका पुत्र मिहिरभोज राजगद्दी पर बैठा। वह प्रतीहार-वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। दौलतपुर-अभिलेख में उसे 'प्रभास' तथा ग्वालियर चतुर्भुज अभिलेख में 'आदिवराह' की उपाधियों से विभूषित किया गया है। कन्नौज-अभिलेख, दौलतपुर अभिलेख, देवगढ़ अभिलेख, ग्वालियर अभिलेख और पेहवा अभिलेख से मिहिरभोज के शासनकाल की महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। विद्वानों का मत हैं कि मिहिरभोज ने अपने शासन के प्रारम्भिक दस वर्ष प्रशासन को संगठित करने में लगाये। तत्पश्चात् उसका तत्कालीन प्रमुख राजवंशों (पाल और राष्ट्रकूट) के साथ संघर्ष हुआ।

भोज की विजयें—सर्वप्रथम भोज ने कालंजर और गुर्जरत्रा पर अधिकार किया। बराह-अभिलेख से कालंजर और दौलतपुर-अभिलेख से गुर्जरत्रा में भोज के अधिकार की पुष्टि होती हैं। उसने गुहिल और कलचुरियों पर विजय प्राप्त की। बालादित्य के चाटसु-अभिलेख में कहा गया है कि गुहिल राजकुमार हर्षराज ने उत्तर के राजाओं पर विजय प्राप्त की तथा भोज को अश्व उपहार स्वरूप भेंट किए। कहला अभिलेख से विदित होता है कि गोरखपुर के कलचुरिवंशी गुणाम्बोधिदेव ने भोजदेव से कुछ भूमि प्राप्त की। मिहिरभोज को पाल नरेश देवपाल तथा राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष एवं कृष्ण द्वितीय के साथ युद्ध लड़ने पड़े।

प्रतीहार-पाल संघर्ष—पाल नरेश धर्मपाल का पुत्र देवपाल मिहिरभोज का समकालिक था। उत्तरी भारत में साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा के फलस्वरूप दोनों में संघर्ष छिड़ गया। किन्तु इन दोनों में कौन विजयी हुआ। यह प्रमाणित करना कठिन है, क्योंकि दो पक्षों से सम्बन्धित अभिलेख अपनी-अपनी विजय का दावा करते हैं। मिहिरभोज की ग्वालियर-प्रशस्ति से विदित होता है कि जिस 'लक्ष्मी ने धर्म (धर्मपाल) के पुत्र (देवपाल) का वरण किया था, वही बाद में भोज की पुनर्भू' हो गई अर्थात् राज्यलक्ष्मी देवपाल के अधिकार से निकलकर भोज के अधिकार में चली गई। किन्तु दूसरी ओर नारायणपाल के बादल अभिलेख में कहा गया है कि देवपाल

ने 'गुर्जरनाथ के दर्प को चूर किया।' इस सन्दर्भ में विद्वानों का मत है कि देवपाल और भोज में साम्राज्य-विस्तार हेतु दो बार मुठभेड़ हुई—प्रथम, भोज के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में जिसमें भोज पराजित हुआ और दूसरी मुठभेड़ देवपाल के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में हुई जिसमें देवपाल पराजित हुआ।

प्रतीहार-राष्ट्रकूट संघर्ष—मिहिरभोज राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष तथा कृष्ण द्वितीय का समकालिक था। अमोघवर्ष उदार एवं शान्तिप्रिय शासक था। आन्तरिक संघर्षों के कारण भी उसे इस ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला। अमोघवर्ष की इस स्थिति का लाभ उठाते हुए भोज राष्ट्रकूट-राज्य पर टूट पड़ा। किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। राष्ट्रकूटों की गुजरात शाखा के सामन्त ध्रुव द्वितीय ने भोज को पराजित कर डाला। ध्रुव के 867 ई० के वागुम्रा-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उस ने 'अपने ज्ञातियों (कुल्यों) की सहायता से सज्ज, लक्ष्मी से युक्त, युद्ध के लिए लालायित गुर्जर की अत्यन्त बलवान सेना को बड़ी आसानी से पराङ्मुख कर दिया।' भोज अपनी इस पराजय का बदला लेने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील था। अतः प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों में पुनः संघर्ष छिड़ गया। बारातों-संग्रहालय-अभिलेख से विदित होता है कि भोज ने मान्यखेट की मुख्य शाखा के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय (878-911 ई०) को त्वरित करके वापस अपने देश लौट जाने को विवश किया। डॉ० विशुद्धानन्द पाठक का मत है कि यह युद्ध सम्भवतः नर्मदा के किनारे अवन्ति पर अधिकार के लिए लड़ा गया।

उत्तर-पश्चिमी अभियान—साम्राज्यवादी मिहिरभोज ने उत्तर-पश्चिम के प्रदेशों को भी विजित किया। उसने सतलज नदी के पूर्व की ओर के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। कल्हणकृत राजतरंगिणी में थक्कय-वंश के राज्य के कुछ भागों पर भोज का अधिकार था। मिहिरभोज के शासन-काल में प्रतीहार-वंश अपने उच्च शिखर पर था। उसका राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर पूर्व में पाल-साम्राज्य की पश्चिमी सीमा तक, दक्षिण-पूर्व में कौशाम्बी तथा दक्षिण में बुन्देलखण्ड से लेकर पश्चिम में राजपूताने के बहुत बड़े भू-भाग तक विस्तृत था।

मूल्यांकन—भोज प्रतीहार-वंश का महान सम्राट था। आन्तरिक संगठन को सुदृढ़ स्वरूप प्रदान कर उसने प्रतीहार-साम्राज्य का निरन्तर विस्तार किया। भोज ने पश्चिमी भागों से भारत में प्रवेश करने वाले अरब आक्रमणकारियों का डटकर मुकाबला किया। अरब यात्री सुलेमान ने उसके सम्बन्ध में लिखा है—"इस राजा के पास बहुत बड़ी सेना है और किसी अन्य राजा के पास उसकी जैसी अश्व सेना नहीं है। वह अरबों का शत्रु है। भारतवर्ष के राजाओं में उससे बढ़कर इस्लाम धर्म का कोई शत्रु नहीं है। उसका राज्य जिह्वा के आकार का है। वह धन और वैभव से सम्पन्न है और उसके पास बहुत अधिक संख्या में घोड़े और ऊँट हैं। भारतवर्ष में उसके अतिरिक्त कोई राज्य नहीं है जो डाकुओं से इतना सुरक्षित हो।" शत्रु-भाव रखने वाले लेखकों द्वारा प्रस्तुत यह प्रशंसात्मक विवरण निस्सन्देह भोज की महत्ता

का द्योतक है। भोज ने उत्तरी भारत में अपनी धाक जमा ली थी। उसने अनेक राजवंशों को पराजित किया और तुर्क आक्रांताओं का डटकर सामना किया। भोज की प्रशंसा करते हुए डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—"भोज को अपने राज्य में शान्ति बनाये रखने तथा उसे बाह्य खतरों से बचाने में एक योग्य और शक्तिशाली शासक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त थी। वह मुसलमानों के आक्रमण के सम्मुख एक दीवार की तरह खड़ा रहा तथा इस कार्य को उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक पवित्र विरासत के रूप में छोड़ा।"[1]

महेन्द्रपाल प्रथम (885-910 ई०)—मिहिरभोज के बाद 885 ई० में महेन्द्रपाल प्रथम राजगद्दी पर आसीन हुआ। अभिलेखों में उसे महेन्द्रपाल, महेन्द्रपालदेव, महिन्द्रपाल, महेन्द्रयुध और महिषपालदेव के नामों से सम्बोधित किया गया था। उसके राजकवि ने उसके निर्भयराज, निर्भयनरेन्द्र तथा रघुकुल चूड़ामणि के नामों का उल्लेख किया है जो उसके विरुद जान पड़ते हैं। महेन्द्रपाल के अभिलेखों की संख्या मिहिरभोज के अभिलेखों से अधिक है। बिहार और बंगाल के कई स्थानों पर उसके अधिकार-सूचक अभिलेख मिले हैं। विद्वानों का मत है कि महेन्द्रपाल प्रथम ने पाल नरेश नारायणपाल को पराजित करके उसके राज्य के कुछ प्रदेश छीन लिए। वह प्रतीहार वंश का एक मात्र सम्राट था जिसने अपने प्रतिद्वन्द्वी पालों के राज्य में घुस कर उन्हें मात दी और जीवन-पर्यन्त उनसे छीने हुए प्रदेशों पर अधिकार बनाये रखने में सफल रहा। उसने राष्ट्रकूटों को पराजित करके गुजरात को अधिकृत कर लिया। किन्तु बाद में कृष्ण द्वितीय ने गुजरात को विजित कर लिया। अतः गुजरात पर महेन्द्रपाल का अधिकार अस्थायी सिद्ध हुआ।

महेन्द्रपाल प्रतीहार वंश का एक प्रतापी राजा था। उसने उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त पैतृक साम्राज्य को न केवल अक्षुण्ण रखा, बल्कि पूर्व की ओर उसका विस्तार भी किया। वह महान योद्धा होने के अतिरिक्त साँस्कृतिक क्षेत्र में भी अभिरुचि रखता था। उसके दरबारी कवि राजेश्वर मे संस्कृत भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना करके कन्नौज की प्रतिष्ठा को अमर कर दिया।

भोज द्वितीय (910-912 ई०)—महेन्द्रपाल के बाद भोज द्वितीय राजा हुआ। उसके अत्यल्प शासनकाल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता।

महीपाल प्रथम (912-945 ई०)—भोज द्वितीय के पश्चात् महीपाल प्रथम ने शासन किया। उसके शासनकाल में बगदाद निवासी अल् मसूदी ने भारत की यात्रा की थी। उसके अनुसार महीपाल चारों ओर से शत्रुओं से घिरा था। राजशेखर ने महीपाल को 'रघुकुलमुक्तामणि' तथा 'आर्यावर्त्त का महाराजाधिराज' कहा है।

---

1. "Bhoja had the reputation of strong ruler, able to maintain peace in his kingdom and defend it against external danger. He stood as bulwark of defence against Muslim aggression and left his task as a sacred legacy to his successors."

—Dr. R.C. Majumdar

अपने पूर्वजों की नीति का अनुसरण करते हुए राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय ने उत्तरी भारत पर आक्रमण कर दिया। उसने शक्तिशाली प्रतीहार नरेश महीपाल प्रथम को पराजित करके भाग जाने को बाध्य किया। गोविन्द चतुर्थ के खम्भात अभिलेख में कहा गया है कि इन्द्र के 'मदस्रावी हाथियों की दांतों की चपेट से काल-प्रिय (उज्जैन के महाकाल) मंदिर का मंडप-क्षेत्र ऊबड़-खाबड़ हो गया।' उसके घोड़ों ने 'सिंधु प्रतिस्पर्द्धिनी और तलहीन यमुना नदी को पार किया और उसने कुशस्थल नाम से प्रसिद्ध महोदय नगर कन्नौज को समूल उखाड़ फेंका।' कन्नड़ कवि पम्प कृत 'पम्प भारत' में उल्लिखित है कि उसने (इन्द्र ने) 'घुर्ज्जरराज की सेनाओं को पराजित करके भगा दिया।' आंतरिक कलह के कारण इन्द्र तृतीय को शीघ्र ही स्वदेश लौटना पड़ा। इन्द्र तृतीय के लौटते ही अपने चंदेल सामंत हर्ष की सहायता से महीपाल ने कन्नौज यर पुनः अधिकार कर लिया। उसने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया। चन्देल नरेश हर्ष, गुहिलराज भट्ट तथा कलचुरि नरेश भामान ने महीपाल की विशेष मदद की। महीपाल की विजयों का उल्लेख करते हुए कवि राजशेखर ने लिखा—"महीपाल ने मुरलों के शिरों की शाखाओं के केश-समूहों को झुका दिया, मेकलों को अग्नि समान जला डाला, कलिंग (राज) को युद्ध में भगा दिया, केरलेन्द्र अर्थात् केरलराज की केलि का अन्त किया, कुलूतों को जीता, कुन्तलों के लिए कुल्हाड़ी का काम किया, तथा रमठों की श्री (राज्य) को बलपूर्वक छीन लिया।" चाटसु अभिलेख से राष्ट्रकूटों पर और कहल-अभिलेख से धारा नगरी पर महीपाल की विजयों का उल्लेख मिलता है। किन्तु उसे अपने शासन काल के अंतिम चरणों में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय से पराजित होना पड़ा। कृष्ण तृतीय के 940-941 ई० के देवली अभिलेख तथा 958-958 ई० के कर्हाट-अभिलेख में यह विवरण मिलता है—"यह सुनने पर कि अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टिमात्र से ही उसने (कृष्ण तृतीय ने) दक्षिण दिशा के सभी दुर्गों पर विजय कर ली है, गुर्जर-राजा के मन में कालंजर और चित्रकूट के दुर्गों के पुनः वापस मिलने की आशा समाप्त हो गई।" महीपाल के वृद्ध हो जाने के कारण ही बुंदेलखंड के ये दोनों प्रदेश उसके हाथ से निकल गये।

महेन्द्र पाल द्वितीय (945-948 ई०)—महीपाल के पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्र पाल द्वितीय राजा हुआ। 946 ई० में कन्नौज से प्रकाशित एक अभिलेख से उसके संबंध में प्रकाश पड़ता है। विद्वानों का मत है कि महेन्द्रपाल द्वितीय के शासन काल में प्रतीहार साम्राज्य की शक्ति क्षीण पड़ने लगी थी।

देवपाल (948-950 ई०)—महेन्द्रपाल द्वितीय के पश्चात् उसका छोटा भाई देवपाल राजगद्दी पर बैठा। खजुराहो से प्राप्त एक अभिलेख से विदित होता है कि चन्देल नरेश यशोवर्मा ने बलपूर्वक कालंजर का किला देवपाल से छीन लिया। उसमें कहा गया है कि वह (यशोवर्मा) 'गुर्जरों के लिए एक जलती हुई अग्नि के समान था।' आहाड़ा अभिलेख से ज्ञात होता है कि देवपाल गुहिलराज अल्लट द्वारा युद्ध में मारा गया।

विनायकपाल द्वितीय—देवपाल की मृत्यु के पश्चात् महेन्द्रपाल द्वितीय का

पुत्र विनायकपाल राजगद्दी पर आसीन हुआ। उसके शासन काल की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख अज्ञात हैं।

विनायकपाल के उत्तराधिकारी—विनायकपाल द्वितीय के पश्चात् महीपाल द्वितीय ने शासन किया। डॉ. त्रिपाठी और डॉ. पुरी ने उसे मात्र सामंत शासक बताया है। महीपाल के पश्चात् उसका पुत्र विजयपाल राजगद्दी पर बैठा। वह एक अत्यन्त दुर्बल शासक सिद्ध हुआ। तत्पश्चात् राज्यपाल, त्रिलोचनपाल और यश:पाल ने शासन किया। किन्तु वे इतने योग्य सिद्ध नहीं हुए कि पतन की ओर उन्मुख प्रतीहार साम्राज्य की रक्षा का दायित्व निभा पाते। केन्द्रीय शक्ति की दुर्बलता के कारण सामंतों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। विजयपाल और राज्यपाल की दुर्बलता का लाभ उठाकर गुजरात-कठियावाड़ के चालुक्य वंश ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। अवंति (मालवा) में वाक्पतिराज द्वितीय (मुंज) के नेतृत्व में परमार दक्षिण-पश्चिमी में चौलुक्यों और दक्षिण में परवर्ती चालुक्यों से राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा करने लगे। कलचुरि और चाहमानों ने भी अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना कर दी। दसवीं शती के अन्त और ग्यारहवीं शती के प्रारंभ में पंजाब के वे पश्चिमी भाग, जो प्रतीहारों के अधीन थे, सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी के नेतृत्व में तुर्कों ने अधिकृत कर लिए।

गुर्जर-प्रतीहार साम्राज्य का मूल्यांकन—भारतवर्ष के इतिहास में गुर्जर प्रतीहारों का अपना विशिष्ट स्थान है। नवीं शती के प्रारंभ से दसवीं शती के मध्य तक प्रतीहार साम्राज्य की प्रतिष्ठा अपने उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित रही। पालों और राष्ट्रकूटों से निरंतर संघर्षरत रहने के बावजूद प्रतीहार सत्ता संपूर्ण उत्तरी भारत को एक राजनीतिक और प्रशासकीय सूत्र में बांधे रही। विस्तार की दृष्टि से केवल मौर्य-साम्राज्य ही उससे बड़ा था। गुप्त और हर्ष-साम्राज्य प्रतीहार साम्राज्य की अपेक्षा कम विस्तृत थे। प्रतीहार सम्राटों ने अरब आक्रांताओं का डटकर मुकाबला किया। प्रतीहार-साम्राज्य के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—"प्रतीहार साम्राज्य जो कि लगभग एक शताब्दी तक पूर्ण गौरव पर रहा, मुस्लिम विजय से पूर्व उत्तरी भारत में अन्तिम महान साम्राज्य था। यद्यपि यह सम्मान कई इतिहासकारों द्वारा हर्ष-साम्राज्य को दिया गया है, किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि प्रतीहार-साम्राज्य हर्ष-साम्राज्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत था और कम तो किसी भी दशा में नहीं था। अवधि में भी यह हर्ष-साम्राज्य से दीर्घ था। यह हमें गुप्त साम्राज्य का स्मरण कराता है और कुछ सीमा तक उसकी बराबरी करता था। प्रतीहार साम्राज्य ने भारत में राजनीतिक एकता उत्पन्न की। फलतः सुख और शांति स्थापित हुई। परन्तु इसका महत्वपूर्ण कार्य पश्चिम से होने वाले विदेशी आक्रमणों का डटकर मुकाबला करता था। जुनैद से लेकर महमूद गजनवी के आक्रमणों तक प्रतीहार-सम्राट् मुस्लिम आक्रमणों के विरुद्ध भारत की रक्षा की दीवार बनकर खड़े हो गये। इस तथ्य को अरब इतिहासकारों ने भी स्वीकार किया है।"

प्रतीहार नरेशों ने जहां एक ओर अपने साम्राज्य का विस्तार करने का प्रयत्न किया, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक प्रगति के प्रति भी वे विशेष जागरूक रहे। उनके चरमोत्कर्ष के दिनों में कन्नौज भारतीय सांस्कृतिक और सभ्यता का केन्द्र बन गया जहां देश के सभी भागों के विद्वान और कलाकार जुटने लगे तथा अन्य भारतीय प्रदेशों के निवासी वेषभूषा, बोलचाल और रीति-रिवाजों में वहां के लोगों का अनुकरण करने लगे। कन्नौज की अपनी निराली शान थी। 'उस नगर का सिर आसमान को छूता था' तथा 'शक्ति और सौन्दर्य में कन्नौज इस बात का अभिमान कर सकता था कि उसकी प्रतिद्वंद्विता करने वाला दूसरा नगर नहीं था।' प्रतीहार साम्राज्य की छाया में पल्लवित मथुरा नगर अपने भव्य मंदिरों की विशालता और सौन्दर्य से महमूद गजनवी जैसे कट्टर मूर्तिभंजक और मंदिर-विध्वंसक को आकृष्ट किए बिना नहीं रहा।

पाल वंश

प्रारंभ में बंगाल शक्तिशाली गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत था। बाद में शशांक नामक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ने बंगाल में अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी। शशांक की मृत्यु के उपरांत एक शताब्दी तक बंगाल में दीर्घकालीन अराजकता व्याप्त हो गई। इस दीर्घकालीन अराजकता से मुक्ति पाने हेतु वहां की जनता ने वीर एवं महत्वाकांक्षी गोपाल को 750 ई० में अपना राजा चुना।

पालों की उत्पत्ति—पालों की उत्पत्ति के संबंध में विद्वान एक मत नहीं हैं। महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री पालों की उत्पत्ति खड्‌गों से बताते हैं। कमौली अभिलेख में विग्रहपाल तृतीय को सूर्यवंशी कहा गया है। रामचरित के टीकाकार ने रामपाल का उल्लेख क्षत्रिय राजा की संतान के रूप में किया है। तारानाथ के अनुसार गोपाल क्षत्रिय माता से उत्पन्न हुआ था। डॉ० विशुद्धानंद पाठक का मत है कि किसी उच्चकुल से संबंधित न होने के कारण पाल शासक बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख हुए हों, जो जन्म से ही नहीं कर्म से किसी को बड़ा अथवा छोटा मानता था। बाद में जब पाल शासक एक शक्तिशाली और विस्तृत भू-भाग के स्वामी बन गये तो उन्हें क्षत्रिय मान लिया गया और राष्ट्रकूट तथा हैहय जैसे तत्कालीन शक्तिशाली और ख्यातिप्राप्त राजपरिवारों से उनके विवाह सम्बन्ध होने लगे। पालवंश का संस्थापक गोपाल 750 ई. में बंगाल की राजगद्दी पर आसीन हुआ।

गोपाल (सन् 750-770)—शशांक की मृत्यु के उपराँत बंगाल में व्याप्त अराजकता को दूर करने के लिए बंगाल की प्रजा ने गोपाल को अपना राजा चुना। गोपाल के पुत्र धर्मपाल के खालिमपुर अभिलेख से विदित होता है कि तत्कालीन राजनीतिक अव्यवस्था से मुक्ति पाने के लिए प्रकृतियों ने गोपाल को लक्ष्मी की बांह पकड़ाई अर्थात् राजा चुना। उसने संपूर्ण बंगाल पर अधिकार करने के उपरांत अनेक विजयें कीं। गोपाल के पौत्र देवपाल के मुंगेर अभिलेख में उसे समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी का विजेता कहा ग़या है। ठोस ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में गोपाल के

साम्राज्य-विस्तार और सैनिक उपलब्धियों के बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उसने सन् 750 से 770 तक राज्य किया।

धर्मपाल (770-810 ई०)—770 ई0 में गोपाल की मृत्यु के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र धर्मराज राजगद्दी पर बैठा। उसने उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त पैतृक साम्राज्य का निरंतर विस्तार किया। धर्मपाल का शासनकाल संघर्ष तथा राजनीतिक उथल-पुथल के वातावरण में व्यतीत हुआ। उसके काल में गुर्जर-प्रतीहार उत्तरी भारत में निरंतर साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्नशील थे तथा राष्ट्रकूट नरेश उत्तरी भारत की राजनीति में बराबर हस्तक्षेप कर रहे थे। धर्मपाल एक पराक्रमी और महत्वाकांक्षी सम्राट था। वह उत्तरी भारत का स्वामी बनना चाहता था। अतः धर्मपाल का प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के साथ संघर्ष स्वाभाविक था।

प्रतीहार आक्रमण—प्रतीहार नरेश वत्सराज ने उज्जैन और राजपूताना पर अधिकार स्थापित कर कन्नौज नरेश इन्द्रायुध को पराजित कर डाला। धर्मपाल भी पूर्व की ओर साम्राज्य विस्तार हेतु इच्छुक था। अतः दोनों में मुठभेड़ स्वाभाविक थी। राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय के राधनपुर अभिलेख से विदित होता है कि वत्सराज ने गौड़राज के दो श्वेत छत्रों को विजित कर लिया जिन्हें उससे ध्रुव ने जीत लिया। वनी-डिण्डोरी-अभिलेख से ज्ञात होता है कि वत्सराज ने गौड़ की राज-लक्ष्मी को बड़ी आसानी से छीन लिया। पृथ्वीराजविजय के अनुसार चाहमान शासक दुर्लभराज ने गौड़ देश को विजित कर अपनी तलवार को गंगा सागर के जल से पवित्र किया। दुर्लभराज वत्सराज का सामंत था।

राष्ट्रकूट आक्रमण—राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने वत्सराज को पराजित करके धर्मपाल को भी परास्त कर डाला। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के संजान अभिलेख से विदित होता है कि ध्रुव ने धर्मपाल को गंगा-यमुना के दोआब में हराया। बड़ौदा-अभिलेख में कहा गया है—"अपनी तरंगों से सुन्दर लगने वाली गंगा और यमुना को अपने शत्रुओं से जीतकर यशःमूर्ति ध्रुव ने वह अधिराज्य प्राप्त किया जो (उन नदियों द्वारा) दृश्य रूप में प्रकट होता था।"

धर्मपाल की दिग्विजय—उत्तरी भारत पर ध्रुव का आक्रमण केवल एक छाया मात्र था। ध्रुव ने वत्सराज को पराजित कर कहीं मरुदेश में शरण लेने को बाध्य किया। वत्सराज और धर्मपाल को पराजित करने के पश्चात् ध्रुव अपने राज्य को वापस लौट गया। धर्मपाल ने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। उसके खालिमपुर-अभिलेख से विदित होता है कि उसने (धर्मपाल ने) 'कान्यकुब्ज के सम्राट रूप में स्वयं को अभिषिक्त कराने का अधिकार प्राप्त करते हुए भी पंचाल देश के प्रसन्न वृद्धों द्वारा उठाये गये अभिषेकलश से कान्यकुब्ज के राजा का अभिषेक करवाया, जिसे भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवंति, गांधार, और कीर के राजाओं ने अपना सिर झुकाकर साधुवाद करते हुए स्वीकार किया।' नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख से भी इस कथन की पुष्टि होती है। उसमें कहा गया है—धर्मपाल ने इन्द्र राज और अन्य शत्रुओं को हराकर महोदय (कन्नौज) नगर पर अधिकार प्राप्त करते

हुए भी याचक चक्रायुध को वैसे ही वापस कर दिया जैसे बलि ने इन्द्र आदि शत्रुओं को जीतकर भी वामन रूप विष्णु को तीनों लोकों का दान कर दिया था।" ग्यारहवीं शताब्दी के गुजराती कवि सोढ्ढल ने धर्मपाल को 'उत्तरापथस्वामी' की उपाधि से विभूषित किया है। विद्वानों का मत है कि सन् 790-800 ई० तक धर्मपाल उत्तरी भारत की प्रमुख सत्ता बन गया था। इस अवधि में बिहार और बंगाल उसके राज्यांतर्गत आते थे। बिहार के पश्चिमोत्तर से पंचाल तक का अधिकांश प्रदेश उसके द्वारा प्रतिष्ठापित कन्नौज राज्य के स्वामी चक्रायुध के माध्यम से उसकी अधिसत्ता स्वीकार करते थे।

राष्ट्रकूट और प्रतीहार आक्रमण—800 ई० के बाद धर्मपाल को राष्ट्रकूटों और प्रतीहारों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। दोनों युद्धों में उसे पराजय का मुंह देखना पड़ा। अमोघवर्ष प्रथम के संजान-अभिलेख से विदित होता है कि गोविन्द तृतीय के सम्मुख धर्मपाल और चक्रायुध स्वयं झुक गये। इस प्रकार धर्मपाल ने गोविन्द तृतीय के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। गोविन्द तृतीय के दक्षिण लौटने के पश्चात् गुर्जर-प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय ने धर्मपाल द्वारा संरक्षित कन्नौज नरेश चक्रायुध को पराजित करके कन्नौज पर अधिकार कर लिया। अपने द्वारा संरक्षित चक्रायुध की नागभट्ट द्वारा पराजय धर्मपाल के लिए अपमानजनक बात थी। अतः दोनों में संघर्ष छिड़ गया। भोज की ग्वालियर-प्रशस्ति में कहा गया है "बंग का राजा धर्मपाल अपने हाथियों, घोड़ों और रथों के साथ काले घने बादल की तरह युद्ध में आ डटा, किन्तु त्रिलोकों को प्रसन्न करने वाला नागभट्ट उगते हुए सूर्य की तरह उस अंधकार को काटने में सफल रहा।" यह युद्ध मुंगेर में लड़ा गया।

मूल्यांकन—तत्कालीन उत्तरी भारत के इतिहास में धर्मपाल निस्संदेह एक महान शासक था। तिब्बती परंपराओं से विदित होता है कि धर्मपाल बौद्ध धर्मानुयाई था। बौद्धधर्म का अनुयाई होने पर भी वह अन्य धर्मों के प्रति आदर भाव रखता था। उसने विक्रमशीला विश्वविद्यालय की स्थापना की। वह विद्यानुरागी सम्राट था। उसकी सभा में हरिभद्र नामक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् रहता था। वह एक पराक्रमी सम्राट था। उसने 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज' और 'परमेश्वर' की उपाधियां धारण कीं। गौड़ के साम्राज्य का जो स्वप्न शशांक ने देखा था उसे धर्मपाल ने सिद्ध कर दिखाया। डॉ. सिन्हा का कथन है कि धर्मपाल एक महान विजेता था जिसने उग्र विरोध और तीव्र संघर्ष के वातावरण में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। वह महान् विजेता, कुशल प्रशासक, विद्या तथा कलाप्रेमी एवं धार्मिक सहिष्णु सम्राट था। डॉ. मजूमदार ने धर्मपाल की प्रशंसा करते हूए लिखा है 'धर्मपाल सौ युद्धों का नायक था। उसे अनेक कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, जबकि न केवल उसका बल्कि बंगाल का भाग्य भी बीच में लटकता था, परन्तु वह आपत्तियों के सम्मुख कभी विचलित नहीं हुआ। उसने सभी कठिनाइयों पर नियंत्रण प्राप्त कर महत्त्वपूर्ण सफलता अर्जित की। राजनीतिक क्षेत्र में उसकी विजयें अद्भुत थीं।'

देवपाल (810-850)—धर्मपाल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र देवपाल राजगद्दी पर आसीन हुआ। इतिहासकारों ने उसे योग्य पिता का योग्य पुत्र कहा है। वह अपने पिता की तरह पराक्रमी और महत्त्वाकांक्षी था। उसने अपने पिता की भाँति 'परमेश्वर', 'परमभट्टारक' तथा 'महाराजाधिराज' जैसी साम्राज्यसूचक उपाधियाँ धारण कीं। मुंगेर-अभिलेख एवं नारायणपाल के बादल तथा भागलपुर से प्राप्त अभिलेखों में उसकी विजयों का उल्लेख मिलता है। मुंगेर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर हिमालय से लेकर विंध्याचल पर्वत तक और पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक शासन किया।

विजयें—देवपाल के मुंगेर-अभिलेख में कहा गया है कि उसकी विजयिनी सेनाओं ने विंध्यगिरि और कम्बोज तक अभियान किया। देवपाल ने रामचन्द्र द्वारा बाँधे गये पुल (रामेश्वरम के आगे) के पास की भूमि पर शासन किया। बादल अभिलेख में उल्लिखित है कि दर्भपाणि की सफल कूटनीति ने रेवा अर्थात् नर्मदा के पिता (उद्गम स्थल) विंध्याचल और गौरी (पार्वती) के पिता हिमालय के बीच स्थित पश्चिमी पयोधि से पूर्व पयोधि तक के समस्त क्षेत्र को देवपाल का करद बना दिया। दर्भपाणि के पौत्र केदार मिश्र की कुशाग्र बुद्धि की सहायता से 'उसने उत्कलों को उखाड़ फेंका, हूणों का दर्प चूर किया एवं द्रविड़ तथा गुर्जर राजाओं के घमण्ड को बिखेर कर समुद्र से घिरी हुई सारी पृथ्वी का उपभोग किया।' नारायणपाल के भागलपुर-अभिलेख में कहा गया है कि देवपाल के भाई और सेनापति जयपाल के सामने 'उत्कल का राजा अपनी राजधानी छोड़कर भाग गया तथा प्राग्जोतिष के राजा ने उसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करते हुए अपने राज्य पर शासन किया।' डॉ० त्रिपाठी और कीलहर्न महोदय ने देवपाल की विजय सम्बन्धी इन वर्णनों को 'कोरी बड़ी बात' कहा है।

गुर्जर-प्रतीहारों से युद्ध—बादल-अभिलेख से विदित होता है कि देवपाल ने 'गुर्जरनाथ का दर्प चूर किया।' डॉ० मजूमदार और डॉ० त्रिपाठी का मत है कि देवपाल द्वारा पराजित होने वाला गुर्जरनाथ भोज प्रथम था जब कि भोज प्रथम की ग्वालियर प्रशस्ति में यह वर्णन मिलता है कि 'लक्ष्मी ने धर्म (धर्मपाल) के पुत्र (देवपाल) का वरण किया और वही बाद में भोज की पुनर्भू (दूसरा पति करने वाली) हो गई।' कहल-अभिलेख में कहा गया है कि भोज से भूमि प्राप्त करने वाले कलचुरि सामन्त गुणाम्बोधिदेव ने गौड़राज की लक्ष्मी का हरण किया था। इन परस्पर विरोधी वर्णनों के कारण यह कहना कठिन है कि देवपाल और भोज के मध्य हुए संघर्ष में कौन विजयी हुआ।

उत्कल और द्रविड़ नरेश पर विजय—भागलपुर और बादल अभिलेखों में देवपाल की उत्कल-विजय का उल्लेख मिलता है। भागलपुर-अभिलेख में कहा गया है कि जयपाल (देवपाल का चचेरा भाई और सेनापति) की सेनाओं से भयभीत हो कर उत्कल का राजा भाग खड़ा हुआ। बादलपुर अभिलेख में यह उल्लेख मिलता है

कि देवपाल ने उत्कलों को उखाड़ फेंका। बादल-अभिलेख में यह भी कहा गया है कि देवपाल ने द्रविड़ों (पल्लवों) का घमण्ड तोड़ा।

मूल्यांकन—देवपाल अपने वंश का सबसे बड़ा विजेता था। उसके साम्राज्य की सीमाएँ पूर्व में कामरूप, दक्षिण में कलिंग, पश्चिम में विंध्य और मालवा तक विस्तृत थीं। उसने दक्षिण में द्रविड़ों को पराजित किया और राष्ट्रकूटों को आगे बढ़ने का अवसर नहीं दिया। अरब यात्री सुलेमान देवपाल की विशाल और शक्तिशाली सेना का उल्लेख करता है। धर्मपाल के शासनकाल में राष्ट्रकूटों और प्रतीहारों के आक्रमणों से पाल साम्राज्य को जो धक्का लगा, देवपाल ने उसमें नवीन चेतना का संचार कर दिया। देवपाल विद्याप्रेमी और बौद्ध मतावलम्बी था। उसने नालंदा और विक्रमशीला के विहारों के पल्लव और विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। डॉ० मजूमदार ने धर्मपाल और देवपाल की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"धर्मपाल और देवपाल के शासनकाल बंगाल के इतिहास में सर्वाधिक गौरवपूर्ण अध्याय हैं। इससे पहले अथवा अंग्रेजों के आगमन तक उसके बाद बंगाल ने कभी भी भारतीय राजनीति में ऐसा महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लिया। निस्सन्देह देवपाल योग्य पिता का योग्य पुत्र था। उसके शासनकाल में पाल-साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था।

विग्रहपाल प्रथम (850-854 ई०)—देवपाल के पश्चात् उसके चचेरे भाई जयपाल का पुत्र विग्रहपाल प्रथम राजगद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। पाल अभिलेखों में विग्रहपाल को शत्रुओं का नाश करने वाला तथा यज्ञ में रुचि रखने वाला कहा गया है।

नारायणपाल (854-915 ई०)—विग्रहपाल प्रथम द्वारा राज त्याग करने के उपरान्त उसका पुत्र नारायणपाल राजा हुआ। वह शांतिप्रिय शासक था और उसमें सामरिक प्रतिभा की कमी थी। उसके शासनकाल में पाल-साम्राज्य विघटित होने लगा था। उसकी अधीनता स्वीकार करने वाले कामरूप और उड़ीसा-राज्य स्वतन्त्र हो गये। उसे राष्ट्रकूट और प्रतीहार राजाओं से पराजित होना पड़ा। अमोघवर्ष प्रथम के नीलगुण्ड और सिरूर से प्राप्त अभिलेखों से विदित होता है कि अंग, बंग और मगध के राजा उसकी पूजा करते थे। अमोघवर्ष प्रथम के पुत्र कृष्ण द्वितीय ने नारायणपाल को पराजित किया। कृष्ण तृतीय के अभिलेखों में कहा गया है कि कृष्ण द्वितीय ने 'गुरु की तरह पालों को विनम्रता का पाठ पढ़ाया तथा अंग, कलिंग, गंग और मगध' उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। प्रतीहार-नरेश मिहिरभोज और महेन्द्रपाल ने नारायणपाल को पराजित करके पाल-साम्राज्य के अधिकांश क्षेत्र को अधिकृत कर लिया। महेन्द्रपाल ने सम्पूर्ण बिहार और छोटा नागपुर नारायणपाल से विजित कर लिए। किन्तु अपने शासनकाल के अंतिम चरणों में नारायणपाल ने प्रतीहार नरेश महीपाल प्रथम से मगध और उत्तरी बंगाल के प्रदेशों को विजित कर लिया।

राज्यपाल (915-940 ई०)—नारायणपाल के उत्तराधिकारी ने राष्ट्रकूट राजकुमारी भाग्यदेवी से विवाह किया। इस विवाह सम्बन्ध के फलस्वरूप पालों और

राष्ट्रकूटों के मध्य मधुर सम्बन्ध हो गये। राज्यपाल ने ऊँचे-ऊँचे मन्दिरों और तालाबों का निर्माण करवाया। उसका राज्यकाल प्रायः शांतिपूर्ण रहा।

गोपाल द्वितीय (940-960 ई०)—राज्यपाल के पश्चात् गोपाल द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। गोपाल के अभिलेखों से बिहार और उत्तरी बंगाल पर उसके अधिकार की पुष्टि होती है।

विग्रहपाल द्वितीय (960-988 ई०)—गोपाल द्वितीय के बाद विग्रहपाल द्वितीय राजा बना। महीपाल के बानगढ़-अभिलेख में उसकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि 'उसके (विग्रहपाल द्वितीय के) युद्ध में लड़ने वाले हाथियों ने पूर्व के जल-प्रचुर देश में मानो मेघों की तरह पानी पिया। स्वेच्छया मलय देश के चन्दन बनों में विचरण किया; अपनी सूँड़ों से पानी के घने छींटे छोड़कर मरुदेश में ठंडक फैलाई और हिमालय की तलहटियों का आनन्द लिया।' गोपाल द्वितीय और विग्रहपाल द्वितीय के शासनकाल की किसी महत्वपूर्ण सैनिक विजय का उल्लेख नहीं मिलता है। उनके राज्यकाल में अन्य राजाओं ने पाल-साम्राज्य पर आक्रमण करके उनके प्रभाव क्षेत्र को सीमित कर दिया।

महीपाल प्रथम (988-1038 ई०)—विग्रहपाल द्वितीय के बाद महीपाल प्रथम राजा हुआ। उसके राज्यभार ग्रहण करते समय पाल साम्राज्य अवनति की स्थिति में था। उनका राज्य मगध तक सीमित रह गया था। महीपाल ने अपने पराक्रम, सामरिक प्रतिभा और राजनीतिक कुशलता का परिचय देते हुए पाल राज्य को पुनः गौरवपूर्ण स्थिति पर पहुंचा दिया। उसके अभिलेखों से दक्षिणी और पूर्वी बंगाल से वाराणसी तक पाल-साम्राज्य का ज्ञान होता है। बानगढ़ नामक स्थान से प्राप्त उसके अभिलेख में कहा गया है कि महीपाल ने 'अपने सभी शत्रुओं को मारकर अपना पैतृक राज्य उन लोगों से पुनः ले लिया, जिन्होंने अपना कोई अधिकार न होते हुए अपने बाहुबल के घमण्ड से उसे छीन लिया था।' उसने 'अपने कमल-चरण राजाओं के सिर पर रखे।' 1022 ई० में दक्षिण के शक्तिशाली चोल नरेश राजेन्द्र चोल ने महीपाल को पराजित कर डाला। एक तमिल-प्रशस्ति में कहा गया है कि चोल सेनापति ने 'शक्तिशाली महीपाल को गहरे समुद्र से प्राप्त एक शंख की ध्वनि से भीषण लड़ाई से (युद्ध स्थल से) भगाकर असाधारण शक्ति वाले हाथी, स्त्रियाँ तथा धन-सम्पदा छीनी। चोल-सेनाओं के वापस लौट जाने के उपरांत महीपाल पुनः पूर्व स्थिति में आ गया। उसने अनेक विजयें कीं।

महीपाल प्रथम देवपाल के पश्चात् पालवंश का सर्वाधिक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। उसने अपने वंश के खोये हुए गौरव की पुनःस्थापना की। नारायणपाल तथा अन्य पाल राजाओं ने जिन प्रदेशों को खो दिया था, महीपाल ने उन्हें पुनः विजित किया। धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी उसकी सेवाएँ प्रभूत थीं। उसने बनारस, सारनाथ, बोधगया और नालन्दा में अनेक बौद्ध विहारों और हिन्दू-मन्दिरों का जीर्णोद्धार और निर्माण कराया। उसने महीपुर नामक नगर बसाया और दिनाजपुर में महीपाल दीघी नामक सरोवर का निर्माण करवाया।

महीपाल के उत्तराधिकारी—महीपाल प्रथम के पश्चात् उसके अयोग्य उत्तराधिकारी साम्राज्य की रक्षा नहीं कर पाये। महीपाल प्रथम के पश्चात् नयपाल (1038-1055 ई०), विग्रहपाल तृतीय (1055-1070 ई०), महीपाल द्वितीय (1070-1075 ई०), रामपाल (1075-1120 ई०), कुमारपाल (1120-1125 ई०), गोपाल तृतीय (1125-1144 ई०), मदनपाल और गोविन्दपाल ने शासन किया। मदनपाल को पराजित करके विजयसेन ने उत्तरी बंगाल में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर दी। इस प्रकार चार शताब्दियों तक गौरवपूर्ण शासन करने के उपरांत पाल-साम्राज्य का पतन हो गया।

सेन-वंश

उत्पत्ति—सेन-वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। सेन नरेश विजयसेन के देवपाड़ा-अभिलेख तथा लक्ष्मणसेन के माधाइनगर-अभिलेख से विदित होता है कि सेन चन्द्रवंशी थे और उनके वंश का प्रारम्भिक पुरुष वीरसेन था। इस वंश के राजा सामन्तसेन को क्षत्रियों का 'कुलशिरोदाम' अथवा सेनवंश का 'ग्रीवमाल' एवं 'दाक्षिणात्य क्षौणीन्द्र' कहा गया है। देवपाड़ा अभिलेख में सामन्तसेन द्वारा कर्णाट लक्ष्मी (धन) के दुष्ट लुटेरों का संहार किए जाने का उल्लेख है। इस प्रकार विदित होता है कि सेन वंश के पूर्व पुरुष मूलतः कर्णाट (आधुनिक पश्चिमी आंध्र प्रदेश और मैसूर के उत्तरी भाग) के निवासी थे, और तत्कालीन कुछ अन्य राजवंशों की तरह अपने को 'ब्रह्म क्षत्रिय' स्वीकार करते थे। डॉ० मुकर्जी का मत है—"ब्रह्म-क्षत्रिय उपाधि यह दर्शाती है कि सामन्तसेन एक ब्राह्मण था, लेकिन उसके उत्तराधिकारियों ने स्वयं को क्षत्रिय कहा।"[1] डॉ० भण्डारकर का मत है कि सेन मूलतः ब्राह्मण थे। किन्तु बाद में क्षत्रिय हो गये और पौरोहित्य को छोड़कर युद्ध-कार्य करने लगे। प्रोफेसर सी० वी० वैद्य सेनों को मूलतः चन्द्रवंशी क्षत्रिय मानते हैं।

अन्त में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि सेन वंशी राजाओं के पूर्वज कर्णाट ब्राह्मण थे जो अध्ययन-अध्यापन और धार्मिक क्रिया-कलापों से अपनी जीविका चलाते थे। सेन-वंश के राजाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

सामन्तसेन—सेनों ने कर्णाट कब छोड़ा, इसका स्पष्ट विवरण अज्ञात है। डॉ० मजूमदार का मत है कि कर्णाट का कोई सेन वंश बंगाल में सामन्तसेन से पहले ही बसा हुआ था, जिसके सम्बन्ध दक्षिण के अपने मूल क्षेत्रों से सामन्तसेन के समय टूटे नहीं थे। सामन्तसेन उन्हीं में एक था जिसने अपना बाल्यकाल कर्णाट में व्यतीत किया। युवावस्था में उसने वहाँ के अनेक युद्धों में सम्मिलित होकर यश प्राप्त किया और वृद्धावस्था में चला आया। सामन्तसेन ने बंगाल में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर राढ़ा के उत्तरी भागों में एक छोटा-सा क्षेत्र अधिकृत कर लिया।

---

1. "The title Brahma-Kshatriya shows that Samantasena was a Brahmin but his successors called themselves simply Kshatriyas."
—*Dr. Mookerjee*

हेमन्तसेन—सामन्तसेन के बाद उसका पुत्र हेमन्तसेन राजा हुआ। सेन वंश के अभिलेखों में सर्वप्रथम उसी के लिए राजस्व के सूचक विरुद प्रयुक्त हुए हैं। विद्वानों का मत है कि पालों के विरुद्ध कैवर्त्तों के विद्रोह एवं बंगाल पर कलचुरि कर्ण के आक्रमण से उत्पन्न अस्थिर राजनीतिक वातावरण में उसे एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लेने का अवसर मिल गया।

विजयसेन—हेमन्तसेन के पश्चात् उसका पुत्र विजयसेन राजगद्दी पर आसीन हुआ। उसने पालों की क्षीण अवस्था का लाभ उठाते हुए पूर्वी बंगाल और उत्तरी बंगाल के बहुत बड़े भाग को अधिकृत कर लिया। विजयसेन के देवपाड़ा अभिलेख से विदित होता है कि उसने नान्य, वीर, राघव, वर्धन, गौड़, कामरूप और कलिंग के राजाओं पर विजय प्राप्त की। उसने मदनपाल को पराजित किया। उसने विजयपुर नामक राजधानी बसाई तथा 'परमेश्वर', 'परमभट्टारक' 'महाराजाधिराज' एवं 'अरिराजवृषभ शंकर' जैसे गौरवपूर्ण विरुद धारण किए। वह शैव मतावलम्बी था।

वल्लालसेन—विजयसेन के बाद उसका पुत्र वल्लालसेन राजगद्दी पर बैठा। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त पैतृक राज्य को अक्षुण्ण रखा और 1162 ई० में पाल नरेश गोविन्दपाल को पराजित करके 'गौडेश्वर' की उपाधि धारण की। बिहार, बंग, वारेन्द्र, राढ़ा, बागड़ी और मिथिला वल्लालसेन के राज्यान्तर्गत थे। उसने 'परममाहेश्वर', 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज' और 'निःशंकशंकर' की उपाधियाँ धारण कीं। वह शैव धर्म का अनुयायी था। वल्लालसेन सांस्कृतिक क्षेत्र में अधिक रुचि रखता था। उसने 'दान सागर' नामक ग्रन्थ की रचना की और 'अद्भुत सागर' नामक ग्रन्थ को लिखना प्रारम्भ किया था जिसे बाद में उसके पुत्र लक्ष्मणसेन ने पूर्ण किया। वल्लालसेन ने गृहस्थ जीवन त्याग कर अपना शेष जीवन त्रिवेणी-संगम पर व्यतीत किया।

लक्ष्मणसेन (1179-1205 ई०)—वल्लालसेन द्वारा राजगद्दी का परित्याग किए जाने के उपरांत लक्ष्मणसेन सिंहासनारूढ़ हुआ। वह अपने वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। बंगाल के विभिन्न स्थानों से उसके शासनकाल के लगभग आठ अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनमें उसकी विजयों और सांस्कृतिक उपलब्धियों का विवरण उल्लिखित है। इन अभिलेखों में कहा गया है कि उसने 'अरिराज-मदनशंकर' और 'गौड़ेश्वर' तथा 'परमवैष्णव' की उपाधियाँ धारण कीं। लक्ष्मणसेन के अभिलेखों से विदित होता है कि उसने सम्पूर्ण गौड, वंग और राढ़ा पर अधिकार कर लिया था। भोवल-अभिलेख और माधाइनगर-अभिलेख लक्ष्मणसेन की गौड़, कामरूप, काशी और कलिंग-विजय का उल्लेख करते हैं। वह एक पराक्रमी योद्धा था।

सेन-राज्य का विघटन—1202 ई० में तुर्क सेनापति बख्तियार खिलजी ने लखनौती पर आक्रमण कर दिया। वह अपने सैन्य-दल सहित लक्ष्मणसेन के दरबार में घुस गया। तुर्कों के आक्रमण से भयभीत होकर लक्ष्मणसेन बंग (दक्षिण-पूर्वी बंगाल) भाग गया। बख्तियार खिलजी ने सरलतापूर्वक उत्तरी बंगाल को विजित कर लिया। भोवल-अभिलेख से विदित होता है कि बख्तियार खिलजी के आक्रमण (1202 ई०)

के चार वर्ष बाद (1206 ई०) तक लक्ष्मणसेन लखनौती में शासन करता रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसके विश्वरूपसेन और केशवसेन नामक दो पुत्रों ने दक्षिण और पूर्वी बंगाल में लगभग 20-25 वर्षों तक शासन किया।

गहड़वाल वंश

उत्पत्ति—गहड़वालों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। गहड़वाल वंश के चार अभिलेखों में गहड़वाल नाम का उल्लेख मात्र हुआ है। तत्कालीन साहित्य में गहड़वालों का उल्लेख नहीं किया गया है। गहड़वालों के अभिलेखों में उन्हें क्षत्रिय कहा गया है।

डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी मत है कि सम्भवतः वे राजपूत थे और आगे चलकर शक्ति प्राप्त करने के उपरांत क्षत्रिय कहलाने लगे। हार्नले महोदय का मत है कि गहड़वाल पालवंश की एक शाखा थी। सी० वी० वैद्य ने गहड़वालों की उत्पत्ति दक्षिण में स्थित 'गाहड़' नामक स्थान से बताई है। डॉ० भण्डारकर उनकी उत्पत्ति कर्णाट-चालुक्यों से मानते हैं। पंडित रामकरण और विश्वेवरनाथ रेनु गहड़वालों को राष्ट्रकूट-वंश की एक शाखा बताते हैं। डॉ०डी०सी० गांगुली ने गहड़वाल नरेश चन्द्रदेव का समीकरण चाँदराय से किया है। क्रुक महोदय का मत है कि गहड़वाल शब्द 'गह्वर' अथवा 'गिरि-गह्वर' से बना है जिसका उल्लेख पुराणों में किया गया है। इस प्रकार गहड़वालों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। ठोस ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं किया जा सकता। गुर्जर-प्रतीहारों के पतन के फलस्वरूप उत्तरी भारत में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण व्याप्त था। ऐसी परिस्थिति में कन्नौज में गहड़वाल वंश की स्थापना हुई।

यशोविग्रह—गहड़वाल अभिलेखों में यशोविग्रह को वंश का संस्थापक कहा गया है। अभिलेखों में यशोविग्रह के लिए किसी भी राजकीय विरुद (महाराजाधिराज, परमभट्टारक) का प्रयोग न होना, इस बात का प्रतीक है कि वह स्वतन्त्र शासक नहीं था। विभिन्न साक्ष्यों से यह कलचूरि नरेश लक्ष्मीकर्ण का सामन्त प्रतीत होता है।

महीचन्द्र—महीचन्द्र यशोविग्रह का पुत्र था। गोविन्दचन्द्र के अभिलेखों में उसे 'नृप' की संज्ञा दी गई है। गहड़वाल अभिलेखों में नृप महीचन्द्र की अत्यधिक प्रशंसा की गई है। कहा जाता है कि महीचन्द्र ने शत्रु-समूह पर विजय प्राप्त की और उसकी ख्याति समुद्र पार तक फैल गई थी। महीचन्द्र कलचुरि नरेश लक्ष्मीकर्ण और यशःकर्ण का सामन्त था।

चन्द्रदेव (1089-1104 ई०)—महीचन्द्र का पुत्र चन्द्रदेव गहड़वाल वंश का प्रथम स्वतन्त्र शासक था। उसने स्वतन्त्र शासक के अनुरूप 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' आदि उपाधियाँ धारण की थीं। चन्द्रदेव के अभिलेखों में उसकी दानशीलता के अतिरिक्त काशी, अयोध्या एवं गंगा और सरयू नदियों के तटीय

प्रदेशों पर उसके अधिकार का उल्लेख मिलता है। इन प्रदेशों पर अधिकार कर लेने के उपरांत चन्द्रदेव ने कन्नौज को विजित कर लिया। बसही-अभिलेख से विदित होता है कि 'भोजराज के दिवंगत हो जाने एवं कर्ण की कीर्तिमात्र शेष रह जाने (अर्थात् कर्ण के मर जाने) पर जब पृथ्वी अत्यन्त अत्यय (विपत्ति) में पड़ गई तो उसने चन्द्रदेव नामक राजा को विश्वासपूर्वक अपना रक्षक बनाया।' चन्द्रदेव के चन्द्रावती अभिलेख में उसे नरपति, गजपति, गिरपति और त्रिशंकुपति को पराजित करने वाला कहा गया है। उसकी पत्नी कुमारदेवी के सारनाथ-अभिलेख में कहा गया है कि चन्द्रदेव से 'पराजित राजाओं की स्त्रियों के आंसुओं से यमुना नदी का जल और भी अधिक काला हो गया।' दिल्ली के तोमर शासकों ने गहड़वालों की अधीनता स्वीकार कर ली थी और पांचाल प्रदेश (पश्चिमी उत्तर प्रदेश) चन्द्रदेव के अधिकार-क्षेत्र में था। वह एक निर्भीक, वीर, साहसी और योग्य सम्राट् था। उसने तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाते हुए एक स्वतन्त्र तथा विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

मदनपाल (1104-1114 ई०)—चन्द्रदेव की मृत्यु के पश्चात् 1104 ई० में उसका पुत्र मदनपाल सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' की उपाधियाँ धारण कीं।

मदनपाल के शासनकाल की अत्यन्त अल्प जानकारी ही उपलब्ध है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि वह सदैव बीमार रहता था। अत: उसने प्रशासन का दायित्व पाँच व्यक्तियों की एक समिति के ऊपर सौंप रखा था। कुछ अभिलेखों से विदित होता है कि मदनपाल को मुस्लिम आक्रांता ने बन्दी बना लिया था। उसके प्रतापी पुत्र गोविन्दचन्द्र ने आक्रमणकारी को पराजित कर मदनपाल को मुक्त करवाया।

गोविन्दचन्द्र (1114-1154 ई०)—मदनपाल की मृत्यु के उपरांत गोविन्दचन्द्र राजसिंहासन पर आसीन हुआ। वह गहड़वाल-वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रतापी सम्राट् था। युवराज के रूप में तुर्क आक्रांता और पाल शासक को पराजित करके वह अपनी सामरिक प्रतिभा का परिचय दे चुका था। गोविन्दचन्द्र के पिता मदन पाल को पराजित कर तुर्कों ने बन्दी बना लिया था। 1104 ई० के बसही-अभिलेख से विदित होता है कि मदनपाल को तुर्क आक्रमणकारियों से छुड़ाने के लिए महाराज पुत्र गोविन्दचन्द्र को कठोर संघर्ष करना पड़ा। 1109 ई० के राहन-अभिलेख में कहा गया है कि 'बार-बार प्रदर्शित अपने रणकौशल से उसने (गोविन्दचन्द्र ने) हम्मीर को शत्रुता त्याग देने को बाध्य किया।' इसी अभिलेख से यह भी विदित होता है कि गोविन्दचन्द्र ने पाल शासक (रामपाल) के हाथियों की पांतों को वीरतापूर्वक चीर डाला। इस प्रकार विदित होता है कि युवराज के रूप में गोविन्दचन्द्र ने पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव प्राप्त कर लिया था तथा अनेक महत्त्वपूर्ण युद्धों में विजय प्राप्त की।

विजयें—सम्राट् का पद ग्रहण करने के पश्चात् गोविन्दचन्द्र ने चतुर्दिक विजयें

प्राप्त कीं। उसके शासनकाल में कन्नौज पुनः एक बार राजनीति, साहित्य और संस्कृति का केन्द्र बन गया। पश्चिमी बिहार और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों से प्राप्त लगभग चालीस अभिलेखों से गोविन्दचन्द्र के राजनीतिक प्रभाव एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों पर प्रकाश पड़ता है। वह एक वीर और पराक्रमी सम्राट् था। पश्चिम में उसने तुर्क आक्रांताओं के आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा हेतु प्रतिरक्षात्मक नीति का आश्रय लिया, किन्तु पूर्व, उत्तर और दक्षिण की दिशाओं में उसने राज्य-विस्तार हेतु आक्रामक नीति का परिचय दिया। उसकी रानी कुमारदेवी के सारनाथ-अभिलेख में कहा गया है कि 'दुष्ट तुरुष्क वीर से वाराणसी की रक्षा करने के लिए हर (शंकर) द्वारा नियुक्त हरि (विष्णु) का वह मानो अवतार था' और 'अकेला ही व्यक्ति था' जो उस कार्य को पूरा कर सकता था। उसने सरयूपार के क्षेत्रों को विजित कर ब्राह्मणों को दान कर दिया। रामपाल के राज्य-काल के अन्तिम दिनों में गोविन्दचन्द्र ने अधिकाँश पाल-साम्राज्य को हस्तगत कर लिया। गोविन्दचन्द्र के 1120 ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने कलचुरियों को पुनः दक्षिण की ओर देशाटन करने को बाध्य किया तथा उनसे करण्ड और करण्डतल के गाँव छीनकर ठक्कुर वसिष्ठ नामक ब्राह्मण को दान में दे दिए। नयचन्द्रकृत रम्भामंजरी नाटक से विदित होता है कि गोविन्दचन्द्र ने दशार्ण (पूर्वी मालवा) के परमार नरेश नरवर्मा और यशोवर्मा को पराजित कर उनके राज्य को विजित कर लिया। अनेक साक्ष्यों से विदित होता है कि गोविन्दचन्द्र ने चन्देल नरेश मदनवर्मा को पराजित किया। वह एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था। उसका साम्राज्य दिल्ली से लेकर मुंगेर तक और हिमालय की तराई से लेकर यमुना नदी के दक्षिण तक विस्तृत था।

गोबिन्दचन्द्र न केवल एक योद्धा, बल्कि दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ भी था। कुमार-देवी से विवाह कर लेने के उपरांत पालों के साथ उसके सम्बन्ध मधुर हो गये। उसने कलचुरियों के सामन्तों को फोड़कर अपनी ओर मिलाया और कलचुरि राज्य को विजित कर लिया। उसने चन्देल नरेश मदनवर्मा के साथ मैत्री स्थापित की। चोल-राज्य के साथ भी उसने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए। गोविन्दचन्द्र के शासनकाल में कन्नौज पुनः एक बार विद्या, संस्कृति और साहित्यिक क्रिया-कलापों का केन्द्र हो गया। गोविन्दचन्द्र के अभिलेखों में उसे 'विविधविद्याविचारवाचस्पति' कहा गया है। वह विद्वानों का आश्रयदाता था।

विजयचन्द्र (1155-1169 ई०)—गोविन्दचन्द्र के बाद विजयचन्द्र ने शासन किया। 'पृथ्वीराजरासो' में कहा गया है कि विजयचन्द्र ने कटक के सोमवंशी राजा मुकन्ददेव को पराजित किया। उसने दिल्ली के अनंगपाल और अह्निलवाड़ के राजा को भी पराजित किया। जयचन्द्र के कमौली अभिलेख में कहा गया है कि उसने (विजयचन्द्र ने) 'पृथ्वी का दलन करते हुए मानो खिलवाड़ करने वाले हम्मीर की स्त्रियों की आँखों की मानों बादलों से गिरते हुए पानी के समान आंसुओं से पृथ्वी का कष्ट धो डाला।' विजयचन्द्र को सेन राजकुमार लक्ष्मण सेन से पराजित होना पड़ा।

उसके शासनकाल में गहड़वाल राज्य की पश्चिमी सीमाओं का ह्रास हुआ। गहड़वालों के तोमरवंशी शासकों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी।

जयचन्द्र (1170-1194 ई०)—विजयचन्द्र के बाद 1170 ई० में जयचन्द्र राजगद्दी पर आसीन हुआ। तत्कालीन अभिलेखों तथा साहित्यिक साक्ष्यों से उसके विषयों में विस्तृत प्रकाश पड़ता है। सम्राट बनने से पूर्व जयचन्द्र युवराज के रूप में प्रशासनिक अनुभव प्राप्त कर चुका था।

युवराज के रूप में जयचन्द्र ने चन्देल-नरेश मदनवर्मा को पराजित किया। नयचन्द्र कृत 'रम्भामंजरी' में जयचन्द्र की भुजाओं की तुलना 'मदनवर्मा की राज्यश्री रूपी हाथी को बाँधने के लिए खम्भ' से की गई है। किन्तु चन्देल-नरेश परिमर्दिन के साथ जयचन्द्र के मधुर सम्बन्ध थे। जयचन्द्र ने पृथ्वीराज के विरुद्ध परिमर्दिन की सहायता की थी। राजशेखर कृत 'प्रबंधकोश' में जयचन्द्र और लक्ष्मणसेन के मध्य अनिर्णीत संघर्ष का उल्लेख मिलता है। जयचन्द्र और पृथ्वीराज चौहान दोनों महत्वाकांक्षी थे। दिल्ली और अजमेर के शासक पृथ्वीराज चौहान द्वारा जयचन्द्र की पुत्री सुंदरी संयोगिता के अपहरण के फलस्वरूप दोनों के सम्बन्धों में और अधिक कटुता आ गई। मुहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज की पराजय का समाचार सुनकर जयचन्द्र इतना प्रफुल्लित हुआ कि उसने अपनी राजधानी कन्नौज में दीपावली मनाई। 1192 ई० में तराइन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज को मौत के घाट उतार कर मुहम्मद गोरी ने जयचन्द्र को पराजित करने की योजना बनाई। 1194 ई० में मुहम्मद गोरी ने चन्दावर के युद्ध में जयचन्द्र को पराजित कर दिया और उसके राज्य का सारा धन लूट लिया।

हरिश्चन्द्र—मुहम्मद गोरी के लौट जाने के पश्चात् जयचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र ने कन्नौज में एक स्वतन्त्र शासक के रूप में राज्य किया। वेलखरा अभिलेख से विदित होता है कि हरिश्चन्द्र 1198 ई० तक मिर्जापुर, वाराणसी, जौनपुर क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से राज्य कर रहा था। उसके बाद कन्नौज-काशी में किसी अन्य गहड़वाल नरेश का उल्लेख नहीं मिलता।

चन्देल वंश

उत्पत्ति—चन्देल वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। अभिलेखों और जनश्रुतियों से चन्देलों की उत्पत्ति के विषय में प्रकाश पड़ता है। धंग के 1011 के खजुराहो अभिलेख में चन्देल वंश के प्रथम शासक नन्नुक की उत्पत्ति अत्रि के पुत्र चन्द्रात्रेय से बताई गई है। धंग के खजुराहो से प्राप्त दूसरे अभिलेख से ज्ञात होता है कि अत्रि के नेत्रकमल से चन्द्रमा, चन्द्रमा से चन्द्रात्रेय और चन्द्रात्रेय से चन्देलों की उत्पत्ति हुई। परिमर्दिनदेव के 1252 ई० के बटेश्वर अभिलेख में भी चन्देलों की उत्पत्ति अत्रि, चन्द्रमा और चन्द्रात्रेय से बताई गई है। इस प्रकार चन्देलों के अभिलेखों में उनके वंश की उत्पत्ति चन्द्र और उसके पुत्र चन्द्रात्रेय से बताई गई है। अतः चन्देल नरेश अपने को चन्द्रवंशी और चन्द्रात्रेय को अपने वंश का मूल पुरुष मानते हैं।

'महोबाखण्ड' जनश्रुति के अनुसार चन्देलों की उत्पत्ति चन्द्रमा द्वारा हेमवती नामक विधवा के आलिंगन के फलस्वरूप हुई। हेमवती गहड़वाल नरेश इन्द्रजीत के हेमरण नामक पुरोहित की अत्यन्त रूपवान कन्या थी। विद्वान इस जनश्रुति पर विश्वास नहीं करते। डॉ० स्मिथ चन्देलों को मध्य प्रदेश के आदिवासी गोंड़ों और भरों की सन्तान बताते हैं। चिंतामणि विनायक वैद्य ने डॉ० स्मिथ के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि चन्देल आर्यों की शुद्ध सन्तान हैं। चन्दबरदाई ने चन्देलों की गणना राजपूतों के छत्तीस कुलों में की है। टॉड द्वारा प्रस्तुत छत्तीस राजवंशों की सूचि में चन्देलों का उल्लेख हुआ है। अतः चन्देलों को राजपूत मानना ही उपयुक्त होगा। अभिलेखों एवं जनश्रुतियों से विदित होता है कि खजुराहो, कालंजर, महोबा एवं अजयगढ़ चन्देलों के मूल प्रदेश थे। चन्देल-राज्य को 'जेजाभुक्ति' अथवा 'जेजाकभुक्ति' कहा जाता था।

चन्देलों की प्रारंभिक स्थिति —9वीं शताब्दी से लेकर 10वीं शताब्दी के मध्य तक कन्नौज का गुर्जर-प्रतीहार साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था। कालंजर, खजुराहो और देवगढ़ प्रतीहारों के अधीन थे। नन्नुक से लेकर धंग तक के चन्देल शासक गुर्जर-प्रतीहारों के सामंत मात्र थे। प्रारंभ में गुर्जर प्रतीहारों का सामन्त रहने के बाद सर्वप्रथम धंग ने ही अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की।

नन्नुक (831-845)—चन्देल अभिलेखों में नन्नुक का उल्लेख प्रथम चन्देल शासक के रूप में मिलता है। नन्नुक ने 'नृप' और 'महीपति' जैसी छोटी उपाधियां धारण की थीं। इससे विदित होता है कि वह एक स्वतन्त्र शासक न होकर सामन्त मात्र था। नन्नुक गुर्जर-प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय का सामंत था। धंग के खजुराहो- अभिलेख में कहा गया है कि नन्नुक के 'आदेश को उसके शत्रु पुष्पोपहार की भाँति शिरोधार्य करते थे और उसका शौर्य देवताओं तथा अर्जुन का स्मरण दिलाता था।' उसने लगभग 831-845 ई० तक शासन किया।

वाक्पति (845-870 ई०)—वाक्पति नन्नुक का उत्तराधिकारी था। खजुराहो अभिलेख में कहा गया है कि उसकी प्रसिद्धि सूर्य की रश्मियों की भांति तीनों लोकों में व्याप्त थी। उसने अनेक शत्रुओं को पराजित किया और विंध्यपर्वत उसका 'क्रीड़ागिरि' था।

जयशक्ति और विजयशक्ति (870-900 ई०)—वाक्पति के पुत्र जयशक्ति और विजयशक्ति महान प्रतापी थे। उनके अप्रतिम शौर्य से शत्रु वैसे ही नष्ट हो गये जैसे अग्नि के तीव्र रूप से जंगल जल जाते हैं। जयशक्ति की अल्पायु में मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसका छोटा भाई विजयशक्ति राजगद्दी पर बैठा। उसकी प्रशंसा में कहा गया है कि अपने किसी 'सुहृदय के उपकार के लिए विजय की इच्छा से वह राम की तरह दक्षिण दिशा की सीमाओं तक चला गया।' विद्वानों का मत है कि विजयशक्ति गुर्जर-प्रतीहार नरेश भोज का सामंत था।

राहिल (900-915 ई०)—विजयशक्ति के बाद राहिल ने प्रतीहार-सामंत के

रूप में शासन किया। धंग के खजुराहो-अभिलेख में कहा गया है कि वह उत्कृष्ट कोटि का वीर और शत्रुओं का नाश करने वाला था। 'वह युद्ध-यज्ञ में कभी थकता नहीं था।' 'उसका स्मरण कर शत्रुगण रात्रि को नींद खो देते थे।' वह मित्रों का मित्र और वैरियों को दंड देने वाला था। उसे महोबा नगर में राहिल सागर और राहिल नगर के निर्माण का श्रेय दिया जाता है।

हर्ष (915-930) —राहिल के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र हर्ष शासक बना। धंग के नन्यौर अभिलेख में कहा गया है कि 'वह अपने आश्रितों के लिए कल्पवृक्ष, सज्जनों के लिए आनन्ददायक, मित्रों के लिए अमृत, शत्रु-समूह के लिए एक विशाल धूमकेतु की तरह अनिष्टकारक और युद्धरूपी समुद्र को पार करने के लिए सेतु के समान था। भयोत्पादक सैन्य संयोजन करने वाले तथा अन्य राजाओं को अपना करद बना लेने वाले उस राजा का शौर्य ग्रीष्म के सूर्य की प्रचंड किरणों की तरह दुःसह था।' उसने शत्रुओं को बारी-बारी से नष्ट कर समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी की रक्षा की। हर्ष प्रतीहार-नरेश महीपाल का सामंत था। हर्ष के सम्बन्ध में खजुराहो अभिलेख में कहा गया है—'उसने कन्नौज के राजा श्री क्षितिजपालदेव को पुनः अपने सिंहासन पर बैठाया।'

यशोवर्मा (930-950 ई०)—हर्ष के बाद उसका पुत्र यशोवर्मा राजगद्दी पर बैठा। वह एक महान प्रतापी शासक था। उसने उत्तरी भारत में निरंतर अपने राज्य का विस्तार किया। वह प्रतीहारों का नाममात्र का सामंत था। वास्तव में उसकी स्थिति किसी स्वतन्त्र शासक से किसी प्रकार कम नहीं थी। धंग के वि० सं० 1015 के खजुराहो-अभिलेख में यशोवर्मा की विजयों पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। उसमें कहा गया है कि यशोवर्मा 'गौड़रूपी क्रीड़लता के लिए तलवार था; उसने खसों की सेनाओं की बराबरी की; कोशलों का कोष लूटा, कश्मीर के वीर का नाश किया, मिथिला के राजा को शिथिल किया, वह मालवों के लिए काल के समान था, उसके सामने गर्हित चेदिराज कांपने लगा तथा वह कुरु रूपी वृक्ष के लिए आंधी के समान और गुर्जरों के लिए दाहकारक था।' 'उसने निर्भय होकर शीघ्र ही युद्ध क्षेत्र में उस चेदिराज को पराजित किया जिसके पास अगणित सेना थी···· पर्वतीय-भू-भागों को विजित करते हुए उसके सैनिकों ने हिमाच्छादित श्रेणियों की चढ़ाई धीरे-धीरे किसी तरह पूरी की, जहां पार्वती ने स्वर्गलोक के वृक्षों से पुष्पराशियां लाकर संग्रहीत की थीं और जहां गंगा की तेज धाराओं की ध्वनि से उसकी अश्व सेना घबरा उठी थी····' उसने 'खेल-खेल में कालंजर गिरि जीत लिया जो शंकर का निवास स्थान है और जिसकी ऊंचाई दोपहर के सूर्य की गति को बाध्य करती है····' 'उसने गंगा और यमुना को क्रमशः अपना क्रीड़ा-सरोवर बनाया और अनेक तटों पर शिविर स्थापित कर अपने किसी शत्रु से अनादर न प्राप्त करते हुए अपने भयंकर और प्रबल हाथियों के स्नान से उनका जल मैला कर दिया।' खजुराहो-अभिलेख का उक्त वर्णन काव्यात्मक और अतिरंजित होने पर भी ऐतिहासिक है।

धंग (950-1002 ई०)—यशोवर्मा के बाद धंग चन्देल वंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ। खजुराहो-अभिलेख में धंग की प्रशंसा करते हुए उसे पृथ्वी के ऊपर अपने सुदृढ़ हाथों से सत्ता स्थापित करने वाला कहा गया है। उसमें यह भी कहा गया है कि 'श्री विनायकपालदेव द्वारा पृथ्वी का पालन करते हुए पराजित शत्रु पृथ्वी नहीं जीत सके।' प्रारंभ में धंग प्रतीहारों का नाममात्र का सामंत था। किन्तु बाद में उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी।

धंग चन्देल वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। उसने प्रतीहार वंश की अधीनता का परित्याग कर अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की। उसने ग्वालियर और कालंजर को विजित करके चन्देल साम्राज्य में विलीन कर लिया। उत्तर-पूर्व में काशी तक उसने चन्देल-राज्य का विस्तार किया। वि० सं० 1059 के खजुराहो अभिलेख में कहा गया है कि 'कोशल, क्रथ, सिंहल और कुंतल के राजा सिर झुकाकर उसकी आज्ञाएँ सुनते थे' तथा 'काँची, आंध्र, राढ़ और अंग के राजाओं की रानियाँ उसके कारागारों में पड़ी थीं।' कीर्तिवर्मा के महोवा अभिलेख से विदित होता है कि 'शत्रुओं को तोड़ने में समर्थ तथा पृथ्वी के लिए मंगलकारण श्री धंग ने अपनी भुजाओं की शक्ति से पृथ्वी के लिए बहुत बड़े भार बने हुए और अत्यन्त शक्तिशाली हम्मीर की तुलना की।' स्पष्ट हो जाता है कि धंग ने अनेक विजयें कीं। उसने धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्र में भी अभिरुचि दिखाई। खजुराहो के भव्य मंदिर उसके काल की वास्तुकला की अनुपम कृतियाँ हैं। 1002 ई० में उसने प्रयाग में जल समाधि लेकर प्राण त्याग किया।

गण्ड (1003-1017 ई०)—धंग के बाद गण्ड शासक बना। यद्यपि उसके शासनकाल की किसी महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि उसने उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त विशाल चन्देल-साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा।

विद्याधर (1018-1029 ई०)—गण्ड के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र विद्याधर राजगद्दी पर बैठा। वह अपने पितामह धंग की भांति शक्तिशाली और युद्धप्रिय सम्राट था। चन्देल-अभिलेखों, उसके सामंतों के अभिलेखों तथा मुसलमान इतिहासकारों के विवरण से विद्याधर के सम्बन्ध में विस्तृत प्रकाश पड़ता है। विद्याधर एक पराक्रमी सम्राट था। कीर्तिवर्मा के एक अभिलेख में कहा गया है कि उसने (विद्याधर ने) अपने शत्रुओं के यश के पुष्प बटोर लिए थे। उसके शासनकाल में चन्देल-राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था।

विद्याधर ने प्रतीहार नरेश राज्यपाल को पराजित कर मार डाला। विक्रम सिंह कछवाह के वि० सं० 1145 के दूबकुण्ड-अभिलेख से विदित होता है कि विक्रम सिंह के प्रपितामह 'अर्जुन ने श्री विद्याधरदेव के कार्य में निरत होकर अपने बाणों की बौछार से राज्यपाल के गले की हड्डियों को छेद दिया और उसे घोर युद्ध में मार डाला।' महोवा से प्राप्त अभिलेख में कहा गया है कि विद्याधर ने कान्यकुब्ज भूपाल को मार डाला। राज्यपाल का वध करने के पश्चात् विद्याधर उत्तर भारत का

सर्वप्रमुख सम्राट बन गया और उसने 'परमेश्वर', 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज' आदि उपाधियाँ धारण कीं। 1019 ई० में महमूद गजनवी ने विद्याधर पर आक्रमण कर दिया। किन्तु यह संघर्ष अनिर्णीत समाप्त हुआ। 1022 ई० में महमूद गजनवी ने विद्याधर के राज्य पर पुनः आक्रमण कर दिया। किन्तु इस बार भी तुर्क सफल नहीं हो पाये। अन्त में महमूद गजनवी और विद्याधर ने एक-दूसरे को उपहार भेज कर संधि कर ली। विद्वानों का मत है कि दूसरी बार (1022 ई०) में दोनों के मध्य कोई संघर्ष नहीं हुआ। दोनों ने एक-दूसरे की शक्ति का अनुमान लगाकर मित्रता कर ली थी।

महान तुर्क योद्धा महमूद गजनवी का दृढ़तापूर्वक सामना करने के कारण उत्तरी भारत के राजनीतिक रंगमंच पर विद्याधर की धाक जम गई। ग्वालियर का कच्छपछात वंश उसकी अधीनता स्वीकार करता था। विद्याधर ने प्रतीहार-नरेश राज्यपाल का वध कर दिया। राज्यपाल की हत्या के पश्चात् प्रतीहार-नरेश त्रिलोचन-पाल ने चन्देलों की अधीनता स्वीकार कर ली। पंजाब का शाही राजा त्रिलोचन पाल भी उसके अधीन था। एक चन्देल अभिलेख में कहा गया हैं कि 'भोजदेव और कलचुरिचन्द्र भयभीत होकर युद्धकला के आचार्य विद्याधर की शिष्य की भांति पूजा करते थे।' विद्वान भोजदेव की पहचान भोज परमार से करते हैं, और पराजित कल-चुरि नरेश को गांगेयदेव बताते हैं।

विजयपाल (1030-1050 ई०)—विद्याधर का उत्तराधिकारी विजयपाल एक दुर्बल शासक सिद्ध हुआ। उसकी दुर्बलता का लाभ उठाते हुए कलचुरि नरेश गाँगेयदेव ने चन्देल सत्ता के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। महोबा-अभि-लेख से विदित होता है कि 'विश्वविजय करने वाले वाले गाँगेयदेव के हृदय-कमल के अभियान की पंखुड़ियां भयोत्पादक विजयपाल को युद्ध में देखकर बंद हो गईं।' विजयपाल एक शांतिप्रिय सम्राट् था। ग्वालियर के कच्छपछात वंशी मूलदेव ने चन्देल-अधिसत्ता को मानने से इनकार कर दिया। दूबकुण्ड के कच्छपछात वंशी राजा अर्जुन ने विजयपाल की अधीनता छोड़कर भोज परमार की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार विदित होता है कि विजयपाल के शासनकाल में चन्देल-राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया।

देववर्मा (1050-1060 ई०)—विजयपाल के बाद देववर्मा राजगद्दी पर बैठा। वह एक दुर्बल शासक था। उसका समकालीन शक्तिशाली कलचुरि नरेश कर्ण था। विल्हणकृत 'विक्रमांकदेव चरित' में कर्ण को 'कालंजरगिरि के राजा के लिए काल' के समान कहा गया हैं।

कीर्तिवर्मा (1060-1100 ई०)—देववर्मा के पश्चात् उसका भाई कीर्तिवर्मा राजा हुआ। वह एक वीर महत्वाकांक्षी नरेश था। उसने अपने वंश के खोए हुए गौरव को पुनःस्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया। 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक से विदित होता हैं कि कीर्तिवर्मा के सामंत गोपाल ने कलचुरि सेनाओं को परास्त कर चन्देल-सत्ता की पुनःस्थापना की। उसमें गोपाल की तुलना विष्णु के नृसिंह और

वराहावतारों से की गई है और कहा गया है कि उसने 'विनाश के समुद्र में गिरी हुई पृथ्वी' का उद्धार किया तथा 'प्रलयंकारी काल अग्नि और रुद्र के स्वरूप' कलचुरि कर्ण द्वारा 'समुन्मूलित चन्द्रवंश' की पुनःस्थापना के लिए क्रुद्ध हो उठा। उसकी सेना ने कर्ण और अन्य शत्रु राजाओं के सैन्य-समुद्र का मंथन कर राजलक्ष्मी वैसे ही अपने वश में कर ली, जैसे 'मधुमंथन (विष्णु) ने समुद्र-मंथन द्वारा लक्ष्मी पाई थी।' गोपाल और कर्ण की सेनाओं के मध्य भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें उसके कठोर कुठार ने अबला, बाल और वृद्ध किसी को नहीं छोड़ा। चन्देल-अभिलेखों में कर्ण पर कीर्तिवर्मा की विजय का उल्लेख किया गया है। उसने तुर्कों को भी पराजित किया।

सल्लक्षवर्मा (1100-1115 ई०)—कीर्तिवर्मा का पुत्र सल्लक्षवर्मा एक महान् योद्धा था। वीरवर्मा के अजयगढ़-अभिलेख में कहा गया है कि सल्लक्षवर्मा ने 'मालव और चेदिलक्ष्मियों को लूटने वाली तलवार धारण की।' मऊ अभिलेख से विदित होता है कि सल्लक्षवर्मा ने गंगा-यमुना दोआब पर विजय प्राप्त की।

जयवर्मा (1115-1120 ई०)—जयवर्मा के शासनकाल की किसी महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। गहड़वाल-अभिलेखों से विदित होता है कि गहड़-वाल नरेश गोविन्दचन्द्र ने जयवर्मा पर आक्रमण कर दक्षिण-पश्चिम के कुछ क्षेत्र छीन लिए थे।

पृथ्वीवर्मा (1120-1129 ई०)—जयवर्मा अपुत्रक था। अतः उसके बाद उसका चाचा पृथ्वीवर्मा (सल्लक्षवर्मा का भाई) शासक बना। वह एक दुर्बल राजा था।

मदनवर्मा (1129-1163 ई०)—पृथ्वीवर्मा के बाद उसका पुत्र मदनवर्मा राज-गद्दी पर बैठा। वह अपने वंश का एक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। उसने चेदि नरेश (गया कर्ण), काशी नरेश (गोविन्दचन्द्र), मालवा नरेश (यशोवर्मा) तथा अन्य राजाओं को पराजित किया। मऊ-अभिलेख में उल्लिखित है कि 'कठोर युद्ध में पराजित चेदिराज मदनवर्मा के नाम मात्र से जल्दी ही भाग जाता है, जिसके भय से काशी का राजा सर्वदा अपना समय मित्रतापूर्ण आचरण में बिताता है, जिसने शेखी वाले मालवराज को जल्दी ही उखाड़ फेंका तथा अन्य नरेश जिसके प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हुए परम शांति का भोग करते हैं।' 'कुमारपालभूपालचरित' से विदित होता है कि जयसिंह सिद्धराज और मदनवर्मा के मध्य संघर्ष अनिर्णीत समाप्त हुआ और अन्त में दोनों ने संधि कर ली। अनेक युद्धों के विजेता मदनवर्मा को अपने शासन के अन्तिम चरणों में गहड़वाल नरेश विजयचन्द्र के पुत्र और युवराज जयचन्द्र के आक्रमण का शिकार होना पड़ा था। नयचन्द्रसूरिकृत 'रम्भामंजरी' में यह उल्लेख मिलता है कि 'मदनवर्मा की राज्यलक्ष्मी रूपी हाथी को बांधने के विए जयचन्द्र की बाहुएं मानो खम्भ के समान थीं।'

यशोवर्मा (1163-1165 ई०)—मदनवर्मा का उत्तराधिकारी यशोवर्मा अयोग्य

सिद्ध हुआ । अतः चन्देल-राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई । उसने लगभग डेढ़ वर्ष तक शासन किया ।

परमर्दिदेव (1165-1202 ई०)—यशोवर्मा के बाद परमर्दिदेव चन्देल राजा हुआ । उसे शक्तिशाली चाहमान नरेश पृथ्वीराज तृतीय और तुर्क सेनानायक कुतुबद्दीन तथा इल्तुतमिश के तीव्र आक्रमणों का सामना करना पड़ा ।

त्रैलोक्यवर्मा (1203-1247 ई०)—परमर्दिदेव के पश्चात् त्रैलोक्यवर्मा ने चन्देल-राज्य के कुछ सीमित प्रदेशों पर शासन किया । त्रैलोक्यवर्मा की मृत्यु के उपरांत उसके उत्तराधिकारियों ने शासन किया । उनका राज्य अत्यधिक सीमित था ।

चाहमान वंश

उत्पत्ति—चाहमानों की उत्पत्ति के विषय में अनेक मतभेद हैं । चाहमान अभिलेखों, साहित्यिक ग्रन्थों एवं राजपूताने में प्रचलित जनश्रुतियों में इतनी अधिक विषमताएँ हैं कि किसी एक निर्णय पर पहुँच पाना सम्भव नहीं हैं । विदेशी विद्वान कर्नल टॉड, विलियम क्रुक तथा भारतीय विद्वान डॉ० भण्डारकर का मत है कि चाहमानों की उत्पत्ति विदेशी आक्रांताओं से हुई थी । 'पृथ्वीराजरासो' तथा 'चारण साहित्य' में चाहमानों की उत्पत्ति आबू पर्वत में स्थित वसिष्ठ के अग्निकुण्ड से बताई गई है । भारतीय विद्वान चाहमानों को भारतीय मानते हैं । डॉ० दशरथ शर्मा ने उन्हें ब्राह्मणवंशी बताया है । अनेक आधुनिक भारतीय विद्वान चाहमानों को ब्रह्मोपेत क्षत्रिय अथवा 'ब्रह्मक्षत्रकुलीन' मानते हैं ।

प्रारम्भ में चाहमान सपादलक्ष में निवास करते थे, और वासुदेव (551 ई०) उनका पहला शासक था । 10वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक चाहमानवंश की अनेक शाखाओं ने गुर्जर-प्रतीहारों के अधीन सामन्तों के रूप में शासन किया । किन्तु बाद में शाकम्भरी की शाखा प्रतिष्ठा प्राप्त कर राज्य के रूप में विकसित हो गई । साहित्यिक साक्ष्यों से विदित होता है कि वासुदेव सपादलक्ष के चाहमान वंश का प्रथम शासक था ।

वासुदेव से वाक्पतिराज तक के चाहमान शासक—वासुदेव सपादलक्ष का प्रथम चाहमान शासक था । 'प्रबन्धकोश' के अनुसार वह 551 ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ । पृथ्वीराज विजय से ज्ञात होता है कि वह शाकम्भरी प्रदेश पर शासन करता था । उसे साम्भर झील का निर्माता और 'शाकम्भरीश्वर' कहा गया है । वासुदेव के बाद सपादलक्ष का ज्ञात राजा सामन्तराज था । बिजोलिया-अभिलेख में उसे ब्राह्मण ऋषि वत्स के गोत्र में उत्पन्न अनन्त देश का शासक कहा गया है, जिसकी राजधानी अहिछत्रपुर थी । वह अनेक सामन्तों का स्वामी था । डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी और डॉ० दशरथ शर्मा ने उसका राज्यकाल 7वीं शताब्दी में निर्धारित किया है । सामन्तराज का पुत्र नरदेव जोधपुर के एक गाँव पूर्णतल्ल (पुन्तला) का शासक था । तत्पश्चात सामन्तराज का पुत्र अजयराज शासक बना । वह एक शक्तिशाली शासक

था। उसने अजमेर के किले और नगर की स्थापना की। तदुपरान्त विग्रहराज, चन्द्रराज प्रथम और गोपेन्द्रराज ने शासन किया। गोपेन्द्रराज का उत्तराधिकारी दुर्लभराज प्रतीहार नरेश वत्सराज का सामन्त था जिसने गौड़ नरेश धर्मपाल के विरुद्ध सामरिक अभियान में अपने स्वामी (वत्सराज) का साथ दिया था। दुर्लभराज का उत्तराधिकारी गूवक प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय का सामन्त था। गूवक के पश्चात चन्द्रराज द्वितीय, गूवक द्वितीय, चन्दनराज और वाक्पतिराज ने शासन किया।

सिंहराज से अजयराज तक—वाक्पतिराज के पश्चात उसके पुत्र विंध्यराज ने अल्प अवधि तक शासन किया। तदुपरांत सिंहराज सिंहासनारूढ़ हुआ। हर्ष-अभिलेख में उसे तोमर नायक सलवण का विजेता कहा गया है। 'हम्मीर महाकाव्य' से विदित होता है कि सिंहराज ने कर्णाट, लाट, गुजरात, चोल और अंग के राजाओं को युद्ध में पराजित किया। सिंहराज के बाद विग्रहराज द्वितीय ने शासन किया। हर्ष-अभिलेख में उसकी कीर्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'सिंहराज के बाद मानो डरी हुई राजलक्ष्मी इस चिन्ता से त्रस्त थी कि अब उसका कौन (रक्षक) होगा, किन्तु विग्रहराज ने अपनी दोनों बाहुओं से दीर्घ अवधि तक उसे प्रतिष्ठित किया और चारों ओर दुष्टों के दमन द्वारा सारी पृथ्वी को खेल-ही-खेल में अपने पैरों के नीचे मानो नौकरानी की तरह वशवर्त्तिनी बना दिया।' विग्रहराज अपुत्रक था। अतः उसके बाद उसका छोटा भाई दुर्लभराज राजगद्दी पर बैठा। दुर्लभराज के पुत्र गोविन्दराज द्वितीय को शत्रुओं का मान चूर करने वाला कहा गया है। गोविन्दराज द्वितीय के बाद वाक्पतिराज द्वितीय, वीर्यराम, चामुण्डराज, दुर्लभराज तृतीय, विग्रहराज तृतीय, पृथ्वीराज प्रथम और अजयराज ने शासन किया। 'पृथ्वीराज विजय' से ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज प्रथम ने पुष्कर तीर्थ में ब्राह्मणों को लूटने वाले सात सौ चौलुक्यों का वध कर दिया था। उसने 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' की उपाधियाँ धारण कीं। उसने तुर्क आक्रांता को भी पराजित किया। पृथ्वीराज प्रथम के पश्चात 1105 ई० में उसका पुत्र अजयराज राजा हुआ। सोमेश्वर के बिजोलिया-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने (अजयराज ने) अवन्तिराज नरवर्मा को पराजित किया। 'पृथ्वीराजविजय' में यह उल्लेख मिलता है कि अजयराज ने 'गजनमातंगों' (गजनी के तुर्क आक्रांता) को हराया। उसे अजमेर नगर की स्थापना का श्रेय दिया गया है।

अर्णोराज (1130-1150 ई०)—अजयराज के बाद उसका प्रतापी पुत्र अर्णोराज गद्दी पर बैठा। पृथ्वीराजविजय में उसको अनलदेव, आनलदेव, अन्न आदि नामों से पुकारा गया है। अर्णोराज एक शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी सम्राट था। उसने 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परमभट्टारक' आदि गौरव सूचक विरुद धारण किए।

अर्णोराज से पूर्व के चाहमान शासकों का तुर्कों के साथ संघर्ष हो चुका था। अर्णोराज ने तुर्कों के विरुद्ध सामरिक अभियान जारी रखा। उसके शासनकाल में तुर्क आक्रांता अजमेर की सीमाओं तक बढ़ आये थे। उसने तुर्कों को पराजित कर चाह-

मान राज्य की रक्षा की। जयानक तुर्कों के ऊपर अर्णोराज की विजय का उल्लेख करता है। बिजोलिया-अभिलेख से ज्ञात होता है कि अर्णोराज ने प्रतीहार-नरेश नरवर्मा को पराजित किया। डॉ० दशरथ शर्मा का कथन है कि अर्णोराज ने मद्र और वाहीक देश (सिंध) की विजयें कीं। चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल अर्णोराज के समकालीन थे। जैन ग्रन्थों से विदित होता है कि जयसिंह सिद्धराज ने अर्णोराज को पराजित किया। अन्ततः जयसिंह ने अर्णोराज से अपनी पुत्री का विवाह करके उससे मित्रता कर ली। किन्तु जयसिंह की मृत्यु के उपरान्त अर्णोराज ने कुमारपाल को कमजोर समझकर चौलुक्य राज्य पर आक्रमण कर दिया, किन्तु उसे मुँह की खानी पड़ी। प्रतिशोध की भावना से वि० सं० 1207 में अर्णोराज ने दूसरी बार कुमारपाल पर आक्रमण कर दिया। दीर्घकालीन संघर्ष के उपरान्त इस बार भी कुमारपाल की विजय हुई। 'प्रभावकचरित' से विदित होता है कि यह संघर्ष बारह वर्ष तक चला। इस पराजय के उपरान्त अर्णोराज ने कूटनीति का परिचय देते हुए अपनी पुत्री जल्हणादेवी का विवाह कुमारपाल से कर उससे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए। निस्सन्देह अर्णोराज चाहमान वंश का एक महान प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। शत्रु दल भी उसकी सत्ता और शक्ति का सम्मान करता था। वह शैव मतावलम्बी था।

जगद्देव—अर्णोराज का वध करके उसका पुत्र जगद्देव राजगद्दी पर बैठा। किन्तु शीघ्र ही उसके भाई विग्रहराज ने उसे रणक्षेत्र में मौत के घाट उतारकर राजगद्दी पर अधिकार कर लिया।

विग्रहराज चतुर्थ (1150-1164 ई०)—जगद्देव को मौत के घाट उतारकर विग्रहराज चतुर्थ चाहमान राजगद्दी पर आसीन हुआ। वह एक महान प्रतापी शासक था। भारतीय इतिहास में वह बीसलदेव के नाम से प्रख्यात है। उसने तोमरवंशी राजाओं से दिल्ली छीन ली और कुमारपाल को पराजित कर अपने पिता की हार का बदला चुकाया। उसने तुर्कों को पराजित कर यमुना और सतलज के बीच का हिस्सा उनसे छीन लिया। विग्रहराज चतुर्थ ने शिवालिक प्रदेश तक धावे मारे और परमार-राज्य पर चढ़ाई कर जावालपुर में आग लगा दी। उसने 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' आदि उपाधियाँ धारण कीं। वह मात्र एक योद्धा ही नहीं बल्कि कवि और विद्वानों का आश्रयदाता भी था।

अपरगांगेय (1164 ई०)—विग्रहराज चतुर्थ के बाद अपरगांगेय राजगद्दी पर बैठा। पितृघाती जगद्देव के पुत्र पृथ्वीराज द्वितीय ने उसे मारकर राजगद्दी हथिया ली।

पृथ्वीराज द्वितीय (1164-1169 ई०)—अपरगांगेय को मौत के घाट उतार कर पृथ्वीराज द्वितीय शासक बना। उसने लगभग पाँच वर्षों तक शासन किया। उसके शासनकाल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है।

सोमेश्वर (1169-1177 ई०)—पृथ्वीराज द्वितीय के पश्चात उसका चाचा

सोमेश्वर गद्दी पर बैठा। वह अपने पिता अर्णोराज की भाँति महत्त्वाकाँक्षी था। उसने ग्वालियर, कन्नौज और पश्चिम में हिसार तक चाहमान-राज्य का विस्तार किया।

पृथ्वीराज तृतीय (1178-1192 ई०)—पृथ्वीराज चौहान अपने वंश का सर्वाधिक पराक्रमी सम्राट था। 1178 ई० में सोमेश्वर की मृत्यु के समय पृथ्वीराज की आयु बारह वर्ष की थी। अतः उसने अपनी माता कपूरदेवी की संरक्षकता में राज्य-कार्य सम्भाला। पृथ्वीराज के मन्त्री कदम्बवास और भुवनैकमल्ल अत्यधिक योग्य थे। पृथ्वीराजविजय के अनुसार पृथ्वीराज तृतीय को प्रारम्भिक युद्धों में सफलता दिलवाने का श्रेय इन दोनों को ही हैं। कदम्बवास और भुवनैकमल्ल ने पृथ्वीराज की वैसी ही सेवा की, जैसे हनुमान और गरुड़ ने राम की सेवा की थी। पृथ्वीराज ने अपने व्यक्तिगत शौर्य और रणप्रियता के गुणों के कारण तत्कालीन समाज में काफी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। संवत 1237 में पृथ्वीराज तृतीय ने शासनतन्त्र पूर्ण रूप से अपने हाथ में ले लिया।

विजयें—जिस समय पृथ्वीराज राजगद्दी पर बैठा उस समय उसे आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं के कुचक्रों का सामना करना पड़ा। चाहमान नरेश विग्रहराज चतुर्थ का महत्त्वाकांक्षी पुत्र नागार्जुन पृथ्वीराज तृतीय का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। गुजरात के चौलुक्य, महोबा के चन्देल और कन्नौज के गहड़वाल राजा उसके प्रमुख शत्रु थे। उसके काल में तुर्क भारत पर निरन्तर आक्रमण कर रहे थे। आन्तरिक और बाह्य शत्रुता को ध्यान में रखते हुए पृथ्वीराज तृतीय ने आक्रामक नीति का परिचय दिया जो तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप थी। सन् 1182 से 1192 ई० तक उसने निरन्तर युद्ध किए जिनमें उसने महत्त्वपूर्ण सफलताएँ अर्जित कीं। उसने सर्वप्रथम नागार्जुन के विद्रोह का दमन किया। पृथ्वीराज ने नागार्जुन के सगे-सम्बन्धियों के सिरों को काटकर अजमेर के दरवाजे के बाहर टाँग दिया। 1182-1183 ई० में पृथ्वीराज ने चन्देल राज्य पर आक्रमण कर दिया। उसकी सेनाओं ने कालंजर के प्रसिद्ध दुर्ग को घेरकर चन्देल नरेश परिमर्दिन को बन्दी बना लिया। 1182 ई० में पृथ्वीराज ने चाहमान-राज्य के उत्तर में स्थित भण्डानक-राज्य के राजा साहणपाल के विद्रोह को कुचल दिया। तत्पश्चात उसने गुजरात के चौलुक्य नरेश भीम द्वितीय पर आक्रमण कर दिया। दीर्घकालीन संघर्ष के उपरान्त दोनों के मध्य संधि सम्पन्न हुई।

पृथ्वीराज चौहान और कन्नौज नरेश जयचन्द्र राजनीतिक क्षेत्र में एक-दूसरे के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। जयचन्द्र पृथ्वीराज के आक्रमण के विरुद्ध चन्देल नरेश परिमर्दिन की मदद कर चुका था। तराइन के प्रथम युद्ध के बाद पृथ्वीराज ने जयचन्द्र की पुत्री सुंदरी संयोगिता का, जो उससे प्रेम करती थी, अपहरण किया। इस घटना ने दोनों के मध्य और अधिक वैमनस्य उत्पन्न कर दिया। इस स्थिति का तुर्क-आक्राँता मुहम्मद गोरी ने भरपूर लाभ उठाया। मुहम्मद गोरी भारत में तुर्क-राज्य की स्थापना करना चाहता था। अतः तत्कालीन प्रमुख भारतीय राजाओं के साथ उसका संघर्ष

स्वाभाविक था । 'हम्मीर महाकाव्य', 'पृथ्वीराज प्रवन्ध', 'प्रवन्धचिन्तामणि' और 'पृथ्वीराजरासो' से विदित होता है कि तराइन की लड़ाइयों (1191-1192 ई०) के पूर्व पृथ्वीराज की सेनाएँ कई बार मुहम्मद गोरी की सेनाओं को पराजित कर चुकी थीं। अन्त में तराइन के मैदान में दोनों सेनाओं में भयंकर मुठभेड़ हुई। इन मुठभेड़ों में पहली बार पृथ्वीराज विजयी हुआ, परन्तु दूसरे ही वर्ष (1192 ई०) मुहम्मद गोरी ने अपनी पराजय का बदला चुका दिया।

मूल्यांकन—प्रतापी राजपूत राजाओं में पृथ्वीराज का व्यक्तित्व एवं चरित्र एक सम्राट के रूप में सदैव स्मरणीय रहेगा। यदि वह कूटनीति से काम लेता और मुहम्मद गोरी के छल में नहीं आता तो उसे तराइन के द्वितीय युद्ध में पराजय का मुंह नहीं देखना पड़ता। उसके चरित्र में अनेक गुणों का समावेश था। सम्राट, सेनानायक एवं विजेता तथा साहित्य-प्रेमी के रूप में वह इतिहास के पूर्व-मध्यकालीन भारत के एक महान शासक के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने उसकी वीरता और साहस की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"मध्यकालीन यूरोप के वीर-योद्धाओं की भाँति समर-भूमि में वह बहुत आनन्द का अनुभव करता था। उसकी विजयों से उसका यश देश के कोने-कोने में फैल गया।"

हरिराज—पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद गोविन्द अजमेर का शासक बना। उसे पदच्युत कर हरिराज ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। उसने तुर्कों के विरुद्ध सामरिक अभियान जारी रखा और उनसे अजमेर छीन लिया। तुर्कों के विरुद्ध उसका प्रतिशोध सशक्त और स्थायी न हो सका। फरिश्ता का कथन है कि हरिराज और जेतर (हरिराज का सेनापति) ने मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध किया। परन्तु पराजित हुए और मार डाले गए। हरिराज ने सन् 1198 तक राज्य किया। इस प्रकार पृथ्वीराज तृतीय के काल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचे चाहमान राज्य का अन्त हो गया।

गुजरात का चौलुक्य वंश

उत्पत्ति—अन्य राजपूत वंशों की भाँति चौलुक्य-वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। चौलुक्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। बादामी, कल्याणी और वेंगी के चालुक्यों से गुजरात के चालुक्यों का सम्बन्ध अज्ञात है। बादामी, कल्याणी और वेंगी के वंश-अभिलेखों में चालुक्य नाम ही मिलता है, जबकि गुजरात का वंश अपने को चौलुक्य नाम से पुकारता है।

गुजरात के चौलुक्य-वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुख्यतया तीन मत प्रचलित हैं। उनकी उत्पत्ति अग्निकुण्ड, ब्रह्मा के चुलुक अथवा चन्द्रमा से बताई गई है। कर्नल टॉड, क्रुक, जैक्सन, कैम्पबैल और डॉ० स्मिथ ने 'पृथ्वीराजरासो' के विवरण के आधार पर चौलुक्यों की उत्पत्ति अग्निकुण्ड से बताई है। डॉ० भण्डारकर ने गुर्जर-प्रतीहारों की भाँति चौलुक्यों को भी विदेशी खजरों अथवा गूजरों की सन्तान सिद्ध किया है। तत्कालीन अनुश्रुतियों से विदित होता है कि चौलुक्यों की उत्पत्ति

ब्रह्मा के चुलुक से हुई थी। सोलंकी नरेश विक्रमदेव के अभिलेख से विदित होता है कि चौलुक्य-वंश की उत्पत्ति चन्द्रवंश से हुई थी। वीरनारायण मन्दिर-अभिलेख, कुलोत्तुंग के ताम्रपत्र और चौलदेव के लेखों में चौलुक्यों को चन्द्रवंशी कहा गया है। विद्वानों का मत है कि गुजरात के चौलुक्य-वंश के संस्थापक मूलराज प्रथम ने गुजरात को विजित कर वहाँ चौलुक्य-वंश की नींव डाली।

मूलराज प्रथम (941-996 ई०)—गुजरात के चौलुक्य-वंश का संस्थापक मूलराज प्रथम अत्यधिक साहसी और महत्त्वाकाँक्षी था। गुजराती अनुश्रुतियों से विदित होता है कि मूलराज ने पंचाशर के चावोत्कट राजा सामन्तसिंह को मारकर अन्हिलवाड़ की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। कुमारपाल की वाड़नगर-प्रशस्ति में कहा गया है कि मूलराज करों में कमी करके प्रजा में प्रिय हो गया और चावोत्कट राजाओं की राजलक्ष्मी कैद कर उसने सम्बन्धियों, ब्राह्मणों, चारणों और भृत्यों के कौतुक का विषय बनाया। कादि-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने 'सारस्वत क्षेत्र अपनी बाहुओं की शक्ति से जीता।' मूलराज वीर और साहसी था। उसने निरन्तर विजयें कर चौलुक्य राज्य का विस्तार किया। उसे अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी चाहमान शासक विग्रहराज द्वितीय तथा लाट प्रदेश के सामन्त शासक बारपा के संयुक्त आक्रमण के विरुद्ध नतमस्तक होना पड़ा। 'सुर्जनचरित', 'पृथ्वीराजविजय' और 'प्रबन्धचिन्तामणि' से मूलराज की पराजय पर प्रकाश पड़ता है। आक्रमण की विभीषिका से त्रस्त होकर मूलराज को कन्थादुर्ग में शरण लेनी पड़ी। कूटनीति का परिचय देते हुए मूलराज ने विग्रहराज द्वितीय से सन्धि कर ली। तत्पश्चात मूलराज ने लाट के शासक बारपा को पराजित किया। हेमचन्द्र के कथन तथा सोमेश्वरकृत 'कीर्त्तिकौमुदी' के विवरण से ज्ञात होता है कि मूलराज प्रथम ने बारपा को पराजित किया। मूलराज की लाट-विजय के परिणामस्वरुप गुजरात के चौलुक्यों की परमार नरेश वाक्पति के साथ प्रतिद्वन्द्विता बढ़ गई। उदयपुर-प्रशस्ति और बीजापुर-अभिलेख से विदित होता है कि परमार नरेश वाक्पति (मुंज) ने मूलराज को पराजित कर लाट प्रदेश पर विजय प्राप्त की। राष्ट्रकूट नरेश धवल के बीजापुर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि मूलराज ने आबू के परमार शासक धरणिवराह को परास्त कर हस्तिकुण्डी के धवल के राज्य में शरण लेने को बाध्य किया। मूलराज ने सौराष्ट्र और कच्छ पर विजय प्राप्त की।

चामुण्डराज (997-1009 ई०)—मूलराज प्रथम के बाद युवराज के रूप में पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव प्राप्त चामुण्डराज राजगद्दी पर बैठा। उसे अनेक युद्ध लड़ने पड़े। वसन्तपाल तेजपाल प्रशस्ति से विदित होता है कि चामुण्डराज ने अपने शत्रु राजकुमारों का शीश काटकर इस पृथ्वी का शृंगार किया। उसकी तलवार शत्रु का कंठ काटने के लिए लालायित रहती थी। लाट क्षेत्र पर अधिकार करने के उद्देश्य से चामुण्डराज और परमार शासक सिन्धुराज के मध्य संघर्ष हुआ। कुमारपाल की वाडनगर-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि चामुण्डराज ने सिन्धुराज को पराजित कर उसके यश को हर लिया। चामुण्डराज और सिन्धुराज के मध्य व्याप्त

प्रतिद्वन्द्विता का लाभ उठाकर पश्चिम के चौलुक्यों ने लाट पर अधिकार कर लिया। बारपा ने अपने पुत्र गोंगिराज को लाट क्षेत्र का सामन्त नियुक्त किया।

वल्लभराज और दुर्लभराज (1009-1024 ई०)—चामुण्डराज के पश्चात् उसका पुत्र वल्लभराज शासक बना। उसने केवल छह माह तक शासन किया। चेचक की बीमारी के कारण वह अल्पायु में ही चल बसा। तदुपरान्त उसका अनुज दुर्लभराज सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने कीर्तिपाल को पराजित कर लाट को पुर्नविजित किया।

भीम प्रथम (1024-1064 ई०)—दुर्लभराज अपुत्रक था। अतः दुर्लभराज की मृत्यु के बाद नागराज का पुत्र भीम प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ। भीम प्रथम ने अपने समकालीन राजाओं की चुनौतियों का दृढ़तापूर्वक मुकाबला करते हुए चौलुक्य सत्ता का निरन्तर विस्तार किया और उसे उच्च प्रतिष्ठा प्रदान की। वह अपने समय के भारतीय राजनीतिक मंच का प्रमुख नायक था। सिंहासनारूढ़ होने के एक वर्ष के बाद ही भीम को महमूद गजनवी के आक्रमण का सामना करना पड़ा। इब्न-उत-अतहर का कथन है कि मुल्तान में अपनी सैनिक तैयारियाँ कर 26 नवम्बर, 1025 ई० को महमूद गजनवी 30,000 अश्वारोहियों के साथ वहाँ से गुजरात की ओर चल पड़ा। महमूद के अन्हिलवाड़ पहुँचते ही वहाँ का शासक (भीम प्रथम) नगर छोड़कर अपनी रक्षा हेतु एक दुर्ग में युद्ध की तैयारी करने के लिए जा छिपा और बिना प्रतिरोध के महमूद सोमनाथ की ओर बढ़ गया। दो दिनों तक सोमनाथ मंदिर के रक्षार्थ आए हुए हिन्दुओं के साथ भीषण संग्राम करने के उपरान्त महमूद मन्दिर के अन्दर प्रविष्ट होने में सफल हो गया। वह सोने की रत्नजड़ित शिव प्रतिमा के टुकड़े कर अपार धन-सम्पदा लूट ले गया। महमूद गजनवी सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर को लूटकर स्वदेश चला गया। उसके आक्रमण को झेल लेने के पश्चात् भीम ने सिन्धुनदी को पार कर युद्ध में हम्मुक को पराजित किया। भीम प्रथम ने आबू को पुर्निवजित किया जो उसकी एक महान उपलब्धि थी। भीम ने नाडोली चाहमानों पर कई बार आक्रमण किए, किन्तु उसे बार-बार पराजित होना पड़ा। चौलुक्य नरेश भीम और परमार नरेश भोज दोनों महत्त्वाकांक्षी थे। अतः दोनों की महत्वाकांक्षाएँ परस्पर टकराने लगीं। प्रारम्भ में भोज हावी रहा, परन्तु बाद में भीम ने भोज के शत्रुओं का संघ बना कर उसे बुरी तरह पराजित कर डाला। भीम ने कलचुरि नरेश लक्ष्मीकर्ण के शत्रुओं का संघ निर्मित कर उसे (लक्ष्मीकर्ण को) पराजित किया।

भीम एक पराक्रमी, साहसी, कुशल राजनीतिज्ञ और कूटनीतिक शासक था। उसने राजनीतिक क्षेत्र में बड़ी-बड़ी सत्ताओं से लोहा लिया। वह न केवल एक योद्धा था बल्कि महान निर्माता भी था। आबू का दिलवाड़ा-मन्दिर उसके समय की वास्तु सम्बन्धी सबसे बड़ी कीर्ति है।

कर्ण (1065-1093 ई०)—भीम प्रथम के बाद उसका पुत्र कर्ण राजगद्दी पर बैठा। कर्ण ने मालवा के परमारों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। दोनों पक्ष अपनी-अपनी विजय का दावा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि परमार और चौलुक्य

सेनाओं के मध्य दो युद्ध हुए जिनमें पहली बार चौलुक्य और दूसरी बार परमार विजयी हुए। कर्ण को परमारों के साथ युद्ध में फँसा देखकर नाडोली के चाहमानों ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। जिन्दुराज के पुत्र पृथ्वीपाल ने कर्ण की सेना को हराया और उसके भाई तथा उत्तराधिकारी जोजलदेव ने एक बार अन्हिलवाड़ पर अधिकार कर लिया। किन्तु चाहमानों का यह सामरिक अभियान एक सैनिक धावा मात्र था। कर्ण ने कलचुरि नरेश यशःकर्ण को पराजित कर लाट पर अधिकार कर लिया। किन्तु लाट पर उसका अधिकार अस्थायी सिद्ध हुआ। कर्ण राजनीतिक कार्यों की अपेक्षा वास्तु-निर्माण के कार्य में अधिक रुचि रखता था। उसने आशापल्ली में कोछरब्बा देवी का मन्दिर बनवाया। उसे कर्णेश्वर मन्दिर, कर्णसागर झील और कर्ण मेरु मन्दिर के निर्माण का भी श्रेय दिया जाता है।

जयसिंह सिद्धराज (1094-1142 ई०)—कर्ण के बाद उसका प्रतापी पुत्र जयसिंह सिंहासनारूढ़ हुआ। कर्ण की मृत्यु के समय वह अल्पवयस्क था। मेरुतुंग के अनुसार जयसिंह केवल तीन वर्ष की अवस्था में ही राजगद्दी पर बैठा। कर्ण द्वारा निष्कासित देवप्रसाद ने जयसिंह के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। किन्तु जयसिंह की संरक्षिका माता मयणल्लादेवी और मन्त्री सान्तू ने अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक उसका मार्ग शत्रुओं से निरापद किया। देवप्रसाद को मार डाला गया।

विजयें—जयसिंह सिद्धराज चौलुक्य-वंश का एक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। उसने अनेक विजयें प्राप्त कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसने मालवा को विजित किया। हेमचन्द्र और मेरुतुंग जयसिंह की मालवा-विजय का विस्तृत उल्लेख करते हैं। जिस समय जयसिंह अपनी माता के साथ सोमनाथ तीर्थ की यात्रा पर गया था तो मालवराज यशोवर्मा ने अन्हिलवाड़ पर आक्रमण कर उसके मन्त्री सान्तू को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह अपने स्वामी की सोमनाथ यात्रा का पुण्य उसे दान कर दे। लौटने पर जयसिंह यह जानकर बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने मालवा पर आक्रमण कर यशोवर्मा को बन्दी बना लिया। सोमेश्वर के कथन से विदित होता है कि जयसिंह ने मालवों को युद्ध में पराजित कर वहाँ की राजलक्ष्मी छीन ली और वहाँ के राजा नरवर्मा को सुग्गे की तरह कठघरे में बन्दी बना लिया। जयसिंह सिद्धराज ने सौराष्ट्र में स्थित गिरनार के आभीर राजा खंगार पर भी विजय प्राप्त की। मेरुतुंग के कथन से विदित होता है कि उसका (खंगार का) निग्रह करने में जयसिंह ग्यारह बार असमर्थ हो चुका था। बारहवीं बार उसने स्वयं आक्रमण किया और उसका वध कर दिया। गिरनार के राजा खंगार का वध कर जयसिंह ने अपने राज्य के दण्डनायक सज्जन को वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया। जयसिंह ने बर्बरक राजा को पराजित कर 'बर्बरकजिष्णु' की उपाधि धारण की थी। बर्बरक सरस्वती नदी के तट पर स्थित श्रीस्थलतीर्थ के ब्राह्मणों और ऋषियों को परेशान किया करता था। नाडोली और शाकम्भरी के चाहमानों से चौलुक्यों की प्रतिद्वन्द्विता चली आ रही थी। नाडोल के चाहमान शासक आशाराज ने जयसिंह की अधीनता स्वीकार कर ली। किन्तु शाकम्भरी का शक्तिशाली राजा अर्णोराज आशाराज की नीति के

विरुद्ध था। जयसिंह ने वि० सं० 1178 में नागौर पर अधिकार कर लिया। हेमचन्द्र और सोमेश्वर के कथनों से विदित होता है कि अर्णोराज ने जयसिंह की अधीनता स्वीकार कर ली थी। विजय के उपरान्त जयसिंह ने अर्णोराज से अपनी पुत्री का विवाह कर उसे अपना स्थायी मित्र बना लिया। कीर्तिकौमुदी और दोहद-अभिलेख में सिन्ध पर जयसिंह की विजय का उल्लेख मिलता है। जयसिंह और चन्देल नरेश मदनवर्मा के मध्य संघर्ष हुआ। दोनों पक्ष अपनी-अपनी विजय का दावा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों पक्षों की सीमाओं पर मुठभेड़ होने के बाद दोनों ने परस्पर सन्धि कर ली। गहड़वालों के साथ जयसिंह के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। जयसिंह का कल्याणी के चालुक्यों से भी संघर्ष हुआ।

मूल्यांकन—जयसिंह सिद्धराज एक महान विजेता था। वह प्रथम चौलुक्य शासक था जिसने अपने राज्य की सीमाओं को गुजरात तथा कच्छ-काठियावाड़ से बाहर अवन्ति और राजपूताना के प्रदेशों तक विस्तृत किया। सांस्कृतिक प्रगति में वह विशेष रुचि रखता था। उसने सोमनाथ के दर्शन के लिए जाने वाले तीर्थ यात्रियों पर बहुलोड़ नगर में लगने वाले कर को समाप्त कर दिया। उसने अनेक ब्राह्मणों को कर मुक्त कर दिया। वह शैव मतावलम्बी था। उसने रुद्र-महालय का निर्माण कराया। वह विद्यानुरागी और कलाप्रेमी सम्राट था। मालवा-विजय के समय जयसिंह वहाँ से भोज परमार की अनेक हस्तलिपियों को अपने साथ उठा लाया। हेमचन्द्र के आग्रह पर जयसिंह ने कश्मीर से आठ व्याकरण ग्रंथ मंगवाए। हेमचन्द्र ने एक उच्च कोटि के व्याकरण ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम उसने 'सिद्धहेम' रखा। जयसिंह के दरबार में हेमचन्द्र, श्रीपाल, रामचन्द्र, यशचन्द्र, आचार्य जयमंगल, देवसूरि आदि विद्वान निवास करते थे। जयसिंह ने अपने राज्य में रुद्रसंग्रहालय, सहस्रलिंग सरोवर, दशावतार नारायण मन्दिर आदि का निर्माण करवाया। अपने व्यक्तित्व के अनुरूप उसने 'महाराजाधिराज', 'परमभट्टारक', 'परमेश्वर', 'अवन्ति-नाथ', 'महासिद्धश्चक्रवर्ती', 'बर्बरकजिष्णु', 'त्रैलोक्यमल्ल', 'सिद्धराज' आदि विरुद धारण किए।

कुमारपाल (1143-1172 ई०)—जयसिंह अपुत्रक था। अतः उसने उदयन के पुत्र चाहड़ को गोद ले लिया। कुमारपाल का पितामह क्षेमराज एक नर्तकी का पुत्र था। कुमारपाल की हीनोत्पत्ति के कारण जयसिंह उसे राज्याधिकार देने के विरुद्ध था। जयसिंह ने कुमारपाल के पिता त्रिभुवनपाल का वध करवा दिया और उसे (कुमारपाल को) बन्दी बनाने की आज्ञा दी। किन्तु कुमारपाल अपने प्राणों की रक्षा करने में सफल रहा। जयसिंह के जीवित रहने तक कुमारपाल गुप्त रूप से यत्र-तत्र भटकता रहा। किन्तु जयसिंह की मृत्यु का समाचार पाते ही कुमारपाल ने मन्त्री उदयन और बहनोई कान्हड़देव की सहायता से चौलुक्य राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। राजगद्दी पर बैठने के पश्चात् कुमारपाल ने अपने विरोधियों को मौत के घाट उतार दिया। उसका विश्वासपात्र उदयन मुख्यमन्त्री बना रहा। आन्तरिक संग-ठन को मजबूत बनाकर कुमारपाल ने अपना सामरिक अभियान प्रारम्भ किया।

कुमारपाल को सर्वप्रथम चाहमान नरेश अर्णोराज के आक्रमण का सामना करना पड़ा। उदयन के पुत्र चाहड़ ने अर्णोराज के साथ मिलकर चौलुक्य-राज्य पर आक्रमण कर दिया। कुमारपाल ने रणकौशल का परिचय देते हुए दृढ़तापूर्वक इस आक्रमण का सामना किया। अर्णोराज और उसके सहयोगियों को पराजय का मुंह देखना पड़ा। अर्णोराज ने अपनी पुत्री जल्हणादेवी का विवाह कुमारपाल के साथ सम्पन्न कर उसके साथ सन्धि कर ली। चाहमान नरेश विग्रहराज चतुर्थ कुमारपाल की साम्राज्यवादी नीति के विरुद्ध था। अतः उसने कुमारपाल के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। अजमेर-संग्रहालय में रखी गई चौहान-प्रशस्ति में विग्रहराज द्वारा कुमारपाल की पराजय का उल्लेख मिलता है। कुमारपाल ने अर्णोराज के सहायक मालवा के राजा वल्लाल को पराजित कर मौत के घाट उतार दिया। वाडनगर-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि 'मालवराज का सिर कुमारपाल के महल के द्वार पर टाँग दिया गया।' उसने आबू और किराडू के परमारों को पराजित किया। जैन-ग्रन्थों से विदित होता है कि कुमारपाल की सेनाओं ने कोंकण के शिलाहार राजा मल्लिकार्जुन को युद्ध में पराजित किया। कुमारपाल के शासनकाल में सौराष्ट्र में विद्रोह भड़क उठा। उसने एक सैनिक टुकड़ी भेजकर सौराष्ट्र-विद्रोह को शान्त किया।

कुमारपाल शैव धर्म का अनुयायी था। 'द्वाश्रयकाव्य' से विदित होता है कि उसने शिव, केदारनाथ और सोमनाथ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया तथा कुमारेश्वर का मन्दिर बनवाया। उसके सभी अभिलेख शिव की ही वन्दना से प्रारम्भ होते हैं।

अजयपाल (1173-1176 ई०) -- कुमारपाल के बाद उसका भतीजा अजयपाल राजगद्दी पर बैठा। उसने सपादलक्ष के राजा सोमेश्वर को पराजित कर उससे रजत छत्र तथा हाथी छीन लिए। वह शैव मतावलंबी था। 1176 ई० में अजयपाल के द्वारपाल ने उसका वध कर लिया।

मूलराज द्वितीय (1176-1178 ई०)—अजयपाल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र मूलराज द्वितीय अल्पायु में ही राजगद्दी पर बैठा। मूलराज द्वितीय के शासनकाल की प्रमुख घटना मुहम्मद गोरी का आक्रमण है। काशहृद के मैदान में मूलराज द्वितीय के भाई भीम द्वितीय ने तुर्की सेना को पराजित कर दिया।

भीम द्वितीय (1178-1241 ई०)—मूलराज की मृत्यु के बाद उसका अनुज भीम द्वितीय 1178 ई० में चौलुक्य राजगद्दी पर आसीन हुआ। उसे आंतरिक विद्रोह और बाह्य आक्रमणों का सामना करना पड़ा। अभिलेखों में भीम को 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परमभट्टारक', 'अभिनव सिद्धराज', 'सप्तम चक्रवर्ती', 'अभिनव सिद्धराज देवपाल' और 'नारायणावतार' जैसे विरुदों से अलंकृत किया गया है।

भीम द्वितीय को सर्वप्रथम चाहमान नरेश पृथ्वी राज तृतीय के आक्रमण का सामना करना पड़ा। आबू और नागौर के क्षेत्रों के प्रश्न को लेकर दोनों के मध्य संघर्ष छिड़ गया। पृथ्वीराज इन प्रदेशों को अधिकृत करना चाहता था, किन्तु भीम

इसके लिए तैयार नहीं था। दोनों पक्ष अपनी-अपनी विजय का दावा करते हैं। इन परस्पर-विरोधी विवरणों के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि दोनों पक्षों में कोई सफल न हो सका। अन्त में दोनों में सन्धि हो गई, जिसका उल्लेख जिनपाल कृत 'खतरगच्छपट्टावली' में मिलता है। 1195 ई० में तुर्क सेनापति कुतुबुद्दीन के नेतृत्व में तुर्कों की सेनाएं गुजरात की ओर बढ़ीं। किन्तु भीम की सेनाओं ने उन्हें पराजित कर अजमेर तक उनका पीछा किया। 1197 ई० में कुतुबुद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण करके उसे विजित कर लिया। परन्तु 1201 ई० में भीम ने अन्हिलवाड़ पर पुनः अधिकार कर लिया। चौलुक्यों की क्षीण पड़ती हुई स्थिति को उचित अवसर समझकर परमार नरेश विंध्यवर्मा के पुत्र सुभट वर्मा ने लाट को विजित करके गुजरात पर आक्रमण कर दिया। भीम द्वितीय के अधिकारी श्रीधर ने उसे पराजित कर पीछे ढकेल दिया। भीम द्वितीय की आंतरिक दुर्बलताओं का लाभ उठाते हुए देवगिरि के यादव राजा भिल्लम पंचम ने दक्षिण गुजरात और लाट क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। 1189 ई० के मुटुगि-अभिलेख में उसे 'गुर्जर रूपी बतखों के झुंड के लिए मेघ के लिए भयंकर गर्जन के समान' कहा गया है। किन्तु आगे बढ़ने पर मारवाड़ में भीम के चाहमान सामंत कल्हण ने उसे पराजित कर वापिस लौटने पर विवश कर दिया। अन्त में भीम के मंत्री लवणप्रसाद के प्रयासों के फलस्वरूप चौलुक्यों और यादवों के मध्य संधि संपन्न हो गई।

अनेक आंतरिक दुर्वलताओं एवं निरंतर बाह्य आक्रमणों ने चौलुस्य सत्ता की नींव हिला दी। उसके मंत्री और सामंत ने चौलुक्य सत्ता के विरुद्ध अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी।

मालवा का परमार-वंश

उत्पत्ति—परमारों की उत्पत्ति के संबंध में विद्वान एक मत नहीं हैं। परमार कालीन साहित्य और अभिलेखों के आधार पर कुछ विद्वान् परमारों को अग्निकुल का मानते हैं। तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थों, चारणों अथवा भाटों के कथनों, मुस्लिम साक्ष्यों तथा परमार अभिलेखों में परमारों की उत्पत्ति अग्निकुल से बताई गई है। वाटसन, फोर्ब्स, कैम्पबैल, भंडारकर आदि विद्वान् परमारों को विदेशी आक्रांताओं की संतान सिद्ध करते हैं। डॉ० डी० सी० गांगुली ने परमारों को राष्ट्रकूट प्रमाणित करने का असफल प्रयत्न किया है। अपने मत के समर्थन में वह यह तर्क देते हैं कि परमार शासक वाक्पति मुंज ने 'अमोघवर्ष', 'श्रीवल्लभ' और 'पृथ्वीवल्लभ' जैसी राष्ट्रकूट उपधियां धारण कीं। हलायुध की 'पिंगल सूत्रवृत्ति' में परमारो को ब्रह्मक्षत्र-कुलीन कहा गया है। ब्रह्मक्षत्रकुलीन संज्ञा उन राजवंशों के लिए प्रयुक्त की गई, जिनके मूल पुरुष तो ब्राह्मण थे। किन्तु बाद में किसी कारणवश उन्होंने ब्राह्मणों का कार्य छोड़कर क्षत्रिय-कर्त्तव्य अपना लिया। परमार स्वयं को वसिष्ठ-गोत्री मानते हैं जो वसिष्ठ से उनके मूल सम्बन्ध का द्योतक है। अतः परमारों को मूलतः वसिष्ठ ब्राह्मण और बाद में वसिष्ठ गोत्री क्षत्रिय मानना अधिक उपयुक्त होगा। वे ब्राह्मणों से क्षत्रिय कब और क्यों हुए, इस सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध

नहीं हैं। विभिन्न साक्ष्यों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि प्रारंभ में परमार-वंश उज्जैन में शासन करता था, किन्तु बाद में अन्हिलवाड़ के चौलुक्यों के आक्रमणों से बचने के लिए परमार शासकों ने अपने राज्य की नई राजधानी धारा बनाई। उपेन्द्रराज परमार-वंश का पहला शासक था।

उपेन्द्रराज (790-817) ई०—उपेन्द्रराज परमार वंश का संस्थापक था। विद्वानों का मत है कि वह गुर्जर-प्रतीहारों का सामंत था। उदयपुर-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने 'अपने निजी शौर्य से राजत्व का उच्च पद प्राप्त किया।' वह एक वीर और प्रतापी शासक था। 'नवसाहसांक चरित' के अनुसार उपेन्द्रराज ने प्रजा पर लगाने वाले करों में कमी की। वह एक दानी राजा था और यज्ञों के लिए प्रसिद्ध था। सीता नामक कवयित्री ने उपेन्द्रराज की प्रसिद्धि में अनेक गीत लिखे।

वैरिसिंह प्रथम (817-842 ई०)—उपेन्द्रराज के पश्चात् उसका पुत्र वैरिसिंह प्रथम शासक बना। उसके काल की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विवरण अज्ञात है।

सीअक प्रथम (844-893 ई०)—सीअक वैरिसिंह का पुत्र था। उसे महान् और विजेता शत्रुओं का संहारक कहा गया है। उसके काल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है।

वाक्पति प्रथम (894-920 ई०)—सीअक प्रथम के बाद वाक्पति प्रथम के नाम से कृष्णराज राजगद्दी पर बैठा। वह एक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। उदयपुर-प्रशस्ति से विदित होता है कि वह 'शतमुख (इन्द्र) अवंति की कुमारियों के नेत्रोत्पलों के लिए सूर्य था। स्पष्ट हो जाता है कि वाक्पति प्रथम ने अवंति पर अधिकार कर लिया था। यह भी कहा गया है कि उसकी सेनाओं ने गंगा का जल पिया।

वैरिसिंह द्वितीय (921-945) ई०—वाक्पति प्रथम के बाद उसका पुत्र वैरिसिंह द्वितीय शासक बना। प्रतीहार नरेश महीपाल ने उसे पराजित कर धारा पर अधिकार कर लिया। पदच्युत होकर वैरिसिंह को कुछ समय के लिए इधर-उधर भटकना पड़ा। किन्तु मालवा पर प्रतीहारों का अधिकार अस्थायी सिद्ध हुआ। वैरिसिंह द्वितीय ने राष्ट्रकूट-वंश की मान्यखेट शाखा के शासक से सैन्य सहायता प्राप्त कर महेन्द्रपाल को पराजित कर दिया और मालवा पर पुनः अधिकार कर लिया। वह परमार वंश का प्रथम शासक था जिसने प्रतीहारों की चुनौतियों को स्वीकार किया।

सीअक द्वितीय (945-972 ई०)—वैरिसिंह के उपरांत उसका पुत्र हर्ष सीअक द्वितीय के नाम से शासक बना। अभिलेखीय तथा साहित्यिक साक्ष्यों से विदित होता है कि परमार वंश के प्रारम्भ शासकों में उसकी राजनीतिक उपलब्धियां सर्वाधिक थीं। वह परमार राजवंश का प्रथम शासक था जिसने स्वतंत्र शासक के अनुरूप 'महाराजाधिराजपति' और 'महामाण्डलिकचूड़ामणि' की उपाधियां धारण कीं।

मालवा पर परमारों का अधिकार हो जाने पर उसकी शक्ति में निरंतर वृद्धि हुई। सीअक द्वितीय ने अपने पड़ोसी राज्यों को परास्त कर मालवा को स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया। उसने चालुक्य नरेश अवनिवर्मन योगराज द्वितीय, हूणमण्डल के राजा जज्जप और राष्ट्रकूट नरेश खोट्टिग को पराजित किया।

वाक्पति द्वितीय (मुंजराज) (973-996 ई०)—सीअक द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसका पराक्रमी और सुसंस्कृत पुत्र वाक्पति द्वितीय 973 ई० में राजगद्दी पर बैठा। साहित्यिक साक्ष्यों से विदित होता है कि वाक्पति द्वितीय को मुंज, उत्पलराज, अमोघवर्ष, श्रीवल्लभ, पृथ्वीवल्लभ आदि नामों से पुकारा जाता था। मुंज परमार वंश का वास्तविक संस्थापक था। उसने समस्त कठिनाइयों का दृढ़तापूर्वक सामना करते हुए एक सुदृढ़ और विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

सैनिक अभियान— वाक्पति द्वितीय एक महान् योद्धा था। उसने अनेक युद्ध लड़े और अधिकांश में विजयश्री प्राप्त की। उसका प्रथम सैनिक अभियान मेवाड़ के गुहिल राज्य के विरुद्ध था। उसने मेवाड़ के गुहिल शासक शक्ति कुमार को पराजित कर उसकी राजधानी आघाट को लूटा। राष्ट्रकूट शासक धवल के बीजापुर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि 'मेदपाट के गर्वस्वरूप आघाट (नगर) को नष्ट कर भागते हुए गुहिल राजा को धवल के यहां शरण लेने हेतु विवश किया।' मेवाड़ को विजित कर लेने के उपरांत वाक्पति ने मारवाड़ के चाहमान राज्य को पराजित किया। 'नवसाहसांकचरित' के अनुसार, 'वाक्पति के यश-प्रताप से मारवाड़ी स्त्रियों के हृदय स्थली हारों के मोती नाचने लगते थे।' कौथेम अभिलेख से विदित होता है कि 'उत्पलराज के आगमन से मारवाड़ के लोग कांपने लगे।' चाहमान नरेश को पराजित कर वाक्पति ने उससे आबू और किरादु के प्रदेशों को छीन लिया। कौथेम-अभिलेख हूणों पर वाक्पति की विजय का उल्लेख करता है। उदयपुर प्रशस्ति से वाक्पति द्वितीय और त्रिपुरी के कलचुरि नरेश युवराज द्वितीय के मध्य हुए संघर्ष पर प्रकाश पड़ता है। वाक्पति ने युवराज द्वितीय को पराजित करके कलचुरि राज्य पर अधिकार कर लिया। किन्तु बाद में दोनों के मध्य संधि हो जाने के फलस्वरूप वाक्पति ने कलचुरियों का राज्य उन्हें वापस लौटा दिया। उदयपुर-प्रशस्ति में मुंज की चोल और केरल विजय का उल्लेख किया गया है। वाक्पति ने गुजरात के चौलुक्य नरेश मूलराज प्रथम को पराजित कर मारवाड़ की ओर भागने पर विवश किया। बीजापुर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि मुंज ने भयानक युद्ध में मूलराज की शक्ति नष्ट कर दी तथा उसने धवल से रक्षा की याचना की। मेरुतुंग के 'मुंजप्रबंध' से मुंज तथा कर्नाटक के चालुक्य सम्राट तैलप द्वितीय के मध्य हुए संघर्ष पर प्रकाश पड़ता है। इस युद्ध से पूर्व मुंज (वाक्पति द्वितीय) चालुक्य नरेश तैलप द्वितीय को छह बार पराजित कर चुका था। गोदावरी नदी के पार घमासान युद्ध में वाक्पति द्वितीय बन्दी बना लिया गया। कुछ दिनों तक कारागार में बंद रखने के पश्चात् तैलप द्वितीय ने मुंज को मौत के घाट उतार दिया। तैलप द्वितीय के इस क्रूरतापूर्ण व्यवहार के परिणामस्वरूप चौलुक्यों और परमारों में स्थायी शत्रुता की भावना उत्पन्न हो गई।

सांस्कृतिक उपलब्धियां—मुंज केवल एक कुशल सेनानायक ही नहीं, अपितु एक उत्कृष्ट कोटि का विद्वान और साहित्यप्रेमी भी था। पद्मगुप्त के अनुसार उसमें सरस्वती निवास करती थी। उदयपुर-प्रशस्ति में उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा की गई है। उसके दरबार में 'नवसाहसांकचरित' का रचयिता पद्मगुप्त, 'दशरूपक' का रचयिता धनंजय, 'यशोरूपावलोक' का लेखक धनिक आदि विद्वान निवास करते थे। उसने अनेक तड़ागों का निर्माण करवाया जिसमें धारा का मुंजसागर उल्लेखनीय है। उसने माहेश्वर, उज्जैन और धर्मपुरी के अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया। डॉ० डी० सी० गांगुली ने मुंज की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"एक महान् शासक का इस प्रकार का दुःखद अन्त हुआ, जो एक महान् सेनानायक और महान् कवि ही नहीं, अपितु कला और साहित्य का एक महान् रक्षक भी था।"[1]

सिधुराज (996-1010 ई०)—मुंज के दुःखद अन्त के बाद उसका छोटा भाई सिंधुराज राजगद्दी पर बैठा। प्रतिशोध की भावना से क्रुद्ध होकर सिंधुराज ने सर्वप्रथम तैलप द्वितीय के पुत्र चालुक्य नरेश सत्याग्रह को पराजित किया। सिन्धुराज ने लाट नरेश योगिराज को भी पराजित किया। किन्तु उसे गुजरात के चौलुक्य नरेश चामुण्डराज के विरुद्ध सामरिक अभियान में मुंह की खानी पड़ी। उसने वज्र नरेश, कोशल के सोमवंशी राजा, वागड़ के विद्रोही परमार शासक चण्डप तथा हूण आक्रांताओं को पराजित किया। इस प्रकार विदित होता है कि सिधुराज ने अनेक कठिनाइयों का मुकाबला करते हुए अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की और परमार राज्य को शक्तिशाली स्वरूप प्रदान किया।

भोज परमार (1010-1055 ई०)—सिन्धुराज के बाद उसका पुत्र भोज परमार सिंहासन पर बैठा। उसने मुंज और सिन्धुराज द्वारा विस्तृत परमार-साम्राज्य को चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया। अपनी विद्वत्ता एवं साहसिक कार्यों के कारण भोज की गणना भारत के प्रमुख और लोकप्रिय शासकों में की जाती है। वह परमार-वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली, प्रतापी और कीर्तिवान सम्राट था। अभिलेखों, गुजरात के जैन ग्रन्थों, सुभाषितों और अल्बेरूनी तथा अबुलफजल के ग्रन्थों के उसके सम्बन्ध में प्रकाश पड़ता है। उदयपुर-प्रशस्ति से भोज द्वारा लड़े गये युद्धों पर प्रकाश पड़ता है।

सामरिक अभियान—भोज ने सर्वप्रथम कल्याणी के चालुक्य नरेश जयसिंह को पराजित किया। कल्याणी के चालुक्य नरेश जयसिंह के विरुद्ध इस सैनिक अभियान में कलचुरि नरेश गांगेयदेव विक्रमादित्य और दक्षिण के चोलराज राजेन्द्र ने भोज का साथ दिया था। भोज के सामंत यशोवर्मा का कल्वन-अभिलेख भोज की कर्णाट, लाट और कोंकण-विजय का उल्लेख करता है। इसके विपरीत चालुक्य-अभि-

---

1. "Such was the tragic end of a great king, who was not only a great general and a great poet, but also a great patron of art and literature."

—Dr. D.C. Ganguli

लेख जयसिंह द्वितीय की विजय का उल्लेख करते हैं। जयसिंह का 1019 ई० का अभिलेख उसे 'भोज रूपी कमल के लिए चन्द्र' कहता है। इन समस्त साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि परमार-चालुक्य संघर्ष में पहले भोज की विजय हुई और बाद में जयसिंह को सफलता मिली। उदयपुर-प्रशस्ति, कल्वन अभिलेख तथा सूरत-अभिलेख से विदित होता है कि भोज ने लाट के शासक कीर्तिराज पर आक्रमण करके उसे पराजित किया। लाट पर अधिकार करने के उपरांत भोज ने कंकण विजय की। उसने कोंकण के शीलाहार-वंश के राजा केशिदेव को पराजित कर उसके राज्य (कोंकण) पर अधिकार कर लिया। भोज की कोंकण-विजय अस्थायी सिद्ध हुई। मीरज-अभिलेख से ज्ञात होता है कि 1024 ई० से पूर्व ही जयसिंह ने कोंकण पर भोज का अधिकार समाप्त कर दिया था। उदयपुर-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि भोज ने उड़ीसा के सोमवंशी राजा इन्द्ररथ को पराजित किया। उदयपुर-प्रशस्ति में भोज की तोग्गल और तुरुष्कं विजय का उल्लेख मिलता है। संभवतः तोग्गल महमूद गजनवी का कोई सिपहसालार था। भोज कलचुरि-नरेश गांगेयदेय की बढ़ती हुई शक्ति को अपने लिए चुनौती मानता था। अतः भोज ने गांगेयदेव पर आक्रमण कर दिया। उदयपुर प्रशस्ति, कल्वन-अभिलेख तथा 'पारिजातमंजरी' नाटक भोज की इस (कलचुरि) विजय का उल्लेख करते हैं। शक्तिशाली चन्देल नरेश विद्याधर भोज का समकालीन था। भोज और विद्याधर के मध्य हुए संघर्ष में विद्याधर की विजय हुई। एक चन्देल अभिलेख में कहा गया है कि 'कलचुरि चन्द्र और भोज ने विद्याधर की वैसी ही पूजा की जैसे कोई शिष्य अपने गुरु की करता है।' विद्याधर की मृत्यु के बाद दूबकुण्ड के कछवाहों (कच्छपछातों) ने चन्देलों के स्थान पर भोज परमार की अधीनता स्वीकार कर ली किन्तु ग्वालियर के कछवाहों के राजा कीर्तिराज से भोज का संघर्ष हुआ। सास-बहू अभिलेख से ज्ञात होता है कि मालवा नरेश की असंख्य सेना बुरी तरह पराजित हुई। चाहमान शासक परमारों के सामंत गुहिलोतों के लिए निरंतर परेशानियां उत्पन्न कर रहे थे। चाहमान नरेश वाक्पति द्वितीय ने शक्तिकुमार के पुत्र अम्बाप्रसाद की हत्या कर दी। भोज अपने सामंत की हत्या को सहन नहीं कर सका अतः उसने वाक्पति के पुत्र और उत्तराधिकारी वीर्यराम को पराजित कर उसका गौरव नष्ट कर दिया। डॉ० दशरथ शर्मा के अनुसार इस विजय के परिणामस्वरूप कुछ अवधि तक चाहमान राजधानी शाकम्भरी पर भोज का अधिकार हो गया। जिस समय गुजरात का चौलुक्य नरेश भीम सिन्ध के विरुद्ध सामारिक अभियान में व्यस्त था, उस समय भोज ने अपने सेनापति कुलचन्द्र को गुजरात पर आक्रमण करने के लिए भेजा। भीम की अनुपस्थिति में कुलचन्द्र ने उसकी राजधानी अन्हिलवाड़ को बुरी तरह लूट डाला। जयसिंह द्वितीय के पुत्र एवं उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम ने 1047 ई० में मालवा पर आक्रमण कर भोज की राजधानी धारा को लूट लिया। फलतः अभिमानी मालवेश को अपने ही नगर धारा में झुकना पड़ा। डॉ० गांगुली का मत है कि इस आक्रमण के फलस्वरूप संभवतः चालुक्यों ने परमार-राज्य के कुछ दक्षिणी भागों को अधिकृत कर लिया।

भोज अपनी सैनिक क्षमता, कूटनीतिज्ञता और राजनीतिक प्रभावों के परिणामस्वरूप उत्तर भारत के रंगमंच पर छाया रहा। उसने अनेक विजयें प्राप्त कीं। किन्तु आयु बढ़ने के साथ-साथ सैनिक मामलों में उसकी रुचि कम होती गई और वह सांस्कृतिक क्षेत्र में रुचि रखने लगा। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए भोज के शत्रुओं ने उसके विरुद्ध एक संघ का निर्माण किया। इस संघ में चौलुक्य-नरेश भीम प्रथम, कलचुरि शासक लक्ष्मीकर्ण, चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम और लाट नरेश त्रिलोचन चोल सम्मिलित हुए थे। भीम और लक्ष्मीकर्ण ने परमार राज्य पर आक्रमण कर उसकी राजधानी धारा को लूट लिया और इसी बीच 1055 ई० में भोज की मृत्यु हो गई।

भोज उत्तरी भारत का एक महान् सम्राट था। उसके शासन काल में परमार वंश अपनी उन्नति के चरम शिखर पर था। उसने एक विशाल राज्य की नींव डाली। उदयपुर प्रशस्ति से विदित होता है—"पृथु की तुलना करने वाले उस भोज ने कैलाश पर्वत से लेकर मलयगिरि तक, उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक सारी पृथ्वी का भोग किया तथा अपने धनुष-बाणों से पृथ्वी के सभी राजाओं को उखाड़ते हुए उन्हें विभिन्न दिशाओं में बिखेर कर पृथ्वी का परम प्रीति दाता बना।' मेरुतुंग कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में कहा गया है—"चोड़ (चोड़ का राजा) समुद्र की गोद में प्रवेश कर रहा है और आंध्र (आंध्रपति) पर्वत की खोह में निवास कर रहा है, कर्णाट का राजा पट्टबंध (पगड़ी बांधना) नहीं करता है, गुर्जर (गुर्जर नरेश) निर्झर का आश्रय लेता है, चेदि (चेदि नरेश) अस्त्रों से म्लान हो गया है और राजाओं में सुभट के समान कान्यकुब्ज कुबड़ा हो गया है। हे भोज! तुम्हारे मात्र सेनातंत्र के प्रसार के भय से ही ये सभी राजा लोग व्याकुल हो रहे हैं।" भोज का साम्राज्य पूर्व में कलिंग और चेदि, उत्तर और पूर्वोत्तर में ग्वालियर होते हुए सारा उत्तर प्रदेश और बिहार का कुछ भाग, पश्चिम में लाट और वहां से समुद्र के किनारे होते हुए अपरांत और कोंकण तथा उत्तर-पश्चिम में मेवाड़ और मारवाड़ के बहुत बड़े भाग तक विस्तृत था।

भोज अपनी राजनीतिक उपलब्धियों के कारण उतना प्रसिद्ध नहीं था, जितना विद्यानुराग, प्रकांड पांडित्य, विद्या और साहित्य के संवर्द्धन में योगदान के कारण। भोज ने अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर धारा नगरी बनाई जो शीघ्र ही विद्या और कला के केंद्र के कारण भारत की बौद्धिक राजधानी के रूप में परिणत हो गई। उदयपुर-प्रशस्ति में भोज को 'कविराज' की संज्ञा दी गई है। जनश्रुतियों से विदित होता है कि भोज भारत का सबसे बड़ा साहित्य प्रेमी था। वह स्वयं विद्वान और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में धनपाल, उबट, शोभन, कवयित्री सीता आदि विद्वान निवास करते थे। भोज की रानी अरुन्धती एक विदुषी महिला थीं। भोज स्वयं एक कवि था। उसे सभी शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त था। उसे दो दर्जन ग्रन्थों का रचयिता माना जाता था। 'सरस्वती कण्ठाभरण', 'श्रृंगार प्रकाश', 'प्राकृत व्याकरण', 'पातंजलियोगसूत्रवृत्ति', 'कर्मशतक', 'चम्परामायण', 'श्रृंगारमंजरी',

'समरांगण सूत्रधार', 'काव्यकल्पतरु', 'तत्त्वप्रकाश', 'भुजबल निबन्ध',' राजमृगांक', 'नाममालिका' और 'शब्दानुशासन' उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। व्यूलर महोदय ने भोज की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"वह अनेक पुस्तकों का रचयिता होने के कारण 'कविराज' की उपाधि के योग्य था। यद्यपि इनमें से अधिकांश उसके दरबार के विद्वानों द्वारा लिखी गई होंगी, तथपि एक शासक, जिसको विद्वानों से अत्यधिक सहानुभूति थी तथा जो विद्वानों को ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रोत्साहित कर सका, को उसके समय में लिखित साक्ष्यों में सदैव स्मरणीय व्यक्तित्व के रूप में रहना चाहिए।"[1] भोज एक महान विजेता, अद्वितीय साहित्यकार, साहित्यप्रेमी, विद्वानों का आश्रयदाता और धार्मिक शासक था। डॉ० विशुद्धानन्द पाठक के शब्दों में—"उसकी (भोज की) बहुमुखी प्रतिभा और उसके अधीन मालवा की बहुश्रुति ध्यान में रखते हुए ग्यारहवीं शती का प्रथमार्द्ध भारतीय इतिहास में भोज का युग कहा जा सकता है।" डॉ० गांगुली ने भोज की गणना भारत के महत्तम शासकों में की है।

जयसिंह प्रथम (1055-1070 ई०)—भोज की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जयसिंह शासक बना। जयसिंह ने कल्याणी के चालुक्य शासक सोमेश्वर की मदद से मालवा की राजगद्दी पर अधिकार किया। सोमेश्वर प्रथम के पश्चात् सोमेश्वर द्वितीय ने अपने भाई विक्रमादित्य को पराजित कर राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। सोमेश्वर द्वितीय ने जयसिंह को पराजित कर मार डाला और मालवा पर अधिकार कर लिया।

उदयादित्य (1070-1086 ई०)---उदयादित्य ने शाकम्भरी के चाहमान शासक विग्रहराज तृतीय की सहायता से मालवा पर पुनः अधिकार स्थापित किया। पृथ्वीराज विजय और उदयपुर-प्रशस्ति उदयादित्य की सोमेश्वर द्वितीय और कर्ण पर विजय का उल्लेख करते हैं। वह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उदयादित्य शिव का उपासक था। अभिलेखों में उसके साहित्य-प्रेम का वर्णन मिलता है।

लक्ष्मदेव (1086-1094 ई०)—उदयादित्य के बाद उसका पुत्र लक्ष्मदेव राजगद्दी पर बैठा। लक्ष्मदेव एक कुशल सेनापति और वीर योद्धा था। उसने कलचुरि नरेश यशःकर्ण और चालुक्य नरेश कर्ण को पराजित किया। उसने कलिंग, गौड़ और अंग से युद्ध किये और मुसलमान गवर्नर महमूद को पराजित किया। लक्ष्मदेव को लंका और पाण्ड्य देश का विजेता कहा गया है।

---

1. "He deserved the title 'kaviraj' as he had written books on many subjects. Though much of these must have been written by the literary men living in his court yet a king who had such wide sympathies and could inspire scholarships in so many varied fields of knowledge must ever remain a remarkable personality in the records of his time."

—*Buhler*

नरवर्मा (1094-1133 ई०)—नरवर्मा लक्ष्मदेव का छोटा भाई था। उसे अपने शासनकाल में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। चाहमान शासक अजयराज ने उज्जैन को रौंद कर नरवर्मा के सेनापति सुल्हण को बंदी बना लिया। उसे कलचुरि नरेश सल्लक्षणवर्मन् से पराजित होना पड़ा। जयसिंह सिद्ध राज ने मालवा पर आक्रमण कर नरवर्मा को बंदी बना लिया। कुछ समय बाद नरवर्मा स्वतंत्र हो गया। 1133 ई० में उसका देहावसान हो गया।

यशोवर्मा (1134-1142 ई०)—यशोवर्मा को भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। चन्देल नरेश मदनवर्मा ने यशोवर्मा को पराजित करके उससे भिलसा का प्रदेश छीन लिया। विजयपाल ने मालवा के एक प्रदेश में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। चौलुक्य-नरेश जयसिंह ने यशोवर्मा पर आक्रमण कर उसे बन्दी बना लिया।

जयवर्मन्—यशोवर्मा का पुत्र जयवर्मन् बड़ा वीर और पराक्रमी था। उसने चौलुक्य नरेश जयसिंह पर आक्रमण करके मालवा पर पुनः अधिकार कर लिया। किन्तु कुछ समय बाद कल्याणी के चालुक्य नरेश जगदेकमल्ल और द्वारसमुद्र के होयसल नरेश नरसिंह ने जयबर्मन् के राज्य पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में जयवर्मन् की पराजय हुई और उसके स्थान पर वल्लाल को राजा बनाया गया। 1143 ई० में गुजरात के चौलुक्य नरेश कुमारपाल ने मालवा पर आक्रमण कर उसे अपने राज्य में मिला लिया।

विंध्यवर्मन्—जयवर्मन् का पुत्र विंध्यवर्मन् अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी था। उसने चौलुक्य नरेश मूलराज द्वितीय को पराजित कर मालवा पर पुनः अधिकार कर लिया। तदुपरांत उसे होयसल शासक वल्लाल और यादव नरेश भिल्लम से पराजित होना पड़ा।

सुभटवर्मन्—विंध्यवर्मन के बाद उसका पुत्र सुभटवर्मन् 1193 ई० में मालवा की राजगद्दी पर बैठा। वह एक पराक्रमी नरेश था। उसने गुजरात के चौलुक्यों से लाट छीन लिया। तत्पश्चात् उसने गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ पर अस्थायी अधिकार कर लिया। अन्त में भीम द्वितीय के मंत्री लवणप्रसाद ने उसे पराजित कर गुजरात छोड़ने को बाध्य किया। सुभटवर्मन् को यादव नरेश जैतुगि से भी परास्त होना पड़ा। लगभग 1210 ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद परमारों की शक्ति क्षीण पड़ गई और उनके शासन का अन्त हो गया।

कलचुरि वंश

उत्पत्ति—अन्य राजपूत वंशों की भांति कलचुरि-वंश की उत्पत्ति भी विवादास्पद है। डॉ० भण्डारकर के अनुसार कलचुरि विदेशी आक्रामकों के हिन्दू वंशज थे। अनेक साक्ष्यों से उनका संबंध हैहय नामक प्राचीन जाति से जोड़ा गया है। कलचुरियों के अभिलेखों से विदित होता है कि उनका आदि पुरुष हैहयवंशी क्षत्रिय सहस्रार्जुन था। पुराणों के अनुसार सहस्रार्जुन ने रावण को परास्त किया था। अभिलेखों में

कलचुरियों को कलच्चुरि, कटच्चुरि, कटचूरि, हैहय और अहिहय नामों से पुकारा गया है। चेदि प्रदेश पर शासन करने के कारण उन्हें चेदि, चैद्य तथा चेदि कुल का भी कहा गया है। कलचुरि सोमवंशी अर्थात् चन्द्रवंशीय थे। उन्होंने एक संवत् चलाया जो कलचुरि संवत् के नाम से जाना जाता है। हैहयों का सम्बन्ध मध्य भारत से था। बाद में कलचुरियों ने अपनी शक्ति में वृद्धि कर त्रिपुरी को अपनी नवीन राजधानी बनाया। यद्यपि कलचुरियों की अनेक शाखाओं ने विभिन्न स्थानों पर राज्य किया तथापि सर्वाधिक प्रसिद्धि त्रिपुरी (जबलपुर से छह मील दूर पश्चिम में स्थित वर्तमान समय का तेवर ग्राम) के कलचुरियों को प्राप्त हुई।

प्रारंभिक कलचुरि शासक—डॉ० मीराशी के अनुसार, वामराजदेव कलचुरि वंश का संस्थापक था। वह कोक्कल प्रथम से कई पीढ़ी पूर्व पैदा हुआ था। वामराजदेव को 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज' और 'परमेश्वर' कहा गया है तथा उसके बाद के राजाओं को 'वामदेव पदानुध्याता' (वामदेव के चरणों की पूजा करने वाला) कहा गया है। हर्ष की मृत्यु से उत्पन्न राजनीतिक अव्यवस्था का लाभ उठाकर वामराजदेव ने कालंजर, बुंदेलखंड और बघेलखंड पर अधिकार कर लिया। उसने त्रिपुरी को अपने राज्य की राजधानी बनाया। कुछ समय बाद उसने अयोमुख (प्रतापगढ़ और रायबरेली) पर अधिकार कर लिया। संभवतः उसने सन् 675 से 700 ई० के मध्य शासन किया। वामराज की कुछ पीढ़ियों के बाद शंकरगढ़ प्रथम त्रिपुरी की राजगद्दी पर बैठा। उसके अभिलेखों में उसे 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', और 'परमेश्वर' कहा गया है। वह एक बड़े भू-भाग का स्वामी था। शंकरगण प्रथम के बाद लगभग एक शताब्दी तक कलचुरियों के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। विद्वानों का मत है कि इस अवधि में कलचुरियों ने राष्ट्रकूटों की अधिसत्ता स्वीकार कर ली थी।

कोक्कल प्रथम (850-885 ई०)—कोक्कल प्रथम त्रिपुरी के कलचुरि-वंश का पहला शक्तिशाली शासक था। युवराज देव के बिलहारी-अभिलेख में कहा गया है—"समस्त पृथ्वी को जीतकर उसने कौम्भोदेव (अगस्त्य) की दिशा (दक्षिण) में कृष्णराज एवं कुबेर की दिशा (उत्तर) में श्रीनिधि भोज देव को अपने कीर्तिस्तंभों के रूप में स्थापित किया।" कर्ण के बनारस-अभिलेख में कहा गया है कि उसने 'भोज (गुर्जर-प्रतीहार शासक भोज प्रथम), वल्लभराज (राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय), चित्रकूट भूपाल, हर्ष और शंकरगण नामक राजाओं को अभयदान दिया।' आमोद-अभिलेख से कोक्कल प्रथम की कुछ अन्य विजयों पर प्रकाश पड़ता है। उसमें उल्लिखित है कि कोक्कल ने कर्नाटक, बंग, गुर्जर, कोंकण, शाकम्भरी और तुरुष्कों के कोषों पर आक्रमण किया। कोक्कल प्रथम ने दूरदर्शी राजनीतिज्ञ का परिचय देते हुए स्वयं चन्देल राजकुमारी नट्टादेवी से विवाह किया और अपनी पुत्री का विवाह राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय के साथ सम्पन्न करवाया। राजनीति से प्रेरित इन वैवाहिक सम्बन्धों के फलस्वरूप उसकी (कोक्कल प्रथम की) शक्ति में वृद्धि हुई। कोक्कल चेदिवंश का प्रथम सम्राट था जिसने कलचुरियों की प्रतिष्ठा में अत्यधिक वृद्धि की।

शंकरगण द्वितीय (890-910 ई०)—कोक्कल प्रथम के बाद उसका पुत्र शंकरगण द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने मुग्धतुंग, प्रसिद्ध धवल तथा रोविग्रह की उपाधियां धारण की थीं। उसके शासन काल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। उसने अपनी पुत्री का विवाह राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय के पुत्र जुगतुंग के साथ सम्पन्न करवाया।

युवराज प्रथम (915-945 ई०)—शंकरगण द्वितीय के बाद उसके पुत्र बालहर्ष ने अल्पकाल तक शासन किया। तत्पश्चात् बालहर्ष का अनुज युवराज देव प्रथम राजगद्दी पर आसीन हुआ। वह एक पराक्रमी शासक था। चन्देल नरेश धंग के खजुराहो-अभिलेख में उसे 'प्रसिद्ध राजाओं के सिरों पर पैर रखने वाला' कहा गया है। बिलहारी अभिलेख में कहा गया है कि 'उसने गौड़, कर्णाट, लाट, कश्मीर और कलिंग पर विजय प्राप्त की।' युवराज ने अपनी पुत्री कुन्दक देवी का विवाह राष्ट्रकूट सम्राट अमोघवर्ष तृतीय के साथ सम्पन्न किया। किन्तु उसके पौत्र (पुत्री का पुत्र) कृष्ण तृतीय ने अपने नाना युवराज को पराजित कर डाला। ऐसा विदित होता है कि युवराज प्रथम ने बाद में राष्ट्रकूटों द्वारा छीने गये प्रदेशों को पुनर्विजित कर लिया। बिलहारी-अभिलेख युवराज प्रथम की कर्णाट और लाट विजय का उल्लेख करते हैं। युवराज शैव मतावलंबी था। राजशेखर उसका दरबारी कवि था।

लक्ष्मणराज द्वितीय (945-970 ई०)—युवराज प्रथम के बाद उसका प्रतापी पुत्र लक्ष्मणराज द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। कर्ण के गोहरवा-अभिलेख में उसे अनेक राजाओं का विजेता कहा गया है। उसमें यह उल्लेख मिलता है कि 'लक्ष्मणराज' द्वितीय ने बंगाल के शासक को पराजित किया, पाण्ड्यराज को हराया, लाटराज को लूटा, गुर्जरराज पर विजय प्राप्त की तथा कश्मीर के वीर ने सिर नवा कर उसके चरणों की पूजा की।' यह विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी लक्ष्मणराज के पराक्रम का सूचक है। वह शैव धर्मानुयायी था।

शंकरगण तृतीय (970-980 ई०)—शंकरगण तृतीय लक्ष्मणराज द्वितीय का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था। वह एक दुर्बल शासक था जिसे चन्देल नरेश धंग के छोटे भाई कृष्ण के मन्त्री वाचस्पति के हाथों पराजित होना पड़ा। शंकरगण तृतीय के सम्बन्ध में अन्य विवरण अज्ञात है।

युवराज द्वितीय (980-90 ई०)—शंकरगण तृतीय अपुत्रक था। अतः उसके बाद उसका छोटा भाई युवराज द्वितीय शासक बना। वह भी एक दुर्बल शासक था। उसे परमार नरेश वाक्पति (मुंज) से पराजित होना पड़ा। परमार सेनाओं के आक्रमण की विभीषिका से त्रस्त होकर युवराज राजधानी छोड़कर अन्यत्र भाग गया। बाद में परमार सेनाओं के लौट जाने पर राज्य के मुख्यमन्त्री ने कायर युवराज के स्थान पर कोक्कल द्वितीय को राजगद्दी पर बिठाया।

कोक्कल द्वितीय (990-1015 ई०)—युवराज द्वितीय के बाद राज्य के मंत्रियों ने उसके अवयस्क पुत्र कोक्कल द्वितीय को राजगद्दी पर बिठाया। कोक्कल द्वितीय के अभिलेख में कहा गया है कि उसके सैनिक बढ़ाव को देखकर गुर्जर, गौड़ और कुंतल के राजा राज्य छोड़कर भाग गये। कोक्कल द्वितीय ने चौलुक्य नरेश मूलराज अथवा

चामुण्डराज, गौड़ नरेश महीपाल प्रथम तथा कुंतल नरेश सत्याश्रम को पराजित किया।

गांगेयदेव (1015-1040 ई०)—कोक्कल द्वितीय के बाद उसका पराक्रमी पुत्र गांगेयदेव शासक बना। वह विकट परिस्थितियों में राजगद्दी पर बैठा। परमार और चन्देल शासक राज्य की सीमा पर स्थित उसके प्रमुख शत्रु थे। गांगेयदेव ने दृढ़ता-पूर्वक इन कठिनाइयों का सामना किया। उसने कलचुरि सत्ता के उत्कर्ष में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। गांगेयदेव के सशक्त व्यक्तित्व के आगे आते ही हैहयों ने पुनः अपने को यश, समृद्धि और साम्राज्यवाद के पथ पर अग्रसर पाया। निस्सन्देह वह अपने वंश का प्रथम शक्तिशाली सम्राट् था। गांगेयदेव के पुत्र कर्ण और पौत्र यशःकर्ण के अभि-लेखों से उसके (गांगेयदेव के) समय की घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है।

गांगेयदेव प्रारम्भ में एक सामन्त मात्र था। 1019 ई० के मुकन्दपुर-अभिलेख में गांगेयदेव को 'महामहत्तक' और 'महाराज' मात्र कहा गया है। विद्वानों का मत है कि गांगेयदेव चन्देल-नरेश विद्याधर का सामन्त था। कुलेनुर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि कलचुरि नरेश गांगेयदेव, परमार नरेश भोज और राजेन्द्र चोल ने कल्याणी के चालुक्य शासक जयसिंह के विरुद्ध एक संघ का निर्माण किया। गोहरवा तथा जबल-पुर-अभिलेखों में इस संघ द्वारा जयसिंह पर विजय का उल्लेख मिलता है। किन्तु यह विजय अस्थायी सिद्ध हुई। शीघ्र ही जयसिंह ने इस संघ के तीनों राजाओं को परा-जित कर दिया। मध्यदेश पर अधिकार करने के उद्देश्य से भोज और गांगेयदेव में संघर्ष छिड़ गया। उदयपुर-प्रशस्ति और कल्वन-अभिलेख से विदित होता है कि भोज ने चेदीश्वर (गांगेयदेव) को पराजित किया। चन्देल-नरेश विद्याधर की मृत्यु के बाद गांगेयदेव ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। उसका चन्देल-नरेश विजयपाल से संघर्ष हुआ जिसमें चन्देलों की विजय हुई। महोबा से प्राप्त एक अभिलेख में कहा गया है कि 'जब गांगेयदेव ने संसार पर विजय प्राप्त कर ली तब उसके सामने (विजयपाल) भयानक कठिनाई आई।' परमार नरेश भोज से पराजित हो जाने पर भी गांगेयदेव ने साहस नहीं खोया। उसने काशी और प्रयाग होते हुए सम्पूर्ण दोआब को विजित कर लिया। उसने कांगड़ा के राजा को बन्दी बनाया और वाराणसी को लूटने वाले तुर्क आक्रांता को मार भगाया। गांगेयदेव ने पाल नरेश महीपाल प्रथम के अधिशासकों से वाराणसी के आसपास का क्षेत्र छीन लिया। तत्पश्चात् उसने महीपाल प्रथम से मगध छीनने का असफल प्रयास किया। गांगेयदेव ने उड़ीसा के राजा को पराजित किया। रीवां-अभिलेख का कथन है कि 'उसके सैनिकों द्वारा मारे गये हाथियों के रुधिर से समुद्री किनारों का समस्त क्षेत्र पंकमय हो गया।' गोहरवा-अभिलेख से ज्ञात होता है कि 'उसने समुद्र के किनारे उत्कलराज को जीतकर अपनी बाहु को मानो एक विजयस्तम्भ बना दिया।'

गांगेयदेव एक पराक्रमी नरेश था, उसने अनेक विजयें प्राप्त कर कलचुरि साम्राज्य की सीमाओं में वृद्धि कर दी। उसने एक स्वतन्त्र शासक के अनुरूप 'महा-राजाधिराज', 'परमेश्वर', 'महामण्डलेश्वर', 'विक्रमादित्य' आदि उपाधियाँ धारण कीं।

वह कलचुरि-साम्राज्य की उन्नत अवस्था की आधारशिला रखने वाला था। गांगेयदेव शैव मत का अनुयायी था। उसने सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के चलाये जिनकी शैली का चन्देलों, गहड़वालों और तोमरों ने अनुकरण किया।

लक्ष्मीकर्ण (1041-1072 ई०)—गांगेयदेव की मृत्यु के पश्चात् उसका यशस्वी पुत्र लक्ष्मीकर्ण अथवा कर्ण राजगद्दी पर बैठा। लक्ष्मीकर्ण अपने पिता से भी अधिक प्रतिभाशाली, वीर और प्रतापी शासक सिद्ध हुआ। वह कलचुरि-वंश का सबसे महान् सम्राट् था। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त कलचुरि-साम्राज्य को अपने सैनिक अभियानों द्वारा और अधिक विस्तृत कर दिया। उसे 'सहस्रों युद्धों का विजेता' और 'भारतीय इतिहास में सबसे महान् विजेताओं में से एक' कहा गया है। लक्ष्मीकर्ण के प्राप्त आठ अभिलेखों से उसके राज्यकाल और साम्राज्य-विस्तार पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है।

सामरिक अभियान—लक्ष्मीकर्ण ने वंग के चन्द्रवंशी राजा को पराजित किया। रीवां-अभिलेख से विदित होता है कि 'पूर्व दिशा का राजा रूपी जहाज कर्ण की सेना रूपी समुद्र में डूब गया।' भेड़ाघाट-अभिलेख के अनुसार 'कर्ण के शौर्य के सम्मुख वंग और कलिंग के राजा काँपने लगे।' चन्द्रवंश के बाद वर्मन वंश ने कर्ण की अधीनता में वंग में शासन किया। लक्ष्मीकर्ण ने कलिंग-नरेश चण्डीहार ययाति को पराजित किया। लक्ष्मीकर्ण के उत्कर्ष के समय पालवंश पतन की ओर अग्रसर था। कलचुरि-अभिलेखों एवं तिब्बती साक्ष्यों से विदित होता है कि अनिर्णीत युद्ध के पश्चात् लक्ष्मीकर्ण और पाल-शासक नयपाल के मध्य एक संधि सम्पन्न हो गई। किन्तु नयपाल के उत्तराधिकारी विग्रहपाल को लक्ष्मीकर्ण से पराजित होना पड़ा। लक्ष्मीकर्ण के अभिलेखों और हेमचन्द्रसूरि कृत 'द्वाश्रयकाव्य' से विग्रहपाल पर लक्ष्मीकर्ण की विजय का उल्लेख मिलता है। कलचुरि-राज्य को चालुक्य और चौलुक्यों के खतरे से बचाने के उद्देश्य से लक्ष्मीकर्ण ने पराजित पाल नरेश विग्रहपाल तृतीय से अपनी पुत्री यौवनाश्री का विवाह कर कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया। चन्देल नरेश देववर्मा की दुर्बलता का लाभ उठाते हुए लक्ष्मीकर्ण ने चन्देल-राज्य पर आक्रमण करके देववर्मा की हत्या कर दी और बुंदेलखण्ड के बहुत बड़े भाग को अधिकृत कर लिया। बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित' में लक्ष्मीकर्ण को 'कालंजरपति के लिए काल' कहा गया है। चन्देलों के विरुद्ध लक्ष्मीकर्ण की यह विजय अस्थायी सिद्ध हुई। उसे शीघ्र ही चन्देल नरेश कीर्तिवर्मा से पराजित होना पड़ा। लक्ष्मीकर्ण का कल्याणी के चालुक्यों के साथ दो बार संघर्ष हुआ। पहली बार लक्ष्मीकर्ण की विजय हुई, किन्तु दूसरी बार उसे चालुक्यराज सोमेश्वर से पराजित होना पड़ा। लक्ष्मीकर्ण ने चौलुक्य शासक भीम से मिलकर परमार राज्य पर आक्रमण कर दिया। वृद्ध भोज परमार को पराजित कर लक्ष्मीकर्ण ने उसकी राजधानी धारा को खूब लूटा। बाद में भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह ने कल्याणी के चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम की सहायता से उन्हें (लक्ष्मीकर्ण और भीम को) पराजित करके मालवा पर पुनः अधिकार स्थापित कर लिया। धारा नगर

की लूट के बँटवारे के प्रश्न पर मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण लक्ष्मीकर्ण और भीम के मध्य संघर्ष छिड़ गया। यह संघर्ष अनिर्णीत समाप्त हुआ।

मूल्यांकन—लगभग 1055 ई० में लक्ष्मीकर्ण की सैनिक तथा राजनीतिक प्रतिष्ठा उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर थी। अनेक राजाओं को पराजित कर उसने 'सप्तम चक्रवर्ती', 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'त्रिकलिंगाधिपति', 'निजभुजोपार्जित', 'अश्वपति', 'नरपति', 'गजपति' और 'राजन्याधिपति' जैसी गौरवपूर्ण उपाधियां धारण कीं। सन् 1054-1055 ई० तक लक्ष्मीकर्ण उत्तर भारत का सर्वशक्तिमान सम्राट् बन गया। कलचुरि-अभिलेखों में उसे पाण्ड्य (मदुरा), हूण, मुरल (मालवा), कुंग (सलेम और कोयम्बटूर), वंग, कलिंग और कीर के शासकों के लिए आतंक पैदा करने वाला कहा गया है, किन्तु अपने शासन काल के अन्तिम चरणों में उसे चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम, चन्देल नरेश कीर्तिवर्मा और चौलुक्य शासक भीम द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सोमेश्वर के पुत्र विक्रमादित्य ने लक्ष्मीकर्ण को पराजित कर जयसिंह को मालवा की राजगद्दी पर बिठाया। चन्देल नरेश कीर्तिवर्मा ने लक्ष्मीकर्ण से अपना राज्य छीन लिया। चन्देल-अभिलेखों से विदित होता है कि आठ-दस वर्षों में कलचुरि शासन को कीर्तिवर्मा ने समाप्त कर दिया।

महान् योद्धा होने के साथ-साथ लक्ष्मीकर्ण सांस्कृतिक कार्यों में भी रुचि रखता था। उसने वाराणसी में कर्णमेरु नामक शिव मन्दिर, प्रयाग में कर्णावती नामक घाट और कर्णावती नामक नगर आदि की स्थापना की। वाराणसी और प्रयाग नगर उसे बहुत प्रिय थे।

यशःकर्ण (1073-1123 ई०)—लक्ष्मीकर्ण के पश्चात् उसका पुत्र यशःकर्ण राजगद्दी पर बैठा। वह एक दुर्बल शासक था। गहडवालों ने यशःकर्ण से काशी और प्रयाग के क्षेत्र विजित कर लिए। परमार नरेश लक्ष्मणदेव और चन्देल नरेश सल्लक्ष्मणवर्मन ने यशःकर्ण को पराजित किया।

गयाकर्ण (1123-1151 ई०)—यशःकर्ण का उत्तराधिकारी गयाकर्ण भी एक निर्बल शासक सिद्ध हुआ। चन्देल-नरेश मदनवर्मा ने उसे पराजित किया। गयाकर्ण की दुर्बलता का लाभ उठाकर दक्षिण कोशल के कलचुरि-सामन्त वंश ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। मेरुतुंग से विदित होता है कि गुजरात के विरुद्ध सामरिक अभियान में मार्ग में हाथी पर बैठे गयाकर्ण का हार एक वृक्ष की शाखा में फँस जाने के कारण उसकी मृत्यु हो गई।

नरसिंह (1151-1167 ई०)—गयाकर्ण के बाद नरसिंह सिंहासनारूढ़ हुआ। मीराशी का मत है कि उसने कैमूर की पहाड़ियों के उत्तर वाले क्षेत्र मदनवर्मा से छीन लिए थे। उसके शासनकाल की किसी अन्य घटना का उल्लेख नहीं मिलता है।

जयसिंह (1167-1180 ई०)—नरसिंह के बाद जयसिंह गद्दी पर बैठा। उसने कलचुरि-राज्य पर आक्रमण करने वाले मलिक खुसरो को पराजित किया।

विजयसिंह (1180-1212 ई०)—विजयसिंह कलचुरि वंश का अन्तिम शासक था। धुरेटी-अभिलेख से ज्ञात होता है कि 1212 ई० के लगभग रीवाँ के पार्श्ववर्ती प्रदेश पर चन्देलों ने अधिकार कर लिया था। पश्चिम में परमार और चन्देल, उत्तर में मुस्लिम आक्रमण और दक्षिण से यादवों के आक्रमणों को दुर्बल कलचुरि-शासन नहीं झेल पाया। फलतः कलचुरि-वंश का अन्त हो गया।

मेवाड़ का गुहिलोट वंश

गुप्त-साम्राज्य के पतन के पश्चात् उदयपुर-साम्राज्य के पश्चिमी भाग में गुहिलोट वंश के गुहदत्त नामक एक सरदार ने एक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया। नागहृद (नगदा) उसकी राजधानी थी। गुहदत्त के नवें वंशज बप्पा रावल ने चित्तौड़ की रक्षा हेतु म्लेच्छों के साथ संघर्ष किया। डॉ० मजूमदार के मतानुसार बप्पा रावल ने 728-764 ई० तक राज्य किया।

बप्पा रावल के पश्चात् मत्तत भर्तृपत्त सिंह, खोमान द्वितीय, खोम्मान तृतीय, भर्तृपत्त, अल्लत, नरवाहन, शालिवाहन तथा शक्तिकुमार ने दसवीं शताब्दी के अन्त तक शासन किया।

मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय राणा समरसिंह मेवाड़ में राज्य कर रहा था। वह पृथ्वीराज चौहान का बहनोई था। दोनों ने मिलकर 1192 ई० में तराइन के द्वितीय समर में तुर्क-सेना का सामना किया। अन्त में दोनों युद्ध में मारे गये।

पाल, प्रतीहार और राष्ट्रकूटों के मध्य संघर्ष
(त्रिकोणात्मक संघर्ष)

उत्तरी भारत में शक्ति संतुलन बनाये रखने और गंगा-यमुना के दोआब तथा उसके आसपास के क्षेत्र को अधिकृत करने के उद्देश्य से प्रतीहार, पाल और राष्ट्रकूट राजवंश के राजाओं के मध्य आठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक निरन्तर संघर्ष हुए। प्रतीहार, पाल और राष्ट्रकूट राजवंश के मध्य हुए संघर्ष को 'त्रिकोणात्मक संघर्ष' की संज्ञा दी गई है। त्रिकोणात्मक संघर्ष पर प्रकाश डालने से पूर्व प्रतीहार, पाल और राष्ट्रकूट वंश के सम्बन्ध में संक्षिप्त ज्ञान अर्जित करना नितांत आवश्यक है।

प्रतीहार-वंश—आठवीं शताब्दी के मध्य में नागभट्ट प्रथम ने अवन्ति में प्रतीहार वंश की नींव डाली। वह प्रतापी शासक था। ग्वालियर-प्रशस्ति से विदित होता है कि उसने म्लेच्छाधिपति (अरब सेनापति) की सेनाओं को पराजित किया। नागभट्ट प्रथम के पश्चात् कुकस्थ और देवराज ने शासन किया। 775 ई० में देवराज का महत्त्वाकांक्षी पुत्र वत्सराज अवन्ति का राजा बना। वह उत्तरी भारत का सार्वभौम राजा बनना चाहता था। वत्सराज की मृत्यु के उपरांत उसका यशस्वी पुत्र नागभट्ट राजगद्दी पर बैठा। उसने कन्नौज को विजित कर उसे अपनी राजधानी बनाया। वत्सराज और नागभट्ट द्वितीय ने प्रतीहार-साम्राज्य का निरन्तर विस्तार किया। नाग-

भट्ट द्वितीय के पश्चात् रामभद्र शासक बना। वह दुर्बल राजा सिद्ध हुआ। रामभद्र के उपरांत मिहिर भोज सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने सन् 836 से 885 ई० तक शासन किया। मिहिरभोज प्रतीहार-वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। तदुपरांत महेन्द्रपाल प्रथम, भोज द्विनीय, महीपाल प्रथम, महेन्द्रपाल द्वितीय, देवपाल, विनायकपाल द्वितीय, महीपाल द्वितीय, विजयपाल, राज्यपाल, त्रिलोचनपाल तथा यशःपाल ने राज्य किया। शक्तिशाली प्रतीहार नरेश साम्राज्यवादी थे। अतः तत्कालीन पालवंश और राष्ट्रकूट वंश के राजाओं के साथ उनका संघर्ष स्वाभाविक था।

पाल-वंश—पाल-वंश के संस्थापक गोपाल ने 750 ई० में बंगाल में अपने वंश की नींव डाली। पाल-वंश में गोपाल, धर्मपाल, देवपाल, विग्रहपाल, नारायणपाल, राज्यपाल, गोपाल द्वितीय, विग्रहपाल द्वितीय, महीपाल प्रथम, नयपाल, विग्रहपाल तृतीय, रामपाल, कुमारपाल, गोपाल तृतीय, मदनपाल तथा गोविन्दपाल राजा हुए। धर्मपाल, देवपाल और महीपाल इस वंश के प्रतापी राजा सिद्ध हुए। धर्मपाल और देवपाल के समय में पाल-वंश उत्तरी भारत की एक प्रमुख शक्ति के रूप में उभरकर सामने आया। उत्तरी भारत में अपने साम्राज्य-विस्तार के उद्देश्य से पाल राजाओं के समकालीन राजवंश गुर्जर-प्रतीहार राजाओं के साथ निरन्तर संघर्ष होते रहते थे। राष्ट्रकूट राजाओं द्वारा उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करने के फलस्वरूप पाल शासकों का राष्ट्रकूटों के साथ भी संघर्ष हुआ।

राष्ट्रकूट-वंश—जिस समय उत्तरी भारत में शक्तिशाली प्रतीहार और पाल-वंश के राजा राज्य कर रहे थे, उस समय दक्षिण का स्वामित्व शक्तिशाली राष्ट्रकूट वंशी शासकों के हाथों में था। अशोक महान् के अभिलेखों में रठिकों का उल्लेख मिलता है। डॉ० अल्तेकर का मत है कि राष्ट्रकूट इन्हीं रठिकों से सामन्त थे। राष्ट्र-कूट अभिलेखों में उन्हें महाभारतकालीन यदुवंशियों से सम्बन्धित बताया गया है। राष्ट्रकूट शब्द का अर्थ राष्ट्र का मुखिया बताया गया है। राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट थी। उत्तरी भारत में अपना प्रभाव स्थापित करने तथा शक्ति-संतुलन बनाये रखने के उद्देश्य से राष्ट्रकूटों ने आठवीं शताब्दी के अंतिम चरणों में उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। फलतः राष्ट्रकूटों का प्रतीहार बंश और पाल वंश के राजाओं के साथ प्रबल संघर्ष हुआ।

राष्ट्रकूटों का मूल निवास क्षेत्र लट्टलूर था। प्रारम्भिक राष्ट्रकूट नरेश दन्दि-वर्मन, इन्द्र प्रथम, गोविन्द प्रथम, कर्क प्रथम और इन्द्र तृतीय साधारण शासक थे। दन्दिदुर्ग पहला महान् राष्ट्रकूट राजा था। समगन्द प्लेट तथा एल्लौरा के दशा गुफा अभिलेख में उसकी विजयों का विस्तृत वर्णन मिलता है। दन्दि दुर्ग की मृत्यु के पश्चात् 758 ई० में कृष्ण प्रथम राजा बना। वह प्रतापी नरेश था। कृष्ण प्रथम के बाद गोविन्द द्वितीय, ध्रुव, गोविन्द तृतीय, अमोघवर्ष प्रथम, कृष्ण द्वितीय, इन्द्र तृतीय, अमोघवर्ष द्वितीय, अमोघवर्ष तृतीय, कृष्ण तृतीय, खोत्तिग और कर्क द्वितीय ने राज्य किया। राष्ट्रकूट शासकों में दन्दिदुर्ग, ध्रुव, गोविन्द तृतीय शक्तिशाली राजा थे।

उन्होंने उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप कर प्रतीहार और पाल शासकों को पराजित किया ।

प्रतीहार, पाल और राष्ट्रकूट राजाओं के मध्य जो संघर्ष हुआ उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार विदित होता है—

प्रतीहार—पाल युद्ध
(वत्सराज और धर्मपाल के मध्य संघर्ष)

कन्नौज को अधिकृत करने के उद्देश्य से प्रतीहार नरेश वत्सराज ने 783 ई० में वहाँ के राजा इन्द्रायुध को पराजित कर अपने अधीन कर लिया । डॉ० अल्टेकर का मत है कि वत्सराज के अधीन कन्नौज में इन्द्रायुध नाममात्र को सम्राट् के रूप में वैसे ही शासन कर रहा था, जैसे 18वीं सदी के अन्त में शाह आलम द्वितीय दिल्ली में शासन करता था ।

वत्सराज के बढ़ते हुए प्रभाव को पाल नरेश धर्मपाल सहन नहीं कर सकता था । धर्मपाल कन्नौज की गद्दी पर अपने समर्थक चक्रायुध को बिठाने के लिए कृत-संकल्प था । अतः कन्नौज के प्रश्न को लेकर प्रतीहार नरेश वत्सराज और पाल नरेश धर्मपाल के मध्य संघर्ष हुआ जिसमें धर्मपाल को पराजित होना पड़ा । वनी डिण्डोरी अभिलेख से विदित होता है कि वत्सराज ने सुगमतापूर्वक धर्मपाल को पराजित कर दिया । 'पृथ्वीराज-विजय' नामक ग्रन्थ से भी इस कथन की पुष्टि होती है । इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि चाहमान नरेश दुर्लभराज ने गौड़ नरेश के विरुद्ध युद्ध किया था और अपनी तलवार को गंगा और समुद्र के संगम पर स्नान कराया । दुर्लभराज वत्सराज का सामन्त था, जिसने अपने स्वामी की ओर से धर्मपाल के विरुद्ध सामरिक अभियान में भाग लिया था । इस युद्ध की तिथि तथा इसका स्थान विवादास्पद हैं । प्रोफेसर सिन्हा ने इस युद्ध की तिथि 785-786 ई० निर्धारित की है । डॉ० मजूमदार के अनुसार वत्सराज और धर्मपाल के मध्य यह संघर्ष गंगा-यमुना के दोआब में हुआ था । पृथ्वीराज-विजय में यह स्थान बंगाल बताया गया है ।

राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव का वत्सराज पर आक्रमण—वत्सराज और धर्मपाल का समकालीन राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजा था । वह सम्पूर्ण भारत का राजा बनना चाहता था । अतः उसने प्रतीहार नरेश वत्सराज पर आक्रमण कर दिया । इस युद्ध का एक कारण वत्सराज द्वारा राष्ट्रकूटों के गृह-युद्ध में भाग लेकर ध्रुव के विरुद्ध गोविन्द को सहायता प्रदान करना भी बताया जाता है ।

ध्रुव ने वत्सराज को पराजित कर मरुदेश में शरण लेने को बाध्य किया । गोविन्द तृतीय के वनी-डिण्डोरी और राधनपुर के अभिलेखों से विदित होता है कि ध्रुव ने वत्सराज को पराजित कर वहीं मरुदेश (राजपूताना) में शरण लेने को विवश किया और उसने वत्सराज के यश के साथ ही उन दो राजछत्रों को भी छीन लिया जिन्हें उसने गौड़राज (धर्मपाल) से छीना था ।[1]

1. **"Dhruva caused Vatsaraja to enter upon the path of misfortune in the centre of Maru. From Vatsaraja, he, in a moment, took**

ध्रुव का धर्मपाल पर आक्रमण—अमोघवर्ष के संजान-अभिलेख से विदित होता है कि ध्रुव की सेनाओं ने धर्मपाल को भी पराजित किया। डॉ० अल्तेकर ध्रुव के इस अभियान की तिथि 789-90 ई० निर्धारित करते हैं। सूरत-अभिलेख में ध्रुव द्वारा दोआब में धर्मपाल की पराजय का उल्लेख है। बड़ौदा अभिलेख में कहा गया है—"अपनी तरंगों से सुन्दर लगने वाली गंगा और यमुना को अपने शत्रुओं से जीत कर यशःमूर्ति ध्रुव ने वह अधिराज्य प्राप्त किया जो (उन नदियों द्वारा) दृश्य रूप में प्रकट होता था।" इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ध्रुव और धर्मपाल के मध्य यह संघर्ष गंगा-यमुना के दोआब में हुआ था। वत्सराज और धर्मपाल को पराजित कर ध्रुव अपने राज्य दक्षिण को वापस चला गया।

धर्मपाल का प्रभुत्व—वत्सराज और धर्मपाल को पराजित कर ध्रुव अपने राज्य को लौट गया। ध्रुव द्वारा वत्सराज को राजपूताना की ओर भगाये जाने की घटना ने धर्मपाल के लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ध्रुव के दक्षिण को लौट जाने के तुरन्त बाद धर्मपाल ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। उसने वत्सराज समर्थक कन्नौज नरेश इन्द्रायुध को पराजित कर अपने समर्थक चक्रायुध को वहाँ का राजा बनाया। खालिमपुर-अभिलेख में कहा गया है कि उसने (धर्मपाल) 'कान्यकुब्ज के सम्राट् के रूप में स्वयं को अभिषिक्त कराने का अधिकार प्राप्त करते हुए भी पंचाल देश के प्रसन्न वृद्धों द्वारा उठाये गये अभिषेक-कलश से कान्यकुब्ज के राजा का राज्याभिषेक कराया, जिसे भोज, मत्स्य, मद्र, यदु, यवन, अवन्ति, गांधार और कीर के राजाओं ने अपना सिर झुकाकर साधुवाद करते हुए स्वीकार किया।' नारायण-पाल के भागलपुर अभिलेख से विदित होता है कि धर्मपाल ने इन्द्रराज और अन्य शत्रुओं को पराजित कर महोदय (कन्नौज) नगर पर अधिकार प्राप्त करते हुए उसे याचक चक्रायुध को वैसे ही वापस कर दिया, जैसे बालि ने इन्द्र आदि शत्रुओं को जीतकर भी वामन रूप विष्णु को तीनों लोकों का दान कर दिया था। डॉ० मजूमदार का मत है कि धर्मपाल द्वारा चक्रायुध के राज्याभिषेक के अवसर पर आयोजित समा-रोह में सम्मिलित होने वाले सभी राजा धर्मपाल के अधीन थे। किन्तु डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी चक्रायुध के राज्याभिषेक के अवसर पर विभिन्न राजाओं का उपस्थित होना एक 'राजनीतिक शिष्टाचार' मात्र मानते हैं। ध्रुव के लौटने के उपरांत धर्मपाल उत्तरी भारत का सर्वशक्तिमान सम्राट् बन गया था। गुजराती लेखक सोड्ढल कृत 'उदयसुन्दरी-कथा' में धर्मपाल को 'उत्तरापथ स्वामिन' कहा गया है।

राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय, प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय और पाल नरेश धर्मपाल के मध्य संघर्ष—793 ई० में ध्रुव की मृत्यु के पश्चात् गोविन्द तृतीय राष्ट्र-कूट राज्य की गद्दी पर आसीन हुआ। 805 ई० में वत्सराज की मृत्यु हो गई। इसके बाद उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय राजा हुआ। उस समय उत्तरी भारत में पाल नरेश

---

away, not merely the Ganda's two umbrellas of state, while like the rays of the autumn moon, but his own fame that had spread to the confines of the régions."

धर्मपाल का प्रभुत्व था। साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा के फलस्वरूप गोविन्द तृतीय, नागभट्ट द्वितीय और धर्मपाल के मध्य परस्पर संघर्ष हुए।

गोविन्द तृतीय का नागभट्ट द्वितीय पर आक्रमण—अपने पिता ध्रुव की नीति का अनुसरण करते हुए गोविन्द तृतीय ने उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया। सर्वप्रथम उसने नागभट्ट द्वितीय को पराजित कर डाला। धर्मपाल और चक्रायुध ने उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। संजान-अभिलेख से विदित होता है कि गोविन्द तृतीय ने 'नागभट्ट के सुयश को युद्ध में हर लिया।' राधनपुर अभिलेख में उल्लिखित है कि गोविन्द तृतीय के भयं से नागभट्ट विलुप्त हो गया जहाँ उसे स्वप्न में भी युद्ध न दिखाई दे। मान्ने-अभिलेख से विदित होता है कि गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट को 802 ई० से पूर्व पराजित किया था। डॉ० अल्तेकर के अनुसार यह युद्ध बुन्देलखण्ड के किसी स्थान पर लड़ा गया था।

गोविन्द तृतीय के सम्मुख धर्मपाल का आत्मसमर्पण—गोविन्द तृतीय की दुर्जेय शक्ति का प्रतिरोध न कर धर्मपाल ने उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर देना ही उचित समझा। संजान-ताम्रपत्र से विदित होता है कि गोविन्द तृतीय के सम्मुख धर्मपाल और चक्रायुध स्वयं झुक गये।

नागभट्ट की कन्नौज-विजय—उत्तरी भारत के विजय-अभियान के पश्चात् गोविन्द तृतीय अपने राज्य को लौट गया। गृह-कलह के कारण वह उत्तरी भारत की ओर ध्यान न दे सका। नागभट्ट द्वितीय ने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। उसने धर्मपाल द्वारा संरक्षित चक्रायुध को परास्त कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। उसने कन्नौज को प्रतीहार-राज्य की राजधानी के रूप में विकसित किया।

नागभट्ट द्वितीय और धर्मपाल के मध्य संघर्ष—चक्रायुध को अपदस्थ और पराजित करने की घटना को लेकर नागभट्ट द्वितीय और धर्मपाल के मध्य संघर्ष छिड़ गया जिसमें धर्मपाल पराजित हुआ। कहा जाता है कि नागभट्ट द्वारा भयभीत होकर चक्रायुध धर्मपाल के यहाँ शरण के लिए भागा। नागभट्ट उसका पीछा करता हुआ धर्मपाल के बिहार वाले क्षेत्रों तक चढ़ गया। भोज की ग्वालियर-प्रशस्ति में यह उल्लेख मिलता है—"बंग का राजा (धर्मपाल) अपने हाथियों, घोड़ों और रथों के साथ काले घने बादलों की तरह युद्ध के लिए आ डटा, किन्तु त्रिलोकों को प्रसन्न करने वाला नागभट्ट उगते हुए सूर्य की तरह उस अंधकार को चीरने में सफल हुआ।"[1]

---

1. "Having vanquished his enemy, the lord of Vanga, who appeared like a mass of dark, dense cloud in consequence of the crowd of mighty elephants, horses and chariots, Nagabhatta who alone gladdens (the heart of) the three worlds, revealed himself, even as the rising sun. The sole source of manifestation of the three worlds, reveals himself by vanquishing dense and terrible darkness."

—*Gwalior Inscription*

इस युद्ध में नागभट्ट द्वितीय के सामन्त कक्क, उत्तरी गुजरात के बाहुक धवल और गुहिलवंशी शंकरगण ने अपने स्वामी (नागभट्ट द्वितीय) का साथ दिया। प्रतीहार सामन्त बाउक के जोधपुर-अभिलेख से विदित होता हैं कि यह युद्ध मुंगेर में लड़ा गया। डॉ० दशरथ शर्मा का कथन है कि नागभट्ट द्वितीय और धर्मपाल के मध्य यह युद्ध 802 से 812 ई० के बीच हुआ होगा। धर्मपाल को पराजित कर नागभट्ट द्वितीय उत्तर भारत का सर्वशक्तिशाली सम्राट् बन गया।

प्रतीहार नरेश मिहिर भोज, पाल नरेश देवपाल और राष्ट्रकूट नरेश अमोघ-वर्ष तथा कृष्ण द्वितीय के मध्य संघर्ष—प्रतीहार नरेश मिहिरभोज और पाल नरेश देवपाल राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष तथा कृष्ण द्वितीय के समकालीन थे। इन तीनों राजवंश के राजाओं में साम्राज्य-विस्तार के उद्देश्य से निरन्तर संघर्ष हुए।

मिहिरभोज और राष्ट्रकूटों के मध्य संघर्ष—रामभट्ट (833-36 ई०) के बाद उसका पुत्र मिहिरभोज राजगद्दी पर आसीन हुआ। मिहिरभोज प्रतीहार-वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (814-78 ई०) और कृष्ण द्वितीय (878-911 ई०) उसके समकालीन थे। अमोघवर्ष अपने राज्य के आंतरिक उपद्रवों में ही उलझा रहा। आंतरिक कलह के कारण उसे उत्तरी भारत की ओर अग्रसर होने का अवसर नहीं मिल पाया। इस स्थिति का मिहिरभोज ने यथासम्भव लाभ उठाया। उसने राष्ट्रकूट राज्य के उज्जैन प्रदेश को अधिकृत कर लिया। किन्तु उसकी विजय स्थायी सिद्ध न हो सकी। राष्ट्रकूटों की गुजरात शाखा के शासक ध्रुव द्वितीय ने 867 ई० में मिहिरभोज को पराजित कर उसके द्वारा अधिकृत राष्ट्रकूट राज्य के प्रदेशों को छीन लिया। ध्रुव द्वितीय के बागुम्रा-अभिलेख (867 ई०) से विदित होता है कि उसने 'अपने कुल्यों की सहायता से, लक्ष्मी से युक्त, युद्ध के लिए लालायित गुर्ज्जर की अत्यन्त बलवान सेना को बड़ी आसानी से पराङ्मुख कर दिया।'[1]

878 ई० में अमोघवर्ष की मृत्यु के पश्चात् कृष्ण द्वितीय शासक बना। कृष्ण द्वितीय और भोज के मध्य कई बार युद्ध हुए। इन युद्धों में कभी कृष्ण द्वितीय की विजय हुई तो कभी भोज विजयी हुआ। बारतों-संग्रहालय के एक खण्डित अभिलेख में कहा गया है कि भोज ने मान्यखेट की मुख्य शाखा के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय को स्वदेश वापस लौट जाने को विवश किया। कृष्ण तृतीय के देवली और करहद अभिलेखों में कृष्ण द्वितीय द्वारा भोज को तर्जित (भयभीत) करने की बात कही गई है।

भोज और देवपाल के मध्य संघर्ष—भोज और देवपाल समकालीन थे। दोनों अत्यधिक शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी थे। मिहिरभोज और देवपाल दोनों साम्राज्यवादी थे। अतः दोनों की भिड़न्त स्वाभाविक थी। मिहिरभोज और देवपाल

---

1. "Dhruva II easily put to flight the very strong army of the Gurjara that was eager and reinforccd by his kinsmen."

—*Bagumra Plates*

दोनों के अभिलेख अपनी-अपनी विजय का दावा करते हैं। भोज की ग्वालियर-प्रशस्ति में उल्लिखित है कि जिस 'लक्ष्मी ने धर्म (धर्मपाल) के पुत्र (देवपाल) का वरण किया था, वही बाद में भोज की पुनर्भू (दूसरा पति बनाने वाली) हो गई।'[1] अर्थात् राजलक्ष्मी देवपाल के अधिकार से निकलकर भोज के अधिकार में चली गई।

पाल नरेश नारायणपाल के बादल अभिलेख से विदित होता है कि 'देवपाल ने गुर्जरनाथ के दर्प को चूर किया।'[2] ऐसा प्रतीत होता है कि भोज और देवपाल के मध्य हुए संघर्षों में यद्यपि प्रारम्भ में देवपाल की विजय हुई, तथापि अन्त में भोज ने देवपाल को पराजित कर डाला।

विग्रहपाल की पराजय—देवपाल के पश्चात् विग्रहपाल ने चार वर्ष (850-854 ई०) तक राज्य किया। कुछ विद्वानों का मत है कि मिहिरभोज ने अपने सामंत हर्षराज गुहिल की सहायता से विग्रहपाल को परास्त किया था।

महेन्द्रपाल (प्रतीहार) और नारायणपाल (पाल) के मध्य संघर्ष—भोज के पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम राजा हुआ। पाल नरेश नारायणपाल उसका समकालीन था। ऐसा विदित होता है कि नारायणपाल के राज्यकाल के उत्तरार्द्ध में प्रतीहार नरेश महेन्द्रपाल ने सम्पूर्ण मगध और उत्तरी बंगाल के बहुत बड़े भाग को पालों से छीन लिया था। महेन्द्रपाल के बिहार से प्राप्त तीन अभिलेख तथा बंगाल से प्राप्त एक अभिलेख इस कथन की पुष्टि करते हैं। मगध में नारायणपाल के शासन-काल के सत्रहवें वर्ष से लेकर सैंतीसवें वर्ष तक का कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं होता है। अतः कहा जा सकता है कि इस अवधि में मगध प्रतीहारों के अधीन था।

पाल-राष्ट्रकूट संघर्ष—नारायणपाल को राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (814-880 ई०) और कृष्ण द्वितीय के आक्रमणों का भी सामना करना पड़ा। अमोघवर्ष प्रथम के नीलगुण्ड और सिरूर से प्राप्त अभिलेखों में कहा गया है कि अंग, वंग, मगध तथा वेंगी के राजा अमोघवर्ष की पूजा करते थे। अमोघवर्ष प्रथम के उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय ने नारायणपाल को पराजित किया। कृष्ण तृतीय के अभिलेखों में कहा गया है कि कृष्ण द्वितीय ने 'गुरु की तरह पालों को विनम्रता का पाठ पढ़ाया तथा उसकी आज्ञाओं का पालन अंग, कलिंग, गंग और मगध (के शासक) करते थे।'

महीपाल प्रथम और इन्द्र तृतीय के मध्य संघर्ष—भोज द्वितीय को अपदस्थ कर 912 ई० में महीपाल प्रथम (912-943 ई०) ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय (914-922 ई०) महीपाल प्रथम का समकालीन था। खम्भात अभिलेख से विदित होता है कि इन्द्र तृतीय ने महीपाल प्रथम को पराजित

1. "The Goddess of Fortune forsook Devapala and chose Bhoja as her overlord."

   —*Gwalior Inscription*

2. "The Lord of Ganda (Devapala) scattered the conceit of Gurjara Lord."

   —*Badal Pillar Inscription*

कर डाला। उसमें कहा गया है कि 'मदस्रावी हाथियों के दाँतों की चपेट से कालप्रिय (उज्जैन के महाकाल) मन्दिर का मण्डप ऊबड़-खाबड़ हो गया। उसके घोड़ों ने 'सिंधु प्रतिस्पर्द्धिनी' और तलहीन यमुना नदी को पार किया और उसके कुशस्थल नाम से प्रसिद्ध महोदय नगर (कन्नौज) को समूल उखाड़ फेंका।' इस आक्रमण की पुष्टि कन्नड़ कवि पम्प-विरचित 'पम्प भारत' नामक काव्य से भी होती है। यह आक्रमण सन् 915 से 918 ई० के मध्य कभी हुआ था।

कृष्ण तृतीय का प्रतीहार राज्य पर आक्रमण—महीपाल प्रथम के शासनकाल के अन्तिम चरणों में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय ने उत्तर भारत पर आक्रमण कर दिया। कृष्ण तृतीय के 940-41 ई० के देवली और 958-59 ई० के कर्हाट अभिलेखों में कहा गया है कि 'यह सुनने पर कि अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टिमात्र से ही उसने (कृष्ण तृतीय ने) दक्षिण दिशा से सभी दुर्गों की विजय कर ली है, गुर्ज्जरराज के मन से कालंजर और चित्रकूट के दुर्गों के पुनः वापस मिलने की आशा समाप्त हो गई।' देवली-अभिलेख की तिथि 940 ई० है। अतः कृष्ण तृतीय का उत्तरी अभियान 940 ई० से पूर्व हुआ होगा। अरब यात्री अलमसूदी ने भी प्रतीहारों (बऊर) और राष्ट्रकूटों (बल्हार) के मध्य हुए संघर्ष का उल्लेख किया है।

संघर्ष की समाप्ति

सन् 750 से 950 ई० के मध्य प्रतीहार, पाल और राष्ट्रकूट वंश में अनेक प्रतापी राजा हुए जिनमें साम्राज्य-विस्तार और प्रभुत्व स्थापित करने के लिए निरंतर संघर्ष हुए।

प्रतीहार नरेश महीपाल के पश्चात् प्रतीहार वंश में कोई भी ऐसा शक्तिशाली राजा नहीं हुआ जो साम्राज्य की सीमाओं को अक्षुण्ण रख सकता। उसकी मृत्यु के उपरांत 943 ई० से 1036 ई० तक प्रतीहार वंश के छोटे-छोटे राजाओं ने राज्य किया। महमूद गजनवी के आक्रमणों ने प्रतीहार राज्य की नींव हिला दी और 1036 ई० में प्रतीहार-शासन समाप्त हो गया। 1061 ई० में पाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। राष्ट्रकूटों का शासन इससे पूर्व ही समाप्त हो चुका था। 974 ई० में राष्ट्रकूटों के सामन्त तैल द्वितीय ने उनके शासन को समाप्त कर दिया। इस प्रकार दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रतीहार, पाल और राष्ट्रकूट राजाओं की शक्ति क्षीण पड़ जाने के कारण त्रिकोणात्मक संघर्ष का भी अन्त हो गया।

मूल्यांकन—आठवीं शताब्दी के मध्य से दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक प्रतीहार, पाल और राष्ट्रकूट राजा निरन्तर संघर्षरत रहे। उनके मध्य संघर्ष के कारणों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ० मजूमदार का मत है कि इस संघर्ष का प्रमुख कारण कन्नौज पर अधिकार प्राप्त करना था, जिसके लिए तीनों ही राजवंशों ने प्रयत्न किया। इस उद्देश्य में कभी एक सफल हुआ तो कभी दूसरा। डॉ० सिन्हा इस मत को स्वीकार करते हुए लिखते हैं पालों, प्रतीहारों तथा राष्ट्रकूटों की प्रतियोगी नीतियों के प्रेरक तत्त्व मूलतः आर्थिक थे। गंगा-यमुना के दोआब की प्रचुर

धन-सम्पत्ति और दोआब से गुजरने वाले व्यापारिक पथों पर नियन्त्रण स्थापित करना ही उनका मूल उद्देश्य था। डॉ० मजूमदार और डॉ० सिन्हा के मत तर्कसंगत नहीं हैं। जहाँ तक पाल-प्रतीहार संघर्षों का प्रश्न है, इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि प्रारम्भ में वे दोनों ही कन्नौज पर प्रभुत्व जमाना चाहते थे। परन्तु प्रतीहार नरेश नागभट्ट का कन्नौज पर शासन स्थापित हो जाने के पश्चात् पालों और प्रतीहारों के मध्य संघर्ष एक-दूसरे के मुकाबले अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए और अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा के लिए हुए। विद्वानों का मत है कि राष्ट्रकूटों द्वारा उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करने का मूल उद्देश्य प्रतीहारों अथवा पालों को इतना शक्तिशाली होने से रोकना था कि वे राष्ट्रों के लिए घातक सिद्ध न हो सकें। राष्ट्रकटों ने अनेक बार प्रतीहार और पाल राजाओं को पराजित करने के उपरांत भी उनके राज्यों को अपने राज्य में नहीं मिलाया। प्रतीहार, पाल और राष्ट्रकूट राजाओं के मध्य जो संघर्ष हुआ वह एक संघर्ष मात्र था। उसके कोई भी निश्चित परिणाम नहीं हुए। इसका परिणाम केवल यह हुआ कि तीनों राज्यों की शक्ति शनैः-शनैः समाप्त हो गई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. गुर्जर प्रतीहार कौन थे ? वत्सराज और नागभट्ट द्वितीय के काल में प्रतीहार साम्राज्य का मूल्यांकन कीजिए।
2. मिहिरभोज के जीवन-चरित्र एवं उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
3. प्रतीहार वंश का इतिहास संक्षेप में लिखिए।
4. पाल नरेश धर्मपाल का मूल्यांकन कीजिए।
5. देवपाल की विजयों का उल्लेख कीजिए। क्या यह कहना उचित है कि देवपाल पालवंश का महत्तम सम्राट् था ?
6. पाल वंश का इतिहास संक्षेप में लिखिए।
7. सेनवंश का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।
8. गहड़वाल वंश का इतिहास लिखिए।
9. चन्देल कौन थे ? उनका इतिहास लिखिए।
10. चाहमान कौन थे ? अर्णोराज की विजयों पर प्रकाश डालिए।
11. पृथ्वीराज तृतीय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का उल्लेख कीजिए।
12. चौलुक्य वंश का इतिहास लिखिए।
13. जयसिंह सिद्धराज का मूल्यांकन कीजिए।
14. भोज परमार की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
15. कलचुरि वंश का इतिहास संक्षेप में लिखिए।
16. लक्ष्मीकर्ण की विजयों का उल्लेख कीजिए।
17. पाल-प्रतीहार और राष्ट्रकूटों के मध्य हुए संघर्ष की बिबेचना कीजिए।

26

राजपूतकालीन सभ्यता और संस्कृति

सन् 650 ई० से 1200 ई० तक का काल भारतीय इतिहास में राजपूत युग के नाम से विख्यात है। राजपूत वीर और साहसी थे। वे तलवार के धनी थे और युद्ध से उन्हें स्वाभाविक प्रेम था। पराजित शत्रु का पीछा करना वे धर्म के विरुद्ध मानते थे। कर्नल टॉड के अनुसार, "प्रशंसायोग्य उत्साह, देश-भक्ति, सम्मान, अतिथि-सत्कार और सरलता के गुण तो उनमें बिना सोच-विचार के स्वीकार करने ही होंगे।"[1] राजपूत महान् योद्धा थे। रणक्षेत्र में वीरतापूर्ण समर वे अपना दायित्व मानते थे। वे रणक्षेत्र से भागना कलंक समझते थे। समर-भूमि में अपना सर्वस्व बलिदान करने तथा सहर्ष मृत्यु का आलिंगन करने में वे अपना गौरव समझते थे। राजपूतों के वीरत्व की प्रशंसा करते हुए इतिहासकार बर्नियर ने लिखा है—"यदि कोई राजपूत नेता वीर पुरुष हो, तो उसे अपने साथियों द्वारा साथ छोड़ने का भय नहीं होता था। उसके साथी केवल यह चाहते थे कि उन्हें भोजन मिलता रहे, क्योंकि उन्होंने उसके साथ ही मरने का प्रण किया हुआ था। उसे कभी यह भय नहीं होता था कि उसके अनुयायी उसे शत्रु के हाथों में सौंप देंगे।"[2] स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा करना वे अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते थे। राजपूत राजाओं ने अरबों और तुर्कों

1. "High courage, patriotism, loyalty, honour, hospitality and simplicity are qualities which must at once be conceded to the Rajputs."

—Tod

2. "If the Rajput is a brave man, he need never entertain an apprehension of being deserted by his followers, they only require to be well fed, for their minds are made up to die in his presence rather than abandon him to his enemies."

—Bernier

के विरुद्ध सामरिक अभियान किये। उन्होंने अरबों को पराजित कर उन्हें सिंध और मुल्तान से आगे नहीं बढ़ने दिया। महमूद गजनवी से पूर्व और बाद के तुर्क आक्रांताओं को भी उन्होंने नतमस्तक किया। राजपूत कालीन सभ्यता और संस्कृति इस प्रकार दृष्टिगोचर होती है—

शासन-प्रबन्ध

राजपूत-राज्यों में राजतन्त्रात्मक शासन-पद्धति प्रचलित थी। राजा निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। सम्पूर्ण राजपूत-राज्य छोटी-छोटी जागीरों में विभक्त था। जागीर का प्रशासक सामन्त कहलाता था। सम्राट् 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' तथा सामंत 'महाराजा' का विरुद धारण करते थे। राजा को देवता समझा जाता था। नागभट्ट प्रथम और नागभट्ट द्वितीय को नारायण कहा गया। भोज प्रतीहार को 'आदिवराह' की संज्ञा दी गई है। राजा के पास अपनी सेना होती थी किन्तु उसे अधिकतर सामन्तों की सेना पर निर्भर रहना पड़ता था। राजपूत-कालीन राज्य का अस्तित्व राजा की वीरता और सैन्य बल पर निर्भर करता था। राजा राज्य के सभी विभागों का सर्वोच्च अधिकारी होता था। राजपूत राजाओं में वंशानुगत उत्तराधिकार की प्रथा प्रचलित थी।

राजा के बाद सामन्त का स्थान होता था। उसे अपने राज्य में प्रशासन सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। उसकी अपनी अलग सेना होती थी। युद्ध और संकट के समय वह राजा की मदद करता था। सामन्त राजा को कर आदि उपहार देते थे और उसके प्रति वफादार होते थे। बाद में सामन्तों में स्वामिभक्ति की कमी हो गई थी। सामन्त 'महाराज' का विरुद धारण करते थे। वे मुख्यतः राजकुल से सम्बन्धित होते थे।

मौर्यकाल और गुप्तकाल की भाँति राजपूतकाल में मन्त्रिपरिषद का प्रभाव नहीं रह गया था। उसका स्थान नौकरशाही ने ले लिया था। राजा का दरबार चाटुकार भाटों और चारणों से भरा रहता था जो झूठी प्रशंसा करके राजा के कृपा पात्र बने थे।

राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि-कर था। सामन्तों से प्राप्त धन, व्यापार और उद्योग-धन्धों पर लगाये गये करों से राज्य को आय प्राप्त होती थी।

राज्य से प्राप्त आय को शिक्षा, साहित्य और कला के विकास, कृषि, सिंचाई, दान तथा अन्य जन कल्याणकारी कार्यों पर व्यय किया जाता था। राज्य के अधिकारियों और कर्मचारियों को वेतन दिया जाता था। सेना पर अत्यधिक व्यय किया जाता था। सेना के बल पर ही उनका राज्य टिका रहता था।

प्रशासन की सुविधा के लिए राज्य भुक्ति, विषय, नगर और ग्रामों में विभक्त था। गांव शासन की सबसे छोटी इकाई थी, किन्तु उसका अधिकार-क्षेत्र विस्तृत था। ग्राम-पंचायत भू-कर वसूल करती थी और दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों को तय करती थी।

राजपूत-कालीन शासन-प्रबन्ध मौर्य और गुप्त शासन की भाँति सुदृढ़ और सुसंगठित नहीं था। सामन्तों को प्राप्त विशेषाधिकारों से उनमें स्वतन्त्रता की भावना बलवती हो गई। केन्द्रीय सत्ता के दुर्बल पड़ते ही उन्होंने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। दुर्बल शासन के कारण ही राजपूत-राज्य महमूद गजनवी से पराजित हुए और मुहम्मद गोरी के आक्रमणों ने धराशायी कर उनका उन्मूलन कर दिया। इस सम्बन्ध में डॉ० ईश्वरीप्रसाद का यह कथन उल्लेखनीय है—"भारत में राजनीतिक तथा सामाजिक एकता तथा सुदृढ़ता का सर्वथा अभाव था। देश में असंख्य नेता थे। उनकी शक्ति विभिन्न राज्यों के पारस्परिक द्वन्द्वों से क्षीण हो चुकी थी। भारतवर्ष शब्द केवल भौगोलिक एकता का द्योतक था। इसलिए जब विदेशियों से जीवन-मरण का संग्राम हुआ तो देश असहाय सिद्ध हुआ और विदेशी आक्रमणकारियों ने इस सुन्दर तथा उर्वरा भूमि को बार-बार पदाक्रांत तथा भ्रष्ट किया।"

सामाजिक दशा

राजपूत काल में वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा में कठोरता आ गई थी। राजपूत कालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था की कठोरता, जातियों का बाहुल्य और स्त्रियों की दशा हीन थी।

कठोर वर्ण-व्यवस्था—राजपूत-कालीन समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में विभक्त था। वर्ण का आधार कर्म न होकर जन्म था। वर्णों के मध्य खान-पान, विवाह, व्यवसाय-परिवर्तन पूर्णतया निषिद्ध थे। इसका कुप्रभाव देश की सुरक्षा पर भी पड़ा। क्षत्रिय वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्णों के लोगों ने तुर्कों के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाये, वर्ण के आधार पर व्यवसाय निर्धारित थे।

ब्राह्मणों की समाज में विशेष प्रतिष्ठा थी। राजपूत राजाओं के अभिलेखों से विदित होता है कि उन्होंने ब्राह्मणों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया तथा भूमि एवं धन से सम्मानित किया। बड़े से बड़े अपराध करने पर भी ब्राह्मण को मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाता था। शूद्रों को हीन समझा जाता था। उनकी दशा अत्यन्त दयनीय थी। छुआछूत की बुराई ने उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया था। वर्ण-व्यवस्था की कठोरता ने समाज की एकता को समूल नष्ट कर दिया।

जातियों का बाहुल्य—खान-पान, विवाह, प्रादेशिकता, जातीय बहिष्कार, वंशानुगत व्यवस्था, राजपद आदि के कारण भारत में अनगिनत जातियों का भी आविर्भाव हुआ। प्रत्येक जाति अपने को एक पूर्ण समाज समझती थी। जातियों में परस्पर खान-पान, विवाह, आचार-व्यवहार आदि निषिद्ध था।

वर्ण-व्यवस्था में कठोरता और जातियों में पारस्परिक द्वेष-भाव के कारण समाज में संकीर्णता की भावना उत्पन्न हो गई। तत्कालीन सामाजिक दशा पर प्रकाश डालते हुई अल्बेरूनी ने लिखा है—"मूर्खता एक ऐसा रोग है जिसका संसार में कोई इलाज नहीं है। हिन्दुओं का विचार है कि उनके देश जैसा कोई देश नहीं, उनके

राजा जैसा कोई राजा नहीं, उनके धर्म जैसा कोई धर्म नहीं, उनके विज्ञान जैसा कोई विज्ञान नहीं है। वे घमण्डी, अहंकारी, हठी और मूर्ख हैं। वे जो कुछ जानते हैं उसे दूसरों को नहीं बताते हैं। वे दूसरी जाति वालों, विशेषकर विदेशियों को अपना ज्ञान नहीं बताते। उनकी धारणा है कि संसार में कोई भी ऐसी जाति नहीं है जो ज्ञान में उनकी बराबरी कर सके। वे इतने अभिमानी हैं कि यदि उनसे फारस अथवा खुरासान की कोई विद्या या विद्वान् की बात कही जाय, तो वे इसे असत्य मानते हैं। यदि वे विदेशों का भ्रमण करें तो उनकी यह मिथ्या धारणा मिट जायेगी। उनके पूर्वज इतने संकुचित नहीं थे जितने इस पीढ़ी के हैं।"

स्त्रियों की दशा—राजपूतकालीन समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। तत्कालीन धर्मशास्त्रों के अनुसार नारी को बाल्यकाल में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के अनुशासन में रहना चाहिए। चाहे पति कितना ही गुणविहीन तथा सदाचाररहित हो, उसकी देवता के समान पूजा करनी आवश्यक थी। कन्याओं का परिवार में आगमन एक भयंकर संकट माना जाता था। स्वाभिमानी राजपूत नरेश अपनी कन्याओं का किसी से पाणिग्रहण कराने में अपनी मान-हानि समझते थे। अतएव कन्या-वध की परम्परा प्रारम्भ हुई। साधारणतया लोग बाल्यकाल में ही लड़कियों का बिवाह कर देते थे। राजवंश के लोगों में बहु-विवाह की प्रथा थी। कलचुरि राजा गांगेयदेव की सौ पत्नियों का उल्लेख मिलता है। विधवा विवाह निषिद्ध थे। विधवा को उपेक्षित जीवन व्यतीत करना पड़ता था जिसने उन्हें सती-प्रथा की ओर अग्रसर किया। इच्छा न होने पर भी स्त्रियों को पति की मृत देह के साथ जला दिया जाता था। बाल-विवाह के कारण स्त्रियों में शिक्षा का विशेष प्रचलन नहीं था।

यद्यपि राजपूत काल में नारियों की स्थिति अच्छी नहीं थी, तथापि राजवंश से सम्बन्धित महिलाओं की दशा उन्नत थी। उन्हें 'स्वयम्वर द्वारा पति चुनने की स्वतन्त्रता थी। राजा गूबक द्वितीय की बहिन कलावती, राजा महेन्द्र की बहन दुर्लभ देवी और कन्नौज नरेश जयचन्द की पुत्री संयोगिता ने स्वयम्वर-प्रथा द्वारा पति-वरण किया था। उच्च कुल की महिलाएँ शिक्षित थीं। मंडन मिश्र की पत्नी ने शंकराचार्य को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। कवि राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थी। इन्दू लेखा, मरुला, शीला, सुभद्रा, लक्ष्मी, विज्जिका, मोरिका, पद्श्री और मदालसा राजपूत काल की विदुषी नारियां थीं। महिलाएँ नृत्य, संगीत, शस्त्र विद्या और प्रशासन सम्बन्धी ज्ञान भी अर्जित करती थीं। अल्बेरूनी का कथन है—"सभी स्त्रियां सुशिक्षित होती थीं और सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लेती थीं। वे संस्कृत लिख-पढ़ सकती थीं। इसके अतिरिक्त नाच-गान, चित्रकला तथा मूर्तिकला का ज्ञान भी वे अर्जित करती थीं।"

खान-पान और वेश-भूषा—जैन-धर्म के अनुयायियों के अतिरिक्त राजपूत-कालीन लोग शराब, अफीम और मांस का प्रयोग करते थे। राजपूतों में अनेक दुर्व्यसन आ गए थे। परम्परागत आभूषण और वेशभूषा धारण की जाती थी। स्त्री

और पुरुष दोनों आभूषण प्रिय थे। संगीत, नाटक, आखेट, शतरंज, द्यूतक्रीड़ा आदि मनोविनोद के साधन थे।

धार्मिक दशा

राजपूतकाल में हिन्दू धर्म का प्रचलन था। बौद्ध धर्म अवनति की अवस्था में था। बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन-धर्म अधिक लोकप्रिय था। विष्णु और शिव की उपासना की जाती थी तथा राम और कृष्ण को अवतार माना जाने लगा था। सूर्य और दुर्गा की पूजा भी प्रचलित थी। देवताओं के मंदिर और मूर्तियाँ निर्मित की गईं। वैष्णव धर्म अत्यधिक लोकप्रिय था। वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिणी भारत के आचार्यों ने विशेष योग दिया। नाथमुनि, रामानुजाचार्य और माधवाचार्य ने वैष्णवाचार्य के गीतों का संग्रह कर उन्हें गाये जाने पर बल दिया। रामानुजाचार्य ने बारहवीं शताब्दी में विशिष्टाद्वैतवाद नामक सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन्होंने भक्ति मार्ग पर जोर दिया। तेरहवीं शताब्दी में माधवाचार्य ने जीव को ब्रह्म से भिन्न मानते हुए द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। बाद में चैतन्य ने वैष्णव धर्म को लोकप्रिय बना दिया।

आठवीं शताब्दी में जगद्गुरु शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ। उन्होंने जैन-धर्म, बौद्ध और शैव धर्म का विरोध किया। उन्होंने अद्वैतवाद नामक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार परमात्मा ही संसार का पालन और हरण करता है। उन्होंने देश के चार कोनों में चार मठों की स्थापना की।

चोल और पांड्य शासकों के आश्रय के कारण दक्षिणी भारत में शैव धर्म का प्रसार हुआ। अनेक रूपों में शिव की उपासना की जाती थी।

बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म उन्नत अवस्था पर था। गुर्जरप्रतीहार तथा दक्षिण-पश्चिमी भारत के चालुक्य नरेशों ने जैन तीर्थंकरों के मन्दिर निर्मित करवाये। चन्देल शासकों के राज्य काल में खजुराहो में जैन तीर्थंकरों के पाँच मन्दिरों का निर्माण हुआ। कुमारपाल ने जैन आचार्य हेमचन्द्र को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। बौद्ध धर्म ने तांत्रिक स्वरूप ले लिया था। उसके अनुयायी तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने आदि में विश्वास करने लगे थे। शंकराचार्य ओर कुमारिल भट्ट के विरोध के सम्मुख बौद्ध धर्म नहीं टिक सका।

राजपूतकालीन धार्मिक जीवन अस्त-व्यस्त था। देश में अनेक सम्प्रदाय थे जिनमें परस्पर द्वेष की भावना थी। समाज में अंध-विश्वास और पाखण्ड का प्रचार था। धर्म ग्रन्थों में हिन्दुओं के लिए समुद्र-यात्रा का निषेध किया गया था। लोग भाग्य में अटूट विश्वास करते थे। राजा भविष्य वाणियों में विश्वास करते थे। लोग तन्त्र-मन्त्र, झाड़-फूंक, जादू-टोना आदि पर अगाध विश्वास करते थे।

आर्थिक दशा

राजपूतकाल में भारतीयों का जीवन सुखी और समृद्ध था। कृषि जीवन-यापन

का प्रमुख साधन था। राज्य की ओर से सिंचाई की विशेष व्यवस्था थी। कुओं, तालाबों, झीलों, नहरों आदि द्वारा सिंचाई की विशेष व्यवस्था की जाती थी। परमार शासक भोज ने भोपाल के दक्षिण-पूर्व में 250 वर्ग मील लम्बे भोजसर का निर्माण करवाया।

कृषि के अतिरिक्त इस काल में व्यापार और छोटे-छोटे उद्योगों में भारी वृद्धि हुई। व्यापारिक उन्नति और यातायात की सुविधा के लिए राज्य के प्रमुख नगरों को सड़कों द्वारा जोड़ा गया था। मन्दिर सम्पदा के केन्द्र थे। राजा, सामन्त, धनी वर्ग के लोग ठाठ-बाट का जीवन व्यतीत करते थे। साधारण व्यक्ति भी आसानी से अपना जीवन यापन कर लेता था। भारत की अगाध धन-सम्पदा ने ही धन-लोलुप महमूद गजनवी को भारत पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया। उसने अपने आक्रमणों का निशाना भी धन-दौलत के भण्डार मन्दिर को बनाया।

शिक्षा, साहित्य और कला

राजनीतिक एकता से विहीन राजपूत काल में शिक्षा, साहित्य और कला के क्षेत्र में उन्नति हुई। अल्बेरुनी का कथन है कि उस काल में शिक्षा का अच्छा प्रचार था। बौद्ध धर्म अवनति की दशा में होने पर भी उसके मठ शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर रहे थे। उस समय नालन्दा विश्वविख्यात विश्वविद्यालय था। बंगाल नरेश धर्मपाल ने विक्रमशीला विश्वविद्यालय की स्थापना की। सोमपुरी, उदन्तपुरी, विक्रमपुरी और जगदल शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। राजा भोज ने एक विश्वविद्यालय स्थापित किया था। दक्षिणी भारत के राजाओं ने शिक्षा के प्रसार में अभिरुचि दिखाई।

साहित्यिक क्षेत्र में राजपूत काल में उल्लेखनीय प्रगति हुई। इस काल में अनेक साहित्यकार हुए जिन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से राजपूतकाल की कीर्ति को अमर कर दिया। अनेक राजपूत नरेश स्वयं उच्च कोटि के विद्वान् थे। परमार नरेश मुंज और भोज उत्कृष्ट कोटि के विद्वान् थे। भोज परमार ने चिकित्सा, ज्योतिष, व्याकरण, वास्तुकला आदि से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे। वह अपनी काव्य-प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध है।

राजपूत काल में भवभूति जैसा प्रतिभासम्पन्न नाटककार हुआ। उसने 'उत्तर-रामचरित', 'महावीरचरित' और 'मालतीमाधव' नामक नाटकों की रचना की। राजपूतकालीन रचनाओं में राजशेखर की कर्पूरमंजरी, काव्यमीमांसा, बालरामा-यण, विद्धशालभंजिका, श्रीहर्ष का नैषधचरित, जयदेव का गीतगोविन्द, बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित, सोमदेव का कथासरितसागर, कल्हण की राजत गिणी, जया-नक कृत पृथ्वीराज विजय तथा चन्दबरदाई कृत पृथ्वीराजरासो विशेष उल्लेखनीय हैं। कुमारिल भट्ट, मंडनमिश्र, गुरु शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और माधवाचार्य जैसे धर्माचार्यों के आविर्भाव का काल राजपूत-युग था। इन धर्माचार्यों ने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की।

राजपूत राजा न केवल महान् योद्धा थे, बल्कि कला के विकास की ओर भी उन्होंने अभिरुचि दिखाई। उन्होंने मन्दिरों, मूर्तियों और सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण करवाया। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने आठवीं शताब्दी में औरंगाबाद के समीप 34 गुहा मन्दिरों का निर्माण करवाया जो उस काल की कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। आबू पर्वत पर राजपूतों ने अनेक मन्दिर निर्मित करवाये। राजपूतकालीन मन्दिरों में देलवारा का मन्दिर, कलिंग का मन्दिर (उदयपुर के समीप), चित्तौड़गढ़ में कालिका का मन्दिर, बुन्देलखण्ड में खजुराहो के मन्दिर, ग्वालियर में सास-बहू का मन्दिर, भुवनेश्वर का मन्दिर, विष्णु, शिव तथा जैन मन्दिर उल्लेखनीय हैं। मन्दिरों को भव्य और आकर्षक बनाया गया है। उनमें सुन्दर मूर्तियाँ रखी गई हैं तथा उनके शीर्ष गगनचुम्बी हैं। मन्दिरों में गर्भगृह, मंडप तथा अर्द्ध-मंडप बनाये जाते थे।

राजपूत राजाओं ने राज्य को सामरिक सुदृढ़ता प्रदान करने के उद्देश्य से अनेक सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण किया। चित्तौड़, रणथम्भौर, माण्डू, ग्वालियर, महोबा, कालिंजर, चन्देरी आदि स्थानों में राजपूत राजाओं ने दुर्गों का निर्माण किया। चोल शासनकाल में कला के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई।

राजपूतकाल में देवताओं की उपासना की जाती थी। मन्दिरों में भी देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। उस काल के कलाकारों ने हिन्दू तथा बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक देवताओं की प्रतिमाएँ बनाई हैं। बंगाल के पाल शासकों ने मूर्ति कला के विकास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

वैज्ञानिक प्रगति—राजपूत-काल में वैज्ञानिक उन्नति भी हुई। ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, भास्कराचार्य, नागार्जुन, माधवकर, वंगसेन, चक्रपाणिदत्त आदि इस काल के प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे।

ब्रह्मगुप्त ने गणित के बारे में विवरण प्रस्तुत किया। भास्कराचार्य ने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी गोल है। उसने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत को भली-भाँति प्रतिपादित किया। नागार्जुन ने अनेक धातुओं की भस्म तैयार करने की विधियों पर प्रकाश डाला। इस काल में चिकित्सा विज्ञान, औषधि विज्ञान, रसायन विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि की अद्भुत उन्नति हुई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. राजपूतकालीन समाज और संस्कृति पर प्रकाश डालिए।

27

दक्षिण भारत के राज्य

विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण में तुंगभद्रा नदी के विशाल प्रदेश तथा तुंगभद्रा नदी से दक्षिण में कन्याकुमारी अन्तरीप तक के प्रदेश को दक्षिणी भारत के नाम से जाना जाता है।

दक्षिणी भारत के पुरातन इतिहास के सम्बन्ध में अत्यन्त अल्प जानकारी ही उपलब्ध है। वहाँ की जटिल भौगोलिक परिस्थितियों तथा निर्धनता के कारण उत्तरी भारत के शक्तिशाली राजवंशों ने दक्षिणी भारत को अपने राज्यान्तर्गत रखने के लिए न तो कोई उत्साह दिखाया और न ही कोई विशेष प्रयास किए। कहा जाता है कि सर्वप्रथम अगस्त्य ऋषि ने विंध्यपर्वत को लांघकर दक्षिण में आर्य सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया। रामायण में आर्यों के दक्षिणापथ में जाने तथा वहाँ के लोगों से सम्बन्ध स्थापित करने का उल्लेख मिलता है। बाद के भारतीय साहित्यिक ग्रन्थों में दक्षिणी भारत का विशद वर्णन उल्लिखित है।

भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने एवं अपनी दिग्विजय की लिप्सा को पूर्ण करने के उद्देश्य से मौर्य तथा गुप्तवंश के राजाओं ने दक्षिणापथ की विजयें अवश्य कीं। किन्तु दूरस्थ प्रदेश होने के कारण गुप्त राजाओं ने दक्षिण के राज्यों को विजित करके उनके स्वामियों को करद राजा बनाकर उनके राज्य वापस कर दिये। दक्षिणी भारत में राजनीतिक एकता का प्रायः अभाव रहा। यद्यपि सातवाहन-काल में कुछ अवधि के लिए दक्षिण में राजनीतिक एकता स्थापित हो गई थी, तथापि सातवाहन वंश के पतन के तुरन्त बाद एक बार वह पुनः विच्छिन्न हो गई। नाग और वाकाटक राजाओं ने दक्षिण के कुछ प्रदेशों पर आधिपत्य जमा लिया। वाकाटक और गुप्त साम्राज्यों के प्रभाव के बाद दक्षिणी भारत में अनेक राजवंशों का आविर्भाव हुआ। जिस समय उत्तरी भारत में अनेक राजपूत-राज्य विद्यमान थे, उस समय दक्षिणी भारत में चालुक्य, पल्लव, राष्ट्रकूट, चोल, यादव होयसल, पांड्य, चेरि, कदम्ब, गंग आदि राजवंश राज्य कर रहे थे।

चालुक्य वंश

दक्षिणी भारत के इतिहास में चालुक्य-वंश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चालुक्यों ने छठी से आठवीं शताब्दी तक तथा दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक राज्य किया। चालुक्य-वंश की तीन शाखाओं ने शासन किया—(1) बादामी के चालुक्य (2) वेंगी के चालुक्य और (3) कल्याणी के चालुक्य।

चालुक्य वंश के राजाओं के क्रिया-कलापों पर प्रकाश डालने से पूर्व उसकी (चालुक्य वंश की) उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न मतों की विवेचना आवश्यक है।

चालुक्यों की उत्पत्ति—चालुक्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। डॉ० स्मिथ ने चालुक्यों को विदेशी गुर्जरों की सन्तान बताया है। उनका कथन है—"चालुक्यों अथवा सोलंकियों का सम्बन्ध चापों से था, अतएव वे विदेशी गुर्जर जाति के थे और सम्भवतः वे राजपूताना से दक्कन गये थे।" डॉ० सरकार का मत है कि चालुक्य एक देशीय कन्नड़ परिवार के थे जो क्षत्रिय होने का दावा करते थे। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने लिखा है—"कुछ आधुनिक विद्वानों का विचार है कि यथार्थ में चालुक्यों का सम्बन्ध चपों और उत्तर की विदेशी गुर्जर जाति से था, परन्तु इस मत की पुष्टि में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अभिलेखों से चालुक्यों और गुर्जरों में अन्तर प्रदर्शित किया गया है और चालुक्यों का नामकरण तथा चारित्रिक विशेषताएँ निश्चित रूप से दक्षिणी भारत की ही हैं।"[1] विल्हणकृत 'विक्रमांकदेव-चरित' से विदित होता है कि चालुक्य वंश के संस्थापक को पृथ्वी के अधर्म को नष्ट करने के लिए ब्रह्मा ने इन्द्र की प्रार्थना पर अपने चुलुक के जल से पैदा किया था। विक्रमादित्य षष्ठ के काल के हण्डरि-अभिलेख के अनुसार चालुक्य जाति की उत्पत्ति हारिति पंचशिखि नामक ऋषि के कमण्डल से हुई। जयसिंह सूरीकृत 'कुमारपाल भूपाल चरित' में कहा गया है—"चालुक्य चुलुक्य के वंशज हैं जिसने अगणित शत्रुओं का विनाश कर मधुपद्म को अपनी राजधानी बनाया।" चन्दबरदाई कृत पृथ्वीराजरासो के अनुसार, "वसिष्ठ ने राक्षसों के संहार के लिए प्रतीहार, चालुक्य, परमार और अन्ततः चाहमानों की उत्पत्ति की जिन्होंने राक्षसों का वध किया।" चालुक्य-अभिलेखों में उन्हें 'मानव्य सगोत्र' और 'हारितिपुत्र' कहा गया है। चालुक्य अपनी उत्पत्ति चन्द्र से बताते हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि चालुक्यों के पूर्वज उत्तर भारत के किसी क्षत्रिय-वंश से उत्पन्न हुए थे। वहाँ से वे राजस्थान होते हुए दक्षिण-कर्नाटक पहुँचे, जहाँ पाँचवीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने एक राजवंश की स्थापना की। चालुक्यों के पूर्वजों को अयोध्या से सम्बन्धित बताया गया है।

---

1. "Some modern writers believe that the Chalukyas were in reality connected with the Chapas and Foreign Gujar tribe of the north but there is very little to be said in support of this conjecture. Inscriptions distinguish between Chalukyas and Gujars and the characteristic nomenclature of the line distinctly southern." —*Dr. H. C. Raychaudhari*

डॉ० आयंगर का मत है कि दक्षिण में प्रविष्ट होने से पूर्व लगभग 60 पीढ़ियों तक चालुक्यों ने अयोध्या में शासन किया।

चालुक्य-वंश की जिन तीन शाखाओं ने शासन किया उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

बादामी के पूर्वकालीन पश्चिमी चालुक्य

साहित्य और रणराग—बादामी (वातापी) के चालुक्य राज्य की संस्थापना का श्रेय जयसिंह प्रथम को दिया जाता है। उसने राष्ट्रकूटों और कदम्बों से संघर्ष करके एक छोटे से राज्य की स्थापना कर डाली। तत्पश्चात् रणराग राजा हुआ। जयसिंह और रणराग के सम्बन्ध में अन्य विवरण अज्ञात हैं। वे दोनों साधारण राजा प्रतीत होते हैं।

पुलकेशी प्रथम (535-566)—रणराग के उपरान्त लगभग 535 ई० में उसका पुत्र पुलकेशी प्रथम राजगद्दी पर बैठा। पुलकेशी प्रथम एक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। उसने अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा करते हुए वातापीपुर को विजित कर लिया। उसने अश्वमेध, वाजपेय, हिरण्यगर्भ, अग्निष्टोम, अग्निचयन, बहुसुवर्ण आदि यज्ञ सम्पादित किए। वीरता में उसकी तुलना ययाति और दिलीप जैसे महान् सम्राटों से की गई है। उसने 'श्रीपृथ्वीवल्लभ', 'रणविक्रम', 'सत्याश्रय' आदि गौरवसूचक विरुद धारण किए। पुलकेशी प्रथम न केवल एक योद्धा वरन् विद्यानुरागी और विद्वानों का आश्रयदाता भी था। अभिलेखों से उसे मानव धर्म-शास्त्र, पुराणों, रामायण-महाभारत तथा इतिहास का ज्ञाता कहा गया है। उसका राज्य आधुनिक बीजापुर जिले तक सीमित था और बादामी उसके राज्य की राजधानी थी। पुलकेशी प्रथम को चालुक्य-वंश का वास्तविक संस्थापक कहा जाता है।

कीर्तिवर्मन प्रथम (566-597 ई०)—पुलकेशी प्रथम के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र कीर्तिवर्मन सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने अपने पैतृक राज्य का निरन्तर विस्तार किया। अभिलेखों में उसे कोंकण के मौर्यों, वनवासी के कदम्बों और दक्षिण मैसूर के नलों का विजेता कहा गया है। ऐहोल-अभिलेख में उसे नलों, मौर्यों और कदम्बों के लिए 'विनाश की निशा' कहा गया है। महाकूट स्तम्भ-अभिलेख में वंग, अंग, कलिंग, वत्तुर, मगध, मद्रक, केरल, गंग, मूषक, पाण्ड्य, द्रमिल, चौलिय, वैजयन्ती, नल, मौर्य, कदम्ब आदि राज्यों के ऊपर उसकी विजय का उल्लेख मिलता है। यह विवरण अतिरंजित होने पर भी उसके वीरत्व का परिचायक है। कीर्तिवर्मन ने पृथ्वीवल्लभ, पुरुरणपराक्रम और सत्याश्रय की उपाधियाँ धारण कीं तथा बहुसुवर्ण एवं अग्निष्टोम यज्ञ सम्पादित किए। उसने अपनी राजधानी बादामी में प्राचीन भवनों और मन्दिरों का निर्माण करवाया।

मंगलेश (597-610 ई0)—कीर्तिवर्मन की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुज मंगलेश ने राजगद्दी हथिया ली। कहा जाता है कि मंगलेश ने अपने अवयस्क भतीजे पुलकेशी

द्वितीय (कीर्तिवर्मा का पुत्र) को भगाकर राज्य पर अधिकार कर लिया। मंगलेश एक प्रतापी राजा था। उसने पूर्व पयोधि और पश्चिम समुद्र के मध्य के प्रदेशों को विजित किया। उसने रेवती द्वीप को विजित कर कलचुरियों को नतमस्तक किया। मंगलेश भागवत धर्म का अनुयायी था। उसने अपनी राजधानी बादामी में विष्णु का भव्य गुहा मन्दिर निर्मित करवाया। मंगलेश अपने पुत्र को राज्याधिकारी बनाना चाहता था। उसकी इस नीति का पुलकेशी द्वितीय ने घोर विरोध किया। उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर मंगलेश और पुलकेशी द्वितीय के मध्य संघर्ष छिड़ गया। अन्ततः पुलकेशी द्वितीय ने मंगलेश को मौत के घाट उतार कर चालुक्य राजसत्ता पर अधिकार कर लिया।

पुलकेशी द्वितीय (610-642 ई०)—मंगलेश को मौत के घाट उतार कर लगभग 610 ई० में पुलकेशी (पुलकेशिन) द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। वह बड़ी विकट परिस्थितियों में सिंहासनारूढ़ हुआ। पुलकेशी द्वितीय और मंगलेश के मध्य हुए गृह युद्ध को उचित अवसर समझ कर चालुक्यों के शत्रुओं तथा स्वतन्त्र होने की महत्त्वाकांक्षा रखने वाले अधीनस्थ शासकों ने भरपूर लाभ उठाने की सोची। परन्तु पुलकेशी के पराक्रम और नीति के आगे उन्हें सफलता नहीं मिल पाई।

पुलकेशी द्वितीय चालुक्य वंश का सर्वाधिक प्रतापी शासक था। उसने बड़ी कुशलतापूर्वक आन्तरिक विद्रोह का दमन किया और बाह्य आक्रमणों का प्रतिरोध किया। गोविन्द और अप्पायिक पुलकेशी द्वितीय के सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी थे। पुलकेशी ने कूटनीति का परिचय देते हुए गोविन्द को अपनी ओर मिला लिया और अप्पायिक को परास्त कर दिया। आन्तरिक संगठन को सुदृढ़ स्वरूप प्रदान करने के बाद पुलकेशी द्वितीय ने सामरिक अभियान किए। ऐहोल-अभिलेख के प्रशस्तिकार रविकीर्ति ने उसकी विजयों का उल्लेख किया है। संक्षेप में उसकी विजयों का उल्लेख इस प्रकार है—नवासियों को पराजित करके पुलकेशी द्वितीय ने उनकी राजधानी पर अधिकार कर लिया। मैसूर के गंगों, मालाबार के अलूपों और कोंकण के मौर्यों ने उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। उसने दक्षिणी गुजरात के लाटों, मालवों और गुर्जरों को भी पराजित किया। उत्तरापथ के स्वामी सम्राट् हर्ष को पराजित करना उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी। महाकोशल और कलिंग के राजाओं ने पुलकेशी द्वितीय के सामने आत्मसमर्पण कर देना ही उचित समझा। उसने पल्लवों से उनके राज्य के उत्तरी प्रदेश बलपूर्वक छीन लिए। जब पुलकेशी द्वितीय की विजयिनी सेना कावेरी के तट पर पहुंची तो चोल, पाँड्य और केरल के राजाओं ने उससे संधि की याचना की। अपने चरमोत्कर्ष के दिनों में उसका साम्राज्य अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक के बहुत बड़े प्रदेश में विस्तृत था। लोहनेर अभिलेख में उसे पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का अधिपति कहा गया है।

पुलकेशी द्वितीय चालुक्य-वंश का महान् प्रतापी राजा था। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त पैतृक साम्राज्य का निरन्तर विस्तार किया। तत्कालीन भारत की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ एक-एक करके उसके प्रबल प्रताप के सामने धराशायी हो गयीं।

किन्तु अपने जीवन काल के अन्तिम चरणों में उसे पल्लव नरेश नरसिंह वर्मा से पराजित होकर मौत का मुँह देखना पड़ा। नरसिंह वर्मा (नरसिंहवर्मन) ने पुलकेशी द्वितीय को समर भूमि में मार डाला और कुछ समय के लिए चालुक्य राजधानी बादामी पर अधिकार कर लिया। इस विजय के उपलक्ष्य में नरसिंह वर्मा ने 'वातापीकोंड' की उपाधि धारण की।

पुलकेशी द्वितीय की गणना न केवल दक्षिण के, बल्कि सम्पूर्ण भारत के महत्तम सम्राटों में की जा सकती है। उसने जिस प्रकार राजा मंगलेश को चुनौती देकर राजगद्दी पर अधिकार किया और सिंहासन पर बैठने के पश्चात् उत्साह और साहस के साथ जिन विकट परिस्थितियों का सामना किया, वे प्रशंसनीय हैं। उसने न केवल राजगद्दी पर अधिकार किया, बल्कि दक्षिण में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना भी की। चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने सम्राट् पुलकेशी द्वितीय और उसके राज्य की प्रजा की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। पुलकेशी द्वितीय ने 'पृथ्वीवल्लभ-सत्याश्रय' की उपाधि धारण की। सम्राट् हर्ष को पराजित करने के बाद उसने 'परमेश्वर' का विरुद धारण किया। वह एक दूरदर्शी और कूटनीतिक शासक था। उसने विदेशों के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किए। मुस्लिम इतिहासकार तबरी पुलकेशी द्वितीय और फारस के शासक खुसरो द्वितीय के मध्य दौत्य-सम्बन्धों का उल्लेख करता है। डॉ० डी० सी० सरकार ने पुलकेशी द्वितीय की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि पुलकेशी द्वितीय चालुक्यों की बादामी शाखा का महत्तम और प्राचीन भारत के महान् सम्राटों में एक था।"[1] डॉ० स्मिथ ने पुलकेशी द्वितीय की समता सम्राट हर्ष से स्थापित करते हुए लिखा है—"पुलकेशी द्वितीय पूर्णरूप से कन्नौज के राजा हर्ष का समकालीन था और दक्षिण में उसे वही स्थान प्राप्त था, जैसा कि उत्तरी भारत में उसके प्रतिद्वंद्वी हर्ष को प्राप्त था।"[2]

विक्रमादित्य प्रथम (655-681)—642 ई० में पुलकेशी द्वितीय को पराजित करके पल्लव नरेश नरसिंह वर्मा ने चालुक्य राज्य के दक्षिणी प्रदेशों को अधिकृत कर लिया। लगभग तेरह वर्ष (642-655 ई०) तक चालुक्य राज्य की स्थिति अव्यवस्थित रही। इस अवधि में राज्य की प्राप्ति की लालसा से पुलकेशी द्वितीय के पुत्रों में परस्पर संघर्ष हुआ। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए चालुक्यों के सामन्तों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी।

---

1. "Pulkeshin II was undoubtedly the greatest king of Chalukya House of Badami and one of the greatest monarchs of ancient India." —*Dr. D.C. Sircar*
2. "Pulkeshin II was almost exactly the contemporary of Harsha of Kannauj and in the Deccan occupied a paramount position similar to that enjoyed in the northern India by his rival." —*Dr. V. A. Smith*

आन्तरिक विद्रोह को कुचलने और पल्लवों को पराजित करने के पश्चात 655 ई० में पुलकेशी द्वितीय के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम ने स्वयं को चालुक्य सम्राट् घोषित किया। इस कार्य में उसके नाना गंग नरेश दुर्विनीत और विक्रमादित्य के छोटे भाई जयसिंहवर्मन् ने उसकी सहायता की। विक्रमादित्य ने जयसिंहवर्मन् को लाट प्रदेश का गवर्नर नियुक्त किया। विक्रमादित्य ने वल्लभी नरेश शिलादित्य, पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् द्वितीय तथा चोल, पाण्ड्य और केरल के राजाओं को पराजित किया। किन्तु अन्त में उसे पल्लव नरेश परमेश्वरवर्मन् से पेरुवलनल्लूर के युद्ध में पराजित होना पड़ा।

विक्रमादित्य प्रथम एक महान् विजेता, रणकुशल योद्धा और दूरदर्शी राजा था। उसने आन्तरिक विद्रोह और बाह्य आक्रमणों का दृढ़तापूर्वक सामना करके अपने वंश के खोए हुए यश को पुनः प्राप्त किया।

विनयादित्य (681-696 ई०)—विक्रमादित्य का पुत्र विनयादित्य एक पराक्रमी नरेश था। अभिलेखों में उसे अनेक राज्यों का विजेता कहा गया है। अभिलेखों से विदित होता है कि उसने अपने पिता को पल्लवों, चोलों, पाण्ड्यों और केरलों के विरुद्ध सामरिक अभियान में सहायता दी थी। विनयादित्य को पल्लवों, कलभ्रों, केरलों, हैहयां, मालवों, चोलों, पाण्ड्यों, आलूपों और गंगों का विजेता कहा गया है। अभिलेखों में यह भी उल्लिखित है कि उसने कमेर पारसीक (फारस) और सिंहल के राजाओं से कर वसूल किया। उसने 'सकलोत्तरापथनाथ' (यशोवर्मा अथवा मगध गुप्त नरेश देवगुप्त) को पराजित किया।

विजयादित्य (696-733 ई०)—विनयादित्य के बाद विजयादित्य राजगद्दी पर बैठा। वह अपने पितामह के शासनकाल में अनेक युद्धों में भाग ले चुका था। उसने पल्लव नरेश परमेश्वरवर्मन् द्वितीय को पराजित करके कर देने को बाध्य किया। विजयादित्य के काल में कला के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई। उसने बीजापुर जिले में पट्टडकल नामक स्थान पर शिव का एक मन्दिर निर्मित करवाया।

विक्रमादित्य द्वितीय (734-745 ई०)—विजयादित्य के पश्चात् उसका पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय राजा हुआ। युवराज के रूप में उसने पल्लव नरेश परमेश्वर-वर्मन् द्वितीय को पराजित किया था। विक्रमादित्य द्वितीय ने अरबों को पराजित किया और पल्लव राजधानी काँची को भारी क्षति पहुँचाई। उसके पुत्र कीर्तिवर्मन् ने काँची को लूटकर अगाध धन-सम्पदा प्राप्त की।

कीर्तिवर्मन द्वितीय (746-757 ई०)—विक्रमादित्य द्वितीय का पुत्र कीर्ति-वर्मन द्वितीय दुर्बल शासक था। उसे पाण्ड्य नरेश मारवर्मन राजसिंह और अपने सामन्त दन्दिदुर्ग राष्ट्रकूट से पराजित होना पड़ा। दन्दिदुर्ग ने चालुक्यों के विरुद्ध विद्रोह कर माही, नर्मदा और महानदी के आसपास के प्रदेशों को अधिकृत कर लिया। दन्दिदुर्ग के चाचा कृष्ण प्रथम ने कीर्तिवर्मन को बुरी तरह पराजित करके बादामी की चालुक्य सत्ता का अन्त कर दिया। इस प्रकार दीर्घकालीन चालुक्य-

पल्लव संघर्ष तथा सामन्तों की विद्रोही प्रवृत्ति के फलस्वरूप बादामी के चालुक्य वंश का अन्त हो गया।

कल्याणी के उत्तरकालीन पश्चिमी चालुक्य
(973-1190 ई०)

राष्ट्रकूट नरेश दन्दिदुर्ग और कृष्ण प्रथम के आक्रमणों के फलस्वरूप 757 ई० में बादामी के चालुक्यवंश का अन्त हो गया। लगभग दो शताब्दियों तक नतमस्तक रहने के पश्चात् तैलप द्वितीय (973-997 ई०) के नेतृत्व में कल्याणी के चालुक्यों का उत्थान हुआ। कल्याणी के चालुक्यों का बादामी के चालुक्यों के साथ क्या सम्बन्ध था, यह अज्ञात है। किन्तु इतना निश्चित है कि ये दोनों राजवंश एक-दूसरे से सम्बद्ध थे। तैलप द्वितीय के पूर्वज राष्ट्रकूटों के सामन्त थे और प्रारम्भ में उसकी (तैलप द्वितीय की) स्थिति भी एक सामन्त की भाँति थी। तैलप द्वितीय के पूर्वजों ने निजाम राज्य में स्थित कल्याणी को अपनी राजधानी बनाया। यही कारण है कि वे कल्याणी के चालुक्य कहलाए।

तैलप द्वितीय (973-997 ई०)—कल्याणी के चालुक्य वंश की स्थापना का श्रेय तैलप द्वितीय को दिया जाता है। अभिलेखों से विदित होता है कि वह प्रारम्भ में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय का सामन्त मात्र था और बीजापुर जिले में तर्डवाडि के छोटे से प्रदेश में शासन करता था। अवसर पाते ही तैलप द्वितीय ने राष्ट्रकूटों के कुछ सामन्तों और त्रिपुरी के कलचुरियों की सहायता से राष्ट्रकूट नरेश कर्क द्वितीय को पराजित करके अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। राष्ट्रकूट वंश के पतन के पश्चात् तैलप द्वितीय ने दक्षिण में नर्मदा और तुंगभद्रा के बीच एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की और मान्यखेट को अपनी राजधानी बनाया।

दक्षिण में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर लेने के उपरान्त तैलप द्वितीय ने अन्य राज्यों के विरुद्ध सामरिक अभियान किए। तैलप द्वितीय तथा उसके वंश के अभिलेखों में उसे चोल, चेदि, आन्ध्र, उत्कल, महाराष्ट्र और हूणों का विजेता कहा गया है। 980 ई० में उसने चोल शासक उत्तम चोल और कोंकण के शीलाहार नरेश अवसर तृतीय को पराजित करके उन्हें अपने अधीन कर लिया। तैलप द्वितीय ने गुजरात के राजा मूलराज पर आक्रमण कर कुंतल (दक्षिणी महाराष्ट्र) पर अधिकार कर लिया। उसने लाटों और गुर्जरों को पराजित किया। परमार नरेश मुंज (वाक्पति द्वितीय) से छह बार पराजित हो जाने के बावजूद तैलप द्वितीय ने साहस नहीं खोया। अन्त में सातवीं बार जब मुंज ने चालुक्य-राज्य पर आक्रमण किया तो उसे मुंह की खानी पड़ी। गोदावरी के पार समरभूमि में वह तैलप द्वितीय द्वारा बन्दी बनाया गया। कुछ समय तक कारागार में रखने के बाद तैलप द्वितीय ने अपमान-जनक ढंग से क्रूरतापूर्वक मुंज की हत्या कर दी।

तैलप द्वितीय एक महान योद्धा था। उसने अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित कर चालुक्य राज्य का विस्तार किया। उसने राष्ट्रकूट, गंग, चोल और परमार जैसे

तत्कालीन शक्तिशाली राजवंशों को पराजित कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। अपनी ख्याति के अनुरूप उसने 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' और 'चक्रवर्ती' की उपाधियाँ धारण कीं। 24 वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन करने के उपरान्त 997 ई० में उसका देहावसान हो गया।

सत्याश्रम (997-1008 ई०)—तैलप द्वितीय की मृत्यु के पश्चात उसका प्रतापी पुत्र सत्याश्रम राजगद्दी पर बैठा। उसने उत्तरी कोंकण के शीलाहारवंशीय राजा अपराजित तथा गुर्जर-नरेश चामुण्डराज को पराजित किया। किन्तु उसे परमार नरेश सिन्धुराज से पराजित होना पड़ा। वेंगी के चालुक्यों पर चोल शासकों के प्रभाव को समाप्त करने के उद्देश्य से सत्याश्रम ने उन पर (वेंगी के चालुक्यों पर) आक्रमण कर दिया। चोल नरेश राजराज प्रथम ने सत्याश्रम पर आक्रमण करने हेतु अपने पुत्र राजेन्द्र के नेतृत्व में एक विशाल सेना भेजी। राजेन्द्र चोल ने चालुक्य राजधानी मान्यखेट को नष्ट-भ्रष्ट करके भीषण मारकट का परिचय दिया। सत्याश्रम ने बड़ी वीरतापूर्वक चोल सेना का मुकाबला किया और विजय प्राप्त की।

विक्रमादित्य पंचम (1008-1014 ई०)—सत्याश्रम के बाद उसका अनुज विक्रमादित्य पंचम सिंहासनारूढ़ हुआ। उसका राज्यकाल प्रायः शान्तिपूर्ण रहा। उसके सेनापति केसविजय ने दक्षिणी कोशल के राजा भगीरथ महाभवगुप्त को पराजित किया।

जयसिंह द्वितीय (1015-1043 ई०)—विक्रमादित्य पंचम के बाद उसके भाई अय्यण द्वितीय ने एक वर्ष तक शासन किया। तदुपरान्त उसका सबसे छोटा भाई जयसिंह द्वितीय राजा हुआ। वह एक महत्वाकांक्षी और पराक्रमी सम्राट था। उसके राज्यकाल के प्रारम्भ में वंशानुगत शत्रुता की भावना से भोज परमार ने चालुक्य राज्य पर आक्रमण करके लाट और उत्तरी कोंकण के प्रदेशों को अधिकृत कर लिया। परन्तु 1024 ई० में जयसिंह ने अपनी प्रारम्भिक पराजय का बदला चुकाया। उसने भोज परमार को पराजित करके उसके द्वारा विजित चालुक्य प्रदेशों को पराजित कर दिया। वेंगी के चालुक्य राज्य पर प्रभाव स्थापित करने के उद्देश्य से जयसिंह द्वितीय और राजेन्द्र चोल में संघर्ष छिड़ गया। युद्ध के प्रथम दौर में जयसिंह द्वितीय की विजय हुई, किन्तु अन्त में उसे चोल नरेश राजेन्द्र से पराजित होकर विजित चोल प्रदेशों का स्वामित्व छोड़ना पड़ा। जयसिंह द्वितीय के सेनानायक कालिदास ने विद्रोही सामन्तों का दमन किया। 993 ई० के बाद जयसिंह द्वितीय ने मान्यखेट के स्थान पर कल्याणी में अपनी नई राजधानी स्थापित की।

सोमेश्वर प्रथम (1043-1068 ई०)—जयसिंह द्वितीय के पश्चात् उसका वीर पुत्र सोमेश्वर प्रथम राजगद्दी पर आसीन हुआ। उसने पूर्वी चालुक्य शाखा के भीम और कलचुरि नरेश कर्ण के साथ मिलकर भोज परमार के विरुद्ध एक शक्तिशाली संघ बनाया। 1055 ई० में भोज परमार पराजित हुआ और इस पराजय के आघात से उसका देहावसान हो गया। किन्तु विजेताओं में लूट में प्राप्त सम्पत्ति के बंटवारे को लेकर फूट पड़ गई। अतः सोमेश्वर प्रथम ने भोज के पुत्र जयसिंह की सहायता

हेतु एक सैन्य दल अपने पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ के नेतृत्व में मालवा भेजा। विक्रमादित्य षष्ठ ने कर्ण और भीम को परास्त कर जयसिंह को राजसिंहासन पर बिठाया। सोमेश्वर एक पराक्रमी नरेश था। उसने परमार, चोल और गुर्जर-प्रतीहारों को पराजित किया। येवुर दानपत्र से विदित होता है—"सोमेश्वर की शक्ति से भयभीत होकर मालवा का राजा शरण के लिए स्थान ढूँढ़ता है, चोल राजा समुद्रतट पर नारियल के वृक्षों के नीचे खड़ा है और कान्यकुब्ज का राजा घबड़ाकर पर्वत गुफा में छिपा है।"

वेंगी के चालुक्य राज्य पर प्रभाव स्थापित करने के उद्देश्य से सोमेश्वर प्रथम और चोलों के मध्य तीव्र संघर्ष हुआ। कोप्पम के युद्ध में चोल नरेश राजाधिराज प्रथम को मौत के घाट उतार कर सोमेश्वर ने चोलों के ऊपर विजय प्राप्त की। किन्तु कुछ विद्वान इस युद्ध में चोलों की विजय का उल्लेख करते हैं। येवुर दानपत्र में उल्लिखित विवरण और डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी के कथन से विदित होता है कि युद्ध का परिणाम सोमेश्वर के पक्ष में रहा। सोमेश्वर प्रथम का चोल नरेश राजेन्द्र द्वितीय के साथ भी संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में चोलों की विजय हुई। सोमेश्वर ने उत्तरी कोंकण को विजित कर अपने एक मन्त्री को वहां का शासक नियुक्त किया। उसने केरल, लाट और गुजरात के राजाओं को पराजित किया। अभिलेखों में उसे मगध, पांचाल, कन्नौज, वंग, खसाकुरु, आभीर और नेपाल के राज्यों का विजेता कहा गया है। असाध्य रोग से पीड़ित होने के कारण 1068 ई० में उसने तुंगभद्रा में डूबकर अपने प्राण त्याग दिए।

निस्सन्देह सोमेश्वर प्रथम कल्याणी के चालुक्य वंश का सर्वाधिक प्रतापी सम्राट था। वह एक महान योद्धा होने के साथ-साथ कूटनीतिज्ञ भी था। तत्कालीन साम्राज्यवादी वातावरण में उसने जिस प्रकार राज्य-विस्तार किया, वह प्रशंसनीय है। उसने अपने जीवनपर्यन्त तत्कालीन उत्तरी भारत की दो प्रमुख शक्तियों (परमार और गुर्जर प्रतीहार) को सदैव आतंकित रखा। चोलों से पराजित होने पर भी उसने साहस नहीं खोया। उसने यादवों, शीलाहारों, होयसलों और कदम्बों को सिर नहीं उठाने दिया। उसने आहवमल्ल, त्रैलोक्यमल्ल, वीर मार्तण्ड और राजनारायण की उपाधियाँ धारण कीं। वह कलाप्रेमी और विद्यानुरागी सम्राट था। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री ने सोमेश्वर प्रथम की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"इस प्रकार चालुक्य वंश का एक महत्तम शासक मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसे अपने पूर्ण शासन में वेंगी पर नियन्त्रण बनाये रखने में सफलता प्राप्त हुई तथा वह उत्तरी भारत की दो प्रमुख शक्तियों परमार और प्रतीहारों पर भी अस्थायी आधिपत्य स्थापित करने में सफल रहा। अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी वह अतुलनीय स्फूर्ति एवं उत्साह से चोलों के विरुद्ध अपने अन्तिम क्षणों तक संघर्षरत रहा। वह एक योद्धा से अधिक एक कूटनीतिज्ञ था, अन्यथा वह इतने अधिक राज्यों पर अपना प्रभाव

इतने अधिक समय तक बिना किसी विशेष महत्त्वपूर्ण सैनिक उपलब्धि के न छोड़ पाता।"[1]

सोमेश्वर द्वितीय (1068-1076 ई०)—सोमेश्वर प्रथम के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर द्वितीय राजा हुआ। उसे अपने राज्यकाल में अनुज विक्रमादित्य के विद्रोह का सामना करना पड़ा। विक्रमादित्य ने अपने ससुर चोल नरेश राजेन्द्र की सहायता से स्वयं को चालुक्य राज्य का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। सोमेश्वर द्वितीय ने मालवा नरेश जयसिंह द्वितीय को पराजित किया। 1076 ई० में विक्रमादित्य ने सोमेश्वर को वन्दी बनाकर स्वयं को सम्पूर्ण चालुक्य-साम्राज्य का सम्राट घोषित कर दिया।

विक्रमादित्य षष्ठ (1076-1126 ई०)—सोमेश्वर द्वितीय को पराजित करने के बाद 1076 ई० में विक्रमादित्य षष्ठ ने चालुक्य राजसत्ता पर अधिकार कर लिया। उसने अपने भाई जयसिंह के विद्रोह का दमन किया और 'विक्रमांक' एवं 'त्रिभुवनमल्ल' के विरुद धारण किए।

विक्रमादित्य के शासनकाल में होयसल नरेश विष्णुवर्धन ने पांड्यों और कदम्बों की सहायता से चालुक्यों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विक्रमादित्य ने विष्णुवर्धन तथा पांड्यों और कदम्बों को पराजित किया। तत्पश्चात् उसने चोल नरेश कुलोत्तुंग को पराजित किया और वेंगी का राज्य छीन कर अपने सेनापति अनन्तपाल को वहाँ का शासक नियुक्त किया। अभिलेखों से उसकी कोंकण विजय पर प्रकाश पड़ता है। 1100 ई० के लगभग उसने यादवों के विद्रोह का दमन किया। अभिलेखों में उसे गुर्जर, विदर्भ, सिन्धु, कश्मीर, तुरुष्क, आभीर, वंग आदि प्रदेशों का विजेता कहा गया है। विक्रमादित्य विद्वानों का आश्रयदाता और कला का उदार संरक्षक था। उसके दरबार में 'विक्रमांकदेवचरित' का प्रणेता विल्हण निवास करता था। विक्रमादित्य ने 'विक्रमपुर' नगर की स्थापना की और करनाल में विष्णु का एक भव्य मन्दिर निर्मित करवाया। कुछ विद्वान उसे कल्याणी के चालुक्य-वंश का सर्वाधिक प्रतापी सम्राट मानते हैं।

सोमेश्वर तृतीय (1126-1138 ई०)—विक्रमादित्य का पुत्र सोमेश्वर एक

---

1. "Thus departed one of the greatest rulers of the Chalukya line. He succeeded in keeping Vengi under his control practically throughout his region and reducing to temporary subjection two major powers of northern India, the Parmaras and Pratiharas. In spite of many reverses, he maintained the wearisome struggle with the Cholas with undiminshed vigour till the end of his life. He was greater as diplomat than as warrior, Else he could not have succeeded in making his influence felt by so many states and for so long, and that with a military record none too bright."

—*K.A.N. Sastri*

दुर्बल शासक सिद्ध हुआ। उसके काल में चालुक्य राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया। होयसल-नरेश विष्णुवर्धन ने चालुक्य सत्ता के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और बनवासी प्रदेश को भी विजित कर लिया। चोल नरेश कुलोत्तुंग ने सोमेश्वर से आन्ध्र प्रदेश छीन लिया। सोमेश्वर तृतीय विद्यानुरागी और विद्वानों का आश्रय-दाता था। उसने 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ की रचना की।

जगदेकमल्ल (1138-1151 ई०)—सोमेश्वर तृतीय के उपरान्त उसका पुत्र जगदेकमल्ल राजगद्दी पर बैठा। उसने होयसलों और कदम्बों के विद्रोह का दमन किया। उसने परमार नरेश जयवर्मन को पराजित करके बल्लाल को मालवा की राज-गद्दी पर बिठाया। उसने गुर्जर-नरेश कुमारपाल और चोल नरेश कुलोत्तुंग को भी पराजित किया। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का मत है कि जगदेकमल्ल ने 'संगीत-चूड़ामणि' नामक ग्रन्थ की रचना की।

तैलप तृतीय (1151-1166 ई०)—जगदेकमल्ल द्वितीय का भाई तैलप तृतीय अयोग्य राजा सिद्ध हुआ। उसके शासन-काल में होयसल, कलचुरि, काकतीय और यादव वंशों ने अपनी स्वतन्त्र घोषित कर दी। अयोग्य तैलप तृतीय अपने राज्य को सुदृढ़ और संगठित रखने में असमर्थ सिद्ध हुआ। 1057 ई० में कलचुरि शासक विज्जल ने चालुक्य राज्य पर अधिकार कर लिया।

सोमेश्वर चतुर्थ (1181-1189 ई०)—1181 ई० में तैलप तृतीय के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने बिज्जल के पुत्र आहवमल्ल से कल्याणी छीन लिया। आहवमल्ल के छोटे भाई सिंघण ने सोमेश्वर चतुर्थ की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार विदित होता है कि सोमेश्वर चतुर्थ ने अपने वंश का पुनरुद्धार करने का प्रयास किया। किन्तु होयसल-नरेश बल्लाल द्वितीय, यादव वंशीय सामन्त भिल्लभ और रुद्रकाकतीय के आक्रमणों ने चालुक्य सत्ता का अन्त कर दिया।

वेंगी के पूर्वी चालुक्य

वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश की संस्थापना का श्रेय विष्णुवर्धन को दिया जाता है। विष्णुवर्धन चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय का अनुज था। 621 ई० में पुलकेशी द्वितीय ने उसे आन्ध्र-प्रदेश का गवर्नर नियुक्त किया और बाद में उसने वेंगी को राजधानी बनाकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना कर डाली।

विष्णुवर्धन (621-633 ई०)—विष्णुवर्धन प्रारम्भ में आन्ध्र-प्रदेश का गवर्नर था। बाद में उसने एक स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली। उसके वंश के राजाओं ने 500 वर्षों तक पूर्वी दक्षिणापथ में स्वतन्त्रतापूर्वक शासन किया।

जयसिंह प्रथम (633-663 ई०)—विष्णुवर्धन के बाद उसका पुत्र जयसिंह प्रथम राजा हुआ। उसके शासनकाल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है।

इन्द्रवर्मन (663 ई०)—जयसिंह प्रथम के बाद उसके भाई इन्द्रवर्मन ने एक सप्ताह तक राज्य किया।

विष्णुवर्धन द्वितीय (663-671 ई०)—इन्द्रवर्मन के बाद उसका पुत्र विष्णुवर्धन राजगद्दी पर बैठा। उसने 'प्रलयादित्य', 'विषमादित्य' और 'मकरध्वज' के विरुद धारण किए।

मंगि-युवराज (672-696 ई०)—विष्णुवर्धन द्वितीय के बाद उसका पुत्र मंगि युवराज राजा हुआ। उसने 'सर्वलोकाश्रय' और 'विजयसिद्धि' की उपाधियाँ धारण कीं।

जयसिंह द्वितीय (696-709 ई०)—मंगि-युवराज के बाद उसका पुत्र जयसिंह द्वितीय राजा हुआ।

कोक्किल विक्रमादित्य (709 ई०)—जयसिंह द्वितीय के बाद उसका भाई कोक्किल राजा हुआ। उसने मध्यकलिंग को पुनर्विजित किया।

विष्णुवर्धन तृतीय (709-746 ई०)—कोक्किल विक्रमादित्य के बड़े भाई विष्णुवर्धन तृतीय ने उसके विरुद्ध विद्रोह करके राजगद्दी हथिया ली। सिंहासनासीन होने पर विष्णुवर्धन तृतीय ने 'समस्तभुवनाश्रय', 'त्रिभुवनांकुश' और 'विषयसिद्धि' के विरुद धारण किए।

विजयादित्य प्रथम (746-764 ई०)—विष्णुवर्धन के बाद उसका पुत्र विजयादित्य प्रथम राजगद्दी पर बैठा। उसने 'विजयसिद्धि', 'विक्रमराम', 'शक्तिवर्मन' और 'त्रिभुवनांकुश' की उपाधियाँ धारण कीं।

विष्णुवर्धन चतुर्थ (764-799 ई०)—विष्णुवर्धन चतुर्थ विजयादित्य का पुत्र था। उसे राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम के पुत्र गोविन्द द्वितीय से पराजित होना पड़ा। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने भी विष्णुवर्धन को पराजित किया।

विजयादित्य द्वितीय (799-843 ई०)—विष्णुवर्धन चतुर्थ के बाद उसका पुत्र विजयादित्य द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय की सहायता से विजयादित्य द्वितीय के भाई भीम-सालुक्कि ने राजगद्दी हथिया ली। किन्तु 814 ई० में गोविन्द तृतीय की मृत्यु के उपरान्त विजयादित्य ने पुनः राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। उसने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण करके स्तम्भनगर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसने गंगों को भी पराजित किया।

विष्णुवर्धन पंचम (843-44 ई०)—विजयादित्य द्वितीय के पश्चात उसके पुत्र विष्णुवर्धन पंचम ने डेढ़ वर्ष तक राज्य किया।

विजयादित्य तृतीय (844-888 ई०)—विजयादित्य तृतीय वेंगी के चालुक्य-वंश का अत्यन्त प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। उसने पल्लवों, पाण्ड्यों, गंगवाड़ि नरेश और राष्ट्रकूटों को पराजित किया। उसने दक्षिण कोशल के राजा को पराजित करके उससे बहुत से हाथी छीन लिए।

भीम प्रथम (888-918 ई०)—भीम प्रथम राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय द्वारा पराजित हुआ और बन्दी बना लिया गया। मुक्त हो जाने पर उसने राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय तथा उसके मित्र कर्नाट और लाट के राजाओं को पराजित किया।

विजयादित्य चतुर्थ (918-919 ई०)—भीम प्रथम के पुत्र विजयादित्य ने केवल छह माह तक शासन किया। वह विरजापुरी के युद्ध में राष्ट्रकूटों के साथ युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ।

विजयादित्य चतुर्थ के उत्तराधिकारी—विजयादित्य के बाद अम्भ प्रथम (919-926 ई०), विक्रमादित्य पंचम (926 ई०), ताल, भीम प्रथम के पुत्र विक्रमादित्य, भीम द्वितीय, युद्धमल्ल द्वितीय, भीम तृतीय, अम्म द्वितीय, ताल द्वितीय, अम्म तृतीय, दानार्णव आदि राजाओं ने शासन किया। वे इतने योग्य न थे कि विघटित होते हुए चालुक्य राज्य की रक्षा का दायित्व निभा पाते।

साँस्कृतिक दृष्टि से भी चालुक्यकालीन दक्षिणी भारत भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उस काल में धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। चालुक्य शासन काल में हिन्दू धर्म की विशेष उन्नति हुई। वैदिक यज्ञों को सम्पादित किया गया। ब्रह्मा, विष्णु और शिव लोकप्रिय देवता थे। ऐहोल, बादामी और पट्टडकल में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। हिन्दू धर्म के अतिरिक्त जैन धर्म और बौद्ध धर्म भी प्रचलित थे। ऐहोल-अभिलेख का लेखक रविकीर्ति जैन अनुयाई था। विजयादित्य और विक्रमादित्य ने जैन पण्डितों को ग्राम दान दिये थे। ह्वेन्सांग के अनुसार चालुक्य-राज्य में 100 से अधिक बौद्ध विहार और 5000 से अधिक बौद्ध भिक्षु थे। अजन्ता और एलोरा की कुछ गुफाएँ चालुक्य काल में निर्मित हुई हैं। अजन्ता के एक गुहाचित्र में चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय को फारस के राजदूत का स्वागत करते हुए प्रदर्शित किया गया।

राष्ट्रकूट राजवंश

जिस समय उत्तरी भारत में प्रतीहार और पालवंश के प्रतापी राजा राज्य कर रहे थे, उस समय दक्षिण का स्वामित्व शक्तिशाली राष्ट्रकूटवंशी शासकों के हाथों में था। आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दक्षिण में राजनीतिक शक्ति चालुक्यों के हाथों से निकलकर राष्ट्रकूटों के हाथों में केन्द्रित हो गई। राष्ट्रकूटों ने दक्षिण भारत में निरन्तर अपने साम्राज्य का विस्तार किया और उत्तरी भारत में अनेक सफल सामरिक अभियान किए।

उत्पत्ति—राष्ट्रकूट दक्षिण का महान राजवंश था। किन्तु उसकी उत्पत्ति विवाद से परे नहीं है। राष्ट्रकूट-अभिलेखों में उन्हें यदुवंश की सात्यकि शाखा का बताया गया है। सी० वी० वैद्य का कथन है कि राष्ट्रकूट राजकीय पदवी थी और वे मराठों के पूर्वज थे। फ्लीट के मतानुसार राष्ट्रकूट उत्तरी भारत के राठौरों के वंशज थे। आर० जी० भण्डारकर का कथन है कि राष्ट्रकूट तुंग नामक एक राजा की सन्तान थे। बर्नेल महोदय ने राष्ट्रकूटों को आन्ध्र के रेड्डिबों से सम्बद्ध बताय'

है और उन्हें तेलगू कहा गया है। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में उपरोक्त मतों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। डॉ॰ अल्तेकर का मत है कि अशोक महान के अभिलेखों में जिन रठिकों का उल्लेख हुआ है, राष्ट्रकूट उन्हीं की सन्तान थे। यह मत अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

राष्ट्रकूटों का मूल निवास प्रदेश भी विवादास्पद है। सी० वी० वैद्य के अनुसार राष्ट्रकूट महाराष्ट्र के आदिम निवासी थे। फ्लीट महोदय उन्हें मध्य प्रदेश का मूल निवासी बताते हैं। अधिकांश विद्वान लट्टलूर (हैदराबाद के बीदर जिले में स्थित) को राष्ट्रकूटों का मूल निवास प्रदेश मानते हैं। प्रारम्भ में राष्ट्रकूटों ने महाराष्ट्र और कर्नाटक के प्रदेशों में सामन्त रूप में शासन किया। किन्तु बाद में चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन द्वितीय के राज्यकाल में उन्होंने स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। प्रारम्भ में उनकी राजधानी मयूरखण्ड (नासिक जिले में स्थित) थी जो कालान्तर में मान्यखेट में परिवर्तित कर दी गई।

प्रारम्भिक राष्ट्रकूट शासक—प्रारम्भिक राष्ट्रकूट शासकों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। अभिलेखों में यत्रतत्र उनका नामोल्लेख मात्र मिलता है। दन्दिवर्मन, इन्द्र प्रथम, गोविन्द प्रथम, कर्क प्रथम और इन्द्र द्वितीय प्रारम्भिक राष्ट्रकूट शासक प्रतीत होते हैं। दन्दिदुर्ग इस वंश का प्रथम शक्तिशाली शासक था।

दन्दिदुर्ग (745-758 ई०)—इन्द्र द्वितीय का पुत्र दन्दिदुर्ग राष्ट्रकूट वंश का प्रथम शक्तिशाली शासक था। प्रारम्भ में वह चालुक्यों का सामन्त मात्र था। 742 ई० के एलोरा-अभिलेख में उसे एकमात्र 'महासामन्ताधिपति' कहा गया है। 745 ई० में चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त दन्दिदुर्ग ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा कर दी। 754 ई० के समगन्द-अभिलेख में उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया है। प्रारम्भ में उसने चालुक्य सामन्त और बाद में स्वतन्त्र राष्ट्रकूट राजा के रूप में अनेक सामरिक अभियान किए। दन्दिदुर्ग ने अपने चाचाओं ध्रुव और कृष्ण तथा योग्य भतीजे कर्क द्वितीय को राज्य के विभिन्न प्रदेशों का शासक नियुक्त कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इस सम्बन्ध में डॉ० अल्तेकर का यह कथन उल्लेखनीय है—"बुद्धिमत्ता से संगठन बनाते हुए, सावधानीपूर्वक क्रमशः आगे बढ़ते हुए, अपने युवा भतीजों और प्रौढ़ (बुद्धिमान) चाचाओं की सेवाओं और अनुभवों का सदुपयोग करते हुए, वह धीरे-धीरे अपने राज्य का विस्तार करता रहा जब तक कि उसमें दक्षिणी गुजरात, खानदेश, बरार और उत्तरी महाराष्ट्र सम्मिलित नहीं हो गए।"[1]

विजयें—738 ई० में दन्दिदुर्ग ने अपने स्वामी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य

---

1. "Forming wise alliance, proceeding cautiously step by step, utilising the services of his youthful nephews and mature uncles, he gradually enlarged his kingdom until it included southern Gujarat, Khandesh, Behar, and northern Maharashtra."

—*Dr. Altekar*

के साथ मिलकर सिन्ध में अरबों को पराजित किया। इस विजय के उपलक्ष्य में विक्रमादित्य द्वितीय ने उसे (दन्दिदुर्ग को) 'श्रीवल्लभ' की उपाधि से सम्मानित किया। ऐसा विदित होता है कि दन्दिदुर्ग ने पल्लव-नरेश दन्दिवर्मन के साथ मिलकर कोशल नरेश उदय और बालाघाट के आसपास के प्रदेशों के शैलवंशी राजा जयवर्धन को पराजित किया। दन्दिदुर्ग ने कांची-नरेश परमेश्वरवर्मन को पराजित किया। दशावतार गुहा-लेख में दन्दिदुर्ग को कांची-नरेश का विजेता कहा गया है। चालुक्यों से लाट और सिन्ध के प्रदेशों को विजित कर उसने अपने पराक्रमी भतीजे कर्क द्वितीय को वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया। समगन्द अभिलेख दन्दिदुर्ग द्वारा चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन द्वितीय की पराजय का उल्लेख करता है। इस विजय के फलस्वरूप खानदेश, नासिक, पूना, सतारा और कोल्हापुर दन्दिदुर्ग के अधिकार में आ गये। 754 ई० के समगन्द तथा एलोरा के गुफालेख से विदित होता है कि दन्दिदुर्ग ने माही, महानदी तथा रावी नदियों के तटों पर युद्ध किए और कांची, कलिंग, कोशल, श्रीशैल, मालव, लाट, टंक आदि प्रदेशों के राजाओं को पराजित किया। अनेक राज्यों को विजित कर दन्दिदुर्ग ने उत्तर में नर्मदा और दक्षिण में तुंगभद्रा नदियों के मदय राष्ट्रकूट-राज्य का विस्तार किया।

निस्सन्देह दन्दिदुर्ग राष्ट्रकूट वंश का प्रबल प्रतापी राजा था। उसने चालुक्य सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की और तत्पश्चात् अनेक विजयें कर राष्ट्रकूट साम्राज्य का विस्तार किया। एक स्वतन्त्र नृपति के अनुरूप उसने 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' और 'परमभट्टारक' की उपाधियाँ धारण कीं। वह शैव मतावलम्बी था। अभिलेखों में उसे हिमालय से लेकर रामेश्वरम् तक के अभिमानी राजाओं के मण्डल को परास्त करने वाला कहा गया है।

कृष्ण प्रथम (758-773 ई०)—दन्दिदुर्ग अपुत्रक था। अतः उसकी मृत्यु के बाद उसका चाचा कृष्ण प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ। कृष्ण प्रथम एक प्रतापी राजा था, जिसने निरन्तर जपने साम्राज्य का विस्तार किया।

दन्दिदुर्ग की मृत्यु के बाद चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन द्वितीय पुनः अपनी शक्ति के विस्तार में लग गया। किन्तु एक भीषण युद्ध में कृष्ण प्रथम ने उसे पराजित कर दिया। अभिलेखों से विदित होता है कि कृष्ण ने राहप्प को पराजित करके 'राजाधिराजपरमेश्वर' की उपाधि धारण की। डॉ० डी० सी० सरकार का मत है कि राहप्प चालुक्य-नरेश कीर्तिवर्मन द्वितीय का दूसरा नाम था। तालेगाँव अभिलेख से ज्ञात होता है कि कृष्ण प्रथम ने मैसूर के गंग नरेश श्रीपुरुष को पराजित किया। कृष्ण प्रथम के पुत्र युवराज गोविन्द ने वेंगी के चालुक्य-नरेश विष्णुवर्धन को पराजित करके हैदराबाद के अधिकांश भू-भाग पर अपना आधिपत्य जमा लिया। खरेपटन-अभिलेख दक्षिणी कोंकण पर कृष्ण प्रथम की विजय का उल्लेख करता है।

कृष्ण प्रथम महान साम्राज्य-निर्माता था। उसने गुजरात, खानदेश, बरार और महाराष्ट्र के प्रदेश दन्दिदुर्ग से उत्तराधिकार में प्राप्त किए। कृष्ण प्रथम ने अपनी

सामरिक प्रतिभा का परिचय देते हुए राष्ट्रकूट-साम्राज्य का विस्तार किया। उसने कोंकण, कर्नाटक और हैदराबाद के अधिकांश भू-भाग को विजित करके उन्हें राष्ट्रकूट साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। विद्वानों का मत है कि कृष्ण की विजयों के फलस्वरूप राष्ट्रकूट राज्य का तीन गुना विस्तार हुआ। डॉ० अल्तेकर के अनुसार कृष्ण प्रथम की राजधानी बरार में एचिलपुर थी।

महान विजेता होने के साथ-साथ कृष्ण प्रथम एक महान निर्माता भी था। उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया, जिनमें एलोरा का कैलाश मन्दिर स्थापत्य कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। यह मन्दिर पर्वत को काटकर बनाया गया है। डॉ० स्मिथ ने एलोरा के कैलाश मन्दिर को भारतीय शिल्पकला की अत्यन्त आश्चर्यजनक कृति कहा है। डॉ० अल्तेकर ने एलोरा के कैलाश मंदिर की अद्‌भुत कला पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"कृष्ण एक विजेता के रूप में ही नहीं, बल्कि एक महान निर्माता के रूप में भी प्रसिद्ध था। ऐलोरा का प्रसिद्ध शिव मन्दिर, जो कि चट्टानों को काटकर बनाया गया है, भवनकला का अद्‌भुत नमूना माना जाता है। यह मन्दिर कृष्ण प्रथम के आदेश से ही बनाया गया था। इससे विदित होता है कि राष्ट्रकूट-काल में भारत में स्थापत्य कला और शिल्पकला ने उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था।"[1]

गोविन्द द्वितीय (773-780 ई०)—कृष्ण प्रथम ने अपने राज्यकाल में ही गोविन्द द्वितीय को राष्ट्रकूट राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। युवराज के रूप में गोविन्द तृतीय ने वेंगी के चालुक्यों को पराजित किया और सम्राट बन जाने पर उसने परिजात के विद्रोह का दमन किया।

गोविन्द द्वितीय विलासी राजा था। उसने अपने अनुज ध्रुव (खानदेश का गवर्नर) को राज्य सौंप दिया और स्वयं भोग-विलास में लिप्त रहने लगा। उसकी इस प्रवृत्ति से जनता क्रुद्ध हो गठी। ध्रुव ने जनसाधारण का विश्वास प्राप्त कर गोविन्द द्वितीय को पदच्युत कर दिया।

ध्रुव (780-793 ई०)—780 ई० में गोविन्द द्वितीय को अपदस्थ करके उसके छोटे भाई ध्रुव ने स्वयं को राष्ट्रकूट नरेश घोषित कर दिया। ध्रुव राष्ट्रकूट वंश का एक पराक्रमी नरेश सिद्ध हुआ। उसने न केवल दक्षिणी भारत के राज्यों को विजित किया, बल्कि उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करके वहाँ की दो प्रमुख शक्तियों (प्रतीहारों और पालों) को भी नतमस्तक किया। यद्यपि उसने केवल

---

1. "Krishna was great not only as a conqueror but also as a builder. The famous rock-cut Siva temple at Ellora, which is justly regarded as a marvel of architecture was constructed at his order, and bears an eloquent testimony to the high level of skill attained by India in the arts of sculpture and architecture under the Rashtrakuta patronage."

—*Dr. Altekar*

13 वर्ष शासन किया, तथापि सैनिक उपलब्धियों की दृष्टि से उसका काल अविस्मरणीय है।

दक्षिण-राज्यों की विजय—सिंहासनारूढ़ होने के बाद ध्रुव ने सर्वप्रथम गोविन्द द्वितीय के समर्थक राजाओं को पराजित करने का संकल्प किया। उसने गंग नरेश शिवमार द्वितीय को पराजित करके उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। तत्पश्चात् ध्रुव ने पल्लव नरेश दंदिवर्मन् और वेंगी के चालुक्य नरेश विष्णुवर्धन चतुर्थ को पराजित करके संधि करने को विवश किया। इस प्रकार दक्षिणी भारत की प्रमुख शक्तियों को हराकर ध्रुव वहाँ का शक्तिशाली राजा बन गया।

उत्तरी भारत का सामरिक अभियान—दक्षिणी भारत की प्रमुख सत्ताओं का मान मर्दन करने के पश्चात् ध्रुव ने उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया। ध्रुव द्वारा उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करने का प्रमुख कारण दिग्विजय की लालसा और शक्ति संतुलन बनाये रखना था। उत्तरी भारत में हस्तक्षेप करके ध्रुव ने प्रतीहार नरेश वत्सराज को पराजित कर डाला। वनी-डिण्डोरा और राधनपुर अभिलेख वत्सराज और ध्रुव के मध्य हुए संघर्ष में ध्रुव की विजय का उल्लेख करते हैं। इस पराजय के फलस्वरूप वत्सराज को मरु प्रदेश (राजपूताना) की शरण लेने को बाध्य होना पड़ा था।

वत्सराज को पराजित करने के बाद ध्रुव ने पाल नरेश धर्मपाल पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में ध्रुव की विजय हुई। संजन और सूरत अभिलेखों से विदित होता है कि ध्रुव ने गंगा-यमुना के दोआब में धर्मपाल को परास्त कर दिया।

ध्रुव का उत्तर भारत का विजय-अभियान मात्र एक छापा था। राज्य में व्याप्त अनेक आंतरिक समस्याओं के कारण उसे शीघ्र ही अपने राज्य को लौटना पड़ा। ध्रुव राष्ट्रकूट वंश का महान् प्रतापी सम्राट् था। उसने गोविन्द द्वितीय को पदच्युत करके राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। उसका यह कार्य नैतिक दृष्टि से भले ही अनुचित हो, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है। डॉ० अल्तेकर का कथन है कि गोविन्द द्वितीय वस्तुतः एक दुर्बल और विलासी राजा था। अतएव ध्रुव ने जो कार्य किया, उसका पर्याप्त राजनीतिक औचित्य है।

ध्रुव राष्ट्रकूट वंश के शक्तिशाली, पराक्रमी, साहसी और रणप्रिय शासकों में से एक था। उसने गोविन्द तृतीय के राज्यकाल में क्षीण हुई राष्ट्रकूट शक्ति का न केवल दक्षिण में विस्तार किया, बल्कि उत्तरी भारत के प्रतापी राजवंशों को पराजित करके अपनी शक्ति और अपने प्रभाव का भी परिचय दिया। उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करके उसने जो यश अर्जित किया, वह परवर्ती राष्ट्रकूट नरेशों के लिए प्रेरणा-स्रोत और अनुकरणीय बन गया। डॉ० अल्तेकर ने सफल सैन्य अभियानों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए लिखा है—"वह सुयोग्यतम राष्ट्रकूट नरेशों में एक था। अपने तेरह वर्ष के अल्प शासनकाल में उसने न केवल दक्षिण में राष्ट्रकूट-प्रभुता की पुनःस्थापना की, जिसे उसके पूर्वाधिकारी के अनैतिक तथा दोषपूर्ण शासन ने गहरी

क्षति पहुँचाई थी, वरन् उसने राष्ट्रकूटों को एक अखिल भारतीय शक्ति के रूप में भी प्रतिष्ठित किया। उत्तरी भारत के भागों को आँध्रों द्वारा अपने साम्राज्य में मिलाये जाने के बाद, पहली बार सम्भवतः नौ शताब्दियों के उपरांत, दक्षिणापथ की एक सेना ने विंध्यपर्वत श्रेणियों का अतिक्रमण करके मध्यदेश के उत्तर प्रदेश में प्रवेश किया और उत्तर में साम्राज्यवादी सत्ता को प्राप्त करने के उत्सुक दो प्रतिस्पर्धियों में प्रत्येक को पराजित किया।"[1]

गोविन्द तृतीय (793-814 ई०)—ध्रुव के चार पुत्र थे—स्तम्भ, कर्क, गोविन्द और इन्द्र। ये चारों राजकुमार अपने पिता के राज्यकाल में किसी न किसी प्रदेश के गवर्नर नियुक्त किए गए थे। ध्रुव के चारों पुत्र राज्याधिकार प्राप्त करने के लिए प्रबल अभिलाषा रखते थे। इन चारों राजकुमारों में क्रम में तीसरा गोविन्द तृतीय योग्यतम युवराज था।

उत्तराधिकार के प्रश्न को हल करने के उद्देश्य से ध्रुव ने अपने राज्यकाल में ही गोविन्द तृतीय को राज्याधिकारी मनोनीत किया। किन्तु ध्रुव की मृत्यु के पश्चात् उसके सबसे बड़े पुत्र स्तम्भ ने गोविन्द तृतीय के उत्तराधिकार को चुनौती दी और बारह राजाओं का संघ बनाकर उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

उत्तराधिकार का युद्ध—स्तम्भ ध्रुव का ज्येष्ठ पुत्र था। ध्रुव की मृत्यु के बाद उसने गोविन्द तृतीय के उत्तराधिकार को चुनौती दी और बारह राजाओं का एक संघ बनाकर विद्रोह कर दिया। इस संघ के राजाओं में गंग नरेश शिवमार और पल्लव नरेश दन्दिवर्मन प्रमुख थे। गोविन्द तृतीय ने अपने छोटे भाई इन्द्र की सहायता से स्तम्भ के विद्रोह का दमन कर दिया। उसने स्तम्भ के सहायक बारह राजाओं को पराजित कर दिया। विजय के पश्चात् उसने अपने विद्रोही भाई के प्रति उदार और भ्रातृ-स्नेह का परिचय दिया। गोविन्द तृतीय ने स्तम्भ को पुनः गंगवाड़ी (मैसूर) का गवर्नर नियुक्त किया। किन्तु स्तम्भ के प्रमुख सहायक शिवमार को उसने कारागार में डाल दिया। इन्द्र को उसने लाट प्रदेश का शासक नियुक्त किया।

गंग नरेश शिवमार, पल्लव नरेश दंदिवर्मन और चालुक्य नरेश विजयादित्य की पराजय—उत्तराधिकार के युद्ध में गंग नरेश शिवमार तथा पल्लव नरेश दंदि-

---

1. "He was one of the ablest of the Rashtrakuta rulers. During a short reign of about 13 years, he not only re-established the Rashtrakuta ascendancy in the South, which was seriously endangered by his predecessor's loose and vicious government, but made the Rashtrakutas an all-India power, for the first time after the Andhra occupation of portions of Northern India. After a lapse of nearly nine centuries a Deccanese force crossed the Vindhyas and entered into the very heart of Madhyadesa, defeating each of the rival claimants for the imperial position in the north."

—*Dr. Altekar*

वर्मन ने स्तम्भ की ओर से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। गोविन्द तृतीय ने शिवमार को पराजित करके कारागार में बन्द कर दिया। शिवमार को पराजित करने के उपरांत गोविन्द तृतीय ने स्तम्भ के दूसरे प्रमुख सहायक पल्लव-नरेश दंदिवर्मन् को पराजित किया। इसके बाद गोविन्द तृतीय ने वेंगी के चालुक्य राजा विजयादित्य को भी पराजित कर दिया। आठवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में दक्षिण की सर्वप्रमुख शक्ति बन जाने के पश्चात् गोविन्द तृतीय ने उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया।

उत्तर भारत अभियान—दक्षिणी भारत के प्रमुख राजाओं को पराजित करने के उपरांत गोविन्द तृतीय ने तत्कालीन उत्तरी भारत के शक्तिशाली राजाओं (प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय और पाल नरेश धर्मपाल) को पराजित किया।

प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय एक महत्त्वाकांक्षी सम्राट् था। वह कन्नौज को विजित कर उसे प्रतीहार-साम्राज्य में विलीन करना चाहता था। किन्तु इसी बीच उसे राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय की शक्तिशाली सेना से पराजित होना पड़ा। संजन ताम्रपत्र, पठारी स्तम्भलेख और राधनपुर-अभिलेख गोविन्द तृतीय द्वारा नागभट्ट की पराजय का उल्लेख करते हैं।

शक्तिशाली प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय को पराजित करने के बाद गोविन्द तृतीय ने पाल-साम्राज्य पर आक्रमण करने की योजना बनाई। पाल नरेश धर्मपाल और उसके द्वारा संरक्षित कन्नौज नरेश चक्रायुध ने गोविन्द तृतीय के सम्मुख आत्म-समर्पण कर देना ही उचित समझा। संजन अभिलेख से विदित होता है कि धर्मपाल ने गोविन्द तृतीय के सम्मुख आतमसमर्पण कर दिया। संजन-अभिलेख उसकी कुछ अन्य विजयों पर भी प्रकाश डालता है। उससे विदित होता है कि गोविन्द तृतीय के सेनानायकों ने मध्य भारत के समस्त राजाओं को पराजित करके उन्हें राष्ट्रकूटों की अधीनता स्वीकार करने को विवश कर दिया। उसने कोशल, मालवा और भड़ौच के नृपतियों को पराजित किया।

अन्य विजयें—गोविन्द तृतीय के उत्तर भारत अभियान के समय दक्षिणी भारत के गंगवाड़ी, केरल, चोल, पाण्ड्य और कांची के राजाओं ने उसके विरुद्ध एक शक्तिशाली संघ का निर्माण किया। संजन-अभिलेख से विदित होता है कि गोविन्द तृतीय ने इस संघ को बुरी तरह पराजित कर दिया। गोविन्द तृतीय की विजयों से प्रभावित होकर लंका के राजा ने उसकी सेवा में एक मूर्ति भेजकर राष्ट्रकूटों की अधीनता स्वीकर कर ली।

मूल्यांकन—गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट-वंश का सबसे महान् सम्राट् था। यद्यपि उसे उत्तराधिकार के रूप में एक विशाल, शक्तिशाली और सुसंगठित साम्राज्य प्राप्त हुआ था, तथापि स्तम्भ ने बारह राजाओं का संघ बनाकर गोविन्द तृतीय के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और राज्य में अस्थिरता उत्पन्न कर दी। किन्तु गोविन्द तृतीय ने योग्यता और दूरदर्शिता का परिचय देते हुए सभी पर काबू पा लिया। उसने गंग-

नरेश शिवमार, पल्लव-नरेश दन्दिवर्मन्, चालुक्य नरेश विजयादित्य, प्रतीहार राजा नागभट्ट द्वितीय और पाल नरेश धर्मपाल जैसे पराक्रमी राजाओं का मान-मर्दन करके राष्ट्रकूटों की प्रतिष्ठा को चतुर्दिक स्थापित किया। उसने मध्यदेश के राजाओं और दक्षिणी भारत के राजाओं के सम्मिलित संघ को परास्त किया। संजन-अभिलेख मालवा, कोशल, वेंगी, दाहल और ओद्रक राज्यों पर उसकी विजय का उल्लेख करता है। डॉ० अल्तेकर के मतानुसार गोविन्द तृतीय की विजयवाहिनी सेना ने हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप के प्रदेश तक विजय-अभियान किया। गोविन्द तृतीय के राजकवि का कथन है कि उसके जन्म के बाद राष्ट्रकूट लोग उसी प्रकार अजेय हो गये जिस प्रकार श्रीकृष्ण के जन्म के बाद यादव हो गये थे। कर्क के बड़ौदा-अभिलेख में उसकी तुलना पार्थ से की गई है। विद्वानों का मत है कि गोविन्द तृतीय का साम्राज्य हिमालय से कन्याकुमारी तथा गुजरात से मध्य भारत की पूर्वी सीमा तक विस्तृत था। वह चक्रवर्ती सम्राट् था। उसने प्रभूतवर्ष, पृथ्वीवल्लभ और श्रीवल्लभ की उपाधियाँ धारण कीं। डॉ० अल्तेकर ने गोविन्द तृतीय की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"गोविन्द तृतीय निःसन्देह राष्ट्रकूट सम्राटों में योग्यतम था। साहस, रणकौशल, राजकौशल और सैनिक कार्यों में वह अतुलनीय था। उसकी अजेय सेनाओं ने कन्नौज से कुमारी अन्तरीप तथा बनारस और भड़ौच के बीच के समस्त प्रदेश को विजित किया। वेंगी पर उसके द्वारा नियुक्त एक व्यक्ति का राज्य था। सुदूर दक्षिण के द्रविड़ शासकों की शक्ति पूर्णतः नष्ट हो चुकी थी। लंका का राजा भी भयभीत हो कर समर्पण को उद्यत हो गया। इसके बाद राष्ट्रकूट-साम्राज्य का यश इतना ऊँचा कभी न हो सका।"[1]

अमोघवर्ष प्रथम (814-878 ई०)—गोविन्द तृतीय के बाद उसका पुत्र अमोघवर्ष मात्र तेरह वर्ष की अल्पायु में राजसिंहासन पर बैठा। गोविन्द तृतीय ने अपने विश्वसनीय भतीजे कर्क को अवयस्क अमोघवर्ष का संरक्षक नियुक्त किया।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—राजसिंहासन पर आरूढ़ होते ही अवयस्क अमोघवर्ष प्रथम को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विद्रोही सामन्तों और पड़ोसी राज्यों ने विद्रोह करके चतुर्दिक अशांति का वातावरण उत्पन्न कर दिया। गंग नरेश ने राष्ट्रकूटों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। वेंगी के चालुक्य नरेश

---

1. "Govind III was undoubtedly the ablest of the Rashtrakuta emperors, unrivalled in courage, generalship, statesmanship and martial exploits. His invincible armies had conquered all the territories between Kannauj and Cape Comorin and Banaras and Broach. Vengi was governed by a nominee of his and the power of the Dravadian king in the extreme south was completely broken. Even the ruler of Ceylon was terrified into submission. Never again did the prestige of the Rashtrakuta empire rise so high."

—*Dr. Altekar*

विजयादित्य द्वितीय ने राष्ट्रकूटों के विरुद्ध न केवल विद्रोह किया, बल्कि उन पर आक्रमण करके अमोघवर्ष को पदच्युत भी कर दिया। बेगुम्रा-अभिलेख में उल्लिखित है कि राष्ट्रकूट वंश की कीर्ति चालुक्य सागर में डूब गई। 821 ई० में कर्क की सहायता से अमोघवर्ष ने राष्ट्रकूट राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया।

अमोघवर्ष का अन्य राज्यों से संघर्ष—राष्ट्रकूट राज्य पर पुनः अधिकार करने के बाद अमोघवर्ष ने वेंगी के चालुक्यों को पराजित किया। कुछ विद्वान् अमोघवर्ष की चालुक्य विजय की तिथि 844 ई० मानते हैं, किन्तु डॉ० अल्तेकर ने इस घटना की तिथि 860 ई० निर्धारित की है। सिरपुर, सांगली, कर्हद आदि अभिलेखों में चालुक्यों पर अमोघवर्ष की विजय का उल्लेख मिलता है। चालुक्य नरेश विजयादित्य तृतीय को पराजित करना अमोघवर्ष की एकमात्र सैन्य सफलता थी। चालुक्यों को पराजित करने के पश्चात् अमोघवर्ष ने गंग-नरेश भूतग को पराजित करने की योजना बनाई, परन्तु वह असफल रहा। अन्त में उसने भूतग से अपनी पुत्री का विवाह करके गंगों से मैत्री कर ली। अमोघवर्ष के राज्यकाल में उत्तरी भारत में महान् प्रतीहार नरेश मिहिरभोज का उत्कर्ष हुआ। उसने उज्जैन-प्रदेश को अधिकृत कर नर्मदा नदी के चतुर्दिक साम्राज्य-विस्तार किया। इस प्रकार मिहिरभोज ने मालवा पर अधिकार कर लिया। यदि गुजरात के राष्ट्रकूट-नरेश ध्रुव द्वितीय ने मिहिरभोज का प्रबल प्रतिरोध न किया होता तो वह तो अमोघवर्ष के राज्य को विजित करने में सफल हो जाता। सिरूर-अभिलेख में अमोघवर्ष को अंग, वंग, मगध, मालवा और वेंगी के राज्यों का विजेता कहा गया है। किन्तु विश्वसनीय ऐतिहासिक साक्ष्यों के अभाव में इस कथन की ऐतिहासिकता संदिग्ध है।

सांस्कृतिक अभिरुचि—राजनीतिक क्षेत्र में कोई सफलता अर्जित न करने पर भी सांस्कृतिक क्षेत्र में अमोघवर्ष की उपलब्धियाँ प्रशंसनीय हैं। उसे कन्नड़ भाषा के सर्वप्रथम काव्यशास्त्र 'कविराजमार्ग' का प्रणेता माना जाता है। वह विद्वानों का उदार संरक्षक था। उसकी राजसभा में आदिपुराण का रचयिता जिनसेन, गणितसार-संग्रह का लेखक महावीराचार्य और अमोघवृत्ति का प्रणेता शंकरायन निवास करते थे। अमोघवर्ष जैन मत का अनुयायी था। वह जिनसेन से अत्यधिक प्रभावित था। जैन धर्म का अनुयायी होने पर भी अमोघवर्ष धार्मिक सहिष्णु राजा था। उसने जन-कल्याण के लिए एक बार महालक्ष्मी को अपने बाएँ हाथ की उँगली काटकर बलि चढ़ाई थी। उसने मान्यखेट को राष्ट्रकूटों की नवीन राजधानी के रूप में विकसित किया। अरब यात्री सुलेमान उसकी गणना तत्कालीन विश्व के चार महान् सम्राटों में करता है। युवराज कृष्ण को राज्यकार्य सौंपकर अमोघवर्ष ने स्वयं वैराग्य ले लिया था। उसने 'वल्लभ', 'राजराज' और 'वीरनारायण' के विरुद धारण किए। डॉ० अल्तेकर ने अमोघवर्ष के शासनकाल की शांति, साहित्यिक उन्नति और जन-कल्याण हेतु उसकी बलिदानी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"राज्य में शांति और व्यवस्था के पुनः संस्थापक, कला एवं साहित्य के प्रेरक, अपने सिद्धांत पर चलने वाले

तथा जनहित के लिए बलिदान में अपने शरीर का एक अंग देने से भी न चूकने वाले शासक के रूप में अमोघवर्ष का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।''

कृष्ण द्वितीय (878-914 ई०)—अमोघवर्ष प्रथम के बाद उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय राजा हुआ। सामरिक क्षेत्र में उसे भी सफलता नहीं मिल पाई। यद्यपि उसके अभिलेखों में उसे अंग, वंग, गुर्जर, लाट, कलिंग और मगध का विजेता कहा गया है, किन्तु यह विवरण कोरी प्रशंसा मात्र विदित होता है। कृष्ण द्वितीय को उसके श्वसुर चेदिराज कोक्कल ने महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान की। बिल्हारी-अभिलेख से विदित होता है कि कोक्कल ने सम्पूर्ण पृथ्वी को विजित करके दक्षिण में अपने कीर्ति स्तम्भ के रूप में कृष्ण को प्रतिष्ठित किया था।

कृष्ण द्वितीय को चालुक्य नरेश विजयादित्य तृतीय से पराजित होना पड़ा। अभिलेखों से विदित होता है कि विजयादित्य ने कृष्ण द्वितीय को पराजित किया और चित्रकूट नगर को भस्म कर दिया। कृष्ण द्वितीय को चालुक्य नरेश भीम प्रथम से भी पराजित होना पड़ा। कलुचम्बरू-अभिलेख से विदित होता है कि चालुक्य-नरेश भीम ने कृष्णवल्लभ की विशाल सेना को पराजित किया। कृष्ण द्वितीय के राज्यकाल में गंगों की स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान रही। मालवा पर अधिकार करने के उद्देश्य से भोज प्रतीहार और कृष्ण द्वितीय के मध्य दीर्घकालीन संघर्ष हुआ। दोनों पक्ष अपनी-अपनी विजय का उल्लेख करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दीर्घकालीन संघर्ष अनिर्णीत समाप्त हुआ। कृष्ण द्वितीय को चोलों के विरुद्ध भी सफलता नहीं मिल पाई। कृष्ण द्वितीय के शासनकाल में गुजरात की राष्ट्रकूट शाखा के साथ उसके सम्बन्ध विगड़ गये। कृष्ण द्वितीय ने गुजरात की उपशाखा के शासन को छीनकर वहाँ अन्य वंश के प्रचण्ड नामक व्यक्ति को अपना गवर्नर नियुक्त किया। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से कृष्ण द्वितीय असफल रहा। वह राष्ट्रकूट राज्य के खोये हुए प्रदेशों को विजित न कर सका।

इन्द्र तृतीय (914-922 ई०)—कृष्ण द्वितीय के पुत्र जगत्तुंग का देहावसान अपने पिता के राज्यकाल में ही हो गया था। अतः कृष्ण के पश्चात् उसका प्रतापी पौत्र इन्द्र तृतीय राजगद्दी पर आसीन हुआ।

इन्द्र तृतीय युवराज के रूप में परमार नरेश उपेन्द्र को पराजित करके ख्याति अर्जित कर चुका था। 914 ई० में नृपति बन जाने के पश्चात् इन्द्र तृतीय ने उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया। उसने कन्नौज के प्रतीहार नरेश महीपाल को पराजित किया। खम्भात और खजुराहो अभिलेखों से विदित होता है कि इन्द्र तृतीय ने उज्जयिनी और कन्नौज को विजित कर लिया। उसके आक्रमण के डर से प्रतीहार-नरेश महीपाल भाग खड़ा हुआ। प्रतीहारों की पराजय के फलस्वरूप सौराष्ट्र आदि पश्चिमी प्रांत उनके अधिकार से निकल गये।

अभिलेखों में इन्द्र तृतीय की दक्षिण विजय का आभास होता है। उसके सेनापति श्रीविजय ने अनेक शत्रुओं को पराजित किया। अपने सफल अभियानों से इन्द्र

तृतीय ने उत्तर में गंगा से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक के क्षेत्र को आतंकित कर दिया। उसने कोक्कल की पौत्री विजम्बा से विवाह किया और चेदि में एक विजयस्तम्भ स्थापित किया। वह शैव धर्म का अनुयायी था और उसने 'परममाहेश्वर' की उपाधि धारण की। इन्द्र तृतीय ने अपने वंश के गौरव की पुनःस्थापना का भर-सक प्रयत्न किया। गोविन्द तृतीय के बाद वह (इन्द्र तृतीय) प्रथम राष्ट्रकूट नरेश था जिसने दक्षिण में अपने शत्रुओं का दमन किया और उत्तरी भारत की प्रमुख सत्ता (प्रतीहारों) को चुनौती दी।

अमोघवर्ष द्वितीय (922-923 ई०)—इन्द्र तृतीय के बाद उसका पुत्र अमोघ-वर्ष राजगद्दी पर बैठा। 1 वर्ष के शासनकाल के उपरांत उसका देहावसान हो गया। उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि उसकी मृत्यु स्वाभाविक रूप से हुई थी, किन्तु कतिपय विद्वान् यह मत प्रतिपादित करते हैं कि अमोघवर्ष के छोटे भाई गोविन्द चतुर्थ ने पदच्युत कर मार डाला।

गोविन्द चतुर्थ (923-936 ई०)—अमोघवर्ष चतुर्थ का अनुज गोविन्द चतुर्थ अत्यन्त विलासी शासक था। वह सदैव भोग-विलास में लिप्त रहता था और सुन्दर नर्तकियों का समूह उसे हमेशा घेरे रहता था। खारेपाटन दानपत्र से विदित होता है—"वह प्रेम के प्रदर्शन का स्थान था और सदैव सुन्दर स्त्रियों से घिरा रहता था।" वर्धा दानपत्र से विदित होता है—"उसकी बुद्धि नारियों के नयनपाश में बद्ध हो गई और उसने अपना सब कुछ नष्ट कर दिया।"

गोविन्द चतुर्थ की अकर्मण्यता का लाभ उठाकर प्रतीहार नरेश महीपाल ने कन्नौज पर पुनः अधिकार कर लिया। उसे वेंगी के चालुक्य राजा भीम द्वितीय से भी पराजित होना पड़ा। उसके काल में राष्ट्रकूट साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। अन्त में राज्य की जनता और सामन्तों ने मिलकर गोविन्द चतुर्थ को अप-दस्थ कर दिया और उसके चाचा अमोघवर्ष तृतीय को राजगद्दी पर बिठाया।

अमोघवर्ष तृतीय (936-939 ई०)—अमोघवर्ष तृतीय धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसने राज्याधिकारियों, महत्त्वाकांक्षी पुत्र कृष्ण तृतीय और जनसाधारण के दबाव में आकर राजपद ग्रहण किया।

यद्यपि अमोघवर्ष तृतीय राजा था, तथापि शासन के सभी महत्त्वपूर्ण कार्य युवराज कृष्ण तृतीय द्वारा संचालित होते थे। युवराज कृष्ण तृतीय ने गंग-नरेश राचमल्ल को अपदस्थ कर अपने बहनोई गंगवंशीय राजकुमार भूतुंग द्वितीय को गंग-वाड़ी की राजगद्दी पर बिठाया। कृष्ण तृतीय ने कलचुरियों को पराजित करके कालं-जर और चित्रकूट को विजित कर लिया।

कृष्ण तृतीय (939-968 ई०)—अमोघवर्ष तृतीय के बाद उसका पुत्र कृष्ण तृतीय राजा हुआ। युवराज काल में ही शासन की वास्तविक बागडोर उसके हाथ में आ गई थी और वही राज्य का सर्वेसर्वा था। युवराज के रूप में अनेक युद्धों में विजयें प्राप्त कीं।

राजगद्दी पर बैठने के बाद कृष्ण तृतीय ने अपने शत्रुओं को दण्डित किया। उसने दत्तिग और वप्पुक को मौत के घाट उतारा तथा गंग राज्य को विजित करके भूतग को राजा बनाया। उसकी विजयों से आतंकित होकर गुर्जर राजा ने कालंजर और चित्रकूट को विजित करने की आशा त्याग दी। उसने हिमालय से सिंहल और पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के बीच के सभी सामंतों और राजाओं को नतमस्तक किया। प्रारम्भ में उसे चौल नरेश परांतक से पराजित होना पड़ा। किन्तु शीघ्र ही उसने चोलों को पराजित कर अपनी पूर्व पराजय का बदला चुकाया। चोल राजकुमार राजादित्य इस संघर्ष में मारा गया और कांची और तंजौर पर कृष्ण तृतीय का अधिकार हो गया। अभिलेखों से विदित होता है कि कृष्ण तृतीय ने पांड्यों, केरलों और लंकाधिपति को पराजित किया। कर्हाद अभिलेख कलचुरि नरेश युवराज के ऊपर कृष्ण तृतीय की विजय का उल्लेख करता है। कृष्ण तृतीय ने युवराज को पराजित करके डाहल का प्रदेश छीन लिया। उसने परमार शासक सीयक के विद्रोह का दमन किया और वेंगी के चालुक्य शासक अम्म द्वितीय को पदच्युत करने अपने मित्र वाडप को वहाँ का शासक नियुक्त किया। कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंश का अन्तिम प्रतापी नरेश था।

खोट्टिग (968-972 ई०)—कृष्ण तृतीय के पश्चात् उसका भाई खोट्टिग वृद्धावस्था में राजगद्दी पर बैठा। परमार नरेश सीयक ने उसे पराजित करके राष्ट्रकूट राजधानी मान्यखेट को लूट डाला।

कर्क द्वितीय (972-974 ई०)—खोट्टिग की मृत्यु के बाद उसका भतीजा कर्क द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। अभिलेखों में उसके प्रबल प्रताप की प्रशंसा की गई है और उसे अनेक राज्यों का विजेता कहा गया है। खुर्दा-अभिलेख से विदित होता है कि उसने पाण्ड्यों को आतंकित किया, हूणों से वीरतापूर्वक युद्ध किया और चोलों तथा गुर्जरों को परास्त किया। यह विवरण अतिरंजित प्रतीत होता है। राष्ट्रकूटों की दुर्बलता का लाभ उठाकर राष्ट्रकूट सामन्त तैलप द्वितीय ने कर्क द्वितीय को पराजित करके राष्ट्रकूट-राज्य पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सवा दो सौ वर्ष तक गौरवपूर्ण शासन करने के उपरांत राष्ट्रकूट राजवंश का पतन हो गया।

राष्ट्रकूट वंश का महत्त्व

भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास में राष्ट्रकूट वंश का विशिष्ट महत्त्व है। प्रारम्भ में चालुक्यों के सामन्त रहने के पश्चात् सर्वप्रथम दन्दिदुर्ग ने अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की। राष्ट्रकूट वंश में ध्रुव, गोविन्द तृतीय, इन्द्र तृतीय और कृष्ण तृतीय जैसे प्रतापी राजा हुए जिन्होंने अपने प्रबल पराक्रम से न केवल दक्षिणी भारत में एक विशाल साम्राज्य का विस्तार किया, बल्कि उत्तर भारत की प्रमुख शक्तियों को भी नतमस्तक किया। यद्यपि आंतरिक कलह, उत्तराधिकारियों की अयोग्य तथा सीयक और तैलप द्वितीय की विद्रोही प्रवृत्ति ने राष्ट्रकूट वंश का अन्त कर दिया, तथापि राष्ट्रकूटों ने सवा दो सौ वर्षों तक गौरवपूर्ण शासन कर भारतीय इतिहास में

एक स्वर्णिम अध्याय जोड़ा है। राष्ट्रकूट वंश के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ०अल्तेकर ने लिखा है—"753 ई० से 975 ई० तक दक्षिण में राष्ट्रकूट वंश की सर्वोच्चता का काल सम्भवतः उसका सर्वाधिक शोभापूर्ण अध्याय है। अठारहवीं शताब्दी में मराठों के उदय से पूर्व दक्षिण के किसी अन्य राजवंश ने भारत के इतिहास में ऐसा प्रमुख भाग नहीं लिया। इस वंश के तीन शासकों—ध्रुव, गोविन्द तृतीय और इन्द्र तृतीय ने उत्तर भारत के मध्य तक विजय अभियान किये और उसके (उत्तरी भारत के) सर्वाधिक शक्तिशाली शासकों को पराजित करके उन्होंने उसके इतिहास के प्रवाह को ही बदल दिया। दक्षिण में उनकी सफलताएँ अपूर्व थीं और कृष्ण तृतीय अपनी विजय यात्रा में वास्तव में रामेश्वरम् तक पहुंच गया। भारत की सभी महान् शक्तियों—उत्तर के प्रतीहार और पाल वंश तथा दक्षिण के पूर्वी चालुक्य और चोल वंश को उन्होंने एक या दूसरे समय पर अपने अधीन किया। निस्सन्देह कभी-कभी उन्हें पराजय का मुँह भी देखना पड़ा, किन्तु कुल मिलाकर अपने शक्तिशाली शत्रुओं के विरुद्ध उनके सामरिक अभियान बार-बार सफल हुए।" शक्तिशाली राष्ट्रकूटों के शासनकाल में प्रतीहारों और पालों को कभी-भी राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ।

राष्ट्रकूटकालीन सांस्कृतिक दशा

शासन प्रबन्ध—राजनीतिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सफलताएँ अर्जित करने वाले राष्ट्रकूट राजाओं ने सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अभिरुचि दिखाई। राष्ट्रकूट राज्य का शासन प्रबन्ध सुसंगठित था। राजा राज्य का प्रधान होता था। राज्य की सम्पूर्ण शक्ति उसके हाथों में केन्द्रित थी। राजा राज्य का मुख्य न्यायाधीश और प्रधान सेनानायक होता था। राजपद वंशानुगत होता था। राजा 'महाराजाधिराज' और 'परमभट्टारक' की उपाधियाँ धारण करता था। युवराज प्रशासनिक कार्यों में राजा को सहयोग देता था। दूरस्थ प्रांत सामन्तों के अधीन होते थे। सामन्त नियमित रूप से राजा को कर देते थे और उसकी ओर से युद्ध में भाग लेते थे। राज्य के विरुद्ध कार्य करने पर ही राजा सामन्तों के राज्य में हस्तक्षेप करता था। राज्य कार्य में राजा की सहायता के लिए मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था थी। मन्त्रिपद पर अत्यन्त योग्य और विश्वसनीय व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था। मन्त्रिगण राजा को केवल सलाह दे सकते थे। शासन के सुचारुरूप से संचालन हेतु राज्य अनेक इकाइयों में विभक्त था। सम्पूर्ण राज्य कई 'राष्ट्रों', राष्ट्र 'विषयों', विषय 'भुक्तियों' और 'भुक्ति' नगरों और ग्रामों में विभक्त थे। राष्ट्रकूटों के पास एक शक्तिशाली सेना थी। हाथी, घुड़सवार और पैदल सेना राष्ट्रकूट सेना के प्रमुख अंग थे। उपज का 1/4 भूमि कर (भोग) के रूप में वसूल किया जाता था। वनों, बागों, खानों, क्रय-विक्रय की वस्तुओं, चुंगी, सामन्तों से प्राप्त कर और उपहारादि से भी राज्य को राजस्व प्राप्त होता था।

सामाजिक दशा—राष्ट्रकूट समाज अनेक जातियों में विभक्त था। मुख्यतः

सात जातियों का उल्लेख मिलता है—ब्रह्म, कटारिया, सुदरिया, बेसुरिया, संडालिया, साब्कुफिया और लहूद । एक वर्ण के लोग कई प्रकार के कार्य कर सकते थे । शूद्रों को हेय-दृष्टि से देखा जाता था । वेद-पाठ करने पर उनकी जिह्वा काट ली जाती थी । सजातीय विवाह अच्छे माने जाते थे । छोटी अवस्था में ही विवाह कर दिये जाते थे । समाज में पर्दा-प्रथा का प्रचलन नहीं था किन्तु सती-प्रथा का उल्लेख मिलता है । तत्कालीन समाज में रूढ़िवादिता और संकीर्णता की भावना विद्यमान थी ।

धार्मिक दशा—राष्ट्रकूट वैदिक धर्म के अनुयायी थे । यज्ञों का स्वरूप हिंसात्मक था । राष्ट्रकूट-काल में वैष्णव और शैव धर्म की प्रधानता थी । राष्ट्रकूट राजाओं की मुहरों में इन दोनों देवताओं की मूर्तियाँ अंकित हैं । राष्ट्रकूट अभिलेख विष्णु अथवा शिव की आराधना से प्रारम्भ होते हैं । विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा आदि देवी-देवताओं के मन्दिरों का निर्माण हुआ । बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म उन्नत अवस्था में था । राष्ट्रकूट नरेश धार्मिक सहिष्णु थे ।

शिक्षा और साहित्य—राष्ट्रकूट राजाओं ने शिक्षा और साहित्य के विकास की ओर भी ध्यान दिया । कन्हेरी बौद्ध-विहार शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था । विद्यार्थियों के निवास हेतु 27 छात्रावास बने हुए थे । ग्रामों में पाठशालाएँ थीं । राज्य के धनी और विद्याप्रेमी लोग शिक्षा के विकास के लिए दान देते थे । राष्ट्रकूट काल में साहित्य का भी विकास हुआ । तत्कालीन अभिलेखों और रचनाओं से राष्ट्रकूटकालीन साहित्य के विकास का ज्ञान होता है । राष्ट्रकूट राजा स्वयं विद्वान् थे और साहित्यकारों को राज्याश्रय देते थे । जिनसेन, शाक्तायन, महावीराचार्य, पोन्ना, पम्पा और रन्ना उस काल के प्रमुख साहित्यकार थे ।

कला—यद्यपि कला के क्षेत्र में राष्ट्रकूटों ने उदासीन दृष्टिकोण का परिचय दिया, तथापि उस काल में अनेक सुन्दर कलाकृतियों का निर्माण हुआ । कृष्ण प्रथम के काल में चट्टानों को काटकर बनाया गया एलोरा का कैलाश मन्दिर और एलीफेण्टा की कुछ गुफाएँ तथा त्रिमूर्ति कला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं ।

पल्लव वंश

उत्पत्ति—प्रमुख भारतीय राजवंशों की उत्पत्ति की भाँति पल्लव वंश की उत्पत्ति भी विवादास्पद है । प्रारम्भ में डॉ० स्मिथ पल्लव वंश को पर्सियन अथवा पार्थियन मूल का मानते थे । बाद में उन्होंने पल्लवों के सम्बन्ध में अपनी धारणा को परिवर्तित करते हुए कहा कि पल्लव लोग देश के किसी स्वदेशोत्पन्न कबीले, वंश अथवा जाति के थे । डॉ०स्मिथ ने पल्लवों को कुरुम्बों से सम्बन्धित बताते हुए लिखा है : "उनके (पल्लवों के) सम्बन्ध में ज्ञात प्रत्येक बात से आभास होता है कि वे प्रायद्वीपीय वंशीय (दक्षिण का) थे । सम्भवतः वे कुरुम्बों की एक शाखा थे अथवा उनसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था । कुरुम्ब आरम्भ में एक खेतिहर जाति थी, जिन्होंने प्रार-

म्भिक तमिल परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।"[1] वेनकैय्या का मत है—"जब तक पल्लवों के मूल का प्रश्न विवादशून्य तर्कों द्वारा सन्तोषजनक रूप से सुस्थिर नहीं हो जाता, तब तक उनका समीकरण पुराणों में उल्लिखित पह्लवों और पल्हवों के साथ किया जाना चाहिए। यह समीकरण शब्द-व्युत्पत्ति पर आधारित है और इसकी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी भारत की जनसंख्या में पल्हव (पह्लव) लोग एक विशिष्ट तत्त्व के रूप में विद्यमान थे। पश्चिमी भारत से पूर्वीय समुद्रतट की ओर उनका संक्रमण केवल सम्भव ही नहीं प्रतीत होता, अपितु ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा यह (संक्रमण) सम्भाव्य भी कर दिया गया है।" डॉ॰ राइस का मत है कि पल्लवों की उत्पत्ति पह्लव से हुई थी। उनके अनुसार 'पह्लव' शब्द 'पार्थव' शब्द का प्राकृत रूप है। दुब्रिया महोदय के अनुसार पल्लवों की उत्पत्ति पह्लवों से हुई थी। उनका कथन है कि कांची में पल्लव-वंश की संस्थापना रुद्रदामन के पह्लव मन्त्री सुविशाख ने की थी।

पह्लवों और पल्लवों में समानता स्थापित करना उचित प्रतीत नहीं होता है। पल्लव वंश के अभिलेखों में पह्लव शब्द का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। पल्लवों द्वारा अश्वमेध यज्ञों का सम्पादन उन्हें पह्लवों से पृथक् सिद्ध करता है। कवि राजशेखर ने अपने ग्रन्थ भुवनकोश में पल्लवों और पह्लवों का उल्लेख पृथक्-पृथक् किया है।

सी॰ आर॰ रसनयगम और सी॰ एस॰ निवासचारी ने पल्लवों को चोलों और नागों से सम्बन्धित बताया है। कृष्ण स्वामी आयंगर के मतानुसार पल्लव सातवाहनों के सामन्त थे। प्रोफेसर आर॰ सथ्यनयैय्यर ने पल्लवों की उत्पत्ति टोडमण्डलम से बताई है। लगभग 225 ई॰ में सातवाहनों के पतन के बाद पल्लवों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। डॉ॰ जायसवाल के मतानुसार, पल्लव-वंश वाकाटक-वंश की एक शाखा थी। उन्होंने लिखा है—"पल्लव न तो विदेशी, न द्रविड़; वरन् उत्तर के शुद्ध अभिजात कुलीन ब्राह्मण थे जिन्होंने सैनिक-वृत्ति अपना ली थी।" किन्तु जायसवाल का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता है। तालगुंड-अभिलेख में पल्लवों को क्षत्रिय कहा है। कदम्बों ने पल्लवों को क्षत्रिय कहा है। डॉ॰ राजबली पाण्डेय ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि पल्लव-वंश उत्तरी शस्त्रजीवी ब्राह्मणों से उत्पन्न हुआ था और बाद में क्षत्रिय माना जाने लगा। ह्वेनसांग ने पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन् को क्षत्रिय कहा है। गोपालन् के अनुसार पल्लव मराठा पालव से सम्बन्धित थे और मध्यदेश से महाराष्ट्र होते हुए दक्षिण में प्रविष्ट हुए थे। प्रोफेसर नीलकंठ शास्त्री का मत है कि अपने समकालीन छूत और कदम्ब राजवंशों की

---

1. "Everything known about them indicates that they were a peninsular race, tribe or clan. Probably, either identical or closely connected with the Kurumbas, an originally pastoral, who played a prominent part in the early Tamil tradition."

—*Dr. V. A. Smith*

भाँति पल्लव शासक भी मूलतः उत्तरी भारत के ही थे जिन्होंने अपने लिए दक्षिण में एक नया निवास स्थान खोज लिया और वहाँ की स्थानीय परम्पराओं को ग्रहण कर लिया। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने पल्लवों का मूल प्रदेश उत्तरी भारत और उन्हें क्षत्रिय मानते हुए लिखा है—

"इसमें सन्देह नहीं कि पल्लवों की उत्तरी सम्बन्ध की बात कुछ सीमा तक सही है, क्योंकि उनके प्राचीन अभिलेख प्राकृत में हैं और वे संस्कृत विद्या तथा संस्कृति के भी संरक्षक थे। परन्तु 'द्रोणाचार्य' और 'अश्वत्थामा' से उनको सम्बद्ध करने वाली अनुश्रुतियाँ सम्भवतः सत्य पर अवलम्बित नहीं हैं। तालगुण्ड-अभिलेख में कदम्ब मयूरशर्मन कांची के ऊपर 'पल्लव क्षत्रियों' के प्रभाव को धिक्कारता है जिससे स्पष्ट है कि पल्लव क्षत्रिय थे।"

प्रारम्भिक पल्लव शासक

पल्लव-वंश के प्रारम्भिक शासकों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध नहीं है। सी० वी० वैद्य का मत है कि आन्ध्र-साम्राज्य (सातवाहन-साम्राज्य) के पतन के पश्चात् तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में पल्लव-राजवंश का आविर्भाव हुआ। रॉलिन्सन का कथन है कि 325 ई० के लगभग पल्लव पूर्वीघाट पर कृष्णा और गोदावरी के बीच के प्रदेश में उदित हुए। उन्होंने कुरुम्बों, मखों, कल्लों आदि लुटेरी जातियों को अपने साथ मिला लिया। तमिल भाषा में 'पल्लव' शब्द का अर्थ दुष्ट अथवा दस्यु है। लगभग 350 ई० में पल्लवों ने पूर्वी घाट में निवास कर काँची अथवा काँजीवरम नामक प्रसिद्ध स्थान (नगर) पर अधिकार कर लिया।

पल्लव-वंश का संस्थापक बप्पदेव था। आन्ध्रपथ (आन्ध्र प्रदेश) और टोड-मण्डलम दोनों प्रदेश बप्पदेव के अधीन थे। आन्ध्रपथ की राजधानी धान्यकोट और टोडमण्डलम की राजधानी काँची थी। ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग तीसरी शताब्दी के अन्तिम चरणों में बप्पदेव ने पल्लव राज्य की नींव डाली।

बप्पदेव का पुत्र शिवस्कंदवर्मन धर्मराज एक पराक्रमी राजा था। उसने उत्तर और दक्षिण दोनों ओर पल्लव राज्य का विस्तार किया। पल्लव-वंश का दूसरा प्रमुख राजा विष्णुगोप था। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से विदित होता है कि विष्णुगोप ने गुप्तों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। तत्पश्चात् एक शताब्दी तक पल्लव-वंश का इतिहास अन्धकारमय रहा। छठी शताब्दी के अन्तिम चरणों में इस वंश का पुनः उत्कर्ष हुआ।

पल्लव शक्ति का उत्कर्ष

सिंहविष्णु (575-600 ई०)—लगभग 575 ई० में सिंहविष्णु के नेतृत्व में पल्लव शक्ति का उत्कर्ष हुआ। उसने चोलों को पराजित करके कावेरी नदी तक पल्लव-राज्य का विस्तार किया। उसने पाण्ड्यों, कलभ्रों और मालवों को परास्त किया। वह वैष्णव मतावलम्बी और विद्वानों का आश्रयदाता था। कहा जाता है **कि**

'किरातार्जुनीय' का प्रणेता भारवि तथा 'काव्यादर्श' का रचयिता दण्डिन उसकी कांचीपुरम की राजसभा को अलंकृत करते थे।

महेन्द्रवर्मन प्रथम (600-630 ई०)—सिंहविष्णु के गौरवपूर्ण शासन के पश्चात उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन प्रथम राजगद्दी पर आसीन हुआ। उसकी गणना पल्लव-वंश के प्रमुख शासकों में की जाती है। वह इतिहास में अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए प्रसिद्ध है।

महेन्द्रवर्मन प्रथम ने कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित सभी राज्यों को विजित करके राजनीतिक एकता की स्थापना की। उसने सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य और चेर राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। दक्षिणापथ के आधिपत्य के लिए पल्लवों और चालुक्यों में जो संघर्ष हुआ, उसमें चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय की विजय हुई। एहोल-अभिलेख से विदित होता है कि पुलकेशी द्वितीय ने "अपनी सेना की धूल से पल्लवों के स्वामी की शोभा को ढक दिया और उसे कांचीपुर की प्राचीरों के पीछे लुप्त कर दिया।" पुलकेशी द्वितीय ने पल्लव-राज्य के उत्तरी प्रदेशों को अधिकृत कर लिया। किन्तु महेन्द्रवर्मन के प्रबल प्रतिरोध के कारण वह पल्लव-राजधानी कांची पर अधिकार न कर सका।

महेन्द्रवर्मन प्रथम धर्म, कला और साहित्य का उदार संरक्षक था। प्रारम्भ में वह जैन धर्म का अनुयायी था, किन्तु बाद में अप्पर नामक संत के प्रभावस्वरूप वह शैव मतावलम्बी बन गया। वह धार्मिक सहिष्णु शासक था। उसने शैव मन्दिरों के साथ-साथ ब्रह्मा और विष्णु के मन्दिर भी निर्मित करवाये। उसने 'मत्तविलास', 'अवनिभाजन', 'शत्रुमल्ल', 'गुणाभार', 'विचित्रचित्त', 'सत्यसंघ', 'परम माहेश्वर', 'महेन्द्रविक्रम' आदि उपाधियाँ धारण कीं। वह दक्षिण का पहला शासक था, जिसने कठोर पाषाण-खण्डों को काटकर मन्दिर निर्मित करने की कला का प्रचार किया। महेन्द्रवर्मन स्वयं एक विद्वान था। उसे 'मत्तविलास प्रहसन' का रचयिता माना जाता है। उसके काल में भारवि ने 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य की रचना की। प्रोफेसर नीलकंठ शास्त्री ने उसे चतुर्मुखी प्रतिभा सम्पन्न युद्ध और शान्ति की कलाओं में समान कहा है।

नरसिंहवर्मन प्रथम (630-668 ई०)—महेन्द्रवर्मन प्रथम के बाद उसका पराक्रमी पुत्र नरसिंहवर्मन प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ। विद्वानों का मत है कि वह पल्लव-वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था।

नरसिंहवर्मन प्रथम ने चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय को तीन बार पराजित करके अपने पिता की पराजय का बदला चुकाया। घमासान युद्ध में पुलकेशी द्वितीय वीरगति को प्राप्त हुआ और उसकी सेना को पराजय का मुँह देखना पड़ा। पल्लव सेना ने चालुक्य-राजधानी बादामी को लूटकर अतुल धन-सम्पदा प्राप्त की। इस विजय के फलस्वरूप चालुक्य-राज्य के दक्षिणी भू-भाग पर पल्लवों का अधिकार स्थापित हो गया। पुलकेशी जैसे महान सेनानी को पराजित करना नरसिंहवर्मन की

महान उपलब्धि थी। पुलकेशी द्वितीय को पराजित करने के फलस्वरूप नरसिंहवर्मन की ख्याति चतुर्दिक फैल गई और वह दक्षिणी भारत का सर्वोच्च शासक बन गया।

चालुक्यों को पराजित करने के उपरान्त नरसिंहवर्मन ने सिंहल (लंका) राज्य के विरुद्ध नौसैनिक अभियान किए। उसने अपने समर्थक मानवर्मा को सिंहल राज्य के सिंहासन पर बिठाया। नरसिंहवर्मन ने चोलों, चेरों और पाण्ड्यों को भी पराजित किया।

नरसिंहवर्मन न केवल एक योद्धा, बल्कि एक महान निर्माता भी था। उसने मामल्लपुरम नगर की स्थापना की। उसने पल्लव-राज्य के प्रमुख बन्दरगाह मामल्लपुरम में अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया। चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में पल्लव राज्य का उल्लेख किया है। प्रोफेसर नीलकंठ शास्त्री ने नरसिंहवर्मन की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उसके नेतृत्व में पल्लवों ने वह शक्ति तथा सम्मान प्राप्त किया जो कि उसने सिंहविष्णु के नेतृत्व में पुनरुत्थान के समय से नहीं जानी थी।"[1]

महेन्द्रवर्मन द्वितीय (668-670 ई०)—नरसिंहवर्मन के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन द्वितीय राजा हुआ। उसने केवल दो वर्ष तक राज्य किया। उसके काल की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। विद्वानों का मत है कि उसे चालुक्य नरेश विक्रमादित्य से पराजित होना पड़ा।

परमेश्वरवर्मन प्रथम (670-695 ई०)—महेन्द्रवर्मन द्वितीय के अल्प शासन काल के पश्चात 670 ई० में उसका पुत्र परमेश्वरवर्मन प्रथम राजगद्दी पर बैठा। उसे चालुक्य नरेश विक्रमादित्य के आक्रमण का सामना करना पड़ा। चालुक्य-पल्लव संघर्ष में दोनों पक्ष अपनी-अपनी विजय का उल्लेख करते हैं। चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य के गडवल-अभिलेख से विदित होता है कि उसने (विक्रमादित्य ने) नरसिंहवर्मन महामल्ल के वंश का विनाश कर दिया। पल्लव-अभिलेखों में कहा गया है कि यद्यपि चालुक्य नरेश विक्रमादित्य प्रथम की सेना कई लाख थी, परन्तु फिर भी एक फटे हुए कपड़े से अपने शरीर को ढक कर उसे पेरुवलनल्लूर के युद्ध में पराजित होकर भागना पड़ा। इन परस्पर-विरोधी विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि परमेश्वरवर्मन और विक्रमादित्य के मध्य दो बार संघर्ष हुआ। पहली बार चालुक्यों की विजय हुई और दूसरी बार विजयश्री ने पल्लवों का वरण किया।

परमेश्वरवर्मन शैव मतावलम्बी था। उसने अपने राज्य में अनेक शैव मन्दिरों का निर्माण करवाया। उसके द्वारा निर्मित मामल्लपुरम का गणेश मन्दिर और करम (काँची के निकट) शिव मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं।

---

1. "There can be no doubt, however, that under him the Pallava powers attained a strength and prestige which it had not known since its revival under Singha Vishnu."
—*K.A.N. Sastri*

नरसिंहवर्मन द्वितीय (695-722 ई०)—परमेश्वरवर्मन प्रथम के बाद उसका पुत्र नरसिंहवर्मन द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। गोपालन का मत है कि नरसिंहवर्मन द्वितीय का शासनकाल शान्तिपूर्ण और बाह्याक्रमणों से विमुक्त रहा। अपने शान्तिपूर्ण शासनकाल में उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया जिनमें काँची का 'कैलाशनाथ मन्दिर', महाबलिपुरम का 'शोर मन्दिर', काँची का 'ऐरावतेश्वर' मन्दिर और पनामलाई के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं।

परमेश्वरवर्मन द्वितीय (722-730 ई०)—नरसिंहवर्मन द्वितीय के बाद उसका पुत्र परमेश्वरवर्मन द्वितीय राजा हुआ। वेलूरपालयम पत्रों से विदित होता है कि उसने मनुस्मृति के आधार पर शासन किया। उसे चालुक्य युवराज विक्रमादित्य और गंग नरेश श्रीपुरुष से पराजित होना पड़ा।

नन्दिवर्मन द्वितीय (730-795 ई०)—परमेश्वरवर्मन अपुत्र था। अतः उसकी मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर पल्लव राज्य में गृह-युद्ध छिड़ गया। प्रजा और जनप्रतिनिधियों ने नन्दिवर्मन द्वितीय को राज्य की बागडोर सौंप दी।

नन्दिवर्मन द्वितीय को चालुक्यों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वितीय ने नन्दिवर्मन द्वितीय को पराजित करके काँची पर अधिकार कर लिया। नन्दिवर्मन द्वितीय ने डटकर शत्रु दल का सामना किया और कांची पर पुनः अधिकार कर लिया। नन्दिवर्मन द्वितीय के पराक्रमी सेनापति उदयचन्द्र ने पांड्य-नरेश मारवर्मा को पराजित किया। उसने शबर और निषाद जातियों का भी दमन किया। विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र कीर्तिवर्मन ने पल्लव राज्य पर आक्रमण करके लूट में अगाध धन-सम्पदा प्राप्त की। नंदिवर्मन द्वितीय ने गंगनरेश श्रीपुरुष को पराजित किया, किन्तु उसे राष्ट्रकूट नरेश दंदिदुर्ग से पराजित होना पड़ा। अन्त में दोनों में संधि हो गई। दंदिदुर्ग ने अपनी कन्या रेवा का विवाह नंदिवर्मन द्वितीय के साथ कर दिया।

सामरिक अभियानों में व्यस्त रहने पर भी नंदिवर्मन द्वितीय ने निर्माण कार्यों की ओर विशेष रुचि दिखाई। उसने अपनी राजधानी काँची में मुक्तेश्वर मन्दिर और बैकुण्ठ पेरुमल मन्दिर का निर्माण करवाया। वह वैष्णव धर्मानुयाई था।

दंदिवर्मन (795-844 ई०)—नंदिवर्मन द्वितीय के बाद उसका पुत्र दंदिवर्मन राजा हुआ। उसे अपने दीर्घकालीन शासनकाल में पांड्य शासकों और राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय से पराजित होना पड़ा।

नंदिवर्मन तृतीय (844-866 ई०)—दंदिवर्मन के पश्चात नंदिवर्मन द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। उसने गंग, चोल और राष्ट्रकूटों की सहायता से तेल्लरु के युद्ध में पांड्य नरेश श्रीमार को पराजित किया। किन्तु कुछ समय बाद श्रीमार ने नंदिवर्मन और उसके सहायकों को पराजित करके अपनी पराजय का बदला चुका दिया। नंदिवर्मन द्वितीय ने अपने शक्तिशाली जहाजी बेड़े की सहायता से बृहत्तर भारत के साथ सम्बन्ध स्थापित किए।

नृपतुंग वर्मन् (866-896 ई०)—नन्दि वर्मन द्वितीय के बाद नृपतुंगवर्मन् ने 30 वर्ष तक शासन किया। उसने पांड्य नरेश श्रीमार को पराजित किया।

अपराजित वर्मन् (897 ई०)—युवराज के रूप में अपराजित वर्मन् ने राज्य-कार्य में पर्याप्त सहयोग दिया। उसने गंग नरेश पृथ्वीपति की सहायता से पांड्य राजा वरगुण द्वितीय को पराजित किया। 897 ई० में चोल नरेश आदित्य प्रथम ने अपराजित वर्मन् को मौत के घाट उतार कर पल्लव राज्य को चोल साम्राज्य में विलीन कर लिया। इस प्रकार पल्लव राजवंश का अन्त हो गया।

पल्लवकालीन सांस्कृतिक दशा

पल्लव राजाओं ने शासन को सुव्यवस्थित और सुसंगठित करने में भी अपनी योग्यता का परिचय दिया। गोपालन महोदय ने पल्लव शासन-प्रबन्ध का उल्लेख करते हुए लिखा है— "······एक ऐसी शासन-व्यवस्था प्रचलित थी जिसमें राजा को सर्वोत्तम स्थान प्राप्त था और प्रांतीय गवर्नर तथा विभागों के उत्तरदायी मन्त्रियों, जो कि अपने विभागों, उद्यान, जनता स्नानगृह, वन आदि के लिए उत्तरदायी होते थे। यह शासन-व्यवस्था हमें बहुत कुछ विषयों में मौर्यों की शासन-व्यवस्था का और कुछ अंशों में गुप्त शासन-व्यवस्था का स्मरण कराती है।"[1]

राजा राज्य का प्रधान अधिकारी होता था। वही कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनों का प्रधान होता था। राजा ही राज्य के महत्त्वपूर्ण पदों पर अधिकारियों की नियुक्ति करता था। प्रधानतया युद्ध में वही सेना का नेतृत्व करता था। राज्य के महत्त्वपूर्ण विषयों पर राजा को सलाह देने के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति की जाती थी। राजा अपने सर्वाधिक योग्य पुत्र को युवराज नियुक्त करता था। युवराज, अमात्य, राष्ट्रिक, देशाधिकृत, ग्रामभोजक, गौल्मिक, दूतक, संजरंत्तक, भट्ट-मनुष्य आदि राज्य के प्रमुख अधिकारी थे।

प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से सम्पूर्ण राज्य अनेक राष्ट्रों में विभक्त था। राष्ट्र विषयों, विषय कोट्टमों और ग्रामों में विभक्त था। गांवों को स्थानीय शासन में पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। उन्हें स्वायत्त शासन प्राप्त था। पल्लवों के पास एक सुसंगठित, विशाल और शक्तिशाली सेना थी। सेना का प्रधान अधिकारी सेनापति कहलाता था। उसके अधीन 'नियक' नामक अधिकारी होता था। राज्य को भू-राजस्व, उद्योग-धन्धों और व्यापार से आय प्राप्त होती थी। राज्य में सिंचाई की उचित व्यवस्था थी।

---

1. "·······There prevailed a system of administration with the king at the top and the provincial governors and several departmental ministers incharge of parks, public baths, forests reminding us in several details of the Mauryan and in some respects the Gupta administration."

— *Gopalan*

पल्लव काल में शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में प्रगति हुई। कांची दक्षिणी भारत में शिक्षा का प्रधान केन्द्र था। कहा जाता है कि दिङ्नाग और कदम्बवंशीय राजकुमार मयूरवर्मन् ने कांची विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। 'न्याय-भाष्य' का प्रणेता वात्स्यायन कांची का निवासी था। पल्लव राजा स्वयं विद्वान् थे। महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने 'मत्तविलास प्रहसन' नामक उच्चकोटि के ग्रन्थ की रचना की। पल्लव राजा विद्वानों के आश्रयदाता थे। पल्लव राजधानी कांची संस्कृत शिक्षा के केन्द्र के रूप में विख्यात थी। भारवि और दण्डिन् उस काल के प्रमुख विद्वान् थे।

पल्लव शासक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। वे विष्णु और शिव के उपासक थे। उन्होंने अपने राज्य में विष्णु और शिव के अनेक मन्दिर निर्मित करवाये। पल्लव काल में दक्षिणी भारत में आर्य सभ्यता और संस्कृति का तीव्र प्रसार हुआ। फलतः भक्ति सम्प्रदाय, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, यज्ञ और कर्मकाण्ड का प्रसार हुआ। मूलतः हिन्दू धर्म के अनुयायी होने पर भी पल्लव राजा धार्मिक सहिष्णु थे। जैन धर्म और बौद्ध धर्म अवनति की स्थिति में होने पर भी राज्य में उनके अनुयायियों की पर्याप्त संख्या थी।

कला—कला के विकास के क्षेत्र में पल्लव शासकों का विशेष योगदान रहा है। उनकी ख्याति का प्रमुख कारण उस काल में निर्मित स्थापत्य और शिल्प-कला के नमूने हैं। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री ने लिखा है—"उनके स्थापत्य और शिल्प (कला) ने दक्षिण भारतीय कला के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय का निर्माण किया है।"[1] पल्लव राजाओं ने चट्टानों और पत्थर तथा ईंट के विशाल एवं सुन्दर मन्दिर निर्मित करवाये जो अपनी कलापूर्ण शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। पर्सी ब्राउन का कथन है—"जिन महान् शक्तियों ने दक्षिणी भारत का निर्माण किया, उनमें से किसी का इतना अधिक प्रभाव वास्तुकला पर नहीं पड़ा जितना कि पल्लवों का, जिन्होंने द्रविड़ शैली के आधार के रूप में कार्य किया।"[2] ग्रुसे महोदय ने पल्लव कालीन कला पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"काफी पुराने समय से पल्लवों ने अपनी पृथक् शिल्पकला को विकसित किया जो उस समय में दक्षिण की सभी शैलियों का आधार थी और ह्वेन्सॉंग की यात्रा के समय उनकी राजधानी मालवीपुरम् (मामल्लपुरम्) उन सराहनीय कला-कृतियों से भरी जाने लगी जिन्होंने इसे भारतीय कला का मुख्य केन्द्र बना दिया। भारत के पूर्वी तट पर एक ही पत्थर के शानदार मन्दिर बनाये गये जो मलाया द्वीपसमूह के सुन्दर मन्दिरों का मुकाबला करते हैं। ये चट्टानें पशुओं

---

1. This architecture and sculpture constitute a most brilliant chapter in the history of south Indian Art."
—*K. A. N. Sastri*

2. "Of all the great powers that together made the history of Southern India, none had a more marked effect on the architecture of their reign than the earliest of all, that of the Pallavas. whose productions provided the foundations of all Dravidian style."
—*Percy Brown*

की आकृति की तरह काटी गई थीं तथा इनमें आश्चर्यजनक और प्रभावशाली स्वभाविकता थी। पूरी-पूरी चट्टानी पहाड़ियों को काटकर पत्थर की मूर्तियां बनाई गई थीं। मन्दिरों में जो विशाल चित्र बनाये गये थे, वे उस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में क्रम, चलन और काव्यात्मक मूल्य की दृष्टि से अनुपम थे।"[1]

पल्लव राजाओं ने कला के विकास के क्षेत्र में विशेष अभिरुचि दिखाई। अतएव पल्लव राजाओं के नामों के अनुरूप पल्लवकालीन वास्तुकला को चार प्रमुख शैलियों में विभक्त किया जाता है—महेन्द्रवर्मन शैली, मामल्ल शैली, राजसिंह शैली और अपराजित शैली।

महेन्द्रवर्मन शैली—इस शैली का विकास पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन प्रथम के राज्यकाल में होने के कारण यह शैली उसी (महेन्द्रवर्मन शैली) के नाम से प्रसिद्ध है। वह दक्षिणापथ का पहला राजा था, जिसने कठोर पाषाण को काटकर मंदिर बनाने की कला का विकास किया। उसके काल में निर्मित स्तंभयुक्त मंडप कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। ये मंडप एक हॉल की भांति हैं जिनके पीछे दीवार में एक अथवा दो कोठरियां बनाई गई हैं। प्रवेश द्वार और स्तंभ एक पंक्ति में बनाये गये हैं। कला की दृष्टि से नुन्दवाल्लि का 'अनंत शयन' का मंडप तथा 'भैरवकोड' का मंडप उल्लेखनीय हैं। सभी मंडपों का निर्माण पहाड़ियों को काटकर किया गया है। महेन्द्रवर्मन शैली के अन्तर्गत निर्मित मंदिरों के वृत्ताकार लिंग, विशेष प्रकार के द्वार-पाल और प्रभातोरण विशेष उल्लेखनीय हैं।

मामल्ल शैली—इस शैली का निर्माण नरसिंहवर्मन द्वारा संस्थापित मामल्ल-पुरम में हुआ था। मामल्ल शैली के अन्तर्गत मंडपों और रथों का निर्माण हुआ है। समुद्रतट पर स्थित पांच चट्टानों को काटकर मंदिरों का स्वरूप प्रदान किया गया है। ये पांचों मंदिर पांच पांडवों के नाम से बनवाए गए हैं। अत्यधिक अलंकृत मुख्यद्वार, आठकोण वाले सिंह स्तंभ, दीवारों पर राजा और रानी के चित्र, त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्ति), गंगा का अवतरण, वराह अवतार, और पांच पांडवों की कलापूर्ण सजीव प्रतिमाएं इन मंदिरों की प्रमुख विशेषताएं हैं।

1, "From an early date the Pallavas created an architecture of their own which was to be the basis of all the styles of the south and at the time of Yuan Chawang's visit to metropolis, Malvipuram began to be filled with those admirable works of art that have made it one of the chief centres of Indian art...... .....monolith temples which cover the whole shore, challenging their replicas of charm or the Malay archipelago, rocks sculptured in the shapes of animals with a wonderfully broad and powerful naturalism whole cliffs worked in stone frescoes, immense pictures which were unparalleled at the time in all India in their order, movement and lyrical value."

—*Grousset*

राजसिंह शैली—इस शैली के अन्तर्गत गुफाओं को काटकर पाषाण खंडों की सहायता से स्वतंत्र रूप से मंदिरों का निर्माण हुआ है जो काष्ठकला के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। कांची का कैलाश मंदिर और मामल्लपुरम् का शोर मंदिर इस कला शैली के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। कैलाश मंदिर में पल्लव राजाओं और रानियों की सजीव कलात्मक मूर्तियां बनी हैं।

अपराजित शैली—इस शैली का विकास अपराजितवर्मन् के शासनकाल में हुआ। इस शैली के अन्तर्गत शिवलिंग वेलनाकार और स्तंभ का शीर्ष भाग सुन्दर बनने लगा। वाहूरर का मंदिर इस कला शैली का उत्कृष्ट नमूना है।

चोल वंश

सुदूर दक्षिण के राज्यों में चोल वंश का राज्य सर्वाधिक शक्तिशाली था। उनकी उत्पत्ति से सम्बन्धित साधन अत्यंत अल्प हैं। चोल वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में उनकी उत्पत्ति का यथार्थ ज्ञान अर्जित करना सम्भव नहीं है। प्राप्त सामग्री के आधार पर उनकी उत्पत्ति के विषय में निम्नलिखित प्रकाश पड़ता है।

उत्पत्ति—विद्वानों ने तामिल के 'चोल' (मडराना), चोलम् (एक प्रकार का अन्न) तथा संस्कृत के 'चोर' और कोल (कोल जाति) आदि शब्दों से चोल शब्द की व्युत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास किया है। चोलों की व्युत्पत्ति चूल (श्रेष्ठ) शब्द से भी बताई गई है जो अधिक प्रामाणिक प्रतीत होती है। डॉ० राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि प्राचीन राजाओं में चोल शिरोमणि थे, इसलिए वे चोल कहलाए। साहित्य तथा अभिलेखों में उन्हें सूर्यवंशी कहा गया है।

चोलवंश का इतिहास अत्यधिक पुरातन प्रतीत होता है। महाभारत के 'सभापर्व' और 'भीष्मपर्व' में चोलों का उल्लेख मिलता है। चौथी शताब्दी ई० पू० के प्रसिद्ध वैयाकरण काव्यायन ने चोलों का उल्लेख किया है। मेगस्थनीज ने अपनी कृति 'इण्डिका' में चोलों का वर्णन किया है। अशोक महान् के अभिलेखों में चोलों के राज्यों का उल्लेख सीमांत-राज्यों के रूप में हुआ है। चोल राज्य मौर्य-साम्राज्य के दक्षिण में स्थित था। टॉल्मी और पेरिप्लस के ग्रन्थों में चोल-राज्य का वर्णन मिलता है। संगम-साहित्य में अनेक चोल राजाओं का उल्लेख मिलता है। महावंश चोल और सिंहल के राजाओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता कि चोलों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अत्यन्त न्यून सामग्री ही उपलब्ध है और प्रमाणों के नितांत अभाव में किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँच पाना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में श्री निवासचारी और रामास्वामी आयंगर का यह कथन उल्लेखनीय है—"इस समय चोलों के इतिहास को आरंभ से पूर्ति करने का प्रयास निरर्थक के अतिरिक्त कुछ नहीं है।"[1]

1. "Any attempt at present to complete the history of Cholas from the very commencement of their career is but futile."

चोलमंडलम् पेन्नार और बेल्लारु नदियों के बीच समुद्रतट पर स्थित था। प्रारंभ में चोल-राज्य में त्रिचनापल्ली और तंजौर के जिले सम्मिलित थे। चोल राजाओं ने अपने भुजबल से निरंतर चोल-राज्य का विस्तार किया। शनैः-शनैः उन्होंने दक्षिण भारत में एक विशाल और शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर डाली। प्रारम्भ में उनकी राजधानी उरगपुर थी जो बाद में क्रमशः कावेरोपट्टनम्, तंजुवुर और गंग-कोंड चोलपुरम में परिवर्तित की गई। ऐतिहासिक साक्ष्यों में जिन प्रारम्भिक चोल राजाओं का उल्लेख मिलता है, उनमें सर्वप्रथम करिकाल प्रामाणिक प्रतीत होता है।

करिकाल—चोलवंश का प्रथम प्रामाणिक ऐतिहासिक शासक करिकाल था। उसका उदयकाल द्वितीय शताब्दी ई० में माना जाता है। करिकाल एक महान् योद्धा था। उसने अपने पराक्रम से सुदूर दक्षिण के अन्य राज्यों को आतंकित कर दिया। उसने वेण्णि के युद्ध में पांड्यों, चेरों तथा अन्य राजाओं के संघ को पराजित किया। तामिल-साहित्य से विदित होता है कि करिकाल ने ओलियर, अरुवालर, और इरुगोवेल वंश के विरुद्ध सफलता प्राप्त की। लंकाधिपति को पराजित कर वह वहां से 12,000 मनुष्यों को अपने राज्य में ले आया। इन असाधारण विजयों के फलस्वरूप तामिल प्रदेश में करिकाल की धाक जम गई। प्रोफेसर नीलकंठ शास्त्री का कथन है—"करिकाल की इन विजयों के परिणामस्वरूप तामिल प्रदेश के नरेशों के बीच उसका राजनीतिक आधिपत्य स्थापित हो गया और उसके प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत कुछ प्रदेशों में वृद्धि हो गई।"[1]

करिकाल ने सर्वजानिक निर्माण कार्यों के प्रति भी विशेष रुचि दिखाई। तामिल-साहित्य में उसके द्वारा संपन्न अनेक जनकल्याणकारी कार्यों का उल्लेख मिलता है। उसने वनों को साफ करवाकर वहां लोगों को बसाया। उसने सिंचाई हेतु तालावों और नहरों का निर्माण करवाया। उसने कावेरी-पड्डिनम् को नवीन राजधानी के रूप में विकसित किया। वह वैदिक धर्म का अनुयाई था।

नेदुयुदिकिल्लि—करिकाल के पश्चात् नेदुयुदिकिल्लि राजा हुआ। वह एक दुर्बल शासक था। उसके राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाकर समुद्री डाकुओं ने चोल-राज्य पर आक्रमण कर दिया। नेदुयुदिकिल्लि के बाद चोल राज्य का पतन हो गया और वे पल्लवों के सामंत के रूप में शासन करने लगे। नवीं शताब्दी के मध्य में विजयादित्य (विजयालय) के नेतृत्व में चोलों का पुनः उत्कर्ष हुआ।

विजयालय (850-871 ई०)—दीर्घकाल तक पल्लवों के अधीन शासन करने के उपरान्त लगभग 850 ई० में विजयादित्य के नेतृत्व में चोलों का पुनः उत्कर्ष हुआ।

---

1. "Karikala's was thus resulted in his establishing a sort of hegemony among the crowned kings of the Tamil country and in extension of some territory under his direct control."

—*K. A. N. Sastri*

वह स्वयं भी पल्लवों का सामंत था। उसने पांड्यों से तंजौर छीनकर उसे अपनी राजधानी बनाया।

आदित्य प्रथम (871-907 ई०)—विजयालय के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र आदित्य प्रथम शासक हुआ। सामंत के रूप में उसने पल्लवों के साथ सफल रण अभियान किए। श्री पुरम्बियम के युद्ध में विजयश्री प्राप्त करने के बाद पल्लव नरेश अपराजितवर्मन् ने आदित्य प्रथम को तंजौर के समीपवर्ती प्रदेश दे दिए। 883 ई० में आदित्य प्रथम ने पल्लव नरेश अपराजितवर्मन् को परास्त करके कांची को अधिकृत कर लिया। उसने पांड्य नरेश परांतक वीरनारायण को पराजित करके कोंगू प्रदेश पर अधिकार कर लिया। गंग नरेश पृथ्वीपति ने आदित्य प्रथम के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। आदित्य प्रथम ने कूटनीति का सहारा लेते हुए राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय की पुत्री से विवाह करके उनसे मैत्री कर ली। उसने अपने पुत्र परांतक का विवाह चेर राजकुमारी से करके चेर नरेश की सहानुभूति प्राप्त कर ली। विद्वानों का मत है कि आदित्य प्रथम का राज्य कलहस्ति से लेकर पुदुकोट्ट तथा कोयम्बटूर तक विस्तृत था। वह शैव मत का अनुयायी था। उसने अपने राज्य में अनेक शैव मंदिरों का निर्माण करवाया।

निस्संदेह आदित्य प्रथम चोल वंश का प्रथम पराक्रमी राजा था। उसने सर्वप्रथम अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित की और तदुपरांत पल्लव, पांड्य, गंग आदि राजाओं को पराजित करके चोल राज्य का विस्तार किया। उसे उस चोल-राज्य की नींव डालने का श्रेय प्राप्त है जिस पर बाद के पराक्रमी शासकों ने साम्राज्य रूपी भव्य-भवन का निर्माण किया।

परांतक (907-955 ई०)—आदित्य प्रथम के पश्चात् परांतक राजगद्दी पर बैठा। वह अपने पिता की भांति पराक्रमी और साम्राज्यवादी था। सर्वप्रथम उसने मदुरा के पांड्य राजा को पराजित करके मदुरैकोंड का विरुद धारण किया। 915 ई० में परांतक ने वेल्लूर के भीषण संग्राम में पांड्यों और लंका नरेश की सम्मिलित सेना को पराजित करके यश अर्जित किया। उसने बानों-वैदुम्बों को पराजित करके अपने अधीन कर लिया। पश्चिमी गंग नरेश पृथ्वीपति द्वितीय परांतक का सामंत था। अपने चरमोत्कर्ष के दिनों में उसका राज्य उत्तरी पेन्नर से लेकर कुमारी अंतरीप तक विस्तृत था। अनेक युद्धों के विजेता परांतक को राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय से पराजित होना पड़ा। इस पराजय के फलस्वरूप कांची और तंजौर के चोल प्रदेशों पर राष्ट्रकूटों का अधिकार स्थापित हो गया। इस प्रकार विदित होता है कि परांतक ने अनेक युद्धों पर विजय प्राप्त करके जिस चोल राज्य का विस्तार किया, उसे राष्ट्रकूट आक्रमण के प्रहार ने छिन्न-भिन्न कर दिया।

परान्तक शैव मतावलम्बी था। उसने अपने राज्य में अनेक शैव मन्दिरों का निर्माण करवाया जिनमें त्रिचनापल्ली जिले में कोरंगनाथ का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। वेंकटमाधव उसके काल का प्रसिद्ध विद्वान था। परान्तक के काल में कला

के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का यह कथन उल्लेखनीय है—"वस्तुत: परान्तक का शासनकाल दक्षिण भारतीय मन्दिर-वास्तु के इतिहास में एक महान युग था और मन्दिर निर्माण का कार्य, जिसे आदित्य प्रथम ने प्रारम्भ किया था, उसके शासन-काल के सर्वोत्तम भाग में सशक्त रूप से जारी रहा।"[1]

अवनति-काल—परान्तक की मृत्यु से लेकर राजराज महान के सिंहासनारूढ़ होने तक चोलवंश में कोई भी ऐसा प्रतापी राजा नहीं हुआ जो चोल साम्राज्य को विघटित होने से बचा सके। परांतक के बाद क्रमश: गंदरादित्य, अरिंजय, सुन्दर चोल (परान्तक द्वितीय) और उत्तम चोल ने शासन किया। इन राजाओं में सुन्दर चोल सर्वाधिक योग्य था। 985 ई० में उत्तमचोल की मृत्यु के बाद राजराज महान् ने क्षीण और विघटित चोल राज्य का कार्यभार ग्रहण किया।

राजराज महान (985-1014 ई०)—राजराज महान् सुन्दरचोल का पुत्र था। उसका प्रारम्भिक नाम अरुमोलिवर्मन था। राजगद्दी पर बैठने के उपरान्त उसने राजराज की उपाधि धारण की। वह चोलवंश का महान् शासक था। उसने अनेक विजयें प्राप्त करके अपने वंश के खोए हुए गौरव की पुनःस्थापना की। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का कथन है••"राजराज प्रथम के राज्यारोहण से हम चोलवंश के इतिहास में गौरव तथा वैभव की शताब्दी में प्रवेश करते हैं। राजराज प्रथम के तीस वर्षीय शासनकाल को चोल राजतन्त्र के इतिहास का निर्माणात्मक युग कहा जा सकता है।"

विजयें—राजराज महान् एक असाधारण विजेता था। उसके राज्याभिषेक के 29वें वर्ष के तंजौर-अभिलेख से विदित होता है—"उसने कन्दलपुर सलाई नामक स्थान में जहाजों को नष्ट कर दिया और महान् युद्धों में सफल अपनी सेना से उसने वेंगईनादु, गंगपदी, तदिगैपदी, नोलम्बपदी, कुदाभलाई-नादु, कोलभ, कलिंगम आदि स्थानों को और बर्बर शक्ति वाले सिंहलों के प्रदेश इलाममण्डलम को विजित किया, जबकि वह विशाल सेना और बड़े प्रदेश का स्वामी था। उसने सर्वत्र पूजा के योग्य शैलियों के गौरव को नष्ट कर दिया।"

चेर और पांड्य विजय—राजराज महान् के पास एक शक्तिशाली नौ सेना थी। उसने चेर राजा भास्कर रविवर्मन् की जलसेना को त्रिवेन्द्रम के निकट नष्ट कर दिया। तत्पश्चात् उसने मदुरा के पांड्य राजा अमरभुजंग को पराजित किया। इन राज्यों पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से उसने उदगई के शक्तिशाली दुर्ग पर अधिकार कर लिया।

---

1. "In fact, Parantaka reign was a great epoch in the history of south India temple architecture and the work of temple building begun by Aditya was vigorously continued during the best part of his reign."
—*K.A.N. Sastri*

लंका विजय—चेरों और पांड्यों को पराजित करने के पश्चात् राजराज महान् ने लंका नरेश महेन्द्र पंचम को पराजित किया। भयभीत होकर महेन्द्र पंचम दक्षिण-पूर्वी लंका में भाग खड़ा हुआ। राजराज महान् ने लंका के प्रसिद्ध नगर अनुराधपुर को लूट डाला और पोलोन्नरुव को अपने विजित प्रदेशों की राजधानी बनाया। उसने उत्तरी लंका के विजित प्रदेशों को अधिकृत कर लिया।

गंगवाड़ी, तदिगैवाड़ी और नोलम्बवाड़ी की विजय—राजराज महान् ने 991 ई० में मैसूर राज्य के गंगवाड़ी, तदिगैवाड़ी और नोलम्बवाड़ी के प्रदेशों को विजित किया। 1117 ई० तक ये प्रदेश चोल-साम्राज्य के अंग बने रहे।

राजराज महान् और चालुक्य—राजराज महान् ने पूर्वी चालुक्यों और पश्चिमी चालुक्यों की राजनीति में हस्तक्षेप किया।

976 ई0 में तेलगू जटाचोड भीम ने वेंगी के चालुक्य (पूर्वी चालुक्य) राज्य पर आक्रमण करके वहाँ के राजा दानार्णव की हत्या कर दी। राजराज महान ने वेंगी में अपनी सेना भेज कर जटाचोड भीम को पराजित कर दिया और दानार्णव के पुत्र शक्तिवर्मन् को वेंगी की राजगद्दी पर बिठाया। उसने दानार्णव के छोटे पुत्र विक्रमादित्य (विमलादित्य) के साथ अपनी पुत्री कुंदना का विवाह सम्पन्न करके वेंगी के चालुक्यों को अपना मित्र बना लिया।

वेंगी में चोलों के बढ़ते हुए प्रभाव को पश्चिमी चालुक्य शाखा का राजा सत्याश्रम अपने राज्य के लिए खतरनाक समझता था। अतः उसने 1006 ई0 में वेंगी पर आक्रमण कर दिया। राजराज महान् ने युवराज राजेन्द्र के नेतृत्व में एक विशाल सेना सत्याश्रम के राज्य पर आक्रमण करने के लिए भेजी। राजेन्द्र चोल चालुक्य राज्य के विभिन्न प्रदेशों को रौंदता हुआ उनकी राजधानी मान्यखेट तक पहुँच गया। मान्यखेट में उसने अगाध धन-सम्पदा लूट में प्राप्त की तथा क्रूरतापूर्वक स्त्रियों, ब्राह्मणों और बच्चों का दमन किया। सत्याश्रम के वेंगी से मान्यखेट लौटने तक चोल सेना अपने राज्य को वापस लौट चुकी थी। 1007 ई0 के चालुक्य-अभिलेख में इस घटना का उल्लेख मिलता है।

सांस्कृतिक उपलब्धियां—राजराज महान् की साँस्कृतिक उपलब्धियां भी महत्त्वपूर्ण हैं। उसका शासन सुसंगठित था। 1000 ई0 के लगभग उसने राज्य में भूमि-सर्वेक्षण का कार्य प्रारम्भ करवाया। वह शैव मतावलम्बी था। उसने तंजौर में राजराजेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर अपनी विशालता, सुन्दर आकार, मनोहर मूर्तिकला और सजावट के लिए प्रसिद्ध है। मन्दिर की भित्ति पर राजराज प्रथम की विजयों का वृत्तांत अंकित है। राजराज महान् ने विष्णु मन्दिरों का निर्माण कराया और नैगपटम में बौद्ध विहार के निर्माण और विकास हेतु आर्थिक सहाथता प्रदान की।

मूल्यांकन—राजराज प्रथम चोलवंश का अत्यन्त प्रतापी राजा था। उसकी गणना भारत के महान् विजेताओं में की जा सकती है। उत्तराधिकार में प्राप्त क्षीण

चोल राज्य को उसने अपने पराक्रम से साम्राज्य का स्वरूप प्रदान कर दिया। उसने चोलवंश के विलुप्त यश को पुनः स्थापित किया। राजराज महान् के शासनकाल में चोल-सत्ता दक्षिण की सबसे महान् शक्ति बन गई थी, जिसे चुनौती देने का कोई साहस नहीं कर सकता था। शक्तिशाली नौ सेना द्वारा उसने अनेक द्वीपों को विजित किया। अपने चरमोत्कर्ष के दिनों में राजराज महान् के साम्राज्य के अन्तर्गत तुंगभद्रा नदी के दक्षिण का समस्त भारत, मालद्वीप और उत्तरी लंका आते थे। उसके शासनकाल के 30 वर्ष न केवल चोल इतिहास, बल्कि सम्पूर्ण भारत के इतिहास में उल्लेखनीय हैं। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री के शब्दों में, "उसके शासनकाल के 30 वर्ष चोल साम्राज्यवाद के पुनर्गठन का काल था। उसके राज्यारोहण के समय एक छोटा-सा राज्य, जो कि राष्ट्रकूटों के आक्रमणों के आघातों से मुश्किल से उठने वाला चोल-राज्य था, उसके शासनकाल में एक विशाल और सुसंगठित साम्राज्य में परिवर्तित हो गया। यह राज्य भली-भांति सुसंगठित और सुशासनपूर्ण था। उसके साधन अनेक थे तथा उसके पास प्रत्येक महान् अभियान के अनुकूल एक विशाल स्थल सेना और जल सेना थी।"[1] डॉ० आर० सैथियानाथियर ने राजराज प्रथम के महान् व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"राजराज दक्षिण भारत के महान् नरेशों में एक था। वह महान विजेता, साम्राज्य-निर्माता, योग्य-प्रशासक, एक पवित्र और सहिष्णु व्यक्ति, कला और साहित्य का संरक्षक और इन सबके साथ सहयोगी व्यक्तित्व का व्यक्ति था।"[2]

राजेन्द्र प्रथम (1014-1044 ई०)—राजराज महान् के पश्चात उसका पुत्र राजेन्द्र राजगद्दी पर बैठा। राजेन्द्र प्रथम अपने पिता से भी अधिक महत्त्वाकांक्षी और पराक्रमी था। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त चोल-साम्राज्य को न केवल अक्षुण्ण रखा, बल्कि उसकी सीमाओं का विस्तार भी किया। राजेन्द्र प्रथम अपने पिता के राज्यकाल में युवराज के रूप में पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव प्राप्त कर चुका था। युवराज के रूप में भी उसने अपने प्रबल प्रताप का परिचय देते हुए अनेक समर जीते। संक्षेप में उसकी विजयों का उल्लेख इस प्रकार है।

---

1. "The thirty years of his rule constitute the formative period of Chola imperialism. A relatively small state at his accession hardly recovering from the effects of the Rashtrakuta invasion, the Chola kingdom grew under him into an extensive and well-knit empire efficiently organised and administered, rich in resources and possessed of a powerful standing army and navy, well tried and equal to the greatest enterprises."
—K.A.N.Sastri

2. "Rajaraja was one of the greatest sovereigns of south India, a famous conqueror and empire-builder, an adminstrator of ability, a pious and tolerant man, a patron of art and letters and above all an amiable personality."
—R. Sathianathier

लंका विजय—राजराज प्रथम ने उत्तरी लंका को अधिकृत किया था। उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का सम्राट था। उसने महेन्द्र पंचम को बन्दी बनाकर सम्पूर्ण लंका को चोल-साम्राज्य में मिला लिया। किन्तु कुछ समय बाद कस्सप ने दक्षिणी लंका पर पुनः अधिकार कर लिया।

पांड्यों और चेरों पर विजय—1018 ई० में राजेन्द्र प्रथम ने पांड्य और चेर राज्यों को विजित कर उन्हें अपने साम्राज्य में विलीन कर दिया। उसने अपने पुत्र को इस नवीन प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया।

चोल-चालुक्य संघर्ष—चोल-चालुक्य दोनों राजवंशों में वंशानुगत प्रतिद्वन्द्विता की भावना व्याप्त थी। कल्याणी के चालुक्य शासक जयसिंह द्वितीय और सोमेश्वर प्रथम चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम के समकालीन थे। वेंगी (पूर्वी) के चालुक्यों के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर राजेन्द्र चोल और जयसिंह चालुक्य के मध्य संघर्ष छिड़ गया। इस युद्ध में राजेन्द्र चोल विजयी हुआ। उसने 1022 ई० में अपने समर्थक राजराज को वेंगी के चालुक्य राजसिंहासन पर बिठाया। 1031 ई० में विजयादित्य ने जयसिंह द्वितीय की सहायता से राजराज को पराजित करके चालुक्य राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। 1035 ई० में राजराज ने पुनः राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। जयसिंह द्वितीय के पुत्र सोमेश्वर ने राजराज को दण्डित करने के उद्देश्य से वेंगी पर आक्रमण कर दिया। राजेन्द्र चोल ने राजराज की सहायता हेतु अपनी एक विशाल सेना भेजी। किन्तु युद्ध-काल में ही राजेन्द्र चोल की मृत्यु हो गई। स्पष्ट हो जाता है कि वेंगी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से राजेन्द्र चोल और जयसिंह चालुक्य के मध्य संघर्ष हुए।

पूर्वी भारत का अभियान—1021 ई० से लेकर 1025 ई० तक राजेन्द्र प्रथम ने पूर्वी भारत का अभियान किया। उसने पूर्वी बंगाल के राजा गोविन्दचन्द्र और गंगा नदी पार करके बंगाल के पाल-नरेश महीपाल को पराजित किया। तत्पश्चात गंगा-जल लेकर चोल सेना अपने राज्य को वापस लौट गई। गंगा की घाटी की विजय के फलस्वरूप राजेन्द्र प्रथम ने 'गंगे कोण्ड' की उपाधि धारण की। राजेन्द्र प्रथम का पूर्वी भारत अभियान केवल एक छाया मात्र था।

अन्य विजयें—तिरुवालन्गाडु अनुदान से राजेन्द्र चोल की कुछ अन्य विजयों पर प्रकाश पड़ता है। उसमें उल्लिखित हैं—"उन्मत्त सागर के मध्य में अनेक जहाज भेजकर और काडरम के राजा संग्राम विजयोत्तुंग वर्मा को उसकी सेना के हाथियों और अधिकारपूर्वक संचित धन सहित अधिकृत करके उसने श्रीविजय (सुमात्रा में स्थित राज्य), पन्नई (सुमात्रा के पूर्वी तट पर स्थित राज्य), प्राचीन मलैयूर (श्रीविजय और पन्नई के मध्य स्थित राज्य), मायीरुदिंगम (मलाया में लिंगोर के निकट स्थित राज्य), इलाँगशोक (मायीरुदिंगम के दक्षिण में स्थित राज्य), मप्पलम (क्रा भूडमरू मध्य स्थित राज्य), भेवलिम्बगम, वल्लैपडुरु, तलैतक्लोलम (तक्कोल), मदमलिंगम (मलाया प्रायद्वीव में बेंडन की खाड़ी), इलामुरीडेसम (उत्तरी सुमात्रा में स्थित राज्य), मानक्कवरम (निकोबार द्वीप) और काड़रम (पेनांग के निकट कैदा

नगर) पर अधिकार कर लिया जो गहरे समुद्र द्वारा सुरक्षित थे।" राजेन्द्र प्रथम ने श्रीविजय राज्य को विजित किया। श्रीविजय राज्य के अन्तर्गत मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा और आसपास के अनेक द्वीप सम्मिलित थे। यह राज्य भारत और चीन के बीच व्यापारिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में एक कड़ी का काम करता था। 1016 और 1033 ई० में राजेन्द्र प्रथम ने अपने दूत मण्डल चीन भेजे।

पांड्य और चेर राज्यों के विद्रोह का दमन—राजेन्द्र प्रथम के राज्यकाल में पांड्य और चेर राज्यों के शासकों ने चोल-साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। राजेन्द्र प्रथम ने अपने पुत्र युवराज राजाधिराज प्रथम को इन विद्रोहों के दमन हेतु भेजा। उसने पांड्यों और चेरों के विद्रोह का दमन कर दिया।

लंका नरेश विक्रमबाहु ने भी चोल सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। राजाधिराज प्रथम उसके विद्रोह को कुचलने में विफल रहा।

निर्माण कार्य—एक पराक्रमी योद्धा होने के साथ-साथ राजेन्द्र प्रथम निर्माण कार्यों में भी अभिरुचि रखता था। उसके द्वारा 'पंडित चोल' की उपाधि धारण करना विद्या के प्रति उसके अनुराग का द्योतक है। उसने वैदिक कालेज की स्थापना की, जिसमें लगभग 300 विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। विद्यार्थियों को वेद, व्याकरण, मीमांसा और न्याय की शिक्षा दी जाती थी। उसने अनेक भवनों, मन्दिरों और तालाबों का निर्माण करवाया। उसने 'गंगैकोडचोलपुरम' में अपनी नवीन राजधानी स्थापित की।

मूल्यांकन—राजेन्द्र प्रथम चोल-वंश का प्रबल प्रतापी राजा था। उसे चोल-वंश का महत्तम सम्राट कहा जा सकता है। उसने उत्तराधिकार में प्राप्त पैतृक साम्राज्य का निरन्तर विस्तार किया। भारतीय इतिहास में वही एक ऐसा राजा है जिसने भारत की सीमा से बाहर जलमार्गों द्वारा बंगाल की खाड़ी में अपना जहाजी बेड़ा भेजा। उसके काल में चोल-साम्राज्य अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर था। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का मत है—"राजेन्द्र प्रथम के शासनकाल के अन्तिम दिन विजयादित्य के वंश के चोल इतिहास का सबसे शानदार युग निर्मित करते हैं। (इस समय) साम्राज्य का विस्तार सबसे अधिक था और इसका सैनिक गौरव सबसे ऊँचा था।"[1] डॉ० आर० सैथियानाथियर ने उसके विषय में लिखा है—"राजेन्द्र चोल, एक योग्य पिता का योग्य पुत्र था। वह अपने 32 वर्ष के शासनकाल में चोल-साम्राज्य की उस प्रसिद्धि और यश, जो उसने अपने पूर्वजों के साम्राज्य में अर्जित किया था, की वृद्धि करने में क्रियाशील रहा।"[2]

---

1. "The closing years of Rajendra's reign formed the most splendid period of the history of Cholas of the Vijayalaya line. The extent of the empire was at its widest and its military and naval prestige at its highest."
—*K.A.N. Sastri*
2. "Rajendra, the great son of a great father was active for about thirty-two years in extending the power and prestige which the Chola empire had acquired during the previous reign."
—*R. Sathianathier*

राजाधिराज प्रथम (1044-1052 ई०)—राजेन्द्र प्रथम के मरणोपरान्त उसका पुत्र राजाधिराज प्रथम राजा हुआ। युवराज के रूप में वह पांड्यों और चेरों के विद्रोह का दमन कर चुका था। सम्राट के रूप में भी उसे पांड्य, चेर और लंका के राजाओं के विद्रोह का सामना करना पड़ा। उसने निर्दयतापूर्वक इन विद्रोहों का दमन कर दिया। उसने लंका की राजमाता की नाक कटवा दी और उसके समर्थकों को दण्डित किया। राजाधिराज प्रथम के समय में भी चोलों और चालुक्यों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता व्याप्त थी। मान्यखेट और काम्पिलय के युद्धों में चालुक्यों की पराजय हुई। अन्त में 1052 ई० में कोप्पग नामक स्थान पर चोल और चालुक्य सेनाओं में भयंकर मुठभेड़ हुई। राजाधिराज रणक्षेत्र में ही वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके भाई राजेन्द्र द्वितीय ने चालुक्य नरेश सोमेश्वर की सेना को पराजित कर दिया।

राजेन्द्र द्वितीय (1052-1064 ई०)—1052 ई० में राजाधिराज प्रथम के बाद उसका अनुज राजेन्द्र द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। कोप्पम के युद्ध में उसने अपने भाई की मृत्यु के बाद सेना की कमान सम्भाली। उसने घोर संग्राम में चालुक्यों को मात दी और उनसे अनेक हाथी, घोड़े, तथा ऊँट छीन लिए।

वेंगी के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर चोलों और चालुक्यों में पुनः संघर्ष छिड़ गया। राजेन्द्र द्वितीय ने वेंगी पर आक्रमण करके वहाँ के राजा शक्तिवर्मन और सोमेश्वर के पुत्र चामुण्डराज का वध कर दिया। गंगवाड़ी में दोनों सेनाओं के मध्य भीषण संग्राम हुआ जिसमें राजेन्द्र द्वितीय की विजय हुई। चोल-अभिलेखों से विदित होता हैं कि राजेन्द्र द्वितीय कोल्हापुर तक जा पहुंचा और वहां पर उसने अपनी विजय के उपलक्ष्य में जयस्तम्भ स्थापित किया। किन्तु विल्हणकृत 'विक्रमांकदेवचरित' से विदित होता है कि सोमेश्वर ने चोल शक्ति के मुख्य केन्द्र कांची पर आक्रमण किया। इन परस्पर विरोधी विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि चोलों और चालुक्यों में दीर्घकालीन संघर्ष हुए जिनमें कभी राजाधिराज प्रथम विजयी हुआ तो कभी सोमेश्वर की जीत हुई। राजेन्द्र द्वितीय ने लंका के राजा को पराजित करके उसके राज्य के अधिकांश भू-भाग को चोल साम्राज्य में मिला लिया।

वीर राजेन्द्र (1063-1070 ई०)—राजेन्द्र द्वितीय के बाद उसका भाई वीर राजेन्द्र राजा हुआ। वीर राजेन्द्र के चालुक्यों के साथ अनेक संघर्ष हुए। इन संघर्षों में विजयश्री ने सदैव चोल नृपति का ही वरण किया। 1066 ई० में तुंगभद्रा नदी के तट पर वीर राजेन्द्र ने चालुक्य नरेश सोमेश्वर को पराजित किया। अपनी अस्वस्थता के कारण कुद्गलसंगमम् के युद्ध में सोमेश्वर चोलों का सामना करने को नहीं आ सका। अतः वीर राजेन्द्र ने वहाँ पर अपना विजयस्तम्भ स्थापित किया और सोमेश्वर की कायरपूर्ण प्रतिमा बनाकर उसे अपमानित किया। आगे बढ़कर उसने वेजवादा के निकट पश्चिमी चालुक्यों को पराजित किया। उसने सोमेश्वर पर दबाव डाला कि वह चालुक्य राज्य के कुछ प्रदेश अपने भाई विक्रमादित्य षष्ठ (वीर राजेन्द्र का दामाद) **को सौंप** दे। वीर राजेन्द्र अपने दामाद विक्रमादित्य को चालुक्य

साम्राज्य के दक्षिणी भाग का राजा बनाने में सफल रहा। वेंगी के चालुक्य राजा विजयादित्य ने भी वीर राजेन्द्र की अधीनता स्वीकार कर ली।

वीर राजेन्द्र ने लंका के राजा विजयबाहु को पराजित कर दिया। उसने पांड्यों और चेरों की स्वतन्त्र होने की अभिलाषा पर तुषारपात कर दिया। उसने कडारम और श्रीविजय राज्यों के विरुद्ध सामरिक अभियान किए। वीर राजेन्द्र ने 'सकलभुवनाश्रय', 'मेदिनीवल्लभ', 'महाराजाधिराज' और 'आहवमल्लकुलकाल' की उपाधियाँ धारण कीं। उसने अपनी राजधानी में एक विशाल राजप्रासाद और राजसिंहासन बनवाया।

अधिराजेन्द्र (1070 ई०)—वीर राजेन्द्र के बाद उसके पुत्र अधिराजेन्द्र ने कुछ माह तक शासन किया। वेंगी के चालुक्य नरेश राजराज के पुत्र राजेन्द्र द्वितीय ने उसका वध कराकर चोल राजगद्दी पर अधिकार कर लिया।

कुलोत्तुंग (1070-1120 ई०)—अधिराजेन्द्र को अपदस्थ करने के उपरान्त चालुक्यवंशी राजेन्द्र द्वितीय ने कुलोत्तुंग के नाम से स्वयं को चोल शासक घोषित किया। वह वेंगी के चालुक्य राजा राजराज का पुत्र था और उसकी माता चोल राजकुमारी (राजेन्द्र प्रथम की पुत्री) थी।

कुलोत्तुंग एक महान् सम्राट सिद्ध हुआ। अधिराजेन्द्र के राज्यकाल में चोल साम्राज्य की जो शक्ति क्षीण पड़ गई थी, कुलोत्तुंग ने उसे पुनःस्थापित किया। चालुक्य वंशी होने पर भी वह स्वयं को चोल सम्राट कहता था। वह एक वीर और पराक्रमी योद्धा था। यही कारण है कि चोल प्रजा ने उसे अपना राजा अंगीकार कर व्यापक जन समर्थन दिया। चोल राजगद्दी पर बैठने के पश्चात कुलोत्तुंग को अनेक विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। उसने सभी कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना किया।

विजयें—1076 ई० में वेंगी के चालुक्य नरेश विजयादित्य सप्तम को पराजित करके कुलोत्तुंग ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। उसके राज्यकाल में कल्याणी का चालुक्य राज्य दो भागों में विभक्त था। उत्तरी भाग में सोमेश्वर द्वितीय और दक्षिणी भाग में विक्रमादित्य षष्ठ शासन कर रहा था। दोनों में पारस्परिक वैमनस्य था। कुलोत्तुंग ने इस स्थिति का लाभ उठाया। 1076 ई० में सोमेश्वर की सहायता से कुलोत्तुंग ने विक्रमादित्य को पराजित करके गंगवाड़ी पर अधिकार कर लिया। कुलोत्तुंग ने लंका के विद्रोही राजा विजयवाहु के विरुद्ध दमन नीति का आश्रय न लेकर उसके प्रति शान्ति और मित्रता की नीति का परिचय दिया। उसने लंका के राजकुमार के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। 1096 ई० में कुलोत्तुंग ने दक्षिणी कलिंग और 1110 ई० में उत्तरी कलिंग के राजाओं को परास्त किया। उसने कड़ारम के राजा को पराजित करके अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया।

पराजय—कुलोत्तुंग को अपने राज्यकाल के उत्तरार्द्ध में होयसल नरेश

विष्णुवर्मन और चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ से पराजित होना पड़ा। 1117 ई० में विष्णुवर्मन ने कुलोत्तुंग को पराजित करके गंगवाड़ी. नोलम्बवाड़ी और तलवाड़ के प्रदेश विजित कर लिए। 1118 ई० में कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ ने कुलोत्तुंग को पराजित करके वेंगी पर अधिकार कर लिया।

अन्य राज्यों द्वारा स्वतन्त्रता की घोषणा—विष्णुवर्धन और विक्रमादित्य द्वारा पराजित होने के पश्चात चोलों के अधीन अन्य राज्यों ने भी अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। लंका नरेश विजयबाहु और समुद्र पार के द्वीपों ने चोलों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी।

मूल्यांकन—कुलोत्तुंग एक महान शासक था। उसने न केवल विजयें प्राप्त कीं, वरन अनेक प्रशासनिक सुधार भी सम्पन्न करवाए। उसने अपने राज्यकाल के सोलहवें और चालीसवें वर्ष राज्य में भूमि सर्वेक्षण करवाया। राज्य में सिंचाई की उचित व्यवस्था थी। वह स्वयं राज्य का दौरा करता था। गहड़वाल-राज्य के साथ उसके मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। श्रीविजय राज्य और चीन के साथ उसके राजनयिक सम्बन्ध थे। शैव धर्मानुयाई होने पर भी कुलोत्तुंग धार्मिक सहिष्णु नरेश था।

कुलोत्तुंग चोलवंश का एक महान प्रतापी राजा था। यद्यपि उसे अपने शासनकाल में होयसल नरेश विष्णुवर्मन तथा चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ से पराजित होना पड़ा, तथापि तत्कालीन विकट परिस्थितियों में उसकी प्रारम्भिक विजयें उल्लेखनीय हैं। चालुक्य-वंश में उत्पन्न होने के बावजूद उसने जिस कूटनीति का आश्रय लेते हुए चोल प्रजा का व्यापक समर्थन प्राप्त किया, अधिराजेन्द्र को पदच्युत कर जिस प्रकार चोल राजसत्ता पर अधिकार किया और जिन विपरीत परिस्थितियों में चोल सत्ता का प्रभाव स्थापित किया, वे न केवल उल्लेखनीय बल्कि स्मरणीय भी हैं। उसकी विजयें, राजनीतिक दूरदर्शिता, सुसंगठित शासन-प्रबन्ध और प्रशासनिक सुधार उसे अन्तिम महान चोल सम्राट का गौरव प्रदान करते हैं।

विक्रमचोल (1120-1135 ई०)—कुलोत्तुंग के बाद उसका पुत्र विक्रमचोल राजा हुआ। उसने वेंगी के चालुक्य नरेश सोमेश्वर तृतीय को पराजित करके वेंगी पर अधिकार कर लिया। उसने गंगवाड़ी पर आक्रमण करके कोलार को अधिकृत कर लिया।

कुलोत्तुंग द्वितीय (1135-1150 ई०)—विक्रमचोल के पुत्र कुलोत्तुंग का शासनकाल शान्तिपूर्ण रहा। उसने चिदाम्बरम के नटराज मन्दिर को अनेक उपहार भेंट किए।

राजराज द्वितीय (1150-1173 ई०)—कुलोत्तुंग द्वितीय के बाद राजराज द्वितीय राजा हुआ। उसने पांड्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया। लंका के नरेश पराक्रमबाहु ने वीर पांड्य के समर्थन में अपनी सेना भेज दी। राजराज द्वितीय ने कुलशेखर की सहायता की। अन्त में चोल सेना और लंका की सेना के मध्य तीव्र संघर्ष हुआ जिसमें राजराज द्वितीय विजयी हुआ। उसने कुलशेखर को मदुरा की राजगद्दी पर आसीन करवाया।

राजाधिराज द्वितीय (1173-1178 ई०)—राजराज द्वितीय के बाद राजाधिराज द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। उसने कुलशेखर को पराजित करके वीर पांड्य को मदुरा की राजगद्दी पर बिठाया।

कुलोत्तुंग तृतीय (1178-1206 ई०)—राजाधिराज द्वितीय की मृत्यु के बाद चोल वंश का अन्तिम पराक्रमी राजा कुलोत्तुंग राजगद्दी पर बैठा। उसने वीर पाँड्य और पराक्रमबाहु की सम्मिलित सेना को पराजित करके विक्रम पांड्य को मदुरा की राजगद्दी पर बिठाया। कुलोत्तुंग ने होयसलों को पराजित करके उनके कुछ प्रदेशों को अधिकृत कर लिया। उसने चेरों को भी पराजित किया। कुलोत्तुंग ने मदुरा पर आक्रमण करके कुलशेखर के विद्रोह को कुचल दिया। उसने तेलगू चोडों के विद्रोह का भी दमन किया। वह कलाप्रेमी था। त्रिभुवनम का प्रसिद्ध मन्दिर उसके कला प्रेम का द्योतक है।

राजराज तृतीय (1206-1246 ई०)—पराक्रमी कुलोत्तुंग का उत्तराधिकारी राजराज तृतीय दुर्बल शासक था। वह न तो अपने राज्य की रक्षा कर पाया और न ही सामन्तों का विश्वास प्राप्त कर सका। उसके श्वसुर होयसल नरेश नरसिंह द्वितीय ने उसे (राजराज तृतीय को) पहले पाँड्यों और बाद में पल्लव जाति के सरदार कोपेरुंजिंग के बन्दी गृहों से मुक्त कराया।

राजेन्द्र तृतीय—राजराज तृतीय का उत्तराधिकारी राजेन्द्र तृतीय एक अयोग्य राजा सिद्ध हुआ। 1258 ई० में पांड्य-नरेश जटावर्मन ने राजेन्द्र तृतीय को पराजित करके कांची पर अधिकार कर लिया। 1258 से 1279 ई० तक राजेन्द्र तृतीय ने पांड्यों के सामन्त रूप में शासन किया।

इस प्रकार विदित होता है कि राजराज महान् और राजेन्द्र प्रथम के राज्यकाल में जो चोल सत्ता अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर थी, राजराज तृतीय के शासनकाल में उसकी शक्ति क्षीण पड़ गई और राजेन्द्र तृतीय के राज्यकाल में उसका पतन हो गया।

चोल प्रशासन

चोल वंश के अभिलेखों से उनकी शासन-व्यवस्था पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। अपनी अनेक विशिष्टताओं के कारण चोल प्रशासन भारतीय इतिहास में उल्लेखनीय है। विद्वानों का मत है कि चोल प्रशासन चोल वंश के इतिहास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री ने चोल प्रशासन की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"योग्य नौकरशाही और क्रियाशील स्थानीय सभाओं—जो कि नागरिकता की भावना जाग्रत करने में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करती हैं, के द्वारा प्रशासनिक योग्यता और पवित्रता का उच्च स्तर प्राप्त किया गया। सम्भवतः हिन्दू राज्य में इससे पूर्व इतना उच्च स्तर प्राप्त नहीं किया गया।"[1]

1. "Between an able bureaucracy and the active local assemblies which in various ways fostered a live sense of citizenship, there was attained a high standard of administrative efficiency and purity, perhaps the highest, ever attained by the Hindu state."
—*K.A.N. Sastri*

राजा—उत्तरी भारत की भाँति चोल राज्य में भी राजा राज्य का प्रधान माना जाता था। आन्तरिक सुव्यवस्था, प्रजा की रक्षा और राज्य का विस्तार करना राजा के मुख्य कर्त्तव्य माने जाते थे। राजा ठाटबाट और सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करता था। राजपद पैतृक होता था। राजा प्रायः अपने राज्यकाल में ही 'युवराज' का चुनाव कर लेता था। राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। राज्य की सम्पूर्ण शक्तियां राजा के हाथों में केन्द्रित थीं। निरंकुश शासक जैसी स्थिति होने पर भी चोल शासक प्रशासकीय कार्यों में विभागीय प्रधानों की सलाह लिया करते थे। राजा समय-समय पर राज्य का दौरा करता था।

युवराज— चोल नृपति अपने राज्यकाल में ही अपने बड़े पुत्र अथवा सर्वाधिक योग्य पुत्र को युवराज नियुक्त कर देते थे। युवराज अपने पिता को राजकीय कार्यों में सहयोग देता था। इस प्रकार युवराज अपने पिता के शासनकाल में ही पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव प्राप्त कर लेता था।

पदाधिकारी—चोल शासन-प्रबन्ध में मन्त्रि-परिषद का उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु इतना निश्चित है कि राजा अपनी सहायता के लिए राज्य में अधिकारियों की नियुक्ति करता था। केन्द्रीय शासन कई विभागों में विभक्त था जिनका संचालन करने के लिए अलग-अलग अधिकारी होते थे। इन अधिकारियों को वेतन के रूप में भूमि दी जाती थी।

प्रादेशिक विभाजन—चोलों ने आदर्श शासन-प्रणाली की स्थापना की। प्रशासन की सुविधा के लिए चोल साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था जिन्हें मण्डल कहा जाता था। प्रत्येक मण्डल कोट्टमों, कोट्टम नादुओं (जिलों), नादु कुर्रमों और कुर्रम गाँवों और नगरों में विभक्त थे। ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी, जिसे स्वायत्त शासन प्राप्त था।

न्याय एवं दण्ड विधान—चोल प्रशासन में मुकदमों के निर्णय का अधिकार राजा को तथा दण्डित करने का अधिकार राजकर्मचारियों को प्राप्त था। राजा न्याय व्यवस्था का भी प्रधान होता था और वही अपील सुनता था। उस समय वर्तमान जूरी-प्रथा से मिलती-जुलती न्याय-व्यवस्था प्रचलित थी। संयोगवश हत्या हो जाने पर 16 गायें दण्ड स्वरूप देनी पड़ती थीं। व्यभिचार, चोरी, धोखेबाजी आदि अपराध करने वालों को घोड़ों पर बिठाकर घुमाया जाता था। इस प्रकार विदित होता है कि चोलों की दण्डनीति प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति पर आधारित न होकर अत्यन्त उदार थी। प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री ने चोलकालीन न्याय-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"ग्राम पंचायतों तथा जातीय पंचायतों के अतिरिक्त नियमित रूप से संगठित राजकीय न्यायालय भी न्याय व्यवस्था करते थे। प्रथाएँ, दस्तावेज तथा व्यक्तिगत गवाही को साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाता था। जहाँ मानवीय साक्ष्य प्राप्त नहीं होता था, अग्नि-परीक्षा आदि द्वारा न्याय-व्यवस्था की जाती थी। कभी-कभी सम्पत्ति पर अधिकार आत्मदाह द्वारा उन व्यक्तियों द्वारा

सिद्ध किया जाता था जो कि अपना जीवन देकर भी अपना अधिकार सिद्ध करने को तैयार रहते थे।"

सैन्य-व्यवस्था—चोल राजाओं ने शक्तिशाली सेना के बल पर ही एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। राजराज प्रथम और राजेन्द्र प्रथम कुशल सैनिक संगठनकर्ता थे। अभिलेखों में चोल सेना की सत्तर सैन्य टुकड़ियों का उल्लेख मिलता है। सैनिकों के लिए अनुशासन और प्रशिक्षण अनिवार्य था। चोल सैन्य दल की संख्या 1,50,000 थी जिसमें हाथियों की संख्या 60,000 थी। अश्वसेना में अरबी घोड़ों की प्रधानता थी। स्थल सेना के प्रमुख अंग इस प्रकार थे—(1) पैदल, (2) धनुर्धर (विल्लिगड), (3) हाथी (आनैयाट्कल, कंजिरमल्लर), (4) अश्वारोही (कुदिरैच्चेवगर) और जंगल में युद्ध करने वाले सैनिक। चोल राजाओं के पास एक विशाल जल सेना भी थी। जल सेना के बल पर उन्होंने लंका, श्रीविजय और मालद्वीप की विजयें की थीं। सैनिक छावनियों (कडगम) में निवास करते थे। राजा राज्य की सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। महत्त्वपूर्ण युद्धों में वही सेना का नेतृत्व करता था। उसके नीचे 'महादण्डनायक' होता था, जिसे सेनापति भी कहा जाता था।

आय-व्यय के साधन—भूमि, उद्योग-धंधे और व्यापार राज्य की आय के प्रमुख साधन थे। उपज का $\frac{1}{3}$ भाग भूमि कर के रूप में वसूल किया जाता था। भूमि कर अनाज अथवा नकद के रूप में वसूल किया जाता था। नमक-कर, सिंचाई-कर, चुंगी, खानों, वनों और जुर्मानों से राज्य को राजस्व प्राप्त होता था। चोलों का मुख्य सिक्का (कासु) स्वर्ण निर्मित था जो 1 औंस के बराबर होता था। छोटी-छोटी वस्तुओं का क्रय कौड़ियों के माध्यम से होता था।

आय में प्राप्त राजस्व को सार्वजनिक निर्माण कार्यों और सेना के संगठन में व्यय किया जाता था। सड़क और पुल-निर्माण, नहरों, तालाबों, एवं कुओं के निर्माण, मन्दिर, यज्ञ, दान, राजपरिवार तथा राजदरबार पर अत्यधिक धन व्यय किया जाता था।

प्रान्तीय शासन—चोल साम्राज्य छह प्रान्तों में विभक्त था जो मण्डल कहे जाते थे। मण्डल का प्रधान अधिकारी राजप्रतिनिधि कहलाता था। इस पद पर राजकुल से सम्बन्धित व्यक्ति अथवा चोल सम्राट की अधीनता स्वीकार करने वाले राजा को नियुक्त किया जाता था। प्रान्तीय शासक राजा के आदेशों का पालन करते थे। उसकी सहायता के लिए अनेक अधिकारी थे। मण्डलीय शासकों की अपनी सेनाएं और न्यायालय होते थे। मण्डल की अपनी एक सभा होती थी जो महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार कर अपना निर्णय देती थी।

नगर और ग्राम प्रशासन—चोल शासन के अन्तर्गत नगर और ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। चोल सम्राटों ने गाँवों को स्वायत्तता प्रदान की थी। ग्राम सभाएं जनतन्त्रात्मक ढंग से कार्य करती थीं। ग्राम समितियों में स्थायी समिति,

तड़ाग समिति, कृषि समिति, उपवन समिति, न्याय समिति आदि प्रमुख थीं। विभिन्न समितियों के सदस्यों का निर्वाचन गाँव के निवासियों द्वारा किया जाता था। सदस्यों के लिए योग्यताएँ निर्धारित थीं। गाँव की सभा को भूमि प्राप्त करने तथा धार्मिक कार्यों हेतु बेचने का अधिकार प्राप्त था। उसे कर वसूल करने, न्याय करने तथा सार्वजनिक निर्माण करने का अधिकार प्राप्त था। सामान्यतया राजा ग्राम सभाओं के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता था। इस प्रकार विदित होता है कि चोल प्रशासन के अन्तर्गत गाँवों को पूर्ण स्वायत्त शासन प्राप्त था।

सामाजिक दशा

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार चोल कालीन समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में विभक्त था। व्यावसायिक जातियाँ व्यवसाय के आधार पर वलंगाई और इदंगाई में विभक्त थीं। इनकी अनेक उपशाखाएँ थीं। अभिलेखों में इदंगाई वर्ग के 98 उपवर्गों का उल्लेख मिलता है। समाज में ब्राह्मणों को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। साधारणतया एक विवाह का प्रचलन था। किन्तु धनी, राजवंश और सामन्त वर्ग के लोग एक से अधिक विवाह करते थे। समाज में स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। उन्हें सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त था। सती-प्रथा प्रचलित थी। परान्तक की पत्नी वन्वन महादेवी अपने पति की मृत देह के साथ सती हो गई थी। समाज में नर्तकियों (देवदासियों) का वर्ग था जो नृत्य और संगीत की कला में निपुण थीं। दासों के साथ उचित व्यवहार होता था।

आर्थिक दशा—आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर थी। कृषक भूमि का स्वामी होता था। सिंचाई के लिए नहरों और तालाबों का निर्माण किया गया था। चोलों के राज्य में आन्तरिक और बाह्य व्यापार उन्नत स्थिति पर था। चोल कालीन बन्दरगाह प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे। सुदूर देशों के साथ भारत के घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे। उस काल की व्यापारिक श्रेणी का उल्लेख मिलता है। उच्च वर्ग के लोग वैभव और विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु श्रमिक वर्ग की दशा अच्छी न थी।

धार्मिक दशा—चोल नृपति शैव धर्म के अनुयाई थे। कुलोत्तुंग प्रथम के अतिरिक्त सभी शासक धार्मिक सहिष्णु थे। समाज में शैव धर्म के अतिरिक्त वैष्णव, बौद्ध और जैन धर्म प्रचलित थे। तत्कालीन समाज में प्रचलित धर्मों के देवालय और विहार निर्मित किए गए। मन्दिर पाठशालाओं, औषधालयों, बैंकों, नाट्यशालाओं आदि का कार्य करते थे। मूर्ति पूजा, तीर्थ यात्रा, दान, व्रत और उपवास जनसाधारण में प्रचलित थे।

साहित्य—चोल काल तामिल साहित्य का स्वर्ण युग था। तामिल भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई तथा अभिलेख उत्कीर्ण करवाए गए। हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्माचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। चोल काल में कवि कम्बन ने

'रामावतारम्', पुगलेदि ने 'नलबम्ब', जयन्गोन्दार ने 'कलिंगन्तुपर्वि', सेक्किलर ने 'परियापुराणम', जैन विद्वान तिरुत्क देवकर ने 'जीवन चिंतामणि' तथा पवनान्दि ने 'नन्नूल' की रचना की।

कला—चोल शासक महान प्रशासक और साहित्य प्रेमी होने के साथ-साथ महान् निर्माता भी थे। उन्होंने अपने राज्य में कुएं, तालाब और बान्धों का निर्माण करवाया। राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी 'गंगैकोंडचोलपुरम्' के निकट एक विशाल बान्ध का निर्माण करवाया जो सोलह मील लम्बा है। चोल सम्राटों के राज्यकाल में कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। तत्कालीन मन्दिर और देवप्रतिमाएँ उस काल की कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

चोल शासकों ने पल्लव राजाओं की 'मन्दिर-निर्माण-परम्परा' को जारी रखा। कोरंगनाथ और भुवरकोविलन के मन्दिर प्रारम्भिक चोल शैली के अनुपम उदाहरण हैं। कला की दृष्टि से तंजौर का 'राजराजेश्वर मन्दिर' और 'गंगैकोंडचोलपुरम' का मन्दिर उल्लेखनीय हैं। तंजोर के राजराजेश्वर मन्दिर का निर्माण राजराज महान् के शासनकाल में हुआ। यह मन्दिर विशाल और आकर्षक है। यह मन्दिर 180 फीट लम्बा और 190 फीट ऊँचा है तथा इसमें 13 तल हैं। तंजौर का राजराजेश्वर मन्दिर द्रविड़ कला का उत्कृष्ट नमूना है। पर्सी ब्राउन का कथन है— "स्पष्ट रूप से सबसे विशाल, सर्वोच्च, अभी तक भारतीय निर्माताओं द्वारा निर्मित भवनों में अपने प्रकार का सबसे विशाल यह मन्दिर, दक्षिणी भारत की भवन निर्माण कला में एक महत्त्वपूर्ण चरण है।"[1] उन्होंने यह भी लिखा है, "यह मन्दिर निस्सन्देह द्रविड़ निर्माण कला का सर्वोत्तम उदाहरण है और सारांशतः तंजौर विमान भारतीय कला स्थापत्य की कसौटी है।"[2] राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी 'गंगैकोंडचोलपुरम' में एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया। इस मन्दिर की स्थापत्य कला तंजौर-मन्दिर की स्थापत्य कला से अधिक परिपक्व है। चोल काल में ऐरातेश्वर, सुब्रह्मण्यम, त्रिभुवनेश्वर आदि मन्दिरों का निर्माण हुआ। विशालकाय विमान और विस्तृत आंगन चोल मन्दिरों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

मन्दिरों के अतिरिक्त चोलकाल में अनेक देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। उस काल में कास्य की सुन्दर प्रतिमाएँ निर्मित की गईं। शिव, सप्त माताएं, लक्ष्मी के साथ विष्णु, राम और सीता, ऋषियों, शैव सन्तों आदि की धातु प्रतिमाएँ निर्मित की गईं। कला की दृष्टि से नटराज प्रतिमा उल्लेखनीय है।

---

1. "Apparently the largest, highest and most ambitious production of its like hitherto undertaken by the Indian builders, it is a landmark in the evolution of the building art in Southern India."
—*Percy Brown*
2. "Unquestionably the finest single creation of the Dravidian craftsman. The Tanjore vimana, is also a touch stone of Indian architecture as a whole."
—*Percy Brown*

दक्षिणी भारत के अन्य राजवंश

चालुक्य, पल्लव, राष्ट्रकूट और चोल दक्षिण के प्रमुख राजवंश थे। इन प्रसिद्ध राजवंशों के अतिरिक्त दक्षिण में यादव, होयसल, कदम्ब, गंग, शिलाहार, काकतीय, पांड्य आदि राजवंशों ने शासन किया। इन राजवंशों का आविर्भाव बारहवीं शताब्दी के बाद हुआ। बारहवीं शताब्दी के पश्चात् उदित इन राजवंशों के सम्बन्ध में प्रोफेसर नीलकंठ शास्त्री ने लिखा है—"बारहवीं शताब्दी के अन्त में चालुक्य साम्राज्य अदृश्य हो गया और तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चोल साम्राज्य का पतन हो गया। इसके उपरान्त शताब्दियों तक दक्षिण भारत का इतिहास उन चार राजवंशों का इतिहास है जिनका इन राजवंशों के अवशेषों पर उदय हुआ। उन्होंने शताब्दियों तक अपने पारस्परिक संघर्षों से इतिहास के पृष्ठों को भरा। ये राज्य उत्तर में यादव और काकतीय वंश तथा दक्षिण में पांड्य और होयसल राजवंश थे।"[1]

देवगिरि का यादव वंश—कल्याणी के चालुक्यों के पतन के पश्चात् यादवों ने एक विशाल क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इस राज्य की राजधानी देवगिरि थी।

यादव लोग अपने को महापुरुष कृष्ण का वंशज मानते हैं जो यदुवंशी थे। महाभारत के युद्ध के बाद यदुवंशीय क्षत्रिय मथुरा और उसके समीप के प्रदेशों को छोड़कर दक्षिणी भारत में प्रविष्ट हुए। प्रारम्भ में वे राष्ट्रकूट और तदुपरान्त कल्याणी के चालुक्यों के सामन्त मात्र थे। किन्तु बाद में भिल्लम प्रथम के नेतृत्व में उन्होंने अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा कर दी।

प्रारम्भिक यादव शासकों में सेन्नुचन्द्र का उल्लेख मिलता है। उसे चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ ने चालुक्य राज्य के सम्पूर्ण उत्तरी प्रदेश का शासक नियुक्त किया। विक्रमादित्य षष्ठ का उत्तराधिकारी सोमेश्वर चतुर्थ एक दुर्बल शासक था। भिल्लम ने उसे पराजित करके कृष्णा नदी के उत्तरपूर्वी प्रान्त विजित कर लिये। इस प्रकार उसने एक स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली जिसकी राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) थी।

भिल्लय एक शक्तिशाली नृपति था। उसने महाराजाधिराज का विरुद धारण किया। 1191 ई० में भिल्लम होयसल शासक वीर बल्लाल से युद्ध करता

---

1. The Chalukya empire disappeared at the end of the twelfth century and Chola too disappeared at the beginning of the thirteenth, for century thereafter the history of the south India is the history of the four kingdoms that rose on the ruins of the vanished empire and filled the annals of the century with their mutual antagonism. The kingdoms were the Pandyas, and the Hoysala, in the south, and the Kakatiya and Yadava in the north." —*K. A. N. Sastri*

हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। भिल्लम के उत्तराधिकारी जैत्रपाल ने 1191 ई० से लेकर 1210 ई० तक शासन किया। जैत्रपाल ने 1191 ई० में कलचुरियों और 1199 ई० में काकतीयों को पराजित करके यादवों के गौरव को बढ़ाया। वह चारों वेदों और तर्क तथा मीमाँसा शास्त्रों का पण्डित था। 1210 ई० में जैत्रपाल के पश्चात् उसका पुत्र सिंहण राजगद्दी पर बैठा। वह अपने वंश का सबसे महान् शासक था। उसने होयसलों, शिलाहारों, मालवराज अर्जुनवर्मन् और छत्तीसगढ़ के चेदि राज जाजल्ल को पराजित करके अपने राज्य का विस्तार किया। उसने रट्टों, कदम्बों, गुप्तों और पांड्यों को नतमस्तक कर कावेरी के तट पर एक विजय स्तम्भ स्थापित किया। उसने 'पृथ्वीवल्लभ', 'श्रीकरणाधिप' आदि उपाधियाँ धारण कीं। सिंहण के पश्चात् उसका पौत्र कृष्ण (1247-1260 ई०) ने शासन किया। उसने गुजरात के राजा वीसल को परास्त किया। कृष्ण का भाई महादेव (1260-1271 ई०) एक पराक्रमी राजा था। उसने शिलाहार राजा सोमेश्वर से कोंकण छीन लिया तथा कर्नाटक और लाट (गुजरात) की शक्ति को क्षीण कर दिया। उसने काकतीय रानी रुद्राम्बा को आतंकित किया। उसका मन्त्री हेमाद्रि एक उच्च कोटि का विद्वान था। महादेव के पश्चात् रामचन्द्र राजा हुआ। उसने मालवा और वारंगल के काकतीय राजाओं से युद्ध किए और होयसल राजधानी द्वारसमुद्र को खूब लूटा। अन्त में अलाउद्दीन खिलजी के सेनानायक मलिक काफूर ने रामचन्द्र को पराजित करके कर देने को बाध्य किया। 1312 ई० में मलिक काफूर ने रामचन्द्र के पुत्र शंकरदेव के विद्रोह को कुचल दिया और उसे मार डाला। रामचन्द्र के दामाद हरपाल के विद्रोह को सुल्तान मुबारक ने कुचल दिया। लगभग एक शताब्दी तक शासन करने के उपरान्त यादव राजवंश का पतन हो गया और उसका राज्य मुस्लिम आधिपत्य में आ गया।

द्वारसमुद्र का होयसल वंश—अनुश्रुतियों से विदित होता है कि होयसल वंश का संस्थापक साल था। विद्वान् होयसल वंश को यादवों की एक शाखा मानते हैं। होयसल-अभिलेखों में इस वंश के राजाओं को 'यादव-कुल-तिलक' कहा गया है। होयसल स्वयं को चन्द्रवंशी मानते हैं। प्रारम्भिक होयसल शासक चोलों अथवा कल्याणी के चालुक्यों के सामन्त मात्र थे और उनके राज्य की राजधानी वेलापुर (वेलूर) थी। ग्यारहवीं शताब्दी में होयसल राजवंश में विनयादित्य और उसके पुत्र एरयंग ने शासन किया।

होयसल शासक विनयादित्य (1047-1098 ई०) ने कल्याणी के चालुक्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए। उसके पुत्र एरयंग ने चालुक्यों के साथ मिलकर अनेक प्रदेशों को विजित किया। होयसल प्रशस्तियों में उसे वलेय पत्तन को जलाने वाला, चक्रकोट पर अधिकार करने वाला, कलिंगराज को पराजित करने वाला और चोल सम्राट् के विरुद्ध चालुक्य राज की सेवा करने वाला कहा गया है। स्पष्ट हो जाता है कि विनयादित्य चालुक्यों का सामन्त था और उसके पुत्र एरयंग ने अपने स्वामी चालुक्यों को सहायता प्रदान कर अनेक समर जीते। 1093 ई० में

विनयादित्य के पौत्र वल्लभ और विष्णुवर्धन ने आक्रांता परमार नरेश जगतदेव को पराजित किया।

विनयादित्य के बाद उसका पुत्र एरयंग राजा हुआ। युवराज के रूप में उसने चालुक्य नरेश के साथ मिलकर अनेक विजयें प्राप्त कीं। राजा बनने के कुछ ही समय बाद उसका देहावसान हो गया। अतएव 1102 ई० में एरयंग का अनुज बल्लाल प्रथम शासक हुआ। तत्पश्चात् 1108 ई० में उसका भाई विष्णुवर्धन राजगद्दी पर बैठा। उसे होयसल वंश का वास्तविक निर्माता कहा जाता है। विष्णु-वर्धन ने 1108 से 1141 ई० तक शासन किया। उसने चालुक्य नरेश विक्रमादित्य को पराजित करके अपने वंश की स्वतन्त्रता घोषित कर दी। तत्पश्चात् उसने चोल, पांड्य, केरल, तुलुव (दक्षिणी कर्नाटक) कदम्ब और गंग राजाओं को पराजित किया। उसके राज्य में सम्पूर्ण मैसूर और उसके निकटवर्ती प्रदेश सम्मिलित थे। प्रारम्भ में वह जैन धर्मावलम्बी था। किन्तु बाद में अपने मन्त्री आचार्य रामानुज के प्रभावस्वरूप उसने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। विष्णुधर्मन की मृत्यु के बाद नरसिंह प्रथम आठ वर्ष की अल्पायु में राजगद्दी पर बैठा। वह विलासी राजा था। उसने प्रशासकीय कार्यों और सामरिक अभियानों से विमुख होकर विलासिता एवं कामुकता की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। कहा जाता है कि उसका वैभव-पूर्ण अन्तःपुर सुन्दर स्त्रियों का गढ़ था। नरसिंह के बाद 1172 ई० में उसका पुत्र वीर बल्लाल प्रथम राजगद्दी पर बैठा। वह होयसल वंश का सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न और प्रतापी राजा था। उसने 43 वर्ष (1172-1215 ई०) तक राज्य किया। होयसल शासकों में सर्वप्रथम वीर बल्लाल ने 'महाराजाधिराज' का विरुद धारण किया। उसने चालुक्य नरेश सोमेश्वर चतुर्थ, यादबराज भिल्लम पंचम तथा पांड्य और वनवासी के शासकों को पराजित किया। उसके राज्यकाल में होयसल राज्य की गणना दक्षिण की प्रमुख शक्तियों में होने लगी थी। 1215 ई० में वीर बल्लाल का पुत्र नरसिंह द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। उसने चालुक्य राज्य को पतन से बचाया। किन्तु उसे यादव नरेश सिंहण से पराजित होना पड़ा। नरसिंह द्वितीय के बाद के होयसल शासकों से सम्बन्धित विवरण अज्ञात हैं। केवल इतना विदित होता है कि वे चोलों ओर पांड्यों से संघर्षरत रहे। 1327 ई० तक होयसल राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व विद्यमान रहा और तत्पश्चात् उन्होंने स्थानीय सामन्तों के रूप में शासन किया।

वनवासी का कदम्ब वंश—आन्ध्र-साम्राज्य के पतन के पश्चात् दक्षिण में जिन राज्यों का आविर्भाव हुआ, उनमें कदम्ब-राज्य प्रमुख था। उनके प्रारम्भिक अभिलेख प्राकृत भाषा में उल्लिखित हैं, किन्तु बाद के अभिलेखों में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया गया है। कदम्ब राजा मानव्य गोत्र के ब्राह्मण थे।

350 ई० में कदम्बवंशी मयूरशर्मन् ने कर्णाटक में वनवासी को राजधानी बनाकर एक स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली। कहा जाता है कि एक पल्लव अश्वारोही

द्वारा अपने अपमान से क्षुब्ध होकर उसे स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की प्रेरणा मिली। उसे इस बात पर खेद हुआ कि 'कलिकाल में ब्राह्मण क्षत्रियों से इतना दुर्बल होने लगा है।' मयूर शर्मन एक महान् योद्धा था। पल्लव उसके भय से आतंकित थे और उसने पल्लव-सामन्तों से कर वसूल किया। मयूरशर्मन के पुत्र कंगवर्मन को वाकाटक नरेश विन्ध्य शक्ति के आक्रमण का सामना करना पड़ा। विंध्य शक्ति ने कदंब राज्य के कुछ प्रदेश विजित कर लिए। काकुस्थवर्मन कदंब वंश का प्रतापी राजा था। उसने गुप्तों, वाकाटकों, गंगों तथा अन्य तत्कालीन प्रमुख राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। उसके पुत्र शान्तिवर्मन ने सफलतापूर्वक पल्लवों के आक्रमण का सामना किया। शान्तिवर्मन् के पुत्र मृगेश्वर ने पल्लवों और गंगों का सामना किया। मृगेश्वरवर्मन का पुत्र रविवर्मन था। उसने पल्लवों और गंगों को पराजित किया। उसने हाल्सी को अपनी राजधानी बनाया। रविवर्मन का पुत्र हरिवर्मन शान्तिप्रिय शासक था।

वातापी के चालुक्यों के उत्कर्ष से कदंबों की शक्ति क्षीण पड़ गई। पुलकेशी प्रथम ने कदंब राज्य के उत्तरी प्रदेश विजित कर लिए और पुलकेशी द्वितीय ने कदंब राज्य को अधिकृत कर लिया। कदंब राज्य के दक्षिणी प्रदेशों पर नागों ने अपना आधिपत्य जमा लिया। अतः कदंब राजा सामन्त शासक के रूप में शासन करने लगे। दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में पल्लवों का एक बार पुनः उत्कर्ष हुआ। तेरहवीं शताब्दी तक कदंब वंशी राजा दक्षिण कर्नाटक में स्थानीय राजा की हैसियत से शासन करते रहे।

तलकाड का गंग वंश—गंग-राज्य आधुनिक मैसूर के दक्षिण में स्थित था। यह राज्य कदंब और पल्लव राज्यों के मध्य स्थित बताया जाता है। गंग वंश का राज्य होने के कारण इसे 'गंगवाडि' भी कहा जाता है। अनुश्रुतियों से विदित होता है कि गंग इक्ष्वाकु वंशी थे और गंगा के तट से आने के कारण वे गंग कहलाए। चौथी शताब्दी ई० में कोंगनिवर्मन ने एक स्वतन्त्र गंग-राज्य की नींव डाली और 'धर्ममहामात्र' का विरुद धारण किया। प्रारम्भ में गंगों की राजधानी कुलुवल (कोलार) थी। कोंगनिवर्मन का पुत्र माधव प्रथम महाधिराज राजदर्शन में प्रवीण था। तत्पश्चात् आर्यवर्मन (450 ई०) राजगद्दी पर बैठा। वह एक पराक्रमी योद्धा और प्रकाण्ड विद्वान् था। उसने कुलुवल के स्थान पर तबलपुर (तलकाड) को अपनी राजधानी बनाया। गंग वंश का सातवाँ राजा दुर्विनीत एक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। उसने पल्लवों और कदंबों को पराजित करके ख्याति अर्जित की। वह संस्कृत का विद्वान् था। उसने गुणाढ्यकृत पैशाची प्राकृत भाषा में उल्लिखित 'बृहत्कथा' का संस्कृत में रूपान्तर किया। सातवीं शताब्दी में चालुक्यों ने गंगों को अपने अधीन कर लिया। गंग-वंश के बारहवें राजा श्रीपुरुष (726-776 ई०) ने चालुक्यों का प्रतिरोध किया और अपने वंश की स्वाधीनता घोषित कर दी। उसने पल्लवों और राष्ट्रकूटों को पराजित किया। श्रीपुरुष ने बंगलौर के समीप मान्नी को अपनी नवीन राजधानी बनाया। श्रीपुरुष के देहावसान के उपरान्त वेंगी के

चालुक्यों और मान्यखेट के राष्ट्रकूटों ने गंगराज्य को भारी क्षति पहुँचाई। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने श्रीविजय के उत्तराधिकारी शिवमार को बन्दी बनाकर गंग राज्य को अधिकृत कर लिया। शिवमार ने स्वतन्त्र होने की कोशिश की, किन्तु गोविन्द तृतीय ने उसके विद्रोह का दमन कर दिया। शिवमार दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र नाट्यशास्त्र और व्याकरण का विद्वान् था। शिवमार के उत्तराधिकारी राजमल्ल, प्रथम ने राष्ट्रकूटों के प्रति विद्रोह कर दिया। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष ने उसके विरुद्ध कठोर नीति न अपना कर गंगों को अपना मित्र बना लिया। राजमल्ल के उत्तराधिकारी बुतुग प्रथम के साथ अमोघवर्ष प्रथम ने अपनी कन्या का विवाह कर दिया। 1004 ई० में चोलों ने गंग राजधानी तलकाड को विजित कर लिया। अत: गंगों का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया और वे चोलों तथा होयसलों के अधीन सामन्त रूप में शासन करने लगे। अधिकांश गंग नरेश जैन धर्मानुयायी थे। उन्होंने जैन आचार्यों को राज्याश्रय प्रदान दिया। राजमल्ल के मन्त्री चामुण्डराय ने श्रमणवेलगोला में गोमतेश्वर की विशाल प्रतिमा का निर्माण करवाया।

कोंकण का शिलाहार वंश—शिलाहार राजा क्षत्रिय वंश के थे। अनुश्रुतियों से विदित होता है कि शिलाहारों की उत्पत्ति विद्याधरों के राजा जीमूतवाहन से हुई थी। डॉ० अल्तेकर के अनुसार शिलाहार वंश की तीन शाखाएँ थीं। शिलाहार वंश का मूल स्थान तगर था। वे राष्ट्रकूट, चालुक्य और यादव राजाओं के अधीन सामन्त रूप में शासन करते थे। वे कभी भी स्वतन्त्र राजा का अस्तित्व प्राप्त नहीं कर सके।

शिलाहारों की प्रथम शाखा ने आठवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक दक्षिणी कोंकण में राज्य किया और गोआ उनकी राजधानी थी। दूसरी शाखा ने नवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक उत्तरी कोंकण में शासन किया। इस राज्य की राजधानी थाना और पुरी थी। तीसरी शाखा ने महाराष्ट्र के कोल्हापुर, सतारा और बेलगाँव प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया। इस शाखा ने दक्षिणी कोंकण को भी विजित किया। विजयाक (विजयादित्य) इस शाखा का प्रतापी राजा था। भोज इस वंश का प्रबल प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। यादव नरेश सिंहण ने इस वंश का अन्त किया।

वारंगल का काकतीय वंश—काकतीय कौन थे, यह स्पष्ट ज्ञात नहीं है। कुछ विद्वान् अभिलेखों के आधार पर उन्हें शूद्र बताते हैं। किन्तु 'गलपभरी-वंश-तालिका' से वे सूर्यवंशीय क्षत्रिय विदित होते हैं। प्रारम्भ में काकतीय चालुक्यों के सामन्त थे, किन्तु बाद में चालुक्य-साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर उन्होंने तेलंगाना में स्वतन्त्र काकतीय राज्य की स्थापना की जिसकी राजधानी वारंगल थी।

काकतीय वंश के प्रारम्भिक राजाओं में प्रोलराज, रुद्र और महादेव के नामोल्लेख मिलते हैं। प्रोलराज ने कल्याणी के चालुक्यों को पराजित करके कृष्णा और गोदावरी के मध्यवर्तीय भू-भाग पर अधिकार जमा लिया। उसने 1155 ई० में कल्याणी के चालुक्य नरेश तैलप तृतीय को पराजित करके बन्दी बना लिया।

प्रोलराज के बाद 1162 ई० में रुद्र राजा हुआ। वह अपने पिता की भाँति पराक्रमी था। उसने विद्रोही सामन्तों का दमन किया। उसकी मृत्यु के बाद 1199 ई० में उसका अनुज महादेव सिंहासनारूढ़ हुआ। उसे यादव नरेश जैतुगी से पराजित होना पड़ा। महादेव के बाद गणपति राजगद्दी पर बैठा। वह अपने वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली और पराक्रमी राजा सिद्ध हुआ। लगभग 62 वर्ष के दीर्घकालीन शासनकाल में गणपति ने चोल, कलिंग, यादव, कर्णाट, लाट और बलनाड्ड के राजाओं को पराजित किया। उसने अपने राज्य के सामन्तों और मन्त्रियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके आन्तरिक स्थिति को सुदृढ़ बना लिया। उसके काल में काकतीय-राज्य की चतुर्दिक उन्नति हुई। गणपति अपुत्रक था। अतः उसने अपनी एकमात्र पुत्री 'रुद्राम्बा' को काकतीय राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया। 1261 ई० में राज्याधिकार प्राप्त करने के उपरान्त रुद्राम्बा ने बड़ी बुद्धिमत्ता और योग्यतापूर्वक शासन किया। उसने विद्रोही सामन्तों का निर्दयता थे दमन किया। मार्कोपोलो ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में रुद्राम्बा के शासन की बहुत प्रशंसा की है। रुद्राम्बा के पश्चात् 1291 ई० में उसका पुत्र प्रतापरुद्रदेव सिंहासनारूढ़ हुआ। युवराज के रूप में उसने रुद्राम्बा को राजकीय कार्यों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। युवराज के रूप में वह यादवों को पराजित कर चुका था। राजा बन जाने पर उसने यादवों को पुनः पराजित किया। उसका शासन-प्रबन्ध अद्वितीय था। वैद्यनाथ-कृत 'प्रतापरुद्री' में उसके चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। प्रतापरुद्री ने 1326 ई० तक शासन किया। उसे मलिक काफूर से पराजित होना पड़ा। बाद में बहमनी सुल्तानों ने काकतीय राज्य का अन्त कर दिया।

मदुरा का पांड्य वंश—पांड्यों की उत्पत्ति, आविर्भाव और उत्कर्ष के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट जानकारी अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाई है। अतः इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद स्वाभाविक हैं। अनुश्रुतियों के आधार पर कुछ विद्वान् पांड्यों को उत्तर भारत के पांडवों से सम्बन्धित मानते हैं। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने पांड्यों को महाभारत के पांडवों से सम्बन्धित बताया है। इस मत के समर्थक विद्वान् पांड्यों की राजधानी मदुरा को मथुरा का अपभ्रंश मानते हैं।

पांड्यों का इतिहास बहुत प्राचीन है। कात्यायन ने पांड्यों का उल्लेख किया है। वाल्मीकिकृत 'रामायण' में पांड्यों की राजधानी मदुरा की गौरव गाथा उल्लिखित है। बौद्ध ग्रन्थ महावंश में लंका के राजकुमार और पांड्य राजकुमारी के विवाह का वर्णन करता है। कौटिल्यकृत 'अर्थशास्त्र' में पांड्य-राज्य के मोतियों का उल्लेख मिलता है। मेगस्थनीज पांड्य-राज्य में स्त्री-शासन का उल्लेख करता हैं। अशोक महान् के अभिलेखों में सुदूर दक्षिण में स्थित पांड्य राज्य का उल्लेख एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में हुआ है। कलिंगराज खारवेल के हाथीगुम्फा-अभिलेख से विदित होता है कि उसने पांड्य नरेश को पराजित करके असंख्य हाथी, घोड़े, रत्न और मोती प्राप्त किए। स्ट्राबो पांड्य राजा द्वारा 20 ई० पू० में रोम के राजा आगस्टस सीजर की राजसभा में भेजे गये भारतीय दूत का उल्लेख करता है।

पेरिप्लस और टॉल्मी ने पांड्य राज्य की राजधानी मदुरा और उसके नगरों का उल्लेख किया है।

प्रथम शताब्दी ई० के बाद तामिल साहित्य में अनेक पांड्य राजाओं का वर्णन मिलता है, किन्तु उनका तिथिक्रम निर्धारित करना एक टेढ़ी खीर है। दूसरी शताब्दी में पांड्य राजा नेड्डभ-चेलियम का आविर्भाव हुआ। वह एक पराक्रमी और शक्तिशाली राजा था। उसने तलैयानगानाम (तंजौर जिले में स्थित) नामक स्थान पर चोल और चेरि राजाओं की सम्मिलित सेना को पराजित करके अपने राज्य का विस्तार किया। अपनी अनेक विजयों के उपलक्ष्य में उसने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। उसकी मृत्यु के उपरान्त पांड्यों की शक्ति क्षीण पड़ गई। आन्ध्र साम्राज्य के प्रसार और पल्लवों के उदय ने पांड्यों के उत्कर्ष का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। प्रोफेसर नीलकंठ शास्त्री का कथन है कि छठी शताब्दी में कलभ्रों ने कुछ समय के लिए पांड्य-राज्य पर अधिकार कर लिया। ह्वेन्सांग ने पांड्य-राज्य को पल्लव-राज्य का कदर कहा है।

सातवीं शताब्दी में पाँड्य नरेश कंडुग्गोन के नेतृत्व में पांड्यों का उत्कर्ष हुआ। उसने कलभ्रों को पराजित करके उन्हें पांड्य राज्य की सीमा से निर्वासित कर दिया। कंडुग्गोन के पश्चात् अरिकेशरी मारवर्मन् राजा हुआ। उसने चोलों को पराजित करके पांड्य-राज्य का विस्तार किया। उसका पल्लव वंश के संस्थापक सिंहविष्णु से संघर्ष हुआ। मारवर्मन् शैव मतावलम्बी था। मारवर्मन् के बाद राजसिंह राजा हुआ। उसने नंदिवर्मन् पल्लवमल्ल को पराजित किया। राजसिंह के बाद पांड्य वंश का महान् राजा वरवणु (765-815 ई०) राजगद्दी पर बैठा। उसने त्रावणकोर, सलेम, कोयम्बटूर, तंजौर और त्रिचनापल्ली के जिलों को विजित करके अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। कहा जाता है कि उसने पल्लव नरेश दंदिवर्मन् को भी पराजित किया। वरगुण ने अपने राज्य में अनेक शैव और विष्णु मन्दिरों का निर्माण करवाया जिनमें कोयम्बटूर जिले के पेरूर नामक स्थान में निर्मित विष्णु मन्दिर उल्लेखनीय है। वरगुण के पश्चात् श्रीमार (815-863 ई०) ने शासन किया। उसने सिंहल नरेश तथा पल्लव-गंग-चोल संघ को परास्त किया। श्रीमार के बाद वरगुण द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। 880 ई० में पल्लव नरेश अपराजितवर्मन् ने चोलों और गंगों की सहायता से उसे बुरी तरह पराजित कर दिया। श्रीमार के पश्चात् राजसिंह द्वितीय ने शासन किया। 920 ई० में चोल नरेश परांतक प्रथम ने उसे पराजित करके पांड्य राज्य की राजधानी मदुरा पर अधिकार कर लिया।

इस प्रकार विदित होता है कि सातवीं शताब्दी से लेकर 920 ई० तक पांड्यों ने एक स्वतन्त्र राज्य के राजा की हैसियत से शासन किया। 920 ई० में चोल नरेश परांतक द्वारा मदुरा पर अधिकार कर लिए जाने के फलस्वरूप पांड्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया। तत्पश्चात् 920 से 1200 ई० तक उन्होंने चोलों के सामन्त रूप में शासन किया।

तीन शताब्दियों तक चोल आधिपत्य में रहने के पश्चात् तेरहवीं शताब्दी में पांड्यों का पुनः उत्कर्ष हुआ। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में पांड्य नरेश जटावर्मन् कुलशेखर के नेतृत्व में पांड्यों का उत्कर्ष हुआ। जटावर्मन् कुलशेखर का पुत्र मारवर्मन् सुन्दर प्रथम (1216-1238 ई०) शक्तिशाली पांड्य राजा था। उसने चोल नरेश राजराज तृतीय को पराजित करके उरगपुर और तंजौर पर अधिकार कर लिया। मारवर्मन् का उत्तराधिकारी जटाबर्मन् सुन्दर एक महान् पराक्रमी राजा था। उसने चोल नरेश सोमेश्वर द्वितीय को पराजित करके काँची पर अधिकार कर लिया। उसने चेर और लंका के राज्यों को अपने अधीन कर लिया। उसने द्वारसमुद्र के होयसलों, वारंगल के काकतीयों और सेन्दमंडलम के पल्लव सामन्तों को पराजित करके सम्पूर्ण दक्षिणी भारत को आतंकित कर दिया। जटावर्मन् सुन्दर के राज्य काल में पांड्यों की शक्ति अपनी उन्नति के चरम शिखर पर थी। उसने 'महाराजाधिराज श्री परमेश्वर' की उपाधि धारण की। जटावर्मन सुन्दर का उत्तराधिकारी मारवर्मन् कुलशेखर (1272-1310 ई०) भी पराक्रमी राजा था। उसने होयसलों को मार भगाया तथा मलयनाड्ड और सिंहल के राजाओं को पराजित किया। उसका राज्य समृद्धिशाली और वैभवपूर्ण था।

1310 ई० में मारवर्मन् कुलशेखर की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उसके दो पुत्रों में संघर्ष छिड़ गया। इस आन्तरिक कलह का लाभ उठाकर अलाउद्दीन खिलजी के प्रतापी सेनानायक मलिक काफूर ने पांड्यों को पराजित करके मदुरा को लूट डाला। तत्पश्चात् अलाउद्दीन ने खुसरूखाँ के नेतृत्व में एक सेना पांड्य-राज्य पर आक्रमण हेतु भेजी। उसने पांड्यों की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर दिया। किन्तु वे सामन्त रूप में शासन करते रहे। पांड्य-राज्य में मुस्लिम आक्रमण से व्याप्त अराजकता का लाभ उठाकर काकतीयों ने तमिलनाडु में उत्तरी जिलों को अधिकृत कर लिया और अनेक सामन्तों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। इस प्रकार शक्तिशाली पांड्य राज्य का अन्त हो गया।

चेर राज्य—चेर राजवंश के प्रारम्भिक इतिहास का ज्ञान अस्पष्ट है। चेर और केरल पर्यायवाची शब्द हैं। चेर-राज्य में त्रावनकोर कोचीन, मालाबार, पुदुकोट्टव तथा कोग नामक प्रदेश आते थे।

चेर कौन थे, यह अज्ञात है। कुछ विद्वानों का मत है कि चेर द्रविड़ जाति के थे और बाद में आर्य वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत उन्होंने क्षत्रिय पद प्राप्त कर लिया। कालांतर में प्राचीन क्षत्रिय राजवंशों के साथ उनके वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे।

चेर-राज्य का सर्वप्रथम उल्लेख अशोक महान् के शिलालेखों में मिलता है। अशोक के अभिलेखों में चेरों का उल्लेख सुदूर दक्षिण के चोल और पांड्य राज्यों के साथ केरलपुत्त (केरलपुत्र) के रूप में हुआ है। पेरिप्लस और टॉल्मी ने चेर-राज्य और उसके बन्दरगाहों का वर्णन किया है। प्रारम्भिक चेर राजाओं में पेरूनर और अदाम का नामोल्लेख मात्र मिलता है। अदाम का पुत्र सेनगुत्तवन एक पराक्रमी राजा

था। उसने पांड्य और चोल राज्यों को पराजित करके हिमालय तक सामरिक अभियान किया। बाद में चेरों की शक्ति क्षीण पड़ जाने के कारण आंध्रों और पल्लवों ने उन्हें अपने अधीन कर लिया। आठवीं शताब्दी में चेरों का पुनः उत्कर्ष हुआ। उन्होंने पांड्यों और पल्लवों का डटकर मुकाबला किया। आठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी के मध्य तक चेरों और चोलों के मध्य मित्रता बनी रही और उनमें परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुए। किन्तु राजराज प्रथम के शासनकाल से चेर-चोल सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न हो गई। राजराज प्रथम ने कन्दलूर में उनके (चेरों के) जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया और राजेन्द्र प्रथम ने चेर राज्य को विजित कर लिया। इस प्रकार दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बारहवीं शताब्दी तक चेर चोल आधिपत्य में रहा। 1310 ई० में मलिक काफूर द्वारा पांड्यों की पराजय के फलस्वरूप चेरों का एक बार पुनः उत्कर्ष हुआ। चेर-नरेश रविवर्मन् कुलशेखर ने पांड्यों और चोलों के कुछ प्रदेशों को अधिकृत कर अपने राज्य का विस्तार किया। किन्तु वारंगल के काकतीय राजा रुद्र प्रथम ने उसे पराजित कर दिया। रविवर्मन् चेर-राज्य का अन्तिम शक्तिशाली राजा था। उसके बाद चेर राजवंश का पतन हो गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. चालुक्य कौन थे? संक्षेप में बादामी के पूर्वी चालुक्यों का इतिहास लिखिए।
2. पुलकेशी द्वितीय की विजयों पर प्रकाश डालिए।
3. सोमेश्वर प्रथम की विजयों का उल्लेख कीजिए।
4. राष्ट्रकूटों का इतिहास संक्षेप में लिखिए।
5. दन्दिदुर्ग की विजयों का उल्लेख कीजिए।
6. गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। इस कथन की व्याख्या कीजिए।
7. पल्लव कौन थे? संक्षेप में उनका इतिहास लिखिए।
8. पल्लवकालीन सांस्कृतिक दशा पर प्रकाश डालिए।
9. नरसिंहवर्मन् प्रथम की विजयों पर प्रकाश डालिए।
10. चोल वंश का इतिहास संक्षेप में लिखिए।
11. राजराज प्रथम की विजयों का वर्णन कीजिए।
12. राजेन्द्र चोल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का उल्लेख कीजिए।
13. चोल शासन प्रणाली की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
14. निम्नलिखित पर संक्षिप्त लेख लिखिए—
    (अ) पांड्य वंश,
    (आ) काकतीय वंश,
    (इ) शिलाहार वंश,
    (ई) गंग वंश,
    (उ) कदम्ब वंश, तथा
    (ऊ) होयसल वंश।

28

भारतीय संस्कृति में दक्षिण का योगदान

दक्षिणी भारत विंध्याचल पर्वत और तुंगभद्रा नदी के मध्य में स्थित है। भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत अधिक प्राचीन है। दक्षिण संस्कृत शब्द 'दक्षिणापथ' का अपभ्रंश है। यहाँ के अधिकांश निवासी द्रविड़ जाति के हैं। विद्वानों का मत है कि द्रविड़ जाति के लोग भारत के आदिवासी थे जो आर्यों के भारत आगमन से पूर्व देश के अधिकांश भू-भाग में फैले हुए थे। द्रविड़ों को अफ्रीका की भूमध्यसागर प्रजाति का वंशधर कहा गया है जो पश्चिमी एशिया को पार कर भारत में प्रविष्ट हुए थे। सिन्धु-सभ्यता के निवासी द्रविड़ जाति के थे।

दुर्गम पर्वतों और सघन वनों से युक्त प्रदेश होने के कारण प्राचीन काल में दक्षिणी भारत उत्तर भारत के निकट सम्पर्क में न आ सका। अतः प्राचीन काल से लेकर ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूर्व तक सम्पूर्ण भारत कभी भी राजनीतिक एकता के सूत्र में नहीं बँध पाया। जहाँ एक ओर उत्तरी भारत में महान् मौर्य वंश, शुंग वंश, कुषाण वंश, गुप्त वंश, वर्धन वंश और राजपूत वंश के राजाओं ने शासन किया, वहीं दूसरी ओर शक्तिशाली आंध्रों, सातवाहनों, राष्ट्रकूटों, पल्लवों, चालुक्यों, चोलों और पांड्यों ने दक्षिण में शासन कर उसे गौरवान्वित किया। सम्राट् अशोक ने दक्षिणापथ के कुछ राज्यों को विजित किया और समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के अनेक राजाओं को पराजित करके उन्हें अपना करद राजा बना लिया। दक्षिण के राष्ट्रकूट और चोल शासकों ने उत्तरी भारत में सामरिक अभियान किए। किन्तु सम्पूर्ण भारत (उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत) में ब्रिटिश शासन से पूर्व कभी भी राजनीतिक एकता स्थापित नहीं हो पाई।

राजनीतिक एकता के सर्वथा अभाव के बावजूद उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत (सम्पूर्ण भारत) में सांस्कृतिक एकता विद्यमान थी। तामिल अनुश्रुति से विदित होता है कि सर्वप्रथम शिव के आदेश पर अगस्त्य ऋषि ने सपत्नीक दक्षिण भारत में

प्रवेश कर आर्य संस्कृति का प्रसार किया। तत्पश्चात् आर्यों ने वहाँ अनेक उपनिवेश स्थापित किए। अयोध्या नरेश दशरथ के पुत्र रामचन्द्र ने अपने वनवास के काल में दक्षिणी भारत में प्रवेश किया। उन्होंने लंकाधिपति रावण का वध करके आर्यों का प्रभुत्व स्थापित किया। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्माचार्यों ने दक्षिणी भारत में प्रवेश कर स्वधर्म का प्रचार किया। दक्षिण के पल्लव राजा आर्य संस्कृति से प्रभावित थे। उनकी राजधानी कांची आर्य सभ्यता और संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। द्रविड़ भाषाओं (तामिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम) में संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। इन भाषाओं की वर्णमाला देवनागरी की वर्णमाला के समान है। साहित्य, कला, धर्म, सामाजिक व्यवस्था तथा राजनीतिक संस्थाओं के विकास में दक्षिण ने महत्त्वपूर्ण योगदान देकर भारतीय संस्कृति के कोश में अभिवृद्धि की है। इस सम्बन्ध में प्रोफेसर नीलकण्ठ शास्त्री का यह कथन उल्लेखनीय है—"प्रागैतिहासिक युग से लेकर आधुनिक समय तक ऐसा कोई समय नहीं रहा, जबकि इन दो क्षेत्रों ने राजनीति और सभ्यता के क्षेत्र में एक-दूसरे को प्रभावित न किया हो।"[1] भारतीय संस्कृति में दक्षिण का अत्यधिक योगदान रहा है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने द्रविड़ों के धर्म को 'पूर्व वैदिक हिन्दुत्व' की संज्ञा दी है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में दक्षिण का जो योगदान रहा है, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

धार्मिक क्षेत्र में दक्षिण भारत का योगदान

उत्तरी भारत में आर्यों के प्रसार के फलस्वरूप द्रविड़ लोग दक्षिणी भारत में केन्द्रित हो गये। द्रविड़ लोग सर्प और शिव के उपासक थे। कहा जाता है कि शिव की पूजा करना आर्यों ने द्रविड़ों से ही सीखा। तमिल साहित्य में शिव को सबसे बड़ा देवता कहा गया है। मद्रास राज्य के गुडिमल्लम् नामक स्थान पर दूसरी शताब्दी ई० पू० का पाँच फीट ऊँचा शिवलिंग विद्यमान है जिसके समीप एक शिव प्रतिमा निर्मित है। विद्वानों का मत है कि भारत में मिलने वाली शिव प्रतिमाओं में यह सर्वाधिक पुरातन है। इतिहासकारों का मत है कि शक्ति, दुर्गा, गणेश, कार्तिकेय, हनुमान आदि देवी-देवताओं की पूजा करना भी आर्यों ने द्रविड़ों से सीखा।

आर्य धर्म ने भी द्रविड़ों को प्रभावित किया। अनेक दक्षिणवासियों ने आर्यों के वैदिक धर्म को ग्रहण कर लिया। तामिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम आदि द्रविड़ भाषाओं को आर्य भाषा संस्कृत ने प्रभ वित किया। इन भाषाओं में संस्कृत के शब्दों की अधिकता है। कालांतर में आर्यों और द्रविड़ों के धर्मों में सामंजस्य स्थापित हो जाने के फलस्वरूप उनमें व्याप्त मतभेद दूर हो गये। भारतीय संस्कृति के विकास में दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ० एस० के० चटर्जी के शब्दों में—"आधुनिक हिन्दू संस्कृति और धर्म के वसन में द्रविड़ों का ताना और आर्यों का बाना है।"

---

1. "From the prehistorical times to the present day, there has been no period when the two regions did not influence each other politically and culturally."

—*K. A. N. Sastri*

दक्षिणी भारत में भक्तिवाद का विकास हुआ। यद्यपि भक्तिवाद का आविर्भाव उत्तरी भारत में हुआ तथापि उसका निखरा हुआ स्वरूप और विकास दक्षिण की देन है। प्रारम्भ में 'अलवार' नामक वैष्णव सन्तों और कालांतर में रामानुज तथा माधवाचार्य ने भक्तिवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। पद्मपुराण में तो भक्तिवाद का उदय स्थल ही द्रविड़ बताया गया है। उसमें उल्लिखित है—"इसका (भक्तिवाद का) जन्म द्रविड़ देश में हुआ था, कर्नाटक में उसकी वृद्धि और विकास हुआ। महाराष्ट्र में उसे स्थिरता मिली तथा गुजरात में आकर उसे वृद्धावस्था प्राप्त हुई।" भक्तिवाद से तात्पर्य है, अपने इष्टदेव के प्रति अटूट भक्ति और अगाध श्रद्धा तथा भक्ति भाव द्वारा मोक्ष प्राप्ति। इन्हीं भावनाओं के अनुरूप भक्तिवाद के अनुयायियों ने अपने इष्ट देवता की प्रतिमाएँ निर्मित कर उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठित किया। इन मूर्तियों की पूजा की जाती थी। ऐसा माना जाने लगा था कि जो व्यक्ति तन, मन, वचन और कर्म से अपने आपको ईश्वर को समर्पित कर देते हैं, वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इस उद्देश्य के निमित्त दक्षिणी भारत में शिव और विष्णु के भक्तों ने अपने आराध्यदेव की उपासना प्रारम्भ कर दी। शैव सम्प्रदाय के संस्थापक 'नयनमार' और विष्णु के भक्त 'अलवार' कहलाए। दोनों सम्प्रदायों के अनुयायियों ने सरस और भक्तिपूर्ण रस साहित्य की रचना की। दक्षिणी भारत में खूब प्रचार होने के बाद उत्तरी भारत में भक्तिवाद का प्रसार हुआ। राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा। कवि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना कर राम का गुणगान किया। गुजरात में वल्लभाचार्य और बंगाल में महाप्रभु चैतन्य ने कृष्ण-भक्ति पर जोर दिया। मन्दिरों में एकत्रित होकर पूजा करना, धार्मिक वाद-विवाद करना, कथा-कीर्त्तन करना तथा फल-पुष्प चढ़ाकर, चन्दन लगाकर, धूप-दीप जलाकर मनवांछित फल की कामना करना आदि सभी धार्मिक क्रियाएँ द्रविड़ों की देन हैं। डॉ० मजूमदार का कथन है कि आधुनिक हिन्दू धर्म के निर्माण में आर्यों तथा द्रविड़ों का समान योगदान रहा है।

कालांतर में भक्तिवाद में अनेक बुराइयों का समावेश हो गया था। सुधारवादियों ने इन बुराइयों का खुलकर विरोध किया। उन्होंने यौगिक प्रणाली के धर्म पर बल दिया। उन्होंने उपदेश दिया कि ईश्वर सर्वव्यापी है। उसे प्रतिमाओं और मन्दिरों में ढूंढ़ना मूर्खता है। तुम्हारा ईश्वर स्वयं तुम में निहित है। दक्षिण के तिरुमुलर के ग्रन्थों में इस विरोध का उल्लेख मिलता है। उत्तरी भारत में कबीर और गुरु नानक ने पूजा-पाठ की कठोर एवं अव्याबहारिक प्रणाली का घोर विरोध किया।

दक्षिण भारत में सदैव धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण विद्यमान रहा। वहाँ के प्रतापी राजाओं ने धर्म के क्षेत्र में व्यापक दृष्टिकोण एवं उदारता और सहिष्णुता की नीति का परिचय दिया। फलतः दक्षिण में अनेक धर्मों का विकास हुआ। आठवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के आविर्भाव ने दक्षिण को हिन्दू-दर्शन के पुनरुत्थान का श्रेय प्रदान किया। कुमारिल भट्ट ने मीमांसा-दर्शन द्वारा

वैदिक कर्मकांडों का प्रबल समर्थन किया। केरल-राज्य के निवासी जगद्गुरु शंकराचार्य ने 'अद्वैतवाद' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन्होंने बौद्धों की भाँति हिन्दू संन्यासियों के संघ स्थापित किए। भारत की अखण्डता को अंगीकार करते हुए शंकराचार्य ने देश के चार कोनों में चार प्रसिद्ध मठों की स्थापना की। रामानुजाचार्य ने 'विशिष्ट द्वैतवाद' और माधवाचार्य ने 'द्वैतवाद' के सिद्धांतों का समर्थन किया।

कला और साहित्य के क्षेत्र में योगदान

भारतीय कला के विकास में दक्षिण भारत के राजाओं ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला, चित्रकला, संगीत एवं नृत्य-कला के विकास में दक्षिण भारत का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

दक्षिणी भारत में भक्ति-सम्प्रदाय के उदय और विकास ने वहाँ के निवासियों को मन्दिर-निर्माण की ओर प्रेरित किया। विष्णु और शिव के अनेक मन्दिर निर्मित किये गये। प्रारम्भ में इन मन्दिरों का निर्माण आराध्यदेव की स्तुति हेतु हुआ था। किन्तु कालांतर में वे धार्मिक जीवन, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर वाद-विवाद के केन्द्र बन गये थे। मन्दिरों ने पाठशालाओं का दायित्व भी बड़ी खूबी से निभाया। मन्दिरों में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था थी।

दक्षिणी भारत में गुहा मन्दिर तथा अन्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। पल्लव, चोल, होयसल आदि राजवंशों ने मन्दिरों के निर्माण में विशेष रुचि दिखाई। सुदूर दक्षिण में स्थित चालुक्य और राष्ट्रकूट राजवंशों ने भी कला के विकास के क्षेत्र में अपना योग दिया।

पल्लव-नरेश नरसिंहवर्मन् ने समुद्रतट पर स्थित मामल्लपुरम् में विभिन्न कलाकृतियों से अलंकृत अनेक गुहामन्दिरों का निर्माण करवाया जिनमें पाँच पांडव और द्रौपदी के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। मन्दिरों के सामने विशाल प्रतिमाओं का निर्माण करवाया गया है। इन मूर्तियों में अर्जुन की मूर्ति सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसे पश्चात्ताप की मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है। यह मूर्ति 98 फीट लम्बी और 43 फीट चौड़ी है। पल्लव कालीन दूसरा प्रसिद्ध मन्दिर कांची का कैलाश मन्दिर है। इसमें पल्लव राजाओं और रानियों की सजीव लगने वाली कलात्मक मूर्तियाँ रखी गई हैं। पल्लव काल में निर्मित शोर मन्दिर भी कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

चोल शासकों ने पल्लव कला शैली का विकास किया। डॉ० स्मिथ का कथन है कि चोल कला ने पल्लव-कला को सक्रम रखा। उनके काल में कला उत्कृष्ट स्थान प्राप्त कर चुकी थी। चोल राजाओं ने अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया जिनमें तंजौर का 'राजराजेश्वर मन्दिर' और 'गंगैकोंडचोलपुरम्' का मन्दिर उल्लेखनीय हैं। तंजौर का 'राजराजेश्वर मन्दिर' द्रविड़ कला का उत्कृष्ट नमूना है। इस मन्दिर में चौदह मंजिलें हैं। यह मन्दिर 190 फीट ऊँचा है। मन्दिर में शिव और विष्णु से सम्बन्धित चित्र अंकित हैं। 'गंगैकोंडचोलपुरम्' का मन्दिर अपने विशाल आकार और मनोहर आकृतियों के लिए प्रसिद्ध है। इसी प्रकार भगूति का शिव मन्दिर और ऐहोल

का विष्णु मन्दिर महत्त्वपूर्ण हैं। चोल राजाओं ने शिव, सन्तों और हिन्दू देवी-देवताओं की उत्कृष्ट कोटि की अनेक प्रतिमाएँ निर्मित करवाईं।

होयसल वंश के राजाओं ने मन्दिरों के निर्माण में रुचि दिखाई। उस काल में निर्मित मन्दिरों में हलेविद में निर्मित 'होयसलेश्वर' का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। सत्रहवीं शताब्दी में रामेश्वरम् और मदुरा के श्रेष्ठ मन्दिरों का निर्माण हुआ। चालुक्यों ने अपनी राजधानी बादामी में अनेक गुहा-मन्दिर निर्मित करवाए, जिनमें ब्राह्मण देवी-देवताओं के चित्र उत्कीर्ण हैं। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने एलौरा में प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर का निर्माण करवाया। द्रविड़-शैली के शिखर से युक्त इस मन्दिर पर सुन्दर नक्काशी की गई।

आंध्र राजाओं के शासनकाल में दक्षिण में अनेक सुन्दर बौद्ध स्तूपों का निर्माण हुआ। इन स्तूपों में कृष्णा नदी के मुहाने में स्थित अमरावती का स्तूप विशेष उल्लेखनीय है। स्तूप की रेलिंग और गुम्बद संगमरमर की बनी हुई थी। स्तूप पर महात्मा बुद्ध से सम्बन्धित अनेक चित्र उत्कीर्ण हैं। दक्षिणी भारत में मूर्ति-कला का भी विकास हुआ। चामुण्डराज के काल में निर्मित श्रमणवेलगोला (मैसूर राज्य) में गोमत की 56 फीट ऊँची विशाल प्रतिमा और मामल्लपुरम में पल्लव शासकों द्वारा निर्मित भागीरथ-प्रतिमा उल्लेखनीय हैं। मन्दिरों, स्तूपों और अजन्ता की कुछ गुफाओं के चित्र दक्षिणी भारत में विकसित चित्रकला के सुन्दर नमूने हैं। दक्षिणी भारत में नृत्य और संगीत कला की विशेष उन्नति हुई। मन्दिर नृत्य और संगीत (कीर्त्तन) के केन्द्र थे।

दक्षिणी भारत के राजाओं ने शिक्षा और साहित्य की अभिवृद्धि में विशेष योगदान दिया। मन्दिर शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। कांची, मदुरा, तंजौर और रामेश्वरम् शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे जिनमें संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी। संस्कृत के अतिरिक्त तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाओं का विकास हुआ और उनमें साहित्य रचना की गई। द्वितीय शताब्दी ई० पू० तामिल साहित्य का स्वर्ण युग माना जाता है। सातवाहन काल में हाल ने 'गाथासप्तशती' और गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की। पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् को 'मत्तविलास प्रहसन' और 'भगवदज्जुका' नामक ग्रन्थों की रचना का श्रेय दिया जाता है। पल्लव राजाओं के दरबारी कवि दण्डिन् ने 'दशकुमारचरितम्' और 'काव्यादर्श की रचना की। 'मुकुन्दमाला' का प्रणेता कुलशेखर, 'कविरहस्य' का लेखक हलायुध, 'उदयसुन्दरी कथा' का रचयिता सोड्ठल, 'विक्रमांकदेवचरित' का लेखक विल्हण आदि दक्षिणी भारत के विद्वान् थे। 'मणिमेख-लाई,' 'शिलपाधिकारम,' 'वलयपति' तथा 'कुण्डलकेशी' उस काल की प्रसिद्ध तामिल रचनाएँ थीं। रामायण और महाभारत का तामिल भाषा में अनुवाद किया गया। दक्षिण के विद्वानों ने वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य लिखे। पम्प और कन्नड़ दक्षिण भारत के प्रसिद्ध कवि थे। इस प्रकार विदित होता है कि शिक्षा और साहित्य के विकास के क्षेत्र में भी दक्षिण अग्रणी रहा।

राजनीतिक क्षेत्र में योगदान

राजनीतिक एकता के अभाव के बावजूद दक्षिण भारत के राजाओं ने उत्तरी भारत के राजनीतिक आदर्शों का पालन किया। वहाँ के विजयी सम्राटों ने पराजित राजाओं का उन्मूलन न कर उन्हें अधीन शासक बना कर मुक्ति प्रदान कर दी। युद्ध के नियम धर्म और मानवता पर आधारित थे।

दक्षिण भारत के राजाओं ने प्रशासनिक क्षेत्र में गाँवों को व्यापक अधिकार प्रदान किये थे। चोल साम्राज्य के अन्तर्गत युद्ध और संधि को छोड़कर अन्य सभी अधिकार ग्राम सभा को प्राप्त थे। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार दक्षिण में ग्राम सभा शासन की एक स्वतन्त्र इकाई थी।

व्यापारिक क्षेत्र में योगदान

व्यापार के क्षेत्र में दक्षिण का उल्लेखनीय योगदान रहा है। दक्षिण के निवासी साहसी नाविक और कुशल व्यापारी थे। उन्होंने पश्चिमी और पूर्वी देशों के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए।

बृहत्तर भारत के निर्माण में योगदान

विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में दक्षिणी भारत का उल्लेखनीय योगदान रहा है। उन्होंने विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर वहाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार तथा प्रसार किया। दक्षिण भारत में रोमन सिक्के मिले हैं, जिनसे विदित होता है कि दक्षिणी भारत के रोम के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। दक्षिणी भारत में विदेशियों के व्यापारिक केन्द्र थे। पूर्वी द्वीप समूह में शैव धर्म का प्रचार करने का श्रेय दक्षिणवासियों को ही है। जावा में बोरोबुदुर और कम्बोडिया में अंकोटवाट के मन्दिर इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। पल्लव राजाओं ने चम्पा और कम्बुज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किए। इन राज्यों की वास्तुकला पर पल्लव-वास्तुकला की छाप है। दक्षिण के राजाओं ने मलाया, जावा, सुमात्रा आदि देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित किए। महान् चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने शैलेन्द्र राजाओं को पराजित करके मलाया तक अपनी विजय-पताका फहराई थी।

बाह्य आक्रमणों से भारतीय संस्कृति की रक्षा

दक्षिणी भारत बाह्य आक्रमणों से भारतीय संस्कृति की रक्षा करने में सफल रहा। दक्षिण का मार्ग दुर्गम होने के कारण विदेशी आक्रांता उसे विजित करने का साहस नहीं कर पाये। आवागमन के साधनों के नितांत अभाव के कारण भारतीय संस्कृति को विनष्ट करने वाला मुस्लिम धर्म वहाँ अपना अधिक प्रभाव नहीं जमा पाया। मुस्लिम आक्रांता जिस समय उत्तरी भारत में संस्कृति के स्मारकों को क्रूरतापूर्वक ध्वस्त कर रहे थे, ऐसे समय में दक्षिण भारत ने उसे (भारतीय संस्कृति को) अक्षुण्ण रखा। दक्षिणी भारत के राज्यों ने युगों तक अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को बनाये

रखा। वहाँ के शासक संस्कृति के सजग रक्षक थे। उत्तरी भारत में इस्लाम की ध्वंस लीला के समय वहाँ के कई निवासियों ने दक्षिणी भारत में शरण ली। फलत: भारतीय संस्कृति वहाँ केन्द्रित हो गई। आर्यों के निकट सम्पर्क में आने से दक्षिण के निवासियों पर आर्य संस्कृति का प्रभाव पड़ना नितांत स्वाभाविक था। अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि वर्तमान भारतीय संस्कृति तामिल और आर्य संस्कृति का सुन्दर समन्वय है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय संस्कृति में दक्षिण की देन का मूल्यांकन कीजिए।

29

बृहत्तर भारत

बृहत्तर भारत का अर्थ—भौगोलिक दृष्टि से एक पृथक इकाई होने पर भी प्राचीन काल से ही भारत के विदेशों के साथ घनिष्ठ व्यापारिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। नवीन खोजों ने इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन काल में भारतीय संकुचित मनोवृत्ति के थे और वे अन्य देशों से सम्बन्ध स्थापित न कर अपने देश के ज्ञान तक ही सीमित रहना पसन्द करते थे। प्रमाणों से विदित होता है कि भारतीयों ने साहस और दृढ़ भावना का परिचय देते हुए विदेशों की जोखिमपूर्ण यात्राएँ कीं और स्वच्छन्द भाव से अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया। उनके प्रयासों के फलस्वरूप विदेशों में भारतीय संस्कृति ने सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। यद्यपि भारतीयों का विदेश गमन का प्रमुख उद्देश्य व्यापारिक था, तथापि धर्म-प्रचारकों के धार्मिक उत्साह और राजकुमारों की साम्राज्य-वादी लिप्सा ने भी उन्हें इस ओर प्रेरित किया। धर्म-प्रचारकों ने मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के अनेक केन्द्र स्थापित किए जिनमें चीनी बौद्ध भिक्षु फाहियान और ह्वेनसांग ने निवास किया था। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के अनेक भारतीय राजकुमारों ने विदेशों में अनेक उपनिवेश स्थापित किए। दक्षिणी-पूर्वी एशिया के कुछ भू-भाग पर भारतीयों ने उपनिवेश स्थापित कर शताब्दियों तक शासन किया। इन सब के फलस्वरूप बृहत्तर भारत का जन्म हुआ। भारत के बाहर जिन देशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार हुआ, उन्हें सामूहिक रूप से 'बृहत्तर भारत' की संज्ञा दी गई है। बी० जी० गोखले के शब्दों में—"एशिया के विभिन्न देशों, विशेषकर दक्षिण-पूर्व एशिया के निवासियों की संस्कृति पर सामान्य रूप से ध्यान देने से यह प्रतीत होता है कि हम बर्मा, स्याम अथवा इण्डोनेशिया में जो कुछ देखते हैं, वह सभी कुछ भारतीय संस्कृति का विस्तार है तथा उन्हें बृहत्तर भारत का रूप माना जा सकता है।"

भारतीय संस्कृति का प्रसार—पुरातन काल से दसवीं शताब्दी तक भारत

के अन्य देशों से सुदृढ़ व्यापारिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध थे। किन्तु ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में तुर्कों के उत्थान और उनके द्वारा भारत पर किए गए निरन्तर सैनिक अभियानों ने इन सम्बन्धों में कुछ शिथिलता उत्पन्न कर दी।

विद्वानों का मत है कि भारत और विदेशों के मध्य सम्बन्ध बहुत प्राचीन हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय भारत और पश्चिमी देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध थे। उस काल में भारत के मैसोपोटामिया, बेबीलोन और ईरान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। एलम और मैसोपोटामिया में प्राप्त पाँच मुहरों पर कुब्मदार बैल की आकृति और सिंधु घाटी की लिपि उत्कीर्ण है। लोथल में ईरानी मुहरें मिली हैं जो लोथल और ईरान के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि करती हैं। एक जातक कथा में भारतीय व्यापारियों की बेबीलोन यात्रा का उल्लेख मिलता है। ईरानियों और यूनानियों के भारतीय अभियान ने इन सम्बन्धों को और अधिक सुदृढ़ स्वरूप प्रदान कर दिया।

ईरानी सम्राट दारा प्रथम ने सिंधु नदी के तटीय प्रदेश को विजित कर लिया। फलतः दोनों देशों के मध्य व्यापारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। सिकन्दर और सिल्यूकस के भारतीय अभियान ने यूनानियों और भारतीयों को एक-दूसरे के समीप ला दिया। मौर्यकाल में पश्चिमी एशिया के सीरिया, बैक्ट्रिया, ईरान और पार्थिया नामक देशों से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे। शनैः-शनैः मध्य एशिया और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के साथ सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये। इस प्रकार बृहत्तर भारत की स्थापना हुई। बृहत्तर भारत में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रसार का उल्लेख करते हुए प्रोफेसर हरिदत्त वेदालंकार ने लिखा है—"बृहत्तर भारत हमारे प्राचीन इतिहास की सबसे सुनहली कृतियों में से है। डेढ़ हजार वर्ष तक भारतीय विश्व के बड़े भाग की जंगली जातियों के बीच में बस कर उन्हें सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाते रहे। संसार में हजारों निर्दोष व्यक्तियों का खून बहाकर दिग्विजय करने वाले तथा विशाल साम्राज्य बनाने वाले सीजर, समुद्रगुप्त, चंगेज खाँ, तैमूर और नेपोलियन जैसे विजेताओं की कमी नहीं, किन्तु विश्व के इतिहास में भारत की सांस्कृतिक विजय से अधिक शान्तिपूर्ण, स्थायी, व्यापक और हितकर कोई दूसरी विजय नहीं हुई।"

बृहत्तर भारत की स्थापना के कारण—प्राचीन काल में दक्षिण-पूर्वी एशिया का सम्पूर्ण भूखण्ड अपनी सम्पन्नता के कारण सुवर्ण-भूमि के नाम से विख्यात था। भारतीय व्यापारियों के लिए धन अर्जित करने के उद्देश्य से यह प्रदेश विशेष महत्त्व रखता था। भारतीयों ने इन प्रदेशों में जाकर धन अर्जित किया और अनेक उपनिवेशों की स्थापना की। जातक तथा अन्य ग्रन्थों में भारतीय व्यापारियों की विदेश यात्राओं का उल्लेख मिलता है। भारतीय राजकुमार विदेशों में नवीन राज्यों की स्थापना की आकांक्षा रखते थे। भारतीय विद्वानों ने विदेशों में जाकर

भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार करना अपना लक्ष्य निर्धारित किया। जनसंख्या की वृद्धि ने भी भारतीयों को विदेशों में जाकर नवीन राज्य स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। मूलतः इन्हीं कारणों ने वृहत्तर भारत की स्थापना में योग दिया। पुराण, मिलिन्दपन्हो, महानिद्देश, जातक कथाओं, कौमुदी महोत्सव, बौद्ध स्मारकों आदि से विदित होता है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विदेशों में खूब प्रसार हुआ।

पश्चिमी एशिया में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार

सिंधु घाटी की सभ्यता में प्राप्त अवशेषों से विदित होता है कि लगभग 3000 ई० पू० भारत के पश्चिमी एशिया के देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। सिंधु सभ्यता से मिलते-जुलते अवशेष मैसोपोटेमिया (ईराक) के प्राचीन नगरों में मिले हैं। यहूदियों के प्राचीन ग्रन्थों से विदित होता है कि सम्राट् सोलोमन (800 ई० पू०) के शासन-काल में एक जहाज पूर्व (भारत) की ओर से सोना, चाँदी, हाथीदाँत, वनमानुष, मोर, इमारती लकड़ी और बहुमूल्य मणियाँ लेकर लौटा था। ये वस्तुएँ पूर्णतया भारतीय विदित होती हैं। एक जातक कथा में कुछ भारतीय व्यापारियों द्वारा वावेरु (बेवीलोन) जाने का उल्लेख मिलता है। चौदहवीं शताब्दी ई० पू० के बोगजकोई के शिलालेख से भारत और पश्चिमी एशिया के देशों के मध्य स्थापित सांस्कृतिक सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में भारत के पश्चिमी एशिया के देशों के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध थे।

ईरान—छठी शताब्दी ई० पू० में ईरान एक शक्तिशाली और विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित हो चुका था। ईरान के अतिरिक्त सीरिया, फिनीसिया, मिस्र आदि देश उसमें सम्मिलित थे। ईरानी सम्राट् दारा प्रथम ने स्काइलैक्स नामक व्यक्ति को सिंधु नदी की खोज हेतु भेजा। दारा प्रथम ने सिंधु नदी के तटीय प्रदेश को विजित कर सम्पूर्ण ईरानी साम्राज्य की कुल आय का तिहाई भाग के बराबर राजस्व प्रतिवर्ष वहाँ से प्राप्त किया। दारा के उत्तराधिकारी क्षयार्ष के काल में सूती वस्त्र पहने और बेंत के धनुष तथा लौह फलक के बाण धारण किए हुए भारतीय योद्धाओं ने ईरान की ओर से यूनान के विरुद्ध सामरिक अभियान में भाग लिया। कुछ भारतीय प्रदेशों पर ईरान का प्रभाव स्थापित हो जाने के कारण दोनों देशों के मध्य व्यापारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। चीन वृत्तांतों से ज्ञात होता है कि चौथी शताब्दी तक भारत और ईरान के मध्य व्यापार होता था। वाण हर्ष की अश्वशाला में अनेक ईरानी घोड़ों का उल्लेख करता है।

भारत और ईरान के मध्य सम्पर्क स्थापित हो जाने के कारण दोनों देशों के व्यापार में वृद्धि हुई। भारत के पश्चिमी देशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित

हुए। ईरान ने भारत और यूनान के मध्य एक कड़ी का काम किया। राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी ईरान ने भारत को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया। ईरानी लेखक तबरी के कथन से विदित होता है कि एक भारतीय राजा ने ईरानी सम्राट् खुसरो द्वितीय के दरबार में अपना एक दूत भेजा था। ईरानियों ने शतरंज का खेल भारतीयों से ही सीखा था। सीस्तान (पूर्वी ईरान) में बौद्ध मठों के अनेक खण्डहर मिले हैं। ह्वेनसांग के यात्रा-वृत्तांत से ज्ञात होता है कि ईरान के एक प्रदेश में 100 बौद्ध मठ थे, जिनमें 6000 भिक्षु निवास करते थे। अनेक हिन्दू मन्दिरों का उल्लेख भी मिलता है।

सीरिया—मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य काल में सिल्यूकस सीरिया का शासक था। 305 ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा पराजित हो जाने के पश्चात् सिल्यूकस ने उसके (चन्द्रगुप्त मौर्य के) साथ मैत्री संधि कर ली। तदुपरान्त दोनों के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गये। अशोक महान् ने सीरिया के शासक टालमी से राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये। अशोक ने अनेक धर्म प्रचारकों को बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु सीरिया भेजा। अल्बेरूनी के कथन से विदित होता है कि प्राचीन काल में बौद्ध धर्म का सीरिया में काफी प्रचार हुआ था।

बैक्ट्रिया और पार्थिया—ईरान और सीरिया के अतिरिक्त बैक्ट्रिया और पार्थिया में भी भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। प्राचीन काल में पार्थिया बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा केन्द्र था। बैक्ट्रिया और पार्थिया सीरियाई साम्राज्य के दो प्रान्त थे।

अरब—इस्लाम के उत्कर्ष से पूर्व भारत के अरब से अच्छे सम्बन्ध थे। अरब साहित्य में भारतीय इस्पात की बनी तलवारों का उल्लेख मिलता है। अरब के इत्र की भारत में बहुत माँग थी। अरब में भारत के मसाले खूब बिकते थे। अरब साहित्य में अरब के बन्दरगाह डाबा में प्रतिवर्ष लगने वाले मेले का उल्लेख मिलता है। इस मेले में भारतीय व्यापारी बहुत बड़ी संख्या में भाग लेते थे। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अरबों ने भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर काबुल और जाबुल राज्यों पर अधिकार हेतु तीन बार असफल अभियान किये। बाद में मुहम्मद बिन् कासिम के नेतृत्व में तुर्कों ने सिंध को विजित किया। यद्यपि राजदूत राजाओं के प्रबल प्रतिरोध के कारण तुर्क सिन्ध से आगे नहीं बढ़ पाये तथापि वे सिंध में बने रहे। सिंध और मुल्तान पर अरबों का राज्य स्थापित हो जाने के कारण अनेक अरब यात्री, व्यापारी तथा इस्लाम धर्म के प्रचारक भारत की यात्रा पर आये। उन्होंने भारत विषयक ज्ञान को लिपिबद्ध किया और उसका अपने देश में प्रचार किया। अरबों ने बहुत-सी बातें भारतीय संस्कृति से ग्रहण कर लीं। भारतीय साहित्य और विज्ञान ने अरबों को प्रभावित किया। मुस्लिम सभ्यता के केन्द्र बगदाद के लोगों ने भारतीय ज्योतिष विद्या, चिकित्सा शास्त्र, औषधि विज्ञान, गणित तथा नक्षत्र विद्या के क्षेत्र में अनेक बातें सीखीं। भारतीय कलाओं ने भी अरबों को प्रभावित किया। अरब आधिपत्य के समय सिंध व्यापार का एक प्रसिद्ध केन्द्र बन

गया। जल और स्थल मार्गों से सिंध का मुस्लिम देशों के साथ व्यापार होने लगा। एच० जी० वैल्स का कथन है कि अरबों को ज्ञान का दीपक भारत से प्राप्त हुआ था। मुस्लिम संस्कृति के केन्द्र के रूप में बगदाद ने काफी ख्याति अर्जित की। वहाँ व्यापक स्तर पर भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। संस्कृत के प्रसिद्ध कथा-संग्रह का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया। अरबों ने भारतीय चिकित्सा-शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, निदान, अष्टांग आदि का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया। ब्रह्मगुप्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' और 'खण्ड खाद्यक' का भी अरबी भाषा में अनुवाद किया गया। भारतीय अंक और दशमलव प्रणाली का अरब में खूब प्रसार हुआ। आठवीं शताब्दी में खलीफा हारून-अल-रशीद ने उच्च कोटि के भारतीय विद्वानों को बगदाद में आमन्त्रित किया। बौद्ध धर्म ने भी मुसलमानों को प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति के प्रभावस्वरूप आलअलमारी (973-1053 ई०) शाकाहारी होकर एकान्त जीवन व्यतीत करने लगा।

मिस्र, यूनान और रोम में भारतीय संस्कृति का प्रसार

मिस्र—मिस्र और भारत के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध बहुत पुरातन थे। प्रारम्भ में मिस्र तक पहुँचने का मार्ग बहुत दुर्गम था, किन्तु बाद में सिकन्दर महान् व टॉलमी के प्रयासों से यह मार्ग पहले की अपेक्षा काफी सुगम हो गया था। प्रारम्भ में भारत और मिस्र के व्यापारी लाल सागर के तट पर स्थित अदन के बन्दरगाह पर व्यापार के लिए एकत्रित होते थे, परन्तु कालान्तर में भारतीय तथा मिस्री जहाज एक-दूसरे के बन्दरगाह पर पहुँचने लगे। दोनों देशों के मध्य घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है। यह भी सम्भावना व्यक्त की गई है कि अशोक महान् ने बौद्ध धर्म प्रचारक मिस्र भेजे थे।

यूनान—सर्वप्रथम भारतीय और यूनानी संस्कृतियों के मध्य सम्पर्क का श्रेय ईरान को दिया जा सकता है। ईरान ने भारत और यूनान के मध्य एक कड़ी का काम किया। कहा जाता है कि ईरान की राजधानी में यूनानियों और भारतीयों का जमघट रहता था। फलतः भारतीय और यूनानी एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आये और उनमें व्यापारिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में आदान-प्रदान हुआ। यह भी कहा जाता है कि 400 ई० पू० में एक भारतीय दार्शनिक ने एथेन्स की यात्रा कर तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् सुकरात से धर्म और ज्ञान के क्षेत्र में वार्ता की थी। स्पष्ट हो जाता है कि सिकन्दर महान् के विजय अभियान से पूर्व भारतीय और यूनानी ईरान के माध्यम से एक-दूसरे के सम्पर्क में आ चुके थे। बाद में सिकन्दर, सिल्यूकस, एंटियोकस तृतीय, डिमेट्रियस, युक्रेटाइडीज और मिनेण्डर के भारतीय अभियानों ने भारतीयों और यूनानियों को अधिक निकट लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सिकन्दर उन्नीस महीने भारत में रहा। इस अवधि में उसने अनेक भारतीय प्रदेशों को विजित कर वहाँ अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये थे। उसके भारत अभियान

के समय अनेक यूनानी भारत में बस गये थे और कालान्तर में वे भारतीयों के निकट सम्पर्क में आये। भारतीयों और यूनानियों के इस सम्पर्क के फलस्वरूप यूनानियों ने ज्योतिष, नक्षत्र विद्या और मूर्तिकला के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। भारतीय धर्म और दर्शन ने यूनानियों को प्रभावित किया।

305 ई० पू० चन्द्रगुप्त मौर्य के पराजित हो जाने के पश्चात् सीरिया के यूनानी शासक सिल्यूकस ने मेगस्थनीज नामक राजदूत मौर्य दरबार में भेजा। इसी प्रकार सिल्यूकस के उत्तराधिकारी ने डाइमेकस और मिस्र के यूनानी टॉलमी फिलाडेल्फस ने डायोनीसिस नामक यूनानी राजदूत मौर्य दरबार में भेजे। इन तीनों राजदूतों ने यूनानियों के भारत विषयक ज्ञान के लिए ग्रन्थों की रचना की। मेगस्थनीज कृत 'इण्डिका' इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि मौर्य सम्राट् बिंदुसार ने सीरिया के शासक एन्टियोकस को एक पत्र लिखा था जिसमें कुछ अंजीर, शराब तथा एक सोफिस्ट दार्शनिक भारत भेजने को कहा गया था। सम्राट् अशोक महान् के शिलालेखों में पाँच यूनानी राजाओं का उल्लेख किया गया है। कहा जाता है कि सम्राट् अशोक ने धर्म-प्रचारक भेजकर उनके (यूनानी) राज्यों में बौद्धधर्म का प्रचार किया था। भारतीय शासकों ने भी अपने दूतमण्डल यूनानी राज्यों में भेजे थे।

रोम—रोम साम्राज्य की स्थापना के फलस्वरूप पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित हो गई। पहली शताब्दी से छठी शताब्दी तक रोम के साथ भारत के घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे। दोनों देशों के व्यापारी सिकन्दरिया में मिलते थे। भारत से रोम को काली मिर्च, मसाले, मलमल, इत्र, मोती, बहुमूल्य मणियाँ आदि वस्तुएँ निर्यात की जाती थीं। रोमन लेखक प्लिनी के अनुसार, इन वस्तुओं के बदले भारत को रोम से प्रति वर्ष 5,00,000 पौण्ड (सोने के सिक्के) प्राप्त होते थे। रोम से भारी मात्रा में सोना भारत में पहुँच रहा था जिस पर प्लिनी ने चिन्ता व्यक्त की थी। दक्षिण भारत में रोम के सम्राटों के अनेक सिक्के मिले हैं। भारतीय राजाओं ने रोम के सम्राट् आगस्टस, जस्टीयन आदि के दरबार में दूत भेजे थे। भारत और रोम के मध्य स्थापित व्यापारिक सम्बन्धों ने सांस्कृतिक क्षेत्र में भी आदान-प्रदान किया।

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार

चीन, भारत तथा ईरान के मध्य स्थित प्रदेश मध्य एशिया कहलाता है। इसके अन्तर्गत काशगर, यारकंद, खोतान, शानशान, तुर्फान, कूची, करशहर (अग्निदेश) आदि राज्यों की गणना की जाती है।

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रचार और प्रसार हुआ। भारत और पश्चिमी एशिया के मध्य जो सम्बन्ध थे वे प्रधानतया व्यापारिक थे, परन्तु मध्य एशिया के साथ भारत के सम्बन्ध सांस्कृतिक थे। मध्य एशिया की खुदाई में जो अवशेष प्राप्त हुए हैं वे भारतीय संस्कृति के सबल प्रमाण हैं। खुदाई में चैत्य, मन्दिर,

भित्ति चित्र, हस्तलिपियाँ तथा अभिलेख मिले हैं। ये सभी अवशेष मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार के द्योतक हैं।

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रचार और प्रसार का सर्वप्रथम श्रेय सम्राट् अशोक महान् को दिया जाता है। उसने मध्य एशिया के देशों में धर्म-प्रचारकों को भेजकर बौद्धधर्म का प्रचार किया। उत्तरी-पश्चिमी सीमा से हिन्दूकुश को पारकर अनेक भारतीय बौद्ध प्रचारक मध्य एशिया में प्रविष्ट हुए।

विशाल मौर्य-साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारतवर्ष की राजनीतिक एकता एक बार पुनः खण्डित हो गई। मध्य एशिया से सम्बद्ध यूनानी, शक, पल्हव और यूची जाति ने भारत को विजित कर लिया। भारत पर उनका प्रभुत्व स्थापित हो जाने के कारण मध्य एशिया में भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रसार स्वाभाविक था। गुप्तों के आविर्भाव से पूर्व बौद्ध धर्म मध्य एशिया में प्रतिष्ठित हो चुका था। वहाँ के राज्यों ने भारतीय लिपि ब्राह्मी को अपनाया और अभिजात वर्ग के लोगों ने संस्कृत भाषा का ज्ञान अर्जित किया। मध्य एशिया में स्तूपों, विहारों और गांधार कला शैली से प्रभावित मूर्तियों के अवशेष तथा संस्कृत और पाली भाषा के अनेक ग्रन्थ मिले हैं। मध्य एशिया के राज्यों के राजाओं के भारतीय नामों से भी विदित होता है कि वहाँ के लोगों पर भारतीय संस्कृति का व्यापक प्रभाव था।

प्राचीन काल में मध्य एशिया में काशगर, यारकंद, खोतान, कूची और काराशहर (अग्निदेश) नामक प्रसिद्ध भारतीय राज्यों का उल्लेख मिलता है। मध्य एशिया के उत्तर में स्थित कूची और दक्षिण में स्थित खोतान प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति के प्रमुख केन्द्र थे। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के शब्दों में, "मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशों में खोतान और कूची प्रधान थे। तकलामकान के दक्षिण में स्थित भारतीय उपनिवेशों में खोतान सबसे शक्तिशाली एवं समृद्ध था और उत्तर में कूची।"

काशगर—काशगर बल्ख से चीन जाने वाले मार्ग पर स्थित था। प्राचीन काल में काशगर एक प्रसिद्ध नगर था। काशगर से चीन जाने वाले मार्ग पर अनेक मन्दिर, मूर्तियाँ और भित्तिचित्र मिले हैं। काशगर में बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का व्यापक प्रभाव था। काशगर का राजा तथा वहाँ की प्रजा महायान धर्म का अनुसरण करते थे। प्राचीन काल में काशगर में एक प्रसिद्ध बौद्ध विहार था। काशगर में पंचवर्षीय बौद्ध महोत्सव मनाया जाता था।

खोतान—मध्य एशिया के दक्षिण में स्थित खोतान राज्य प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि अशोक का पुत्र कुस्तन (कुणाल) अपनी विमाता के अत्याचारों से पीड़ित होकर खोतान चला गया और वहाँ उसने एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य स्थापित कर लिया। तत्पश्चात् उसके वंशज विजितसम्भव, विजितधर्म, विजितकीर्ति, विजितसिंह आदि राजाओं ने शासन किया। विजितसम्भव इस वंश का सर्वाधिक प्रबल शासक था। कुणाल के वंश ने आठवीं शताब्दी तक खोतान में राज्य किया।

विजितसम्भव के राज्य काल में वैरोचन नामक आचार्य ने खोतान में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। खोतान का गोमती विहार मध्य एशिया का सबसे बड़ा बौद्ध विहार था। फाहियान के विवरण से ज्ञात होता है कि गोमती विहार में 3000 भिक्षु निवास करते थे। यह बौद्ध शिक्षा का सर्वोच्च केन्द्र था। गोमती विहार के अतिरिक्त खोतान में 14 अन्य बड़े विहार थे जिनमें 'नव विहार' का नाम उल्लेखनीय है। 'नव विहार' के निर्माण में 80 वर्ष लगे थे। फाहियान के कथन से विदित होता है कि खोतान की जनता प्रति वर्ष महात्मा बुद्ध की प्रतिमा का एक सुन्दर जलूस निकालती थी जिसका नेतृत्व गोमती विहार के बौद्ध भिक्षु करते थे। फाहियान के विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय खोतान में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव था और महायान सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय था। खोतान में बौद्ध धर्म की दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ मिली हैं। खोतान से 13 मील दूर एक स्थान पर धम्मपद की पाण्डुलिपि मिली है। खोतान में कुछ ऐसे बौद्ध ग्रन्थ मिले हैं जो भारत में भी अप्राप्य थे। गोमती विहार के बौद्ध भिक्षुओं ने अनेक धर्म-ग्रन्थों की रचना की। खोतान में महात्मा बुद्ध की 18 मीटर से 21 मीटर तक ऊँची अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। धर्म ग्रन्थों में संस्कृत और प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया है। इन ग्रन्थों की लिपि ब्राह्मी अथवा खरोष्ठी है।

खोतान के राजाओं के भारतीय नाम, बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार तथा संस्कृत और प्राकृत भाषा में धर्म ग्रन्थों की रचना एवं ब्राह्मी लिपि का प्रयोग आदि ऐसे प्रमाण हैं जो निर्विवाद रूप से वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रसार की पुष्टि करते हैं।

कूची—मध्य एशिया के उत्तर में स्थित कूची भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। कूची मध्य एशिया का एक प्रमुख राज्य था। चौथी शताब्दी तक अनेक भारतीय वहाँ चले गये थे। कहा जाता है कि कुमारजीव के पिता कुमारायण ने भारत से खूची को प्रस्थान किया। उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर कूची के राजा ने उसे (कुमारायण को) अपना राजगुरु नियुक्त किया। कुछ दिनों बाद कुमारायण ने राजा की बहिन जीवा से विवाह कर लिया। जीवा से उत्पन्न पुत्र का नाम कुमारजीव था। कुमारजीव ने भारत और काशगर में चारों वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, दर्शन शास्त्र और ज्योतिष का गहन अध्ययन किया। कुमारजीव संस्कृत और चीनी दोनों भाषाओं का उत्कृष्ट विद्वान था। उसने भारत, मध्य एशिया और चीन पर अपनी विद्वात्ता की अमिट छाप छोड़ी। कुमारजीव ने 401 से 412 ई० तक चीन की राजधानी में रहकर संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

कूची में भारतीय उपनिवेश स्थापित हो जाने के फलस्वरूप वहां भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ। वहाँ के राजा तथा प्रजा ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। वहाँ के राजाओं ने भारतीय नाम (सुवर्णपुष्प, हरिपुष्प, हरदेव, सुवर्णदेव आदि) धारण किए। कूची में संस्कृत भाषा पढ़ाई जाती थी। भारतीय ज्योतिष और आयुर्वेद के ग्रन्थ भी पढ़ाये जाते थे। चौथी शताब्दी ई० तक कूची में बौद्धधर्म काफी

लोकप्रियता अर्जित कर चुका था। उस समय तक कूची में बौद्ध स्तूपों और मन्दिरों की संख्या लगभग 10,000 थी। ह्वेन्सांग कूची में भारतीय संगीत के व्यापक प्रभाव का उल्लेख करता है। कूची में भिक्षुणियों के मठों का भी उल्लेख मिलता है। कूची के बौद्ध भिक्षुओं ने चीन में बौद्धधर्म का प्रचार किया। ह्वेन्सांग कूची के सौ मठों का उल्लेख करता है जहां 5000 भिक्षु निवास करते थे। नगर के बाहर बुद्ध की 90 फीट ऊँची दो मूर्तियाँ थीं।

काराशहर—कूची के समीप काराशहर (अग्निदेश) भारतीयों की एक अन्य महत्त्वपूर्ण बस्ती थी। इसका प्राचीन नाम अग्निदेश था। बाद में काले भद्दे मकानों के कारण वह काराशहर के नाम से जाना जाने लगा। काराशहर का पूर्णतः भारतीयकरण हो चुका था। वहां के राजाओं ने भारतीय नाम (इन्द्रार्जुन, चंद्रार्जुन आदि) धारण किए। ह्वेन्सांग के समय काराशहर के संघारामों में हीनयान सम्प्रदाय के 200 भिक्षु निवास करते थे।

तुर्फान—तुर्फान का प्राचीन नाम काओ शांग था। पाँचवीं शताब्दी से 1420 ई० तक वहां बौद्धधर्म का प्रभाव व्याप्त था। तुर्फान में संस्कृत भाषा के अनेक ग्रन्थ मिले हैं। वहां धार्मिक स्थलों की अधिकता थी।

उपरोक्त राज्यों के अतिरिक्त मध्य एशिया के अन्य देशों में भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार हुआ। मध्य एशिया में महायान सम्प्रदाय ने लोकप्रियता अर्जित कर ली थी। वहाँ पाये गये सिक्कों पर कुबेर, त्रिमुख और गणेश के नाम तथा चित्र अंकित हैं। 8वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक मध्य एशिया के विभिन्न देशों में भारतीय संस्कृति फलती-फूलती रही। तदुपरान्त 8वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मध्य एशिया में इस्लाम ने प्रवेश किया। इस्लाम की असहिष्णुता की नीति के कारण मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति तेजी से विलुप्त हो गई।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार

दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्बोडिया, चम्पा, बर्मा, स्याम, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि द्वीप आते हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया अपनी सम्पन्नता के कारण प्राचीन काल में 'सुवर्ण भूमि' के नाम से विख्यात था। यहां गरम मसाले, स्वर्ण, बहुमूल्य धातु और खनिज प्रचुर मात्रा में पाये जाते थे। दूसरी शताब्दी से पांचवीं शताब्दी तक दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय धर्म, साहित्य, भाषा, लिपि, सामाजिक मान्यताओं और संस्कृति का खूब प्रसार हुआ। विद्वानों ने इसे भारत की सांस्कृतिक विजय की संज्ञा दी है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिए अनेक कारण उत्तरदाई थे। व्यापारियों की धन-प्राप्ति की लालसा, भारतीय राजकुमारों की साम्राज्यवादी लिप्सा और विद्वान भिक्षुओं की धर्म-प्रचार की भावना के फलस्वरूप दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार हुआ। उक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु दक्षिण-पूर्वी एशिया में न केवल उपनिवेश बसाये गये, अपितु अनेक

स्वतन्त्र हिन्दू-राज्यों की स्थापना भी की गई । साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से विदित होता है कि दूसरी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक दक्षिण पूर्वी एशिया में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर अनेक भारतीय राजवंशों ने शासन किया। 1200 ई० तक दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति का व्यापक प्रसार था। इस सन्दर्भ में यह कथन उल्लेखनीय है कि सन् 1200 ई० तक दक्षिण-पूर्वी एशिया का इतिहास भारतीय आदर्शों तथा धार्मिक सिद्धान्तों के सांस्कृतिक विकास की कहानी है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में 'सुवर्ण भूमि' का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मिलिन्दपन्हो, जातक कथाओं, बृहत्कथा आदि में सुवर्ण भूमि से सम्बन्धित वर्णन दृष्टिगोचर होता है। प्रारम्भ में सुवर्ण भूमि (दक्षिण-पूर्वी एशिया) से सम्पर्क स्थापना का प्रमुख कारण व्यापारिक लालसा थी। जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापारी वहाँ जाते थे। कालान्तर में ये व्यापारिक सम्बन्ध राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों में परिणत हो गये। अतः भारतीयों ने वहाँ अपनी संस्कृति का प्रसार किया और अवसर मिलने पर राजनीतिक सत्ता भी हथिया ली।

चम्पा—चम्पा-राज्य हिन्दचीन के पूर्वी तट पर स्थित था। इसमें आधुनिक अनाम सम्मिलित था। डॉ० जायसवाल का कथन है कि चम्पा का उल्लेख वायुपुराण में अंगद्वीप के नाम से हुआ है। ईलियट के अनुसार चम्पा में हिन्दूवंश की स्थापना 150 से 200 ई० के मध्य में हुई। दूसरी शताब्दी में चम्पा में श्रीमार नामक भारतीय ने एक नवीन राजवंश की स्थापना की थी। इसी वंश के प्रसिद्ध राजा भद्रवर्मा ने माइसोन नामक स्थान पर एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था। भद्रवर्मा को चीन के विरुद्ध सामरिक अभियान में सफलता मिली थी। भद्रवर्मा का उत्तराधिकारी गंगाराज राज्य का परित्याग कर भारत में गंगा नदी के तट पर तप हेतु चला गया। आठवीं शताब्दी में श्रीमार-वंश का अन्त हो गया। तत्पश्चात पांडुरंग-वंश (757-860 ई०) और भृगुवंश (860-985 ई०) ने शासन किया। भृगु-वंश का राजा इन्द्र तृतीय (911-972 ई०) अपने समय का प्रसिद्ध विद्वान था।

चम्पा भारतीय संस्कृति से विशेष प्रभावित हुआ। वहाँ के शासकों ने भारतीय नाम धारण किए। भद्रवर्मा, पृथ्वीचन्द्रवर्मा, इन्द्रवर्मा तृतीय, जयपरमेश्वरदेव, ईश्वरमूर्ति, रुद्रवर्मा, जयइन्द्रवर्मा आदि नरेशों ने भारतीय नाम धारण किए। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप चम्पा का समाज चार वर्णों में विभक्त था। समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। ब्राह्मण की हत्या धर्म-विरुद्ध कृत्य समझा जाता था। चम्पा के निवासी उत्सव मनाते थे और भारतीय वेषभूषा धारण करते थे। समाज में सती-प्रथा प्रचलित थी। विवाह संस्कार और मृतक संस्कार दोनों भारतीय विधान के अनुरूप थे।

चम्पा की भाषा, लिपि और साहित्य पर भारत का व्यापक प्रभाव था। वहाँ की राजभाषा संस्कृत थी। चम्पा के अभिलेख संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में

उल्लिखित हैं। वहां के निवासी पाणिनिकृत व्याकरण, वैदिक साहित्य, स्मृतियों, पुराणों, महाकाव्यों, शैव, वैष्णव एवं बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन करते थे।

चम्पा के निवासी भारत में प्रचलित वैष्णव, शैव और बौद्धधर्म के अनुयाई थे। शैव धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय था। चम्पा-राज्य में शिव प्रतिमा और शैव मन्दिरों का बाहुल्य था। चम्पा के राजा भद्रवर्मा ने माइसोन में शिव का एक प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया था जिसे अनेक राजाओं ने दान दिया। डॉ० मजूमदार द्वारा वर्णित 130 अभिलेखों में से 92 अभिलेख शिव के वर्णन से सम्बन्धित हैं। शिव के अतिरिक्त सरस्वती, लक्ष्मी, विष्णु, ब्रह्मा, राम, कृष्ण, गणेश, इन्द्र, यम, सूर्य आदि हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित थी। भारतीय राजाओं की भाँति चम्पा के नरेश धार्मिक सहिष्णु थे। यहाँ के मन्दिरों पर बादामी के चालुक्य राजाओं के मन्दिरों का प्रभाव है।

फूनान—फूनान-राज्य आधुनिक कम्बोडिया में स्थित था। कहा जाता है कि प्रथम शताब्दी में कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण ने फूनान में प्रवेश कर वहां हिन्दू राज्य की स्थापना की। उसने फूनान की रानी सोम से विवाह किया। तत्पश्चात अनेक भारतीय फूनान जाकर वहां बस गये। कौण्डिन्य के प्रवेश से पूर्व फूनान के निवासी असभ्य थे। वे नग्न मुद्रा में रहते थे। भारतीयों ने उनके हृदय में सभ्यता का संचार किया और उन्हें वस्त्र पहनना सिखाया। कौण्डिन्य के सौ वर्ष पश्चात फान-चे-मान ने एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली, जिसमें स्याम, लाओस और मलाया प्रायद्वीप के भी कुछ भाग सम्मिलित थे। पाँचवीं शताब्दी में फूनान में कौण्डिन्य के वंशज जयवर्मा ने शासन किया। उसके पुत्र रुद्रवर्मा ने संस्कृत भाषा में अनेक अभिलेख उत्कीर्ण करवाए। फूनान में संस्कृत ने राजभाषा का स्वरूप प्राप्त किया। वहाँ हिन्दू धर्म और जाति प्रथा प्रचलित थी। अभिलेखों से विदित होता है कि फूनान में शैव धर्म, वैष्णव धर्म और बौद्ध धर्म प्रचलन में था। फूनान के राजाओं के चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध थे। रुद्रवर्मा के पश्चात फूनान की शक्ति क्षीण पड़ गई। अतः कम्बुज राज्य के राजा ने उसे विजित कर अपने राज्य में मिला लिया।

कम्बुज—कम्बुज राज्य वर्तमान कम्बोडिया के उत्तरी भाग में स्थित था। कम्बुज पहले फूनान-राज्य के अधीन था। किन्तु बाद में उसने न केवल अपनी स्वतन्त्रता घोषित की बल्कि फूनान को भी विजित कर लिया। सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक उस राज्य का तीव्र विकास हुआ और पन्द्रहवीं शताब्दी तक यह समृद्धिशाली रहा। जयवर्मा द्वितीय, यशोवर्मा, सूर्यवर्मा और जयवर्मा कम्बुज के प्रसिद्ध राजा थे। यशोवर्मा का राज्यकाल कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उसने यशोधरपुर नामक नगर बसाया और कई आश्रमों की स्थापना की। सूर्यवर्मा अत्यन्त प्रतापी राजा था। उसके विशाल सैन्य दल में हाथियों की संख्या दो लाख थी। वह न केवल एक विजेता अपितु निर्माता भी था। उसने अंगकोरवाट का जगप्रसिद्ध मन्दिर निर्मित करवाया। जयवर्मा सप्तम कम्बुज का अन्तिम महान शासक था।

उसने अंगकोरथोम का निर्माण कराया। पन्द्रहवीं शताब्दी में कम्बुज-राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया और अन्त में फ्राँसीसियों ने उस पर अधिकार कर लिया।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्बुज भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। वहां के निवासियों ने हिन्दू सामाजिक-व्यवस्था को अंगीकार कर लिया था। समाज में ब्राह्मणों को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। कम्बुज के राजाओं ने अनेक आश्रमों की स्थापना की जो शिक्षा और ज्ञान के प्रसिद्ध केन्द्र थे। यशोवर्मा ने 100 आश्रमों की स्थापना की थी। कम्बुज-राज्य में वेद, पुराण, स्मृतियों, महाकाव्य आदि हिन्दू धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया जाता था। नगरों और पुरुषों के नाम भारतीय रखे जाते थे। विक्रमपुर, ध्रुवपुर, ताम्रपुर और अध्यपुर कम्बुज-राज्य के प्रमुख नगर थे। कम्बुज-राज्य की राजभाषा संस्कृत थी। वहाँ के राजाओं ने संस्कृत भाषा में अपने लेख उत्कीर्ण करवाए। लोग शैव धर्म, वैष्णव धर्म और बौद्ध धर्म के अनुयाई थे। कम्बुज की कला पर भारतीय कला की अमिट छाप है। डॉ० कुमारस्वामी का कथन है कि कम्बुज की इमारतें गुप्त शैली पर आधारित थीं। अंगकोरवाट का विष्णु-मन्दिर (यह संसार का सबसे बड़ा मन्दिर है) और अंगकोर-थोम का शिव मन्दिर कम्बुज की कला की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ हैं। अंगकोरवाट मन्दिर की कला की प्रशंसा करते हुए रॉलिसन ने लिखा है—"यदि ख्मेरों ने केवल यही एक-मात्र स्मारक ही बनाया होता तो भी उनका नाम संसार के महत्तम कलाकारों में लिया जाता, क्योंकि उसकी शिल्प-कला अत्यधिक परिपूर्ण है और कला अत्यधिक दुर्लभ है।" अंगकोरवाट का मन्दिर भारतीय कला के अनुरूप है। मन्दिर की दीवारों पर देवी-देवताओं के अत्यन्त सुन्दर और मनोहर चित्र बने हुए हैं। कम्बुज-राज्य की नई राजधानी अंगकोरथोम नामक नगर संसार के विशाल नगरों में से एक था।

मलाया—चौथी-पाँचवीं शताब्दी में मलाया में प्रविष्ट हुए भारतीयों ने अनेक उपनिवेश स्थापित किए। भारतीयों ने इन उपनिवेशों में अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार किया। डॉ० मजूमदार ने मलाया को सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति का प्रवेश-द्वार कहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रथम शताब्दी ई० में ही मलाया में लिगोर में एक हिन्दू-राज्य की स्थापना हो चुकी थी।

आठवीं शताब्दी में मलाया में शैलेन्द्र वंश अस्तित्व में आया। मलाया में शैलेन्द्र-वंश की स्थापना का श्रेय कलिंग से आये हुए शैलेन्द्र वंश को दिया जाता है। मलाया के शैलेन्द्र राजाओं ने मलाया के अतिरिक्त जावा, सुमात्रा तथा अन्य द्वीपों पर भी अधिकार कर लिया। उन्होंने चम्पा और कम्बुज के राजाओं को नतमस्तक किया। मलाया के शैलेन्द्र वंश में अनेक प्रतापी राजा हुए। उन्होंने महाराज की उपाधि धारण की। अरब व्यापारियों ने उनकी शक्ति और वैभव की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। शैलेन्द्र राजाओं की आय दो सौ मन सोना प्रति दिन थी।

दसवीं शताब्दी में शैलेन्द्र राजाओं की शक्ति क्षीण पड़ने लगी। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए कम्बुज और जावा ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी। ग्यारहवीं शताब्दी में चोल नरेश राजेन्द्र चोल ने उन्हे पराजित कर अपनी

अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। बाद में स्याम भी स्वतंत्र हो गया। इस प्रकार शैलेन्द्र शासकों का राज्य केवल मलाया प्रायद्वीप के छोटे भू-भाग तक ही सीमित रह गया था। 1474 ई० में मुसलमानों ने शैलेन्द्र राज्य का अन्त कर दिया।

चौथी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक मलाया में हिन्दू संस्कृति की प्रधानता रही। मलाया प्रायद्वीप को भारतीय संस्कृति ने व्यापक स्तर पर प्रभावित किया। वहां के निवासियों ने भारतीय नाम धारण किए, जैसे भागदत्त,श्रीविष्णुवर्मन्, बुद्धगुप्त, आदि। मलाया के अभिलेख संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण हैं, वहां के लोग शैव धर्म, वैष्णव धर्म और बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। विष्णु, शिव, दुर्गा, नंदी, गणेश आदि देवी-देवताओं की बहुसंख्यक प्रतिमाएँ मिली हैं। शैलेन्द्र राजा महायान संप्रदाय के अनुयाई थे। उन्होंने जावा में जग-प्रसिद्ध बोरोबुदुर का बौद्ध स्तूप बनवाया। इसमें 432 बुद्ध प्रतिमाएं तथा बुद्ध जीवन से संबंधित 1500 घटनाओं के चित्र अंकित हैं।

जावा—जावा का प्राचीन नाम यवद्वीप था। रामायण में यवद्वीप का उल्लेख मिलता है। ऐतिहासिक साक्ष्यों से विदित होता है कि लगभग द्वितीय शताब्दी में कलिंग राज्य से गये हुए भारतीयों ने जावा में उपनिवेश की स्थापना की। चीनी ग्रन्थों से जावा के राज्यों की संख्या दस विदित होती है। चीनी साक्ष्य द्वितीय शताब्दी में जावा में हिन्दू राज्य का उल्लेख करते हैं। 132 ई० में जावा के राजा देववर्मा ने अपना एक दूत मण्डल चीन भेजा था। 414 ई० में चीनी यात्री फाहियान अपनी भारत यात्रा के उपरांत जावा होते हुए स्वदेश लौटा। उसने लगभग पांच माह जावा में निवास किया। उसके विवरण से विदित होता है कि उस समय जावा में भारतीयों की संख्या बहुत अधिक थी। पांचवीं शताब्दी में कश्मीर के राजा संघानन्द के पुत्र गुणवर्मा ने जावा में बौद्धधर्म का प्रचार किया, छठी शताब्दी में जावा में पूर्णवर्मा नामक राजा राज्य करता था। उसके संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण चार अभिलेख प्राप्त हुए हैं। आठवीं शताब्दी में सन्नह नामक राजा जावा में राज्य करता था। इस वंश के संजय नामक पराक्रमी राजा ने संपूर्ण जावा और बाली पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। संजय की मृत्यु के उपरांत जावा शैलेन्द्र-वंश के आधिपत्य में आ गया। शैलेन्द्रों के पराभव की अवधि में विजय नामक व्यक्ति ने जावा में अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर दी। राजसनगर इस वंश का प्रतापी राजा था। उसने जावा, बोर्नियो, सुमात्रा और मलाया के अधिकांश प्रदेशों को विजित कर अधिकृत कर लिया। चौदहवीं शताब्दी में जावा में मजपहित साम्राज्य का उत्कर्ष हुआ। उन्होंने संपूर्ण सुवर्ण द्वीप को अधिकृत कर लिया। पन्द्रहवीं शताब्दी में जावा पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। 1522 ई० में जावा का राजा स्वधर्म की रक्षा हेतु बाली चला गया। जावा के राजाओं के चीन के साथ कूटनीतिक संबंध थे।

जावा को भारतीय संस्कृति ने बहुत प्रभावित किया। वहां के राजाओं ने भारतीय नाम धारण किए। समाज में वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी, स्त्रियों को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। पर्दा-प्रथा न थी। संस्कृत को राजभाषा का

सम्मान प्राप्त था। पुरुषों में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। पुरुषों के अतिरिक्त स्त्री-शासन का उल्लेख भी मिलता है। जावा में वेद, पुराण, महाकाव्य और बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया जाता था। जावा में ब्राह्मण धर्म की प्रधानता थी। दुर्गा, लक्ष्मी, विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि देवी-देवताओं की उपासना की जाती थी। बुद्ध और बोधिसत्त्वों की पूजा भी प्रचलित थी। जावा का सर्वाधिक प्रसिद्ध स्मारक शैलेन्द्र वंशी राजाओं द्वारा निर्मित बोरोबुदुर का बौद्ध स्तूप है। यह स्तूप नौ वृत्ताकार चबूतरों पर बना है। चबूतरों पर आने-जाने के लिए सीढ़ियाँ और बरामदे बने हुए हैं। इस स्तूप पर महात्मा बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियां अंकित हैं। डॉ० वोगल ने बोरोबुदुर के बौद्ध स्तूप की कला की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"कला की दृष्टि से बोरोबुदुर अपनी मूर्तिकला के लिए अमूल्य है जो अपनी सुन्दरता में अद्वितीय है। कहीं पर भी बौद्ध ज्ञान और दर्शन को इतने विस्तार और विवरण में मूर्तिकला के माध्यम से नहीं दिखाया गया है। एक निश्चित शैली के कारण वे विशिष्ट हैं जिनमें मानसिक शांति को एक मात्र लालित्य में प्रस्तुत किया गया है।"[1]

बोरोबुदुर के बौद्ध स्तूप के अतिरिक्त चण्डी कलशन, चण्डीमेनदूत, चंडीसारी और चंडीसेवा जावा के प्रसिद्धबौद्ध मंदिर हैं। जावा के श्रेष्ठतम मंदिर प्रम्बनम में हैं। इनमें शिव, ब्रह्मा, दुर्गा, गरुड़, विष्णु, अप्सराएं, सीता-हरण, बालि-वध, सीता से हनुमान की भेंट आदि के चित्र अत्यन्त सुन्दर और मोहक हैं। कलामर्मज्ञ डा० कुमार स्वामी का मत है कि प्रम्बनम के चित्र बोरोबुदुर से अधिक श्रेष्ठ हैं और निश्चय ही कल्पना में अधिक विलक्षण हैं।

सुमात्रा—वर्तमान इण्डोनेशिया में स्थित सुमात्रा द्वीप प्राचीन काल में सुवर्ण द्वीप के नाम से प्रसिद्ध था—चौथी शताब्दी में सुमात्रा में श्री विजय नामक हिंदू राज्य की स्थापना हुई। सातवीं शताब्दी तक यह राज्य समृद्धिशाली था। वहां के राजाओं ने मलाया को अधिकृत कर लिया था। 684 ई० में सुमात्रा में जयनाग नामक बौद्ध राजा राज्य करता था। श्रीविजय राज्य भारतीय धर्म, कला, भाषा और संस्कृति का केन्द्र था। फाहियान सुमात्रा में अनेक ब्राह्मण-बस्तियों का उल्लेख करता है। इत्सिंग के यात्रा-वृत्तान्त में श्रीविजय का उल्लेख एक प्रसिद्ध बौद्ध संस्कृति के केन्द्र के रूप में हुआ है। इस राज्य के राजाओं ने चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए थे।

---

1. "From an artistic point of view the Borobudur is invaluable on account of its sculptures which are unsurpassed in the east for their profusion and beauty. Nowhere do we find a sculptural illustration of Buddhist lore and doctrine so marvellous in its extent and detail. Also, they are distinguished by a definite style in which mental repose is expressed in form of singular gracefulness."

—Dr. Vogel

बोर्नियो—बोर्नियो इण्डोनेशिया का सबसे बड़ा द्वीप है। इसका प्राचीन नाम वरुण द्वीप था। बोर्नियो में चौथी शताब्दी में हिंदू उपनिवेश की स्थापना हुई। वहां के अभिलेखों में कौण्डिन्य, अश्ववर्मा, मूलवर्मा आदि राजाओं का उल्लेख मिलता है। मूलवर्मा एक दानशील शासक था, उसने ब्राह्मणों को 20,000 गायें दान में दीं। संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण बोर्नियो से प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वहां भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार हुआ। समाज में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। बोर्नियो में विष्ण, शिव, गणेश, स्कंद, ब्रह्मा आदि देवताओं की मूर्तियां मिली हैं।

बाली—इण्डोनेशिया के द्वीप बाली में छठी शताब्दी में हिन्दू-राज्य की स्थापना हुई। वहां के राजा कौंडिन्य को अपना पूर्वज मानते थे। 518 ई० में बाली के हिन्दू राजा ने अपना एक दूत चीन भेजा था। इत्सिग के यात्रा-वृत्तांत से विदित होता है कि उसके काल में बाली में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव था। महात्मा बुद्ध के अतिरिक्त विष्णु, शिव, ब्रह्मा, गणेश, दुर्गा आदि देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी। बाली द्वीप के निवासी रामायण और महाभारत की कथाओं से अवगत थे। भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप बाली का समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में विभक्त था। लोग संस्कृत भाषा का ज्ञान अर्जित करते थे। भारतीय संस्कृति के इतिहास में बाली द्वीप का विशेष महत्त्व है। यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल से वर्तमान समय तक बाली में हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव रहा है। इस्लाम धर्म से वह सदैव अप्रभावित रहा।

बर्मा—बर्मा में भारतीय उपनिवेश की स्थापना के सम्बन्ध में अनेक जन-श्रुतियाँ प्रचलित हैं। अशोक महान् के शासन-काल में सोन और उत्तर ने बर्मा में बौद्ध संघ की स्थापना कर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। तदुपरांत 450 ई० में बौद्ध आचार्य बुद्ध घोष ने बर्मा में बौद्धधर्म का प्रचार किया। कलिंग और दक्षिण भारत के निवासियों ने बर्मा में जाकर अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार किया। फलतः बर्मा के निवासियों पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा। पालि भाषा और बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म ग्रन्थों ने बर्मा को बहुत प्रभावित किया। 1442 ई० के एक अभिलेख से विदित होता है कि बर्मा में 295 पालि ग्रन्थों का संग्रह किया गया। बर्मा का 'आनन्द मंदिर' भारतीय कला की श्रेष्ठ कृति है।

स्याम—दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में स्याम में हिंदू-राज्य की स्थापना हुई। वहां के निवासियों ने हिंदू धर्म और बौद्धधर्म को अंगीकार किया। स्यामवासियों ने भारतीय नाम धारण किये तथा वे भारतीय सामाजिक प्रथाओं और धार्मिक उत्सवों को मनाते थे। स्याम में सुखोदय और अयोध्या बौद्धधर्म के प्रसिद्ध केन्द्र थे। वहां पालि भाषा का प्रचार था। वहां की कला पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सोलहवीं शताब्दी तक स्याम में भारतीय संस्कृति का प्रभाव व्याप्त था।

अन्य देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार

पश्चिमी देशों, मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अतिरिक्त अफगानि-

स्तान, तिब्बत, नेपाल, चीन, श्रीलंका, जापान, कोरिया, मंचूरिया, मंगोलिया आदि देशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रसार हुआ, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है--

अफगानिस्तान—अफगानिस्तान और भारत के सम्बन्ध बहुत प्राचीन हैं। वैदिक काल से ही यह (अफगानिस्तान) राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का अंग माना जाता था। ऋग्वेद में काबुल और गोमल आदि नदियों का उल्लेख मिलता है। मौर्य काल में अफगानिस्तान भारत का अंग था। काबुल, हेरात, कंधार और विलोचिस्तान चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस से प्राप्त किए थे। अशोक के शासन काल में अफगानिस्तान मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत था। अशोक महान् का एक शिलालेख अफगानिस्तान में प्राप्त हुआ है। दूसरी शताब्दी के लेखक टॉलमी ने अफगानिस्तान का उल्लेख भारत के एक प्रदेश के रूप में किया है। पार्थियन लोग अफगानिस्तान को 'श्वेत भारत' के नाम से पुकारते थे। ह्वेन्सांग के भारत-भ्रमण के समय काबुल में एक क्षत्रिय राजा शासन करता था। बाद में वहां शाही वंश के हिन्दू शासकों ने राज्य किया। सुबुक्तगीन ने शाही नरेश जयपाल को पराजित कर अफगानिस्तान पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार दीर्घकाल तक भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहने के पश्चात् अफगानिस्तान तुर्क आधिपत्य में आ गया।

वैदिक काल में अफगानिस्तान आर्य संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र में था। तत्पश्चात् वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। पांचवीं शताब्दी में वहां के लोग भारतीय भाषा, भोजन, वस्त्रादि का प्रयोग करते थे। ह्वेन्सांग अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म के प्रचार का उल्लेख करता है। उसने यहाँ अनेक बौद्ध प्रतिमाओं के दर्शन किए थे। अफगानिस्तान में अनेक बौद्ध गुफाओं और बौद्ध मठों का उल्लेख मिलता है। हिन्दू देवी-देवताओं के अनेक मंदिर थे। नवीं शताब्दी तक अफगानिस्तान में भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ। दसवीं शताब्दी में अफगानिस्तान पर सुबुक्तगीन का अधिकार हो जाने के कारण वहाँ भारतीय संस्कृति विलुप्त होने लगी। फ्रांसीसी विद्वान जेम्स डारमिस्टेटर ने अफगानिस्तान में भारतीय संस्कृति के प्रसार के संबंध में लिखा है—"इस भाग (काबुल और सीस्तान) में हिन्दू सभ्यता का ही प्रसार हुआ जो वास्तव में ईसा से दो शताब्दी पूर्व और दो सदी पश्चात् तक श्वेत भारत के नाम से विख्यात था और मुस्लिम विजय से पूर्व ईरानी की अपेक्षा भारतीय ही अधिक था।"[1]

तिब्बत—भारत और तिब्बत के सांस्कृतिक संबंधों का इतिहास वहुत प्राचीन है। सातवीं शताब्दी से पूर्व का तिब्बती इतिहास अंधकार में समाया हुआ है। बैडैल का कथन है कि तिब्बत अपने बर्बर अंधकार से सातवीं शती ई० में बौद्ध धर्म के

---

1. "Hindu civilizatioin prevailed in those parts (Kabul and Seistan), which in fact, in the two centuries before and after Christ, were known as white India and remained more Indian than Iranian till the Musalman conquest."

उदय के साथ प्रकाश में आया। सातवीं शताब्दी से पूर्व तिब्बत छोटी-छोटी सरदारियों में विभक्त था। सातवीं शताब्दी (लगभग 629 ई०) में तिब्बत में स्रांग-सान-गम्पो नामक शक्तिशाली राजा राजगद्दी पर बैठा। उसने नेपाल नरेश अंशुवर्मा की पुत्री से विवाह किया। उसका दूसरा विवाह चीनी राजकुमारी से संपन्न हुआ। तिब्बती राजा की रानी (अंशुवर्मा की पुत्री) बौद्धधर्मानुयायी थी। उसके प्रभाव में आकर स्रांग-सान गम्पो ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। उसने बौद्ध धर्म को राजधर्म के रूप में ग्रहण किया। तत्पश्चात् उसने संभोट तथा सोलह अन्य व्यक्तियों को बौद्ध धर्म ग्रन्थों एवं संस्कृत भाषा के अध्ययन हेतु भारत भेजा। स्वदेश लौटने के पश्चात् उन्होंने संस्कृत भाषा के आधार पर तिब्वती वर्णमाला और व्याकरण तैयार की। अनेक बौद्ध ग्रन्थों का तिब्वती भाषा में अनुवाद किया गया।

स्रांग-सान-गम्पो (स्त्रोङ-गचन-गस्म-पो) के उत्तराधिकारियों में स्त्रोङ-ल्दे-ब्चन का नाम उल्लेखनीय है। वह बौद्ध मतावलंबी था। उसने नालंदा बौद्ध विहार के प्रसिद्ध विद्वान शांत रक्षित को तिब्वत आने के लिए आमंत्रित किया। शांत रक्षित ने तिब्वत में बौद्धधर्म का प्रचार किया और एक भिक्षु संघ की स्थापना की। आचार्य शांत रक्षित के बाद कमलशील, विमलमित्र, धर्मकीर्ति, बुधगुप्त, पद्मसंभव, दीपंकर आदि विद्वानों ने तिब्वत की यात्रा की। विक्रमशीला के उपकुलपति दीपंकर श्रीज्ञान ने तेरह वर्ष तक तिब्वत में बौद्धधर्म का प्रचार किया। 1074 ई० में पंडित गयाधर ने तिब्बत पहुंचकर तिब्वत में भारतीय संस्कृति का प्रसार किया। उन्होंने तिब्बत में पांच वर्ष तक निवास कर अनेक तंत्र-ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। भारत से तिब्बत गये विद्वानों ने अनेक तिब्बती ग्रन्थों का संस्कृत और बौद्ध ग्रन्थों का तिब्वती भाषा में अनुवाद किया। नालंदा विश्वविद्यालय में अनेक तिब्बती अध्ययन करते थे। तिब्बतियों ने भारतीय कला से प्रेरणा लेकर महात्मा बुद्ध की अनेक प्रतिमाएं निर्मित कीं। नालंदा और विक्रमशीला महाविहारों का अनुकरण कर तिब्बत के लोगों ने बौद्ध विहारों की स्थापना की। सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक तिब्वत भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। बौद्ध धर्म वर्तमान समय में भी उसे आलोकित कर रहा है।

नेपाल—सर्वप्रथम सम्राट अशोक ने नेपाल में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और अनेक बौद्ध स्तूप तथा विहार बनवाए। गुप्त सम्राटों ने नेपाल को विजित कर वहां के राजाओं से कर वसूल किया। भारतीय धर्म-प्रचारकों ने नेपाल में शैव धर्म और बौद्ध धर्म का प्रचार किया। काठमाण्डू का पशुपति नाथ मंदिर अत्यधिक प्रसिद्ध है। भारतीय संस्कृति के प्रभावस्वरूप नेपाल में भारत की अनेक सामाजिक मान्यताएँ और धार्मिक प्रथाएँ प्रचलित हो गईं।

लंका—कहा जाता है कि लंका में सर्वप्रथम अयोध्या के राजकुमार रामचन्द्र ने भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। छठी शताब्दी ई० पू० में काठियावाड़ के राजकुमार विजय ने लंका को विजित कर वहाँ भारतीय उपनिवेश की स्थापना की। तत्पश्चात् गुजरात, सौराष्ट्र, बंगाल और दक्षिण से जाकर अनेक भारतीय लंका में

बस गये। मौर्य सम्राट् अशोक महान् ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु लंका भेजा। चोल शासक राजराज प्रथम ने लंका को विजित कर वहां एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया। बौद्ध धर्म ने श्रीलंका को अत्यधिक प्रभावित किया। लंका के साहित्य, धर्म और कला पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान समय में भी लंका में बौद्ध धर्म प्रचलित हैं। लंका में भारतीय संस्कृति के प्रसार के सन्दर्भ में हरिदत्त वेदालंकार ने लिखा है—"लंका में धर्म, साहित्य और कला आदि का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ भारत ने अपना प्रभाव स्पष्ट रूप से अंकित न किया हो।"

चीन—भारत और चीन के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन हैं। महाभारत, मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चीन का उल्लेख मिलता है। यद्यपि प्रारम्भ में भारत-चीन सम्बन्ध केवल व्यापारिक थे तथापि कालांतर में उनकी परिणति सांस्कृतिक सम्बन्धों में हो गई।

चीनी साक्ष्यों से विदित होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० में चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया गया। किन्तु वह असफल सिद्ध हुआ। लगभग दूसरी शताब्दी ई० पू० में बौद्ध धर्म चीन में प्रविष्ट हो चुका था। 68 ई० में हानवंश के चीनी शासक मिंगती के निवेदन पर धर्मरत्न और कश्यप मातंग बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने हेतु चीन पहुँचे। डॉ० चाउ सियांग का मत है कि बौद्धों ने चीन में व्यवस्थित रूप से धर्म प्रचार का कार्य दूसरी शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ किया। छठी शताब्दी तक बौद्ध धर्म चीन में काफी लोकप्रियता अर्जित कर चुका था। तांग-वंश का शासनकाल (617-907 ई०) चीन में बौद्ध धर्म का स्वर्ण युग माना जाता है। इस काल में बौद्ध धर्म ने चीन में राजधर्म का स्वरूप ग्रहण कर लिया था। बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अध्ययन तथा बौद्ध तीर्थ-स्थलो की पवित्र यात्रा हेतु अनेक चीनी विद्वान् कष्ट झेलते हुए भारत में प्रविष्ट हुए जिनमें फाह्यान, ह्वेन्सांग और इत्सिंग के नाम उल्लेखनीय हैं। धर्मरक्ष, कुमारजीव, पुण्यत्रात, बुद्धजीव, बुद्धवर्मन, बुद्धयश, संगभूति, धर्मयश, गुणवर्मन, गुणभद्र, ज्ञानभद्र, यशोगुप्त, प्रभाकर मित्र, वज्रबोधि, अमोघवज्र, धर्मदेव, सुधाकर सिंह आदि भारतीय बौद्ध विद्वान् बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु चीन गये। उन्होंने बौद्ध धर्म के अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन में बौद्ध धर्म के व्यापक प्रचार के सम्बन्ध में डॉ० हू शीह का यह कथन उल्लेखनीय है[1]—"इससे पूर्व चीन का किसी ऐसे धर्म से साक्षात्कार नहीं हुआ था जो बिबात्मकता की दृष्टि से इतना समृद्ध, विधि-विधानों में इतना सुन्दर और आकर्षक तथा आध्यात्मिक एवं सृष्टि विषयक चिन्तन में इतना निर्भीक हो। चीन एक ओर हतप्रभ व पराजित था तो दूसरी ओर हर्ष-विभोर। उसने इस महाप्रतापी

1. "Never before had China seen a religion so rich in imagery, so beautiful and captivating in ritualism and bold in cosmological and metaphysical speculation......China was overwhelmed, baffled and overjoyed. She begged and borrowed freely from the magnificent giver."

दानी से, कभी भिक्षा तथा कभी ऋण-स्वरूप, जितना चाहा निस्संकोच प्राप्त कर लिया।"

सम्राट् हर्ष, कश्मीर और पूर्वी-पश्चिमी भारत के शासकों के दरबार में चीनी दूत मण्डल आये और भारत से दूत मण्डल चीन गये। आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक चोलवंश और चीन के शासकों के मध्य परस्पर मधुर सम्बन्ध थे। चीन में पर्वतों को काटकर बौद्ध गुफा विहार और चैत्य बनवाए गये। महात्मा बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ बनाई गईं। भारतीय गणित और ज्योतिष का चीन में खूब प्रसार हुआ। चीन में संस्कृत भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे गए। डॉ० बी० जी० गोखले का कथन है—"अपनी सांस्कृतिक परम्परा की अनेक बातों के लिए चीन भारत का आभारी है।" भारत में अनेक चीनी सिक्के प्राप्त हुए हैं। चौदहवीं शताब्दी तक भारत और चीन के पारस्परिक सम्बन्ध मधुर थे।

कोरिया और जापान—चीन में ख्याति प्राप्त करने के पश्चात् बौद्ध धर्म वहाँ से कोरिया और कोरिया से जापान में फैल गया। कोरिया और जापान में भारतीय संस्कृति का प्रचार भारतीयों द्वारा न होकर चीन के प्रचारकों द्वारा हुआ।

चौथी शताब्दी में अनेक चीनी बौद्ध भिक्षु कोरिया पहुँचे। पाँचवीं शताब्दी में कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। कोरिया से बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अध्ययन हेतु अनेक भिक्षु भारत आये। कोरिया में अनेक बौद्ध-विहार, चैत्य और स्तूप स्थापित किए गए।

कोरिया से बौद्ध धर्म जापान में फैल गया। छठी शताब्दी में कोरिया के एक राजा ने बौद्ध धर्म को श्रेष्ठ घोषित करते हुए जापान के सम्राट् से उसे ग्रहण करने का अनुरोध किया। छठी शताब्दी में जापान के राजा सुशुन और उसकी रानी ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। उसके पुत्र शोतोकू ने बौद्ध धर्म को राजधर्म घोषित कर दिया। जापान में अनेक बौद्ध विहारों और मन्दिरों का निर्माण हुआ। 736 ई० में बौद्ध प्रचारक बोधिसेन धर्म प्रचार हेतु भारत से जापान गया। वर्तमान समय में भी जापान में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव है। इस प्रकार विदित होता है कि चीन के माध्यम से कोरिया और जापान में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। इस सम्बन्ध में बी०जी० गोखले का यह कथन उल्लेखनीय है—"चीन के माध्यम से भारतीय संस्कृति का प्रभाव कोरिया तथा जापान में फैला और जहाँ भी यह प्रभाव गया इसने उस देश की संस्कृति के विकास में सहायता प्रदान की और उसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक, साहित्यिक और कलात्मक उपलब्धियों द्वारा अभिव्यक्त किया।"[1]

---

1. "Through China Indian cultural influences spread into Korea and Japan and, wherever they spread they helped the indigenous cultures grow and manifest themselves through great philosophical, literary and artistic achievements."

—B. G. Gokhale

मंचूरिया और मंगोलिया—कोरिया और जापान से बौद्ध धर्म मंचूरिया और मंगोलिया राज्य में फैल गया। 1258 ई० में मंगोल शासक कुबला खाँ ने विविध धर्मों का एक सम्मेलन आयोजित किया जिसमें 3,000 बौद्ध भिक्षु सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में बौद्ध आचार्यों ने अपनी विद्वत्ता से कुबला खाँ को अत्यधिक प्रभावित किया। फलतः कुबला खाँ बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। अनेक बौद्ध ग्रन्थों का मंगोल भाषा में अनुवाद किया गया। अनेक मंगोल विद्यार्थियों ने तिब्बत के महाविहारों में शिक्षा अर्जित की।

इस प्रकार विदित होता है कि प्राचीन काल में भारत ने अपने पड़ोसी राज्यों के साथ व्यापारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किए। इन सम्बन्धों ने विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया। डॉ० मजूमदार का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है—"भारत का औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रसार भारतीय इतिहास की सबसे अधिक दिव्य, किन्तु विस्मृत उपकथा है जिसके लिए किसी भी भारतीय को न्यायोचित गर्व हो सकता है।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार पर संक्षिप्त विवरण दीजिए।
2. बृहत्तर भारत से आप क्या समझते हैं? बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति के प्रसार पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।
3. पश्चिमी एशिया में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रसार पर प्रकाश डालिए।
4. मिस्र, यूनान और रोम में भारतीय संस्कृति के प्रसार पर लेख लिखिए।
5. मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार का वर्णन कीजिए।

30

सिंध और मुल्तान पर अरब आक्रमण तथा उसका प्रभाव

इस्लाम धर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद साहब का जन्म 570 ई० में मक्का के कुरैश वंश के सरदार अब्दुल्ला के यहाँ हुआ था। बाल्यकाल में ही माता-पिता का देहावसान हो जाने के कारण उनके चाचा अबूतालिब ने उनका पालन-पोषण किया।

हजरत मुहम्मद अरबों में व्याप्त बुराइयों के घोर विरोधी थे। चालीस वर्ष की आयु में उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् वे पैगम्बर (ईश्वर का दूत) कहलाये। उन्होंने स्वयं को ईश्वर का दूत घोषित किया। हजरत मुहम्मद मूर्तिपूजा के विरोधी थे। उन्होंने अरबों को एक ईश्वर को मानने का उपदेश दिया। उन्होंने बुरे कर्मों का त्याग कर सरल जीवन व्यतीत करने तथा परस्पर प्रेम और एकता के सूत्र में बँध जाने का उपदेश दिया। मूर्ति पूजा का विरोधी होने के कारण हजरत मुहम्मद साहब को मूर्ति पूजा के प्रेमियों का विरोध सहना पड़ा। अन्त में विवश होकर उन्हें मक्का छोड़कर मदीना को प्रस्थान करना पड़ा। मक्का से मदीना के उनके इस प्रस्थान को हिजरत कहा जाता है, और यहीं से हिजरी संवत् का आरम्भ होता है। मक्का और मदीना के अनेक लोग उनके अनुयायी बन गये। 632 ई० में मृत्यु के समय सम्पूर्ण अरब में वे धर्म गुरु के रूप में प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके थे।

अरब आक्रमण के समय भारत की दशा

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् कोई ऐसा शक्तिशाली सम्राट् नहीं हुआ, जिसमें भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधने की क्षमता होती। सम्पूर्ण भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने हर्ष की मृत्यु के पश्चात् की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"इस महान् सम्राट् की 647 ई० में मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य के टुकड़े हो गये और इसके बाद

देश के छोटे-छोटे राजाओं में प्रभुता के लिए युद्ध आरम्भ हो गये। इस प्रदेश में 50 वर्ष से अधिक समय तक राजनीतिक अव्यवस्था फैली रही। आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यशोवर्मन के उत्थान तक इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। देश के बचे हुए भागों को भी पहले की तरह स्वतन्त्र राजाओं ने आपस में बाँट लिया। इन राजाओं का मुख्य ध्येय सैनिक यश प्राप्त करना और एक-दूसरे पर चढ़ाई करना था।" स्पष्ट हो जाता है कि अरबों के आक्रमण के समय भारत में राजनीतिक एकता प्रायः समाप्त हो चुकी थी और देश अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो चुका था। अरब-आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक स्थिति इस प्रकार विदित होती है—

गांधार—वर्तमान संकटपूर्ण अफगानिस्तान प्राचीन काल में गांधार के नाम से जाना जाता था। गांधार की राजधानी तक्षशिला थी। इसमें काबुल और कंधार भी सम्मिलित थे। ह्वेन्सांग के यात्रा-वृत्तांत से विदित होता है कि उस समय अफगानिस्तान में एक क्षत्रिय राजा राज्य कर रहा था। नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस वंश के अन्तिम शासक लगतुरमान को उसके ब्राह्मण मन्त्री कल्लार ने अपदस्थ करके ब्राह्मण राज्य की स्थापना की। जयपाल, आनन्दपाल और त्रिलोचनपाल इस वंश के प्रसिद्ध शासक थे जिन्होंने गांधार में इस्लाम-प्रवेश का सबल प्रतिरोध किया।

कश्मीर—सम्राट् हर्ष के शासनकाल में कश्मीर का एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में अस्तित्व विद्यमान था। उस समय कश्मीर में कार्कोटक-वंश का राज्य था। ह्वेन्सांग के भारत आगमन के समय कश्मीर का राजा दुर्लभवर्द्धन था। ललितादित्य मुक्तापीड़ इस वंश का शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। उसने पंजाब, कन्नौज और काबुल के ऊपर विजय प्राप्त की। ललितादित्य मुक्तापीड़ के पश्चात् जयापीड़ शासक बना। नवीं शताब्दी के आरम्भ में कार्कोटक वंश के पतन के पश्चात् कश्मीर में उत्पल वंश का राज्य स्थापित हुआ।

उत्पल वंश के शासक अवंतिवर्मन ने अनेक निर्माणकारी कार्य किये। उसके बाद शंकरवर्मन राजा बना। उसने प्रजा के ऊपर अनेक कर थोप दिये। उसके बाद दिद्दा रानी राजगद्दी पर बैठी।

कन्नौज—हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उसके मन्त्री अर्जुन ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। वह चीन के साथ राजनयिक सम्बन्धों के विरुद्ध था। अतः उसके सैनिकों ने चीनी दूत मण्डल के सदस्यों के साथ दुर्व्यवहार किया। चीनी वृत्तांत से विदित होता है कि चीन के दूत मण्डल के प्रधान वैंग-ह्वान-सी ने नेपाल, तिब्बत और असम के राजाओं की सहायता से अपने इस अपमान का बदला लिया। अर्जुन को बन्दी बनाकर वह चीन ले गया।

हर्ष की मृत्यु के लगभग 75 वर्ष पश्चात् कन्नौज में शक्तिशाली नरेश यशोवर्मा (यशोवर्मन) का आविर्भाव हुआ। उसने कन्नौज के पुरातन गौरव की पुनःस्थापना का भरसक यत्न किया। 752 ई० में यशोवर्मा के निधन के उपरांत 770 ई० तक उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों ने शासन किया। 770 ई० में आयुधवंश ने कन्नौज

पर अपना अधिकार कर लिया। इस वंश के अन्तिम शासक इन्द्रायुध को परास्त करके 783 ई० में प्रतीहार नरेश वत्सराज ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

बंगाल—बंगाल नरेश शशांक हर्ष का समकालीन था। शशांक के विरुद्ध सामरिक अभियान में हर्ष को विजय प्राप्त नहीं हो पायी। शशांक की मृत्यु के पश्चात् बंगाल में अराजकता का वातावरण छा गया। इस दीर्घकालीन अराजकता से मुक्ति पाने के लिए वहाँ के सामन्तों और प्रजा ने 750 ई० में पालवंश के गोपाल को अपना राजा मनोनीत किया। गोपाल ने 770 ई० तक सफलतापूर्वक शासन किया। तदुपरांत पालवंश में धर्मपाल और देवपाल जैसे प्रतापी राजा हुए जिन्होंने अपनी सामरिक प्रतिभा के बल पर उत्तरी भारत में अपनी धाक जमा दी। पालवंश ने बारहवीं शताब्दी तक राज्य किया।

कामरूप—सम्राट् हर्ष ने कामरूप (असम) नरेश भास्कर वर्मा को पराजित करके उसे अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया था। किन्तु हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न राजनीतिक अव्यवस्था का लाभ उठाते हुए भास्कर वर्मा ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और अपने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार प्रारम्भ कर दिया। किन्तु भास्कर वर्मा अधिक समय तक स्वतन्त्रतापूर्वक शासन नहीं कर पाया। सील स्तम्भ नामक असभ्य जाति के राजा ने उसे पराजित करके असम को अधिकृत कर लिया। इस जाति ने लगभग तीन शताब्दी तक असम में शासन किया।

नेपाल—सातवीं शताब्दी में नेपाल में अंशुवर्मन राज्य कर रहा था। उसने तिब्बत नरेश के साथ अपनी पुत्री का विवाह सम्पन्न करके उसके साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। सम्राट् हर्ष की मृत्यु के पश्चात् तिब्बत और नेपाल के राजाओं ने मिल कर कन्नौज नरेश अर्जुन के विरुद्ध सामरिक अभियान में चीनी दूत मण्डल के नेता वेंग-ह्वान-सी का साथ दिया। उन्होंने अर्जुन को परास्त करके कन्नौज पर अधिकार कर लिया। प्रारम्भ में नेपाल तिब्बत पर निर्भर था, किन्तु 703 ई० में उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

सिंध—ह्वेन्सांग की भारत यात्रा (629-644 ई०) के समय सिंध में शूद्रवंशी राजा राज्य कर रहा था जो सम्राट् हर्ष के अधीन था। किन्तु हर्ष की मृत्यु के पश्चात् सिंध स्वतन्त्र हो गया। इस वंश के अन्तिम शासक साहसी को उसके मन्त्री चच ने अपदस्थ कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। उसने मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में अरब आक्रमण का दृढ़तापूर्वक मुकाबला किया।

गुर्जर-प्रतीहार राज्य—गुर्जर-प्रतीहारों की तीन शाखाएँ थीं, जो क्रमशः भृगुकच्छ, नांदीपुरी, माण्डव्यपुर-मेदन्तक और उज्जैन में शासन करती थीं। इनमें उज्जैन शाखा के प्रतीहार ही प्रसिद्धि प्राप्त कर पाये। उन्होंने नागभट्ट द्वितीय (800-833 ई०) के नेतृत्व में कन्नौज पर अधिकार कर लिया। नागभट्ट के शासनकाल में म्लेच्छ अरबों ने पश्चिमी भारत पर आक्रमण कर दिया। किन्तु नागभट्ट द्वितीय के प्रबल प्रतिरोध के सम्मुख उन्हें सफलता नहीं मिल पाई। भोज प्रतीहार भारत भूमि को म्लेच्छों (अरबों) से मुक्त कराना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता था। गुर्जर प्रतीहार

वंश ने ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक शासन किया। इस वंश के शासकों को प्रारम्भ में अरबों और बाद में तुर्कों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा।

राष्ट्रकूट राज्य—जिस समय उत्तरी भारत में शक्तिशाली प्रतीहार और पाल वंशी शासक राज्य कर रहे थे, उस समय दक्षिणी भारत पर राष्ट्रकूट वंश का प्रभुत्व था। डॉ० अल्तेकर ने राष्ट्रकूटों को अशोक महान् के अभिलेखों में उल्लिखित रठिकों का सामन्त बताया है। गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट वंश का सर्वाधिक प्रतापी नरेश सिद्ध हुआ। साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा और उत्तरी भारत में शक्ति-संतुलन बनाये रखने के उद्देश्य से पाल, प्रतीहार और राष्ट्रकूटों के मध्य दीर्घकालीन संघर्ष हुआ। सिंध पर अरब आक्रमण के समय राष्ट्रकूट दक्षिणी भारत के कुछ भू-भाग पर शासन कर रहे थे।

चालुक्य वंश—पुलकेशी द्वितीय चालुक्य वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। वह सम्राट् हर्ष का समकालिक था। महाराष्ट्र का शासक पुलकेशी द्वितीय सम्पूर्ण दक्षिणापथ का सार्वभौम सम्राट् बनने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील था। पुल-केशी द्वितीय के बाद क्रमशः विक्रमादित्य प्रथम, विनयादित्य और विजयादित्य ने राज्य किया। अरबों के भारत आक्रमण के समय दक्षिण के कुछ भू-भाग पर विजया-दित्य शासन कर रहा था।

पल्लव वंश—सिंध पर अरब आक्रमण के समय कांची में पल्लववंशी नरसिंह वर्मन द्वितीय राज्य कर रहा था। वह प्रतापी नरेश था और उसने अनेक विरुद धारण किये।

इस प्रकार विदित होता है कि अरबों के सिंध आक्रमण के समय भारत में राजनीतिक स्थिरता का अभाव था। राजनीतिक एकता के अभाव में सम्पूर्ण भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। यदि कश्मीर, कन्नौज, मालवा, बंगाल और दक्षिण भारत के राजा सिंध नरेश दाहिर के साथ मिलकर अरबों का सामना करते तो अरबों को मुंह की खानी पड़ती और वे दीर्घकाल तक भारत पर आक्रमण का दुस्साहस नहीं कर पाते। दाहिर अरबों के साथ अकेला लड़ा और वह पराजित हुआ। दाहिर को पराजित करके अरबों ने सिंध पर अधिकार कर लिया।

सिंध और मुल्तान पर अरब-आक्रमण

भारत पर सर्वप्रथम विदेशी आक्रमण अरब-निवासियों द्वारा किया गया। सातवीं शताब्दी से ही अरबों ने सिंध और मुल्तान पर आक्रमण कर दिये थे। यद्यपि प्रारम्भ में उन्हें आशातीत सफलता तो नहीं मिल पाई, तथापि बाद में उन्हें व्यापक स्तर पर सफलता मिली और सिंध तथा मुल्तान पर उन्होंने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। सिंध और मुल्तान पर अरबों का अधिकार स्थापित हो जाने के फलस्वरूप दोनों देशों के लोग एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आये और दोनों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ तथा व्यापार में भी वृद्धि हुई।

भारत में इस्लाम धर्म के प्रचार हेतु सर्वप्रथम अरब व्यापारियों ने पश्चिमी

समुद्रतट पर अपनी बस्तियां और मस्जिदें स्थापित कीं। किन्तु जब भारतीय उनके धर्म की ओर आकृष्ट नहीं हुए तो कालांतर में उन्होंने भारत पर आक्रमण कर दिया। थाना, देवल, खम्भात, सोपारा, कोलिमल्लि तथा मालाबार के बन्दरगाहों से अरबों के सदियों पुराने व्यापारिक सम्बन्ध थे। किन्तु जब हजरत मुहम्मद ने इस्लाम धर्म का प्रचार भारत में भी करना चाहा तो भारत और अरब के व्यापारिक सम्बन्धों में कटुता आ गई। अरबों के सैन्य तथा धार्मिक दृष्टिकोण ने इस कटुता में और अधिक वृद्धि कर दी।

अरबों का थाना, भड़ौच और किकान पर सामरिक अभियान—अरबों ने ईरान के राजा को पराजित करने के उपरांत भारत की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। प्रथम खलीफा उमर के समय 636 ई० में अरबों ने थाना खम्भात की खाड़ी के भड़ौच तथा देवल जैसे महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहों को लूटा। तत्पश्चात् उन्होंने अपने आक्रमण जारी रखे। उनके ये अभियान समुद्री धावे मात्र थे, किन्तु उन्हें भारतीय प्रतिरोध के सामने विशेष सफलताएँ नहीं मिलीं। 'चचनामा' नामक फारसी ग्रन्थ से विदित होता है कि 643 ई० में देवल पर किये गये आक्रमण में अरब सेनापति चच मार डाला गया और अरब सेना बुरी तरह पराजित हुई। इस भयंकर पराजय तथा सिंध की प्राकृतिक कठिनाइयों के कारण अरबों को बहुत दिनों तक उस पर आक्रमण करने का साहस नहीं हो पाया। 663 ई० में अरबों ने खलीफा अली के समय किकान (सिंध) पर आक्रमण कर दिया, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल पायी। तत्पश्चात् 20 वर्ष की अवधि में सिंध पर छः बार आक्रमण किये गये, परन्तु अरबों की विजय मकरान तक ही सीमित रही।

अरबों का सिंध पर आक्रमण—643 ई० में करारी मात खाने के उपरांत भी अरबों ने सिंध पर आक्रमण करने का साहस नहीं खोया। वे सिंध पर आक्रमण करने का बहाना ढूंढ़ रहे थे। उसी अवधि में सिंहल के राजा के वहाँ से दमिश्क के प्रथम खलीफा बलीद और उसके ईराकी गवर्नर हज्जात के लिए बहुमूल्य भेंटें ले जाता हुआ जहाज, जिसमें कुछ मुस्लिम महिलाएँ भी यात्रा कर रही थीं, देवल के बन्दरगाह के समीप समुद्री लुटेरों द्वारा लूट लिया गया तथा स्त्रियों को बन्दी बना लिया गया, उसे बहाना मानकर हज्जाज ने सिंध पर आक्रमण करने की योजना बनाई।

हज्जाज ने सिंध के राजा दाहिर को लुटेरों को दण्डित करने तथा बन्दी बनाई गईं स्त्रियों की रिहाई का सन्देश भेजा। प्रत्युत्तर में दाहिर ने कहा कि उसका इन लुटेरों पर कोई नियन्त्रण नहीं है। दाहिर ने हज्जाज के सन्देश को मानने से इनकार कर दिया। इस पर क्रुद्ध होकर हज्जाज ने खलीफा वाहिद से आज्ञा प्राप्त कर पहले ओबैदुल्लाह (उबैदुल्लाह) नामक सेनापति को सिंध पर आक्रमण के लिए भेजा, किन्तु वह पराजित होकर मार डाला गया। तत्पश्चात् बुदैल-इब्रतहफा को समुद्री मार्ग से सिंध पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। बुदैल को दाहिर के पुत्र जयसिंह ने युद्ध में मार डाला।

सिंध पर अरब आक्रमण के उद्देश्य—अरबों द्वारा सिंध पर किये गये उपरोक्त

आक्रमणों के कारणों के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद हैं। अवध बिहारी पाण्डेय इन आक्रमणों का प्रधान कारण प्रतिशोध की भावना मानते हैं। उन्होंने लिखा है—"सिंध पर आक्रमण करने के प्रधान कारण राज्य-विस्तार की कामना न होकर प्रतिशोध की भावना थी।" किन्तु उनका यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। केवल प्रतिशोध की भावना हेतु बार-बार सैनिक अभियान न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। यदि अरबों ने केवल प्रतिशोध की भावना से सिंध पर आक्रमण किया तो सिंध-विजय के उपरांत उन्होंने वहाँ अपना राज्य क्यों स्थापित किया? सिंध-विजय के पश्चात् अरबों ने दीर्घकाल तक सिंध में शासन किया। अतः स्पष्ट हो जाता है कि अरबों का सिंध अभियान साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा से प्रेरित था। सिंध में उन्होंने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की नीति का आश्रय लिया। अतः उनकी सिंध-विजय का एक उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार करना भी था। डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का कथन है कि सिंध पर अरब आक्रमण के मूल उद्देश्य धन प्राप्त करना तथा अपने धर्म का प्रचार करना था। समुद्री डाकुओं द्वारा जहाज को लूट लेने की घटना अरब-आक्रमण के लिए केवल बहाना मात्र थी।

मुहम्मद-बिन्-कासिम का सिंध पर सैनिक अभियान—उबैदुल्लाह और बुदैला के असफल सामरिक अभियान के पश्चात् हज्जाज ने 17 वर्षीय महत्त्वाकांक्षी और साहसी युवक मुहम्मद-बिन्-कासिम को शक्तिशाली सैन्य दल सहित सिंध के राजा दाहिर को दण्डित करने के लिए भेजा।

711 ई० में हज्जाज ने 6,000 सीरियन अश्वारोही जो खलीफा की सेना के सर्वोत्तम अंग माने जाते थे, 6,000 ऊँट-सवारों और 3,000 भारवाही ऊँटों की सेना सहित मुहम्मद-बिन्-कासिम को सिंध नृपति दाहिर पर आक्रमण करने के लिए भेजा। दाहिर के विरोधी मेहरों को भी उसने मकरान में अपनी सेना में सम्मिलित कर लिया। दाहिर से अप्रसन्न वहाँ के बौद्ध अनुयायियों ने भी आक्रमणकारी मुहम्मद-बिन्-कासिम का स्वागत किया। धीरे-धीरे उसकी सेना की संख्या बढ़ती गई। दाहिर ने भयभीत होकर अथवा मोर्चेबन्दी की दृष्टि से अपने राज्य के पश्चिमी प्रदेशों को छोड़कर उसके पूर्वी किनारों पर युद्ध की तैयारी की।

देबल पर अरब अधिकार—मुहम्मद-बिन्-कासिम ने सर्वप्रथम देबल पर आक्रमण किया। उसके पास 25,000 सैनिक थे, जबकि उसके प्रतिरोध के लिए देबल में कुल 4,000 सैनिक थे। भीषण संग्राम के पश्चात् अरबों ने देबल पर अधिकार कर लिया। उन्होंने जनसाधारण से इस्लाम धर्म स्वीकार करने को कहा। जिन लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार करने से इंकार किया, उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। तीन दिन तक भीषण हत्याकांड चलता रहा। अरबों ने जनसाधारण को आतंकित करने के उद्देश्य से 17 वर्ष से अधिक आयु के पुरुषों को मार डाला और बच्चों तथा स्त्रियों को दास बना लिया गया। मन्दिर नष्ट करके उनके स्थान पर मस्जिदें निर्मित की गईं। विजयी सैनिकों ने अपार धन-सम्पदा लूट ली। नियमानुसार लूट-पाट में अर्जित धन का $\frac{1}{5}$ भाग हज्जाज द्वारा खलीफा को भेज दिया गया। इस

प्रकार अरब भारत के पहले नगर देबल पर अधिकार स्थापित करने में सफल हो गये। डॉ० श्रीवास्तव ने देबल के पतन के लिए भारतीय नरेश के प्रमाद और शत्रु-सेना की अधिकता को उत्तरदायी माना है।

निरून, सेहवान और सीसम की विजय—देबल में अपना एक शासक नियुक्त करके तथा उसके सहायतार्थ 4,000 सैनिकों को छोड़कर मुहम्मद-बिन्-कासिम ने देबल से 75 मील दूर उत्तर-पूर्व में स्थित महत्त्वपूर्ण नगर निरून पर अधिकार करने के लिए प्रस्थान किया। एक सप्ताह की यात्रा के पश्चात् उसने बिना किसी प्रतिरोध के निरून पर अधिकार कर लिया। निरून नगरवासियों को दाहिर ने उनके भाग्य पर छोड़ दिया था। निरून उस समय बौद्ध पुरोहितों तथा श्रमणों के अधिकार में था। बौद्धों ने बिना युद्ध किये अरबों की अधीनता स्वीकार कर ली।

निरून पर बिना युद्ध लड़े अधिकार हो जाने से अरब सैनिक उत्साहित हुए। उन्होंने एक सप्ताह के घेरे के पश्चात् सेहवान पर अधिकार कर लिया। वहाँ दाहिर के चचेरे भाई वज्र का शासन था। उसने नगर छोड़ दिया। अतः सेहवान भी अरबों के अधिकार में आ गया। तत्पश्चात् मुहम्मद-बिन्-कासिम ने सीसम पर अधिकार कर लिया।

दाहिर की पराजय—जनसाधारण को आतंकित करते हुए मुहम्मद-बिन्-कासिम ने सिंध नदी पार की। तत्पश्चात् अनेक नगरों पर विजय-पताका फहराता हुआ वह प्रतिशोध की भावना से दाहिर पर टूट पड़ा। अरब लेखकों के अनुसार दाहिर की सेना में सैनिकों की संख्या 50,000 थी, जिनमें से अधिकतर तत्काल भरती किए हुए थे। कुछ दिनों तक साधारण झड़पों के उपरांत 20 जून, 712 ई० को रावोर में दोनों के मध्य भीषण संग्राम हुआ। दाहिर ने हाथी पर सवार होकर वीरतापूर्वक युद्ध का संचालन किया, किन्तु उसके हृदय में शत्रुपक्ष का तीर लग जाने के फलस्वरूप उसकी तत्काल मृत्यु हो गई। दाहिर की मृत्यु हो जाने पर उसकी सेना में भगदड़ मच गई। इस अवसर पर दाहिर की पत्नी रानीबाई के नेतृत्व में सिंध की स्त्रियों ने अरबों का तीव्र प्रतिकार किया। जब उन्होंने प्रचण्ड अरब शक्ति के सम्मुख अपनी शक्ति को क्षीण होते हुए देखा तो म्लेच्छों के कलंक से बचने के उद्देश्य से राजपूत-प्रथा के अनुसार जौहर कर प्राण त्याग दिए। अपने पिता की मौत का बदला लेने के लिए दाहिर का पुत्र ब्राह्मणबाद में पूरे जोश-खरोश के साथ लड़ा और उसकी भीषण मोर्चेबंदी को अरब तोड़ न सके। अन्त में राज-द्रोहियों के कारण उसे चित्तूर की शरण लेनी पड़ी। ब्रह्मणबाद पर अरबों का अधिकार हो गया। वहाँ का कोष और अपार धनसंपदा उनके हाथ लगी। तदुपरांत मुहम्मद-बिन्-कासिम ने सिंध की राजधानी आलोर पर भी विजय प्राप्त करके सिंध विजय को पूर्ण कर लिया।

दाहिर की पराजय के कारण—दाहिर को पराजित कर मुहम्मद-बिन्-कासिम सिंध को विजित करने में सफल हो गया। सिंध में अरबों की विजय के लिए मुख्यतः निम्नलिखित कारण उत्तरदाई माने जाते हैं—

आंतरिक कलह—सिंध प्रान्त के पतन का प्रमुख कारण आंतरिक कलह था। समाज में एकता का अभाव था। समाज के निम्नवर्ग के लोगों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता था। राजा दाहिर से जनसाधारण अप्रसन्न था। सिंध के बौद्ध तथा अन्य हिन्दुओं ने देशद्रोह कर अरबों का साथ दिया। इस सम्बन्ध में डॉ० श्रीवास्तव का यह कथन उल्लेखनीय है—"निस्संदेह विद्रोह तथा गद्दारी सिंध के पतन के मुख्य कारण थे।"

सैन्य-संगठन की दुर्बलता—दाहिर का सैन्य संगठन दुर्बल था। मुहम्मद-बिन्-कासिम के आक्रमण के समय उसकी सेना के अधिकांश सैनिक तत्काल भर्ती किए गए थे। अतः उनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे अनुभवी, उत्साही और रणकुशल अरब सैनिकों का मुकावला कर सकते। दाहिर की सेना में एक अरब टुकड़ी थी जिसने युद्ध के समय अपने राजा के साथ विश्वासघात करके अरब आक्रमणकारियों का साथ दिया।

प्रांतीय शासकों का असहयोग—दाहिर की पराजय का कारण यह है कि उसके अधीन प्रांतीय शासकों ने संकट की घड़ी में उसकी मदद नहीं की। दाहिर के प्रांतीय सूबेदार अर्द्ध-स्वतन्त्र शासक थे।

आर्थिक दुर्बलता—सिंध की आर्थिक दुर्बलता उनकी पराजय तथा अरबों की विजय के लिए उत्तरदाई है। आर्थिक दृष्टि से सबल न होने के कारण सिंध का राजा शक्तिशाली सेना का खर्च वहन नहीं कर सकता था। दाहिर की अपेक्षा अरबों की सेना संख्या, शक्ति और अस्त्र-शस्त्रों की दृष्टि से अधिक अच्छी थी। भारतीय राजाओं ने अपने राज्य की सीमाओं के रक्षार्थ कोई उपाय नहीं किया। डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने इसे उनका अक्षम्य अपराध कहा है।

मुहम्मद-बिन्-कासिम का बेजोड़ नेतृत्व—उबैदुल्लाह और बुदैला के पराजित हो जाने पर हज्जाज ने 17 वर्षीय मुहम्मद-बिन्-कासिम को सिंध पर आक्रमण करने को भेजा जो निश्चित रूप से उसकी असाधारण सामरिक प्रतिभा का द्योतक है। सिंध के पतन के प्रमुख कारण अरबों की सेना की विशालता, बहुत बड़ी सैनिक तैयारी और मुहम्मद-बिन्-कासिम का बेजोड़ नेतृत्व था।

मुल्तान-विजय—सिंध-विजय के उपरांत मुहम्मद-बिन्-कासिम 713 ई० में मुल्तान की ओर बढ़ा। मार्ग में उसे अनेक स्थानों पर प्रबल-प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। विशाल और शक्तिशाली सेना होने के कारण सर्वत्र अरबों की विजय हुई। मुल्तान पहुँचकर मुहम्मद ने वहां की जनता को आतंकित किया। एक देश-द्रोही द्वारा नगर की पेय जलधारा का स्रोत अरबों को बता दिए जाने के कारण उन्होंने जलधारा के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। अन्त में विवश होकर मुल्तान निवासियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। वहाँ भी विजय के मद में कुछ अरबों ने लूट, हत्या, बलात् धर्म-परिवर्तन और दास बनाने की नीति को पूर्ववत् जारी रखा। मुल्तान में अरबों ने इतनी अधिक धन-संपदा प्राप्त की कि उन्होंने उसे 'स्वर्ण नगर' की संज्ञा प्रदान की है।

मुहम्मद-बिन्-कासिम को प्राणदण्ड—निर्भीक युवा सेनानी मुहम्मद-बिन्-कासिम ने सिंध और मुल्तान को विजित कर सर्वप्रथम भारत के एक छोटे भू-भाग पर अरब-राज्य की स्थापना की। खलीफा सुलेमान उससे किसी बात में क्रुद्ध हो बैठा था। अतः उसने मुहम्मद-बिन्-कासिम को प्राणदण्ड दे दिया। उसने मुहम्मद-बिन्-कासिम को सिंध से बर्खास्त कर दिया और बन्दी बनाकर मैसोपोटामिया भेज दिया जहां अनेक यंत्रणाएं देकर उसका वध कर दिया गया।

'चचनामा' में मुहम्मद-बिन्-कासिम को प्राणदण्ड दिये जाने का यह कारण बताया गया है कि उसने दाहिर की दो पुत्रियों (सूर्यदेवी और परमालदेवी) को खलीफा सुलेमान (714-717 ई०) के यहां भेंट स्वरूप भेजा। उन्होंने खलीफा से शिकायत की कि मुहम्मद-बिन्-कासिम पहले उनका शीलभंग कर चुका है। अतः खलीफा ने क्रुद्ध होकर उसे मृत्युदण्ड दे दिया। किंतु कुछ विद्वान 'चचनामा' के उक्त विवरण पर संदेह प्रकट करते हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों से विदित होता है कि खलीफा सुलेमान मुहम्मद-बिन्-कासिम के चाचा और ससुर हज्जाज (ईराक का गवर्नर) से द्वेषभाव रखता था। इसी वैरभाव के कारण नये खलीफा ने हज्जाज तथा उसके परिवार को कठोर दण्ड दिया और मुहम्मद-बिन्-कासिम को प्राणदण्ड की सजा दी।

मुहम्मद-बिन्-कासिम को प्राणदण्ड दिए जाने के फलस्वरूप भारत में अरबों का प्रसार शिथिल पड़ गया। अनेक सरदारों ने सिंध में अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी जिनमें दाहिर के पुत्र जयसिंह का नाम उल्लेखनीय है। उसने ब्राह्मणवाद पर पुनः अधिकार कर लिया।

जनरल हबीब और जुनैद का सैनिक अभियान—सिंध में अनेक सरदारों द्वारा अपनी स्वतंत्र-सत्ता घोषित किये जाने के फलस्वरूप अरब अधिकार देवल से सैंधव समुद्र के एक छोटे भू-भाग तक सीमित रह गया। इससे खलीफा क्रुद्ध हो गया। उसने अपने जनरल हबीब को सिंध-विजय हेतु भेजा। उसने अलोर को पुनर्विजित किया और जयसिंह ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।

खलीफा हिशाम (724-743 ई०) के समय जुनैद सिंध का गवर्नर नियुक्त किया गया। उसने भारत में अरब सत्ता का विस्तार करने का भरसक यत्न किया। उसने ब्राह्मणवाद के शासक जयसिंह को कैद कर वहाँ हिन्दू शासन का अन्त कर दिया। बिलादुरी लिखता है कि उसने उज्जैन, बहरी-मद, अलमालिबह, अल्कीराज, मिरमाद, उलमन्दल, दहनाज और बरवास नामक स्थानों पर धावे मारे तथा अल्वैल-मान तथा अल्-जुर्ज को विजित कर लिया। जुनैद के इन आक्रमणों के फलस्वरूप राजस्थान और गुजरात के कुछ भू-भाग पर अल्प समय के लिए अरब-प्रभुत्व स्थापित हो गया।

अरबों के असफल आक्रमण—यद्यपि जुनैद ने जौसलमेर और जोधपुर के कुछ भाग, भड़ौंच, मालवा, उज्जैन आदि को विजित कर लिया था, तथापि उसकी विजय अस्थाई सिद्ध हुई।

गुजरात के राजा पुलकेशी और प्रतीहार नरेश नागभट्ट द्वितीय ने अरबों को करारी मात देकर उनके भारत-प्रसार का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। 738-739 ई० के नौसारि अभिलेख से विदित होता है कि सिंध, कच्छ, सौराष्ट्र, चावोत्कट, मौर्य और गुर्जर राजाओं को आक्रांत करने वाले ताजिक आक्रांता द्वारा नौसारि पर आक्रमण किये जाने पर पुलकेशी ने उसे पराजित कर डाला, जिसके फलस्वरूप उसे 'दक्षिणापथ का ठोस स्तंभ' की उपाधि मिली।

भोज की ग्वालियर-प्रशस्ति में प्रतीहार-नरेश नागभट्ट प्रथम को अरबों (म्लेच्छों) को पराजित करने का श्रेय दिया गया है। भृगुकच्छ, नाँदीपुरी का गुर्जर नरेश जयभट्ट चतुर्थ भी अरबों को पराजित करने का दावा करता है। कश्मीर नरेश ललितादित्य मुक्तापीड़, कन्नौज नरेश यशोवर्मा और चित्तौड़ शासक बप्पा रावल ने अरबों को आगे बढ़ने से रोका। गाँधार में उस समय दो हिन्दू राज्य काबुल और जाबुल थे, जिन्होंने अरबों का डटकर मुकाबला कर उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। अरब सिंध और मुल्तान के अतिरिक्त शेष भारत की विजय में असफल रहे। बाद में गुर्जर-प्रतीहारों का प्रभाव बढ़ जाने के कारण अरब आगे नहीं बढ़ पाये। जुनैद का उत्तराधिकारी तमीम अयोग्य सिद्ध हुआ। उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि वह अरबों की रक्षा कर सके। इस सम्बन्ध में बिलादुरी का यह कथन उल्लेखनीय है कि अरबों को अपनी रक्षा के लिए कोई सुरक्षित स्थान पाना भी कठिन था और उस हेतु एक झील के किनारे अल्-हिन्द की सीमा पर अल्-महफूज (सुरक्षित) नामक नगर बसाया। उमय्या खलीफाओं ने भी अपनी कमजोरी के कारण सिंध के सम्बन्ध में कोई विशेष रुचि नहीं रखी। अरबों ने भड़ौंच पर जो अधिकार स्थापित किया था, उसे नागभट्ट प्रथम ने उखाड़ फेंककर चाहमान भर्तृवड्ढ को भड़ौंच के क्षेत्रों का शासक नियुक्त किया। बिलादुरी ने लिखा है कि जुनैद का उत्तराधिकारी तमीम कमजोर सिद्ध हुआ और उसे भारत के ऐसे अनेक स्थानों से हटना पड़ा जो पहले अरब अधिकार में थे।

अब्बासी खलीफा अल्मंसूर (754-775 ई०) के काल में अरबों ने एक बार पुनः सिंध और उसके आगे अपनी सत्ता का विस्तार करने का प्रयास किया, किन्तु वे कोई स्थाई सफलता अर्जित नहीं कर पाये। मुसलमानी सरदारों के परस्पर संघर्ष और खलीफाओं की निजी कमजोरी के कारण उनके अधिकार-क्षेत्र में शिथिलता आने लगी। नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सिंध पर खलीफाओं का रहा-सहा अधिकार भी समाप्त हो गया। इस प्रकार तीन सौ वर्षों के सतत प्रयास के बाद भी भारत में अरबों का अधिकार-क्षेत्र मंसूरा और मुल्तान की दो छोटी रियासतों तक ही सीमित रह गया।

भारत में अरबों की असफलता के संदर्भ में डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है—"सिंध की विजय से भारतीयों के ऊपर मुसलमानों की सैनिक श्रेष्ठता का अनुमान नहीं लगाया जाना चाहिए। हमारे इस मत की आगे इस बात से भी पुष्टि होती है कि सिंध की विजय अरबों का प्रथम तथा अन्तिम महान् कार्य था।

जुनैद, निःसन्देह सिंध के निकटवर्ती छोटे-छोटे राज्यों पर तक विजय प्राप्त करने में सफल रहा, परन्तु ज्योंही उत्तरी भारत में शक्तिशाली राज्य कश्मीर तथा कन्नौज से और दक्षिणी भारत में चालुक्यों से टकराया, विजय का जादू टूट गया। अल्प समय में ही सिंध का अधिकांश भाग भी अरबों के अधिकार से निकल गया। अन्त में हम देखते हैं कि तीन सौ वर्ष के भरसक प्रयत्न के बावजूद अरबों का राज्य मंसूराह (सिंध) तथा मुल्तान तक ही सीमित रह गया।"

अरबों की असफलता के कारण

अरबों ने सिंध और मुल्तान पर विजय प्राप्त कर वहां अपने ढंग की शासन-पद्धति भी संचालित की। लगभग डेढ़ शताब्दी तक सिंध और मुल्तान अरब-आधिपत्य में रहा। तत्पश्चात् वहां के सरदार स्वतन्त्र हो गए। कतिपय प्रारंभिक सफलताओं के पश्चात अरबों को भारत में अपना साम्राज्य-विस्तार करने में असफलता ही मिली। प्रसिद्ध इतिहासकार लेनपूल ने सिंध पर अरब विजय को भारतीय इतिहास की एक साधारण घटना बताया है। उनका कथन है—"सिंध पर अरबों का अधिकार भारतीय इतिहास में एक क्षेपक मात्र था और इस विशाल देश के केवल एक किनारे मात्र को छू सका। इस्लाम की वह ऐसी विजय थी जिसका कोई फल नहीं हुआ।" इतिहास के मूर्धन्य विद्वान डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"जब हम विश्व के अन्य भागों में लिखा अरबों की अद्भुत सैन्य सफलताओं का स्मरण करते हैं, तो उनके द्वारा भारत में प्राप्त की गई सफलताएं तुलनात्मक दृष्टि से महत्वहीन लगती हैं।" उन्होंने यह भी लिखा है—"अरबों की भारत में असलफता का मुख्य कारण भारतीयों की श्रेष्ठ सैनिक शक्ति तथा राज्य का संगठन था जो तत्कालीन अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ था।" भारत में अरब-अधिकार की असफलता के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी थे—

सिंध की भौगोलिक स्थिति—सिंध की भौगोलिक स्थिति के कारण अरब शेष भारतीय प्रदेशों को विजित नहीं कर पाए। मरुस्थल होने तथा आय के साधन अत्यन्त सीमित होने के कारण अरब-शासन का व्यय भी नहीं चल पाता था। सिंध से खलीफा को भी कोई आय प्राप्त नहीं हो पाती थी। निर्धन सिंध के स्वामी होने के कारण अरब भारत के अन्य शक्तिशाली तथा समृद्ध राज्यों को पराजित करने का साहस नहीं कर पाये। डा० आशर्वादीलाल श्रीवास्तव ने लिखा है कि सिंध देश के एक महत्वहीन कोने में स्थित होने के कारण, वहां से शेष भारत में प्रवेश अत्यधिक कठिन था और उसे आधार बनाकर भारत को विजित करना किसी भी विदेशी शक्ति के लिए सम्भव नहीं था।

खलीफाओं की अयोग्यता—खलीफाओं की अयोग्यता और उनमें व्याप्त पारस्परिक द्वेषभाव निहित होने के कारण भारत में अरब साम्राज्य का विस्तार अवरुद्ध हो गया। अपनी अयोग्यता के कारण वे दूर स्थित सिंध को अधिक समय तक अपने नियंत्रण और प्रभाव में नहीं रख पाये। आर्थिक रूप से दरिद्र प्रदेश होने के कारण खलीफाओं ने सिंध प्रदेश की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

आंतरिक कलह—आंतरिक कलह के कारण खलीफा के साम्राज्य की शक्ति क्षीण पड़ गई। दमिश्क विद्रोह के फलस्वरूप उमय्या वंश का पतन हो गया और अब्बासियों के हाथ में सत्ता आ गई। दूसरे खलीफा हारु-अल-रशीद के राज्यकाल में अरब अपनी पुरातन शक्ति खो बैठे थे। आंतरिक कलह के कारण अरब सिंध में अपने राज्य को स्थाई बनाने के लिए नई कुमुक नहीं भेज पाये।

तुर्कों के हाथ में राजशक्ति आ जाने के कारण बगदाद का खलीफा उनके हाथ की कठपुतली मात्र रह गया था। तुर्कों के हाथ की कठपुतली खलीफा के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह अरब के विद्रोहियों को कुचल सके। फलतः सिंध में अरब राज्य का पतन हो गया।

अरबों की अत्याचारी नीति—अरबों ने सिंध और मुल्तान विजय के अवसर पर लूट-खसोट, मारकाट और नरसंहार का परिचय दिया। जिन लोगों ने इस्लाम-धर्म स्वीकार करने से इन्कार किया उन्हें अरबों ने मौत के घाट उतार दिया। बलपूर्वक हिन्दू सामंतों को मुसलमान बनाया गया। दाहिर के पुत्र जयसिंह को बल-पूर्वक इस्लाम धर्म अंगीकार करने को बाध्य किया गया। अरबों ने जनसाधारण में सर्वत्र भय और आतंक का वातावरण उत्पन्न किया। कालांतर में जब अरबों का प्रभाव क्षीण पड़ने लगा तो भारतीय सरदारों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। अवसर मिलते ही जयसिंह ने इस्लाम धर्म का परित्याग कर दिया।

अरबों की शक्ति में शिथिलता—आलस्य, विलासिता और पारस्परिक द्वेष-भाव के अवगुणों के कारण सिंध में अरबों की शक्ति का ह्रास प्रारम्भ हो गया। उनमें अब वह धार्मिक जोश नहीं रह गया था जो सिंध विजय के समय था। वे पहले की भाँति अनुशासनप्रिय भी नहीं रह गए थे। धार्मिक जोश और अनुशासन के अभाव ने भारत में अरब-राज्य की शक्ति को पतन की ओर ढकेल दिया।

कुशल नेतृत्व का अभाव—मुहम्मद-बिन्-कासिम को मृत्यु दण्ड दिए जाने के पश्चात् अरबों को उसके समान बेजोड़ नेतृत्व नहीं मिल पाया। जुनैद ने कुछ सफल-ताएं अवश्य अर्जित की थीं, किन्तु अरबों की आंतरिक दुर्बलता के कारण ये अस्थाई सिद्ध हुई।

शक्तिशाली राजपूत राज्यों का आविर्भाव—अरबों की सिंध और मुल्तान-विजय के पश्चात् भारत में अनेक शक्तिशाली राजपूत-राज्यों का आविर्भाव हुआ। विशेषतः सिंध के पूर्व और उत्तर में स्थित राजपूत-राज्यों ने अरबों का तीव्र प्रतिरोध किया। हिन्दू उन्हें म्लेच्छ की संज्ञा से संबोधित करते थे।

भारत में अरब-साम्राज्य के विस्तार में सर्वाधिक बाधा गुर्जर-प्रतिहारों ने पहुंचाई। भोज की ग्वालियर-प्रशस्ति में कहा गया है कि नागभट्ट प्रथम ने म्लेच्छा-धिपति की बलवती सेनाओं को परास्त किया। शक्तिशाली प्रतिहार-नरेश भोज ने भी पश्चिमी भागों से भारत में प्रवेश करने वाले अरब आक्रमणकारियों का डटकर मुका-बला किया। अरब यात्री सुलेमान उसे इस्लाम का सबसे बड़ा शत्रु बताता है।

दक्षिणी गुजरात के प्रसिद्ध राजा पुलकेशी ने अरबों को पराजित करके उनका दक्षिण की ओर प्रसार अवरुद्ध कर दिया था। नांदीपुरी के गुर्जर जयभट्ट चतुर्थ ने अरबों को पराजित किया। कन्नौज नरेश यशोवर्मा, कश्मीर नरेश ललितादित्य मुक्तापीड़, चित्तौड़ नरेश बप्पा रावल, गांधार के काबुल और जाबुल के हिन्दू-राजाओं ने डटकर अरब आक्रमण का सामना किया और उन्हें आगे नहीं बढ़ने दिया। शक्तिशाली राजपूत राजाओं के विरुद्ध अरबों को सफलता नहीं मिल पाई। अतः उनकी भारत विजय की आकांक्षा सिंध और मुल्तान पर अधिकार तक ही सीमित रह गई।

सिंध में अरब शासन-प्रबन्ध

सिंध और मुल्तान पर आक्रमण के समय मुहम्मद-बिन्-कासिम ने कट्टर नीति का आश्रय लिया। किन्तु बाद में जब उसने अरबों की अल्पसंख्यक स्थिति को महसूस किया और यह अनुभव किया कि बिना हिन्दुओं की सहायता के शासन का सुसंचालन कठिन है तो उसने हिन्दुओं के प्रति कट्टर नीति का परित्याग कर उदारनीति का परिचय दिया। हिन्दुओं को आंशिक धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई। जजिया कर देने वाले हिन्दू अपने आराध्यदेव की पूजा कर सकते थे।

प्रशासनिक इकाइयां—शासन की सुविधा के लिए अरबों ने सिंध को अनेक जिलों (इक्तों) में विभाजित किया। प्रत्येक जिले में एक अरब सैनिक अधिकारी नियुक्त किया गया था। स्थानीय मामलों में न्यायाधीश को पर्याप्त स्वतंत्रता थी। जिले गांवों में विभक्त थे। ग्राम प्रशासन सिंधवासियों के हाथों में केन्द्रित रहा। अरबों द्वारा किये गए प्रशासनिक परिवर्तन प्रान्तों और नगरों तक ही सीमित थे।

आय के साधन—राजस्व प्रणाली में अरबों ने कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया। उन्होंने कुछ साधारण परिवर्तनों के साथ दाहिर के शासन-काल में प्रचलित राजस्व प्रणाली को ही अपना लिया।

आय का प्रमुख साधन लूट में प्राप्त धन-संपदा थी। नियमानुसार उसका $\frac{1}{5}$ भाग खलीफा को भेजकर शेष धनराशि सैनिकों में वितरित की जाती थी। गैर-मुसलमानों से जजिया नामक धार्मिक कर वसूल किया जाता था। उपज का $\frac{2}{5}$ से $\frac{1}{4}$ भाग तक भू-कर के रूप में वसूल किया जाता था। सुरा, मछलियों, मोतियों, फलों आदि पर कर लगाये जाते थे। कर वसूलने के लिए ठेकेदारों द्वारा बोलियां बोली जाती थीं।

न्याय एवं दंड विधान—अरबों के शासनकाल में सिंध में न्याय एवं दंड विधान असंगठित था। सर्वत्र एक से नियम नहीं थे। न्याय प्रणाली इस्लाम और कुरान के नियमों के आधार पर आधारित थी। हिन्दुओं के प्रति दंड-विधान अपेक्षाकृत अधिक कठोर था। चोरी करने पर उन्हें जीवित जला दिया जाता था।

न्याय-व्यवस्था के अंतर्गत सिंध की राजधानी में एक काजी रहता था तथा अन्य महत्त्वपूर्ण नगरों में भी काजी नियुक्त किये गए थे। हिन्दुओं के आपसी झगड़े उनकी पंचायतों द्वारा तय किये जाते थे।

धार्मिक नीति—प्रारम्भ में अरबों ने हिन्दुओं के साथ अनेक अत्याचार किए, किन्तु बाद में जब उन्होंने सिंध और मुल्तान पर अधिकार कर लिया तो उन्होंने शासन-संचालन में अपनी कम संख्या, अनुभव की कमी और हिन्दुओं के सहयोग की आवश्यकता को महसूस किया तो जजिया को लेकर हिन्दुओं कर मंदिरों और घरों में अपने देवताओं की पूजा करने की स्वतंत्रता प्रदान कर दी।

हिंदुओं की दशा—अरब शासन के अंतर्गत सिंध में हिंदुओं की दशा हीन थी। उनमें हीन समझी जाने वाली जातियों के साथ दाहिर के शासन काल की भांति अत्याचार किये जाते थे। जाटों और मेदों के साथ घृणित व्यवहार होता था। उन्हें अच्छे वस्त्र पहनने, घोड़ों पर चढ़ने तथा सिर और पैर ढकने की स्वतंत्रता नहीं थी। हिंदुओं को सिंध-यात्रा पर आने वाले प्रत्येक मुसलमान को तीन दिन तक भोजन कराना पड़ता था। यद्यपि अरबों की नीति और प्रशासन से हिंदू संतुष्ट नहीं थे, तथापि डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने उनके शासन को तुर्कों के शासन की अपेक्षा अधिक उदार बताया है।

भारत पर अरब आक्रमण का प्रभाव

भारत को अरब आक्रमण ने कहाँ तक प्रभावित किया, इस सन्दर्भ में विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों ने राजनीतिक क्षेत्र में अरब प्रभाव को महत्त्वहीन बताया है।

राजनीतिक प्रभाव—भारतीय इतिहास में अरब आक्रमण को प्रभावहीन कहा गया है। वे सिन्ध और मुल्तान को छोड़कर शेष भारत को विजित नहीं कर पाये। शक्तिशाली राजपूत राजाओं ने निरन्तर पराजित कर उन्हें आगे बढ़ने का अवसर नहीं दिया।

लेनपूल महोदय ने अरब आक्रमण को एक साधारण और प्रभावहीन घटना कहा है। भारत में अरब सिंध और मुल्तान को ही विजित करने में सफल हो पाये। वुल्जेहेग ने अरबों की सिन्ध-विजय को भारत के इतिहास में एक कथा मात्र कहा है। उन्होंने लिखा है—"इस्लाम की लहर सिन्ध और दक्षिणी पंजाब के ऊपर से बहकर पीछे हट गई और रेत पर कुछ चिन्ह छोड़ गई।" उनका कथन है कि भारत जैसे विशाल देश के एक बहुत छोटे भाग पर इसका प्रभाव पड़ा। डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने राजनीतिक क्षेत्र में अरब आक्रमण को प्रभावहीन बताते हुए लिखा है—"राजनीतिक दृष्टि से अरबों की सिन्ध-विजय इस्लाम तथा भारत के इतिहास में एक महत्त्वहीन घटना थी। उसने लोगों की भाषा, कला, परम्पराओं, रीति-रिवाजों और रहन-सहन पर भी कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाला।" किन्तु यह तो मानना पड़ेगा कि अरबों की सिन्ध-विजय से मुसलमानों को भारत में पदार्पण करने का स्थान मिल गया जिसके दीर्घकालीन राजनीतिक परिणाम हुए।

सांस्कृतिक प्रभाव—यद्यपि अरब आक्रमण राजनीतिक क्षेत्र में भारत को प्रभावित नहीं कर पाया, तथापि साँस्कृतिक क्षेत्र में उसने अवश्य प्रभावित किया।

यद्यपि राजपूतों की शक्ति के सम्मुख अरब अपने साम्राज्य का विस्तार न कर सके और उन्हें अपने विजित प्रदेश भी राजपूत राजाओं को सौंपने पड़े, तथापि वे सिन्ध में बने रहे और यहाँ के लोगों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अथवा उन्हें प्रलोभन और बलपूर्वक मुसलमान बनाकर उन्होंने भारतीय मुसलमानों का एक नवीन वर्ग तैयार कर लिया। इस कार्य में उनकी हिन्दुओं में व्याप्त ऊँच-नीच की भावनाओं, छुआछूत के दोषों तथा अन्य सामाजिक विषमताओं ने अत्यधिक सहायता की क्योंकि अरबों ने इस्लाम धर्म में नवदीक्षितों को भी बराबरी का स्थान दिया। सिन्ध और मुल्तान पर अरब-प्रभाव स्थापित हो जाने के कारण अनेक अरब-यात्री, व्यापारी तथा इस्लाम धर्म के प्रचारक भारत में प्रविष्ट हुए। उन्होंने भारत विषयक ज्ञान को लिपिबद्ध किया। अरबों द्वारा वर्णित भारतीय विवरण से प्रभावित होकर तुर्कों ने भारत पर आक्रमण किये।

अरब सभ्यता और संस्कृति भारतीय सभ्यता और संस्कृति की अपेक्षा निम्न-कोटि की थी। जब अरबवासी भारतीयों के सम्पर्क में आये तो उन्होंने बहुत-सी बातें भारतीय संस्कृति से ग्रहण कर लीं।

अरबों की सिन्ध-विजय के फलस्वरूप भारतीय तथा अरबवासी एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आये। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों देशों के मध्य व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए।

साहित्यिक और वैज्ञानिक प्रभाव—भारतीय साहित्य और विज्ञान ने अरबों को प्रभावित किया। उस काल में बगदाद मुस्लिम-सभ्यता का केन्द्र था। जब वहां के लोगों को भारतीय विज्ञान की जानकारी मिली, तो उन्होंने उस ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने भारतीय ज्योतिष विद्या, चिकित्सा शास्त्र, औषधि-विज्ञान, गणित तथा नक्षत्र विद्या के क्षेत्र में अनेक बातें सीखीं। अमीर खुसरो का कथन है कि अबू-मशर नामक एक अरब-सिद्धान्त ज्योतिषी ने दस वर्षों तक बनारस में रह-कर सिद्धान्त ज्योतिष का अध्ययन किया। वह बगदाद का निवासी था। अल्बेरूनी लिखता है कि अरबों द्वारा प्रयुक्त संख्याओं के चिन्ह हिन्दू चिन्हों के सर्वसुन्दर स्वरूपों से निकलते थे। खलीफा हारुल रशीद ने इस ओर विशेष अभिरुचि दिखाई। उसने अपने असाध्य रोग के उपचार के लिए भारतीय चिकित्सक (वैद्य) मंख (माणिक्य) को बगदाद आमन्त्रित किया। मंख द्वारा सफल उपचार किये जाने पर खलीफा हारुल रशीद ने उसे बगदाद के शाही अस्पताल में मुख्य चिकित्साधिकारी नियुत किया। हारुल रशीद ने अनेक भारतीय औषधि विज्ञान के ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद करवाया। उसने भारतीय विद्वानों को बगदाद आमन्त्रित किया।

कलात्मक प्रभाव—साहित्य और विज्ञान के अतिरिक्त अरब भारतीय ललित कलाओं से भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। सिन्ध में अरबों ने शासन-प्रबन्ध और वास्तुकला के निर्माण कार्यों में हिन्दुओं की श्रेष्ठता को महत्त्व देते हुए उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त किया। उन्होंने संगीत कला, चित्रकला, युद्धकला आदि के क्षेत्र में भार-

तीयों से ज्ञान अर्जित किया। अरब लोग अनेक भारतीय कलाकारों को स्वदेश ले गये, जहाँ उन्होंने भारतीय कलाकारों से भारतीय कलाशैली के अनुरूप कई मस्जिदें निर्मित करवाईं। सिन्ध में अरबवासी भारतीयों की नकल करने लगे। पुनः वे वहाँ 'काफिरों के समान वस्त्र पहनने लगे तथा उन्हीं के ढंग की दाढ़ियाँ बढ़ाने लगे।' भवन निर्माण कला और संगीत कला तथा भौगोलिक क्षेत्र में अरबों ने भारत से बहुत कुछ सीखा। उन्होंने भारतीयों से शतरंज का खेल सीखा। सर्वप्रथम दाहिर की पुत्रियों ने खलीफा को शतरंज का खेल सिखाया।

धार्मिक प्रभाव—अनेक अरबवासी सिन्ध में बस गये थे। अरबों ने भारतीय प्रदेशों में इस्लाम का प्रचार और प्रसार किया। प्रलोभन देकर और बलपूर्वक अनेक हिन्दू मुसलमान बनाये गये। इस्लाम धर्म में सहबन्धुत्व और समानता का भाव होने के कारण अनेक हिन्दू उसकी ओर आकृष्ट हुए। भारत में हीन समझी जाने वाली जातियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इससे भारतवर्ष में इस्लाम की जड़ें मजबूत हो गईं। फलतः भविष्य में भारत में इस्लाम राज्य की स्थापना को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिला। सूफी धर्म के अनेक सिद्धान्त जैसे सूफियों का सन्तवाद, माला धारण करने का ढंग, फना (निर्वाण) का सिद्धान्त और उसे प्राप्त करने के लिए विभिन्न अवस्थाओं सम्बन्धी विश्वास भारतीय दर्शन और विश्वासों, विशेषतः बौद्ध विश्वासों से प्रभावित थे।

आर्थिक प्रभाव—अरब-अधिकार की अवधि में सिन्ध व्यापार का एक बड़ा केन्द्र बन गया। सिन्धवासियों का अन्य मुसलमान देशों के साथ स्थल और जल दोनों मार्गों से व्यापार होने लगा। तुर्कीस्तान और खुरासान आदि देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए।

भारत पर अरब प्रभाव का मूल्यांकन—यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि यद्यपि भारत पर अरब आक्रमण राजनीतिक दृष्टि से प्रभावहीन रहा, तथापि सांस्कृतिक क्षेत्र में इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। अरबवासियों के माध्यम से विश्व के अनेक देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान एच० जी० वैल्स ने लिखा है—"मध्ययुग में जब यूरोप में अविद्या का प्रसार था, वहाँ ज्ञान का दीपक अरबों को भारत से प्राप्त हुआ था।" हैवेल महोदय का कथन है कि इस्लाम के यौवन काल में भारतवर्ष उसका गुरु था जिसने उसको अनेक विद्याओं का ज्ञान करवाया और उसके साहित्य तथा कला आदि के क्षेत्र में विशेष योग दिया। सिन्ध पर इस्लाम आक्रमण के साँस्कृतिक प्रभाव के सम्बन्ध में डॉ० मजूमदार तथा अन्य विद्वानों ने लिखा है—"भारत और बगदाद के मध्य सीधा सम्पर्क खलीफा अलमंसूर (754-775 ई०) तथा हारुल रशीद (786-809 ई०) के शासनकाल में दिखाई देता है। सिन्ध अलमंसूर के शासनाधीन होने के कारण अनेक भारतीय दूत उसके दरबार में आये। उन्होंने अरबों को गणित तथा ज्योतिष आदि अन्य विषयों का ज्ञान करवाया। ये विद्वान अपने साथ गणित की अनेक पुस्तकें बगदाद ले गये जिनमें भारतीय विद्वान ब्रह्मगुप्त का 'खण्डकाध्यक' तथा 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' भी था।

उनकी सहायता से इन पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद अरब विद्वानों द्वारा किया गया, जिनमें अलफजारी तथा याकूब इब्न तारीख जैसे विद्वान अधिक प्रसिद्ध थे। इस तरह से पहली बार अरबवासी सर्वप्रथम नक्षत्र विद्या की वैज्ञानिक पद्धति से अवगत हुए। जब अरबों द्वारा नक्षत्र विद्या अथवा ज्योतिष का विकास किया गया तो उन पर ब्रह्मगुप्त की कृतियों का बहुत प्रभाव पड़ा न कि यूनानी विद्वान टॉलमी की कृतियों का। यह भी सम्भव है कि इन भारतीय विद्वानों द्वारा हिन्दू अंक अरबों में आये। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि दशमलव पद्धति ने विज्ञान की उन्नति में कितना कार्य किया। अरबों ने यह पद्धति भारत से सीखी। यूरोप ने यह पद्धति अरबों से सीखी। अतः यूरोप भी इसके लिए भारत का ऋणी है।" डॉ० श्रीवास्तव का कथन है—"भारतीय धर्म एवं संस्कृति का अरबों पर बहुत प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं की सभ्यता, दार्शनिक विचारों, आदर्शों तथा मानसिक प्रतिभा ने उन्हें स्तम्भित कर दिया। उन्होंने हमसे बहुत कुछ सीखा, विशेषकर शासन-कला, ज्योतिष, संगीत, चित्रकला, चिकित्सा तथा स्थापत्य के क्षेत्र में।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अरब आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक दशा पर प्रकाश डालिए।
2. सिन्ध और मुल्तान पर अरब आक्रमण की व्याख्या कीजिए।
3. अरबों की असफलता के कारणों का उल्लेख कीजिए।
4. भारत पर अरब आक्रमण के प्रभाव की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

31

भारत पर तुर्क आक्रमण

तुर्क चीन के पश्चिमोत्तर सीमा पर निवास करते थे। उनका सांस्कृतिक स्तर निम्नकोटि का था और वे खूंखवार लड़ाके थे। युद्ध से उन्हें स्वाभाविक प्रेम था। इस्लाम के प्रसार के पश्चात् उनमें से अनेक लोग मुसलमान हो गये। कुछ बिना धर्म परिवर्तन किये ही मुसलमान शासकों की सेवा में आ गये और अपने स्वाभाविक गुणों के कारण उनमें से अधिकांश सेना में भर्ती कर लिए गये।

तुर्कों द्वारा इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने के उपरान्त उनमें नवीन उत्साह का संचार हुआ। डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने तुर्कों के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"उनमें उस उत्साह और मस्तिष्क की संकीर्णता का आधिक्य था जो सर्वप्रथम किसी नये धर्म को अपनाने वालों में पायी जाती है। वे निर्भीक, वीर तथा पराक्रमी थे और आगे बढ़ने की प्रवृत्ति उनमें अत्यधिक बलवती थी। उनका दृष्टिकोण भी पूर्णतया मौलिकवादी था। इस्लाम ने उनकी असीम महत्त्वाकांक्षाओं को धार्मिकता का जामा पहना दिया था। अपने इन गुणों और दोषों के कारण वे पूरब में एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करने में पूर्णतया योग्य थे।"

सामनी वंश के शासक अहमद ने अलप्तगीन नामक एक तुर्क दास को खरीदा। वह अत्यधिक योग्य था। अतः उसे बल्ख का हाकिम नियुक्त किया गया। शनैः शनैः उसका प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि उसने गजनी में एक स्वतंत्र तुर्की-राज्य की स्थापना कर डाली। तत्पश्चात् उसके दामाद और दास सुबुक्तगीन ने 977 ई० में गजनी पर अधिकार कर अलप्तगीन के वंश का अन्त कर दिया। इसी सुबुक्तगीन के प्रतापी पुत्र महमूद गजनवी ने सत्रह बार भारतवर्ष को अपने आक्रमणों की विभीषिका से त्रस्त कर डाला।

गजनवी के नये राज्य के शासक शाही राज्य के अस्तित्व को पूर्णतया विनष्ट कर देना चाहते थे, क्योंकि उसकी उपस्थिति में उनके लिए भारत में प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था।

प्रथम तुर्क आक्रमण—भारत पर सर्वप्रथम तुर्क आक्रमण पिरीतिगीन के शासनकाल (सन् 972-977 ई०) में हुआ। पिरीतिगीन अलप्तगीन के बाद और सुबुक्तगीन से पूर्व गजनी की राजगद्दी पर आसीन हुआ। उसका आक्रमण प्रायः प्रभावहीन रहा।

जयपाल और सुबुक्तगीन के मध्य संघर्ष—सुबुक्तगीन 977 ई० में गजनी का शासक बना। उसके शासनकाल (सन् 977-997 ई०) में दो बार पंजाब के शाही शासक जयपाल के साथ तुर्कों का संघर्ष हुआ।

जयपाल सुबुक्तगीन के शक्तिशाली राज्य को पनपने देने से पूर्व ही नष्ट कर देना चाहता था। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने एक विशाल सेना सहित 986-987 ई० में गजनी पर चढ़ाई कर दी। दोनों की सेनाएँ शक्तिशाली थीं। अतः कोई भी पक्ष पराजय स्वीकार करने को तैयार नहीं था। दुर्भाग्यवश झंझावात के कारण जयपाल की सेना छिन्न-भिन्न हो गई। विवश होकर उसे सुबुक्तगीन के साथ अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। उसने काफी धन, 50 हाथी और अपने राज्य का कुछ भू-भाग सुबुक्तगीन को देने का वचन दिया। किन्तु लाहौर पहुंचकर जयपाल ने संधि की उपरोक्त अपमानजनक शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। क्रुद्ध होकर सुबुक्तगीन ने जयपाल के राज्य पर आक्रमण कर दिया और लमगान को लूट लिया। भारतीय राजाओं की सम्मिलित शक्तिशाली सेना को लेकर जयपाल ने सुबुक्तगीन का सामना किया, किन्तु उसे पराजित होना पड़ा। फलतः सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे के लमगान सहित अनेक प्रदेश जयपाल के अधिकार से निकलकर सुबुक्तगीन के प्रभाव-क्षेत्र में चले गये। 997 ई० में सुबुक्तगीन की मृत्यु हो गई। मृत्यु से पूर्व उसने अपने छोटे पुत्र इस्माइल को उत्तराधिकारी नियुक्त किया। किन्तु उसके एक अन्य पुत्र महमूद ने उत्तराधिकार के लिए हुए गृहयुद्ध में इस्माइल को पराजित कर राज-गद्दी पर अधिकार कर लिया।

महमूद गजनवी ने सत्रह बार भारत पर आक्रमण किये। उसके भारत अभि-यान से पूर्व तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा पर संक्षिप्त प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है।

महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत की दशा

महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत में सिन्ध और मुल्तान में दो अरब-राज्य विद्यमान थे। वहां अनेक भारतीयों को मुसलमान बनाया जा चुका था। दक्षिणी भारत में मालाबार में अरब व्यापारियों का एक उपनिवेश था। ये अरब व्यापारी भी हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की नीति को प्रोत्साहन दे रहे थे। जिन भारतीयों ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था वे मुस्लिम वेशभूषा धारण करते थे तथा वे मुसलमानों (तुर्कों) के प्रति सहानुभूति भी रखते थे। भारतीय मुसलमानों की नीति ने सुबुक्तगीन, महमूद गजनवी और मोहम्मद गोरी को भारत पर आक्रमण करने के लिए निरन्तर प्रोत्साहित किया। महमूद गजनवी के आक्रमण के साथ

भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा इस प्रकार दृष्टिगोचर होती है—

राजनीतिक दशा

महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत राजनीतिक दृष्टि से विशृंखलित था। वह अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। ये राज्य स्वतन्त्र थे और एक-दूसरे के प्रति द्वेषभाव रखते थे। साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा से वे निरन्तर संघर्ष-रत रहते थे।

सिन्ध और मुल्तान का अरब-राज्य—महमूद गजनवी के आक्रमण के समय सिन्ध और मुल्तान में दो अरब-राज्य विद्यमान थे। इन दोनों राज्यों की स्थिति अधिक सबल नहीं थी। सिंध और मुल्तान के अरब राज्य महमूद के भारत प्रवेश के समय खलीफा के नियन्त्रण से मुक्त हो चुके थे। अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखने के उद्देश्य से वे नाममात्र को खलीफा का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। डॉ० श्रीवास्तव ने उनकी इस नीति को कूटनीतिक चाल कहा है। मुल्तान में करमाथी जाति के मुसलमानों का प्रशासन था। वहाँ का शासक फतेह दाउद योग्य राजा था। सिंध में अरबों का राज्य था जिन्होंने भारतीयों को मुसलमान बनाने का भरसक प्रयत्न किया।

हिन्दूशाही राज्य—तुर्क-आक्रमण के समय हिन्दू-राज्य चिनाब से हिन्दूकुश तक विस्तृत था। ईरान के सम्राट् को पराजित करने के उपरान्त अरबों ने सिन्ध को विजित कर लिया। उन्होंने काबुल और जाबुल नामक हिन्दू-राज्यों को विजित करने की योजना बनाई। किन्तु दो सौ वर्षों तक संघर्ष करने के उपरान्त भी कोई सफलता नहीं मिल पाई। 870 ई० में ईरान के सम्राट् ने उसे विजित कर लिया। किन्तु उसकी विजय अल्प सिद्ध हुई। काबुल ने पुनः अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और महमूद गजनवी के आक्रमण के समय तक वह एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में विद्यमान रहा। दसवीं शताब्दी में जयपाल वहाँ का राजा था। वह एक महान योद्धा और कुशल प्रशासक था। उसके राज्य की स्थिति ऐसी थी कि गजनी के शासकों के आक्रमण का सर्वप्रथम उसे ही मुकाबला करना पड़ा।

कश्मीर—कश्मीर के शासक शंकरवर्मन ने अनेक विजयें प्राप्त कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। समरभूमि में वीरगति प्राप्त करने के पश्चात् कश्मीर राज्य में अराजकता उत्पन्न हो गई। ऐसी स्थिति में वहाँ के ब्राह्मणों ने यशस्कर को राजगद्दी पर बिठाया। कुछ समय पश्चात् यशस्कर के वंश का अन्त हो गया और पर्वगुप्त ने एक नये वंश की नींव डाली। पर्वगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र क्षेमेन्द्र गद्दी पर बैठा। उसकी मृत्यु के बाद उसकी रानी दिद्दा ने 1003 ई० तक शासन किया। तदुपरान्त उसका भतीजा लोहारवंशी संग्रामसिंह राजा बना। इस प्रकार विदित होता है कि महमूद के आक्रमण के समय कश्मीर राज्य की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी।

कन्नौज—नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कन्नौज पर प्रतीहार वंश का अधिकार स्थापित हुआ। प्रारम्भिक प्रतीहार नरेश नागभट्ट प्रथम और मिहिरभोज ने अरबों

को पराजित किया। उनके अभिलेखों में म्लेच्छों को पराजित किये जाने का उल्लेख मिलता है। जिस समय कन्नौज में शक्तिशाली प्रतीहार वंश का राज्य था, उस समय बंगाल में पालवंश और दक्षिण में राष्ट्रकूट राजा राज्य कर रहे थे। अपने साम्राज्य विस्तार हेतु इन तीनों वंशों में प्रतिद्वन्द्विता विद्यमान थी और संघर्ष होते रहते थे। शक्तिशाली प्रतीहार नरेश वत्सराज (755-800 ई०), नागभट्ट द्वितीय (800-833 ई०) और मिहिरभोज (836-885 ई०) ने कन्नौज के गौरव को वढ़ाया। महमूद गजनवी के आक्रमण के समय (1018 ई०) कन्नौज में प्रतीहार नरेश राज्यपाल शासन कर रहा था। वह अयोग्य सम्राट था। महमूद के कन्नौज-आक्रमण (1018 ई०) के समय वह बिना मुकावला किये भाग गया। तुर्कों ने कन्नौज के मन्दिर को लूटकर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और वलात् धर्म परिवर्तन करवाया।

बंगाल—750 ई0 में गोपाल ने बंगाल में पालवंश की नींव डाली। उसका पुत्र धर्मपाल (770-810 ई०) और पौत्र देवपाल (810-850 ई०) अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी और शक्तिशाली सिद्ध हुए, उन्हें अपने शासनकाल में कन्नौज के प्रतीहार तथा दक्षिण के राष्ट्रकूटों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। महमूद के भारत अभियान के समय बंगाल में पालवंशी महीपाल प्रथम (988-1038 ई०) राज्य कर रहा था। उसे 1021-1023 ई० के मध्य दक्षिण के चोल शासक राजेन्द्र चोल के भीषण आक्रमण का सामना करना पड़ा। दूर स्थित होने के कारण महमूद ने बंगाल पर आक्रमण नहीं किया।

अन्य राज्य—उपर्युक्त शक्तिशाली राज्यों के अतिरिक्त उस समय उत्तरी भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य भी विद्यमान थे। उस समय गुजरात में चालुक्य, बुंदेलखण्ड में चन्देल और मालवा में परमार वंश राज्य कर रहे थे।

दक्षिणी राज्य—दक्षिणी भारत के राजवंशों में निरन्तर पारस्परिक संघर्ष के कारण वहाँ प्रगति नहीं हो पाई। महमूद के आक्रमण के समय दक्षिण में पूर्ववर्ती चालुक्य, राष्ट्रकूट और पल्लवों का प्रभुत्व समाप्त हो चुका था। उनके स्थान पर कल्याणी के परवर्ती चालुक्य और तंजौर का चोल वंश अस्तित्व में आया।

कल्याणी की चालुक्य शाखा का संस्थापक तैलप था। उसने राष्ट्रकूटों को पराजित करके अपने राज्य का विस्तार किया। कल्याणी के चालुक्यों में जयसिंह द्वितीय सर्वाधिक शक्तिशाली था।

महमूद के उत्तर भारत अभियान के समय दक्षिणी भारत में चोलवंश का राजेन्द्र चोल राज्य कर रहा था। वह महान योद्धा और विजेता था। उसकी गणना भारत के महत्तम सम्राटों में की जाती है।

चालुक्यों और चोलों में प्रबल प्रतिद्वन्द्विता थी। जिस समय महमूद उत्तरी भारत के राज्यों को धराशायी कर रहा था, मन्दिरों को ध्वस्त और मूर्तियों को खण्डित कर रहा था, हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बना रहा था, धन लूट रहा था तथा नरसंहार में व्यस्त था; उस समय दक्षिण की दो शक्तियाँ चालुक्य और चोल

परस्पर संघर्षरत थे। वे महमूद की दमन और विध्वंसात्मक नीति को तमाशाइयों की तरह देखते रहे जो उस काल की राष्ट्रीयता की भावना के अभाव का प्रमाण है। यदि चोल और चालुक्य उत्तरी भारत के राजाओं की ओर से तुर्कों का प्रतिरोध करते तो भारत में सत्रह आक्रमणों के विजेता महमूद गजनवी को पराजित होकर गजनी लौटना पड़ता और भारत आसानी से तुर्क आधिपत्य में नहीं आता।

सामाजिक दशा

अरबों की सिन्ध विजय के उपरान्त लगभग तीन शताब्दी तक भारत विदेशी आक्रमणों से अप्रभावित रहा। भारतीयों में यह भावना उत्पन्न हो गई थी कि भारत पर और कोई आक्रमण नहीं कर सकता। वे भारत को विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित समझने लगे थे। अतः उन्होंने विदेशी आक्रांताओं के प्रवेश द्वार पश्चिमी सीमाओं और प्रदेशों की किलेवन्दी की और कोई ध्यान नहीं दिया। भारतीय तुर्कों की नवीनतम युद्ध शैली से अवगत नहीं थे। उन्हें तुर्कों के आधुनिकतम शस्त्रों का ज्ञान भी नहीं था। अपने को श्रेष्ठ और अपने ज्ञान को सर्वोत्तम समझने की दम्भ भावना के फलस्वरूप वे विदेशी सभ्यता और ज्ञान के सम्पर्क से दूर रहे। वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा के कुप्रभाव ने समाज को ग्रस्त कर लिया था। जाति-प्रथा कठोर स्वरूप ले चुकी थी। समाज में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ और शूद्रों को हीन समझा जाता था। नारियों की प्रतिष्ठा घट चुकी थी। उन्हें बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना पड़ता था। दुराचारी और पतित पति की देवता की भाँति पूजा की जाती थी। समाज में बाल-विवाह, सती-प्रथा और कन्या-वध की कुप्रथा प्रारम्भ हो चुकी थी। महमूद गजनवी के साथ आये हुए तुर्की विद्वान अल्बेरूनी ने तत्कालीन समाज की स्थिति तथा हिन्दुओं की भावना का उल्लेख करते हुए लिखा है—"हिन्दुओं की धारणा यह है कि हमारे जैसा देश, हमारी जैसी जाति, हमारे जैसा राजा, धर्म, ज्ञान और विज्ञान संसार में कहीं नहीं है।" वह लिखता है कि हिन्दू अपने पूर्वजों से अधिक संकीर्ण हैं। भारतीय विदेशियों को अपवित्र समझते हैं। उन सभी विदेशियों से वे सम्बन्ध स्थापित करने का विरोध करते थे, जिन्हें वे म्लेच्छ अथवा 'पापात्मा' कहते हैं। अपने धर्म और समाज के बाहर रहने वालों का वे स्वागत नहीं करते। जो कुछ वे जानते हैं, उसको बताने में भी वे स्वभावतः अनुदार हैं। यदि उनसे खुरासान अथवा फारस के किसी विज्ञान अथवा विद्या की बात कही जाती है, तो वे इस कथन को अज्ञानपूर्ण और मिथ्या समझते हैं। भारतीयों के इस दम्भ ने विदेशियों के साथ उनके सम्पर्क को समाप्त कर दिया, जिससे मध्य एशिया में इस्लाम धर्म की नवोदित शक्ति तथा राजनीतिक परिवर्तनों का भारतीयों को ज्ञान नहीं हो पाया और देश की सुरक्षा का दायित्व भी वे नहीं निभा पाये।

धार्मिक दशा—ग्यारहवीं शताब्दी में भारत की धार्मिक दशा भी पतन की ओर अग्रसर थी। वाममार्गी सम्प्रदायों की लोकप्रियता बढ़ने लगी। धर्मानुयाई सुरापान, मांसाहार, व्यभिचार आदि दुर्व्यसनों में लिप्त हो गये। बिहार के विक्रम-

शीला विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी के पास मदिरा की एक बोतल पकड़ी गई जो उसे एक भिक्षुणी ने दी थी। शिक्षा और धर्म के उच्च केन्द्र विलास और प्रमाद के अड्डे बन गये। मन्दिरों में देवताओं की सेवा के लिए अविवाहित कन्याएँ रखी जाती थीं जिससे वेश्यागमन मन्दिरों में एक सामान्य बात हो गई थी। समाज पर अश्लील तान्त्रिक साहित्य का प्रभाव स्थापित हो चुका था। धार्मिक जीवन अस्त-व्यस्त था। भाग्य में अटूट विश्वास रखने वाले हिन्दू अकर्मण्य हो गये थे। राजा ज्योतिषियों की भविष्यवाणी में विश्वास करते थे। लक्ष्मणसेन की पराजय और इख्तारुद्दीन की विजय इसका प्रमाण है।

विभिन्न धर्मानुयाइयों में परस्पर मनोमालिन्य की भावना विद्यमान थी। ब्राह्मण और बौद्ध, शैव और वैष्णव, निर्गुण एवं सगुण के उपासक आपस में लड़ते रहते थे और एक-दूसरे को नीचा दिखाने में सर्वदा प्रयत्नशील रहते थे। यहां तक कि जब सिन्ध के ब्राह्मण राज्यों पर अरबों ने आक्रमण किया तो वहां रहने वाले बौद्धों ने अरबों की सहायता की। लोग तन्त्र-मत्र, झाड़-फूँक, जादू-टोना आदि पर अगाध विश्वास करते थे।

आर्थिक दशा—ग्यारहवीं शताब्दी में भारत आर्थिक दृष्टि से समृद्ध था। कृषि, छोटे उद्योग तथा व्यापार में भारी उन्नति हुई। मन्दिर सम्पदा के केन्द्र बन गये थे और वहाँ से दान वितरित किया जाता था। साधारण व्यक्ति भी अपना जीवन-यापन विना कठिनाइयों के कर लेता था। भारत की अपार धन-सम्पदा ने ही धन-लोलुप महमूद गजनवी को भारत पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया। उसने अपने आक्रमणों का निशाना भी धन-दौलत के भण्डार भारतीय मन्दिरों को बनाया।

महमूद गजनवी का राज्याभिषेक—महमूद का जन्म 971 में हुआ था। उसका पूरा नाम अबुलकासिम महमूद था। सुबुक्तगीन ने अपने पुत्र महमूद को इस्लामी ढंग से अच्छी शिक्षा प्रदान की थी। उसने किशोरावस्था में ही अपने पिता की और से अनेक युद्धों में भाग लेकर अपने कुशल नेतृत्व तथा साहसिक कार्यों का परिचय दिया। वह सन् 994 से 998 ई० तक खुरासान का सूबेदार रहा।

997 ई० में सुब्रुक्तगीन की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् 998 ई० में बड़ी सज-धज के साथ उसके (सुबुक्तगीन) पुत्र महमूद गजनवी का राज्याभिषेक हुआ। 999 ई० में बगदाद के खलीफा अल्-कादिर-बिल्लाह ने 'यामिनुद्दौला' और 'अनीनुल्मिल्लाह' के विरुदों के साथ महमूद को सीस्तान, अफगानिस्तान और खुरासान का विधिवत् शासक मान लिया।

राजगद्दी पर बैठते ही महमूद गजनवी ने मूर्तिपूजा को समाप्त करने के लिए प्रतिवर्ष हिन्दुओं पर आक्रमण करने की प्रतिज्ञा ली। वह एक वीर और पराक्रमी राजा था। युद्धों में उसकी स्वाभाविक रुचि थी।

महमूद अपने समय में में एशिया का सर्वाधिक शक्तिशाली सुल्तान था। बाल्यकाल से ही वह धर्मान्ध प्रकृति का था। वह इस्लाम का प्रचार करना तथा काफिरों का विनाश करना चाहता था। वह जन्मजात सैनिक था।

जिस समय महमूद गजनवी गजनी का शासक बना, उस समय भारतवर्ष राजनीतिक दृष्टि से विखण्डित था। भारत छोटे-छोटे राजपूत राज्यों में विभक्त था। इन राज्यों में परस्पर द्वेष की भावना व्याप्त थी और वे अपने राज्य के विस्तार हेतु अहर्निश संघर्षरत रहते थे। जनसाधारण में राष्ट्रीयता का सर्वथा अभाव था। उस समय भारत एक धन-सम्पन्न देश था। महमूद गजनवी ने भारतवर्ष के धन-वैभव की कहानियाँ सुन रखी थीं। इस प्रकार एक ओर राजपूतों के पारस्परिक वैमनस्य तथा दूसरी ओर भारतवर्ष की अपार सम्पत्ति ने महमूद को भारत पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया। उसने अपने शासन-काल में सत्रह बार भारत पर आक्रमण किये और सदैव सफलता प्राप्त करके अपार धन-सम्पत्ति प्राप्त की।

महमूद गजनवी के आक्रमणों का उद्देश्य—महमूद गजनवी ने भारत पर सत्रह आक्रमण किये। उसके भारत पर किये गये आक्रमणों के उद्देश्य इस प्रकार थे—

महमूद अत्यन्त लालची व्यक्ति था। उसके आक्रमणों का प्रमुख उद्देश्य भारत की अपार धन-सम्पत्ति को लूटना था। ईश्वरी प्रसाद ने उसे 'लुटेरा' की संज्ञा दी है। महमूद की युद्धों में स्वाभाविक रुचि थी। युद्धों के लिए अपार धनराशि की आवश्यकता पड़ती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने धनसम्पन्न देश भारत पर आक्रमण करना आवश्यक समझा। हिन्दू-मन्दिरों के धन-वैभव की कहानियां उसने सुन रखी थीं। महमूद द्वारा भारत पर किये गये आक्रमणों का उद्देश्य धन प्राप्त करना था, जैसा कि उसकी युद्ध-नीति से स्पष्ट हो जाता है। उसने राजधानियों और सुदृढ़ गढ़ों पर आक्रमण कर समृद्ध नगरों तथा सोने-चाँदी से परिपूर्ण मन्दिरों को ही अपने आक्रमणों का लक्ष्य बनाया। महमूद अपनी लालची प्रवृत्ति के लिए इतिहास में बहुत बदनाम है। एक बार उसने अपने दरबारी कवि फिरदौसी से कहा था कि तुम मेरी प्रशंसा में जितने शेर लिखोगे मैं प्रत्येक शेर के लिए सोने की दीनार तुम्हें दूँगा। किन्तु जब फिरदौसी ने शाहनामा नामक पुस्तक महमूद की प्रशंसा में लिखी तो सुल्तान ने सोने के स्थान पर चांदी की दीनारें देनी चाहीं। फिरदौसी ने चाँदी की दीनारें लेने से इन्कार कर दिया। प्रोफेसर हैवेल ने महमूद की लालची प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है—"महमूद गजनवी स्वभाव से इतना लालची व्यक्ति था कि यदि बगदाद की लूट में उसे असीम धन-प्राप्ति की आशा होती तो वह खलीफा के इस पवित्र नगर को भी उसी क्रूरता से लूटता जैसे उसने हिन्दुओं के प्रसिद्ध मन्दिर सोमनाथ को लूटा था।"

धन-प्राप्ति करने के अतिरिक्त महमूद के आक्रमणों का दूसरा उद्देश्य भारत से हाथी प्राप्त करना था। भारत से प्राप्त हाथियों की मदद से वह मध्य एशिया के विरोधी शासकों को पराजित करना चाहता था।

महमूद गजनवी के आक्रमणों का तीसरा उद्देश्य भारत में इस्लाम धर्म का

प्रचार करना था। वह मूर्तिपूजा का घोर विरोधी था। सोमनाथ के मन्दिर के पुजारी ने जब महमूद से शिव प्रतिमा को न तोड़ने का अनुरोध किया तो महमूद ने कहा कि 'मैं बुतफरोश (मूर्ति बेचने वाला) नहीं हूँ, मैं बुतशिकन (मूर्ति तोड़ने वाला) हूँ।" सिंहासन पर बैठते ही उसने हिन्दुओं पर प्रतिवर्ष आक्रमण करने की प्रतिज्ञा ली।

महमूद गजनवी के आक्रमण

महमूद गजनवी ने धनलोलुपता की भावना, भारत से हाथी प्राप्त करने तथा भारत में इस्लाम धर्म के प्रचार के उद्देश्य से भारत पर सत्रह आक्रमण किए, जिनका विवरण इस प्रकार है—

पंजाब के शाही राजाओं के विरुद्ध महमूद के सैनिक अभियान—महमूद एक असाधारण योद्धा था। उसके वीरत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ नाजिम ने लिखा है, "नेपोलियन की भाँति एक विशाल युद्धक्षेत्र में, जो ईराक से गंगा तक और खवराजम से काठियावाड़ तक विस्तृत था, महमूद तेंतीस वर्ष तक निरंतर लड़ता रहा। उसने तुर्किस्तान की समस्त सैन्य शक्ति को ललकारा और भारतीय राजाओं के संयुक्त विरोध का भी सामना किया, परन्तु प्रत्येक बार उसे असाधारण तथा गौरवशाली सफलता प्राप्त हुई।"

महमूद ने उत्तर में कश्मीर से लेकर कालंजर तक और पूर्व में कन्नौज से लेकर सोमनाथ तक धावे मारे। किन्तु भारतवर्ष पर किए गए आक्रमणों में उसका सर्वाधिक विरोध पंजाब के शाही राजाओं ने किया, जिनके फलस्वरूप महमूद एक-दो बार भारी संकटमय स्थिति में पड़ गया।

महमूद का जयपाल पर आक्रमण (1001 ई॰)—जयपाल सुबुक्तगीन के आक्रमण को झेल चुका था। 1001 ई॰ में महमूद ने बिना कारण धर्मयुद्ध के नाम पर अपने चुने हुए घुड़सवारों तथा वीर सैनिकों द्वारा जयपाल पर आक्रमण कर दिया। जयपाल की सेना तुर्की सेना की भांति अनुशासित और रणकुशल न होने के कारण पराजित हो गई। इस युद्ध में पन्द्रह हजार हिन्दू सैनिक मारे गये और राजा जयपाल अपने कई साथियों सहित बंदी बनाया गया। महमूद ने जयपाल के गले की बहुमूल्य रत्नजटित माला तथा उसके साथियों के आभूषण उतरवाकर अपने आक्रमणों का प्रमुख उद्देश्य, धन प्राप्त करने की नीति का परिचय दिया। उत्बी ने जयपाल की रत्नजटित इस माला का मूल्य बीस हजार दीनार तथा अन्य साथियों के आभूषणों का मूल्य चालीस हजार दीनार बताया है। इसके अतिरिस्त महमूद ने अत्यधिक धन तथा खुरासान से भी बड़े एक अधिक उपजाऊ भारतीय प्रांत पर अधिकार कर लिया। पराजित शाही नरेश ने पचास हाथियों की भेंट देकर मुक्ति प्राप्त की। फरिश्ता का कथन है कि जयपाल ने अपनी मुक्ति के लिए महमूद के पास बहुत अधिक धन और हाथियों की भेंट प्रतिवर्ष भेजना स्वीकार किया। महमूद द्वारा अपनी पराजय और अपमान से जयपाल व्याकुल हो उठा और उसने 1002 ई॰ में अपने पुत्र आनन्दपाल को राज्याधिकार देकर प्रज्वलित चिताग्नि में अपनी आहुति दे दी।

महमूद का आनंदपाल पर आक्रमण (1005 ई०)—जयपाल को पराजित करने के उपरांत महमूद ने आनंदपाल पर आक्रमण कर दिया। महमूद के आनंदपाल पर किए गए आक्रमण का कारण फरिश्ता यह बताता है कि उसने महमूद के पास वार्षिक भेंटें भेजनी बंद कर दी थीं। 1005 ई० में सिन्धु को पार करने के बाद महमूद ने आनंदपाल के पास संदेश भेजा कि वह मुल्तान ने विरुद्ध तुर्की सेनाओं को अपने राज्य से होते हुए जाने दे। किन्तु प्रतिशोध की भावना से मुक्त और स्वाभिमानी राजा आनंदपाल ने उसके संदेश को ठुकरा दिया। क्रुद्ध होकर महमूद ने आनंदपाल के राज्य पर आक्रमण कर दिया। उसने आनंदपाल के राज्य को लूटा और जन-धन की क्षति पहुंचाई।

महमूद का आनंदपाल पर पुनः आक्रमण (1008 ई०)—1008 ई० में महमूद ने आनंदपाल पर पुनः आक्रमण कर दिया। सिंधु नदी के किनारे पेशावर के पास आनंदपाल और महमूद की सेना में भयंकर मुठभेड़ हुई। युद्ध के प्रथम चरण में हिंदू सेना ने मुसलमानों पर तीव्र प्रहार किया और पाँच हजार सैनिकों को मार डाला। किन्तु तुर्क सेना के सांघातिक आक्रमणों से भयभीत होकर आनंदपाल का हाथी रणक्षेत्र से भाग गया। जयपाल की सेना ने उसे पलायन मानकर लड़ना बन्द कर दिया। फलतः महमूद इस युद्ध में भी विजयी हुआ। इस प्रकार आनंदपाल का हाथी बिगड़ जाने के कारण पराजय के कगार पर पहुंचा महमूद विजयश्री प्राप्त करने में सफल रहा। विजयी महमूद के हाथ इस युद्ध की लूट में कुछ हाथियों के अतिरिक्त कुछ नहीं लगा। अतः लूट की अपनी भूख को मिटाने के लिए 1009 ई० में महमूद ने नगरकोट का मंदिर लूट डाला। पराजित शाही नरेश आनंदपाल को भी उसने भेंट देने पर तथा अपनी अधीनता स्वीकार करने को विवश किया। नगरकोट मंदिर से महमूद के हाथ अपार धन-संपदा लगी। फरिश्ता के शब्दों में, "इस विजय के परिणाम-स्वरूप 7 लाख स्वर्ण दीनार, 700 मन सोने व चांदी के बर्तन, 200 मन सोना, 2,000 मन कच्ची चांदी और 20 मन बहुमूल्य जवाहरात विजेता के हाथ लगे।"

महमूद का त्रिलोचनपाल पर आक्रमण—आनंदपाल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र त्रिलोचनपाल राजगद्दी पर आसीन हुआ। उसे अपने शासनकाल (सन् 1012-1021 ई०) में कई बार महमूद के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। महमूद के आक्रमणों को विफल करने के उदेश्य से त्रिलोचनपाल ने कश्मीर के राजा संग्राम सिंह (1003-28) और चन्देल राजाओं से सैनिक सहायता भी प्राप्त की, किंतु महमूद ने उसे पराजित कर उसके राज्य पंजाब पर अधिकार कर लिया।

1021 ई० में त्रिलोचनपाल की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उसका पुत्र 'निडर भीम' राजा बना। उसने अपने कुल के शत्रु महमूद का विरोध जारी रखा। 1026 ई० में उसकी मृत्यु के साथ ही शाही वंश का अंत हो गया।

भटिण्डा पर आक्रमण (1005 ई०)—1005 ई० में महमूद ने भटिण्डा पर आक्रमण कर दिया। वहां के राजा बाजीराव ने डटकर महमूद के आक्रमण का सामना किया, महमूद की आक्रामक युद्ध-नीति के कारण वह पराजित हुआ और बन्दी

बनाया गया। महमूद ने कई नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया। जनसाधारण पर इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए दबाव डाला, कोष और मंदिरों को लूटा, मंदिरों को ध्वस्त कर मस्जिदें निर्मित कीं तथा हाथियों का दस्ता प्राप्त किया।

मुल्तान पर आक्रमण (1006-1010 ई०)—मुल्तान के शासक दाऊद का शिया धर्म का पोषक होने तथा महमूद की सेना को मुल्तान से न निकलने देने के कारण महमूद नाराज था। अतः 1006 ई० में महमूद ने दाऊद पर आक्रमण कर उसे युद्ध में पराजित कर दिया। उसने दाऊद को अपदस्थ कर सुखपाल को मुल्तान का शासक नियुक्त किया। 1008 ई० में महमूद ने सुखपाल पर आक्रमण कर दिया। उसके आक्रमण की विभीषिका से त्रस्त होकर जयपाल भाग गया। 1010 ई० में महमूद ने मुल्तान पर पुनः आक्रमण कर हजारों शिया-मतावलम्बियो का वध करवा दिया तथा मुल्तान को अपने राज्य में मिला लिया।

नारायणपुर पर आक्रमण (1009 ई०)—1009 ई० में महमूद ने नारायणपुर के राजा पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया। वहां के राजा ने महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली। इस मैत्री से भारत और खुरासान के मध्य व्यापारिक संबंधों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

थानेश्वर पर आक्रमण (1014 ई०)—थानेश्वर में चक्रस्वामी का एक प्रसिद्ध मंदिर था। 1014 ई० में महमूद ने उसे लूट लिया। उसने मनमाने ढंग से नगर को लूटा तथा मूर्त्तियों एवं मंदिरों को ध्वस्त कर दिया। इस आक्रमण में महमूद के हाथ अतुल धन-संपत्ति लगी।

मथुरा पर आक्रमण (1018 ई०)—1018 में महमूद ने मथुरा पर आक्रमण कर वहां के मन्दिरों को ध्वस्त कर दिया। मथुरा के मंदिरों की अनुपम कारीगरी को देख कर वह आश्चर्यचकित रह गया। विजय के पश्चात् वह अनेक कुशल कारीगरों को भव्य इमारतों के निर्माण हेतु स्वदेश (गजनी) ले गया।

कन्नौज पर आक्रमण (1018-1020 ई०)—मथुरा के मंदिरों को लूटने के पश्चात् महमूद ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। उस समय कन्नौज में प्रतिहार नरेश राज्यपाल राज्य कर रहा था। वह एक निकम्मा और दुर्बल शासक था। महमूद के आक्रमण से भयभीत होकर वह बारी भाग गया। तुर्कों ने कन्नौज के महलों और मंदिरों को लूटकर तोड़ डाला, कई नागरिकों की हत्या कर दी तथा कई लोगों का बलात् धर्म परिवर्तन करवाया। 1020 ई० में महमूद ने कन्नौज पर पुनः आक्रमण कर दिया। राज्यपाल के पुत्र त्रिलोचनपाल ने बड़ी दृढ़ता व वीरता के साथ महमूद का सामना किया। किंतु पराजित हुआ। महमूद ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

चन्देल नरेश विद्याधर पर आक्रमण (1019-1023 ई०)—1019 ई० में महमूद गजनवी ने चन्देल नरेश विद्याधर पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इब्न्-उल-अतहर के शब्दों में—"वह चिंतित हो उठा और युद्ध की तैयारी करने

लगा। हि० 410 (1019 ई०) में विद्याधर को लक्ष्य बनाकर वह अफगानिस्तान होता हुआ पुनः एक बार लहलहाते हुए मैदानों पर टूट पड़ा।'

मुसलमान इतिहासकारों का कथन है कि महमूद ने 1019 ई० में विद्याधर को पराजित कर दिया। किंतु अनेक भारतीय विद्वानों का मत है कि दीर्घकालीन अनिर्णीत संघर्ष के उपरांत महमूद स्वदेश लौट गया।

1022 ई० में चन्देल नरेश विधाधर को पराजित करने के उद्देश्य से महमूद ने पुनः उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। किंतु इस बार भी महमूद विजयश्री प्राप्त न कर सका। दोनों ने एक-दूसरे की शक्ति का अनुमान लगाकर मित्रता कर ली। इस मैत्री के फलस्वरूप विद्याधर और महमूद ने एक दूसरे को भेंटें भेजीं।

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि महमूद जैसा अद्वितीय सेनानायक भी विद्याधर को पराजित न कर सका। इस प्रकार विदित होता है कि विद्याधर एक अत्यंत शक्तिशाली राजा था, जो महमूद के विजयी धावों और आंधी में अकेले स्तंभ की तरह खड़ा रहा।

सोमनाथ के मंदिर पर महमूद का आक्रमण (1025 ई०)—महमूद ने 1025 ई० में सोमनाथ के प्रसिद्ध शैव मंदिर पर आक्रमण कर दिया। यह उसका भारत पर किया गया सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सोलहवां आक्रमण था। यह मंदिर गुजरात के समुद्र-तट पर स्थित है। प्रसिद्ध मंदिर होने के कारण इसमें अतुल रत्न तथा काफी सोना भरा पड़ा था। इस मंदिर की अपार धन-संपदा की बातें लालची महमूद सुन चुका था अतः उसने उसे लूटने का निश्चय किया। इब्न्-उल्-अतहर ने लिखा है कि सोमनाथ के मंदिर को लूटने की अपनी सारी तैयारियां महमूद ने मुल्तान में की थीं और वहाँ से 30,000 घोड़ों के साथ हिजरी 416 (1025 ई०) में चला। 30,000 ऊँटों पर उसने पानी और भोजन की साम्राग्री रखवाई। महमूद के अहिंलवाड़ पहुंचने पर वहाँ का राजा नगर छोड़कर अपनी रक्षा के लिए एक दुर्ग में युद्ध की तैयारी के लिए जा छिपा। महमूद सोमनाथ की ओर बढ़ गया।

बिना किसी प्रतिरोध के महमूद सोमनाथ के मंदिर में पहुँच गया। सोमनाथ नगर के निवासियों और पंडितों, जिन्होंने महमूद को मंदिर में प्रवेश करने में बाधा पहुंचाई, उन्हें मार डाला गया तथा जो बचे वे पकड़कर गुलाम और मुसलमान बना डाले गये। इब्न्-उल्-अतहर और अल्गर्दीजी वहां मारे जाने वालों की संख्या 50,000 बताते हैं। 'तारीख-ए-अल्फी' और 'तारीख-ए-फरिशता' के कथनों से विदित होता है कि सोमनाथ मंदिर के ब्राह्मणों और पुजारियों ने महमूद से कहा कि यदि वह मूर्ति को न तोड़े तो जितना धन वह चाहे वे दे देंगे। इस पर महमूद ने कहा था—"मैं बुतफरोश (मूर्ति बेचने वाला) नहीं हूँ, मैं बुतशिकन (मूर्ति तोड़ने वाला) हूँ।"सोमनाथ की खोखली स्वर्ण प्रतिमा के भीतर हीरे, मोती तथा अन्य रत्न भरे पड़े थे, जिसे तलवार के एक ही झटके से महमूद ने तोड़कर बटोर लिये। इस मूर्ति के शीर्ष भाग को महमूद गजनी ले गया और उसे जामा-ए-

मस्जिद की सीढ़ियों पर चुन दिया गया, ताकि नमाज पढ़ने के लिए जाते हुए मुसलमानों के पैर उसके ऊपर पड़ें। मंदिर को लूटकर महमूद अतुल धन-संपत्ति ले गया। महमूद जब अपार धन-संपत्ति लेकर गजनी लौट रहा था तो उसे समाचार मिला कि चौलुक्य नरेश भीम उसका मुकावला करने के लिए आ डटा है। इस समाचार को पाकर महमूद ने मार्ग बदल दिया। मार्ग में महमूद को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसका बहुत-सा सामान जाटों ने लूट लिया और उसके वहुत से सैनिक तथा ऊंट-घोड़े मर गए।

महमूद का अंतिम आक्रमण (1027 ई०)—सोमनाथ के मंदिर को लूटकर जब महमूद स्वदेश लौट रहा था तो जाटों ने उसका बहुत सा सामान लूट लिया था। अतः 1027 ई० में प्रतिशोध की भावना से महमूद ने जाटों पर आक्रमण कर दिया। महमूद ने उनकी बस्तियां जला दीं, कई लोग कत्ल कर दिये गये तथा अनेक स्त्रियों एवं बच्चों को दास बना लिया गया। यह उसका अंतिम और सत्रहवां आक्रमण था।

महमूद के आक्रमणों की विवेचना

महमूद ने अपने शासन-काल में भारत पर सत्रह आक्रमण किये, किंतु वह प्रतिवर्ष भारत पर आक्रमण करने के अपने संकल्प को पूरा न कर सका। इसका प्रमुख कारण कभी-कभी मध्य एशिया के युद्धों में उसका फंस जाना था। अपने आक्रमणों में महमूद ने भारत से अपार धन-संपत्ति प्राप्त की, जिसका उपयोग उसने विद्वानों को आश्रयदान और गजनी राज्य को सुंदर इमारतों से अलंकृत करने में किया। वह अपने उत्तराधिकारियों के लिए भी अतुल धन-सम्पदा छोड़ गया। धन प्राप्त करने के अतिरिक्त भारत से प्राप्त हस्तिदल का उसने मध्य एसिया के युद्धों में प्रयोग किया। वह भारत से कुशल कारीगरों को स्वदेश ले गया। महमूद ने पंजाब और मुल्तान पर स्थाई अधिकार कर लिया जिससे भविष्य में होने वाले तुर्कों के आक्रमण का मार्ग प्रशस्त हो गया। महमूद के आक्रमणों से भारत को भारी क्षति हुई। वहाँ की अतुल संपत्ति बाहर चली गई।

महमूद के आक्रमणों का प्रभाव—महमूद के आक्रमणों का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा। यह एक विवादास्पद प्रश्न है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि महमूद के भारत पर आक्रमण का मुख्य उद्देश्य धन प्राप्त करना था और उसके आक्रमण आंधी के समान थे।। अतः उनका भारत पर स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। अपने मत की पुष्टि में वे कहते हैं कि भारत जैसे धन संपन्न और विशाल जनसंख्या वाले देश पर महमूद द्वारा की गई लूट तथा नरसंहार का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

यद्यपि महमूद के आक्रमणों का मुख्य उद्देश्य धन प्राप्त करना था तथापि यह कहना कि उसके आक्रमणों का भारत पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। उसने सत्रह बार भारत पर आक्रमण किये। उसके आक्रमणों ने भारत को प्रभावित किया।

महमूद के आक्रमणों के प्रभावस्वरूप भारत की अतुल धन-संपदा गजनी चली गई। भारत को आर्थिक क्षेत्र में भारी क्षति हुई। महमूद ने अपने आक्रमणों का निशाना मंदिरों और मूर्तियों को बनाया। उसने मंदिर ध्वस्त कर दिये तथा मूर्तियां खंडित कर दीं। इस प्रकार भारतीय कला कृतियों को भारी हानि पहुँचाई गई। उतरी-पश्चिमी सीमा पर स्थित पंजाब विदेशियों के हाथ में चले जाने से भारत पर विदेशी आक्रमणों का मार्ग सरल हो गया। महमूद ने राजपूतों की शक्ति को भारी आघात पहुँचाया तथा भारतीयों की दुर्बल रण-नीति से तुर्क अवगत हो गये। महमूद के पश्चात् भारत पर तुर्क आक्रमणों की झड़ी लग गई। महमूद गोरी ने निरंतर आक्रमण कर राजपूत राज्यों को धराशायी कर दिया। विद्वानों का मत है कि महमूद के आक्रमणों ने मुहम्मद गोरी के भारत-विजय के मार्ग को सरल बनाया था। महमूद गजनवी द्वारा भारत पर किये गये आक्रमणों के फलस्वरूप भारत के राजनीतिक ढांचे में दरारें पड़ गईं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि महमूद के आक्रमणों ने भारत को विशेष प्रभावित नहीं किया तथापि यह मानना पड़ेगा कि उसके आक्रमणों के परिणाम-स्वरूप भारत को आर्थिक क्षेत्र में क्षति का सामना करना पड़ा, उसकी अनुपम कला कृतियाँ नष्ट कर दी गईं तथा भारतवर्ष में मुस्लिम राज्य की स्थापना का मार्ग सुगम हो गया।

महमूद का व्यक्तित्व—महमूद ने भारत पर सत्रह आक्रमण किये और प्रत्येक बार अगाध धन-संपत्ति लूट कर वह स्वदेश लौट गया। उसका प्रमुख उद्देश्य भारत से धन लूटकर ले जाना था। अतः उसने कभी भी अपना राज्य स्थापित करने की कोशिश नहीं की। महमूद असाधारण प्रतिभासंपन्न व्यक्ति था। उसे कभी भी पराजय का मुंह नहीं देखना पड़ा।

महमूद के व्यक्तित्व के संबध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। भारतीय इतिहासकार उसे एक लुटेरा, निर्दयी, नरसंहारक तथा अत्याचारी व्यक्ति बताते हैं। किन्तु मुस्लिम इतिहासकारों ने उसे इस्लाम का रक्षक, न्यायप्रिय तथा आदर्श सुल्तान के रूप में चित्रित किया है।

भारत पर किये गये आक्रमणों में महमूद ने अपार धन-संपत्ति को लूटा, मंदिरों और मूर्तियों को नष्ट कर दिया, भीषण नरसंहार कर बलपूर्वक हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। अतः भारतीय इतिहासकारों ने उसे निर्दयी, रक्त-पिपासु तथा लुटेरा कहा है। वह एक धर्मान्ध मुसलमान था जिसने तलवार के बल पर इस्लाम धर्म का प्रचार व प्रसार किया। भारत में अपनी राक्षसी प्रवृत्ति तथा अत्याचारी नीति का परिचय देते हुए उसने हजारों निर्दोष नर-नारियों तथा बच्चों को मौत के घाट उतार कर खून की नदियां बहा दीं। डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के शब्दों में—"हमारे देश में जहाँ भी वह (महमूद) गया वहीं पर उसने अत्यंत निर्दयतापूर्वक हत्याकांड किये। जो विजेता अपने पीछे उजड़े नगरों, ग्रामों तथा

निर्दोष व्यक्तियों की लाशों को छोड़ जाता है उसे भावी पीढ़ियां केवल राक्षस समझ-कर ही याद रख सकती हैं, अन्य किसी प्रकार नहीं।"

अनेक मुसलमान इतिहासकार तथा कई अन्य इतिहासकार महमूद के व्यक्तित्व में उदारता, धर्मनिरपेक्षता तथा न्यायप्रियता का उल्लेख करते हैं। लेनपूल का कथन है—"महमूद निर्दयी व क्रूर न था। वह बड़ी कठिनता से रक्तपात हेतु तैयार होता था और जब संधि हो जाती थी वह राजा व उनके साथियों को स्वतंत्र कर दिया करता था।" डॉ० हबीब महमूद को धर्मान्ध नहीं मानते। महमूद न्याय-प्रिय शासक था।

महमूद एक महान् योद्धा था। उसे कभी पराजय का सामना नहीं करना पड़ा। उसमें जन्मजात सैनिक के गुण विद्यमान थे। उसकी तुलना नेपोलियन जैसे महान् योद्धा से की जाती है। वह अत्यंत साहसी, विजेता एवं कुशल सेनापति था। डॉ० हबीब ने महमूद की सैनिक प्रतिभा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"महमूद बड़ा चतुर तथा सावधान सेनापति था। वह इस बात को भली-भाँति जानता था कि शत्रु पर कब और कैसे आक्रमण करना है। जब तक उसे अपनी सफलता की पूर्ण आशा न होती थी तब तक शत्रु पर कभी आक्रमण नहीं करता था। वह इसलिए भी कभी असफल नहीं हुआ क्योंकि उसने असंभव कार्य करने का कदापि प्रयत्न न किया।" लेनपूल के शब्दों में—"महमूद एक महान् सैनिक, अदम्य साहसी, विचक्षण मानसिक तथा शारीरिक शक्ति का स्वामी था।"

महमूद कला व संस्कृति का पोषक था। उसने गजनी में सुंदर व भव्य इमारतों का निर्माण करवाया, उसने विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, अजायबघर तथा जामा मस्जिद का निर्माण करवाया, अनेक कलाकारों को वह अपने साथ स्वदेश ले गया। महमूद साहित्यप्रेमी भी था। शाहनामा के रचयिता फिरदौसी का वह आश्रयदाता था। उत्बी नामक इतिहासकार, फराबी नामक दार्शनिक, बैहाकी, अन-सूरी, फारुखी, असजदी, अलबेरूनी आदि उसके दरबार के विद्वान् थे। महमूद महान् योद्धा था, किन्तु उसमें राजनीतिक दूरदर्शिता की कमी थी। यदि उसमें राजनीतिक दूरदर्शिता होती तो उसे भारत पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहिए था।

मूल्यांकन—महमूद गजनवी एक महान् योद्धा, कुशल सेनापति तथा साहसी व्यक्ति था। अपने माता-पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त एक छोटे से राज्य को निरं-तर विजय प्राप्त कर उसने विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। डॉ० मेंहदी हुसेन ने लिखा है—"महमूद एक असाधारण विजेता था। रोम और अब्बासी खलीफाओं के राज्य के पतन के बाद उसका राज्य सबसे विशाल था, जो संसार ने देखा था।" वह एक कट्टर मुसलमान था। उसने भारत पर सत्रह आक्रमण किये। अपने आक्रमणों में उसने भारत की अगाध धन-संपदा लूट ली, मंदिर ध्वस्त कर दिये, मूर्तियां खंडित कर दीं और इस्लाम धर्म का प्रचार किया। किन्तु कभी भी भारत-में अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। डॉ० आशीर्वादीलाल

श्रीवास्तव ने महमूद के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा—"महमूद एक महान् सेनानायक और एक कुशल सैनिक था। साहस, बुद्धिमत्ता, साधनसंपन्नता उसके चरित्र के विशेष गुण थे।" उसकी वीरता के कारण कुछ इतिहासकारों ने महमूद की तुलना बाबर, नेपोलियन और नेल्सन जैसे महान् विजेताओं से की है।

महमूद केवल एक विजेता ही नहीं था, बल्कि कला और साहित्य में भी उसकी अभिरुचि थी। वह अनेक कलाकारों को भारत से गजनी ले गया। उसने गजनी में विश्वविद्यालय, अजायबघर और मस्जिदें निर्मित करवाईं। उसके दरबार में विद्वानों का जमघट लगा रहता था।

इस प्रकार महमूद गजनवी इतिहास में न केवल अपने वीरत्व के लिए अपितु सांस्कृतिक प्रेम के लिए भी प्रसिद्ध था।

महमूद गजनवी के पश्चात् तुर्क आक्रमण—महमूद गजनवी की मृत्यु के पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी में भी कुछ अन्य तुर्क सेनानियों ने भारत पर आक्रमण किए। महमूद के बाद मसूद के नेतृत्व में तुर्क पंजाब (लाहौर) में जम गये और वहां से वे राजस्थान और पंजाब तक प्रायः धावे मारने लगे। बैहाकी लिखता है कि अहमद नियल्तगीन बनारस तक घुस गया था और उसने इस आक्रमण में बहुत धन प्राप्त किया। तुर्क आक्रांता मसूद ने हांसी पर अधिकार किया था और इब्राहीम ने भी भारत पर आक्रमण किया था। बारहवीं शताब्दी में भी अनेक तुर्क आक्रमणों का उल्लेख मिलता है। तुर्कों ने ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के गहड़वाल, चंदेल, चाहमान, चौलुक्य और परमार राजवंशों के विरुद्ध अपने सैनिक अभियान जारी रखे।

मुहम्मद गोरी

मुहम्मद गोरी गजनी और हिरात के मध्य स्थित गोर प्रदेश में उत्पन्न हुआ था। मुहम्मद गोरी का वास्तविक नाम मुईजुद्दीन था। महमूद गजनवी की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। अतः वे साम्राज्य की रक्षा नहीं कर पाये। मुहम्मद गोरी के भाई गयासुद्दीन ने गजनी साम्राज्य को विजित कर उसका कार्यभार मुहम्मद गोरी को सौंप दिया। गयासुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् मुहम्मद गोरी गोर प्रदेश का भी स्वामी बन गया। मुहम्मद गोरी महत्त्वाकांक्षी था। अतः उसने गजनी और गोर प्रदेश को संगठित कर एक राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। एक विशाल साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् उसने भारत पर आक्रमण करने की योजना बनाई।

मुहम्मद गोरी के समय भारत की राजनीतिक दशा

जिस समय मुहम्मद गोरी ने भारतीय राज्यों को अपने आक्रमणों का निशाना बनाया, उस समय राजनीतिक दृष्टि से भारत छिन्न-भिन्न था। मुहम्मद गोरी से पूर्व महमूद गजनवी सत्रह बार आक्रमण कर भारतीय राज्यों को त्रस्त कर चुका था। महमूद की मृत्यु के पश्चात् मसूद, हजमुद्दीन, इब्राहीम, बगुलीशाह, बहरामशाह

आदि के नेतृत्व में तुर्कों ने भारत पर आक्रमण जारी रखे। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुहम्मद गोरी ने तुर्कों की इस परम्परा (भारत पर आक्रमण) को जारी रखा। उसने भारतीय राज्यों पर सांघातिक आक्रमण किये, जिसके फलस्वरूप राजपूत राज्य एक-एक कर उसके सम्मुख धराशायी हो गये। मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत में प्रमुख पाँच राजवंश राज्य कर रहे थे। दिल्ली और अजमेर में चौहान वंश का राज्य था। मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय वहाँ का राजा पृथ्वीराज चौहान था। कन्नौज की राजगद्दी पर गहड़वाल वंश का राजा जयचन्द्र आसीन था। बंगाल व बिहार में सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन राज्य कर रहा था। गुजरात में शक्ति-शाली बघेल वंश का राज्य था। बुन्देलखण्ड चन्देल राजवंश के अधीन था। उसका अन्तिम नरेश परमार अयोग्य और दुर्बल था। उसने प्रारम्भ में पृथ्वीराज और बाद में मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर ली। इन राजपूत-राज्यों में पारस्परिक वैमनस्य की भावना व्याप्त थी जिसका गोरी ने भरपूर लाभ उठाया।

मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत में पंजाब, सिंध और मुल्तान में तीन मुस्लिम राज्य विद्यमान थे। मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक दशा इस प्रकार थी—

पंजाब—ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महमूद गजनवी ने पंजाब को विजित कर लिया। तत्पश्चात् 1186 ई० तक पंजाब गजनी साम्राज्य का अभिन्न अंग बना रहा। पंजाब राज्य की राजधानी लाहौर थी। पंजाब में निवास करने वाले तुर्कों का चौहान वंशी राजपूतों के साथ संघर्ष होता रहता था। तुर्क सदैव राजपूत-आक्रमण से आतंकित रहते थे। 1060 ई० में गजनी के शासक खुसरवशाह को गुजतुर्कों ने मार भगाया। विवश होकर उसने पंजाब में शरण ली। उसके उत्तराधिकारी भी गजनी छोड़कर पंजाब में आ बसे। कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई। तदुपरांत उसका पुत्र मलिक खुसरव गद्दी पर बैठा। 1186 ई० में मुहम्मद गोरी ने उसे कैद करके पंजाब पर अधिकार कर लिया।

सिंध—मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय सिंध में सुम्रवंशी मुसलमान-राज्य विद्यमान था। महमूद गजनवी ने सिंध को विजित किया था। किन्तु उसकी मृत्यु के उपरांत सुम्रवंशी मुसलमानों ने उस पर (सिंध) अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। वे शिया सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

मुल्तान—मुल्तान सिंध-घाटी के उत्तर में स्थित था जहाँ करमाथी नामक शिया सम्प्रदाय के मुसलमानों का राज्य विद्यमान था। महमूद गजनवी ने मुल्तान पर भी अपनी विजय-पताका फहराई थी। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद मुल्तान पुनः स्वतंत्र हो गया।

गुजरात का चौलुक्य वंश—मुहम्मद गोरी के भारत अभियान के समय गुजरात में शक्तिशाली चौलुक्य वंश राज्य कर रहा था। चौलुक्यों की राजधानी अन्हिलवाड़ थी। जयसिंह सिद्धराज (1094-1142 ई०) इस वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। उसने मालव, बर्बरक, शाकंभरी के शक्तिशाली चाहमान नरेश अर्णोराज तथा सिंध आदि राज्यों पर विजय प्राप्त की।

गोरी के आक्रमण के समय चौलुक्य वंशी मूलराज द्वितीय (1176-1178 ई०) राज्य कर रहा था। उसके छोटे भाई तथा सेनापति भीम द्वितीय ने काशहृद के मैदान में गोरी के नेतृत्व में तुर्की सेना को बुरी तरह पराजित कर दिया।

दिल्ली और अजमेर का चाहमान (चौहान) राज्य—बारहवीं शताब्दी में दिल्ली और अजमेर में शक्तिशाली चाहमान वंश राज्य कर रहा था। वहाँ के राजा तुर्कों को कई बार पराजित कर चुके थे। इस वंश के प्रतापी राजा अर्णोराज (1130-1150 ई०) और पृथ्वीराज तृतीय (1178-1192 ई०) ने अपने वंश के गौरव को बढ़ाया।

अर्णोराज ने अजमेर के समीप तुर्कों को पराजित करके उनका वध करवा डाला। उसके पुत्र विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव 1150-1164 ई०) ने गजनी वंश के लोगों से बलपूर्वक हाँसी छीन लिया। उसने जयपुर के समीप तुर्कों को करारी मात देकर उनसे लाहौर और भटिण्डा के समीपस्थ प्रदेश छीन लिये। मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय दिल्ली और अजमेर में शक्तिशाली राजपूत राजा पृथ्वीराज राज्य कर रहा था। उसने आक्रामक नीति का आश्रय लेते हुए नागार्जुन के विद्रोह का दमन किया। चन्देल राजा परमर्दी को पराजित करके उसने महोबा पर अधिकार कर लिया। उसने भण्डानक पर भी विजय प्राप्त की। 1191 ई० में तराइन के मैदान में उसने मुहम्मद गोरी की सेना को पराजित कर डाला तथा गोरी को रण क्षेत्र में घायल करके भाग जाने को विवश किया। परन्तु घायल गोरी का पीछा न करके उसने भारी भूल की। उसकी इस गलती के फलस्वरूप उसे 1192 ई० में तराइन के द्वितीय युद्ध में गोरी के हाथों पराजित होना पड़ा। क्रूर गोरी ने उसका बध कर दिया।

कन्नौज का गहड़वाल वंश—बारहवीं शताब्दी में कन्नौज में शक्तिशाली गहड़वाल राजवंश राज्य कर रहा था। गोविन्दचन्द्र (1114-1154 ई०) इस वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। उसने सरयूपार की विजयें कीं, पालों को पराजित किया। कलचुरि-राज्य पर विजय प्राप्त की तथा चन्देल नरेश मदनवर्मा को पराजित किया। उसने तुर्क आक्रांताओं को परास्त कर देश की रक्षा का दायित्व निभाया। उसके उत्तराधिकारी विजयचन्द्र (1155-1169 ई०) ने भी मुस्लिम (तुर्क) आक्रमणों का दृढ़तापूर्वक सामना किया।

मुहम्मद गोरी के सामरिक अभियान के समय कन्नौज में गहड़वाल नरेश (1170-1194 ई०) जयचन्द्र शासन कर रहा था। उसकी पुत्री सुन्दरी संयोगिता का पृथ्वीराज तृतीय द्वारा अपहरण कर लिए जाने से दोनों में तीव्र वैमनस्य की भावना व्याप्त थी। कहा जाता है कि गोरी द्वारा पृथ्वीराज के विरुद्ध सैनिक अभियान में जयचन्द्र ने गोरी की मदद की और 1192 ई० में पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु की सूचना पाकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने इस खुशी में अपनी राजधानी कन्नौज में दिवाली मनाई। 1192 में चन्दावर के युद्ध में गोरी ने जयचन्द्र को परा-

जित करके मौत के घाट उतार दिया। विजय के मद में मस्त क्रूर और लालची तुर्कों ने कन्नौज और बनारस को जी-भर कर लूटा। उन्होंने वहां के मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। करोड़ों की सम्पत्ति लूट में प्राप्त कर गोरी गजनी ले गया।

बुन्देलखण्ड का चन्देल वंश—खजुराहो अभिलेख में नन्नुक (831-845 ई०) को चन्देल वंश की स्थापना का श्रेय दिया गया है। कालिंजर और महोबा इस वंश के अधीन थे। यशोवर्मा (930-950 ई०), विद्याधर (1018-1029 ई०) तथा मदन वर्मा (1129-1163 ई०) चन्देल वंश के शक्तिशाली राजा थे। चन्देल नरेश विद्याधर के शासनकाल में महमूद गजनवी ने दो बार (1020 तथा 1022 ई०) चन्देल राज्य पर आक्रमण किये, किन्तु विद्याधर की शक्ति के सम्मुख उसे विजय नहीं मिल पायी। अन्त में दोनों के मध्य संधि सम्पन्न हो गई। चाहमान नरेश पृथ्वीराज तृतीय ने चन्देल शासक परमर्दिदेव (1165-1202 ई०) को पराजित करके महोबा पर अधिकार कर लिया। चौहानों के भीषण आक्रमण के फलस्वरूप चन्देल वंश की शक्ति क्षीण पड़ गई। 1202 ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने चन्देल नरेश परमर्दिदेव को पराजित करके मार डाला। इस प्रकार गोरी के आक्रमण के समय चन्देल राज्य चाहमानों के आक्रमणों से त्रस्त होकर क्षीण अवस्था पर था।

चेदि का कलचुरि वंश—चेदि के कलचुरि वंश का राज्य मध्य प्रदेश में जबलपुर के आस-पास फैला हुआ था। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक चेदियों की शक्ति क्षीण पड़ गई थी। वे चन्देलों के सामन्त मात्र रह गये थे।

बंगाल का पाल तथा सेन वंश—दीर्घकालीन अराजकता के उपरांत 750 ई० में बंगाल में गोपाल (750-770 ई०) ने पाल वंश की नींव डाली। पाल वंश में धर्म पाल (770-810 ई०) और देवपाल (810-850 ई०) जैसे शक्तिशाली सम्राट् हुए जिनके शासनकाल में बंगाल का गौरव सम्पूर्ण उत्तरी भारत में व्याप्त था। अपने चरमोत्कर्ष के दिनों में पाल-साम्राज्य में सम्पूर्ण बंगाल और बिहार सम्मिलित था। अयोग्य उत्तराधिकारियों के कारण बारहवीं शताब्दी में पाल वंश का क्रमिक पतन प्रारम्भ हो गया। 1101 ई० में पालवंश का पतन हो गया।

पाल वंश के पतन का लाभ सेन वंश ने उठाया। उन्होंने पूर्वी बंगाल पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। दूर स्थित होने के कारण उनका राज्य मुहम्मद गोरी के प्रारम्भिक आक्रमणों का शिकार नहीं हो पाया। किन्तु 1202 ई० में गोरी के सेनापति बख्तियार खिलजी ने लक्ष्मण सेन को हराकर उसके राज्य के कुछ भू-भाग पर अधिकार कर लिया।

इस प्रकार विदित होता है कि मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत राजनीतिक दृष्टि से जर्जरित हो चुका था। उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। सभी राज्यों में साम्राज्य-विस्तार हेतु प्रतिद्वन्द्विता व्याप्त थी। यदि चौहान नरेश पृथ्वीराज तृतीय तथा कन्नौज नरेश जयचन्द्र सामूहिक रूप से मुहम्मद गोरी के आक्रमणों का प्रतिरोध करते तो उसे भारत में मुगल-साम्राज्य की स्थापना में सफलता नहीं मिल पाती। राजपूत राजाओं में व्याप्त पारस्परिक द्वेष-भाव ने

तुर्क आक्रांता का भारत विजय का मार्ग आसान बना दिया। इतिहास इसके लिए उन्हें कभी माफ नहीं करेगा।

मुहम्मद गोरी के आक्रमण के उद्देश्य—मुहम्मद गोरी एक महान् योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ, दूरदर्शी और महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। महमूद गजनवी की भाँति सुल्तान मुहम्मद गोरी ने भारत पर निरन्तर सैनिक अभियान किये, जिसमें उसके निम्न-लिखित उद्देश्य निहित थे—

1. भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना करना।
2. भारतवर्ष को विजित कर वहाँ इस्लाम धर्म का प्रचार व प्रसार करना।
3. भारतवर्ष की अतुल धन-सम्पदा का उपभोग करना।

मुहम्मद गोरी के सैनिक अभियान

भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना, इस्लाम धर्म का प्रचार व प्रसार तथा भारत की धन-सम्पत्ति को प्राप्त करने के उद्देश्य से मुहम्मद गोरी ने भारत पर निरन्तर आक्रमण किये। उसके द्वारा भारत पर किये गये आक्रमणों का विवरण इस प्रकार है—

1. **मुल्तान और उच्छ पर आक्रमण** (1175-1176 ई०)—मुल्तान भारत और गजनी के मध्य स्थित होने के कारण तथा दक्षिण में सिंध व उत्तर की ओर पंजाब पर आक्रमण करने के उद्देश्य से मुहम्मद गोरी ने 1175 ई० में मुल्तान पर आक्रमण कर दिया। मुल्तान का शासक कमजोर तथा शिया सम्प्रदाय को मानने वाला था। मुहम्मद गोरी ने उसे पराजित कर मुल्तान को अधिकृत कर लिया।

मुल्तान पर अधिकार कर वह उच्छ के दुर्ग पर टूट पड़ा। वहाँ मुहम्मद गोरी ने छल नीति का आश्रय लेकर उच्छ पर भी अधिकार कर लिया।

2. **गुजरात पर आक्रमण** (1178 ई०)—मुल्तान और उच्छ में निरन्तर दो वर्षों तक अपने सैन्य संगठन को सुसंगठित और मजबूत बनाकर मुहम्मद गोरी ने गुजरात पर आक्रमण करने का निश्चय किया। अपने निश्चयानुसार उसने 1178 ई० में गुजरात पर आक्रमण कर दिया। किन्तु चौलुक्य नरेश मूलराज द्वितीय के भाई तथा सेनापति भीम ने उसके सब मंसूबों पर पानी फेर दिया। इस युद्ध में मुहम्मद गोरी को भारी सैनिक क्षति हुई। उसके अनेक सैनिक बन्दी बनाये गये और सैकड़ों लौटते समय मृत्यु के ग्रास हो गये। मुहम्मद गोरी पराजित हुआ और बन्दी बनाये जाने से बाल-बाल बच गया। इस भीषण पराजय से हतोत्साहित होकर उसे आगामी कई वर्षों तक गुजरात पर आक्रमण करने का साहस न हो पाया।

3. **पंजाब-विजय** (1179-1186 ई०)—मुहम्मद गोरी पंजाब पर अधिकार कर भारत के तत्कालीन शक्तिशाली नरेशों को पराजित करना चाहता था। सन् 1179 ई० में उसने पेशावर पर आक्रमण किया। 1181 ई० में उसने लाहौर पर आक्रमण

कर दिया। वहाँ के शासक मलिक खुसरो ने गोरी के साथ संधि कर ली। 1184 ई० में मुहम्मद गोरी ने पुनः लाहौर पर असफल आक्रमण किया और स्यालकोट पर अधिकार कर एक दुर्ग का निर्माण करवया। कश्मीर के राजा से सहायता प्राप्त कर गोरी ने 1186 ई० में पंजाब पर फिर आक्रमण कर दिया। उसने लाहौर का घेरा डाला और मलिक खुसरो को वन्दी बनाकर गोर देश भेज दिया। पंजाब पर अधिकार कर लेने के बाद मुहम्मद गोरी ने लाहौर को अपनी शक्ति का केन्द्र वनाया। तीन वर्ष तक निरन्तर सैनिक तैयारियाँ करने के पश्चात् 1189 में उसने भटिण्डा पर प्रथम धावा बोल दिया।

4. **सरहिन्द पर आक्रमण** (1190-1191 ई०)—सन् 1189 में मुहम्मद गोरी ने चाहमान राज्य के सरहिन्द नामक किले पर आक्रमण कर दिया। 1190-91 ई० में उसने सरहिन्द का घेरा डाला। मुहम्मद गोरी ने सरहिन्द को अपने प्रभाव-क्षेत्र में रख लिया। पृथ्वीराज चौहान को मुहम्मद गोरी द्वारा सरहिन्द किले पर अधिकार अपमानजनक लगा। अतः 1191 ई० में दिल्ली के पास करनाल जिले में स्थित तराइन के क्षेत्र में चाहमान सेनाओं तथा मुहम्मद गोरी की सेनाओं के मध्य मुठभेड़ हुई।

5. **तराइन का प्रथम युद्ध** (1191 ई०)—मुहम्मद गोरी भारतवर्ष में अपना प्रभाव जमा रहा था। उसने चाहमान राज्य के सरहिन्द नामक किले पर भी प्रभाव जमा लिया था। अब वह चाहमान राज्य को विजित करने की योजना बना रहा था। उसके वढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के उद्देश्य से 1191 ई० में दिल्ली और अजमेर के राजा पृथ्वीराज चौहान ने अपने सामन्त, गोविन्दराज के साथ एक बड़ी सेना लेकर मुहम्मद गोरी की सेना पर आक्रमण कर दिया। फरिश्ता पृथ्वीराज की सेना की संख्या दो लाख पैदल और तीन हजार हाथी बताता है। यह युद्ध तराइन के मैदान में हुआ। अपने वीरत्व के लिए ख्यात पृथ्वीराज चौहान ने सभी ओर से तुर्क सेना पर इतनी तीखी चोटें कीं कि शीघ्र ही वह तितर-बितर होकर भाग गई। गोरी ने गोविन्दराज पर भाले से ऐसा प्रहार किया कि उसके मुंह के दो दांत टूट गये। गोविन्दराज ने भी अपने बरछे से मुहम्मद गोरी पर तीव्र प्रहार किया, जिससे गोरी को घायल होकर मैदान छोड़ने को विवश होना पड़ा। एक खिलजी सरदार घायल गोरी को लेकर भाग निकला। गोरी के भाग जाने पर तुर्क सेना में भगदड़ मच गई और वह युद्ध-क्षेत्र से तेजी से भाग निकली। पराजित और घायल मुहम्मद गोरी और तुर्क सेना का पृथ्वीराज ने पीछा नहीं किया। परिणामतः उसे एक वर्ष पश्चात् ही मुहम्मद गोरी के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। तराइन के प्रथम युद्ध में गोरी की भीषण पराजय के सम्बन्ध में डॉ० श्रीराम शर्मा ने लिखा है—"तराइन के प्रथम युद्ध की पराजय से गोरी की प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा। गोरी इस पराजय से इतना पीड़ित हुआ कि न तो आराम से सो सका और न ही चिन्ता से कभी मुक्त हो सका।"

6. **तराइन का द्वितीय युद्ध** (1192 ई०)—तराइन के मैदान में पराजित मुहम्मद

गोरी ने साहस नहीं खोया। गजनी पहुँचकर वह अहर्निश सैनिक तैयारियों में लग गया। प्रतिशोध की भावना से व्यग्र होकर मुहम्मद गोरी 1192 ई० में एक लाख बीस हजार घुड़सवारों की सेना लेकर गजनी से भारत की ओर चल पड़ा। लाहौर पहुँचकर मुहम्मद गोरी ने पुनः अपनी सेना का निरीक्षण किया और उसने किवाम-बुल-मुल्क नामक दूत को पृथ्वीराज के पास यह सन्देश देने के लिए भेजा कि वह उसकी अधीनता स्वीकार कर ले। स्वाभिमानी राजपूत राजा पृथ्वीराज अपनी आन के विरुद्ध सन्देश को पाकर आगबबूला हो गया। पृथ्वीराज तीन लाख घुड़सवारों, तीन हजार हाथियों और काफी संख्या में पैदल सेना को लेकर तराइन के मैदान में गोरी का मुकाबला करने के लिए आ डटा। उसके साथ लगभग एक सौ पचास सामन्त थे, जो गंगाजल की सौगन्ध लेकर जीतने अथवा मर मिटने के लिए कृत-संकल्प थे। इस पर पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को पत्र लिखा कि 'हम राजपूत भागते हुए सैनिकों को अभयदान देने को अभ्यस्त हैं, अतः यदि उसे अपने सैनिकों के प्राण बचाने हैं तो वह अपने देश को लौट जाय।' इस बार गोरी ने नीति-निपुणता के साथ उत्तर दिया कि वह अपने भाई के अधीन है और वह पृथ्वीराज के प्रस्ताव को गजनी भेजेगा तथा उत्तर की प्रतीक्षा करेगा। गोरी के छलपूर्ण इस कथन पर पृथ्वीराज ने विश्वास कर लिया और राजपूत सेना निश्चिन्तता की अवस्था में आराम करने लगी। इस स्थिति का गोरी ने भरपूर लाभ उठाया। अपनी सेना की मदद से हिन्दू खेमे पर धोखे से चारों ओर से एक दिन वह ऐसे समय टूट पड़ा, जब सूर्य भी नहीं उगा था और सभी हिन्दू सैनिक अपनी नित्य-क्रियाओं में लगे हुए थे। उस समय पृथ्वीराज तो सोया हुआ था। इस प्रकार एकाएक तुर्क आक्रमण से राजपूत सेना में भगदड़ मच गई। पृथ्वीराज बन्दी बनाया गया। कुछ विद्वानों का मत है कि बन्दी पृथ्वीराज को गोरी ने अपनी तलवार से मौत के घाट उतार दिया, किन्तु कुछ इतिहासकारों का कथन है कि पृथ्वीराज ने गोरी की अधीनता स्वीकार कर मुक्ति प्रदान की। तराइन का द्वितीय युद्ध भारत के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। इस युद्ध में विजयी होने से मुहम्मद गोरी का भारत में अपने साम्राज्य-विस्तार का संकल्प पूर्ण हो गया और शक्तिशाली चाहमान राज्य धराशायी हो गया।

7. चन्दावर का युद्ध (1194 ई०)—जयचन्द्र की पुत्री सुन्दरी संयोगिता का पृथ्वीराज द्वारा अपहरण और उत्तरी भारत में साम्राज्य-विस्तार की लालसा से इन दोनों राजपूत राजाओं के मध्य वैमनस्य यहाँ तक व्याप्त था कि तराइन के मैदान में पृथ्वीराज की पराजय का समाचार पाकर जयचन्द्र अत्यधिक प्रसन्न हुआ और उसने अपनी राजधानी कन्नौज में दीपावली मनाई।

पृथ्वीराज को पराजित कर 1194 ई० में तुर्क आक्रांता मुहम्मद गोरी गहड़-वाल नरेश जयचन्द्र पर टूट पड़ा। जयचन्द्र को अपनी विशाल सेना पर अत्यधिक विश्वास था। उसके पास दस लाख पदाति तथा सात सौ हाथी थे। युद्ध के प्रथम दौर में तुर्क सेना के पांव उखड़ने लगे। किन्तु हाथी पर सवार युद्ध का नेतृत्व कर रहे जयचन्द्र की आँख में कुतुबुद्दीन का तीर लग जाने से वह जमीन पर गिर पड़ा।

जयचन्द्र युद्ध में मारा गया तथा विजय के द्वार तक पहुँची उसकी सेना पराजित हो गई। तुर्कों ने मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदें निर्मित कीं तथा काफी धन लूट ले गये। इस प्रकार मुहम्मद गोरी ने हिन्दुओं के अन्तिम गढ़ (गहड़वाल-राज्य) को भी धराशायी कर दिया।

8. **बयाना और ग्वालियर पर आक्रमण** (1195-1196 ई०)—सन् 1195-1196 ई० में मुहम्मद गोरी ने बयाना और ग्वालियर पर आक्रमण कर दिया। दोनों स्थानों पर उसे उग्र प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, किन्तु दोनों ही स्थानों पर विजय प्राप्त करने में वह सफल रहा।

मुहम्मद गोरी का स्वदेश प्रस्थान—मुहम्मद गोरी ने भारत के प्रमुख राजाओं को पराजित कर उनके साम्राज्य को अधिकृत कर लिया। तराइन और चन्दावर के युद्धों में विजयश्री प्राप्त कर उसने भारत में अपने राज्य की नींव पक्की कर दी। तत्पश्चात् उसने दिल्ली के निकट इन्द्रप्रस्थ में कुतुबुद्दीन ऐबक की अध्यक्षता में एक सेना रखी, जिसका उद्देश्य दिल्ली और अजमेर के अधीन हिन्दू शासकों को संधि की शर्तों को स्वीकार कराने के लिए बाध्य करवाना था। अपने भारत राज्य की रक्षा और विस्तार का उत्तरदायित्व कुतुबुद्दीन को सौंपकर मुहम्मद गोरी गजनी वापस लौट गया। कुतुबुद्दीन ने दूरदर्शिता, वीरता और साहस का परिचय देते हुए इस दायित्व को पूर्णतः निभाया। 1197 ई० में कुतुबुद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण कर विजय प्राप्त की। 1206 ई० में दमयक नामक स्थान पर नमाज पढ़ते समय शिया और हिन्दू खोक्खर विद्रोहियों ने मुहम्मद गोरी का वध कर दिया।

मुहम्मद गोरी के आक्रमणों की विवेचना

महमूद गजनवी ने भारत पर सत्रह आक्रमण किए। उसकी मृत्यु के बाद भारत पर कई तुर्क सेनानायकों ने अपने सामरिक अभियान जारी रखे। किन्तु वे भारत को विशेष प्रभावित नहीं कर पाये। महमूद के बाद मुहम्मद गोरी का भारत-अभियान प्रभावशाली सिद्ध हुआ। उसने भारत पर आक्रमणों की झड़ी लगा दी। अनेक बार पराजित होने के बावजूद उसने धैर्य और साहस नहीं खोया। भारत के प्रमुख राजाओं को पराजित कर उसने यहाँ अपने राज्य की नींव डाली। उसके आक्रमणों के फलस्वरूप तुर्क भारत की अतुल धन-सम्पत्ति लूट ले गये। राजपूत राज्यों का पतन हो गया तथा भारत में तुर्क-साम्राज्य की स्थापना हो गई। मुहम्मद गोरी के आक्रमणों का उद्देश्य मात्र धन प्राप्त करना ही नहीं था बल्कि भारत में अपने राज्य की स्थापना और उसका विस्तार करना भी था। अपने उद्देश्यों की पूर्ति में वह सफल रहा। मुहम्मद गोरी के स्वदेश लौट जाने पर कुतुबुद्दीन ऐबक ने अपने स्वामी की नीति का पालन करते हुए भारत में तुर्क-साम्राज्य का विस्तार किया।

मुहम्मद गोरी एक महान् विजेता, योग्य राजनीतिज्ञ, दूरदर्शी, साहसी गुलामों के प्रति उदार तथा साहित्य एवं कलाप्रेमी सम्राट् था। वह महान् साम्राज्य-निर्माता

था। डॉ० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में—"मुहम्मद गोरी का भारत सम्बन्धी कार्य बड़ा ठोस था। गजनी का साम्राज्य महमूद की मृत्यु के बाद छिन्न-भिन्न हो गया। लेकिन जिस राज्य की नींव गोरी ने डाली, वह दिन-प्रतिदिन सशक्त होता गया और धीरे-धीरे पूर्व का एक महान् साम्राज्य बन गया। इस्लाम की महत्ता के प्रति उसकी यह कम महत्त्वपूर्ण देन नहीं थी।" भारत में मुहम्मद गोरी द्वारा साम्राज्य स्थापना के सम्बन्ध में लेनपूल महोदय ने लिखा है—"मुहम्मद गोरी ने एक ऐसे साम्राज्य की नींव डाली, जिसके सिंहासन को 1857 ई० की महान् क्रान्ति तक मुस्लिम शासक ही सुशोभित करते रहे।" डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने मुहम्मद गोरी को सैनिक योग्यता में महमूद गजनवी से कम, किन्तु व्यावहारिक शासन-कौशल, रचनात्मक प्रतिभा तथा वास्तविक सफलताओं की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ कहा है। वे मुहम्मद गोरी को भारत में तुर्की-साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक मानते हैं। डब्ल्यू० हंटर का मत है—"मुहम्मद गोरी महमूद गजनवी की भाँति इस्लाम धर्म का युद्ध-प्रिय सामन्त नहीं था परन्तु वह क्रियात्मक विजेता था। उसके दूर के अभियानों के लक्ष्य मन्दिर न होकर (भारतीय) प्रदेश थे।"[1] वह न केवल योद्धा बल्कि संस्कृति-प्रेमी भी था। फखरुद्दीन राजी और नाजामी उरूरी जैसे कवि उसके राजदरबार को सुशोभित करते थे। मुहम्मद गोरी ने भारत में जिस राज्य की नींव डाली वह सशक्त, सुदृढ़ और स्थायी सिद्ध हुआ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत पर महमूद गजनवी के हमलों का वर्णन कीजिए। उनके क्या परिणाम हुए ?
2. मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय उत्तरी भारत की राजनीतिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

---

1. "Muhammad Ghori was no religious knight-errant of Islam like Mahmud of Ghazni but a practical conqueror. The object of his distant expeditions were not temples but provinces." —*W. W. Hunter*

32

राजपूतों के पतन के कारण

तुर्कों की विजय के कारण

चौथी शताब्दी ई० पू० से ही भारतवर्ष की पवित्र भूमि पर विदेशी आक्रांताओं के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। किन्तु तत्कालीन शक्तिशाली राजाओं के विरुद्ध उन्हें कोई विशेष सफलताएँ रहीं मिल पायीं।

अपने राज्य का विस्तार, इस्लाम धर्म का प्रचार तथा भारत की अगाध धन-सम्पदा का उपभोग करने के उद्देश्य से दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों और ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तुर्कों ने भारत पर निरन्तर धावे बोलने प्रारम्भ कर दिए। प्रारम्भिक तुर्क आक्रांताओं का भारत पर आक्रमण करने का उद्देश्य केवल धन लूटकर ले जाना था। अतः उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित नहीं किया। किन्तु बाद के तुर्क नेताओं के आक्रमणों का उद्देश्य धन प्राप्त करने के अतिरिक्त भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार करना भी था।

महमूद ने अपने शासनकाल (सन् 998-1030 ई०) में भारत पर सत्रह बार आक्रमण किए। उसके आक्रमणों का मुख्य उद्देश्य भारत की धन-सम्पदा को लूटकर स्वदेश ले जाना था; जिसमें वह सफल रहा। महमूद के बाद भी तुर्क आक्रमणों का सिलसिला जारी रहा। मुहम्मद गोरी ने अपने आक्रमणों से भारत को त्रस्त कर डाला। सन् 1192 में तराइन के द्वितीय युद्ध में मुहम्मद गोरी ने दिल्ली और अजमेर के शक्तिशाली नरेश पृथ्वीराज चौहान को पराजित कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। 1194 ई० में मुहम्मद गोरी ने चन्दावर के युद्ध में गहडवाल नरेश जयचन्द्र को भी पराजित कर दिया। इस प्रकार हिन्दुओं के अन्तिम गढ़ (गहडवाल-राज्य) को भी गोरी ने धराशायी कर भारत में मुस्लिम-राज्य की स्थापना का मार्ग सुगम बना दिया।

तुर्कों के निरन्तर आक्रमणों के कारण भारतीय इतिहास में अपने वीरत्व के

लिए प्रख्यात राजपूत-राज्यों का पतन हो गया। राजपूत ऐसे वीर और दुर्धर्ष योद्धा थे जो रणक्षेत्र में सहर्ष मृत्यु का आलिंगन कर वीरगति को प्राप्त करना बड़े सौभाग्य की बात समझते थे। कर्नल टॉड के शब्दों में—"राजस्थान में ऐसा कोई छोटा राज्य नहीं है जिसमें थर्मोपली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, जहाँ लियोनिडास के समान मातृभूमि पर बलिदान होने वाला वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो।"[1] कर्नल वाल्टर ने भी राजपूतों के वीरत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"राजपूतों का अपने प्राचीन शौर्य पर गर्व करना सर्वथा उचित ही है। अपने धर्म की स्वाधीनता तथा कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए राजपूतों ने जो वीर कार्य किये हैं तथा अपने वीरत्व व गौरव का जैसा परिचय दिया है, वैसा विश्व के किसी अन्य देश के इतिहास में नहीं मिलता।"[2] राजपूत युद्ध-क्षेत्र में सहर्ष मृत्यु का आलिंगन करना अपने जन्म-ऋण को चुकाना मानते थे और वे शत्रु से मुंह मोड़ने में भारी कलंक समझते थे। रणक्षेत्र में अद्भुत साहस और रणकौशल का परिचय देने वाले राजपूतों का मुसलमानों द्वारा पराजित हो जाना एक आश्चर्यजनक घटना है। राजपूत संख्या और व्यक्तिगत शौर्य में अपने प्रतिद्वन्द्वी तुर्कों से कम नहीं थे, किन्तु फिर भी अपनी मातृभूमि की रक्षा करने में तुर्कों के आक्रमणों के सम्मुख वे विफल हो गये। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने तुर्कों की विजय तथा राजपूतों की पराजय का उल्लेख करते हुए लिखा है—"मुसलमान प्यूरीटन ईसाइयों के समान धरती पर ईश्वर का राज्य स्थापित करने के उत्सुक थे और क्रामवेल के लौह पक्षी सैनिकों के समान अजेय हो गये थे। जब वे हिन्दुस्तान की दुर्बल तथा फूट की शिकार जातियों के सम्पर्क में आये तो उन्हें उन पर विजय प्राप्त करने में कोई कठिनाई न हुई।" राजपूतों की पराजय तथा तुर्कों की विजय के लिए कई कारण उत्तरदायी थे, जिन्हें निम्नलिखित सात भागों में विभक्त किया जा सकता है—(1) सैनिक कारण, (2) राजनीतिक कारण, (3) सामाजिक कारण, (4) धार्मिक कारण, (5) व्यक्तिगत कारण, (6) आकस्मिक कारण और (7) अन्य कारण।

1. सैनिक कारण

युद्ध में विजय अथवा पराजय प्रधानतया सैनिक कारणों पर निर्भर करती है। यद्यपि राजपूत राजा शूरवीर और पराक्रमी थे, तथापि उनकी अनेक सैनिक दुर्बलताओं ने तुर्कों के सम्मुख उन्हें घुटने टेकने पर विवश कर दिया। राजपूतों की पराजय के लिए निम्नलिखित सैनिक कारण उत्तरदायी थे—

1. "There is not a petty state in Rajasthan that has not its Thermopylae and scarcely a city that has not produced Lieonidas."
—*Tod*
2. "The Rajputs may well be proud of their ancient chivalry, for in no country in the world have we such a brave and glorious record, as is to be found in the description of those deeds of valour, which the Rajputs enacted in defence of their religious liberty and for the protection of their hearths and homes."
—*Col. Walter*

(अ) राजपूत राजाओं के पास स्थायी सेना का अभाव—राजपूत राजाओं ने सैन्य-संगठन को कुशल तथा सुदृढ़ बनाने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। उनके पास स्थायी और नियमित सेना का नितांत अभाव था। शासक वर्ग अधिकतर सामन्तों द्वारा प्रदत्त सेना पर ही निर्भर रहता था। सामन्तों की सेना में उचित सैन्य शिक्षा एवं अनुभव का प्रायः अभाव था। विभिन्न सामन्तों की सम्मिलित सेना के सैनिकों में स्वामिभक्ति की भावना विभाजित होने के कारण एक सेनानायक के नेतृत्व में लड़ना उनके सम्मान के विरुद्ध था। सी० वी० वैद्य का मत है कि एक स्थायी सेना के अभाव के कारण ही राजपूतों की पराजय हुई थी।[1] तुर्क आक्रांताओं के पास एक अनुभवी, युद्ध-कला में निपुण, संगठित और स्थायी सेना थी, जो अपने सुल्तान के प्रति भक्ति-भाव रखती थी। परन्तु राजपूत सेनाओं में ये गुण विद्यमान नहीं थे तथा उनकी सेना करद सामन्तों द्वारा भेजी हुई होने के कारण वह राजा की अपेक्षा सामंतों के प्रति वफादार थी।

(आ) तुर्कों की शक्तिशाली अश्वसेना—तुर्कों की अश्वसेना राजपूतों की अश्वसेना की अपेक्षा श्रेष्ठ थी। तुर्कों की सेना में अश्वसेना का अपना विशिष्ट महत्त्व था। तुर्कों के घोड़े उत्तम कोटि के थे। वे अपनी गति के प्रभाव से ही राजपूत सेना को अस्त-व्यस्त कर देते थे। शत्रु और युद्ध-क्षेत्र में मात खा जाने के पश्चात् भागने वाले राजपूतों का वे आसानी से पीछा कर उन्हें पुनःसंगठित नहीं होने देते थे। सर जदुनाथ सरकार ने तुर्कों की शक्तिशाली सेना पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"तुर्क अपने घोड़ों की तेज चाल तथा घोड़े पर सवार होकर जोरदार आक्रमण के लिए इतने प्रसिद्ध थे कि एशियाई जगत् में किसी भी जाति के अच्छे सुसज्जित घुड़सवारों को तुर्क सवार (तुर्की-घुड़सवार) पुकारा जाता था।"

(इ) राजपूतों की दोषपूर्ण युद्ध-प्रणाली—राजपूतों की युद्ध-प्रणाली परम्परागत थी, जिसमें समयानुकूल परिवर्तन नहीं किये गये थे। तुर्क सैनिक उस क्षेत्र से आते थे जहाँ अनेक देशों और जातियों के कुशल सेनानायक नई-नई रणशैलियों का सृजन करते थे। अतः उनकी युद्ध कला राजपूतों से बेहतर थी तथा उन्हें आधुनिकतम शस्त्रों का भी ज्ञान था। डॉ० स्मिथ के शब्दों में—"हिन्दू राजा साहस में मौत को चुनौती देने में अपने शत्रुओं के साथ जमकर लोहा लेते थे, फिर भी वे युद्ध की कला में स्पष्टतः हीन थे और इसी कारण अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे।" परन्तु डॉ० सरन राजपूतों के युद्ध-कौशल को किसी प्रकार भी मुसलमानों के युद्ध-कौशल से कम नहीं मानते। उन्होंने लिखा है—"हिन्दुओं का युद्ध-कौशल किसी प्रकार भी मुसलमानों के युद्ध-कौशल से घटिया नहीं था। उनके शस्त्र तो शायद मुसलमानों के शस्त्रों से कहीं बढ़कर ही थे, क्योंकि सबसे बढ़िया फौलाद के बर्छे और तलवारें उस

---

1. "The absence of sufficient standing armies in the Hindu states at this time strangely contributed to their eventful fall."
—*C. V. Vaidya*

समय भारत में ही बनती थीं। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा नया शस्त्र मुसलमानों के पास नहीं था, जो हिन्दुओं के पास न हो।"

राजपूत राजा पुरानी पद्धति से ही युद्ध करते थे। राजपूत सेना में हाथियों का काफी महत्त्व था, जिन्हें वे शत्रु की अग्रिम सैन्य-पंक्तियों को ध्वस्त करने के लिए आगे रखते थे। किन्तु बहुधा ऐसा होता था कि हाथियों के बिगड़ जाने पर वे अपनी सेना को ही रौंद डालते थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि तुर्क अपनी तलवारों और तीरों से हाथियों पर सांघातिक प्रहार करते थे। तुर्क हाथियों का प्रयोग शत्रुओं के दुर्गों के द्वार तोड़ने अथवा शत्रुओं के हाथियों को आगे बढ़ने से रोकने के लिए करते थे। राजपूत सेनापति हाथी पर बैठकर युद्ध करना अपना गौरव समझते थे, जबकि यह एक भारी भूल थी, क्योंकि इससे शत्रु पक्ष को सुगमता से सेनापति का पता लग जाता था। तुर्क राजपूत सेनापति को घायल कर देते थे, जिससे सेना में भगदड़ मच जाती थी। राजपूतों के अस्त्र-शस्त्र तुर्कों की तुलना में अकुशल तथा प्राचीन पद्धति द्वारा निर्मित थे। राजपूत युद्धक्षेत्र की भौगोलिक स्थिति को कोई महत्त्व नहीं देते थे। डॉ० आशीर्वादलाल श्रीवास्तव ने इसे उनकी पराजय का कारण बताते हुए लिखा है—"मुस्लिम आक्रमणकारी रणक्षेत्र की भौगोलिक स्थिति को भी उचित महत्त्व देते थे जबकि भारतीय राजा उसे युद्ध-कौशल का कोई विशेष अंग नहीं समझते थे। युद्ध प्रणाली की इन विभिन्न दुर्बलताओं के कारण भारतीयों का पराजित होना स्वाभाविक था।"

(ई) तुर्क एवं राजपूत सैनिकों के दृष्टिकोण में भिन्नता—सामन्तों की सेना होने के कारण राजपूत सेना में स्वामिभक्ति को कमी थी, परन्तु तुर्क सैनिक अपने सुल्तान के प्रति श्रद्धाभाव रखते थे। तुर्कों की सेना में स्वदेश से घृणा करने वाले हिन्दू लोग भी कार्य करते थे और राजपूत सेना में ऐसे मुसलमान थे जो धर्म की भावना से प्रेरित होकर राजपूत राजाओं को धोखा दे देते थे। तुर्कों की सेना धन-लोलुपता, लौकिक सुख और पारलौकिक सद्‌गति की व्यक्तिगत भावनाओं से प्रेरित होकर युद्ध करती थी। किन्तु राजपूत न स्वदेश की रक्षा के लिए लड़ते थे और न ही धर्म की प्रतिष्ठा के लिए। वे किसी व्यक्ति-विशेष के नाम को सार्थक करने के लिए लड़ते थे।

(उ) राजपूतों की अकुशल रणनीति—रणक्षेत्र में विजयश्री प्राप्त करने के लिए हर संभव साधनों का प्रयोग करना चाहिए, चाहे वह नैतिक हो अथवा अनैतिक। तुर्क नैतिक पहलू पर ध्यान न देकर केवल विजय-प्राप्ति के साधनों की ओर अपना ध्यान केंद्रित रखते थे। इसके ठीक विपरीत राजपूत धर्मयुद्ध द्वारा ही विजय प्राप्त करना चाहते थे। वे शत्रु के भागने पर उसका पीछा नहीं करते थे। राजपूत प्रमुखतया रक्षात्मक युद्ध का प्रदर्शन करते थे, जबकि तुर्क आक्रामक युद्ध नीति का परिचय देते थे। डॉ० हबीबुल्ला ने भी राजपूतों की रक्षात्मक युद्ध नीति को उनकी पराजय का कारण बताते हुए लिखा है—"विदेशी आक्रमणकारी को आक्रमण की नीति से

पराजित किया जा सकता था, परन्तु राजपूत योद्धा प्रायः आत्मरक्षा के लिए ही युद्ध लड़ते थे। इस कारण भी उनका शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना असंभव था।" डॉ० विश्वेश्वर स्वरूप भार्गव के शब्दों में—"राजपूत राजाओं का युद्ध सम्बन्धी दृष्टिकोण भी उनकी पराजय का कारण बना। वे युद्ध के रणकौशल और वीरता को एक दंगल समझते थे। शत्रु पर छल-कपट या अनैतिक ढंग से विजय को प्रायः वे हेय समझते थे। यही कारण था कि दांव-पेच खेलने में वे माहिर नहीं थे। इसके विपरीत मुस्लिम आक्रमणकारी हर प्रकार के उचित-अनुचित साधन अपनाते थे। साधनों की पवित्रता में उनका कोई विश्वास नहीं था।"

(ऊ) **राजपूतों की सेना में गुप्तचर व्यवस्था की कमी**—राजपूतों की सेना में गुप्तचर विभाग की कमी थी। इसके विपरीत तुर्कों का खुफिया विभाग काफी चतुर और सक्रिय था। वे संभाव्य देशद्रोहियों का पता लगाकर उन्हें अपनी ओर मिलाने की चेष्टा करते थे। इस सबके परिणामस्वरूप उन्हें राजपूतों की शक्ति का ज्ञान हो जाता था और वे अचानक उन पर आक्रमण कर देते थे। इस प्रकार राजपूतों को बिना तैयारी के शक्तिशाली तुर्कों से लड़ना पड़ता था जिसमें विजय की बहुत कम आशा होती थी।

2. राजनीतिक कारण

राजपूतों की पराजय का प्रमुख कारण राजनीतिक था। ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में भारत की राजनीतिक दशा अत्यंत शोचनीय थी। देश में राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव था। तत्कालीन राजपूत राजाओं में किसी राजनीतिक सिद्धांत को लेकर न तो पारस्परिक एकता थी और न ही राष्ट्रीय सकल्प की प्रेरणा। वे नितांत सीमित दृष्टिकोण से अपनी पृथक् सत्ता को अक्षुण्ण रखने के लिए अहर्निश युद्ध करते थे। राजनीतिक एकता के अभाव, सामंत प्रथा, निरंतर युद्ध तथा निरंकुश राजतंत्र के कारण राजपूतों को पराजित होना पड़ा। इस संदर्भ में डॉ० ईश्वरी प्रसाद का यह कथन उल्लेखनीय है—"इस देश में सैनिक प्रतिभा अथवा युद्ध-कौशल की कोई कमी न थी, क्योंकि राजपूत अति उत्तम सैनिक थे, जो साहस, वीरता और धैर्य के गुणों में किसी अन्य देश के लोगों से हीन नहीं थे, परन्तु उनमें एकता और संगठन की कमी थी। अहंकार और अंधविश्वास की धारणा उन्हें किसी एक संयुक्त नेता के प्रति स्वामिभक्त नहीं होने देती थी। संकटकालीन में जबकि विजय-प्राप्ति के लिए एकजुट होकर कार्य करना आवश्यक होता था तो वे लोग अपनी व्यक्तिगत योजना का अनुसरण करते थे और इस प्रकार शत्रु पर उन्हें जो श्रेष्ठता प्राप्त थी, उसे बेकार कर देते थे।"

तुर्कों के शासन में कुछ ऐसी विशेषताएं थीं जिसके फलस्वरूप उन्हें भारत में अपने सैनिक अभियानों में सफलता मिली। इसके विपरीत राजपूत राज्यों में इन विशिष्टताओं का नितांत अभाव था। राजपूतों में प्रचलित दोषपूर्ण उत्तराधिकार का नियम, जनहित के कार्यों के प्रति उपेक्षित नीति, राष्ट्रीयता का अभाव, सीमांत

प्रदेशों के प्रति उदासीन नीति आदि कारणों का राजपूतों की पराजय में भारी हाथ रहा।

(अ) **दोषपूर्ण उत्तराधिकार का नियम**—राजपूत-राज्यों में दोषपूर्ण उत्तराधिकार का नियम प्रचलित था। उनमें वंश परंपरागत राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का प्रचलन था। तुर्कों में अयोग्य व्यक्ति के लिए मात्र वंश-परंपरा के कारण राजा बनना कठिन था। राजपूत काल में जनसाधारण को राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा गया था। इसके विपरीत तुर्कों में भेदभाव की भावना न थी और जनसाधारण को राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार राजपूतकालीन जनसाधारण की राजनीतिक उदासीन ने तुर्कों की विजय का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

(आ) **जनहित के कार्यों के प्रति उपेक्षित नीति**—चक्रवर्ती सम्राट् बनना प्राचीन काल से ही क्षत्रिय राजाओं का राजनीतिक आदर्श रहा है। राजपूत राजाओं ने भी इस परंपरा को दोहराया। वे अपने पड़ोसी राजाओं के विरुद्ध सैनिक संघर्षों में व्यस्त रहते थे। राजपूत राजा पारस्परिक संघर्षों में इतने व्यस्त रहते थे कि उन्होंने जनहित के कार्यों और वैदेशिक नीति की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जनसाधारण के हृदय में राज्य के प्रति सहानुभूति नहीं रह गई थी और उनमें 'कोउ नृप होय हमें का हानि' जैसी भावनाएं घर कर गईं।

राष्ट्रीयता का अभाव—राजपूत-युग में राष्ट्रीय भावनाओं के अभाव ने भारतीय राजनीतिक संगठन की प्राचीरें हिला दीं। उस समय भारतवर्ष को राजनीतिक विश्रृंखलन तो जर्जर बना ही रहा था, इसके साथ राष्ट्रीयता का अभाव भी उसे पतन की ओर उन्मुख कर रहा था। जनसाधारण में राष्ट्रीय भावनाओं का प्रायः लोप हो चुका था। संगठनात्मक अभाव के कारण देश में विद्यमान अनेक शूरवीर सगठित होकर तुर्कों के विरुद्ध अपने जौहर और पराक्रम का प्रदर्शन नहीं कर पाए। राजपूत राजाओं में राजनीतिक एकता के आदर्श का अभाव था। इस संबन्ध में डॉ० सी० बी० वाडिया ने लिखा है—"राजनीतिक एकता के आदर्श को भूलकर चौहान, राठौर, चन्देल और चालुक्य वंश के शासकों ने पृथक्-पृथक् युद्ध लड़े और तुर्कों के हाथों उन्हें पराजित होना पड़ा।" डॉ० डी० पी० सरन का कथन है—"यह बड़े आश्चर्य की बात है कि राजा भोज, भीमदेव और राजेन्द्र चोल आदि महान शासक रणक्षेत्र में तो अपने पराक्रम दिखाते रहे, परन्तु उन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों को नष्ट करने के लिए उन पर कोई अभियान नहीं किया।" यदि राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर तत्कालीन उत्तरी भारत एकता के सूत्र में बंध जाता तो तुर्क उनका मुकाबला करने में सर्वथा असफल सिद्ध हो जाते। यदि चौहान नरेश पृथ्वीराज और गहडवाल नरेश जयचन्द संयुक्त रूप से मुहम्मद गोरी के आक्रमण का प्रतिराध करते तो मुहम्मद गोरी भारत में इस्लाम-राज्य की स्थापना नहीं कर पाता। संयक्त रूप से मुहम्मद गोरी का विरोध करना तो दूर रहा जयचन्द ने तरा-

इन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय का समाचार सुनकर खुशी मनाई और राजधानी कन्नौज में दीपमालाएँ जलाईं।

(ई) सीमान्त प्रदेशों के प्रति उदासीन नीति—राजपूत राजाओं ने भारत के सीमान्त प्रदेशों की सुरक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः भारत के उत्तर-पश्चिम के दर्रों से विदेशी आक्रमणकारी आते रहे और भारतभूमि को विजित करने में उन्हें सफलता मिलती रही।

3. सामाजिक कारण

राजपूतों के पतन के लिए सर्वाधिक दोष तत्कालीन सामाजिक दशा को दिया जाता है। उस समय समाज में कठोर वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी तथा जातियों का बाहुल्य था। स्त्रियों की दशा पहले की अपेक्षा अत्यधिक दयनीय हो गई थी।

(अ) कठोर वर्ण-व्यवस्था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में राजपूतकालीन समाज का विभाजन सुदृढ़ हो गया था। जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण होता था और उसी पर व्यवसाय आधारित थे। वर्णों के मध्य खान-पान, विवाह और व्यवसाय परिवर्तन पूर्णतया निषिद्ध हो गये थे। इसका सबसे भीषण प्रभाव देश की सुरक्षा पर पड़ा। जब तुर्कों की सेनाएँ भारतवर्ष में प्रविष्ट हुईं, तो केवल क्षत्रिय वर्ग ही उनके विरोध के लिए प्रयत्नशील रहा। शेष भारतीय समाज ने राजनीति को क्षत्रिय का कार्य मानकर उससे अपने को तटस्थ रखा। इस प्रकार भारत की जनसंख्या का चतुर्थ भाग ही देश की सुरक्षा के लिए लड़ता रहा और उसके निर्बल पड़ते ही भारत विदेशी सेनाओं के आधिपत्य में आसानी से आ गया।

ब्राह्मणों को समाज में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। बड़े-से-बड़ा अपराध करने पर भी उन्हें मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाता था। उन्हें राजकीय संरक्षण और भूमि तथा धन से सम्मानित किया जाता था। शूद्रों की दशा दयनीय थी। छुआछूत की बुराई ने उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया था। इस कठोर वर्ण-व्यवस्था ने समाज की एकता समूल नष्ट कर दी और जब तुर्कों ने ब्राह्मणों के देवालयों को भस्म करने की कोशिश की तो शूद्रों ने इस कार्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उन मन्दिरों में शूद्रों का प्रवेश वर्जित था।

इसके विपरीत मुसलमानों में ऊँच-नीच, अमीर-गरीब आदि किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। उनमें उत्तराधिकार का नियम वंशानुगत नहीं था।

(आ) जातियों का बाहुल्य—खान-पान, विवाह, प्रादेशिकता, जातीय बहिष्कार, वंशानुगत व्यवस्था, राजपद आदि के कारण भारत में अनगिनत जातियों का आविर्भाव हुआ। प्रत्येक जाति अपने को पूर्ण समाज समझती थी और अन्य जातियों के साथ उसका खान-पान, विवाह, आचार-व्यवहार आदि निषिद्ध थे। डॉ० दशरथ शर्मा ने भी जाति-प्रथा को राजपूतों के पतन के लिए उत्तरदायी माना है।

(इ) स्त्रियों की दशा—स्त्रियों की सामूहिक अधोगति राजपूत युग का दुर्भाग्य रहा है। धर्मशास्त्रों के अनुसार नारी को बाल्यकाल में पिता, युवावस्था

में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के अनुशासन में रहना चाहिए। चाहे पति कितना ही गुणविहीन तथा सदाचार रहित क्यों न हो, उसकी देवता के समान पूजा आवश्यक थी। परिवार में कन्याओं का जन्म भयंकर अभिशाप माना जाने लगा और कन्यावध की परम्परा प्रारम्भ हो गई थी। बाल-विवाह और सती-प्रथा जैसी कुप्रथाओं का प्रचार बढ़ने लगा था।

(ई) **कुलीनता**—राजपूत कालीन समाज में 'कुलीनता' की प्रथा प्रचलित थी। सभी जातियों में कुछ परिवार श्रेष्ठ समझे जाते थे। इस तरह वंशानुगत मान्यताओं ने समाज को खोखला कर दिया। विविध कुलों में वंशानुगत शत्रुता की भावना व्याप्त थी।

(उ) **विदेशियों से अपने को श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति**—सातवीं शताब्दी में जाति-प्रथा में इतनी अधिक कठोरता आ गई थी कि भारतीयों ने विदेशों की यात्रा बन्द कर दी थी। वे विदेशियों को म्लेच्छ तथा अपवित्र कहते थे। इस सन्दर्भ में अल्बेरूनी का यह कथन उल्लेखनीय है—"हिन्दू समझते हैं कि उनके जैसा कोई देश नहीं, उनके राजा जैसा कोई राजा नहीं, उनके धर्म जैसा कोई धर्म नहीं और उनके जैसा ज्ञान किसी दूसरे को नहीं है। यदि उन्हें यह बताया जाये कि खुरासान और अन्य विदेशों में भी बहुत विद्याएँ हैं तो उन्हें विश्वास नहीं होता। इस मनोवृत्ति के कारण राजपूत विदेशियों के सम्पर्क में नहीं आ पाये। फलतः वे विदेशियों की शक्ति, सैन्य विज्ञान, नवीन युद्ध-शैली और नये सामरिक हथियारों के ज्ञान से अनभिज्ञ रहे।

4. धार्मिक दशा

राजपूतयुगीन सामाजिक संगठन दोषपूर्ण होने के कारण तत्कालीन धार्मिक जीवन भी अस्त-व्यस्त था। देश में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे जिनकी पारस्परिक ईर्ष्या कभी-कभी शास्त्रीय मतभेदों की सीमा को लांघकर राजनीतिक कुचक्रों के स्तर पर पहुँच जाती थी। उस काल में भाग्य में अटूट विश्वास रखने वाले हिन्दू अकर्मण्य हो गये थे। राजा ज्योतिषियों की भविष्यवाणी में विश्वास करते थे। लक्ष्मणसेन की पराजय और इख्तारुद्दीन की विजय इसका स्पष्ट प्रमाण है। धार्मिक मान्यताएँ जटिल हो गईं थी। पुजारियों की स्वार्थप्रियता ने हिन्दू धर्म को पतित कर दिया था। राजपूतकालीन धार्मिक दशा पर प्रकाश डालते हुए डॉ० सरन ने लिखा है—"मध्यकालीन भारत में हिन्दू धर्म बाह्य आडम्बरों के ढेर के नीचे दब गया था और मठ, मन्दिर तथा पुजारी वर्ग कुरीतियों और अन्धविश्वासों का गढ़ बन गया था।"

(अ) **तुर्कों का धार्मिक दृष्टिकोण**—मुसलमानों में धार्मिक कट्टरता की भावना व्याप्त थी। यही धार्मिक कट्टरता की भावना भारत में उनकी विजय का कारण बनी। मुसलमानों का विश्वास था कि यदि वे हिन्दुओं पर विजय प्राप्त कर लेंगे तो उन्हें 'गाजी' कहा जायेगा और यदि वे युद्ध में मारे जायेंगे तो उन्हें 'शहीद' के रूप

में जन्नत में स्थान प्राप्त होगा। इस विश्वास के कारण ही मुसलमान युद्ध में बड़े साहस एवं वीरता का प्रदर्शन करते थे। तुर्कों में अन्धविश्वास नहीं था और वे पुनर्जन्म में भी विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने भारत के विरुद्ध युद्धों में जिहाद का नारा लगाकर और अनेक शारीरिक कष्टों की उपेक्षा कर डटकर भीषण संग्राम किया। उन्होंने अपना यह ध्येय बना लिया था कि यदि युद्ध में विजयी होंगे तो भारत की प्रचुर सम्पत्ति और विस्तृत उर्वरा भूमि का लाभ उठायेंगे, यदि मर गये तो शहीद की गिनती में आयेंगे और जन्नत का आनन्द लूटेंगे।

(आ) **अन्धविश्वास**—राजपूतकालीन समाज में अन्धविश्वास और पाखण्ड का प्रचार था। लोग भाग्यवादी थे। धर्मशास्त्रों में हिन्दुओं के लिए समुद्र यात्रा का निषेध किया गया है। राजपूतयुग तान्त्रिक एवं घोरपन्थियों का युग था और जन-जीवन पर भी उसका व्यापक प्रभाव था। लोग तन्त्र-मन्त्र, झाड़-फूँक, जादू-टोना आदि पर अगाध विश्वास करते थे। कृषि को ओलों आदि प्रकोपों से बचाने के लिए पूजा आदि कर्म उस काल की एक विशेषता थी।

(इ) **कटुता का वातावरण**—राजपूतकाल में ब्राह्मण और बौद्ध, शैव तथा वैष्णव, निर्गुण एवं सगुण के उपासक आपस में लड़ते रहते थे। वे एक-दूसरे को नीचा दिखाने में सदैव प्रयत्नशील रहते थे। जब सिन्ध के ब्राह्मणों पर अरबों ने आक्रमण किया तो वहाँ रहने वाले बौद्धों ने अरबों की मदद की।

5. व्यक्तिगत कारण

युद्ध में विजय अथवा पराजय बहुत कुछ नेतृत्व पर निर्भर करती है। महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी तथा कुतुबुद्दीन ऐबक उच्चकोटि के सेनानायक थे। उनमें नेतृत्व कर सकने के जन्मजात गुण विद्यमान थे और वे कई युद्धों में अनुभव प्राप्त कर चुके थे। यद्यपि राजपूत राजाओं में जयपाल, निडरपाल, भोज परमार, पृथ्वीराज चौहान, जयचन्द्र आदि कुशल सेनानायक थे, तथापि वे तुर्क विजेताओं की भाँति अनुभवी, दूरदर्शी तथा बुद्धि-विलक्षण नहीं थे। राजपूत राजाओं में पारस्परिक वैमनस्य के कारण तुर्क उन्हें पराजित करने में सफल हो गये। चन्दबरदाई के कथन से विदित होता है कि तराइन के द्वितीय युद्ध में मुहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज चौहान को पराजित करने की सूचना पाकर जयचन्द अत्यन्त प्रसन्न हुआ। कहा जाता है कि इस खुशी में उसने अपनी राजधानी कन्नौज में दीपावली मनाई।

6. आकस्मिक कारण

राजपूतों की पराजय के लिए कुछ आकस्मिक कारण भी उत्तरदाई थे। इन आकस्मिक कारणों के फलस्वरूप विजय के द्वार पर पहुंचे राजपूत राजाओं को पराजय का मुंह देखना पड़ा। सन् 986 में जब गजनी के सुल्तान सुबुक्तगीन और जयपाल के मध्य युद्ध चल रहा था तो एकाएक भीषण वर्षा हुई। हिमपात के कारण जयपाल के सैनिक उसका साथ छोड़कर चले गये तथा कुछ सैनिक रोग व मृत्यु के शिकार

हो गये । फलतः जयपाल को सुबुक्तगीन के साथ अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। इसी प्रकार महमूद गजनवी के विरुद्ध लड़ाई में आनन्दपाल की सेना के हाथी बिगड़ जाने के कारण आनन्दपाल पराजित हुआ। यदि चन्दावर के युद्ध में जयचन्द्र की आँख में कुतुबुद्दीन का तीर न लगता तो मुहम्मद गोरी उसको पराजित नहीं कर सकता था। इस प्रकार कुछ आकस्मिक घटनाओं के घटित हो जाने के कारण भी राजपूतों को पराजय के अपमान का घूट पीना पड़ा।

7. अन्य कारण

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त तुर्क शासकों की विजय के लिए कुछ अन्य कारण उत्तरदाई थे जिनका विवरण इस प्रकार है—

(अ) **विदेशी आक्रमणकारियों को भर्ती सम्बन्धी सुविधाएँ**—डॉ० ईश्वरीप्रसाद का मत है कि मुस्लिम शासकों (तुर्क शासकों) को मध्य एशिया के प्रदेशों से युद्ध में रुचि रखने वाले लोगों को अपनी सेना से भर्ती करने की सुविधा मिलने के कारण भी उन्हें राजपूतों के विरुद्ध सैनिक अभियानों में सफलता मिली। उस काल में भारत अपनी सम्पन्नता के लिए जगप्रसिद्ध था। अतः भारत के वैभव का उपयोग करने के लोभ से आकर्षित होकर अनेक मुस्लिम योद्धा स्वयं तुर्क-सेना में भर्ती हो गये थे।

(आ) **मुसलमानों द्वारा आतंक का प्रसार**—भारतीय अभियान के समय तुर्क आक्रांताओं ने लूटपाट, हत्या, आगजनी, बलात् धर्म-परिवर्तन आदि कुकृत्यों से जन-साधारण को आतंकित कर डाला। भीषण यातनाओं और मृत्यु दण्ड के भय से त्रस्त भारतीय जनता को उनका विरोध करने का साहस नहीं हो पाया।

मूल्यांकन

राजपूतों की पराजय के लिए उत्तरदाई कारणों के सम्पूर्ण अध्ययन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजपूत राजा शूरवीर, साहसी और दुर्धर्ष योद्धा थे। वे रणक्षेत्र में सहर्ष मृत्यु का आलिंगन करना अपना गौरव समझते थे। जयपाल द्वारा सुबुक्तगीन को भेजे गये इस सन्देश से भी राजपूतों के वीरत्व पर प्रकाश पड़ता है—"तुमने भारतीयों के इस उत्तम चरित्र को सुना और जाना है कि किस प्रकार अत्यन्त घोर स्थिति में भी वे विनाश एवं मृत्यु से नहीं डरते, अपमानित करने वालों से यदि बचने का उनके पास कोई उपाय नहीं होता तो वे उनके विरुद्ध तलवार की धार पर चढ़ जाते हैं। अपनी प्रतिष्ठा और यश के लिए हम आग पर मांस की तरह भुन जाने अथवा तलवार पर सूर्य की किरणों की तरह चमकने के लिए तैयार रहते हैं।" ऐसे राजपूत राजा अपनी सामरिक कमजोरियों, राजनीतिक एकता के अभाव, समाज में व्याप्त कठोर वर्ण-व्यवस्था और प्रचलित अन्धविश्वासों, धार्मिक कट्टरता, तुर्क नेताओं के असाधारण नेतृत्व तथा कुछ आकस्मिक घटनाओं के कारण पराजित हो गये। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने राजपूतों के पतन के कारणों का उल्लेख करते हुए लिखा है—"अस्थिर स्वभाव, आवेश में आना, अपने वंश के लिए पक्षपात, पारस्परिक झगड़े, अफीम का प्रयोग, शत्रु के विरुद्ध संगठन का अभाव आदि

बातें ऐसी थीं जिनके कारण प्रबल शत्रु का सामना होने पर उनका पक्ष दुर्बल पड़ जाता था।" राजपूतों के पतन और तुर्की की विजय के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लेनपूल महोदय ने लिखा है—"आक्रमणकारियों में संगठन तथा एकता थी और हिन्दुओं में फूट थी। आक्रमणकारी उत्तर के रहने वाले थे और हिन्दू दक्षिण के, आक्रमणकारी बहादुर जाति के और अच्छी जलवायु के निवासी थे, उनमें इस्लाम धर्म का जोश था और धन एवं लूटमार का लालच था। यही हिन्दू तथा आक्रमणकारियों में भेद था।" डॉ० स्मिथ का मत है—"आक्रमणकारी अच्छे योद्धा थे क्योंकि वे उत्तर के शीत-प्रधान देश से आये थे, मांसाहारी थे तथा युद्ध-कला में दक्ष थे।"

यद्यपि राजपूतों के पतन के कारणों के सन्दर्भ में उपरोक्त विद्वानों के मतों में सत्यांश अवश्य है, किन्तु यह मानना कि उन्हीं कारणों के फलस्वरूप राजपूतों का पतन हुआ, उचित प्रतीत नहीं होता। डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने उपरोक्त विद्वानों के मतों पर अपनी असहमति व्यक्त करते हुए लिखा है—"ये सब मत मध्य-युग के पक्षपातपूर्ण मुसलमान इतिहासकारों के कथन पर आधारित हैं जिन्होंने अपने सहधर्मियों की वीरता का वर्णन बहुत चढ़ा-चढ़ाकर किया है और अपने विधर्मियों को अयोग्य दिखाया है। उन्होंने महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के समय में होने वाले हिन्दुओं के पतन को अत्यन्त महत्त्व दिया है किन्तु उसके पहले सिन्ध, अफगानिस्तान तथा पंजाब के हिन्दुओं ने साढ़े-तीन सौ वर्ष तक जो मुकाबला किया उसकी बिल्कुल उपेक्षा कर दी है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि हिन्दु तीन सौ पचास वर्ष तक बार-बार नये-नये तथा शक्तिशाली शत्रुओं के साथ संघर्ष करते रहे थे। अतः इतने लम्बे संघर्ष के बाद उनका नैतिक तथा सैनिक पतन होना स्वाभाविक ही था।" डॉ० श्रीवास्तव ने राजपूतों की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"दूसरी बात यह है कि यदि विश्व-इतिहास के समकालीन लेखकों के कथन पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि विश्व की किसी भी जाति ने अरबों तथा तुर्कों के आक्रमण का इतना लम्बा, दृढ़ और सफल मुकाबला नहीं किया जितना मध्य-युग के हिन्दुओं ने। एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के अनेक देशों ने अरबों के आक्रमणों के आगे कुछ वर्षों में ही घुटने टेक दिए थे, किन्तु सिन्ध ने तो पचहत्तर वर्ष बाद आत्मसमर्पण किया। हिंदू-अफगानिस्तान दो सौ बीस वर्ष तक लड़ता रहा और पंजाब एक सौ छप्पन वर्ष तक मुकाबला करता रहा।"

यद्यपि वीरत्व के लिए विख्यात राजपूत मुसलमानों के भारत प्रवेश के मार्ग को अवरुद्ध तो नहीं कर पाये तथापि उन्होंने समरभूमि में अपने अद्वितीय रणकौशल और बहादुरी का प्रदर्शन कर मुसलमानों (तुर्कों) को हठास्तम्भित अवश्य कर दिया। भारत पर तुर्कों का अधिकार प्रायः नगरों और गढ़ों तक ही सीमित था। किन्तु राजपूत योद्धाओं ने छापामार युद्धों की रणनीति अपना कर मुसलमानों को वर्षों लम्बी अवधि तक चैन की नींद नहीं सोने दिया। स्थानीय विद्रोह कभी शान्त नहीं हुए और स्वतन्त्र राजपूत-राज्य बने रहे जो तुर्क सुल्तानों से बराबर लोहा लेते

थे। इसका परिणाम यह हुआ कि न तो तुर्कों को भारत में मनमानी करने का अवसर मिला और न ही भारतीयों की आत्मविश्वास एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना का ही विनाश हुआ। इस सन्दर्भ में टाइटस का यह कथन उल्लेखनीय है—"इस्लाम पर हिन्दू-धर्म का जितना प्रभाव पड़ा उतना हिन्दू-धर्म पर इस्लाम का नहीं पड़ा और यह आश्चर्य की बात है कि अब भी हिन्दू धर्म निर्भीकता तथा आत्मविश्वास के साथ अपने पथ पर उसी प्रकार अग्रसर है जैसे इन आक्रमणों से पूर्व तक चल रहा था।" इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से भारत को विजित कर लेने के बावजूद तुर्क भारतीय जनता के हृदय को नहीं जीत पाये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मुस्लिम आक्रमण के विरुद्ध राजपूतों की पराजय के क्या कारण थे ?
2. बारहवीं शताब्दी में हिन्दू भारत के पतन के क्या कारण थे ?
3. राजपूतकालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का वर्णन कीजिए। यह उनके पतन के लिए कहाँ तक उत्तरदाई थी ?
4. बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा राजपूतों की पराजय के कारणों का आलोचनात्मक विवरण दीजिए।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

हिन्दी भाषा में रचित ग्रंथ

1. बाशम, ए० एल० — अद्भुत भारत
2. त्रिपाठी, रमाशंकर — प्राचीन भारत
3. रायचौधरी, हेमचन्द्र — प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास
4. मुकर्जी, राधाकुमुद — प्राचीन भारत
5. पाण्डेय, राजबली — प्राचीन भारत
6. थापर, रोमिला — भारत का इतिहास (1000 ई० पू० से 1526 ई० तक)
7. मजूमदार, रमेशचन्द्र — प्राचीन भारत
8. हरिदत्त, वेदालंकार — प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास
9. पाण्डेय, विमलचन्द्र — प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास।
10. नाहर, रतिभानु सिंह — प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
11. दुबे, सत्यनारायण — प्राचीन भारत का इतिहास
12. लुणिया, बी० एन० — प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास।
13. सिन्हा, विनोद चन्द्र — प्राचीन भारत का इतिहास
14. श्रीवास्तव, के० सी० — प्राचीन भारत का इतिहास
15. लूणिया, बी० एन० — भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास
16. ओमप्रकाश — प्राचीन भारत का इतिहास
17. महाजन, वी० डी० — प्राचीन भारत का इतिहास
18. अग्रवाल, आर० सी० — प्राचीन भारत का सांस्कृतिक व राजनीतिक इतिहास
19. पांडेय, राजेन्द्र — भारत का सांस्कृतिक इतिहास
20. पांथरी, भगवती प्रसाद — मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास
21. पांथरी, भगवती प्रसाद — भारत का स्वर्ण युग
22. मुकर्जी, राधाकुमुद — हिन्दू सभ्यता
23. मुकर्जी, राधाकुमुद — चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल
24. भण्डारकर — अशोक

25. ओझा, रामप्रकाश — अशोक
26. चन्द्रगुप्त वेदालंकार — बृहत्तर भारत
27. अल्तेकर, ए० एस० — प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति
28. सत्यकेतु विद्यालंकार — मौर्य साम्राज्य का इतिहास
29. सत्यकेतु विद्यालंकार — भारतीय संस्कृति का इतिहास
30. सत्यकेतु विद्यालंकार — मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति
31. मिराशी, वासुदेव विष्णु — वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख
32. उपाध्याय, वासुदेव — गुप्त-साम्राज्य का इतिहास
33. बनर्जी, आर० डी० — गुप्तयुग
34. चटर्जी, गौरीशंकर — हर्षवर्द्धन
35. सत्यप्रकाश — भारत का इतिहास (राजपूत-काल)
36. ओझा, गौरीशंकर — राजपूताना का इतिहास
37. शर्मा, गोपीनाथ — राजस्थान का इतिहास
38. पाठक, विशुद्धानंद — उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (600-1200 ई०)
39. मनराल, धर्मपालसिंह — राजपूत कालीन उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (650-1200 ई०)
40. श्रीवास्तव, आशीर्वादी लाल — दिल्ली सल्तनत
41. पाण्डेय, अवधबिहारी — मध्ययुगीन भारत (712-1761 ई०)
42. ईश्वरी प्रसाद — भारतीय मध्ययुग का इतिहास
43. थापर, रोमिला — अशोक और मौर्य-साम्राज्य का पतन
44. मैके — सिंधुघाटी की सभ्यता
45. आचार्य रामदेव — भारतवर्ष का इतिहास
46. मिश्र, केशवचन्द्र — चन्देल और उनका काल
47. मिराशी, वासुदेव विष्णु — कलचुरि नरेश और उनका काल
48. भार्गव, वि० एस० — राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण
49. शिवदत्त ज्ञानी — भारतीय संस्कृति
50. अग्रवाल, वासुदेव शरण — कला और संस्कृति
51. हरिदत्त वेदालंकार — भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास

आंग्ल भाषा में रचित ग्रंथ

1. Majumdar, R. C. — The Classical Age
2. Majumdar, R. C. and Altekar, A. S. — The Vakataka-Gupta Age
3. Majumdar, R. C. — The Age of Imperial Unity
4. Majumdar, R. C. (Edi.) — The History and Culture of the Indian People, Vol. I, II, III, IV, V and VI.

5. Majumdar. R. C. — History of Bengal
6. Majumdar, R. C. — Ancient India
7. Altekar, A. S. — The Rastrakutas and Their Times
8. Wheeler, M. — The Indus Civilization
9. Rapson, E. J. (Edi.) — The Cambridge History of India, Vol. I
10. K. A. Nilakanta Sastri — Age of the Nandas and Mauryas
11. K. A. Nilakanta Sastri — A History of South India
12. K. A. Nilakanta Sastri — The Cholas, Part I and II
13. Bhandarkar, D. R. — Asoka
14. Dandekar, R. N. — A History of the Guptas
15. Jayaswal, K. P. — History of India (150 A. D.—350 A. D.)
16. Jayaswal, K. P. — Imperial History of India
17. Mookerjee, R. K. — The Gupta Empire
18. Banerji, R. D. — The Age of the Imperial Guptas
19. Agrawal, V. S. — Gupta Art.
20. Mookerjee, R. K. — Harsha
21. Mookerjee, R. K. — Chandra Gupta Maurya and His Times.
22. Panikkar, K. M. — Shri Harsha of Kannauj
23. Smith, V. A. — Early History of India
24. Smith, V. A. — Ancient India
25. Sen, Padmini — Every-day Life in Ancient India
26. Bhandarkar, R. G. — Early History of the Deccan
27. Tod, James — Annals and antiquities of Rajsthan.
28. Puri, B. N. — History of the Gurjara-Partiharas
29. Banerji, R. D. — The Palas of Bengal
30. Gokhale, B. G. — Ancient India
31. H. C. Raychaudhuri — Dynastic History of Northern India
32. Sharma, Dasharatha — Early Chauhan Dynasties
33. R. Gopalan — History of the Pallavas of Kanchi

IMPORTANT BOOKS ON HISTORY

M. R. Wadhwani
RISE OF THE SOVIET UNION TO WORLD POWER

Hazen
HISTORY OF MODERN EUROPE 1789-1945

G. P Gooch
HISTORY OF MODERN EUROPE

V. D Mahajan
MODERN EUROPE SINCE 1789
ENGLAND SINCE 1688
ENGLAND SINCE 1485
EARLY HISTORY OF INDIA
HISTORY OF INDIA (FROM BEGINNING TO 1526 A D)
INDIA SINCE 1526
DELHI SULTANATE
MUGHAL RULE IN INDIA
BRITISH RULE IN INDIA AND AFTER
MUSLIM RULE IN INDIA
CONSTITUTIONAL HISTORY OF INDIA

L. L. Ahmed
COMPREHENSIVE HISTORY OF THE FAR EAST

Jagannath Patnaik
BRITISH RULE IN INDIA
HISTORY OF ENGLAND 1484-1815

B. L. Grover
NEW BOOK ON MODERN INDIAN HISTORY

Edwards and Garret
MUGHAL RULE IN INDIA

P. L. Joshi and S. V. Gholkar
HISTORY OF MODERN INDIA
From 1800 to 1964 A.D.

P. S. Joshi and V. S Gholkar
HISTORY OF MODERN INDIA
HISTORY OF MODERN WORLD
HISTORY OF UNITED STATES AMERICA

Shiv Kumar & Jain
HISTORY OF MODERN CHINA
HISTORY OF MODERN JAPAN
HISTORY OF ENGLAND 1815-1919

A. C. Kapoor
CONSTITUTIONAL HISTORY OF INDIA

R. C. Aggarwal
CONSTITUTIONAL HISTORY OF INDIA AND NATIONAL MOVEMENT

B. L. Grover
NEW LOOK ON MODERN INDIAN HISTORY

सुरेशचन्द्र एव शिवकुमार गुप्त
आधुनिक विश्व का इतिहास

Gurbaksh Singh Kapoor
REFRESHER COURSE IN MUGHAL RULE IN INDIA
REFRESHER COURSE IN BRITISH RULE IN INDIA

A 13 0025

S. Chand & Company Ltd